गीता-हृदय

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

प्रकाशक
श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती स्मारक-न्यास
बक्सर, भोजपुर

प्रारम्भिक शब्द

गीताके साथ मेरा सम्बन्ध प्रायः चालीस सालसे है, जब मैं दस-ग्यारह वर्षका बच्चा था। उपनयन और यज्ञोपवीत संस्कारके बाद ही मेरे दिलमें अन्यान्य धार्मिक आचारोंके साथ गीताको भी जाने कैसे स्थान मिल गया! आज इस मधुर स्मृतिके फलस्वरूप आश्चर्य होता है कि सचमुच यह बात क्यों हो पाई जो आज-तक कायम ही नहीं है, किन्तु उसने सूद भी काफी कमाया है। इन चालीससे ज्यादा वर्षोंने गीताके साथ मेरी जो तन्मयता और अभिन्नता कायम कर दी है वह मेरे जीवनकी एक खास चीज है। धार्मिक और राजनीतिक मामलोंमें मैं इस दर्म्यान कहाँसे कहाँ जा पहुँचा! इनके सम्बन्धमें मेरे भीतर ऐसी क्रान्ति हो गई कि आज अपनेको बिल्कुल ही निराली दुनियामें पाता हूँ! फिर भी गीता और गीताधर्म अपनी जगहपर ज्योंके त्यों हैं—अविचल है, अटल है। बल्कि वह तो और भी [illegible] हैं!

बेशक गीताके साथ मेरा पहला सम्बन्ध केवल धार्मिक था—धार्मिक उसी मानीमें जिसमें इस शब्दका आमतौरसे व्यवहार किया जाता है और अब भी तो वह सम्बन्ध धार्मिक ही है। फर्क इतना ही है कि पहलेका 'केवल' हट गया है। या यों कहिये कि धर्मका रूप बहुत व्यापक बन गया है। इसे व्यापक तो और लोग भी कहते और मानते है। मगर मेरे सम्बन्धमें इसकी व्यापकता कुछ निराली है और गीता-हृदयकी पंक्तियाँ इसे साफ बताती है। साराश यह कि गीताके सार्वभौम धर्मने मेरे धर्मको भी अपना लिया है और उसे भी सार्वभौम बना डाला है। यही तो मेरे वेदान्तका असली अद्वैतवाद है। एक समय था, जब मैं गीतामें संकुचित मुक्तिकी मार्ग देखता था, निष्क्रिय वेदान्तवाद और अध्यात्मवादकी झाँकी पाता था। परन्तु आज ये सभी चीजें व्यापक और सार्वभौम हो गई है, पूर्ण सक्रिय हो गई है। एक वक्त था—और वह आजसे प्रायः छः साल पहलेतक था—जब मैं मानता था कि मेरे जैसे गीता-प्रेमीके लिये मार्क्सवादमें स्थान नहीं है और यह कि गीताधर्मका मार्क्सवादके साथ मेल नहीं है—विरोध है! मगर आज? आज तो वह ख्याल सपनेकी चीज हो गई है और मैं न सिर्फ यही मानता हूँ कि गीताधर्मका मार्क्सवादके साथ विरोध नहीं है; किन्तु मेरे जानते गीताधर्म मार्क्सवादका पोषक है। मेरे ख्यालसे गीताके "सर्वभूतात्मभूतात्मा" और "सर्व-भूतहितेरताः" सिवाय सच्चे मार्क्सवादियोंके और कौन हो सकते हैं? वही तो समस्त मानव समाजका पुनर्निर्माण इस तरह करना चाहते है कि एक भी आदमी दुःखी, पराधीन, समुन्नतिके सभी साधनोंसे वंचित न रहने पाये।

निस्सन्देह प्रारम्भमें गीताका अर्थ मैंने जो समझा था और बहुत दिन बादतक भी, वह अब ठीक उसी प्रकार बदल गया जैसे उस समयके जीवन सम्बन्धी दूसरे विचार आमूल परिवर्तित हो गये। यह है भी स्वाभाविक। जीवनके चालीस साल गुजरनेपर ही विचारोंमे स्थायित्व और परिपाक होता है। फलतः जब मै पीछे देखता हूँ तो उस दकियानूस दुनियाको देखके चकित हो जाता हूँ और खुश भी होता हूँ कि उससे पिंड भले छूट गया। इधर गीताकी हालत यह रही है कि इसका जितना ही मन्थन करता हूँ इससे उतने हो महान् अर्थ निकलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी-अभी इसे समझ सका हूँ और समझने लायक हो सका हूँ। इसीलिये, आजसे पचीस साल पूर्व जो मैंने यही गीता-हृदय लिखनेका श्रीगणेश किया था और उसका कुछ अंश लिखके भी में उसे पूरा न कर सका था और इसीलिये कभी-कभी अफसोस भी करता था, इन बातोंको देखते हुए, आज उसकी खुशी हो रही है। क्योंकि उस समय कुछ लिखके तो आज पछताना ही होता। अब जो कुछ लिखा है और लिख रहा हूँ यही ठीक है और पहले यह हर्गिज लिखा न जाता।

हमारी हालत यह है कि हम गीताकी टीकाओं और उसके भाष्योंके बीचमें बैठके ही गीताका अर्थ समझना चाहते हैं। यही कारण है कि उसे ठीक समझ पाते नही। बच्चेको बराबर सवारीपर ही चलाइये तो वह खामखा पंगु होगा। उसके पावोंमे शक्ति न आ पायेगी। यही हालत टीकाके सहारे ग्रंथोंके पढ़नेवालों-की हो जाती है। उनकी बुद्धिमें शक्ति और स्वावलम्बन नही आने पाता और वह पगु हो जाती है। मेरी भी पहले यही हालत थी। मगर १९२२मे फैजाबाद जेलमे पहले-पहल केवल एक नन्हींसी गीताकी गुटका मिली। विवश होके उसका स्वतन्त्र विचार करनेपर मुझे जो मजा मिला और जो नया अर्थ सूझा उसे कह नहीं सकता। खूबी तो यह है कि अधिकाश वही अर्थ मूलतः आज कायम भी है। इसीलिये उस गुटकासे मुझे खास मुहब्बत हो गई है। उसे बराबर साथ ही रखता हूँ। उसने भी मेरे साथ बार-बार जेलयात्रा की है। उसीसे मैने जो कुछ गीतार्थ सीखा है वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

गीता मुझसे अभिन्न हो गई है और मै उससे अभिन्न बन गया हूँ। अन्य विचारों तथा ग्रंथोंकी जुदाई बर्दाश्त कर सकता हूँ मगर उसकी नही। आत्माकी जुदाई भला बर्दाश्त हो? उसके सम्बन्धके विचार बीसियो सालसे हृदयमे पले है। ये सचमुच ही हृदयके खूनसे सींचे गये है। लेकिन फिर भी इन्हे जुदा करनेमे जाने क्यो अपार खुशी हो रही है। शायद इसीलिये कि जुदा होनेपर ये और भी स्थायी हो रहे है। शायद यही करनेसे इन्हें पुष्पित, फलित होनेका मौका मिलेगा।

गीता-हृदयके तीन भाग करनेका विचार है—पूर्व, मध्य और उत्तर। इन्ही का नाम मैंने क्रमशः अन्तरंग, गीता और बहिरंग भाग भी रखा है। पूर्व या अन्तरंग भागमें सिर्फ उन्ही विचारोंका संकलन है जिनसे गीताधर्म और गीतार्थ समझनेमें पूरी मदद मिलेगी। ये उसके लिये रास्ता साफ करते हैं। इसीलिये इन्हें अन्तरंग कहा है। मध्य या गीता-भागमे गीताके श्लोकोंके सीधे अर्थ लिखे गये हैं—वही अर्थ जो शब्दोंसे सीधे निकलते हैं। मगर आवश्यकतानुसार छोटी-बडी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। इनके पढनेसे हो पता चलेगा कि ये कितनी जरूरी है उस अर्थज्ञानके लिये। उत्तर भाग या बहिरंग भागमे शास्त्रीय विचारके आधारपर गीतार्थका अन्य दार्शनिक विचारो और ख्यालोंके साथ तुलनात्मक विवेचन होगा।

जिस परिस्थितिमें यहाँ पहले दो भाग लिखे जा रहे हैं उसमे तृतीय भागके लिये पूरी सामग्री न होनेके कारण ही वह लिखा न जा सका है। देखें कब पूरा होता है। संभव है, न भी हो, कौन कहे?

सेन्ट्रल जेल, हजारीबाग
गुरुवार (१-१-४२)

स्वामी सहजानन्द सरस्वती
(राजबन्दी)

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

जननायक स्वामी सहजानन्द सरस्वती वर्त्तमान युगमें भारतीय स्वतन्त्रता-संग्रामके महान् योद्धा, भारतीय किसान आन्दोलनके जन्मदाता और सामाजिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्रांतिके अलौकिक अग्रदूत थे।

वे वेदमंत्रद्रष्टा ऋषियोंकी पावन कुल परम्परामें उत्तरप्रदेशके गाजीपुर जिलेमें शादियाबाद परगना भीतर देवाग्राममे १८८९ अठारह सौ नवासी ई० की महाशिवरात्रिको महान् पुण्यात्मा पिता पं० बेनीराय शर्माके यहाँ अवतरित हुए थे।

पूज्यपाद स्वामीजी अन्याय अत्याचारके विरुद्ध निरन्तर संघर्षरत रहे, चाहे वह अत्याचार जातिविशेषका हो या राष्ट्रविशेषका। सर्वत्र वे अपने विरोधियोंसे एक ही स्वरमे एकही शैलीमें और एक ही दीप्तिके साथ जूझते रहे। उन्होंने 'झूठा-भयमिथ्याभिमान, ब्राह्मण समाजकी स्थिति, 'ब्रह्मर्षिवंशविस्तर', 'कर्मकलाप', 'क्रांति और संयुक्त मोर्चा', 'किसान कैसे लड़ते है', 'किसान क्या करें', 'झारखण्डके किसान', 'खेतमजदूर' आदि ग्रथोंकी रचना करके अन्धविश्वास और रुढ़ियोंका विनाश किया तथा गरीबों और बेबस किसानोंके हृदयमे बसे पैसे वालोंके भयको दूर कर आशा और साहसकी नई किरणोका संचार किया। गंगा अपने उद्गमसे जब निकलती है तो संगम तककी इस यात्रामे पदेपदे नाना विघ्न उपस्थित होते है। लेकिन गंगा न इन अवरोधोंमे अपनी यात्रा स्थगित करती है, न हारती है, न घबराती है। निरन्तर संघर्ष करती मरुको उर्वर बनाती है, मलिन मनको निर्मल और दग्ध हृदयको शीतल करती, अपने लक्ष्यकी ओर बढती जाती है। एक क्षणके लिये भी उसे विश्राम नही, आराम नही, विराम नही। परम पवित्र गंगा जलके ही समान निर्मल चरित्रके धनी स्वामीजीने भी केवल संघर्षके लिये संघर्ष नहीं किया, बल्कि एक महान् लक्ष्यके निमित्त उनका जीवन समर्पित था। वे गीताके स्थितप्रज्ञ दृढ चेतस कर्मयोगीकी तरह 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ' भावसे निरन्तर संघर्षरत रहे।

उनका अध्ययन अत्यन्त गहन और विशाल था। जब वे भाषण देनेके लिये खड़े होते तो उनका सारा शरीर फड़कने लगता, उनकी वाग्धारा गोमुखी गंगा जैसी बह चलती और श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर स्नात होते रहते थे। अद्भुत और सशक्त प्रतिभाके बराबर ही उनमें अदम्य साहस था। वे स्वाभिमानकी प्रतिभा और धुनके पक्के थे। दोनोंके प्रति दयासे उनका हृदय ओतप्रोत थ

स्पष्टवादी होनेके कारण कभी-कभी बिगड़ भी जाते थे, पर उदार पुरुषोंमें क्रोध कहाँ ठहरता है ? वे जैसे प्रगल्भ थे, वैसी ही उछलनी-कूदती नदीकी भाँति थी उनकी प्राञ्जल भाषा शैली जिसमें वे घण्टों धाराप्रवाह भाषण देते रहते थे। उनकी अलौकिक तेजस्विता उनकी वाणीसे प्रस्फुटित होती, ब्रह्मचर्यकी लपट ललाट और मुखमण्डलपर चमकती रहती थी। उनके समक्ष किसीको बोलनेका साहस नहीं होता था। लोकहितके कार्योंमें वे सदा इस प्रकार जुटे रहते मानों भगवान्ने उन्हें लोकहितके मंगलमय स्वरूपमें मूर्त्तिमान किया हो।

स्वामीजी की राष्ट्रके प्रति अपरिमित निष्ठा थी। उन्होंने राष्ट्रीय अभ्युत्थान कार्य अथवा असहयोग अन्दोलनमें प्रमुख भाग लिया। उत्तरप्रदेश और बिहारकी जनतामें राष्ट्रीय चेतना ही जाग्रत करनेका बहुत कुछ श्रेय स्वामी जी को ही है। इस कार्यको सम्पादित करनेमें तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमतने उन्हे अनेक बार जेलकी सजायें दीं और उनके जीवन का बहुत सा समय जेलमें ही व्यतीत हुआ था। 'गीताहृदय', 'क्रांति और संयुक्त मोर्चा', 'मेरा जीवन संघर्ष', 'किसान क्या करें' और 'झारखण्डके किसान' तथा 'खेतमजदूर' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना भी स्वामीजी द्वारा उनके जेल निवासके समयमें ही हुई थी।

उनकी जीवन यात्राके प्रमुखतः चार पर्व होते है। सन् १८८९ ई० की महाशिवरात्रिपर अवतरणसे लेकर सन् १९०७ ई० की महाशिवरात्रिके दिन महाभिनिष्क्रमण तक १८ वर्षका समय प्रथमपर्व है और सन् १९०७से १९२० ई० तक १३ वर्षोका काशी और मिथिलामें विद्याध्ययनका समय उनके जीवनका द्वितीय पर्व है। सन् १९२०से सन् १९३० ई० तकका दस वर्षोंका उनकी जीवन यात्राका तृतीय पर्व होता है। इस अवधिमें स्वामीजीने महात्मा गांधीका अपूर्व निष्ठाके साथ अनुगमन किया। किन्तु सन १९३०ई०के बाद से उनका मन कांग्रेसकी कथनी और करनीमे भारी अन्तर देखकर गांधीवादसे फटने लगा और बड़े-बड़े नेताओं के सत्य और अहिंसा का पर्दाफाश होने लगा था। उनके जीवनका चौथा महान् पर्व उनका किसान नेताका क्रांतिकारी जीवन था जो २६ जून १९५०.ई०की आधी रातको उनके निर्वाणके दिन तक सचेष्ट रहा।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती सत्यके अप्रतिम आग्रही थे। महर्षि दयानन्दके ही सदृश सत्यके विपरीत वे अन्य किसी भी प्रलोभनके साथ किसी भी कीमतपर समझौता कर ही नहीं सकते थे। वे सिद्धान्तोंपर सदा अडिग रहे। एक समय ऐसा भी आया जब उनकी किसान सभा और किसान आन्दोलनकी सफलता देखकर अप्रत्यक्ष रूपसे महात्मा गांधी और प्रत्यक्ष रूपसे बाबू राजेन्द्रप्रसादजीके एवं बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमिटीकी कार्यकारिणीके अन्य सदस्योंको किसान सभासे कांग्रेसको

हो खतरा जान पडा, और उन सबमे एक स्वरसे बिहारमें किसान-आन्दोलन समाप्त कर देनेका प्रस्ताव तक अनुमोदित करवाया। ऐसे क्षणोंमे भी स्वामीजीके पग न्यायके पथसे सदा अविचलित ही रहे। उन्होने कांग्रेसको भले ही अंतिम-रूपसे नमस्कार कर लिया, किन्तु किमान मभाका कार्य बराकर धैर्य और साहसके साथ करते रहे।

स्वामीजीके जीवनके भावनात्मक एवं कर्मठ पक्षको भलीभाति समझनेके लिए 'मेरा जीवनसघर्ष' तथा बौद्धिक प्रतिभाके आकलनके लिये उनके द्वारा लिखित महान् ग्रथ 'गीताहृदय'का अवलोकन एक मूल्यवान खजानेकी भाति सहसा उपलब्धि हो जानेके समान आह्लादकारक है। साथ ही भारतमें (विशेषतः बिहारमे) किसान समस्याको ठीक ठिकाने समझनेके लिए हजारीबागके जेलमे बदी जीवनमे उनके लिखे 'क्रान्ति और संयुक्तमोर्चा', 'किसानसभाके संस्मरण', 'किसान कैसे लडते हैं?', 'किसान क्या करें', 'झारखण्डके किसान', 'खेतमजदूर' आदि ग्रंथोका देशके स्वतंत्र होनेके साथ ही भारतके बँटवारेके बाद लिखे ग्रन्थ 'अब क्या हो'का मनन जरूरी है।

स्वामीजीका 'गीताहृदय' भगवान तिलकके गीतारहस्यका पूरक है। तिलकजीने अपनी गीतामे, हीगेल, कान्ट, शोपेनहर, ग्रीन, हाब्स आदि पाश्चात्य भौतिकशास्त्रियोंके विचारोसे गीताकी तुलनाकर उमका उत्कर्ष प्रदर्शित किया था किन्तु मार्क्सवाद और गीताधर्मकी तुलना करनेका अवसर उन्हे प्राप्त नही हुआ था। भारतीय दर्शनोके प्रकाण्ड पंडित स्वामीजीने इस विषयपर भी अपनी लेखनी संचालितकर गीताधर्मकी सर्वव्यापकता और सुन्दरता प्रतिपादित कर दी है। यह ग्रन्थ इतनी प्रौढ परिमार्जित एव हृदयग्राहिणी शैलीमे लिखा गया है कि पढकर हृदय फडक उठता है।

स्वामीजीने लेनिन द्वारा व्याख्यात मार्क्सके विचारोको उद्धृत कर यह दिखला देनेका स्तुत्य प्रयास किया है कि मार्क्स तथा उसके अनुयायी गीतामे कहे गये धर्मके विरोधी नही है। वे 'वर्त्तमानधर्म' और धर्मसंस्थाओंको मालदारोंका हथकंडा बताते है और इसीलिये इसका विरोध करते है। यदि धर्म अपने व्यक्तिगत स्वरूपमे आध्यात्मिक उन्नतिके लिए हो तो मार्क्सवादी उसके विरोधी नही होंगे। इसप्रकार गीता और भौतिकवादी मार्क्सवाद की पारस्परिक तुलना करके स्वामीजीने आधुनिक युगके मनस्वी तरुणोंके हृदयमे गीताका महत्व अंकित करनेका प्रयत्न किया है।

तिलकके 'गीता-रहस्य'मे प्रतिपादित कर्मके जिस स्वरूपको गाधीवादकी आधारशिला माना गया था उसे अकाट्य तर्कोंसे (जिसका विवरण भूमिका भागमे

दिया जा चुका है) निस्सार सिद्ध करके स्वामीजीने कर्मचारित्र्यके नये स्वरूपकी स्थापनाकी थी। इसी प्रकार अपने महान् ग्रंथ 'गीताहृदय' मे जनसेवाके एक व्यापक रूप का साक्षात्कार करते हुए स्वामीजीने मार्क्स और राञ्जिल्स तथा उनके अनुयायियोंको गीतामें प्रतिपादित कर्मज्ञान का विरोधी नही बल्कि सच्चे समर्थक और पोषक सिद्ध किया और इस प्रकार अध्यात्म या वेदान्तवाद पर आधारित साम्यवादके एक अन्य नये व्यापक स्वरूपकी प्रस्थापना की। उन्होने साम्यवादियोंके कर्म-चारित्र्यकी नैतिकसंयम, निष्ठा तथा घोर कष्ट उठाकर गरीबोंके उत्थान कार्यमे अविराम गतिसे तत्पर रहनेकी वृत्तिकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस संदर्भमे उल्लेखनीय है कि इस अद्भुत मौलिक महान् ग्रन्थ 'गीताहृदय' मे स्वामीजीने आद्यन्त महागूढ दार्शनिक सिद्धान्तोंका जिस निराली शैलीमे विवेचन किया है उसका मार्क्सवाद के ईश्वर, कर्म, पुनर्जन्म, धर्म आदि आदि विषयो की समीक्षासे सोलहो आने मेल होता है। साथ ही वेदान्तधर्मकी सार्वभौमिकताके साथ-साथ मार्क्सवादकी समान सार्वभौमताका भी समर्थन हो जाता है। साथ ही मार्क्सवादको भी एक नये दार्शनिक आयामकी उपलब्धि होती है।

वैसे तो स्वामीजी द्वारा कथित-लिखित पंक्ति-पंक्ति अनुक्षण स्मरणीय और अनुसरणीय है, किन्तु उनका 'गीताहृदय' मानवमेधाकी उज्ज्वलतम उपलब्धि है। आजके दुखदग्ध जीवनमे, भारतीय जीवनमे तो और भी अधिक, इसकी प्रासंगिकता उच्चतम-प्राथमिकता रखती है। 'गीता' मे उपस्थापित योगेश्वर श्रीकृष्णके अमृत संदेशको आर-पार समझनेके लिये स्वामीजीका 'गीताहृदय' निर्विकल्प साधन है।

१९४८ ई०में सर्वप्रथम यह ग्रंथ किताब महल, जीरो रोड, इलाहाबादमे प्रकाशित हुआ था। वह संस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो गया। इसी बीच पूज्यपाद स्वामीजीने निर्वाण प्राप्त कर लिया। किताब महलका प्रकाशनाधिकार केवल एक संस्करणका ही था। अतः ग्रंथ स्वामीजीके देहावसानके बाद अबतक पुनः प्रकाशित नही हो सका था। स्वामीजीके बाद उनकी स्थापित सभी संस्थाये समयके प्रवाहमें पडकर विशृङ्खलितप्राय हो गई। श्रीसीतारामाश्रम बिहटा जो उनका पवित्र निवास स्थान और लोकसंग्रह संबंधी कार्योंका केन्द्र था, वह भी अव्यवस्थाके कारण मरणावस्थामे कराह-झंख रहा है। उसके तथाकथित स्वयंभू प्रबंधकोंने स्वामीजीके आश्रमको दुर्दशाकी स्थितिमे पहुँचा दिया। बहुतोंने उसे व्यवसायका केन्द्र बनाकर पुस्तकालयमे संग्रहीत अलौकिक ग्रंथ राशिको तितर-बितर किया। स्वामीजीके सैकडों भाषण, छोटी-मोटी लिखी पुस्तकों, उनके अन्तिम बंदी जीवनमें हजारीबाग जेलमे लिखी कतिपय पुस्तकों की पाण्डुलिपियो तथा अनेकानेक अन-

मोल ग्रंथोंको तहमनहस किया अथवा उपेक्षा-प्रमादके करते गँवा दिया। पचीसों वर्षसे यह जानकर बडा भारी क्लेश था, कष्ट था। किन्तु मैं अपनी वेदनाको हृदयमें संजोये पूज्यपाद परम गुरुदेव स्वामीजी महाराजके विस्तृत-उपेक्षित ग्रंथों, भाषणों और अन्य बहुतेरी रचनाओं निबन्धोंको चतुर्दिकसे ढूँढ़कर प्रकाशित करनेके लिये प्रयत्नशील था।

आजसे इकतीस वर्ष पूर्व इसी पुनीत भावनासे मैंने भोजपुर जिलेके पावन-तीर्थग्राम बक्सर मे गंगातटपर श्रीस्वामी सहजानंद सरस्वती आश्रमकी स्थापनाकी थी। आश्रमकी स्थापनाके साथ ही मैंने वहाँ श्रीस्वामी सहजानंद सरस्वती स्मारक न्यासकी स्थापना की। उस न्यासका प्रधान उद्देश्य भारतीय संस्कृतिके मूलाधारोंकी रक्षा, पूज्यपाद स्वामीजीके ग्रंथोंका प्रकाशन और प्रचार-प्रसार तथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष होकर लोकसंग्रहार्थ जनता जनार्दनकी सेवा करना है। आश्रम और न्यासकी स्थापनाके इकतीस वर्षोंमें मुझे अस्तित्व और मर्यादाकी रक्षाके लिये अनवरत कठिन संघर्ष करना पडा। तूफान-बवंडर आये, ओले पडे, चोट लगी, फिर भी मैं 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' चलता रहा। स्वामीजीका अद्भुत और उज्ज्वल चरित्र इस सकटकालमे सदा मेरा मार्गदर्शन करता रहा।

मेरे हृदयमंदिरमे दिन रात स्वामीजी दर्शन देते रहते हैं। मैं उनका मधुर उपदेश दिनरात सुनता रहता हूँ अतः कभी किसी अनीति अन्यायके आगे झुका नही। गतवर्ष मैंने आश्रममे पूज्यपाद स्वामीजीकी स्मृतिमें एक कीर्तिमन्दिरका निर्माण कराया जिसमे उनकी संगमर्मरकी प्रतिमाकी स्थापना की गई। द्विजराज काशीनरेश विभूतिनारायण सिंह शर्माने उस अवसरपर पधारनेकी कृपा की थी।

इस वर्ष पूज्यपादके अवतरणके एक सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। अस्तु मेरे आश्रम में उनके अवतीर्ण होनेकी पुण्यतम तिथि महाशिवरात्रि—१६ फरवरीको उनका शताब्दी समारोह मनाया जा रहा है। यह 'गीताहृदय' ग्रंथ उसी उपलक्षमे न्यासकी ओरसे प्रकाशित किया जा रहा है।

श्री स्वामीजीके सभी ग्रंथोंकी स्थिति उपेक्षित और अव्यवस्थित देख मार्मिक वेदना होती है। परिव्राजक परंपरामे पूज्यपाद स्वामीजीकी गुरु परंपरा जिसके प्रवर्त्तक उनके गुरुदेव श्रीस्वामी अद्वैतानन्द सरस्वती थे, उस क्रममें दण्डिस्वामी हँसानन्द सरस्वती और स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती उस परंपराके शिष्य लोग ही है। किन्तु सामान्यतः आजके अधिक संत लोग मोक्ष और भजनके चक्करमे मनमानी दुनियामे विचरते और मौज करते है, उन्हें समाजकी दुख दुर्दशाकी क्या चिन्ता है? फिर भी मैंने साहस और धैर्य बटोरकर लोकहितको दृष्टिसे गीता-हृदयको प्रकाशित करनेका दृढ़ निश्चय किया। इस क्रममें ब्रह्मर्षि वंशके एक

तेजस्वी संत शिरोमणि यतीन्द्र कुल तिलक कैलाश आश्रम ऋषिकेशके महा-मण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानंद गिरि सर्वदर्शनाचार्यजीने मेरी भारी सहायता की। उन्होंने गीताहृदयके प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी आर्थिक सहायता और नैतिक बल प्रदान किया। उनकी सहायता नहीं मिली रहती तो ग्रंथ सम्भवतः मै प्रकाशित करनेमे असमर्थ रहता। इसके बाद मेरे गुरुस्थान राजगुरु मठ, शिवाला घाट, वाराणसीके शिष्यों, भक्तों और ब्रह्मर्षिवंशके बहुतेरे मनस्वी सेवकोंने मेरी भारी सहायता की। उनमे ब्रह्मर्षि उच्च विद्यालय, आरा, भोजपुरके क्रान्तिकारी प्राचार्य भी आग्रेनन्द चौधरीका स्थान प्रथम है। उसके बाद मेरे शिष्य भक्त शिरोमणि पं० रामनरेश पाण्डेय, सिमरी, भोजपुर की सहायता बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मर्षिवंशके बहुतेरे सपूतोंने और मेरे मठमे निवास करनेवाले गाजीपुर जिलेके वीरपुर ग्राम निवासी तपस्वी छात्र श्री प्रमोद कुमार राय एवं उनके अनुज श्री वंशनारायण राय की सेवा, उनका योगदान बहुत मूल्यवान् रहा जिसके करते मुझे सहायता मिली। मै सबोका ऋणी हूं और सबों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ अन्तमें यह कहकर अपना वक्तव्य पूरा करता हूँ कि इसके बाद ग्रन्थकी आयसे स्वामीजी महाराजके अन्य ग्रंथोंके प्रकाशनकी व्यवस्था की जायेगी जिससे स्वामीजीके पुनीत विचारोंका प्रचार हो सके और उनके जनताजनार्दन की सेवाका उद्देश्य पूरा किया जा सके।

दण्डिस्वामी विमलानंद सरस्वती
संस्थापक—अध्यक्ष
श्रीस्वामी सहजानंद सरस्वती स्मारक-न्यास
बक्सर, भोजपुर

अनुक्रमणिका

विषय　　　　　　　　　　पृष्ठ

पहला भाग

१—गीताके मुख्य मन्तव्य

२—गीताधर्म और मार्क्सवाद

दूसरा

गीता भाग

पहला

अंतरंग भाग



अपने पर-
मा
की ढूँढ खोजमे
परीशान
, जो रास्ता
उसने अख्तियार किय
पर-
मात्माकी कसौटीका इस्तेम
ल्लवालों-
को उज्र नहीं। उसकी यह अप .
धारण थे.
आम लोगोंके कामोंको तौलनेके लिये उस
म्मकी इजाजत उसे
हर्गिज दी नहीं जा सकती, और न ऐसा करनेका उसे हक ही प्राप्त है। वे तो

१. गीताके मुख्य मन्तव्य

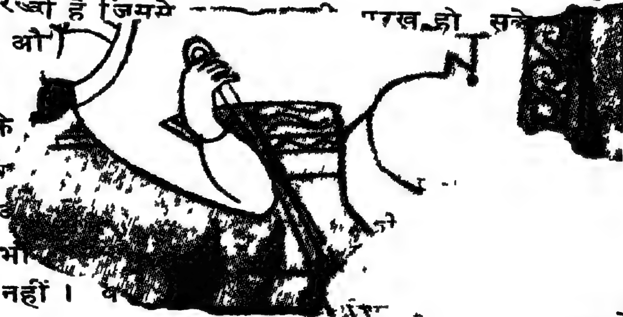
कर्त्तव्याकर्त्तव्यके प्रश्न

कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यका झमेला, कर्म करें, न करेंका सवाल, बुरे, भलेकी पहेली और इन दोनोंका निर्णय कैसे हो यह जिज्ञासा—ये सभी—पुरानी बातें हैं, इतनी पुरानी जितनी पुरानी यह दुनिया है। कोई भी ऐसा देश नहीं है, समाज [illegible] जहाँ एक न एक समय यह उधेड़-बुन और समस्या लोगोंके सामने—[illegible] नके सामने तो अवश्य ही जिन्हें समझ हो और जो तहके भीतर [illegible] योग्यता रखते हों—आ न खड़ी हुई हो। सभी देशकालके विद्वानों के समक्ष ये और ऐसी तरहके बहुतेरे प्रश्न बराबर आते रहे हैं और उनने अपनी अपनी-समझ तथा पहुँचके मुताबिक इनका उत्तर भी दिया है, समाधान भी [illegible] है। मानवसमाजके इतिहासमें यह एक ही बात ऐसी है जो बिना [illegible] और सम्प्रदायके भेदके, समान रूप से सभी जगह पाई गई है और, हमें पूरत-[illegible] आगे भी पाई जायगी। अकेले इस सम्बन्धके प्रश्नोंने लोगोंको जितना है। शान किया है और उन्हें इनके बारेमें जितनी माथापच्ची करनी पड़ी [illegible] मगर इक विषयको लेकर यह बात हुई हो। इसीसे [illegible] पूरी सम्भावना बराबर बनी रहती है। कारण, अधिकांश लोगोंका सांसारिक लाभ या नुकसान किसमें है, इस बातका निर्णय प्रायः असंभव है। इसके लिये जितने भी तरीके सुझाये गये हैं, सबके सब अधूरे एवं दोषपूर्ण हैं। अल्पमत और बहुमतका निश्चय वर्तमान मानव-समाजके लिये निहायत पेचीदा पहेली है। इसी झमेलेमें दुनिया तबाह हो रही है। ऐसा भी होता है कि तुच्छ निजी स्वार्थ ही कभी-कभी जन-हित जँचने लगता है। इसीलिये सांसारिक हिताहित या हानिलाभके सिवाय आध्यात्मिक दृष्टिका भी पुट इसमें आ जाना जरूरी हो जाता है। इससे तुच्छ स्वार्थका तो मौका रही नहीं जाता। साथ ही, बहुमतके निर्णयकी परीशानी से भी पिंड छूट जाता है। गीताकी जो अध्यात्म दृष्टि है उसमें कुछ ऐसी शक्ति और जड़ी-बूटीकी ताकत है कि हर कामकी बाहरी रूपरेखाको बदलके वह उसे सुन्दर, निर्दोष और कल्याणमय बना देती है।

इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि इसके चलते कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके संसारमें अन्धेर मच जायगा; यह सभीके बाहरी रूपको पलटनेवाली मानी जो जाती है। बात ऐसी नहीं है। इस दृष्टिके फलस्वरूप आमतौरसे अच्छे माने जानेवाले कामोंमें

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

इन प्रश्नोंपर सोचने और इनके उत्तर देनेवाले लोग दो तरहके होते रहे हैं। चाहे उन्हे अध्यात्मवादी कहिये या नीति और एथिक्स (Ethics) के पैरो और प्रचारक कहिये। मगर भारतके धर्मशास्त्रियों और नीतिशास्त्रके आचार्योंसे लेकर ग्रीसके प्राचीन तत्ववेत्ताओं और पश्चिमी देशोंके आजतकके आचार-शास्त्रोंके आचार्योंतकको हम आमतौरसे दो ही श्रेणियोंमें बाँट सकते हैं। इन्हीं के भीतर चीनके कन्फ़्यूसियस आदि सम्प्रदायोंके प्रवर्त्तक तथा विद्वान लोग भी आ जाते है। इनमे एक दल तो उनका रहा है और है भी जो केवल अध्यात्म दृष्टि या आत्मा, परमात्मा और लोक, परलोककी दृष्टिसे, इसी खयालसे, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या कर्मके त्याग और करनेका निश्चय करते आये हैं, करते आ रहे है। ऐसी हर बातमे उनकी नजर दुनियाबी नफा नुकसान और हानिलाभकी कोई खास कीमत नही कूतती। वे तो ऐसे मौकोंपर हमेशा सिर्फ उसी आत्मा, परमात्मा आदिकी दृष्टिसे इसका निर्णय करते चले आ रहे है कि क्या बुरा और क्या भला है। उनने भले-बुरेको कसौटी सिर्फ यही रखी है कि किस कामसे आत्मा कितना नीचे गिरती या ऊँचे उठती है, उसका कितना पतन और उत्थान होता है और करनेवाला उससे परमात्माके कितना नजदीक या दूर जाता है। उन लोगोंने इस बातकी कसौटी भी अपनी-अपनी पहुँच और समझके अनुसार बना रखी है जिससे ... परख हो सके ... या पतन आदि कहाँतक और ... अप्रासंगिक है।



दूसरे दलवाले इसके ... की जाँच केवल सांसारि... उनका नजरोमे या तो ... हुई नही, या अगर हो भी ... बनने बनानेकी जरूरत नहीं। ... आत्मा, भगवान या खुदाकी पूजा-परिस्तिश करना चाह... अपने परमात्मा ... हो, तो उसे आजादी है, आजादी हो सकती है, और ... ढूँढ़ खोजमे परीशान ... है उसकी जाँच-पड़तालके लिये भले ... जो रास्ता उसने अख्तियार किय... ...ाल कर सकता है। उसमें दूसरेके ... परमात्माकी कसौटीका इस्तेम... ...नी निजी चीज जो ठहरी। ... ...दलवालों-को उज्र नहीं। उसकी यह अप... ... तरहकी नाप-... ...धारण थे। आम लोगोंके कामोंको तौलनेके लिये उस... ...की इजाजत उसे हर्गिज दी नहीं जा सकती, और न ऐसा करनेका उसे हक ही प्राप्त है। वे तो

सिर्फ यही देखना चाहते हैं कि किस कामसे ज्यादा लोगोको फायदा या नुकसान पहुँचता है। क्योंकि किसी भी कामसे सबोका न तो फायदा ही हो सकता और न नुकसान ही। चोरी, डकैतीसे भी तो कुछ लोगोंको लाभ होता ही है और रोकनेसे हानि भी होती है। यहाँ तक कि साँस लेने और पलक मारनेमे भी हजारो जीवधारी कीटाणु खत्म हो जाते हैं। इसीलिये अधिकाश लोगोंके हानिलाभकी ही कसौटीपर नेकी या बदीकी जाँचकी जा सकती है।

गीताका समन्वय

मगर गीताने इन दोनों विचारोंको एकागी और अधूरा माना है। उसके मतसे हमे आदमीके स्वभावका खयाल करके दोनों हीको मिलाना और उन्हींके आधारपर कर्म, अकर्म, कर्मके त्याग या ग्रहण और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहिये। भौतिक हाड-मास और दिलदिमागसे हम मनुष्यको जुदाकर सकते नहीं और ये भौतिक पदार्थ स्वभावतः दुनियाबी हानिलाभो और बुरेभलों की ही तरफ झुकते और दौडते हैं। उन्हीको पहचानते और पकडते हैं और उन्हीसे अपना गॅठजोडा करते है, ठीक उसी तरह जिस तरह बच्चा माँकी सूरत-शकल या आवाजको सुनते ही उधर दौड पडता और उसीसे जा लिपटता है। इसमे दलीलकी तो गुजाइश नही। यह तो कठोर सत्य है।

मगर इसमे धोखा और खामी रह जाती है, इस बातकी इसमे पूरी सम्भावना बराबर बनी रहती है। कारण, अधिकाश लोगोका सासारिक लाभ या नुकसान किसमे है, इस बातका निर्णय प्राय असंभव है। इसके लिये जितने भी तरीके सुझाये गये है, सबके सब अधूरे एवं दोषपूर्ण है। अल्पमत और बहुमतका निश्चय वर्तमान मानव-समाजके लिये निहायत पेचीदा पहेली है। इसी झमेलेमें दुनिया तबाह हो रही हैं। ऐसा भी होता है कि तुच्छ निजी स्वार्थ ही कभी-कभी जन हित जँचने लगता है। इसीलिये सासारिक हिताहित या हानिलाभके सिवाय आध्यात्मिक दृष्टिका भी पुट इसमे आ जाना जरूरी हो जाता है। इससे तुच्छ स्वार्थका तो मौका रही नही जाता। साथ ही, बहुमतके निर्णयकी परीशानी से भी पिंड छूट जाता है। गीताकी जो अध्यात्म दृष्टि है उसमे कुछ ऐसी शक्ति और जड़ी-बूटीकी ताकत है कि हर कामकी बाहरी रूपरेखाको बदलके वह उसे सुन्दर, निर्दोष और कल्याणमय बना देती है।

इसका यह मतलब हर्गिज नही है कि इसके चलते कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके संसारमे अन्धेर मच जायगा; यह सभीके बाहरी रूपको पलटनेवाली मानी जो जाती है। बात ऐसी नही है। इस दृष्टिके फलस्वरूप आमतौरसे अच्छे माने जानेवाले कामोंमें

प्रवृत्ति और दूसरोंसे निवृत्ति तो एक तरहका नियम बन जाती है, स्वभाव बन जाती है। मगर अपवाद स्वरूप अगर कभी संयोगवश उलट-फेर भी हुई, तो भी गड़बड होने नहीं पाती और इसके करते वैसे ही मौकेपर ऊपरसे बुरे दीखनेवाले कामों और अमलोंकी कायापलट हो जाती है। फलतः कहीं भी पश्चात्ताप या अफसोस-की गुंजाइश रह नही जाती। यदि कहें तो कह सकते हैं कि सांसारिक दृष्टि और परखमें जो कमी और मानव स्वभावमें जो त्रुटि रह जाती है उसीकी पूर्त्ति कर्त्तव्याकर्त्तव्यके बारेमें यह अध्यात्म दृष्टि करती है। यह बात प्रसंगवश आगे दिखाई जायगी।

लेकिन एक बात यहींपर जान लेना जरूरी है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार किसी भी क्रियाका, कामका, अमलका, ऐक्शन (action) का बाहरी रूप कोई चीज नही है। किसी भी कामको बाहरसे, ऊपरसे या योंही देख सुनके हम उसे भला या बुरा नहीं कह सकते। ठोस या स्थूल पदार्थोंकी बात है कि उनका जो रूप देखा सुना जाता है आमतौरसे वही सही और असली माना जाता है और उसीके मुताबिक उन्हें हेय या उपादेय, त्याज्य या ग्राह्य माना जाता है। मगर यह बात कर्मों या अमलोंके बारेमे लागू नहीं है। ऊपरसे जिन कामोंको हम सुन्दर, कर्त्तव्य और ग्राह्य मानते है वह ठीक उलटे हो सकते है। यही हालत बुरे, कर्त्तव्य तथा त्याज्य कामोंकी भी समझी जानी चाहिये। गीताके मतसे हिंसा अहिंसा और अहिंसा हिंसा हो सकती है, हो जाती है। यही बात सभी कर्मोके सम्बन्धमें लागू है। गीता तो इस सम्बन्धमे यह मानती है कि करनेवालोकी भावना, धारणा, निश्चय, मानसिक संकल्प और दिलकी पुकार उन कर्मोके बारेमे कैसी है, वे किस विचार और खयालमे उन कामोंको करते है, उनके मानसिक पटलपर कौनसा स्थान किस तरहका उन कर्मोको मिला है, उनके और उनके फलोंके सम्बन्धमे उन्हें ममता और आसक्ति है या नही वे उन कर्मोसे और उनके फलोंसे अपने दिल और दिमागके जरिये लिपटे है या नही, इत्यादि बातों का फैसला ही, इन्हींकी असलियत ही उन कामोंको बुरा या भला, उचित या अनुचित बनाती है।

श्रद्धा, दिल और दिमाग

जिस गीतामें श्रद्धा कहा गया है वह भी इन्हींके भीतर आ जाती है और कर्मोंकी बुरा या भला बनानेमें श्रद्धाका बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। यही बात "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" (१७।३) आदि में गीता ने कही है। "यस्य नाहंकृतो भावः" (१८।१७) आदि वचन भी यही बताते है। दिलके भीतर किसी कामके प्रति जो प्रेम और विश्वास होता है उन दोनोंको मिलाके ही श्रद्धा कही जाती

है। श्रद्धा इस बात को सूचित करती है कि दिमाग दिलकी मातहती में—उसके नीचे—आ गया है। विद्वत्तामें ठीक इसके उलटा दिलको ही दिमागकी मातहती करनी होती है। हाँ, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान, स्थितप्रज्ञता, गुणातीतता और ज्ञानस्वरूप भक्ति, (चतुर्थभक्ति) की दशामें दिल तथा दिमाग दोनों ही हिल मिल जाते हैं। इसे ही ब्राह्मीस्थिति, समदर्शन ऐक्यज्ञान आदि नामोंसे भी पुकारा गया है। जब सिर्फ हृदय या दिलका निराबाध प्रसार होता है और उसका मददगार दिमाग नहीं होता तो अन्ध परम्पराको स्थान मिल जाता है, क्योंकि हृदयमें अन्धापन होता है। इसीलिये उसे दीपककी आवश्यकता होती है और यही काम दिमाग या बुद्धि करती है।

विपरीत इसके जब दिमाग या बुद्धिका घोड़ा बेलगाम सरपट दौड़ता है और उसपर दिलका दबाव या हृदयका अंकुश नहीं रहता तो नास्तिकता, अनिश्चितता, सन्देह आदिकी काफी गुंजाइश होती है। क्योंकि तर्क और दलीलको पहरेदार सिपाही जैसा मानते हैं। इसीलिये वह एक स्थानपर टिका रह सकता नहीं, अप्रतिष्ठ होता है, स्थान बदलता रहता है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः।'' फलतः सदाके लिये उसका किसी एक पदार्थपर, एक निश्चयपर जम जाना असंभव होता है। अच्छेसे अच्छे तर्कको भी मात करनेके लिये उससे भी जबर्दस्त दलील आ खड़ी होती है और उसे भी पस्त करनेके लिये तीसरी आती है। इस प्रकार तर्कों और दलीलोंका ताँता तथा सिलसिला जारी रहता है, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं। फिर किसी बातका आखिरी निश्चय हो तो कैसे? संसारभरकी बुद्धि आजमाके थक जाय, खत्म हो जाय, तभी तो ऐसा हो। मगर बुद्धिका अन्त, परिधि, अवधि या सीमा तो है नहीं। बुद्धियाँ तो अनन्त है और नई-नई बनती भी रहती हैं, उनका प्रसार होता रहता है—''बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयः।''

यही कारण है कि दिल और दिमाग दोनों हीको अलग-अलग निरंकुश एवं बेलगाम छोड़ देनेकी अपेक्षा गीताने दोनोंको एक साथ कर दिया है, मिला दिया है। इससे परस्पर दोनोंकी कमीको एक दूसरा पूरा कर लेता है—दिलकी कमी या उसके चलते होनेवाले खतरेको दिमाग, और दिमागकी त्रुटि या उसके करते जिस अनर्थकी संभावना है उसे दिल हटा देता है। इस प्रकार पूर्णता आ जाती है। लालटेनें या चिरागके नीचे, उसके अत्यन्त नजदीक अँधेरा रहता ही है। मगर अगर दो लालटेनें पास-पास रख दी जायँ तो दोनोंके ही तलेका अँधेरा जाता रहता है। यही बात यहाँ भी हो जाती है। कर्म, अकर्म, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या कर्मके योग और उसके संन्यास जैसे पेचीदे एवं गहन मामलेमें जरा भी कमी, जरा

भी गड़बड़ी बड़ी ही खतरनाक हो सकती है। यही कारण है कि दिल और दिमागको मिलाके गीताने उस खतरेको खत्म कर दिया है।

कर्मके भेद

गीताके मुताबिक कर्म, क्रिया या अमल (action) की कई सीढ़ियाँ हैं। इनमें सबसे पहली या नीचेकी सीढ़ीमें वे सभी कर्म (काम) आ जाते हैं जो जीवनके लिये, या यों कहिये कि सासारिक बातोंके लिये जरूरी हैं और जिनके बिना न तो कोई जिन्दा रह सकता है और न दुनियाका काम ही चल सकता है। गीताके "कार्यतेह्यवशः कर्म" (३।५), "शरीरयात्रापि च ते" (३।८) आदि वचन इस बातके पोषक हैं। जब यही कर्म इसी खयालसे किये जाते हैं कि हमारा, करनेवालेका या दुनियाका काम चले, सब कुछ कायम रहे, चालू रहे और जब करनेवालेको अपने और परायेका विचार रहता है, तभी ये कर्म सबसे निचली सीढ़ीमें आते हैं। उस दशामे ये सोलहों आना कर्मके रूपमे रहते हैं और इनका नतीजा भुगतान होता है। जिनके बारेमे धर्मशास्त्रों और पोथीपुराणोंमें बहुत कुछ लिखा गया है, जिन्हें सुख, दुःख और नरक, स्वर्ग आदि देनेवाले कहा गया है वे यही कर्म हैं। भाग्य, दैव, प्रारब्ध, संचित और तकदीर आदि नाम भी इन्हीं पहली सीढ़ीवालोंको दिये गये हैं। जब बातचीतमे कर्मका फेर कहते हैं तो इन्हींसे मतलब होता है। इनमें स्वार्थ और परार्थ—अपने लिये और दूसरोके लिये—का सवाल सदा लगा रहता है और वह कभी इनका और करनेवालोंका पिंड छोड़ता ही नही।

दूसरी सीढ़ी आती है उन कर्मोंकी जो मनकी, हृदयकी, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, पवित्रताके लिये किये जाते हैं। जैसे देह, कपड़े-लत्ते और घरबारको कर्म या क्रियाके द्वारा ही निर्मल बनाते हैं, साफ सुथरा करते है, झाड़ू, साबुन, पानी वगैरहके जरिये इनकी मैल हटाके इन्हें स्वच्छ पवित्र और शुद्ध करते हैं; ठीक वैसे ही दिल, दिमागको भी निर्मल किया जाता है कर्मोंके ही जरिये। आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे घरकी गन्दगी तो हटती नहीं। वह तो झाड़ू और पानीसे धोये पोंछे विना नहीं हट सकती। मनकी मैल और गन्दगी भी उसी प्रकार कर्मोंके ही द्वारा मिटती है और वह शुद्ध एवं निर्मल होता है। जिस प्रकार पहली सीढ़ीवालों को गीताने "शरीरयात्रार्थ" कर्म 'शरीर यात्रापि च ते' (३।८) में कहा है; उसी प्रकार इन्हें 'आत्मशुद्धये' या "आत्मशुद्ध्यर्थ" कर्म 'सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' (५।११) आदिमें कहा है।

मनकी मैल भी समझ लेनेका चीज है। देह या कपड़े-लत्ते जैसा ठोस और स्थूल पदार्थ तो मन या हृदय है नहा। वह तो सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म—है और अनुमानसे ही उसका अस्तित्व माना जाता है। इसलिये उसमें बाहरी या स्थूल मल (मैल) की संभावना नहीं है। यह मैल तो उसके पास पहुँच ही नहीं सकती। यही कारण है कि मनको चंचलता, उसका किसी भी पदार्थमें न टिक सकना, राग, द्वेष और भय आदि ही मैल कहे जाते हैं और इन्हींको दूर करनेकी—कम करनेकी—जरूरत होती है। क्रिया या कर्मके प्रभावसे ही मन इन दुर्गुणोंसे छुट्टी पाता है और धीरे-धीरे इनकी कमी होने लगती है। ये सोलहों आना मिटते तो हैं आत्मदर्शनके बाद ही। मगर इनकी प्रचंडता और इनका वेग जाता रहता है। जैसे जंगली खूँखार और घरेलू पालतू जानवरोंके स्वभावमें फर्क होता है वैसी ही दशा मनकी हो जाती है और उसकी खूँखारी जाती रहती है। वह पालतू-सा बन जाता है, बनने लगता है। दिल या हृदयकी जो दुर्बलता होती है और संकटोंके आते ही जो पस्ती आ जाया करती है तथा निराशा हो जाती है वही दिलको मैल है। वह भी कर्मके फलस्वरूप कम हो जाती है, मिटने लगती है। काम करते-करते सफलता-विफलताका सामना बारबार होना है जिससे हिम्मत होती है, बढ़ती है। इसपर आगे संन्यास और त्याग प्रकरण प्रकाश मे मिलेगा।

उसीके बाद कर्मोंकी तीसरी सीढ़ी आती है—यह तीसरा दर्जा नीचेका न होके ऊँचेका है, उलटा है। इसलिये तीसरा दर्जा सुनके किसीको भ्रम नहीं होना चाहिये। पहली दो सीढ़ियोंको पार कर लेनेके बाद ही इस तीसरी पर पाँव देते हैं, दे सकते हैं। जब दिल और दिमाग पवित्र हो जाते हैं तो इन्सान कुछ ऊपर उठता है और उसकी दृष्टि विस्तृत होने लगती है। जहाँ पहले अपने परायेकी बात होनेसे वह संकुचित रहती है और कदम-कदमपर पदार्थोंका बँटवारासा प्रतीत होता है कि यह अपना है और यह दूसरेका है, तहाँ ऊपर उठनेपर यह विभाग, यह बँटवारा मिटने लगता है और अनेकतामे एकता नजर आने लगती है। चाहे इसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" कहिये, या समदृष्टि कहिये। इसे ही गीताने अपने ही समान सबोंके—प्राणिमात्रके—सुख-दुःखोंका अनुभव या "आत्मौपम्य दृष्टि" भी नाम दिया है और "समत्वबुद्धि" भी कहा है।

लेकिन सबका साराश है संकुचितसे विस्तृतकी ओर, परिमितसे अपरिमितकी तरफ, पिंडसे ब्रह्माण्डकी ओर और व्यष्टिसे समष्टिकी तरफ जाना। इसीलिये इसे ऊपर उठाना कहते हैं। इससे यह होता है कि व्यक्तित्व, शख्सियत या 'पर्सनलिटी' (personality) और व्यक्तिवादिता या 'इन्डिविजुअलिटी' (individuality) का लोप समष्टि या विराट्के भीतर हो जाता है—'इन्डि-

विजुअलिटी' मिल जाती है 'कलेक्टिविटी' (collectivity) मे, समष्टि भावमें और मनुष्य अपने आपको विस्तृत संसारका एक अविच्छिन्न अंश समझने लगता है। जिस तरह शरीरके किसी भी अंगको जुदा किये जानेपर असह्य पीडा होती है, ठीक उसी तरह उस समय व्यक्तित्वको समस्त संसारसे अलग करने, मानने तथा देखनेमे मर्मान्तिक वेदना होती है। अंगकी पुष्टिके लिये समस्त शरीरको ही पुष्ट करना जिस तरह अनिवार्य है वही हालत यहाँ भी हो जाती है। फलतः ऐसा ऊँचा उठा मनुष्य निजी तौरपर या व्यक्तिगत हानि-लाभका कभी खयाल भी नही कर सकता। वह ऐसी बातके लिये सर्वथा अयोग्य हो जाता है। अतः दुनियाके सभी झगडे मिट जाते है। जिस तरह बहुत ही ऊँचे पर्वतकी चोटीपर खडा होके देखनेवालेको नीचेकी बडीसे बडी चीजे भी निहायत नन्हींसी लगती है और कभी-कभी तो दीखतक नही पडती है, ठीक वही हालत उसके नजरोंमे व्यक्तित्व और अपनेपनकी हो जाती है।

मगर यह हालत यकायक नही होती। इसमे भी सीढियाँ (stages) होती है और उन्हीसे होके इन्सान धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ आखिरी दशा (stage) मे पहुँच जाता है जहाँ सभी एक और समान हो जाते है—जहाँ वह अपनेको सबोंसे और सबोंको अपनेसे पृथक् देख नही सकता। यही है निर्वाण, मुक्ति या ब्राह्मी स्थिति। उस हालतमें पूर्णतया पहुँचनेके पहले जिन सीढियोंसे होके गुजरना पडता है उनमे पहली वही है जिसे कर्मकी गणनामें तीसरी कह चुके है। उस तीसरी या इस पहलीमे जो कर्म किया जाता है उसे गीताने 'यज्ञार्थ' कर्म कहा है। "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" (३।९) "एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्" (३।१६), "यज्ञायाचरत कर्म" (४।२३) आदि श्लोकोंमे यही बात है। यज्ञार्थका अर्थ है यज्ञके लिये और गीताका यह यज्ञ बहुत ही व्यापक है। इसमे दुनिया आ जाती है। परमात्मासे लेकर छोटी-बडी सभी चीजोंका समावेश इसमे हो जाता है। गीताके चौथे अध्यायके २४ से ३० श्लोकोंमे यह बात स्पष्ट है और अन्यत्र भी (परमात्मा और ज्ञानको तो यज्ञ कहते ही है। मगर व्यष्टि और समष्टि—व्यक्ति और समुदाय—रूपसे संसारका कायम और चालू रखनेके लिये जितने भी काम (कर्म) किये जाते है, सभी यज्ञके अन्तर्गत माने गये है। अतएव मनः-शुद्धिके बाद ऊपर उठनेवाला आदमी जो भी कुछ काम शरीरयात्राके लिये या दूसरोंके भलेके लिये करता है सभी यज्ञमे आ जाता है।) जिसे आमतौरसे हिन्दू लोग यज्ञ कहते हैं उससे लेकर बडेसे बडे और छोटेसे छोटे कामोंको—सबोंको ही—यज्ञका स्वरूप मिल जाता है।

यज्ञार्थ कर्म

वह मामूली यज्ञसे शुरू करके ही आगे बढ़ता है। यज्ञमें एक खूबी है कि इसके करनेवालेको कुछ न कुछ घी, अन्न आदिका त्याग करना ही होता है। इसीलिये इसे सैक्रिफाइस (sacrifice) और कुर्बानी भी कहते हैं। इस प्रकार ऊपर उठनेका काम इस त्यागबुद्धिसे ही शुरू होता है और यह चीज आगे बढ़ती जाती है। गीताकी यही तो खूबी है कि जो यज्ञ, कुर्बानी या सैक्रिफाइस सर्वजन प्रसिद्ध और सर्वप्रिय है और जिसमें आस्तिक-नास्तिकका भी कोई मतभेद नहीं—क्योंकि त्याग और कुर्बानीके कायल तो नास्तिक भी हैं—उसीसे शुरू करके लोगोंको आगे बढ़ाती है। फलतः इसमें दिक्कत नहीं होती। कर्मके गहनमार्गको सरल बनानेका इससे सुन्दर और बालबोध तरीका दूसरा होई नहीं सकता और जब एक बार उस चक्रमें हमने पाँव दे दिया और उस लहरके भीतर पड़ गये तो फिर अन्त-तक, देर या अबेरसे, पहुँचे बिना बीचमें रुकना असंभव है। इसीलिये आमतौरसे यज्ञार्थ-कर्म करनेकी यह तीसरी सीढ़ी कर्मके सिलसिलेमें मानी जाती है और इसमें उस यज्ञका कोई विश्लेषण या विवरण नहीं आता है।

लेकिन जब इस तीसरी सीढ़ी या दशामें भी कुछ प्रगति हो जानेपर खोद-विनोद शुरू हो जाती है और क्रमशः इस यज्ञका असली महत्व लोगों को मालूम होने लगता है तो चसका लग जाता है, मजा आने लगता है। कुछ समय और गुजर-नेके बाद इन्सानकी समझ ऐसी होने लगती है कि वह जो कुछ करता धरता है वह इस विराट् एवं महाकाय संसारकी स्थिति, वृद्धि तथा प्रगतिके ही लिये हो रहा है। यहाँतक कि वह अपने श्वास-प्रश्वास और पलक मारने तकको उसी प्रगतिके लिये जरूरी एवं अनिवार्य क्रिया कलापका एक अंश देखता है। इस प्रकार उसका समस्त जीवन परोपकारमय बन जाता है। फिर भी यह सब कुछ होता है उस यज्ञके ही रूपमें। उसकी यह अविचल धारणा बराबर बनी रहती है कि जो महान् यज्ञ संसारके कल्याणके लिये चालू है उसीकी पूर्ति हमारे प्रत्येक कामों, प्रत्येक हलचलों तथा छोटी-बड़ी सभी क्रियाओंके द्वारा निरन्तर हो रही है।

ईश्वरार्पण और मदर्थ कर्म

इस मनोवृत्तिका, इस दशाका पूरा परिपाक हो जानेपर चौथी सीढ़ी आती है, जो ऊपर उठनेकी दशाकी दूसरी कही जा सकती है। इस दशामें पहुँचनेपर संसारकी विभिन्नता (diversity) का ज्ञान नहीं रहता है। जिस प्रकार मनुष्य व्यक्तित्व से शुरू करके समष्टिमें पहुँच जाता है और वहाँ पहुँचते ही व्यक्तित्व

लापता हो जाता है, ठीक उसी प्रकार समष्टिके ही थोड़ा और भी ऊपर उठनेपर वह समष्टि भी विलीन हो जाती है। व्यक्तित्व या व्यष्टि और समष्टि ये दोनों ही सापेक्षिक चीजें हैं—इनमें एकको दूसरेकी अपेक्षा है—ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जैसे पिता और पुत्र दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इसीलिये एकके ज्ञानके लिये दूसरेके ज्ञानकी अपेक्षा है और इसीलिये यदि किसीको दूसरेकी अपेक्षा न जानें तो उसे पिता या पुत्र न कहके आदमी, इन्सान या मनुष्य ही कहेंगे और जानेंगे भी। यही बात व्यष्टि तथा समष्टिकी भी है। जबतक ये दोनों हैं—जबतक इन दोनोंका ज्ञान होता है—तभीतक इनकी हस्ती है, सत्ता है। मगर ऊपर उठते-उठते जब व्यष्टिका लोप सोलहों आना हो गया तो फिर समष्टि बुद्धि भी कहाँ रहेगी, कैसे होगी? इसीलिये सर्वत्र समरसता, एकरसताका ज्ञान होने लगा। गीता इसे ही ब्रह्मज्ञान या परमात्माका ज्ञान कहती है। उस दशामें जो कुछ किया जाता है वह यज्ञार्थ होते हुए भी ईश्वरार्थ, ब्रह्मार्पण, मदर्पण या मदर्थ कर्म कहा जाता है। "मयि सर्वाणि कर्माणि" (३।३०), "यत्करोषि" (९।२७), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" (१८।४६), "चेतसा सर्वकर्माणि" (१८।५७) आदि गीता के वचनोंमें यही बात कही गई है। इसीके बारेमें कहा जाता है कि भगवदर्पण बुद्धिसे या भगवानकी प्रसन्नताके लिये कर्म किया जा रहा है। असलमें आत्मा और समस्त संसार—दोनों ही—जब परमात्मा बन गये और उसके सिवाय इनकी जुदा स्थिति रही नहीं गई, तब तो जो कुछ होता है उसे भगवदर्पण-बुद्धिपूर्वक ही माना जाना चाहिये।

कर्त्तव्य कर्म

सबके अन्तमें आती है पाँचवीं सीढ़ी, जिसे गीतामें केवल कर्त्तव्य-बुद्धिपूर्वक या कर्त्तव्य समझके कर्म करना कहते हैं। जब सारा भेद मिट गया और अद्वैत-बुद्धि—"एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" की भावना—हो गई और वह निरन्तर बनी रहती है, उसका विलोप कभी भी जब होता नहीं, तो फिर ईश्वरार्थ कर्मका प्रयोजन क्या है—मतलब क्या है? ब्रह्म या ईश्वर या भगवानके लिये कर्म करनेका तब तो कोई मतलब रही नहीं जाता। भगवान उन कर्मोंको लेके आखिर करेगा क्या? उसे तो उनका प्रयोजन कुछ भी रही नहीं गया। इसीलिये भगवदर्पण कर्मके कुछ मानी दरअसल हैं नहीं। जबतक अद्वैत भावना दृढ़ न हो और उसमें रह-रहके विराम आ जाता हो, तबतक तो इसके मानी कुछ हो भी सकते हैं। तबतक पहलेवाला ऊँचे उठना और ऊपर चढ़ना अपने स्थानपर रह सकता है। मगर जब इस भावना और धारणाकी पूर्त्ति हो गई, तब ब्रह्मार्पण कहना बेमानी है।

इसीलिये उस हालतमें जो कुछ भी कर्म होता है वह केवल कर्त्तव्य समझके ही होता है। जिसे अंग्रेजीमें 'ड्यूटी फॉर ड्यूटीज सेक' (duty for duty's sake) कहते हैं वही है कर्त्तव्य बुद्धिसे कर्म करनेका अर्थ। "कार्यमित्येव" (१८।९), "यष्टव्यमेवेति" (१७।११), "दातव्यमिति" (१७।२०) आदि गीतोक्त वचनोंका यही मतलब है। (चाहे किसीका कुछ भी प्रयोजन हो या न हो, मगर कर्म तो इस सृष्टिका नियम (law) है। क्रिया ही तो सृष्टि है। इसलिये कर्म तो होता ही रहेगा जबतक संसार बना है, सृष्टि बनी है। इससे छुटकारा तो किसीको मिल सकता है नहीं। हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोंकी तो यही बात है कि उनसे कोई न कोई क्रिया होती ही है। नहीं तो वे रहेंगे न। इसीलिये यह आत्मदर्शी पुरुष कर्मोंकी नाहकको उधेड़-बुनमें तो पड़ता नहीं कि उनका प्रयोजन क्या है। उसे इसकी फुर्सत कहाँ? उसका मन, उसका दिलदिमाग इस तुच्छ चीजके पास फटकने भी क्यों पाये? उसे आगापीछा सोचनेकी फुर्सत ही नहीं होती—उसके पास इस चीजकी गुंजाइश होती ही नहीं। इसलिये जो कुछ होता है उसे वह रोकता नहीं, होने देता है। इसे ही पुराने लोगोंने 'प्रवाहपतित कर्म' भी कहा है। इसका अर्थ वही है जो कर्त्तव्यबुद्धिपूर्वक कर्मका है।

(असलमें बहुत समयतक यज्ञार्थ या ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर्म करते-करते उस मनुष्यका कुछ स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि बिना किसी खयालके भी वह ऐसे ही काम करता रहता है जिससे लोगोंका कल्याण हो। अनजानमें भी उससे दूसरे प्रकारका कर्म होई नहीं सकता। उसके जरिये ऐसा काम होनेकी संभावना रही नहीं जाती जिससे संसारमें अमंगल हो, दुनियाका अनिष्ट हो, या सांसारिक लोग देखा-देखी पथभ्रष्ट हों। उसने तो दीर्घकालतक दुखी लोगोंके ऊपर दयादृष्टि करके ही कर्म किया है। फलतः उसका अंग-प्रत्यंग दयार्द्र हो गया है। मैत्री, करुणा वगैरह दैवी सम्पत्तियाँ और उदात्त गुण उसके भीतर इस कदर प्रविष्ट हो गये हैं कि उनसे वह अनजानमें भी लाख यत्न करनेपर भी अलग हो नहीं सकता है। इसीलिये जहाँ पहले लोगोंकी भलाईका खयाल करके ही वह काम करता था, तहाँ अब बिना उस खयालके ही काम करता ही है। ऐसे ही कर्मोंको 'लोकसंग्रहार्थ' कर्म कहते हैं, जैसा कि गीताने कहा है—'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि''। यही कर्म पहले मनोयोगपूर्वक होते थे और अब स्वभावसे ही होते रहते हैं) दोनों ही दशामें ये रहते हैं 'लोकसंग्रह'के लिये ही। मगर पीछे उनमें और भी उदात्तता आ जाती है, वे और भी ऊँचे दर्जेके हो जाते हैं। क्योंकि ऐसे पहुँचे हुए महान् पुरुषोंकी स्वरसवाही प्रवृत्तियोंके फलस्वरूप होनेके कारण उनमें कृत्रिमता नहीं रह जाती। इसीलिये उनमें ऐसा आकर्षण होता है

कि जन-साधारण उधर ही बलात् खिच जाते हैं, एक प्रकारसे उन्हीं कर्मोंके साथ बँध जाते हैं और उन्हींको करने लगते हैं। 'लोकसंग्रह'में जो संग्रह शब्द है उसका अर्थ है बांधना या जमा करना और यह बात तभी चरितार्थ होती है। पहुँचे पुरुषोंके कर्मोंमें तब अपूर्व शक्ति हो जाती है जिसका जादू आम लोगोंपर होता है, होके ही रहता है।

स्वभावके प्रभाव

स्वभावकी बात कुछ ऐसी है कि मनुष्य संस्कारोंके मजबूत हो जाने या मानस पटलपर जम जानेसे सपनेमें चीजें देखने लगता है! वहाँ चीजें तो होती नहीं। लेकिन पहले देखी दिखाई चीजोंका गहरा संस्कार ही उन्हें घसीटके दिमागके सामने नींदके समयमें ला देता है। हालाँकि स्वभाव जैसी मजबूती उस संस्कारमें कभी होती नहीं। इसीसे स्वभावकी ताकत समझी जा सकती है कि वह क्या कर सकता है। मेरे गुरुजी महाराज अत्यन्त वृद्ध और प्रायः सौ सालके होके मरे थे। उनका हृदय बच्चों जैसा सरल और प्रेमसे ओत-प्रोत—सना हुआ—था। बचपनसे ही उनकी आदत थी; स्वभाव था, अपनी उँगलियोंपर ही मालाकी तरह ओंकार या भगवानके नामके जपनेका। उनका यह काम निरन्तर धारावाही रूप से चलता रहता था जबतक नींद न आ जाये। मगर इसका परिणाम यह हो गया कि गाढ़ी नींदमें भी उँगलियोंकी वह क्रिया बराबर जारी रहती थी। कितनी ही बार जब मैं दिनमें उनके दर्शनोंके ज़िये गया और वे सोये थे, तो अविच्छिन्न रूपसे चालू उँगलियोंकी वह क्रिया मैंने खुदबखुद देखी है। महान् आत्माओंके कर्मोंकी यही दशा होती ही है।

कहते हैं कि कविता है दरअसल कविके हृदयका बहके—प्रवाहित होके—बाहर निकल आना। बेशक सच्ची कविता तो इसीको कहते हैं। वाल्मीकिने वनमें यकायक देखा कि क्रौंच पक्षियोंका जोड़ा आपसमें रमा हुआ है। इतनेमें ही एक शिकारीने तीरसे ऐसा मारा कि मादा वहीं लोट गई! यह देखके नर तिलमिला उठा और इधर दयार्द्र मुनि वाल्मीकिका हृदय-स्रोत फूट निकला और उनके मुख से सहसा शब्द निकल पड़ा कि "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" "निषाद, तुझे भी बहुत दिनोंतक चैन न मिलेगा"—क्योंकि तूने इस निरपराध पक्षियोंमेंसे एकको मार डाला है! कहा जाता है कि, यही वाल्मीकि रामायणकी रचनाका श्रीगणेश है और इसीको लेके वह लम्बी और सुन्दर काव्य रचना हो गई। लोग जो कहते हैं कि कवि लोग लोकमत बदलने या जनताका दिमाग फेरनेमें कमाल करते हैं उसका कारण यही है कि उनका जिन्दा दिल कविताके रूपमें खयालोंसे बिधा बिधाया बाहर आके पुकारता है। मगर पहुँचे पुरुषोंके

कामों और शब्दोंमें तो कवितासे लाख गुना शक्ति होती है अपनी ओर खींचनेकी। क्योंकि कवितामें जहाँ कुछ कृत्रिमता होती ही है, तहाँ उनके काम और शब्द बिल्कुल ही अकृत्रिम होते हैं।

स्वामी विवेकानन्दने परमहंस रामकृष्णकी जीवनीमें लिखा है कि जब मैं उनके पास यह जानके दौड़ा-दौड़ाया पहुँचा कि भगवानके वे बड़े भक्त हैं और मुझे तो भगवानकी सत्ता ही स्वीकार नहीं, इसलिए वे कुछ चीजें बतायेंगे जिससे मैं उस सत्ताके सम्बन्धमें सोचूँ विचारूँगा, तो वहाँ अजीब हालत देखी। उसने मेरे प्रश्नके उत्तरमें कोई तर्क दलील न देके चट कह दिया कि "हाँ, मैं तो भगवानको ठीक वैसे ही देखता हूँ जैसे तुम मुझे देखते हो।" मगर इन सीधेसादे शब्दोंमें क्या जादू था! इनमें क्या गजबकी ताकत थी! जहा बड़ेसे बड़े दिमागदारकी दलीलें मुझपर इस बारेमें जरा भी असर कर न सकी थीं, तहाँ इन्हीं शब्दोंने कमाल किया और मुझे मजबूर किया कि उन परमहंसजीको मैं अपना गुरुदेव बना लूँ। हुआ भी ऐसा ही और मैं उसी क्षणसे घोर नास्तिक और अनीश्वरवादीसे परम आस्तिक एवं ईश्वरवादी बन गया! यह शक्ति उन शब्दोंकी नितान्त अकृत्रिमतामें ही थी! परमहंसजीका बाहर-भीतर एकरस था। वे जैसा बोलते वैसा ही सोचते और करते भी थे। दिल, दिमाग, जबान और काम —इन चारों—में उनके यहाँ सामञ्जस्य था। यह नहीं कि दिलमें कुछ, दिमागमें दूसरी ही, जबानपर तीसरी और काममें चौथी ही चीज हो जाय। यही महात्मापन है।

महात्मा और दुरात्मा

(पुराने लोगोंने कहा है कि महात्मा उसीको कहते हैं जो दिल-दिमागमें सोचे विचारे जो कुछ वही जबानसे भी बोले और वैसा ही काम भी करे। चाहे दुनियाँ इधरसे उधर हो जाय और लोग हजार खुश या रंज हों, उसे किसीकी पर्वा नहीं होती। वह निर्भय और लापर्वा होके एक ही तरहकी बात सोचता-विचारता, बोलता और करता है।) विपरीत इसके दुरात्मा या दुष्ट सोचता-विचारता कुछ, कहता कुछ दूसरा ही और काम करता है तीसरे ही ढंगका। लोगोंके दबाव, डर, भय और लाभ वगैरहका उसपर क्षण-क्षणमें असर होता है। उसकी आत्मा पतित और कमजोर जो होती है—"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्।" इसका सारांश यह है कि दिमागका काम है सोचना-विचारना; दिलका काम है किसी बातको पकड़ रखना, उससे चिपक जाना, उसी पर डटे रहना; जबानका काम है बात बोलना और हाथ-पाँव वगैरहका काम है अमल करना। महान् पुरुषमें इन चारों—दिमाग, दिल, जबान और हाथ-पाँव आदि—का सामञ्जस्य होता है, इनकी एकता होती है, इनका मेल होता है।

उसके दिल, दिमाग, जबान और अमलमें एक ही बात पाई जाती है। जरा भी अन्तर नहीं मिलता। शीलमुरव्वत, भयप्रीति, लाजशर्म या हानिलाभका कोई भी खयाल उसे डिगा नही सकता। वह पर्वतकी तरह अडिग होके मौतके मुखमे जाता हुआ भी जोई सोचता-विचारता उसे ही बेधडक बोलता और तदनुकूल ही आचरण करता है। प्रह्लाद, ध्रुव, ईसा, हुसेन, मंसूर आदिकी गणना ऐसे ही महापुरुषोंमे है।

लेकिन दुरात्मा या छोटे आदमियोंकी ऐसी हालत होती है कि शीलमुरव्वत, हानिलाभ, लाजशर्म, डर दबाव आदिके चलते कदम कदमपर बदलते रहते है— क्षणमे कुछ और क्षणमे कुछ करते रहते है। वे गिरे होनेके कारण सासारिक प्रलोभनोंसे ऊँचे उठ नही सकते। यह ठीक है कि उनमे भी सभी तरहके लोग होते है। कोई बिलकुल ही गिरे एवं दबे होते है तो कोई उनसे जरा ऊपर होते है और तीसरे होते है दूसरोसे भी जरा और ऊपर। इसी प्रकार नीचे और ऊपर हजारों होते है। बात असल यह है कि महात्मापनके लिये उक्त जिन चारोंका मेल जरूरी है उनमे यदि तीन या दोका ही मेल हो सका, या चारोंका मेल भी पूरा-पूरा न हो सका और यही बात तीन और दोके मेलमे भी हुई तो वे लोग महात्मा तो हो सकते नही। वे तो नीचे जा पडे। मगर उसी हिसाबसे उनका पतन कम या बेश माना जायगा। मेलमे जितनी ज्यादा कमी होगी पतन उतना ही अधिक होगा। विपरीत इसके मेल जितना ही अधिक होगा उतना ही वे अपेक्षाकृत ऊपर या ऊँचे माने जायँगे।

संन्यास और लोकसंग्रह

कर्त्तव्यबुद्धिसे या लोक संग्रहार्थ कर्म करनेवाले महापुरुषोंके ही प्रसंगसे गीताकी एक और बात भी जानने योग्य है। समदर्शन या ब्रह्मनिष्ठाकी हालतमें महान् पुरुषोंकी दो गतियाँ हो सकती है—ऐसे पुरुष दो प्रकारके हो सकते है। एक तो ऐसे जिनकी मानसिक दशा बहुत ही ऊँची हो, अत्यन्त ऊँची हो। वह ऐसी दशामे हो कि उनकी वृत्तिया, उनके खयाल नीचे उतरते ही न हो, उतर सकते ही न हों। आमतौरसे ऐसे लोग आत्मानन्दमे सदा मग्न रहते हे। इन्हींको कही-कही मस्तराम भी कहा हे। उनके लिये इस दुनियाकी सारी बाते वैसी ही है जैसी भादोंकी अंधेरी रातमे पडी चीज। उन चीजोको कोई देख ही नही सकता। ऐसे महानुभाव भी सासारिक पदार्थों और गति-विधियों को कभी देख सकते नहीं। इन चीजों का यथार्थ ज्ञान उन्हे कभी होता ही नही। अँधेरे की चीजको तो टो-टाके जान भी सकते है। मगर इनके लिये दुनियावी पदार्थ सर्वथा अज्ञेय है। इनके साथ उनका निकटवर्त्ती सम्बन्ध कभी होई नही सकता; हालाँकि ये पदार्थ औरों

के देखने में चारों ओर पड़े मालूम होते हैं। जैसे पानी के भीतर ही पैदा हुआ और पड़ा रहनेवाला कमल का पत्ता पानी मे निर्लेप एवं असम्बद्ध रहता है, वही दशा इनकी है। जहाँ दुनियाकी जराभी पहुँच नहीं उसी मस्तीके ये शिकार हैं—उसीमें झूमते हैं और जिसमें दुनियां झूमती है उससे ये महात्मा लाख कोस दूर हैं। गीताने इन्हे संयमी कहा है—"तस्यां जागर्ति संयमी" (२।६९) और बताया है कि संसारकी ओरसे ये बेखबर होते हैं, उधरसे सोते रहते हैं। संसार इनके लिये अँधेरी रातें या रातकी चीज है। इसीसे दुनिया इन्हें पागल समझती है।

इन्हीं पागलों और मस्ताने लोगोंकी दशाको गीताने सांख्यनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा नामसे भी पुकारा है। वे इतनी ऊँचाईपर होते हैं कि संसारकी लपट उनतक पहुँच पाती ही नहीं। इसीलिये शरीरयात्राकी क्रियाओंके होते रहनेपर भी इनके भीतर कर्त्तव्य-बुद्धि कभी पैदा होती ही नहीं। ये लोग कभी भी ऐसा नहीं समझते कि हमारे लिये अमुक कर्त्तव्य है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके खयालसे बहुत ज्यादा ऊपर होनेके कारण उसकी सतह या धरातलमें उनका पहुँचना असंभव हो जाता है। उनकी तो दुनियाँ ही दूसरी होती है, निराली होती है यदि उसे दुनिया कहा जा सके। यही कारण है कि कर्म करने, न करनेके जो विधिनिषेध हैं, इस तरहके जो विधान हैं वह उनके लिये हुई नहीं। ये संयमी महात्मा उन विधिनिषेधों और विधानोंके दायरेसे बाहर हैं। इसीलिये गीताने साफ कह दिया है कि इन मस्तरामोंका कोई भी कर्त्तव्य रही नहीं जाता। "तस्य कार्यं न विद्यते" (३।१७)। यही है पक्का संन्यास, त्याग या कर्मका छोड़ना। जैसे मदिरा पीके मतवाला हुए आदमीको अपने तनकी सुध-बुध नहीं होती, उससे लाख गुने बेसुध ये संन्यासी होते हैं। इनने तो महामदिराका पान कर लिया है। कर्मके विधिनिषेध वचनोंकी हिम्मत नहीं कि उनके सामने जा सकें। उन्हें सामने जानेमें आँच लगती है। इस प्रकारके संन्यासी या कर्मत्यागी कहे जानेवालोंमें शुकदेव, वामदेव, सनक, सनन्दन आदि आ जाते है। यही एक प्रकारका कर्म संन्यास है, जिसका मतलब आमतौरसे सभी कर्मोके त्यागसे न होकर केवल विधानसिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही है।

परन्तु तत्त्वज्ञानी या समदर्शनवाले एक दूसरे प्रकारके भी महापुरुष होते हैं और जनक आदि इसी श्रेणीके माने जाते हैं। जिस प्रकार पहली श्रेणीवालोंके कर्म अनायास ही छूट जाते हैं ठीक उसी तरह, जिस तरह पकनेपर वृन्त या वृक्षशाखासे छूटके फल गिर पड़ता है; ठीक उसी प्रकार दूसरी श्रेणीवालोंके कर्म जारी ही रहते हैं, जैसे कच्चा फल वृन्त या टहनीमें लगा रहता है। अगर पके फलके

बलात् टहनीमें लगा रखा जाय तो वह सड़ने लगता है और यदि कच्चेको समय-से पहले तोडा जाय तो वह भी या तो नीरस होता या सड़ने ही लगता है। बहुत दिनोंके संस्कार और अभ्यासके फलस्वरूप जैसे पहली श्रेणीवालोंका मन कर्मोंसे सोलहों आना उपराम और विरागी हो जाता है, ठीक उसी तरह दूसरी श्रेणीवालोंका मन कर्मोंमें ही मजा पाने लगता है। यदि यह बात न हो तो परले दर्जेका लोक संग्रहार्थ कर्म कभी होई न सके। क्योंकि जो पहुँचे हुए हैं वे सबके सब यदि विरागी हो जायँ तो विधान प्राप्त कर्मोंको करेगा कौन ? और अगर वह न करें तो दूसरोंका कर्म तो उस उच्चकोटिका होई नहीं सकता। उसमें कुछ न कुछ अपूर्णता रही जायगी। करनेवाले खुद जो पूर्ण नहीं ठहरे। सृष्टिके नियम-के अनुसार इसीलिये एक दल ऐसा होता ही है। संन्यासियोंके भी उस दूसरे दलकी जरूरत इसीलिये है कि परले दर्जेकी मस्तीका नमूना और कोई पेश कर नहीं सकता। फलतः वैसे आदर्शकी ओर लोग खिंच नहीं सकते। यह भी एक निराले ढंगका 'लोकसंग्रह' ही है, जो मस्तोंके सम्बन्धमें संन्यासके रूपमें है। इसीको पुराने वृद्धोंने जीते ही पूरा मुर्दा बन जाना लिखा है, जिसमें सुख-दुःख आदिका कुछ भी असर पड़ी न सके—ये सभी टक्कर मारके हार जायँ।

गीताने जिस प्रकार कर्म-संन्यासके इस उच्च आदर्शको माना है और बार-बार उसका उल्लेख किया है उसी प्रकार ज्ञानोत्तर कर्म करनेवाली बातको भी स्वीकार करके उसे कई जगह कर्मयोग या योग नाम दिया है और उसे करनेवालों-को कर्मयोगी और योगी आदि शब्दोंसे याद किया है (गीताके भाष्यकी भूमिका-में शंकराचार्यने साफ ही कहा है कि समदर्शियों और ब्रह्मज्ञानियोंके कर्मको तो हम कर्म मानते ही नहीं, उसे कर्म कहना ही भूल है। क्या भगवान कृष्णके कर्मको कर्म कहना उचित है ?– "तत्त्वज्ञानिनां कर्म तु कर्मैव न भवति यथा भगवतः कृष्णस्य क्षात्रं चेष्टितम्"। कर्म तो उसे ही कहते हैं जिसमें बाँधने, फँसाने या सुख-दुःख देनेकी शक्ति हो। मगर समदर्शियोंका कर्म तो ऐसा होता नहीं। वह तो ज्ञानके करते जड़मूल से जल जाता है उससे बन्धन नहीं होता, जैसाकि--"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्" (४।१९), "कृत्वापि न निबद्धयते" (४।२२), "समग्रं प्रविलीयते" (४।२३), "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" (४।३७)--आदि गीता वाक्य बताते हैं यही कारण है कि विधानसिद्ध कर्मोंके संन्यासी होते हुए भी खुद शंकर लोक संग्रहार्थ जीवनभर कर्म करते ही रहे। इसमें विधिविधानकी तो कोई बात न थी। यह तो स्वभावसिद्ध चीज थी। विधिविधानके अनुसार किये गये कर्म तो बन्धक होते हैं और ये वैसे नहीं होते। इसीलिये शंकरने इन्हें त्यागनेपर कभी जोर न दिया।

आया है। हिरण्यकशिपुके मारनेमें नृसिंहको बड़ी दिक्कतका सामना करना पड़ा था। क्योंकि वह न दिनमें मर सकता था, न रातमें, न जमीनमें, न आसमानमें और न आदमीसे या जानवरोंसे ही। इसीलिये खिचड़ी रूप बनाके सन्ध्या समयमें अपने हाथमें लेके ही उसे मारनेकी बात भगवान्‌को सोचनी पड़ी, ऐसा कहा जाता है। आगे भी ऐसी परीशानी न हो इसी ख्यालसे उनने प्रह्लादसे कहा कि सब पँवारा छोड़के मेरे साथ ही चलो। लोगोंको ज्ञान-ध्यान सिखाना छोड़ो। इसपर प्रह्लादका जो भोलाभाला, पर अत्यन्त कामका, बहुत ही ऊँचे दर्जेका, उत्तर मिला वह इसी गीताके कर्मयोगका पोषक है। वह कहते हैं कि भगवन्, ऐसा तो अक्सर होता है कि सभी ऋषि-मुनि दूसरोंकी पर्वा छोड़के चुपचाप एकान्तमें चले जाते और अपनी ही मुक्तिकी फिक्रमें लग जाते हैं। तो क्या मैं भी आपकी आज्ञा मानके ऐसा ही स्वार्थी बन जाऊँ? हर्गिज नहीं। मैं ऐसा नहीं कर सकता। मुझे अकेले मुक्ति नहीं चाहिये। क्योंकि तब तो इन सांसारिक दुखियों-का पुर्साहाल कोई रही न जायगा जो आपको इनके हितार्थ बलात् इसी तरह खींचे "प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा, मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः। नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।" (भागवत ७।९।४४)। "योगस्थः कुरु कर्माणि" (२।४८) आदि श्लोकोंमें गीताने भी यही कहा है।

आरुरुक्ष और आरूढ़

कर्मके त्याग या संन्यासकी दशा एक और भी है। एक तो समदर्शनकी अवस्थामें जानेसे पहले उसकी तैयारी करनी होती है। दूसरे वह अवस्था आनेपर उसमें दृढ़ता लानेके लिये प्रयत्न किया जाता है। तैयारीमें भी ऐसा होता है कि सबसे पहले उस ओर मनका जाना और लगना जरूरी है। जब मन चाहेगा कि हम उस दशामें आरूढ़ हों, पहुँचें और पक्के हों तभी तो दूसरे यत्न होंगे। इसे ही पुराने लोगोंने विविदिषा, जिज्ञासा वगैरह नामोंसे पुकारा है और ऐसी प्रवृत्ति-वालेको विविदिषु, जिज्ञासु आदि कहा है। गीतामें इसे आरुरुक्षा और ऐसे आदमीको आरुरुक्षु नाम दिया गया है। गीताके छठे अध्यायका "आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं" यह तीसरा श्लोक इस बातको बहुत ही सफाईके साथ बताता है। समदर्शन या साम्यावस्थाको गीतामें योग या योगावस्था भी कहा है। उसी अध्यायके १८से २३ तकके श्लोकोंमें और दूसरे स्थानपर भी यह बात लिखी है। खुद इसी तीसरे श्लोकमें भी योग नाम ही आया है। उसी योगमें आरूढ़ होने या पहुँचनेकी इच्छावालेको "योगारुरुक्षु" या "योगमारुरुक्षु" कहा है और पक्कापक्की पहुँचके वहीं स्थिर हो जानेवालेको "योगारूढ़" कहा है। तीसरे श्लोकमें ही ये दोनों

नाम आये है। लेकिन इसके स्पष्टीकरणके लिये हम उपनिषदोंके एकाध वचनोंपर भी विचार करेंगे। क्योंकि गीताको प्रत्येक अध्यायके अन्तमें "गीतासूपनिषत्सु" शब्दोंमें उपनिषद भी कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषदके चौथे अध्यायके चौथे ब्राह्मणके २२वें और पाँचवें ब्राह्मणके छठें मंत्रोंके कुछ अंशोंको ही हम यहाँ रखना चाहते हैं। क्योंकि विस्तार करना हमारा लक्ष्य नही है। २२वेंमे लिखा है कि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।" इसका आशय यही है कि "उस आत्मा या ब्रह्मके ज्ञानकी इच्छा (विविदिषा या जिज्ञासा) या यों कहिये कि लगन पैदा करनेके लिये विवेकी लोग, वेदशास्त्रोके आधारपर, यही निश्चय करते है कि यज्ञ, दान और तप करना चाहिये—ऐसा तप जो शरीरका नाशक न हो या अनशनके रूपमे न हो।" यहाँ यज्ञ, दान और तपसे मतलब है सभी कर्मोंसे। गीताके अनुसार ये तीनो बहुत ही व्यापक है और इनमें सभी क्रियाओंका समावेश हो जाता है, जैसा कि सत्रहवें अध्यायके ११से २२ तकके श्लोको और चौथे अध्यायके २४से २९ तकके श्लोकोसे स्पष्ट है। इससे यह तो सिद्ध है कि जिज्ञासु या योगारुरुक्षु बननेके लिये—ज्ञान या योगके प्रति उत्कट अभिलाषा या लगन पैदा करनेके लिये—कर्म जरूरी है, कारण है, साधन है, उपाय है। यही बात "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग" आदि आधे श्लोकमे कही गई है। इस प्रकार योग या समदर्शनकी तैयारीके लिये कर्मोंकी जरूरत सिद्ध हो जाती है। कर्मोंके करते-करते ही यह लगन पैदा हो जाती है। कर्म जितनी ही मुस्तैदी एवं तत्परताके साथ किये जायँगे उतनी ही जल्दी यह लगन पैदा होके मनुष्य उस दिशामे पाँव देगा—उसके अत्यन्त निकट आ जायगा।

इसके बाद उसी २२वें मंत्रमे पूर्वोक्त वचनके बाद ही उसीमे मिला हुआ यह वचन मिलता है "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।" इसका आशय यह है कि "आत्मज्ञानके बाद ही मनुष्यको मुनि या मननशील हो जाना पड़ता है और उसी ज्ञानकी पुष्टि या आत्माकी प्राप्तिके लिये लोग संन्यासी बनते हैं।" पाँचवें ब्राह्मणके छठें मंत्रमे भी लिखा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।" इसका अर्थ यह है कि "अरे मैत्रेयी, आत्माके ज्ञान या दर्शनका होना सर्वथा सर्वदा वाञ्छनीय है। उसके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना होगा।" श्रवणका तात्पर्य है खूब ध्यानसे पढना और सुनना कि वह कैसा है। उसके बाद उसपर खूब मनन और विचार करना आवश्यक है। दोनों बातें कर लेनेके बाद एकान्तमे समाधि लगाके उसीका निरन्तर चिन्तन करना होगा। तभी आत्मज्ञान हो सकता है। इसी समाधि या निदिध्यासनका विस्तृत वर्णन गीताके छठें अध्यायके १०से ३२,

आठवेंके ८से १३, बारहवेंके ६से १९ और १८वेंके ५०से ५५ तकके और दूसरे श्लोकोंमे भी है। यही बात "आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं" श्लोकके उत्तरार्द्धमें भी कही गई है कि उसे मुनि और योगारूढ बनने-बनानेके लिये शम यानी कर्मोंके त्यागकी जरूरत है, त्याग ही उसका कारण है। उपनिषदके वचनमे जो 'मुनि' शब्द है वही गीताके इस श्लोकमे भी पाया जाता है। उपनिषद्के वचनोमे साफ ही सन्यासकी बात कही गई है। यह भी बात है कि मनन एवं निदिध्यासन या समाधिके लिये तो जाने कितने समयतक कर्मोको कतई छोड देना आवश्यक हो जाता है। गीताके उक्त श्लोकोंके पढनेवाले और समाधिकी बात जाननेवाले ही बता सकते है कि उस समय कर्मकी गुञ्जाइश कहाँ रह जाती है? सो भी युग लग जाते है फिर भी काम पूरा नही होता। इसीलिये कर्माका त्याग या संन्यास खामखा अनिवार्य हो जाता है।

जो लोग चौथे अध्यायके उक्त श्लोकके "योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण-मुच्यते"मे शम शब्द देखके एव उसका अर्थ उपशम या मनकी शान्ति लगाके सन्तोष कर लेते और कर्मोका त्याग जरूरी नही समझते उनकी समझपर हमे तर्स आता है। योगारूढ शब्दके भीतर तो मनकी शान्ति या उसका निरोध आई जाता है। "योगोऽनिर्विण्णचेतसा" (६।२३) मे भी यह साफ ही लिखा है कि योगकी सिद्धि मनकी शान्तिके बिना हो नही सकती है। और जब सभी कर्म करते रहे तो फिर मनकी चंचलता मिटेगी कैसे? वह तो बराबर चक्कर लगाता ही रहेगा। हम यहाँ इतनाही कहना काफी समझते है कि योगके बारेमे गीताके जिन वचनोका नाम हमने लिया है उन्हे पढने और समझनेके बाद यदि फिर भी किसीको यह कहनेकी हिम्मत हो कि समाधिके साथ-साथ विधान प्राप्त कर्म भी हो सकते है, तो हम अपनी भूल स्वीकार कर लेगे। जो लोग यह कहते है कि शमका अर्थ कर्मत्याग या संन्यास नही होता उन्हे चौदहवे अध्यायके "लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा" (१२)को पढके सन्तोष करना चाहिये। वहाँ 'आरम्भः' और 'अशम' के बीचमे 'कर्मणा' शब्द आया है और यह बताता है कि रजोगुणकी वृद्धि हो जानेपर आदमीको लोभ होता है, कर्मोके करनेकी इच्छा होती है, वह कर्म शुरू भी कर देता है, फिर उसका ताँता बराबर जारी रखता है और उसे बन्द नही करता। 'शम' के साथ 'अ' लगनेपर वह बन्द करने या त्यागकी विरोधी बात कहता है। 'शम' धातुका संस्कृतमे अर्थ भी है सभी क्रिया-की निवृत्ति। मनकी शान्तिका अर्थ भी यही है कि उसकी सारी हलचले मिट गई। मगर शान्ति शब्द तो केवल मनके ही लिये आता नही। झगडेकी शान्ति, तूफानकी शान्ति आदि भी तो बोलते है। अतः उसका अर्थ है क्रियाकी निवृत्ति।

अग्नि शान्त हो गई, लोग शान्त हो गये या ठंडे पड गये, गुस्सा शान्त हो गया आदि बोलचालमें तो हलचल और क्रियाकी ही निवृत्तिसे मतलब होता है ।

पूजाके भेद

गीताकी एक और बात भी बडे ही मार्केकी है । आमतौरसे यही समझा जाता है कि कंठी-माला जपना, चन्दन-अक्षत और पत्रपुष्प आदि चढ़ाना तथा घंटा-घड़ियाल वगैरह बजाके धूप, दीप, आरती और भोगराग अर्पण करना यही भगवान्की पूजा है । तीर्थ व्रत आदि करने, भगवान्के गुणोंको वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंका पाठ करने, स्तुति करने और गीत-भजन ऊँचे स्वरसे गानेको भी किसी कदर पूजा मान लेते हैं । आँखें बन्द करके ध्यानमे बैठना तो भगवान्की भक्ति जरूर ही है । प्रायः देखा जाता है कि भगवान्के प्रेमके नामपर आँखोंमें नकली आँसू भरके कभी-कभी भक्त नामधारी लोग रोते भी हैं । रामलीलाके नामपर नाटक वगैरहका जो प्रपंच फैलाया जाता है उसे भी पूजाके भीतर ही मानते हैं । आजकल तो रसिक सम्प्रदाय और सखीसम्प्रदायके नामपर नाचने-गानेके अलावे जानें क्या क्या नकले की जाती है और स्त्री बननेका भी स्वाँग रचा जाता है । इसे भी भगवद्भक्ति ही माननेकी बीमारी तेजीके साथ फैल रही है ।

मगर गीताने एक निराला ही रास्ता निकाला है और इस तरह ऐसा करनेवालोंका सौदा ही फीका कर दिया है। बेशक, दुनियाको दिखानेके लिये नही, किन्तु भीतरी श्रद्धाके साथ, जो कुछ पत्र, पुष्प आदि भगवान्के नामपर अर्पण किया जाता है उसे भी नवे अध्यायके ''पत्रं पुष्पं'' (२६) श्लोकमें पूजा कहा है । मगर वहाँ 'भक्त्या' और 'प्रयतात्मनः' के साथ ही जो 'भक्त्युपहृत' कहा है उससे एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सरल स्वभाव और निष्कपट मनसे श्रद्धा और प्रेमके साथ जो कुछ किया जाता है उसे ही भगवान् स्वीकार करते हैं और वही उनकी पूजा है । श्रद्धा-भक्तिकी जरा भी कमी हुई और यह बात चौपट हुई । तब तो यह कोरा रोजगार हो जाता है । दो बार 'भक्ति' शब्द एक ही श्लोकमे कहनेका मतलब ही यही है कि छलछलाते प्रेम और सच्ची श्रद्धाके साथ ही ऐसा करना पूजा मानी जा सकती है । नरसी मेहता और नामदेव आदि भक्तोंके बारेमे ऐसा ही कहा जाता है । शबरी तथा विदुरकी ऐसी ही बात सर्वजन-विदित है ।

यह तो हुई एक पूजा । लेकिन यह है बहुत ही संकुचित । इसमें कितने ही बन्धन जो लगे हुए हैं। पूजाके लिये पत्र, पुष्प आदि लाना और उसकी खासतौर-से तैयारी करना इस बातके लिये जरूरी हो जाता है। इसलिये यह पूजा निराबाध नही चल सकती । इसका दिनरात चलना भी असम्भव है । आखिर

घर-गिरस्ती सँभालना तो पडता ही है। अपने शरीर-सम्बन्धी मलमूत्र त्याग आदिकी क्रियायें तथा खान-पान वगैरह भी तो जरूरी है। समय-समयपर लोगोंसे बातचीत और सोना जागना भी आवश्यक है। यदि कोई नौकरी-चाकरी या मजदूरी करते है तो उस समय भी यह काम नही हो सकता है। यदि हल चलाते, खेत खोदते, विद्यार्थीकी दशामें पाठका अभ्यास करने और सिपाही बनके पहरा देते है, तो भी यह पूजा नही हो सकती। बीमार हो जानेपर भी यह चीज असम्भव है। इस प्रकार हजार बाधायें मौजूद है जिनसे यह पूजा खंडित हो जाती है। इसीलिये गीताने बहुत ही आसान और सर्वथा सर्वदा सुलभ मार्ग बताया है।

नवे अध्यायका जो 'पत्रं पुष्पं' श्लोक पहले बताया है उसीके बादके २७ और २८ दो श्लोकोमे जो कुछ भी कह गया है उससे सभी दिक्कते और बेबसिया दूर हो जाती है। हा, अपने मनकी दिक्कत रहती है जरूर। मगर इसका तो कोई बाहरी उपाय है नही। यह खुद हटानेकी चीज है। मनकी शैतानियत तो दूसरा कोई दूर कर सकता नहीं। हाँ, तो उन श्लोकोमे पहले यज्ञ, दान और तपके नामसे तीन कामोंको गिनाके कहा है कि इन्हे करके भगवदर्पण, मदर्पण, मुझे अर्पण करो। मगर फिर इनमे भी वही दिक्कत और बाधाये समझके आखिरमे कह दिया है कि इन्हे तो नमूनेके तौरपर गिना दिया है। असलमे जो कुछ भी करते हो, 'यत्करोषि', उसे ही भगवान्‌को अर्पण करो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो भी काम करते हो सभी कुछ भगवदर्पण बुद्धिसे, यह समझके कि यह भगवानकी पूजा ही रूपान्तरमे हो रहा है, करो। चोबीस घंटेमे जो कुछ भी किया जाय—और इसमे सोना, मलमूत्र त्याग आदि भी आई जाता है—सभीके मुतल्लिक एक ही भावना होनी चाहिये, एक ही खयाल होना उचित है कि यह तो और कुछ नही है, केवल भगवानकी पूजा है। इसी खयालका अभ्यास होनेसे ही काम चल जाता है। फिर तो लोक-परलोकके लिये दूसरी चिन्ता-फिक्र करनेकी जरूरत ही नहीं होती। कामका काम हुआ और भगवानकी पूजा भी हो गई! "आमके आम रहे और गुठलीका दाम भी मिल गया!" इसे ही "एक पन्थ दुइ काज" कहते है।

गीतामें यह बात किसी न किसी रूपमे बार-बार आती गई है और अन्तमें १८वें अध्यायकी समाप्तिके पहले भी ४५ और ४६ श्लोकोंमें यही बात कही गई है। वहाँ तो "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य"—"अपने-अपने कर्मोसे ही उस भगवानकी पूजा अच्छी तरह करके"—ऐसा साफ ही कह दिया है। यज्ञ, दान आदिका वहाँ नाम भी नही लेके केवल 'स्वकर्म' को ही पूजाके रूपमे बताया है। खूबी तो

यह है कि 'स्वधर्म' भी नहीं कहके 'स्वकर्म' कहा है। धर्म और कर्म गीताकी नजरोंमें तो पर्यायवाची है और दोनोंका एक ही अर्थ है। मगर सर्वसाधारणका खयाल तो ऐसा है नही। वे तो धर्म कुछ और ही चीज मानते हैं। साधारण क्रियाको तो वे धर्म मानते नही। उनके लिये तो विशेष प्रकारका कर्म ही धर्म है। इसीलिये यहाँ 'स्वकर्म' कह दिया है। ताकि लोग भूलभुलैयामे न पडे रहे और क्रिया मात्रको ही पूजाके रूपमे समझने एवं माननेकी कोशिश करें, ऐसा ही माने।

श्रीमद्भागवतमे भी राजा रहूगण और मस्तराम जडभरतके सम्वादमें कहा गया है कि "स्वधर्म आराधनमच्युतस्य यदीहमानो विजहात्यघौघम्" (५।१०।२३)। इसका आशय यह है कि "अपने कर्त्तव्योंका पालन करना ही भगवानकी पूजा है, जिसके चलते पापका पहाड भी खत्म हो जाता और नजदीक नहीं आता है।" रहूगणने अपने राज्यकार्य संचालन और शासन आदिको ही लक्ष्य करके ऐसा कहा है। लोग यह न समझ कि दंड देनेका काम तो वीभत्स है, इसीलिये उनने कह दिया है कि वह तो राजाका कर्त्तव्य होनेके कारण भगवत्पूजा ही है। बेशक, यहा स्वकर्म न कहके स्वधर्म कहा है। मगर मतलब एक ही है। यदि दंड आदि रूप सख्त काम और अमल एव मारकाट तथा युद्धको पूजा कह सकते है, ये सभी काम यदि पूजा ही है, तो लोगोके सभी साधारण कामोंका क्या कहना ? वे तो आसानीसे उस पूजाके भीतर आई जाते है।

यहा 'स्वधर्म' और गीतामे जो 'स्वकर्म' कहा है इन दोनोंमे 'स्व' शब्द देकर यही बताया गया है कि खुद कामके अच्छे बुरे होनेकी कोई बात नही। अपने-अपने कर्म ही पूजा बन जाते है। उनकी बाहरी बनावट और रूपरेखा कोई चीज होती नही। इसीलिये अपने खराब कामोंको छोड़ दूसरोंके अच्छोंकी ओर झपट पड़ना भी ठीक नही। 'अपने'का अर्थ है हरेकके लिये जो निर्धारित या तयशुदा (assigned) है।

पूजाको ऐसा रूप देनेमे एक बहुत ही बड़ी खूबी और भी है। सभी चाहते है कि हरेक काम अच्छी तरह पूरा हो और सुन्दरताके साथ किया जाय। हरेक चीजकी सबसे बड़ी खूबी है उसकी पूर्णता। यदि अधूरापन किसी भी काममें रहने न पाये तो संसार मंगलमय बनके ही रहे। मगर यही बात नहीं हो पाती और लापर्वाही, अन्यमनस्कता आदि कितनी ही चीजे इसकी वजह है। लोग अकसर यह भी समझते हैं, खासकर जब कोई कठिन, परन्तु अप्रिय, काम उन्हे सौंपा जाय, कि "गले पडी, बजाये फुर्सत।" इसीलिये जैसे-तैसे उसे कर-कराके अपना पिंड छुड़ाना चाहते है। इसीलिये जरूरत है इस बातकी कि लोगोमे कामके लिये

अनुराग पैदा किया जाय, उनमें उसकी धुन लाई जाय और ऐसा किया जाय कि कामके लिये उनमें आग पैदा हो। यही बात इस पूजावाली प्रक्रियासे हो जाती है। जब लोग समझने लगते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह भगवानकी पूजा ही है तो खामखा मनोयोगपूर्वक करना चाहते हैं। दिलमें यह खयाल हो आता है कि पूजामें कोई कोरकसर न रह जाय। इसलिये धुन और लगनके साथ सच्चे प्रेमसे अपने-अपने काम न सिर्फ करते हैं, बल्कि उन्हें पूर्ण बनानेके लिये सरतोड़ परिश्रम करते हैं। जब आमतौरसे किसी भी बड़ेके लिये तैयार की गई भेंटको सुन्दरसे सुन्दर बनानेकी कोशिश की जाती है तो फिर बड़ोंके भी बड़े—सबसे बड़े—के लिये होनेवाली हमारे कामोंकी भेंट क्यों न सर्वात्मना सुन्दर बनाई जाय? इसमें बाहरी खर्चवर्च और परीशानीकी भी बात नहीं है। यहाँ तो केवल मनोयोगका प्रश्न है। इस प्रकार सभी काम पूर्ण होंगे और संसार सुखमय होगा।

गीताका योग

योग शब्दके कितने अर्थ गीतामें माने गये हैं यह बात तो आगे बताई जायगी। मगर गीताका जो अपना योग है, जिसका ताल्लुक कर्मयोगसे है और जो गीताकी अपनी खास देन है वह जाननेकी चीज है। यों तो उसका जिक्र कई स्थानोंपर आगे भी आया है। लेकिन दूसरे अध्यायके "एषा तेऽभिहिता" (३९) श्लोकसे जिस योगकी भूमिका शुरू करके "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (४७) तथा उसके बादवाले (४८वें) श्लोकमें जिस योगका वर्णन है वही गीताका निजी योग है। इन दोनों श्लोकोंको मिलाकर ही उसका रूप पूरा हुआ है। आगेके ५०वें श्लोकमें उसी योगका निचोड़ या संक्षिप्त रूप "योगः कर्मसु कौशलम्" शब्दोंमें बताया है। लोग कहीं ऐसा न समझ बैठें कि पहले बताया गया योग कोई दूसरी ही चीज है, इसीलिये गीता साफ कह देती है कि वह और कुछ नहीं है सिवाय कर्म करनेकी चातुरी, उसकी कुशलता, विशेषता (specialism) के। कोई मनुष्य कर्मोंके करनेमें विशेषज्ञ (specialist) हो जाता है उसे ही योगी या कर्मयोगी कहते हैं। उसे ऐसी हिकमत मालूम हो जाती है कि कर्मोंके करते रहनेपर भी बन्धनमें नहीं फँस सकता और निर्वाणमुक्ति या ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर लेता है। योग शब्दका यों भी युक्ति या उपाय अर्थ माना जाता है और कर्मके सम्बन्धकी यह हिकमत भी युक्ति ही तो है।

यह युक्ति, हिकमत या विशेषज्ञता क्या है और कैसे प्राप्त होती है, यही बात ४७ और ४८ श्लोकोंमें बताई गई है। अगर कर्म, क्रिया, काम या अमलको हम दायरे या वृत्तके रूपमें मान लें तो यह बात समझनेमें आसानी होगी। तब तो कर्म करनेका मतलब होगा मनुष्यका उस वृत्तमें घूमना। गीताकी नजरोंमें कर्म

करनेवालेके लिये कहा गया है कि "उसका हक या अधिकार सिर्फ कर्मतक ही है"—"कर्मण्येवाधिकारस्ते।" इसका आशय यह है कि हमें उस वृत्तके भीतर ही सीमित या बँधे रहनेका ही हक है—हमें उसके भीतर ही रहना चाहिये। परिधिको डाँकना नहीं चाहिये—परिधि डाँकनेका यत्न हर्गिज करना नहीं चाहिये। 'कर्मणि'के आगे जो 'एव' शब्द है वही डाँकनेकी मनाही करता है, हमें डाँकनेसे रोकता है। लेकिन यह तो सूत्र जैसी बात हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण हो जाना जरूरी है। इसीलिये ४७वें श्लोकके शेष तीन चरण (हिस्से) और पूरा ४८वाँ—दोनों ही—यही स्पष्टीकरण करते हैं।

कर्मको वृत्त करार देनेपर मान लें कि करनेवालेके आगे वह वृत्त है और उसके तथा वृत्तके बीचमें किसी और चीजकी सम्भावना है जिससे उसका वृत्तके साथ अत्यन्त निकटका सम्बन्ध न होके बीचमें वही चीज आ सकती है—आ जाती है और इस तरह वृत्तमें घुसनेमें उसे बाधा पहुँचाती है। उसी तरह वृत्तके भीतर घुसनेके बाद वृत्तके बाहर उस आदमीके सामने वृत्तके दूसरे किनारेके उस पार भी कोई वस्तु है। मतलब यों समझें कि हम पूर्व मुख खड़े हैं और हमारे आगे एक वृत्त है। मगर वृत्त और हमारे बीचमें भी कोई चीज है या हो सकती है जो हमें वृत्तमें जानेसे या तो रोकती है, या इतना ही होना है कि हम वृत्तमें जानेके पहले उस वस्तुसे होकर ही गुजरते हैं और सामनेकी परिधि पार करके सीधे वृत्तमें पूर्व मुख खड़े ही पहुँच जाते हैं। फिर वृत्तमें जानेपर जब परिधिका पिछला भाग न देखके सामनेवाला ही देखते हैं, तो उसके आगे—परिधिके पार—पूर्व और कोई दूसरी वस्तु भी नजरको आकृष्ट करती है, कर सकती है। साथ ही परिधिके भीतर वृत्तमें पांव देनेके पहले जो यह कहा गया है कि किसी और चीजसे गुजरनेके बाद ही वृत्तमें पाँव दे सकते हैं, वह चीज एक भी हो सकती है और दो भी। गीताने शुरूमें ज्यादेसे ज्यादा दो चीजोंकी और पीछे चलकर वृत्तके बाहर आगेकी एक चीजकी सम्भावना करके उन्हीं तीनोंकी रोक लिखी है। कर्म करनेवालोंको उनमें एक पर भी दृष्टि नहीं दौड़ाना चाहिये, एकका भी खयाल—पर्वा—नहीं करना चाहिये, यही आदेश ४७ और ४८ श्लोकोंके शेष अंशोंमें दिया है। इन तीनोंके सिवाय दायरे (वृत्त)के भीतर भी वृत्तके अलावे एक चीज है, एक खतरा है। उससे भी आगाह कर दिया गया है। जो इन चार खतरोंसे बच जाता है वही पक्का योगी या कर्मयोगी होता है, यही गीताका कहना है।

पहलेकी दो चीजों—दो खतरों—में एक है कर्मके फलका खयाल, उसका चिन्तन, उसकी इच्छा, फलेच्छा या फलका संकल्प। मनमें फलके स्वरूपकी कल्पना करके ही किसी काममें आमतौरसे हाथ बढ़ाते जो हैं। दूसरा है कर्मका

त्याग या उसका न करना। ऐसा होता है कि या तो योंही कर्ममें जी नहीं लगनेके कारण उसे करते ही नहीं; या यदि फलकी इच्छा या सम्भावना ही न हो तो भी कर्म नहीं करते है। इसीलिये कर्मके फलकी इच्छाकी ही तरह अकर्म या कर्मका त्याग, उसे छोड देना भी कर्मके पहले ही आ जाता है—यह बात कर्मके दायरेमें पाँव देनेके पहले ही आ जाती हैं। दायरेके बाहर आगे जो चीज दायरेमे पांव देनेपर आती है और जिससे खतरा है वह है उस कर्मका खुद फल ही। कर्म करनेके पहले तो मनमे फलका संकल्प मात्र करते है। मगर कर्म शुरू कर देने और पूरा करने तक तो साक्षात् फलपर ही नजर जा पडती हैं। इसीलिये यह भी एक खतरा है। चौथा खतरा है खुद कर्मसे ही—वृत्त या दायरेसे ही, यदि कर्ममे आसक्ति, संग, ममता, अन्धप्रेम (blind attachment) हो जाय। यह कर्मकी आसक्ति भी भारी खतरनाक है। यह भी याद रखना चाहिये कि जो शुरूके दो खतरोंमे कर्मत्यागको गिनाया है उसका भी मतलब है कर्मके छोड़ देनेकी आसक्ति या हठसे ही। जैसे कर्म करनेकी आसक्ति या हठ बुरा है, ठीक उसी प्रकार उसके न करनेका भी हठ खतरनाक है। हठ किसी ओर नही होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण अभी हुआ जाता है।

हाँ, तो अब जरा देखे कि इन चारो खतरोंकी रोक क्योंकर की गई है। ४७वे श्लोकके दूसरे हिस्सेको हम यो पाते है, "मा फलेषु कदाचन"—"कर्मोंके फलोमे तो हमारा अधिकार कभी नहीं है।" इस तरह वृत्तमे पाँव देनेके बाद जो आगेवाला खतरा है परिधिके बाहर और जिसे हमने तीसरा कहा है उसे रोक दिया। कर्मके साथ फलका ताल्लुक स्वभावतः होता ही है। इसलिये कर्मके बाद चटपट उसीसे रोकना उचित समझा गया। इसके बाद ४७वेंके शेष—उत्तरार्द्ध—में वृत्तके पहलेवाले दो खतरोसे रोका है "मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व-कर्मणि"—"कर्मके फलके कारण मत बनो, अर्थात् कर्मफलका खयाल करके काम हर्गिज शुरू न करो।' फलके लिये संकल्प और चिन्तनके जरिये ही तो फलतक पहुँचते है। अब यदि वह संकल्प या चिन्तन रहा ही नही, फलका खयाल हुई नहो तो "रहा बाँस न बाजी बाँसुरी" वाली बात हो गई और फलसे स्वयमेव ताल्लुक बँधा ही नही। यही कारण है कि पहले फलकी बात रोकके उसके कारण-स्वरूप फलेच्छा या फल संकल्पकी बात पीछे रोकी गई है। क्योंकि फलकी इच्छा या संकल्प होनेपर तो फलतक पहुचना रुकी नही सकता।

इसपर सहसा यह कहा जा सकता है कि तो फिर कर्म करेंगे ही क्यों? जब न तो फलकी पर्वा है और फलका संकल्प ही है, तो कर्मकी बलामे नाहक फँसा क्यों जाय? इसीका उत्तर श्लोकका आखिरी हिस्सा "मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि"

देता है कि खबरदार, अकर्म (कर्म छोड़ने) में आसक्ति या हठ हर्गिज होने न पाये। कर्मका न किया जाना एक चीज है और उसमें—न करने या छोड़नेमें—हठ बिलकुल दूसरी ही चीज है। ऐसा हो सकता है कि समय पाके खुदबखुद कर्म छूट जाय। परिस्थिति ऐसी हो जाय कि हजार चाहनेपर भी कर्म छोड़नेके अलावे दूसरा चारा होई न। इसलिये अपने आप या मजबूरन कर्म छूट जाय। गीता यह बात मानती है और इसका विरोध उसे इष्ट नहीं। मगर कर्मके छोड़नेका हठ हर्गिज उसे बर्दाश्त नहीं। हम कर्म कभी करेंगे ही नहीं चाहे जो भी हो जाय, यही चीज गीताको पसन्द नहीं। कर्मके मार्गमें यहां उसकी नजरोंमें तीसरा खतरा है और वह लोगोंको इसीसे सजग करती है।

लेकिन चौथे खतरेका सामना हो जा सकता है। वृत्तके बाहर परिधिके इधर-उधरके उक्त तीनों खतरोंसे बचनेपर भी चौथा खतरा उसके भीतर ही—दायरेके अन्दर ही—हो सकता है। वह है कर्मके करनेका हठ या आसक्ति। इसीको कर्ममें संग, कर्मका संग, कर्मसंग या कर्मासंग भी कहते हैं। जैसे सक्ति और आसक्तिका अर्थ एक ही है चिपक जाना या सट जाना और जिसे अंग्रेजीमें अटचमेन्ट (attachment) कहते हैं; ठीक उसी प्रकार संग और आसंगका भी यही अर्थ है। दोनों शब्दोंमें "आ"के जुट जानेसे चिपकने या लिपटनेमें सिर्फ अन्धापन या हठ (जिद्द) जुट जाता है और इसे "ब्लाइंड अटैचमेन्ट (blind attachment) कह सकते हैं। मगर 'आ'के न रहनेपर भी यही अर्थ होता है। गीताके मतसे जैसी ही बुरी अकर्म (कर्मत्याग) की जिद्द है वैसी ही कर्मकी जिद्द भी। आसक्ति या हठ दोनोंका ही बुरा है। इसी हठको "ऊटकी पकड़" कहते हैं। ऊट किसी चीजको एक बार पकड़नेपर छोड़ता ही नहीं। बन्दरियाकी आसक्ति या अन्धप्रीति अपने बच्चेके साथ होती है। फलतः बच्चेके मर जानेपर भी उसे नहीं छोड़ती। किन्तु छातीसे लिपटाये फिरता है जबतक कि वह खुद टुकड़े-टुकड़े होके गिर नहीं पड़ता है। यह चीज बुरी है और यही रोकी गई है। हजार कोशिश और दृढ़ संकल्प (determination) के बाद भी कभी-कभी परिस्थितिवश कर्मका छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। परिस्थितियां किसीके वशकी जो नहीं होती है। फिर हठ या जिद्द क्यों? न करने की जिद्द हो और न तो न करनेकी ही। जिद्द ही तो बला है।

दृढ संकल्प और आसक्ति या हठमें फर्क है—दोनों दो चीजें हैं। दृढ़ संकल्पका तो इतना ही मतलब है कि विघ्न-बाधाओंसे कदापि विचलित न होके कर्म करते रहें—चट्टानकी तरह अटल रहें मगर इतनेपर भी कर्म छूट जा सकता है। यह जरूरी नहीं कि हम उसे करते ही रहें। परिस्थितियां हमें मजबूर कर दे

सकती हैं। फलतः दृढ़ संकल्पके होते हुए भी इस तरह कर्मके छूट जानेपर हमें कष्ट न होगा। क्योंकि हमारा तो यही रास्ता है और होना चाहिये कि "आओ विपत्तियाँ तुम, दुःखोंको साथ लाओ। पीटूँगा मैं तुम्हींको, तुमसे ही या पिटूँगा।" मगर यदि कर्ममें आसक्ति या करनेकी जिद्द रही, तो हमें मर्मान्तिक वेदना ऐसी दशामें जरूर हो जायगी और सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। ठीक इसी तरह कर्मके त्यागके हजार हठ करनेपर भी उसे करनेकी मजबूरी कभी-कभी हो सकती है और हठ होनेसे हम उस दशामें तिलमिला जा सकते हैं। यही बात गीता रोकना चाहती है। इसीलिये कर्मके करने या न करने—कर्म या संन्यास दोनों ही—मे आसक्ति, जिद्द या हठको उसने खतरा करार दिया है और कहा है कि कर्म चाहे पूरा हो या अधूरा ही रह जाय या चाहे हम उसे शुरू ही न कर पायें—हर हालतमें हमारे दिल-दिमागकी समता या गम्भीरता (balance of mind) बिगड़ना नहीं चाहिये। हमें दोनों ही हालतोंमें, पूरा होने, न होने—कर्मकी सिद्धि और असिद्धि—में सम रहना चाहिये—एकरस (unconcerned) रहना चाहिये, जैसा कि जनकने मिथिलापुरीमें आग लगनेपर कहा था कि मिथिला जलती है तो जले, मेरा क्या जलता है?—"मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।" यही है योग। इसी योगको प्राप्त करके, काबूमें करके—योगस्थ होके—हमें कर्म करना चाहिये। फल और उसके संकल्पके त्यागका भी असली प्रयोजन यही है कि दिल-दिमागकी गम्भीरता और समता—एकरसता (balance)—न बिगड़े।

इन चारों खतरोंसे बचनेका निचोड़ इसी सिद्धि, असिद्धि की समतामें ही आ जाता है। इसीलिये इसे ही योग कहा है। फलकी तरफ खयाल होने या फलका संकल्प होनेपर कुछ भी गड़बड़ होते ही हायतोबा मचती ही है। इसीलिए उससे बचना जरूरी है। ऐसा भी होता है कि काम पूरा होने तथा विजय मिलने पर खुशी के मारे मनुष्य आपेसे बाहर हो जाता है और ऐसा न होने या पराजय होने पर रंजके मारे ही आपेसे बाहर या बेसुध हो जाता है। दोनो ही हालतोंमें दिल-दिमागकी समता खत्म हो जाती है। फलतः ऐसा करना चाहिये कि दोनोंमें एकका भी मौका ही आने न पाये। इसीलिये तो आसक्तिका त्याग जरूरी बताया गया है। पूरे ४८वें श्लोकमें यही बात खूब सफाईके साथ कही गई है। न रंजके मारे छाती पीटनेका और न खुशीके मारे बेहोश होनेका ही मौका इसीके चलते आने पायेगा। यही योग है।

इसमें सबसे बड़ी खूबी यह है कि जब कर्म करनेवालेका मन इधर-उधर कहीं भी जरा भी न जाके सिर्फ काममें ही लग जायगा—वहीं केन्द्रीभूत

(concentrated)—हो जायगा, तो वह काम होगा भी ठीक-ठीक। किसी भी कामकी पूर्णताके लिये दिल और दिमागका उसमें लग जाना, उसीमें जाके अड़ जाना और लिपट जाना—उससे बाहर न जाना—बुनियादी और मौलिक कारण है। फिर तो वह सिद्ध और पूर्ण होके ही रहेगा। अधूरेपनकी गुंजाइश उसमें रहेगी ही नहीं। दिल और दिमागमें बड़ी ताकत है। जिसे इच्छाशक्ति (will-power) कहते हैं वह यही चीज है। योगियों और सिद्धोंके जो अद्भुत काम कहे गये हैं और उनकी सिद्धियोंका जो वर्णन मिलता है उसका रहस्य यही है। और जब मनके—दिल और दिमागके कहीं इधर-उधर जानेकी गुंजाइश रखी ही नहीं गई है, तो वह केन्द्रीभूत खामखा होगा ही। फल, उसका संकल्प, कर्मके करनेका आग्रह और उसके न करनेका हठ—यही चार—ही तो ऐसी चीजें हैं जिनकी ओर मन कर्मके सिलसिलेमें भटक सकता है, भटकता फिरता है। मगर गीताने इन चारोंका दर्वाजा बन्द करके उसके लिये कोई रास्ता ही नही छोड़ा है कि भाग सके।

नतीजा यह होगा कि कर्मकी सांगोपांग पूर्ति तो होगी ही। उसीके साथ उसका फल, परिणाम या नतीजा भी होके ही रहेगा। उसमे दिक्कतकी गुंजाइश रही कहाँ? गड़बड़ीके सभी रास्ते तो बन्द होई गये। यह भी कितनी मौजूँ और युक्तियुक्त बात है कि कर्मके फलोंको तो कोई सीधे पकड़ सकता नही। उन्हें तो कर्मके द्वारा ही पकड़ा जा सकता है। इन्सान काम करता है और कामसे फल होता है, चाहे बुरा हो या भला। हम सीधे फल तो पैदा करते ही नहीं। हमारे वशकी चीज तो कर्म या क्रिया ही है। फल तो है नहीं। फिर हम क्रिया की ही फिक्र क्यों न करें? फलकी ओर नाहक क्यों दौड़ें? यह तो मृगतृष्णाकी बात ही ठहरी। जो चीज हमारे वशकी नहीं, अधिकारकी नहीं, उसपर नाहक क्यों दौड़ें और लट्टू हों? फलतः गीताने जो कहा है कि सिर्फ कर्ममें ही अधिकार है, वही तो युक्तिसंगत बात है। वह कोई आश्चर्यकी चीज तो है नहीं। और कर्म या अकर्मका हठ तो महज नादानी है, जैसी कि सभी तरहके हठोंकी बात है।

इस उपदेशका फल यह हुआ कि एक तो कर्मका फल जरूर ही मिलेगा—उसका मिलना एक प्रकारसे निश्चित ही समझिये, यदि कोई दैवी बाधा आ न पहुँचे। मगर यह बात फलकी इच्छा, लालसा और संकल्पके होनेपर संभव नही। क्योंकि "मन न होय दस बीस"के अनुसार एक ही मन कभी कर्मकी ओर जायगा तो कभी फलकी ओर, कभी उसके त्यागकी ओर और कभी उसके करनेके हठकी तरफ। कभी उसे कर्म अपनी ओर खींचेगा तो कभी फलेच्छा अपनी

तरफ। इस खींचतानमें न तो वह कर्म मे जमेगा, न वह पूरा उतरेगा और न फल मिलेगा। सरी बात दूसरा लाभ—इससे यह हुआ कि जहाँ पहले फल मिलनेपर या न मिलनेपर भी कर्म बन्धनका—जन्म-मरणका—कारण होता था, तहाँ अब वह बात जाती रही। जैसे भाडमें डालनेपर अन्नमें—बीजमें—अंकुर पैदा करनेकी ताकत जाती रहती है, वैसे ही इस योगके फलस्वरूप कर्मोंमें बन्धनकी ताकत रही नहीं जाती—वह खतम हो जाती है। दरअसल कर्मोंका संस्कार मानसपटलपर जमने पाता ही नहीं। फिर वह जन्म-मरणमें फँसायें तो कैसे? जन्म-मरणका तो अर्थ ही है कर्मोके करनेका सिलसिला जारी रहना। और इस सिलसिलेके लिये उसके संस्कार जरूरी है, जैसे बीजमें अंकुरजननकी शक्ति। मगर यहां तो योगके चलते हम कर्मोंके करने या न करने या उनके फलोंसे कतई प्रभावित होते ही नहीं—तटस्थ या उदासीन रह जाते है। तब मानसपटलपर- जो निर्लेप बन गया है—संस्कार कैसे पैदा होगा? संस्कारके लिये उदासीनताकी नहीं, किन्तु अनुराग, मैत्री या लालसाकी जरूरत होती है। जिन चीजोंसे हम उदासीन हों उनके संस्कार मनमें पैदा होते हो नहीं। हाँ, जिनमे मन लगा हो उनके संस्कार जरूर ही पैदा हो जाते हैं। यही कारण है कि इसी योगको कर्मका कौशल कहा है। यही तो कर्म करनेकी असली कला है—कर्म करनेका जादू है, कारीगरी है।

जिस समत्वरूप योगका वर्णन अभी किया गया है उसके सम्बन्धमें अनेक बातें जाननेकी है। इसीलिये इसपर बहुत कुछ लिखना बाकी ही है। लेकिन आगे बढनेके पहले यहींपर पूर्वोक्त ४७वें श्लोककी एक महत्त्वपूर्ण बात और भी जान लेना जरूरी है। कर्म करने और उसके त्यागनेका झमेला कुछ ऐसा है और इधर कुछ गीताके टीकाकारोने उसे इतना ज्यादा बढ़ा दिया है कि हमे विवश होके यह लिखना पड रहा है। उस श्लोकके पहले चरणके तीन शब्दों "कर्मणि, एव, अधिकार:"में 'एव' शब्द कुछ विचित्र है। वह 'कर्मणि'के आगे आया है। 'अधिकार:'के आगे भी आ सकता था और ऐसा होनेपर अर्थमें कुछ विशेषता आ जाती। एव शब्द किसी बातपर जोर (emphasis) देनेके ही लिये आता है। फलतः जिस पदार्थके वाचक शब्दके बाद आता है उसीपर जोर देता है। यहाँ स्वभावतः कर्मपर ही जोर देता है। उसीके बाद आया जो है। यदि 'अधिकार:'के बाद आता तो अधिकार, वश या काबूपर ही जोर देता। क्योंकि अधिकार शब्द इन्हींका वाचक है। जोर देनेका भी मतलब यही होता है कि जिसपर जोर होता है उससे अन्य चीजें रोकी जाती है। अन्य चीजोंसे मतलब है उन्हींसे जिनकी संभावना होती है—यानी उसकी विरोधी या सम्बन्धवाली चीजे

इसीलिये यहाँ कर्म-सम्बन्धी फल, फलेच्छा, कर्मासक्ति आदिका निषेध हो जाता है, इनपर रोक आ जाती है और दोनों श्लोकोंमें यही बात आई भी है। यदि 'अधिकार:'के बाद 'एव' रहता तो हक या अधिकार या वशके विरोधी तथा सम्बन्धी पदार्थों पर रोक हो जाती। मगर यहाँ वह बात हई नही। फिर भी असली बात जो हमें कहनी है वह तो यह है कि कर्म एवं अधिकार दोमें एकके साथ 'एव'के लगनेसे यहाँ निगलापन आया है। जैसा है वैसी दशामें खामखा कर्म करनेमें हठ नही हो सकता। लेकिन अधिकारके साथ आ जानेपर यही हठ आ जाता। क्योंकि तब तो स्पष्ट हो जाता कि हमें कर्म छोड़नेका कोई हक हई नही और हमें उससे लिपटे रहना होगा। जिस चीजपर आगे रोक लगी है वही चीज तब हो जाती। जहाँ अब अर्थ होता है कि कर्मके अतिरिक्त फलादिका हक हमें नहीं है, तहाँ उल्टके अर्थ हो जाता कि हकके सिवाय किसी औरका सम्बन्ध कर्मके साथ हई नहीं।

जिन दो पदार्थोंके बीचमें एकपर यह जोर रहता है उन्हींमें दूसरेके साथ एकको यानी पहलेको बाँध देता है और बाकियोंको, जिनकी संभावना हों, रोक देता है। इसे और भी साफ तौरसे यों समझें कि कर्मपर ही यहाँ जोर देनेके कारण उसीके अनुकूल या अधीन हक रहता है। कर्मकी ही प्रधानता रहती है। हक उसकी छातीपर बैठके उसे घसीट नहीं सकता। विपरीत इसके यदि अधिकार या हकपर जोर होता तो उसीकी प्रधानता होती और कर्म की छातीपर बैठके वह अपने साथ यानी आदमीके साथ कर्म को घसीटता फिरता। तब कर्म किसी भी दशामें त्याज्य या त्यागने योग्य नही रह सकता। मगर वर्तमान दशामें तो हक ही त्याज्य नही है। कर्मका त्याग तो हो सकता है। जब हम कर्म करते हैं तो यह कोई नहीं कह सकता कि उसपर हमारा हक नही है। इस तरह देखते हैं कि इस 'एव' शब्दका स्थान बदलनेसे दोनों श्लोकोंके बाकी अंशोंके साथ पहले चरणका कोई मेल होता ही नहीं।

इतना लिखनेका हमारा मतलब दोनों श्लोकोंके सभी अंशोंमें परस्पर मेल या सामञ्जस्य लाना नहीं है। यह तो गीताके रचयिताका ही काम था कि बेमेल बात न बोलें। हम उस कविके वकील भी नहीं हैं कि जो कुछ त्रुटि मालूम हो उसे मिटानेकी वकालत करे। गीताके कर्त्ता व्यासको वकीलकी जरूरत ही न थी। वह तो खुद इतने योग्य थे कि ऐसी मोटी भूल कर सकते न थे। हमारा मतलब सिर्फ यह दिखलानेका है कि गीताके अनुसार कर्म की आसक्ति या उससे खामखा लिपटना ठीक नही है। उसने कर्म और धर्मके संन्यास—दोनों ही—के लिये गुंजाइश मानी है, दोनोंके लिये पूरा स्थान रखा है। वे दोनों ही अपनी-

अपनी जगहपर ठीक है, उचित है, कर्त्तव्य है । खूबी तो यह है कि जिस योगको लेके कुछ लोगोंने इस बातपर जोर दिया है कि गीता तो संन्यासकी विरोधिनी है; वह तो कर्मपर ही जोर देती और उसीका समर्थन करती है, वही योग कर्म और कर्मत्याग—कर्मके योग और उसके त्याग—दोनों हीका प्रतिपादक है—उसके भीतर दोनों ही आ जाते हैं !

बेशक, यह बात उलटी-सी लगती है । योग शब्द तो जोडने, जुटने या सम्बन्ध को—संयोगको—ही कहता है, ऐसा साफ दीखता है । फलतः कर्मयोगका अर्थ है कर्मका संयोग या सम्बन्ध । यही उचित भी प्रतीत होता है । मगर कर्मयोगका अर्थ ही कर्मका वियोग या त्याग (संन्यास), यह तो निराली चीज है । लेकिन किया क्या जाय ? खुद गीताकारको भी यह चीज सूझी थी—उन्हे इसी तरहका विरोध इस योगमे या योग शब्दके अर्थोंमें प्रतीत हुआ था । फिर भी उसने उसका समर्थन किया । छठें अध्यायके २३वें श्लोकका पूर्वार्द्ध कुछ इसी तरहकी पहेलीका खयाल करके ही बनाया गया मालूम होता है । वह है "तं विद्याद् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम् ।" इसका आशय यही है कि "यद्यपि उसे योग कहा जाता है, तथापि वह तो दुःखोंके संयोग (सम्बन्ध)का वियोग ही है—अर्थात् दुःखोंका वियोग करनेवाला है ।" इस तरह वियोग को ही योग नाम दिया गया है ऐसा वह मानते हैं । ठीक वही बात यहाँ भी है । अतः निर्विवाद है कि गीता कर्म करनेके हठकी विरोधिनी है ।

कर्मसे चिपकने और लिपटनेके इसी हठको, जो गुडके साथ लिपटे चींटेकी तरह अनर्थ और मृत्युका कारण होता है, गीताने दूसरे दूसरे नामोंसे भी कहके बुरा ठहराया है । अठारहवें अध्यायके २४वे श्लोकमे इसीको अहंकार कहा है और २७वेंमें राग—वहाँ 'रागी' शब्द है—कहा है । चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें इसे ही संकल्प नाम दिया गया है । जिस प्रसंगमे और जिस ढंगमे ये बातें उन उन स्थानोंमे कही गई है उसमे साफ है कि अहंकार आदिका आशय कर्मका हठ या आसक्ति ही है । इसीलिये निन्दित अर्थमे ही उनका प्रयोग भी हुआ है । चौदहवें अध्यायके २२, २३ श्लोकोंमें द्वेष, राग और उदासीनता शब्द तथा बारहवेंके दसवेंमें 'मदर्थं' शब्द भी इसी मानीमे है । और भी ऐसे ही शब्द आये हैं ।

मगर इतना ही नही है । ठेठ दूसरे अध्यायसे ही शुरू करके अठारहवें अध्याय तक कमसे कम बीस बार संग, आसक्ति, आसक्त आदि आये हैं और सिवाय कर्ममें आसक्ति या करनेके हठके त्यागके और कोई अर्थ इनका होई नहीं सकता । ये बीस स्थान तो ऐसे है जहाँ निस्सन्देह कर्मोका हठ बुरा ठहराया गया है । चौथे

अध्यायके २१ वें श्लोकमें 'केवल' शब्द लिखके इस हठके त्यागको बड़ी सफाईके साथ दिखाया है। इसी तरह उसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'लिम्पन्ति' शब्द लेप, लीपने या लिपटनेके मानीमें लिखके बताया गया है कि कर्मो में हमारा लिपटना या कर्मोंका हममें लिपटना ठीक नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि कर्म तो कोई गुड़, गोबर या गीली मिट्टी नहीं है जो योंही लिपटेंगे। वे तो हठ, राग या आसक्ति के द्वारा ही मनमें लिपट जाते है।

लोग ऐसा न समझें कि हमने योंही बीस जगहोंकी नाम ले लिया है, इसीलिये प्रत्येक अध्याय और श्लोकोंके अंकोंको जान लेना चाहिये ताकि कोई भी आसानीसे यह बात जाँच सके। दूसरे अध्यायके ४८वें श्लोकका तो व्याख्यान होई चुका है जहाँ 'संग' शब्द साफ ही आया है। तीसरेके ७, ९, १९, २५, २८, २९ श्लोकोंमें; चौथेके १०, २३ मे; पाँचवेंके १०, ११ मे; छठके ४में; नवेंके ९ मे और अठारहवेंके ६, ९, १०, २२, २४, २६, ३४, और ४९ श्लोकों मे यही बात है। योंही, मोटामोटी नजर दौड़ानेपर भी यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यदि गौर से विचारा जाय तब तो कुछ कहना ही नहीं है। संदिग्ध श्लोकोंका तो हमने जिक्र किया ही नही है। इस प्रकार कर्मसंन्यासमें कोई भी बाधा गीताकी नजरोंमें हो नहीं सकती।

परन्तु गीताने तो और भी साफ-साफ यह बात कही है। चौथे अध्यायके "योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्" (४१) और पाँचवें अध्यायके "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति" (६)—इन दो—श्लोकोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि गीता संन्यास को न सिर्फ कर्तव्य मानती है, बल्कि उसका रास्ता और मौका भी बताती है। यदि गौरसे दोनों श्लोकों को मिलायें तो एक तो यह पता चलता है कि संन्यासकी बात दोनों हीमें हैं। दूसरे यह कि संन्यासके पहले कर्म करना जरूरी है। आखिर संन्यास तो कर्मोका त्याग ही ठहरा और जबतक कर्म करे ही न, तबतक त्याग कैसा? जिनके पास जो चीज होई न, वही उसी चीजका त्याग कैसे करेगा? तब तो "वृद्धा वेश्या तपस्विनी"वाली बात हो जायगी न? यह भी तो पक्की ही बात है कि जबतक वर्णमाला नहीं सीख ले, तबतक जब कभी छोटी-बड़ी कोई भी पुस्तक पढ़ना चाहेंगे, वर्णमाला सामने खड़ी हो जाया करेगी। यदि उससे पिंड छुड़ाना है तो उसे एक बार पूरा कर लीजिये। दूसरा रास्ता हई नहीं। ऊपर लिखे दोनों श्लोकों का यही आशय है।

चौथे अध्यायवाले "योगसंन्यस्तकर्माणं"—"कर्मों (योग)के द्वारा ही कर्मोंका/त्याग या संन्यास हासिल करनेवाले"का अभिप्राय हमने अच्छी तरह

साफ कर दिया है। उसके "ज्ञानसंछिन्नसंशयम्"का प्रयोजन तो आगे है। वह तो इतना ही कहता है कि "जिनका संशय ज्ञानके प्रतापसे खत्म हो गया है।" ज्ञान तो संन्यासके बाद ही होता है। फलतः सभी प्रकारके संशयों तथा शक-शुभोंका खात्मा संन्यासके बाद ही होता है, ऐसा माना गया है। यह भी सही है कि आत्मा-परमात्माके यथार्थ एवं सम्यग्दर्शनके लिये शक-सन्देहों का निर्मूल हो जाना आवश्यक है। इस प्रकार निर्वाणके लिये संन्यास जरूरी हो गया। यही कारण है कि उस श्लोकके शेष आधे "आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय" से साफ पता चलता है कि "इस प्रकार आत्मज्ञान या आत्माकी प्राप्ति हो जानेपर ही कर्मोंकी बन्धनशक्ति जाती रहती है।"

पाँचवें अध्यायके उक्त श्लोकका तो साफ ही मतलब है कि "संन्यासकी प्राप्ति तो कर्म (योग) के बिना अत्यन्त कष्टसाध्य—अर्थात् असम्भव—है। विपरीत इसके जो मननशील विवेकी कर्म करता है वह शीघ्र ही संन्यासके योग्य होके उसे प्राप्त कर लेता है।" इसमें इस बातकी पुष्टि कर दी गई है कि संन्यासके लिये कर्म करना जरूरी है। इसीलिये कर्मके बिना वह प्राप्त होता नहीं और कर्मसे हो जाता है। कारण तो उसे ही कहते हैं जिसके बिना चीज होई न और जिसके रहनेपर अवश्य हो जाय। इसीको पुराने लोगोंने अन्वय और व्यतिरेक कहा है। इस श्लोकके चौथे चरणमें संन्यास न लिखके यद्यपि ब्रह्म लिखा है, तथापि ब्रह्मका अभिप्राय संन्यास ही है। श्लोकके शेष तीन चरणोंसे यह बात साफ हो जाती है। इसके पहले जो कई श्लोक आये हैं उन्हें गौरसे पढ़नेसे भी यही अभिप्राय निकलता है। इसके सिर्फ दो दृष्टान्त गीतासे ही देनेसे बात साफ हो जायगी।

संन्यास और त्याग

अठारहवें अध्यायमें "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः" (७) और "अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिना क्वचित्" (१२), ये श्लोक आये हैं। इन दोनोंमें ही 'संन्यास' और 'त्याग' या 'संन्यासी' तथा 'त्यागी' शब्द आये हैं। इस अध्यायके पहले ही श्लोकमें जो प्रश्न किया गया है उससे स्पष्ट है कि संन्यास और त्याग दो चीजें हैं। इसीलिये दोनोंकी हकीकत अलग-अलग जाननेके खयालसे ही सवाल किया गया है। फलतः यह धारणा स्वभावतः हो जाती है कि आगेके श्लोकोंमें जहाँ कहीं ये दोनों शब्द आये हैं, अलग-अलग मानीमें ही प्रयुक्त हुए हैं। मगर है यह बात गलत—यह धारणा निराधार है। यह ठीक है

कि अठारहवें अध्यायमें त्याग और संन्यासके स्वरूप अलग-अलग बताये गये हैं और हम भी उनके बारेमे कुछ न कुछ कहेंगे। फिर भी उसका मतलब शब्दोंके अर्थसे नहीं है। इन दोनों शब्दोंका अर्थ तो अकसर एक ही माना जाता है। और गीतामे एक ही अर्थमें दोनों ही प्रायः बोले गये हैं। फर्क तो त्याग और संन्यास नामकी चीजोंकी भीतरी बातोंको लेकर ही माना जाता है। ऊपरसे एक होने पर भी भीतरसे इनमें कुछ बारीक भेद है—आमतौरसे पुराने लोगोंने कुछ भेद इनमे किया है। उसीके जाननेके लिये शुरूमें प्रश्न किया गया है और जवाब भी दिया गया है।

फलतः यदि भ्रान्त धारणाको जुदा करके या हटाके हम देखें तो पता लगेगा कि पूर्व लिखे ७वे और १२वें श्लोकोंमें त्याग तथा संन्यास एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं और एककी जगह दूसरेको बदल देनेसे अर्थमे कोई फर्क न पड़के और भी स्पष्टता हो जायगी। पहले श्लोकका सीधा अर्थ यही है कि "किसीके भी लिये जो कर्म निश्चित कर दिये गये है उनका संन्यास उचित नही है, और अगर भूल या धोकेमे पड़के उनका त्याग कर दिया जाय तो वह तामस (तमोगुणी) त्याग माना जाता है।" यहाँ पहले वाक्यमे जिस मानीमे संन्यास शब्द आया है, दूसरेमे उसी मानीमे त्याग शब्द है। दूसरा मानी संभव नही है। इसीलिये पहले लिखे सन्यास शब्दके ही अनुसार त्यागका भी अर्थ आगे लगता है। विपरीत इसके १२वें श्लोकके उत्तरार्द्धमे पहले त्यागी (त्यागिनाम्) लिखके पीछे संन्यासी (संन्यासिनाम्) लिखा है। श्लोकका अर्थ सिर्फ यही है कि "बुरे, भले और मिश्रित—तीन प्रकारके—जो फल कर्मोंके होते हैं वह उन्हींको मिलते हैं जो त्यागी नहीं हैं, संन्यासियोंको तो ये फल कभी नहीं मिलते।" यहाँ त्यागीके ही अनुसार संन्यासीका अर्थ भी त्यागी ही माना जाता है। यह बात बहुत साफ है। ठीक इसी तरह पाँचवे अध्यायके उक्त श्लोकमे भी पीछेके ब्रह्म शब्दका अर्थ पूर्व लिखे संन्यास शब्दके बलसे सन्यास ही होना ठीक है। उपनिषदोंमे भी "संन्यासो हि ब्रह्म" आदि प्रयोग मे ब्रह्म शब्द संन्यासके अर्थमें हो आया है और गीता तो उपनिषद् हुई।

जैसा कि अभी-अभी कहा है, गीता के १८वें अध्यायमें जो शंका त्याग और संन्यासकी हकीकत या असलियतके बारेमें की गई है, उससे भी संन्यासकी कर्त्तव्यता सिद्ध हो जाती है। हम तो कही चुके है कि इन दोनों शब्दोंके अर्थोंमें फर्क नहीं है। इसीलिये इस प्रश्नके बाद भी गीतामे ही दोनों एक ही अर्थमे बोले गये हैं। सवाल तो हकीकत या बारीकीके बारेमें ही है। इसीलिये प्रश्नवाले पहले श्लोकमें "तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्" लिखा है, जिसका अर्थ है कि "इन दोनोंकी हकीकत, असलियत या भीतरी बारीकियाँ जानना चाहता हूँ।" तत्त्व शब्द इसी मानीमें

बोला ही जाता है। शब्दार्थको तत्त्व नहीं कहते। किन्तु जब कभी तत्त्व कहना होगा तो जिनके तत्त्वसे अभिप्राय होगा उन चीजोंकी परिभाषा कर दी जायगी, उनका लक्षण कर दिया जायगा। यही बात हमेशा होती आती है। यहाँ भी आमतौरसे दोनोंका एक ही अर्थ समझा जानेके कारण ही अर्जुनको पूछना पड़ा कि आया दोनोकी परिभाषा एक ही है या जुदी-जुदी? दोनोंकी असलियत एक है या दो? दोनोंमें बारिकियाँ कुछ-कुछ है या नहीं? इसी हिसाबसे उसे उत्तर भी दिया गया है।

उत्तरकी हालत यह है कि त्यागके बारेमें लोगोंकी चार रायें होनेके कारण और कृष्णका खुद अपना भी एक स्वतंत्र विचार होनेके कारण पहले उसीकी हकीकत कहनी पड़ी है। हालाँकि प्रश्नमें पहले संन्यास ही आया है। संन्यासके बारेमें मतभेद या अनेक रायें न होनेके कारण ही उसकी बात उनने पीछे उठाई है। सो भी बहुत दूर जाके। असलमें त्यागका ब्योरा और विवरण देनेके बाद ही संन्यासकी बात समझनेमें आसानी भी हो जाती है। इसलिये भी त्यागके मुतल्लिक सारी बातें कहनेके बाद ही संन्यासकी बात कहना उचित समझा गया है। यही कारण है कि आरम्भसे लेकर पूरे ४८ श्लोकोंमें कर्मके सम्बन्धकी ही सारी बातें ब्योरेके साथ कही गई हैं, जिनसे त्यागके स्वरूप और उसकी हकीकतपर पूरा प्रकाश पड़ जाता है। फिर ४९वें और ५७वें श्लोकोंमें संन्यासका जिक्र आया है। मगर ५७वें श्लोकवाला संन्यास शब्द तो ठीक वैसा ही है जैसा कि तीसरे अध्यायके "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा" (३०) में आया है। क्योंकि वहाँ लिखा है कि "चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।" मालूम होता है कि प्रायः अक्षरशः एक ही श्लोकका यह हिस्सा दोनों जगह लिखा गया है। तीसरे अध्यायवालेमें जो 'अध्यात्म' शब्द ज्यादा प्रतीत होता है, उसकी जगह अठारहवें वालेमें आगे "बुद्धियोगमुपाश्रित्य" लिख दिया है। और भी आगे-पीछे बहुतसी बातें मिल जाती हैं। फलतः वहाँ भी संन्यासका वही पुराना सर्वजन विदित अर्थ ही है। जिसे ईश्वरार्पण या मदर्पण आदि नाम दिया गया है। संन्यास शब्द संन्यासकी उस हकीकतको यहाँ नहीं बताता है जिसके बारेमें सवाल हुआ है।

बाकी बचा ४९वें श्लोकका संन्यास। ठीक है यह तो उसी बातको कहता है जिसकी—जिस हकीकतका—जानकारीके लिये शुरूमें ही शंका की जा चुकी है, प्रश्न हो चुका है। यदि इस समूचे श्लोकको गौरसे विचारा जाय तो यह बात साफ हो जाती है। हम खुद आगे यह विचार करेंगे। मगर इतना तो जान लेना ही होगा कि यह श्लोक भी उस संन्यासकी हकीकत या उसके स्वरूपकी

और सिर्फ इशारा ही करता है और यही कहता है कि संन्यासके जरिये किस तरह परम नैष्कर्म्यसिद्धि या सर्वात्मना कर्मत्यागको तरफ आदमी जा सकता है। लेकिन उस संन्यासका स्पष्ट रूप तो बिना उस शब्द का उच्चारण किये ही आगे के "सर्वधर्मान्परित्यज्य" नामक ६६वें श्लोकमें ही बताया गया है। इस बात पर भी प्रकाश डालेंगे। मगर अभी त्यागकी बात जान लें, तो अच्छा हो।

जैसा कि कहा जा चुका है दूसरेसे लेकर ४८वें श्लोकतक त्यागके सम्बन्धकी ही बातें कही गई हैं। सबसे पहले दो और तीन—दो—श्लोकोंके दो-दो हिस्से करके चारों हिस्सोंमे त्यागके सम्बन्धके चार मत कहे गये हैं जो संसारके विद्वानोंमें प्रचलित हैं। उसके बाद चारसे लेकर छेतकके—तीन—श्लोकोंमें कृष्ण ने त्यागके बारेमें अपना सिद्धान्त निश्चित रूपसे कहा है और उसीका स्पष्टीकरण किसी न किसी रूपमें ४८वे तकके श्लोकोंमें किया है। दूसरे श्लोकमें 'न्यासं' और 'संन्यासं' शब्दोंको देखके यह समझने की भूल हर्गिज नहीं की जानी चाहिये कि पूर्वार्द्धमे 'संन्यास'का लक्षण कहा है। न्यास और संन्यास शब्दोंका तो एक ही अर्थ है। फलतः कामनापूर्वक किये गये (काम्य) कर्मोके संन्यास को संन्यास कहते है, इस कथनका कोई अर्थ नहीं है। इसीलिये हम तो यही मानते है कि दूसरेके पूर्वार्द्धमें "कवयो विदुः"—"सूक्ष्म बुद्धिवाले जानते हैं", उत्तरार्द्ध में "विचक्षणाः प्राहुः"—"कुशल लोग कहते हैं" तथा तीसरेके पूर्वार्द्धमें "प्राहुर्मनीषिणः"—"मनीषी लोग कहते हैं," और उत्तरार्द्धमें "अपरे प्राहुः"—"दूसरे लोग कहते है"—ऐसा कहके चार मतवादों या सिद्धान्तोंका कर्मोके त्यागके बारेमे वर्णन किया गया है। साफ ही चारों एक दूसरेसे पृथक् मालूम पड़ते हैं। प्रश्नमे भी त्यागके बारेमें 'पृथक्' तत्त्व या अलग-अलग हकीकत पूछी गई है। इसीलिये उत्तर भी उसी ढङ्गका दिया गया है। इस प्रकार संक्षेपमे पहला मत है केवल काम्य कर्मोंके ही त्यागनेका, दूसरा है केवल सभी कर्मोंके फलोंके ही त्याग का, न कि किसी भी कर्मके त्यागका, तीसरा है सभी कर्मोके ही त्यागका और चौथा है यज्ञ, दान तथा तपके सिवाय शेष कर्मोंके त्यागका। इस प्रकार त्यागके बारेमे चार तरहके सिद्धान्त साफ हो जाते हैं।

आगे के ४से ६ तकके श्लोकोंमें कृष्णने जो खुद अपना मत बताया है उसमें यह कहा है कि यज्ञ, दान तथा तपको भी, कर्मासक्ति एवं फलासक्ति छोड़कर ही, करना यही त्याग कहा जाता है, कहा जाना चाहिये। उनने इन तीनों कर्मो की बड़ी बड़ाई की है और कहा है कि "ये तो पवित्र करने वाले हैं

ऐसा मनीषी लोग भी मानते हैं''—''यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।'' फलत : इनके छोड़नेका सवाल तो उठी नहीं सकता । हाँ, यह किया जाना चाहिये जरूर कि इनमें तथा इनके फलोंमें आसक्ति रहने न पाये । जहाँ चौथा पक्ष इन तीनोंके करनेमें कोई विशेष बात नहीं कहता, तहाँ कृष्णका मत है कि इन तीनोंको भी कर्मासक्ति तथा फलासक्ति छोड़कर ही करना होगा ।

फिर सातसे लेकर बारह तकके श्लोकोंमे त्यागकी सात्त्विक आदि किस्में बताके उसका विवरण दिया गया है । उसके बाद कर्मके पॉच कारणोंका निरूपण करके १३से १७ तक यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा तो इन पाँचोंमें है नहीं । वह तो अलग और निर्लेप है । इसलिये कर्मका साथी उसे मानके सभी कर्मोंसे बचनेकी कोशिश बेकार है, नादानी है । बादमे १८से २८ तक यह बात विचारी गई है कि आखिर कर्म होता है कैसे और वह रहता है कहा, और इस तरह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मामे उसका ताल्लुक हुई नहीं । वह तो दूसरी ही चीजें है जिनमे कर्म सम्बद्ध है । कर्मके करनेमे अन्त करण या बुद्धि और धृति (हिम्मत, धारणशक्ति) की जरूरत होती है । ये दोनो न रहे तो कर्म हवामे मिल जाय । बुद्धि रास्ता बताती है और धृति पस्ती आने न देकर कर्म-मार्गमें डँटे रहना लाती है । इसलिये जरूरी हो गया है कि इन दोनोंका भी विश्लेषण किया जाय । क्योंकि शायद इनमें किसीमें कहीं आत्मा आ जाय । मगर २९से ३५ तकके श्लोकोंमें इन दोनोंको त्रिगुणात्मक बताके आत्माको अलग ही मान लिया है । जिस आराम और सुखके लिये कर्म करते है उसका निरूपण ३६-३९ श्लोकोंमें करके उनमें सात्त्विक सुख को आत्मानन्द माना है सही; मगर वह कर्मजन्य हुई नहीं । उसके लिये केवल अपनी बुद्धिकी निर्मलता अपेक्षित है— ''आत्म-बुद्धिप्रसादजम् ।'' वह भले ही कर्मजन्य हो सकती है । शेष दो सुख तो आत्मामे लाख कोस दूर है । इसके उपरान्त आमतौरमे ४०वेंमें कह दिया है कि कर्म तो सांसारिक चीजोंकी सिद्धिके ही लिये किया जाता है और वह चीजें तो सभी की सभी त्रिगुणात्मक होनेके कारण आत्मासे अलग है । प्रसंगवश चारों वर्णोंके स्वाभाविक गुणोंका ४१-४४ श्लोकोंमें दिग्दर्शन कराके दिखा दिया है कि आत्मासे इनका क्या ताल्लुक ? इस प्रकार जब कर्मोंमे ही भय करनेकी कोई वजह न होनेके कारण बन्धनके डरसे उन्हें स्वरूपतः त्याग करनेका सवाल आता ही नहीं, तो यज्ञ, दान, तपके स्वरूपतः त्यागकी बात कहाँ और क्यों आयेगी ? इस तरह त्यागका सविस्तर निरूपण पूरा हो जाता है । चारो वर्णोंके कर्म जब स्वाभाविक (स्वभावज) ही है तो फिर उनके बुरे-भले या छोटे-बड़े होनेका प्रश्न भी कहाँ आता है ? जैसाकि आगका स्वाभाविक काम जलाना और पो-

भिगोना होनेके कारण उनमे भले-बुरे या नीच-ऊँचका सवाल नहीं उठता; ठीक यही बात यहाँ भी है। इस तरह वर्ण-धर्मो और कर्मोकी समानरूपता भी प्रसंगतः सिद्ध हो जाती है।

विपरीत इसके ४५-४८ श्लोकोमे स्पष्ट कह दिया है कि स्वकर्म यदि ऊपरसे बुरा भी प्रतीत हो तो भी उसे हर्गिज नही छोड़ना चाहिये। वह सहज (स्वाभाविक) जो ठहरा। उसीके द्वारा भगवानकी पूजा भी तो होती है। कर्म ही तो भगवत्पूजा है। यदि भगवानको संतुष्ट करना या उसे जानना चाहते हो तो स्वकीय कर्मोको ही ठीक-ठीक करना चाहिये। इस तरह तो त्यागकी जगह कर्मोका करना ही जरूरी हो जाता है। क्योकि भगवत्पूजा तो आखिर करनी ही है न?

इसके बाद ४९-५५ तक संन्यासकी उपयोगिता और उसकी दशाको बताके ५६-६५ तक उसके लिये ही कर्मोकी उपयोगिता बताई गई है। अब रह गई संन्यासकी बात। सो तो ४९में ही शुरू होती है और ६६वेंमे उसका स्पष्ट रूप दिखाया गया है। ४ वाँ श्लोक यो है, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यं सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति''। इसका सीधा अर्थ यही है कि ''जिसकी बुद्धि कही लिपटी न हो, जिसका मन अपने वशमे हो और जिसे कोई भी लोभ-लालच रह न गया हो वही संन्यासके द्वारा कर्मोके त्यागकी अन्तिम दशाको प्राप्त हो सकता है।'' मन बुद्धि आदिपर अपना अधिकार रखनेसे कर्मोके त्यागका रास्ता साफ हो जाता है और बहुतेरे काम छूट भी जाते है। फिर भी नियत या स्वाभाविक कर्म तो होते ही रहते है। फलतः जबतक उनका भी त्याग न हो जाय पूरी निष्कर्मता या कर्मोके त्यागकी आखिरी और पूर्ण हालतपर पहुँच नही सकते। इसीलिये संन्यास या कर्मोका स्वरूपतः त्याग तब जरूरी हो जाता है।

कर्मत्यागकी पूर्णताकी जरूरत क्या है, यह सवाल हो सकता है। मगर इसका उत्तर तो ''आरुरुक्षोर्मुनेर्योः'' की व्याख्याके समय दिया जा चुका है। वही बात यहाँ भी ५०से लेकर ५५ तकके श्लोकोंमे कही गई हैं। ये श्लोक समाधिका ही ब्योरेवार निरूपण करते है और कहते है कि अगर कुछ भी कर्मोका झमेला रहा तो समाधि हवामे ही मिल जायगी। फिर तो योगारूढ या आत्मदर्शी होना असंभव हो जायगा। समाधिके लिये प्रायः बहुत ज्यादा समय लगता है—दीर्घकालकी अपेक्षा है। सो भी जब वह निरन्तर चालू रहे और बीचमे विराम होने न पाये। मनके निरोधको ही तो समाधि कहते है। फलतः उसके निरोधके लिये जो अभ्यास किया जाता है उसके बारेमे योगदर्शनके समाधिपादमे पतञ्जलिने

साफ ही कह दिया है कि श्रद्धापूर्वक निरन्तर बहुत दिनों तक करते रहनेपर ही वह दृढ़ होता है,—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः" (१४)। तब इसमें कर्मकी जरा भी गुंजाइश कहाँ रह जाती है ? उसकी तो जरूरत तभी तक थी जबतक कि आत्मदर्शनकी तरफ मनका झुकाव नहीं हुआ था। अब वैसा होनेपर तो कर्मोका त्याग नितान्त आवश्यक हो जाता है।

हाँ, आत्मदर्शन हो जानेके बाद भले ही कर्म कर सकते हैं। क्योंकि तब तो खामखा कर्मोके छोड़नेका सवाल रही नहीं जाता। पुराने संस्कारोंके बलसे आत्मज्ञानी लोग दोनों ही तरहके होते हैं, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। कर्मयोगी भी होते हैं, जैसे जनक आदि और संन्यासी भी, जैसे शुकदेव आदि। पहले तो भगवदर्पण बुद्धि वगैरहसे ही कर्म करते हैं। फिर ज्ञानके बाद कर्त्तव्य-बुद्धिसे या विशुद्ध लोकसंग्रहकी ही दृष्टिसे। यही बात ५६से ६५ तकके श्लोकोंमें कहके और इसीपर जोर देके ६६वेंमें संन्यासके स्वरूपवाले प्रश्नका उत्तर देते हुए साफ कह दिया है कि "सभी धर्मकर्मोंको छोड़के अद्वितीय परमात्मा (आत्मा)की शरण जाओ—आत्मज्ञान प्राप्त करो। उसीके फलस्वरूप सभी पुण्यपाप रूप बन्धनोंसे छुटकारा हो जायगा। फिक्र मत करो"—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" पहले इसी चीजको भक्तिके भी नामसे ५४वें श्लोकमें कहा है और ५५वें में बताया है कि यह भक्ति अद्वैत ब्रह्मज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है। सातवें अध्यायके "चतुर्विधा भजन्ते मां" आदि १६-१९ श्लोकोंमें भी अद्वैत ज्ञानको ही सबमें ऊँचे दर्जेकी भक्ति कहा है। इसीलिये जो लोग इस श्लोकमें शरणागति और प्रपत्ति आदिके नामोंसे उपासना, श्रवण, कीर्त्तन आदि नामक भक्तिकी बात सोचते हैं वह सत्यसे बहुत दूर है। यदि पहलेके ही कुछ श्लोकोंपर अच्छी तरह गौर करें तो भी उन्हें पता लग जायगा कि यहाँ सर्वकर्म—संन्यासपूर्वक अद्वैतज्ञानसे ही मतलब है। उसीके बाद निर्वाण-मोक्षके लिये कोई चिन्ता करनेकी गुंजाइश नहीं रहती। बाकी भक्ति आदि में तो रहती ही है। फलतः 'फिक्र मत करो,' कहना गलत हो जायगा। क्योंकि यदि और नहीं तो भगवानको प्रसन्न करनेकी ही चिन्ता रह जाती है।

जिस तरह कर्म और संन्यासकी ही बातको लेके अठारहवें अध्यायका विश्लेषण करना जरूरी हो गया है, क्योंकि अन्तिम एवं उपसंहारवाला वही है; उसी तरह दूसरे अध्यायकी भी कुछ बातें विचारणीय हैं। पहला अध्याय पूराका पूरा और दूसरेके शुरूके दस श्लोकोंको गीतोपदेशकी भूमिका मानते हैं, जिसमें उपदेशके लिये भूमि, क्षेत्र या प्रसंग तैयार किया गया है। यह बात तो श्लोकोंके अर्थके ही समय और आगे भी विदित होगी। ११वें श्लोक "अशोच्या-

नन्वशोचस्त्वं"से उपदेश शुरू होता है। गीतापर शंकरका भाष्य भी इसी श्लोकसे शुरू होता है। बेशक, उनने भी भाष्यारम्भमें एक लम्बी भूमिका लिखी है और उसीसे हमने शुरूमें "तत्त्वज्ञानिनां कर्म तु" आदि एक छोटासा अवतरण दिया है। इस अध्यायके कुल ७२ श्लोकोंमें शुरूके दस तो यों ही—चले गये। उनके बादसे लेकर ३८वें तक मुख्यतः आत्माके स्वरूप आदिका विवेचन करके ३९वेंमें लिखा है कि "हमने अबतक सांख्य (तत्त्वज्ञान)की जानकारी तुम्हें बताई है। अब आगे योगकी जानकारीकी बात सुनो"—"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।" इससे स्पष्ट है कि आगे दूसरी—योगकी हो—बात कही गई है।

आत्माका स्वरूप

यह ठीक है कि योग या कर्मयोगकी बात तो ४७वें श्लोकसे ही शुरू होती है और दो श्लोकोंमें उसके स्वरूपको अच्छी तरह बताके उसीका विवेचन आगे किया है। लेकिन ३९-४६ श्लोकोंमें उसी योगकी महत्तासूचक स्वतंत्र प्रस्तावना दी गई है। यह समूचे गीतोपदेशकी प्रस्तावना न होके सिर्फ उसी योगकी है। इसीलिये हमने इसे स्वतंत्र कहा है। यह भी बड़े कामकी चीज है, खासकर योग-सम्बन्धी आगेकी बातें समझने और पिछली बातोंके साथ सम्बन्ध जाननेके लिये। यह योग तो गीताकी खास देन है यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिये इसपर ज्यादा प्रकाश डालना जरूरी है। इसी दृष्टिसे इसकी स्वतंत्र प्रस्तावनाके ८ श्लोकोंके साथ ही तत्त्वज्ञान सम्बन्धी पहले के ११-३८ श्लोकोंपर भी एक निगाह डालनेकी आवश्यकता है। ऐसा करते ही मालूम हो जाता है कि ११-३० श्लोकोंमें तो आत्माकी अजरता, अमरता, निर्विकारिता और नित्यताका प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया गया है। यह ठीक है कि वह प्रतिपादन यहाँ स्वतंत्र नहीं है; किन्तु स्वधर्म और स्वकर्मकी कर्त्तव्यताकी पुष्टिके ही लिये किया गया है। इसीसे यह भी निर्विवाद हो जाता है कि गीतोपदेशकी भित्तिकी बुनियाद अध्यात्मवादसे ही बनी है। इसीलिये शुरूमें वही बात आई है। मरने-मारनेके तथा हिंसा-अहिंसाके ही खयालसे तो अर्जुन स्वकर्मसे विचलित हो रहा था। कृष्णने शुरूमें ही उसकी जड़ ही काट दी।

उनने कह दिया है कि मरने-मारने तथा हिंसा-अहिंसाका खयाल तो महज नादानी है। भीष्मादिकी आत्मा तो मरती नहीं और न दूसरों को मारती है। क्योंकि सभी आत्मायें अविनाशी और निर्विकार हैं। फिर हिंसा-अहिंसाकी बात ही कहाँ रही? रह गई उनके शरीरोंकी बात। सो तो आज खत्म हुए, कल खत्म

हुए जैसे ही हैं। उनका नाश तो कोई भी शक्ति—परमेश्वर भी—रोक सकती नहीं। वह तो अनिवार्य है अवश्यम्भावी है। यदि युद्ध में नहीं, तो ज्वर, महामारी आदिसे ही वे शरीर एक न एक दिन खत्म होंगे ही। फर्क यही है कि तब मरना केवल मरना होगा। लेकिन अब मरनेमें मजा है, बहादुरी है, नाम और यश है, आत्मसम्मान है, "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। रामकाज क्षणभंग शरीरा" वाली बात है। फिर चिन्ता कैसी? आगा-पीछा कैसा? यही तो फायदेका सौदा है।

१९वें और २१वें श्लोकोंमें जो करारी डाँट उन लोगोंको बताई है जो आत्माके बारेमें चिन्ता करते और हिंसा-अहिंसाकी बातें करते है वह बहुत ही सुन्दर है, निराली है, खूब है! साफ ही कह दिया है कि जो इस आत्माको मारनेवाली चीज मानते है और जो इसे मरनेवाली समझते है "वे दोनों ही कुछ नहीं जानते, बेवकूफ हैं, नादान, है, कोरे है"—"उभौ तौ न विजानीतः" (१९)। इसी तरह २१वेंमें साफ ही कहते है कि "जिसने इस प्रकार आत्माको अजन्मा अविकार, सनातन और अविनाशी जान लिया भला वह किसीको मार-मरवा सकता है!"— 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्!" यहाँ "कथं स पुरुषः" और भी सुन्दर है। वह तो मर्द है, नामर्द तो है नहीं। तब भला वह कैसे मारने-मरवानेकी बात सोचे! यह तो नामर्दीका रास्ता है, इससे तो नामर्दी और हिचकको प्रोत्साहन मिलता है और मर्द होके वह ऐसा काम करेगा! यह साराका सारा वर्णन इतना सरस और युक्ति-दलीलोंसे भरा है कि लोट-पोट हो जाना पड़ता है। तर्क भी इतना जबर्दस्त और सामयिक (uptodate) एवं वैज्ञानिक है कि कुछ कहिये मत। एक नमूना सुनिये।

१३वें श्लोकमें आत्माकी अविनाशिताकी दलील दी गई है। कहते हैं कि "एक ही जन्ममें कुमारावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्थासे हमें आमतौर से गुजरना होता है"—"देहिनोऽस्मिन्यथादेहे कौमारं यौवनं जरा।" यह याद रखना होगा कि इन तीनों अवस्थाओंका शरीर एक हर्गिज नहीं होता। कमसे कम तीन तो होते ही है जो एक दूसरेसे सोलहों आने जुदा होते हैं। यों तो एक एक अवस्थामे भी जानें कितने जुदा-जुदा शरीर हो जाते हैं। जिन अनन्त परमाणुओं से खून, मांस, हड्डी आदिके जरिये किसी एक अवस्थाका शरीर बना होता है दूसरी अवस्थामें वह एक भी पाये नहीं जाते! वे तो जानें कहाँ गायब हो जाते हैं और उनकी जगह बिल्कुल ही नये और निराले परमाणु (atoms) ले लेते हैं! नहीं तो तीनों अवस्थाओं में पार्थक्य क्यों होता? यों भी कुमारावस्थाके

शुरूमें होने वाली देहके साथ युवावस्थाके अन्तिम परिपाकके समयके शरीर से कोई मिलान हो सकती है क्या ? वे दोनों तो साफ ही जुदे हैं—जुदे मालूम होते है ! फिर वृद्धावस्थासे मिलानका सवाल क्या ? विभिन्न अवस्थाओंके जुदे-जुदे और परस्पर विरोधी काम ही इस बातके सबूत है कि शरीर जुदे-जुदे हैं। बाल्यावस्था की निपट असमर्थता और जवानीकी पूर्ण समर्थताके बाद बुढ़ापे की निराली असमर्थता ही पुकार-पुकारके अपने-अपने शरीरोंको अलग बताती हैं।

इसे यों भी समझ सकते है। नया चावल कोठीके भीतर बन्द करके रखते है और किसी भी तरफसे हवा न जा सके इसका पूरा प्रबन्ध करते है—कोई जरा भी छिद्र या सूराख रहने नहीं देते। नही तो बाहरसे कीड़े घुस जायें और बरसाती हवा चावलको चौपट कर दे। फिर भी चार-छे सालके बाद अगर उन्ही चावलोंको निकाले, पकाये और खाये तो निराला ही स्वाद, निराली गन्ध और निराली तृप्ति होती है जो बातें नयोंमे पाई हो न जाती थी। पचनेंमे तब भारी थे अब हलके हो गये; तब देरसे पकते थे, अब फौरन पक जाते है, तब माँड़को छोड़ते न थे, अब माँड़से उनका कोई ताल्लुक ही नहीं ऐसा प्रतीत होता है ! यह बात क्यों और कैसे हो गई ! मोटी बुद्धिमें तो यह बात समाती नहीं। मगर यह तो मानना ही होगा कि हजार कोशिश करने और हवाका प्रवेश रोकने पर भी परमाणुओंकी आवाजाही रोकी जा सकती नही ! वे तो सर्वशक्तिमान जैसे हैं ! उनकी अपार महिमा है ! फलतः चावलके भीतर जितने भी पुराने परमाणु थे, जिनसे वह बना था, एक-एक करके सभी भाग निकले, खिसक गये इन्ही चार-छे सालोंमे, और उनकी जगह बिल्कुल ही नयोंने ले ली ! दूसरी बात होई नहीं सकती ! हमें पता ही न लगा और चावल दूसरे हो गये ! पहलेवाले फरार हो गये और उनने अपनी जगह दूसरोंको बिठा दिया—ऐसोंको, कि कोई गिरफ्तार करी नही सकता, चाहे लाख यत्न करे ! पुराने चम्पत ! नये हाजिर !

केवल अन्दाजी बात नही है। अब विज्ञानकी महिमासे ऐसी प्रयोगशालाएँ (Laboratories) बनी है कि उनमें घुसके आप यह सृष्टिका करिश्मा आँखें देख सकते है। योंतो हमें कुछ पता ही नही चलता कि क्या हो रहा है। मगर अगर किसी प्रयोगशालाके वैज्ञानिक यंत्रोंके सामने अपना हाथ रख दें, तो हमें आश्चर्यचकित हो जाना होगा यह देखके, कि किस तेजीके साथ हमारे अपने हाथ-से लक्ष-लक्ष परमाणु हर सेकंडमे भागे जा रहे है और उनकी जगह नये घुस रहे है। हमें ताज्जुब होगा और अवाक् रह जाना पड़ेगा। मगर इसीके साथ-साफ-

साफ दिखेगा कि किस प्रकार पुरानी चीज खत्म होके उसकी जगह एकदम नई और ताजी चीज तैयार हो रही है, हो जाती है। उसी जगह यह भी मालूम हो जायगा कि जाने कितने ही शरीर पचास-साठ सालके भीतर बने और बिगड़े। हालाँकि यों देखनेसे मालूम पड़ता है कि वही एक ही शरीर बराबर बना है—केवल कुछ मरम्मत हुई है या मुलम्मा चढ़ा है। यही बात वर्तमान साम्यवादी अंग्रेज विद्वान् श्री जोन स्ट्रेचीने अपनी पुस्तक "समाजवादका सिद्धान्त और व्यवहार" (The Theory and Practice of Socialism) के ३९२ पृष्ठमें लिखते हुए मार्क्सवादके मूल नेता श्री फ्रेड्रिक एंगेल्सके "ड्यूह्रिंगके विरुद्ध" (Anti Duhring) पुस्तकके एक अंशको ज्योंका त्यों उद्धृत कर दिया है। वह इस प्रकार है :—

"In the same way Engels observes that the eating and excreting process s, which everyliving thing must continually maintain, mean that the actual physica structure of every man (for example) is continually changing. A man is not composed of the same cells as he was thirty years ago. Not a single one of the atoms of matter, which then constituted the man is left. And yet we say without hesitation that it is the same man. The movement or evolution, through time, of a living organism, seems to present an analogous contradiction to the movement of an object through space. 'Life is, therefore, also a contradiction, which is present in things and processes themselves and which constantly asserts and solves itself; and as soon as the contradiction ceases, life too comes to an end, and death steps in"—"Anti-Duhring" page 138."

इसका आशय यह है, "उसी तरह एंगेल्सका यह भी कहना है कि हरेक जानदारके लिए जिस खाने और पाखानेका निरन्तर जारी रहना लाजिमी है उसीका यह मतलब है कि हरेक इन्सान वगैरहके जिस्मकी बनावट निरन्तर बदल रही है। तीस साल पहले जिन सजीव झिल्लियोंमें मनुष्यका शरीर बना होता है, वे उस मुद्दतके बाद रह नहीं जाती हैं। उस समय जिन परमाणुओंसे शरीर बना था उनमें एक भी रह नहीं जाते। फिर भी बिना हिचक कह देते हैं कि यह वही आदमी है। किसी जीवित पदार्थका समय पाके जो विकास होता है या उसमें जो

गति हो जाती है, उसमें जो परस्पर विरोध होता है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी पदार्थके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेमें। "इसीलिये जीवन भी विरोधी चीज है और यह विरोध खुद पदार्थों और उनकी क्रियाओंमें ही मौजूद है। यह विरोध अपने आप ऊपर आ जाता है और फिर इसका समाधान भी हो जाता है। यह विरोध ज्योंही खत्म हुआ कि जीवनलीलाका भी अन्त हुआ और मौत आ धमकी।"

इस प्रकार अत्यन्त वैज्ञानिक तर्क दलीलके साथ गीताने भी बहुत समय पहले एंगेल्सकी ही तरह कह दिया था कि यदि इस प्रकार परस्पर विभिन्न शरीरोंके होते हुए भी हम उन्हें एक ही मानते है, और सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मा एक ही रहती है; उसका परिवर्त्तन या नाश नहीं होता; इसीलिये तो बचपनकी देखी-सुनी बातोंकी याद बुढ़ापेमे भी हो आती है; तो वर्त्तमान शरीरके मिलनेके पूर्व और इसके खत्म होनेके बाद जो शरीर थे और जो मिलेंगे उनमें भी उसी आत्माकी सत्ता माननेमे क्या अड़चन है जो इस वर्तमान शरीरमें है? जिस तरह एक जन्मके ही तीन विभिन्न शरीर बताये गये हैं वैसे ही तो तीन जन्मोके भी तीन हैं और आगे बढ़के तीस और तीन लाख जन्मोंके भी होते हैं। बात तो सर्वत्र एकसी है। यदि बचपनकी सभी बातें बुढ़ापेमें याद नहीं आती है और शायद ही एकाधका स्मरण होता है, तो दूसरे जन्मके शरीरोंके बारेमे भी ऐसा ही होता है। कोई बच्चा पढ़ने या दूसरे ही कामोंमें कुन्द, कोई तेज और कोई अत्यन्त विलक्षण होता है। इससे मानना पड़ता है कि पूर्व जन्मके अभ्यास काम कर रहे हैं, ठीक जैसे निद्राके बाद पहले पढ़ी-लिखी बात याद आ जाती है। मौत भी तो आखिर नींदकी बड़ी बहन ही है न? इसमें तम या अन्धेरे का पर्दा बहुत ही सख्त होनेके कारण स्मृति और भी पतली पड़ जाती है या शायद ही कभी किसीको होती है। लेकिन हमारा प्रयोजन यहाँ इन बाहरी दलीलोंसे नहीं है। हमें तो एक ही युक्ति-तर्कको नमूनेके तौर पर पेश कर देना था।

बीचके "अथ चैनं नित्यजातं" (२६) आदि श्लोकोंमें जो आत्माके मरने या विनाशकी बात कही गई है, वह तो केवल स्वधर्मसे, विमुख न होनेके ही लिये सहकारी तर्क (supplementary argument) के रूपमें ही है। वहाँ तो इतना ही कहना है कि जैसे शरीरका नाश अनिवार्य है, इसीलिये उसे बचानेके खयालसे भी युद्ध रूप स्वधर्मसे भागना मूर्खता है, ठीक उसी तरह यदि आत्माको भी नश्वर और क्षणभंगुर ही मान लें, तो भी स्वधर्मसे विमुख होना कभी वाजिब नहीं। क्योंकि जो बिगड़ेगा वह फिर बनेगा और जो बनेगा, जरूर ही बिगड़ेगा, यही संसारका नियम है और यह हमारे काबूकी बात है नहीं कि इसे ही रोक

दें। यदि हम न भी लडें, तो आत्माका नाश तो होगा ही, यदि हमने उसे अनित्य मान लिया। बस, इसका इतना ही मतलब है। ऐसा समझनेकी भारी भूल कोई न करे कि ऐसा कहके गीताने भी आत्माको विनाशी माना है। सारीकी सारी गीता इस सिद्धान्तके खिलाफ है। सैकडों बार आत्माकी अमरता और एकरसता उसमें दुहराई गई है।

इसके बाद अध्यात्मवाद के बारेमें कुछ भी कहना रह जाता नहीं। फलतः ३१-३७ श्लोकोंमें धर्मशास्त्रोंके विधि-विधान और दुनिया में नेकनामी बदनामी एवं आत्मसम्मानके आधारपर उसी स्वधर्मके करनेकी पुष्टि की गई है। लोग ऐसा न समझ बैठें कि जब गीताने अध्यात्म ज्ञानसे ही शुरू किया है तो उसे सांसारिक हानि लाभोंसे कोई वास्ता नहीं है; इसीलिये गीताकी दृष्टि इनकी तरफ कतई नहीं है; यही वजह है कि इन सभी सांसारिक बातों और ख्यालोंको भी उसने सामने ला दिया है। यदि ऐसा न होता तो गीताकी बात एकांगी एवं अधूरी रह जाती जैसा कि शुरूमें ही कहा है। गीताको सब तरह से पूर्ण और व्यावहारिक बनना था, पूर्ण अनुभवी बनके ही पथदर्शन करना था और वही चीज न हो पाती, अगर यश-अपयश, आत्मसम्मान आदिकी ओर स वह नजर फेर लेती। उस दशामें अनुभवी लोग उसमें कमी पाते और उसकी ओर सहसा खिंच आते नहीं। इसीलिये इस पहलूको भी उसने नहीं छोड़ा है। विधि-विधानके अनुसार स्वर्ग-नरक आदि भी इसी पहलूके भीतर आ जाते हैं। इनका स्थान न तो अध्यात्म दृष्टिमें है और न योगदृष्टिमें ही। इसीलिये वे भी यहीं दिखाये गये हैं।

सांख्य और योगमें अन्तर

इसके बाद योगवाली दृष्टिको ओर जानेके पहले एक ही श्लोक—३८वाँ—रह जाता है। वह यों है, "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥" इसका अर्थ है कि "जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दुःखको समान समझके—यानी इनकी पर्वा न करके—लड़ाईके लिये तैयार हो जाओ। फिर तो तुम्हारे पास पाप फटकने भी न पायगा"। लड़ाईमें हार या जीत—दोमें एक—जरूरी है। फलतः तदनुसार ही हानि या लाभ भी अनिवार्य है। फिर तो दुःख या सुख खामखा आता ही है। यही है साधारण नियम। ये चीजें बदली जा सकती हैं भी नहीं। इसलिये इन्हें समान बनाना असंभव है। इसीलिये गीता कहती है कि इनका बाहरी रूप ज्योंका त्यों रहते हुए भी हम इन्हे समान इस तरह बना सकते हैं कि दिल-दिमाग पर इनका

कोई खास असर न होने दे। अध्यात्मवाद या वेदान्तका यह अटल सिद्धान्त है कि सुख-दुःखके कारण बाहरी पदार्थ नहीं है। हम अपने दिल दिमागमे उन्हें जो स्थान देते या उनका जैसा स्वरूप खड़ा करते हैं तदनुसार ही वे सुख-दुःख आदिके कारण बनते है और नहीं भी बनते है। इन्हींको मानसिक या मनोराज्यके पदार्थ कहते है।

दृष्टान्तके लिये किसी स्त्रीको ले सकते है। वह तो एक ही प्रकारकी होती है—उसका बाहरी रूप तो एक ही होता है। अब यदि वही भली या बुरी हो या सुख-दुःख पहुँचानेवाली मानी जाय तो सभीको उसके करते समान रूप मे ही सुख या दुःख होना चाहिये। मगर ऐसा तो होता नही। एक ही स्त्री किसीके लिये सुखद, किसीके लिये दुःखद और किसीके लिये दोनोंमें एक भी नहीं होती। जो पुरुष उसे बहन, बेटी या माता मानता है, उसकी कुछ और हालत होती है, जो उसे स्त्री मानता है उसकी दूसरी ही और जो उसकी तरफसे निरा उदासीन या लापर्वा है उसकी तीसरी ही दशा होती है। पहली दो हालतों में राग या द्वेष या प्रेम और जलनकी जो बातें पाई जाती है। वह तीसरी दशा में कतई लापता है। वेश्या, धर्मपत्नी और माताके बाहरी रूपमे कोई भी अन्तर नहीं होता है। एक ही स्त्री किसीकी माँ, किसीकी पत्नी और किसीके लिये वेश्या भी परिस्थितिवश हो सकती है। इसीसे वह आरामदेह या तकलीफदेह बन सकती है। सोभी एक ही समयमे किसीको आराम देनेवाली और किसीको तकलीफ देनेवाली। क्यों? इसीलिये न, कि पत्नी, वेश्या, माता, बहन आदिके रूपमें एक ही स्त्रीकी जुदा-जुदा कल्पना अलग-अलग लोग अपने मनोंमे कर लेते है? और जो विरागी या मस्तराम ऐसी कोई भी कल्पना नहीं करके लापर्वा रहता है उसे उस स्त्रीसे सुख या दुःख कुछ नहीं होता। इसलिये सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पदार्थका बाहरी रूप कुछ नहीं करता। किन्तु उसका मानसिक रूप जैसा खड़ा किया जाता है तदनुसार ही वह सुख-दुःखादिका कारण बनता है—उसे वैसा बनना पड़ता है।

इसीलिये ३८वें श्लोकमे गीताने इसकी जड़ ही काट दी है। उसने कह दिया है कि अपने दिल-दिमागपर जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखका असर होने हो न दो, दिल दिमागको यह मौका ही न दो कि इन चीजोंका रूप अपने भीतर खड़ा कर सके, ऐसा न होने पाये कि दिल-दिमागकी स्वाभाविक एकरसता, गंभीरता और शान्तिको, ये सभी अपनी छाया और अपना प्रतिबिम्ब उसपर डालके, भङ्ग करें, बिगाड़े। फिर तो पौ बारह है, फिर तो सब कुछ ठीक है, फिर तो पाप-पुण्यकी जड़ ही कट जाती है। पाप-पुण्यके बाप तो ये मानसिक रूप ही है,

चीजोंका मानस पटल पर पड़ा हुआ असर और प्रतिबिम्ब ही है, छाया ही है। इस प्रकार अध्यात्मवाद और वेदान्तके सिद्धान्तके ही आधारपर कर्म करनेकी बातका प्रतिपादन पूरा किया गया है। क्योंकि जब आत्मा निर्विकार और निर्गुण है, निर्लेप और अजर-अमर है तब तो मानसिक कल्पनाके ही चलते वह भटकती है और पाप-पुण्यमें पड़ती है, जैसे जंगलमे भटक जानेवाला काँटे-कुशोंमें बिधता या चोर डाकुओंसे लुटता है। और जब वही चीज नहीं रही, जब मानसिक समता (balance) बिगड़ने न पाई, तो फिर खतरा ही कहाँ रहा?

अब विचार पैदा होता है कि जिस समताका उल्लेख यहाँ किया गया है उसीका जिक्र आगे कर्मयोगके प्रकरणके ४८वें श्लोकमें भी आया है। यहाँ भी "सुखदुःखे समे कृत्वा" है और वहाँ भी "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा" लिखा है। ऐसी दशामें दोनों एक ही चीज हो जाती है। फिर अध्यात्मवादके प्रकरणके अन्त और योगके आरम्भके पहले जो ३९ श्लोकमे बड़ी तपाकके साथ कहा है कि "तत्त्वज्ञानकी बात कह चुके अब योगकी बात सुनो", उसका तो कोई मतलब रही नहीं जाता। वह बेकार और निरर्थक मालूम पड़ता है। मगर ऐसा मान भी तो नहीं सकते। गीताकारको क्या इतनी मोटी भी बुद्धि न थी कि यह बात समझ जायें? और जो गीतामें सांख्य एवं योगके दो मार्गोंका बारबार जिक्र आया है उसका क्या होगा? यह कोई बच्चोंकी तो बात है नहीं। इसीलिये कुछ अजीबसा घपला यहाँ आ खड़ा होता है।

यह बात तो जरूर है। यहाँ दिक्कत तो मालूम होती ही है। इसीलिये जरा गौर से कई बातें विचारना है। पहली बात यह है कि हम अध्यात्मवाद के उपसंहारवाले ३८वें श्लोकके "नैवं पापमवाप्स्यसि" तथा कर्मयोगकी भूमिकाके ३९वें श्लोकके "कर्मबन्धं प्रहास्यसि" शब्दोंपर भी विचार करें। पहले शब्द तो इतना ही कहते हैं कि "ऐसा होनेसे तुम्हारे पास पाप फटकने न पायेगा।" उनका इस बातसे कोई तात्पर्य नहीं है, कोई भी प्रयोजन नहीं है कि आया कर्म पाप-पुण्य पैदा करते है या नहीं, कर्मोंमें पाप-पुण्य पैदा करनेकी शक्ति है या नहीं। तत्त्वज्ञान और अध्यात्मवादको इससे कोई भी गर्ज नहीं होती। वह इन बातोंकी ओर दृष्टि डालना फिजूल समझता है। बल्कि यों कहिये कि वह ऐसा करनेको पतन एवं पथभ्रष्टताकी निशानी मानता है। वह यह बालकी खाल क्यों खींचने लगा? वह तो इतना ही कहता है कि जब आत्मा निर्लेप है, अकर्त्ता है, जब उसमें कर्म हुई नहीं, तो फिर कर्मका फल वह क्यों भोगे? कर्मका फल उसके निकट आये भी क्यों? आनेकी हिम्मत भी क्यों करे? हाँ, एक ही बात है कि मनमें—दिल-दिमागमें—उसकी कल्पना कर ली जाय तो गड़बड़ हो सकती है, होती है।

इसीलिये उसने उसी चीजको अन्तमें रोक दिया है और साफ कह दिया है कि खबरदार, दिल-दिमागकी गम्भीरता (serenity) बिगडने न पाये। फिर मजाल किसकी कि फँसा सके? ऐसी दशामें जहाँ आगका सम्बन्ध हो नही वहाँ उसकी लपट, गर्मी या आँच आयेगी कैसे?

और ३९वें श्लोक वाले शब्द? यह तो कुछ और ही कहते हैं। वह तो कहते है कि "ऐसा होनेपर कर्मोमे जो बन्धकता या बाँधने और फँसानेकी शक्ति है वही खत्म हो जायगी।" मतलब यह है कि ये शब्द आत्मा के अकर्त्तृत्व आदिका खयाल न करके कर्मके स्वरूपका ही खयाल करते है—इनकी नजर उसी तरफ है। वह कर्मोमे फल देनेकी ताकत और शक्तिको मानके ही ऐसा उपाय सुझाते है कि वह शक्ति बेकार हो जाय, मारी जाय। जिस तरह भुने जानेपर बीजमे अंकुर पैदा करनेकी ताकत नही रहती, खत्म हो जाती है, ठीक उसी तरह कर्मको भी भून देनेकी बात ये वचन बताते हे। आत्मा निर्गुण हे, कर्त्तृत्वशून्य है, निर्लेप या कि सगुण, कर्त्तृत्वयुक्त और लिपटनेवाली-लिपटानेवाली, इस खोद विनोदमे वे नही पडते। इस गहरे पानीमे वे उतरना नही चाहते—उतरते नही। आत्मा चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह करनेवाली ही क्यो न हो, फिर भी ऐसी युक्ति की जा सकती है कि कर्म ही भून दिये जायँ और सब पंवारा ही खत्म हो जाय। अतएव यही कहना ठीक है कि इन वचनोंकी दृष्टि पहलेवालोंसे ठीक उलटी दिशामे है—दूसरे किनारे हे। यदि इसी श्लोकके बादका ४०वाँ श्लोक देखे तो वहाँ भी "प्रत्यवायो न विद्यते"—"पाप होता ही नही रहता ही नहीं"—ऐसा ही लिखा है। इससे भी यही बात निकलती है कि योगवाली हिकमत या योगकी जानकारीसे पाप पैदा होने पाता ही नही—उसका अस्तित्व ही नही रह जाता—उसकी सत्ता होने ही नही पाती। फिर वह जायेगा किसके निकट? जो चीज हुई नही, उससे किसीको खतरा ही क्या। इस प्रकार सांख्य और योगकी विशेषता सिद्ध हो जाती हे।

दूसरी बात भी हे। ३८वे श्लोकमे युद्धरूप क्रिया या कामके बारेमे ममत्वबुद्धिकी बात नहीं कही गई है। किन्तु उसके फलोंके ही बारेमे। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुख जो युद्धके परिणामस्वरूप ही क्रमशः एकके बाद दीगर होते हैं और उन्हीके असरसे दिल-दिमागको बचा रखनेको कहा है। मगर ४८वे श्लोकमे जो सिद्धि-असिद्धिमें समता या एकरसताकी बात कही गई है, वह कर्मोंके ही बारेमे है और प्रकृतमें युद्धको ही लेकर है। लड़ाई अन्ततक हो या बीचमे ही रह जाय, खत्म हो जाय इस बातकी पर्वा कतई न हो यही योग है। इस बातका दिलपर जरा भी असर न हो, यही चीज वहाँ कही गई

है। इस प्रकार जहाँ पहली खूबीमें कर्मको भूननेकी बात है, तहाँ इसमें उसका कोई भी प्रभाव दिलपर न आने देनेकी बात है। इसीके फलस्वरूप कर्म भूने जायेंगे। यह बुनियादी चीजको ही पकडता है। कर्मोका ही असर न होने दिया जाय तो योग हो गया और उनके नतीजोंको ही पासमें फटकने न दिया गया तो सांख्य हो गया।

तीसरी बात भी है जिससे योगका निरूपण अलग किया गया है। यह ठीक है कि कर्मकी सिद्धि-असिद्धिकी लापर्वाहीको ही योग कहते है। मगर सवाल तो यह है कि वह हो क्योंकर? जरा देखिये तो सही यह कितनी कठिन चीज है। फलकी इच्छाको स्थान न देना, फलकी ओरसे लापर्वा होना, कर्ममें आसक्तिका न होना ओर कर्मत्याग मे आग्रह न रहना—ये चार चीजें बताई गई है। इनके बताने और इनपर अमल करनेका सीधा मतलब यही है कि हमारी दृष्टि कर्मके ऊपर इस हद्‌तक बंध गई हो, हमारे मनकी एकाग्रता (concentration) कर्मके ऊपर इस तरह पूर्ण और इतनी पक्की हो गई हो कि वह फलेच्छा और फलकी तो बात ही जाने दीजिये, वह तो जुदी चीजें है, कर्मके त्याग और उसके करनेकी ओर भी न जा सके! क्या कमाल है! कैसी लासानी एकाग्रताकी बात है! किस अलौकिक मनोयोगका निरूपण है! मन कर्ममें इतना बँधा है और उस बन्धनकी सीमा इतनी संकुचित एवं निर्धारित है कि कर्मके आगे जो उसका करना या न करना है उसे भी वह देख नही सकता, वहाँ भी वह जा नहीं सकता, वहाँ जानेकी भी उसे इजाजत नहीं है! वहाँ भी उसके लिये 'नो ऐडमिशन' (No admission) ही है। जो बात दिमागमें आनेवाली नहीं जँचती वही लिखी गई प्रतीत होती है! क्या खूब!

यह तो ऐसा ही है जैसाकि छुरेकी धारपर होकर गुजरना और फिर भी पाँवको कटनेसे बाल-बाल बचा लेना! यह तो सबके लिए संभव नहीं। यह तो कोई बिरला ही माईका लाल कर सकता है! इस अनोखी दैवी कलाका पारंगत तो शायद ही कोई होता है, हो सकता है। ऐसा वही हो सकता है जो प्राणायामकी क्रियासे समूचे शरीरको तौलके ऐसा ऊपर—इतना ऊपर—उठा ले कि पावोंका केवल सम्बन्ध ही उस धारपर हो और शरीरका जरा भी भार उसपर न होने पाये। शरीर न तो इतना ऊँचा उठ जाय कि छुरेसे सम्बन्ध ही टूट जाय, क्योंकि तब तो उसकी धारपरका चलना कहा जायगा नहीं! और न ऐसा ही उठे कि धारपर जरा भी—नाममात्रको भी—उसका बोझ पडे, क्योंकि तब तो पाँव ही कट जायगा! फिर भी पाँवके द्वारा शरीरका सम्बन्ध भी धारसे बना

रहे ! उफ, गजबको करामात है ! ठीक यही करामात कर्मके बारेमें भी करनेकी बात ४८वें श्लोकमें कही गई है !

प्रश्न होता है कि यह हो कैसे ? यहींपर मदद करने और इस महान संकटसे उबारनेके लिए सांख्य या अध्यात्मज्ञान आ जाता है। ठीक, छुरेपर जुटे शरीरकी ही तरह यहाँ मनको बहुत ऊँचा उठना होगा, ऊँचा उठाना होगा। वह इतना ऊपर चला जाय कि कर्मके अलावे बाकी सभी चीजें अनन्त दूरीपर—बहुत नीचे दूर—पड़ जायँ। उन सबोंसे मन बेलाग हो जाय। मगर उसीके साथ कर्मसे सम्बन्ध भी जुटा रहे—वह टूटने न पाये। जबतक वह अध्यात्मदर्शन और तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके फलस्वरूप बड़ी ऊँचाई (high plane) पर चला नहीं जाता, खामख्वा गड़बड़ी होगी और खतरा बराबर बना रहेगा कि कभी इधर ओर कभी उधर जाय। मनकी इसी दशाको—इसी उँचाईको—चौथे अध्यायके "गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः" (२३) श्लोकमें "ज्ञानावस्थितचेताः" या ज्ञानावस्थित चित्त कहा है। वह ज्ञानमें डूब जाता है। तीसरे अध्यायके "यस्त्वात्मरतिरेव" श्लोकमें इसे ही "आत्मरतिः" और "आत्मतृप्तः" कहा है। जो अमृतमें डूबा है उसे शर्बतकी पर्वा क्यों हो ? यही बात यहाँ है। जो आत्मानन्दमें मस्त है, उसीमें तृप्त है, उसीमें डूबा है वह इधर-उधर क्यों जाय ? फिर भी एक ओर—सिर्फ कर्मकी ओर—जाना भी है ! यही तो निरालापन है ! गीतामें इस हालतका वर्णन बार-बार आया है। यही ज्ञानकी असली अवस्था है और इसीकी मददसे मन कर्मके आगे-पीछे बाल भर भी नहीं बहकेगा। नहीं तो वहीं कट जायगा ! यही योग है जिसमें आत्मज्ञान मददगार है।

योगमें आत्मज्ञान निहायत जरूरी है और उसीके फलस्वरूप जो सिर्फ कर्मतक ही मन पहुँचने दिया जाता है इसी युक्ति, इसी हिकमत और इसी कलाकी आगे भी प्रशंसा की गई है। दरअसल योगमें तीन चीजें हैं। एक तो कर्म है। दूसरी उसीतक मन या बुद्धिकी पहुँच और तीसरी चीज है इसीके लिये जरूरी तथा आधारभूत आत्मदर्शन या आत्माका साक्षात्कार। इनमें कर्मके सिवाय शेष दोको ही एक साथ मिलाके योगके सम्बन्धकी बुद्धि, जानकारी या कला कहा गया है "बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु" (२।३९) में। इन दोनोंमें भी असली चीज वही आत्मज्ञान है। क्योंकि उसीके बलपर ऊँचे उठके मन कर्मसे आगे जा नहीं सकता है। इसीलिये "दूरेण ह्यवरं कर्म" (२।४९) और "बुद्धियुक्तो जहातीह" (२।५०) श्लोकों में कह दिया है कि "इस बुद्धि या ज्ञानके योग यानी सम्बन्धको हटा देने पर बचा बचाया कर्म तो रद्दी चीज है, बहुत बुरा है। इसलिये कर्मसे पैदा होनेवाले अनर्थोंसे बचनेके लिये इसी बुद्धिकी शरण जाओ। इसके बिना तो

फलकी आकांक्षा आदिके चलते दुर्दशा होती है।" "विपरीत इसके यदि वह इस बुद्धिसे युक्त—इससे सम्बन्ध—हो जाय, तो पुण्य-पाप दोनोंसे ही उसका पिंड छूट जाता है। अतएव योगकी ही प्राप्तिके लिये कोशिश करो वही तो कर्मकी कला, हिकमत या विशेषज्ञता है।"

यहाँ ५०वें श्लोकमें जो पुण्य-पापसे पिंड छूटने की बात कही गई है वह ठीक वैसी ही प्रतीत होती है जैसी आत्मज्ञानके फलस्वरूप ३८वें श्लोकमें बताई गई है। इससे यह खयाल हो सकता है कि ज्ञान और योगमें कोई फर्क नहीं है। मगर इसीके बादके ५१वें श्लोकमें जो 'हि' शब्द दिया गया है और जिसका अर्थ है 'क्योंकि', उससे पता लगता है कि वह श्लोक पहलेके मतलबको स्पष्ट करता है। पहलेमें जो कुछ इस तरहके शककी गुन्जाइश है उसे खुद समझके ही वह इस-पर और भी प्रकाश डालता है। अब जरा "कर्मजं बुद्धियुक्ता हि" आदि उस श्लोकका अर्थ देखिये। वह यों है, "क्योंकि बुद्धियुक्त (बुद्धिवाले) मनीषी लोग कर्मोंसे पैदा होनेवाले फलोंको छोड़के जन्ममरण रूप बन्धनसे छुटकारा पा जाते और निरुपद्रव स्थानमें पहुंच जाते हैं।" पहले श्लोकोंमें जो पुण्य-पापके त्यागने या उनसे पिंड छूटनेकी बात कही गई है ठीक उसीका उल्लेख इस श्लोकमें "कर्मोंसे पैदा होनेवाले फलोंको छोड़के" इन शब्दोंमें किया है और कहा है कि जन्ममरण रूप बन्धनसे वे छूट जाते हैं। पहले श्लोकके "बुद्धियुक्ताः" की ही जगह यहाँ "मनीषिण" कहा है।

अब यदि इन सभी बातोंको मिलाके गौर करें तो पता चलेगा कि भूमिका वाले ३९, ४० श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है कि योगके करते कर्मों की बंधन-शक्ति खत्म हो जाती है और पुण्य-पाप होने पाते ही नहीं, वही बात यहाँ सम-र्थनके रूपमें दुहराई गई है। इसीलिये श्लोकमें 'बन्ध' शब्द भी आया है। असलियत यह है कि कर्मोंमें ही जो मन बुद्धि जम गई है उसका परिणाम यह होता है कि बन्धनसे छुटकारा मिलता है। कर्मसे हटके यकायक बन्धनपर जा पहुँचे और उसे खत्म किया! कर्म और बन्धनके बीचमें कई सीढ़ियाँ पड़ती हैं। योग-वाले उन्हें फाँद जाते हैं! कर्मका तो सबसे पहले तत्काल फल होना ही है जय-पराजय आदिके रूपमें। फिर उसके बाद दूसरा फल आता है जिसे पुण्य-पाप कहते हैं। तब कहीं जाके बन्धन आता है उन्हीं पुण्य-पापोंके फलस्वरूप। योगके चलते कर्म और बन्धनके बीचके इन दो फलों—दो सीढ़ियोंसे सबका पड़ना ही नहीं। उनसे कोई भी नाता नहीं होता—वह होते ही नहीं। फिर बन्धन यानी जन्ममरण कैसा? सांख्य या ज्ञानमें भी बन्धन तो होता नहीं। मगर बीचके दो फल होते हैं जरूर; हालांकि आत्मासे उनका कोई भी नाता न होनेके कारण वे

उसमें सटते नहीं । क्योंकि कर्म ही जब उसमें सटता नहीं, है नहीं, तो उसके फल कैसे आयेंगे ? विपरीत इसके योगमें कर्म आत्मामें आये और सटे तो क्या और न सटे तो क्या ? वहाँ इससे कोई मतलब हई नहीं । मगर बीचवाले फल नहीं सटते यह पक्का है । पहले पक्षमे पक्कापक्की कर्म ही नही सटता है और इसीसे ये फल नहीं सटते । मगर इस पक्षमे पक्कापक्की यही नहीं सटते हैं । फिर कर्म सटके भी क्या करेगा ? दोनोंका यही मौलिक भेद—बुनियादी फर्क—यहाँ साफ हो जाता है ।

व्यवसायात्मक बुद्धि

अब एक ही बात इस योगके मुतल्लिक रह जाती है जिसका जिक्र "व्यवसायात्मिका" आदि ४१वें श्लोकमे है । उसीका स्पष्टीकरण आगेके ४२-४४ श्लोकोंमें भी किया गया है, बल्कि प्रकारान्तरसे ४५-४६ मे भी । इन श्लोकोंमे कहा गया है कि योगवाली बुद्धि एक ही होती है, एक ही प्रकारकी होती है और होती है वह निश्चित, निश्चयात्मक (definite) । उसमें सन्देह, आगा-पीछा या अनेकता की गुंजाइश होती ही नही । विपरीत इसके जो योगसे अलग हैं, जिनका ताल्लुक योगमे हई नही उनकी बुद्धियाँ बहुत होती है और एक एककी अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं । वे अनिश्चित तो होती ही हैं । कहनेका मतलब यह है कि जहाँ योगीके खयाल पक्के और एक ही तरहके होते हैं तहाँ दूसरोके अनेक तरहके, कच्चे और संदिग्ध होते है ।

बात सही भी है । पहले जो कुछ योगके बारेमे कहा गया है उसमे यह बात इतनी साफ हो जाती है कि समझनेमें जरा भी दिक्कत नही होती, जब यह कह दिया गया है कि सिवाय कर्मके उसके करने, न करने, छूटने, न छूटने, फल, उसकी इच्छा, कर्मकी जिद्द या उसके न करनेकी जिद्द—इनमें किसी भी—की तरफ मन या बुद्धिको जानेका हक नहीं है, जाने देना नहीं चाहिये, जाने दिया जाता ही नहीं या यों कहिये कि जानेकी गुन्जाइश ही नही रह जाती, तो फिर बुद्धि या खयालका एक ओर निश्चित होना अवश्यंभावी है । पहलेसे ही निश्चित एक ही चीज—कर्म—मे जब वह डिगने पाता नही, तो फिर गडबड़की गुन्जाइश हो कैसे और अनेकता या सन्देह इसमें घुसने भी पाये कैसे ?

मगर जहाँ यह बात नहीं है और खयालको—बुद्धि या मनको—आजादी और छूट है कि फलोंकी ओर दौड़े, सो भी पहले से निश्चित फलोंकी ओर नहीं, किन्तु मनमें कल्पित फलोंको ओर, वह बुद्धि तो हजार ढंगकी खामखा होगी ही । एक तो कर्मोंके फलोंकी ही तादाद निश्चित है नही । तिसपर तुर्रा यह कि कर्म करनेवाले रह-रहके अपनी-अपनी भावनाके अनुसार फलोंके बारेमे हजार तरहकी

कल्पनायें-हजार तरहके खयाल—करते रहते हैं। यही कारण है कि फल और फलकी इच्छा या कल्पनाको जुद-जुदा रखा है। क्योंकि कर्मोंके फल तो पहलेसे निर्धारित या बने बनाये होते नहीं। वे तो नये सिरेसे बनते है, बनाये जाते हैं। हर आदमी चाहता है कि एक ही कर्मका फल अपने-अपने मनके अनुसार जुदो-जुदो किस्मका हो। यह भी होता है कि एक ही आदमी खुद रह-रहके अपने खयाल फलोंके बारेमें बदलता रहता है। परिस्थिति उसे मजबूर करती है। एक ही युद्धके फलोंकी कल्पना हर लडनेवाले जुदी-जुदी करते है। साथ ही एक आदमीकी जो कल्पना शुरू में होती है मध्य या अन्तमें वह बदल जाती है, ठीक उसी हिसाबमे जिस हिसाबसे उसे अपनी शक्ति और मौकेका अन्दाज लगता है। इसीके साथ यदि कर्मोंके करने न करने या उनके छोड़ने न छोड़नेके हठोंकी बात मिला दे, तब तो बुद्धि और खयालोंके परिवारकी अपार वृद्धि हो जाती है। वह पक्की चीज तो होती ही नहीं। कभी कुछ खयाल तो कभी कुछ। एक ही फलके विस्तारका रूप भी विभिन्न होता है।

मगर योगमे तो सारा झमेला ही खत्म रहता है। वहाँ तो "न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी" वाली बात होती है। इसीलिये उसकी महत्ता बताई गई है। ५२से लेकर ७२ तक—अध्यायके अन्त तक—के श्लोकोंमें उसी बुद्धिका विशद चित्र खींचा गया है। वह कितनी कठिन है दुःसाध्य है यह भी बताया गया है। मस्तीकी अवस्था ही तो ठहरी आखिर। इसीलिये तीसरे अध्यायके पहले ही श्लोकमे उसी बुद्धिकी यह महिमा जानके अर्जुनने कर्मके झमेलोंसे भागने और उस बुद्धिका ही सहारा लेनेकी इच्छा जाहिर की है। मगर यह तो ठीक ऐसी ही है जैसी कि किसीकी यकायक गुरु बन जानेकी ही इच्छा।

२. गीताधर्म और मार्क्सवाद

१. गीता धर्म

गीताको अनेक महत्वपूर्ण शिक्षाओ और बातोंपर अभी प्रकाश डालना बाकी ही है। मगर यह काम करनेके पहले उसके एक बहुत ही अपूर्व पहलूपर कुछ विस्तृत विचार कर लेना जरूरी है। गीताकी कई अपनी निजी बातोमे एक यह भी है। हालाँकि जहाँतक हमे ज्ञात है, इसपर अबतक लोगोंकी वैसी दृष्टि नहीं पडी है जैसी चाहिये। यही कारण है कि यह चीज लोगोंके सामने खूब सफाईके साथ आई न सकी है। उसीके सिलसिलेमे गीताकी दो-एक और भी बातें आ जाती है। उनका विचार भी इसी प्रसंगमे हो जायगा। सबसे बडी बात यह है कि जिस बातका हम यहाँ विचार करने चले है उसका बहुत कुछ ताल्लुक, या यों कहिये कि बहुत कुछ मेलजोल, एक आधुनिक वैज्ञानिक मतवादसे भी हो जाता है—उस मतवादमे जिसकी छाप आज समस्त संसारपर पडी है और जिसे हम मार्क्सवाद कहते है। यह कहनेसे हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नहीं है कि गीतामे मार्क्सवादका प्रतिपादन या उसका आभास है। यह बात नही है। हमारे कहनेका तो मतलब सिर्फ इतना ही है कि मार्क्सवादकी दो-एक महत्वपूर्ण बाते गीताधर्ममे मिल जाती है और गीताका मार्क्सवादके साथ विरोध नहीं हो सकता, जहाँतक गीताधर्मकी व्यावहारिकतासे ताल्लुक है। यों तो गीतामे ईश्वर, कर्मवाद आदिकी छाप लगी हुई है। मगर उसमे भी खूबी यही है कि उसका नास्तिकवादसे विरोध नहीं है और यही है गीताकी सबसे बडी-खूबी, सबसे बडी महत्ता। यही कारण है कि हमे गीताधर्मको सार्वभौम धर्म—सारे संसारका धर्म—मानने और कहनेमे जरा भी हिचक नही होती।

कर्मका पचड़ा

हाँ, तो जरा उसी बातको देखें कि वह कौनसी है। हमने शुरूमे ही उसकी तरफ श्रद्धा, मानसिक भावना आदिके नाममे इशारा भी किया है और कहा है कि वही चीज कर्मके बाहरी रूपको सोलहों आना पलट देती है—उसे एक निराले और अपने मनके ही साँचेमे ढाल देती है। बात यह है कि सोलहवें अध्यायके आखिरी दो—२३ और २४—श्लोकोंमे "यः शास्त्रविधि-

मुत्सृज्य" आदि शब्दोंके द्वारा ऐसा कहा गया है कि कोई भी काम—क्रिया या अमल—उसके सम्बन्धमें बने अनुशासन और पद्धतिविधान—शास्त्र—के ही अनुसार किया जाना चाहिये। इसीलिये जो ऐसा नहीं करता है उसका न तो वह काम पूरा होता है, न उसे चैन मिलता है और न मरनेके बाद या पीछे उसका कल्याण ही होता है। बात भी ठीक ही है। हरेक कामकी निराली तरकीबें और प्रक्रियायें होती हैं, उसे करनेके नियम-कायदे होते हैं और बिगड़ने-बननेकी हालतमें पुरस्कार और दण्ड—अनुशासन—भी होते हैं। फिर चाहे वह काम लौकिक हो या पारलौकिक, बहुत बड़ा तथा अहम हो या मामूली। इसलिये उसके विधि-विधानको जानना और तदनुसार ही अमल करना जरूरी हो जाता है। जो लोग ऐसा नही करते उन्हें परीशानी तो होती ही है, उनका काम भी ठीक-ठीक हो नहीं पाता और पीछे जानें क्या-क्या नतीजे भुगतने पड़ते हैं। इसलिये गीताका यह आदेश—उसकी यह चेतावनी—बहुत ही मौजूँ है।

मगर दरअसल यह बात उतनी आसान और सीधी नहीं है जितनी यकायक मालूम पड़ती है। गीताके ही अनुसार "कर्मोंकी जानकारी, उनकी माया, गहन हैं, बहुत ही कठिन है"—"गहना कर्मणो गतिः" (४।१७)। फलतः जब हम कर्मोंके घोर और दुष्प्रवेश जंगलमें घुसते हैं तो यही नहीं कि रास्ता नहीं मिल पाता और भटक जाते हैं, बल्कि काँटोंमें बिंध जाते, खूँखार जानवरोंके शिकार बन जाते और चोर-बदमाशोंके शिकंजेमें भी फँस जाते हैं! एक तो कर्म योंही ठहरे अनन्त। फिर उनकी जानकारी ठहरी उनसे भी अनन्त। तिसपर भी हरेकके ब्योरे होते ही हैं। उन्हें जाननेका अवसर सबको मिलता भी नहीं। ऐसी दशामें हो क्या? क्या लोग कर्मोंसे विमुख रहें? क्योंकि अधिकांश लोग तो ऐसे ही होंगे। मगर तब तो संसारका काम ही रुक जायगा। आखिर यह कैसे और क्यों कहा जाय कि किस कामके विधि-विधानको—शास्त्रविधानको—बखूबी जाननेकी जरूरत है और किसकी नहीं? सभी तो काम ही—कर्म ही—ठहरे और "गहना कर्मणो गतिः" तो सभीपर समान रूपसे लागू है। यदि भीतर घुसके देखें तो बात भी ऐसी ही है। अतः "को बड़ छोट कहत अपराधू!" इसीलिये यही मानना होगा कि ऊपर चढ़के देखा, घर घर एकै लेखा।" और अगर इस दिक्कतसे बचने और दुनियाका काम चलानेके लिये लोग योंही कर्मोंमें लग जायँ, तो उनकी हालत क्या होगी? उनकी गति तो अभी-अभी कह चुके हैं। यही खयाल करके अर्जुन जैसे सूक्ष्मदर्शीने सत्रहवें अध्यायके पहले ही श्लोकमें चटपट यही बात पूछ ही तो दी। कृष्णने आगेके दो और तीन श्लोकोंमें उसका उत्तर देके उसीका विवरण समूचे अध्यायमें किया है।

इस बातपर जरा हम और गौर करें। किसी भी कामके करनेके लिये रास्ते बतानेवाले, दोई तरहके हो सकते हैं। एक तो जीवित मनुष्य और दूसरे उसके बारेमें लिखी लिखाई पुस्तकें जिन्हें शास्त्र कहते हैं। अब अगर जिन्दा आदमियों को लेते है तो इतनी लम्बी दुनियामें वे ख्वामखा होंगे बहुत ज्यादा। एक-दो या दस-बीससे तो काम चलनेका नहीं। और जब दो आदमियोंके भी सभी खयाल और विचार नहीं मिलते, तो फिर हजारोंका क्या कहना? ऐसा भी होता है कि एक ही आदमीके विचार समय पाके एक ही बातके सम्बन्धमें बदलते रहते हैं और कभी-कभी तो तीन-तीन चार-चार पलटे खा जाते हैं। तब अनेकोंकी बात ही क्या? इसीको कहते हैं "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना" या "अपनी अपनी डफली, अपनी अपनी गीत"। महाभारत के वनपर्व के युधिष्ठिर-यक्ष सम्वाद में यही बात स्वीकार की गई है कि "एक मुनि ऋषि हों तो उनकी बात मानके काम चले। यहाँ तो अनन्त हैं—अनेक हैं "नैकोऋषिर्यस्यवचः प्रमाणम्", (३१२ + ११५)। आदमी की यह भी हालत होती है कि उसका दिमाग हमेशा स्वस्थ और एक हालतमें रहता ही नहीं। तो कब उसमें बात जानी जाय, कब नहीं? फिर दूर-वर्तीको क्या मालूम कि कब उसका दिल-दिमाग ठीक है और उसने जब कहा था तब ठीक था या नहीं? और अगर कहीं देर तक उसके दिमागमें गड़बड़ी रही तो क्या हो? दुनियाके काम तो उसकी गड़बड़ी के लिये रुके रहेंगे नहीं।

और अगर इस दिक्कतसे बचनेके लिये लिखित वचनों तथा आदेशोंकी शरण लें, तो दूसरी पहेली खड़ी हो जाती है। जिन्दा आदमी तो साफ कह-सुन देता है और अगर कोई बात समझमें न आये तो उससे पूछके सफाई भी कर ले सकते हैं। मगर मरेका क्या हो? आखिर पुस्तकों और शास्त्रोंके वचन तो मरोंके ही हैं न? वे खुद तो बोल नहीं सकते। अगर किसी वचनका मतलब समझमें न आये या उलटा ही समझमें आये तो क्या करें? किससे पूछें? यदि उसकी टीका-टिप्पणी देखें तो और भी गजब हो। टीकाकार तो आखिर दूसरे ही होंगे न? फिर क्या मालूम कि उनने लेखकका अभिप्राय ठीक समझा या गलत? यदि खुद लेखकने ही टीका की हो तो बात दूसरी है। मगर ऐसा होता तो शायद ही है। और अगर टीकामें भी कहीं शक हो या वहीं कहीं समझमें न आये तो? आखिर वचन ही तो वह भी ठहरी और जब पहले या मूल के वचनों में ही सन्देह की गुंजाइश है तो बाद वाले (तूल या टीका के) वचनोंमें भी क्यों न होगी? यदि लेखककी ही बातें सुनके ही किसीने टीका लिखी और मौके-मौके से उनसे पूछ भी लिया था, तो भी इसका क्या सबूत है कि प्रश्नोंका उत्तर ठीक ही मिला या उसने उसे ठीक ही समझा? पूछने और उत्तर देने वालोंका दिमाग बराबर ही ठीक रहा और उसमें कभी गड़बड़ी न रही, यह भी कौन कहे?

कहते हैं कि पाणिनीय व्याकरणके सूत्रोपर जो पतञ्जलिका महाभाष्य है उसकी टीका सबसे पहले कैयटने लिखी। उनके बारेमे कहा जाता है कि बरसों यह हालत रही कि कोई बात वह एक दिन लिखते थे उसीको अगले दिन गलत बताके काट देते और फिर नये सिरेसे लिखते थे। तीसरे दिन उसे भी काटके कुछ और ही लिखते! यही हालत बराबर रही! नतीजा यह हुआ कि हाथीके नहानेकी-सी इस हालतसे उन्हे सख्त अफसोस हुआ। वे खिन्न हो गये। नौबत यहाँतक पहुँची कि मरणासन्न दीखने लगे। उसपर उनकी माँने सारी बाते जानके किसी अपने मित्रको बुलाया और उपाय पूछा। उसने रास्ता सुझाया कि कैयटको रातमे दही और उड़द खिलाया जाय, तो इनकी बुद्धि मन्द हो जायगी। फिर तो जो भी एक बार लिखेंगे उसकी भूल शायद ही सूझे और इस प्रकार जिस कामके पूरे न होनेकी चिन्तामे वे मर रहे हैं वह पूर्ण हो जायगा। यही किया गया और धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। उधर टीका लिखनेमे प्रगति भी काफी हुई। जब कुछ दिनो बाद किसी मित्रने उनसे खुद उनकी हालत पूछी तो उनने उत्तर दिया कि "अब क्या पूछना है? अब तो बुद्धिको ही चुरा लेनेवाले उड़द खा रहा हूँ"—"अधुना शेमुषीमोषान्माषानश्नामि नित्यश:"! यही बात औरोकी भी क्यो न होगी? फिर तो यदि रोज ही शास्त्र बदले तो?

शास्त्रो और पुस्तकोकी क्या बात कही जाय? एक-दो या दस-बीस हो तब न? यहा तो जितने मुनि उतने मत हैं—जितने लेखक उनसे कई गुना किताबे हैं। हिन्दुओके ही धरमे एक व्यासके नामसे जाने सैकडो पोथियां हैं। खूबी तो यह कि वह भी एक दूसरेसे नही मिलती है! उनमे भी परस्पर विरोधी बात सैकडो है, हजारो है। तब किसे माने किसे न माने? और जब एककी ही लिखी बातोकी यह हालत है, तो विभिन्न लेखकोका खुदा ही हाफिज! उनके वचनोमे परस्पर विरोध होना तो अनिवार्य है! भिन्न-भिन्न दिमागोसे निकले विचार एक हो तो कैसे? सभी दिमाग एक हो तो काम चले। मगर यह तो अनहोनी बात ठहरी। फलत. शास्त्राके द्वारा किसी कामके भले बुरेपनका निर्णय भी वैसा ही समझिये।

यदि चुनावके जरिये राय लेके जो बहुमतसे तय पाये वही ठीक माना जाय तब तो और भी गडबडी होगी। समूचे संसारका मत तो मिली नही सकता। एक देश या प्रान्तकी भी यही हालत है। उलटा-सीधा समझानेवाले तो होते ही है। उसीसे गडबड़ होती है। जोई लोग एक बार एक तरहकी राय देते है वही औरोके समझानेपर दूसरी बार बदल दे सकते है। उन बेचारोका इसमे कसूर भी क्या? उन्हे समझ हो तब न? और अगर यही समझ हो जाय तो फिर शास्त्रकी जरूरत ही क्यो हो? समझदारोके लिये तो वह चाहिए नही। सबोंको समझदार

बना देना तो असंभव भी है। समझकी कोई नाप-जोख भी तो नहीं है कि वह कितनी चाहिये, कैसी चाहिये। इसका पता भी कैसे लगेगा? और अगर यही बात हो जाय तो गलत प्रचारकी महिमा ही चली जाय। एक ही मुकदमेमें ऐसा देखा जाता है कि वह जितने न्यायाधीशोंके सामने जाता है उसका उतने ही ढंगका मतलब लगता है। इसीलिए महाभारतवाले उक्त वनपर्वके वचनमें साफ लिख दिया है कि "तर्क-दलीलका तो ठिकाना ही नहीं, वह तो दिमागके ही मुताबिक बदलता है। वेदशास्त्रके वचन तो अनेक तरहके हैं—एक ही बातके लिये परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं। ऋषिमुनि तो एक ठहरे नहीं कि उनकी बातसे काम चल जाय। नतीजा यह है कि धर्मकी हकीकत अँधेरी गुफाके भीतर बन्द चीज जैसी हो गई है! तो फिर उपाय क्या? बड़े बूढ़े जिस रास्ते गये हों या पंचोंने जो तय किया हो वैसी ही बात करके काम निकालना चाहिये"—"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

श्रद्धाका स्थान

मगर गीताका यह उत्तर नहीं है। काम चलानेकी या गोल-मोल बातें गीताकी शानके खिलाफ है। उसे तो साफ और बेलाग बोलना है। इसीलिये वह कहती है कि "त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (१७।२-३)। इसका आशय है, "आदमियोंकी श्रद्धा स्वभावतः तीन ही तरहकी होती है, सात्त्विक, राजस और तामस। इस श्रद्धाकी हालत सुनिये। सत्त्वगुणके तारतम्यके हिसाबसे ही सबोंकी श्रद्धा होती है और आदमीको तो श्रद्धामय ही समझना होगा। इसीलिये जिसकी श्रद्धा जैसी हो वह वैसा ही समझा जाय।" इसका निचोड़ यह है कि जिसका हृदय सत्त्व प्रधान है—जिसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है—वह सात्त्विक आदमी है। जिसमें सत्त्व दबा हुआ है और रजोगुणकी प्रधानता है वह राजस है। जिसमे सत्त्वके बहुत ही अल्प होनेके साथ ही रजोगुण भी दबा है और तमोगुण ही प्रधान है वही तामसी मनुष्य होता है। और जैसा मनुष्य वैसी श्रद्धा या जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य, यही सिद्धान्त माननीय होनेके कारण जैसी ही श्रद्धाके साथ काम किया जायगा वैसा ही भला या बुरा होगा। सात्त्विक श्रद्धावाला बहुत अच्छा, राजसवाला बुरा और तामसवाला बहुत ही खराब समझा जाना चाहिए।

इसका मतलब समझना होगा। हरेक कर्मके करनेवालेका वश परिस्थितिपर तो होता नहीं कि वह विद्वान हो, विद्वानोंके बीचमें ही रहे, पढ़ने-लिखने की पूरी

सामग्री उसे मिले, उसकी बुद्धि खूब ही कुशाग्र हो, वह भूल कभी करी न सके। ऐसा होनेपर वह मनुष्य ही क्यों हो ? और उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका झमेला ही क्यों उठे ? वह तो सब कुछ जानता ही है। एक बात और। वह शास्त्रोंके वचनोंके अनुसार ही काम करे, यह तो ठीक है। मगर सवाल तो यह है न, कि उन वचनोंका अर्थ वह समझे कैसे ? किसकी बुद्धिसे समझे ? कल्पना कीजिये कि मनुने एक वचन कर्त्तव्यके बारेमे लिखा है जिसका अर्थ समझना जरूरी है। क्योंकि बिना अर्थ जाने अमल होगा कैसे ? तो वह अर्थ मनुकी ही बुद्धिसे समझा जाय या करनेवालेकी अपनी बुद्धिसे ? यदि पहली बात हो, तो वह ठीक-ठीक समझा तो जा सकता है सही, इसमें शक नही। मगर करनेवालेके पास मनुकी बुद्धि है कहाँ ? वह तो मनुके ही पास थी और उन्हीके साथ ही चली गई।

अब यदि यह कहे कि करनेवाला अपनी ही बुद्धिसे मनुके वचनका भाव समझे, क्योंकि मनुकी बुद्धि उसमें होनेसे तो वह भी खुद मनु बन जायगा और समझनेकी जरूरत उसे रहेगी ही नही; तो दिक्कत यह होती है कि अपनी बुद्धिसे मनुका आशय कैसे समझे ? जो चीज मनुकी बुद्धिमे समाई वही वैसे ही उसकी बुद्धिमें तभी समा सकती है जब उसे भी मनु जैसी ही बुद्धि हो। मगर यह तो असम्भव है ऐसा कही चुके है। सभी लोग मनु कैसे बन जायेगे ? फलतः जैसा समझेगा गलत या सही वैसा ही ठीक होगा। दूसरा उपाय है नही। फिर तो वैसा ही गलत या सही करेगा भी। किया भी आखिर क्या जाय ? मगर तब शास्त्रकी बातकी कीमत क्या रही ? एक ही शास्त्र-वचनके हजार अर्थ हो सकते है अपनी-अपनी समझके अनुसार और यह एक खासा तमाशा हो जायगा।

एक बात और भी है। यदि मनुकी ही समझके अनुसार चलना हो तो बुरे-भलेका दोष-गुण मनुपर न जाके करनेवालेपर क्यो जाय ? वह अपनी समझसे तो कुछ करता नही। उसकी अपनी समझको तो कर्म-अकर्मके सम्बन्धमे कोई स्थान हुई नही। उसे मनुका आशय ठीक-ठीक समझना जो है। और अगर यह बात नही है तो शास्त्रके आदेश और विधि-विधानका प्रयोजन ही क्या है ? यदि मनुके माथे दोष-गुण न लदे इस खयालसे करनेवालेको अपनी ही बुद्धिसे समझना और करना है तब शास्त्र बेकार है। यह ठीक है कि जिसे अधिकार दिया गया है उसीपर जवाबदेही आती है। मगर यह जवाबदेही तो बिना शास्त्रके भी आई जायगी। चाहे शास्त्रकी बाते अपनी अक्लसे समझके करे या बिना शास्त्र-वास्त्रके ही अपनी ही समझसे जैसा जँचे वैसा ही करे। दोनोका मतलब एक ही हो जाता है। फलतः शास्त्र खटाईमे ही पड़ा रह जाता है। यही समझके अर्जुनने शंका की थी कि "जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानका झमेला, किसी भी तरह, छोड़के

श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते हैं उनकी हालत क्या होगी ? वे क्या माने जायँ—सात्त्विक, राजस या तामस ?"—"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः" (१७।१)।

गीतामें इसका जो कुछ उत्तर दिया गया है वह यही है कि शास्त्रकी बात तो योंही है। इसीलिये इसे बच्चोंको फुसलानेवाली चीज पुराने लोगोंने मानी है—"बालानामुपलालना"। असली चीज जो कर्मके स्वरूपको निश्चित करती है वह है करनेवालेकी श्रद्धा ही। जैसा हमारी समझमें—हमारे दिल दिमागमें—आया वैसा ही हमने ईमानदारीसे किया, यही श्रद्धापूर्वक करनेका मतलब है। यह नहीं कि समझते हैं कुछ और धारणा है कुछ। मगर डर, शर्म या लोभ वगैरहके चलते करते हैं कुछ और ही। फिर भी श्रद्धाके नामसे पार हो जायँ। श्रद्धापूर्वक करनेका ऐसा मतलब हर्गिज नहीं है। तब तो अन्धेरखाता ही होगा और उसीपर मुहर लग जायगी। दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदिके मेल या सामञ्जस्यकी जो बात पहले कही गई है उसीसे यहाँ मतलब है। उसमें जरा भी फेरफार नहीं होना चाहिये। जितना ही फेरफार होगा उतनी ही गड़बड़ और कमी समझिये। सत्रहवें अध्यायके अलावे ७वेंके २०-२३ तथा नवेंके २३-३३ श्लोकोंमें भी यही भाव दर्शाया गया है। यदि गौरसे विचारा जाय तो उनका दूसरा मतलब होई नहीं सकता। उनके बारेमें प्रसंगवश आगे भी प्रकाश डाला जायगा। चौथे अध्यायके ११, १२ श्लोक भी कुछ ऐसे ही हैं।

इससे यह भी हो जायगा कि करनेवाले पर ही उत्तरदायित्व होगा। क्योंकि समझके ही साथ उत्तरदायित्व चलता है। इसीलिये रेलसे आदमी कट जानेपर जिनके ऊपर उसकी जवाबदेही नहीं होती; हालाँकि काटनेका काम वही करता है। किन्तु ड्राइवर पर ही होती है। उसे समझ जो है। यही कारण है कि पागल आदमीके कामोंकी जवाबदेही उसपर नहीं होती। वह समझके करता जो नहीं है। यदि हमने गलतको ही सही समझके ईमानदारीसे उसे ही किया तो हम अपराधी नहीं हो सकते, यही गीताकी मान्यता है। यद्यपि संसारमें ऐसा नहीं होता है। मगर होना तो यही चाहिये। जो कुछ विवेचन अबतक किया गया है उससे तो दूसरी बात उचित होई नहीं सकती। यह ठीक है कि एक ही काम इस तरह कई ढंगसे—यहाँतक कि परस्पर विरोधी ढंगसे भी—किया जा सकता है और सभी करनेवाले निर्दोष और सही हो सकते हैं यदि उनने श्रद्धासे किया है जैसा कि बताया गया है। युक्ति-युक्त रास्ता तो इसके लिये यही हुई। और यदि यह नई बात है तो गीता तो नई बातें बताती ही है।

धर्म व्यक्तिगत वस्तु है

यहाँ तकके विवेचनने यह बात साफ कर दी कि धर्म या कर्त्तव्याकर्त्तव्य सोलहों आना व्यक्तिगत चीज है । न कि वह सार्वजनिक वस्तु है, जैसा कि आम-तौर से माना जाता है । जब अपनी-अपनी समझ के ही अनुसार श्रद्धापूर्वक धर्म या कर्म करनेका सिद्धान्त तय पा गया और उसका मतलब भी साफ हो गया कि दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोंमें सामञ्जस्य होनेका ही नाम श्रद्धापूर्वक करना है, तो फिर सार्वजनिकताकी गुंजाइश रही कहाँ ? जब श्रद्धा, ईमानदारी और सच्चाईसे (honestly and sincerely) कर्म करनेका अर्थ साफ हो गया और जब पूर्वोक्त चारोंके सामञ्जस्य को सचाई तथा ईमान-दारी से अलग कोई चीज नही मान सकते; या यों कहिये कि सच्चाई और ईमान-दारी इस सामञ्जस्य या मेलसे भिन्न कोई चीज नही, तो यह कैसे होगा कि दो-चारकी भी समझ, श्रद्धा या ईमानदारी एक ही हो । ये सब चीजें, ये सब गुण तो पूर्णरूपसे व्यक्तिगत है । जो समझ हममें है वही दूसरेमें कैसे होगी ? यदि एकाध बातमें दोनोंका मेल भी दैवात् हो जाय तो भी क्या ? एकताका तो अर्थ है हर बातमें मिल जाना और यही चीज गैरमुमकिन है । जब श्रद्धा और समझ-पर बात आ जाय तो क्या यह संभव है कि सभी हिन्दू संध्या पूजा करें या चुटिया रखें, या सभी मुस्लिम दाढ़ी रखें और रोजानमाज मानें ? लोगोंको आजाद कर दीजिये और दबाव छोड़ दीजिये, पाप, नर्क, अजाब, दोजख आदि-का भय उनके दिमागसे हटा दीजिये और देखिये कि क्या होता है । एक संध्या करेगा तो दूसरा उसके पास भी न जायगा । तीसरा कुछ और करेगा और चौथे-की निराली ही दशा होगी । यही बात रोजा-नमाजमें भी होगी ।

धर्म स्वभावसिद्ध है

सत्रहवें अध्यायके जिस दूसरे श्लोकको पहले उद्धृत किया है उसमें श्रद्धाको स्वभावसिद्ध "स्वभावजा" कहा है । वह कृत्रिम चीज नहीं है । डर, भय आदिको तो दबाव डालके या प्रलोभनसे पैदा भी कर सकते हैं । मगर इन उपायोंसे श्रद्धा कभी उत्पन्न की जा सकती नही और वही है धर्मके स्वरूप को ठीक करनेवाली असल चीज । वहाँ और उसके पहले समूचे चौदहवें अध्यायमें तथा और जगह भी ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके ही अनुसार श्रद्धा आदि दिव्यगुण मनुष्योंमें पाये जाते हैं । हममें किसीको शक्ति भी नहीं कि उन गुणोंको डरा धमकाके या दबाव डालके बदल सकें । शरीर, इन्द्रियादिके निर्माणमें जो गुण जहाँ जिस मात्रा मे आ गया वह

तो रहेगा ही। हम तो अधिकसे अधिक यही कर सकते हैं कि समय समयपर दबे रहने या न मालूम होनेपर उसे प्रकट कर दें, जैसे पंखेके जरिये हवा पैदा नही की जाती, किन्तु केवल प्रकट कर दी जाती है। हवा रहती तो है सर्वत्र। मगर मालूम नही पड़ती और पंखा उसे मालूम करा देता है, बिखरी हवाको जमा कर देता है। और स्वभाव तो लोगोंके भिन्न होते ही हैं। इसीलिये हरेकके धर्म भी भिन्न ही होंगे। दोके भी धर्मो का कभी मेल हो नही सकता।

इतना ही नही। अठारहवें अध्यायके ४१-४४ श्लोकोंमें दृष्टान्त-स्वरूप चारो वर्णोंके कर्मो और धर्मोका विस्तृत वर्णन है। लेकिन यह कितनी विचित्र बात है कि चारोंके धर्मोको अलग-अलग गिनानेके साथ-साथ 'स्वभावजं'—स्वाभाविक या स्वभावसिद्ध—यह विशेषण चार बार आया है। इससे एक ही मतलब हो सकता है और वह यह कि गीताको इस बातपर ज्यादेसे ज्यादा जोर देना है कि वर्णो और आश्रमोके जितने भी धर्म हैं सबके सब स्वाभाविक हैं, न कि कृत्रिम, बनावटी या डर भयसे पैदा किये गये। मगर इतनेसे ही सन्तोष न करके ठेठ ४१वें श्लोकमे भी, जहाँ चारोका एक स्थानपर ही नाम लिया है, साफ ही कहा है कि "इन चारोके काम बँटे हुए हैं और यह बात गुणोके अनुसार बने हुए स्वभावके ही मुताबिक हुई है"—"कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"। गुणोमे सत्त्व, रज और तम की कमी-बेशी तथा संमिश्रणके अनुपातके ही हिसाबसे लाखो, करोड़ो, या अनन्त प्रकारके मनुष्योंके स्वभाव बने है और इन जुदे-जुदे स्वभावोके ही अनुसार उनके कर्म भी निर्धारित किये गये है।

स्वाभाविक क्या है ?

इस वर्णनमे एक और भी खूबी है। लोग तो आमतौरसे यही समझते है कि ब्राह्मणमात्रके लिए एक ही प्रकारके धर्म हैं। यही बात क्षत्रियादिके भी सम्बन्धमे समझी जाती है। गीतामे भी इन धर्मोको इसी प्रकार गिनाया है। इसलिये शका हो सकती है कि फिर भी तो यह धर्म सामूहिक ही हो गया। व्यक्तिगत तो रहा नही। क्योकि ब्राह्मण-समूहका एक धर्म हुआ ही और इसी तरह क्षत्रियादि के भी समूहका। यही बात शेख, सैयद, मुगल और पठान को भी हो सकती है और पादरी तथा गृहस्थ क्रिस्तानकी भी। उसके बाद ब्राह्मणादि चारोंको मिलाके हिन्दू समूहका भी एक धर्म होई जाता है, शेख, सैयद आदिका मिलाके मुसलमान समुदायका भी और पादरी तथा गृहस्थका मिलाके ईसाईका भी। इस प्रकार घूम-फिरके हम वही पहुँच जाते है जहाँसे चले थे और "है वहीं पहले जहाँ थे, क्योंकि दुनिया गोल है" की बात आ जाती है।

इसीका उत्तर "स्वभावप्रभवैर्गुणैः" मे दिया गया है। गीता तो कहती है कि धर्म की बात भेंड़ों जैसी अन्ध परम्पराकी नहीं है कि फलाँ ब्राह्मण है, तो फलाँ क्षत्रिय। यह कोई निश्चित और बँधी बँधाई बात नहीं है, कि फलाँ ब्राह्मण हुई, या होगा ही और फलाँ क्षत्रिय, जैसा कि आज माना जाता है। आज तो हालत यह है कि कर्म भी नहीं देखे जाते। किन्तु एक तरहकी दूकान-दारी ब्राह्मणादि वर्ण धर्मोके नामपर चल पड़ी है। मगर इस वर्त्तमान परम्पराकी जडमें भी यही बात थी कि कर्मोंसे ही ब्राह्मणादिको जानते या पकड़ते थे—पकडने लगे थे। इसका आशय यह है कि कर्मोकी एक परम्परा और प्रणाली जारी कर दी गई थी और बचपनमे ही वही कर्म (काम) कराये जाते थे। किसीके स्वभावकी परीक्षा न की जाती थी। माता-पिताको जान लिया और पता पा लिया कि उन्हीमे बच्चा पैदा हुआ है। फिर क्या था ? माता-पिताके ही वर्णके अनुसार वच्चे के कर्म-धर्म ठीक कर दिये गये और इस प्रकार समय पाके वही ब्राह्मण, क्षत्रियादि बना जैसा कर्म करता रहा। माँ-बापका भी वर्ण इसी प्रकार उनके मा-बापके ही आधारपर कर्म कराके ठीक किया जाता था। यही शैली थी, यही प्रणाली थी। इसमे कर्मपर ही जोर था, दारमदार था। यही कारण है कि विश्वामित्रको ब्राह्मण माननेमें दिक्कतें पेश आई। क्योंकि माता-पिताकी बात उनके बारेमें कुछ दूसरी ही थी। मगर इसमें इतनी तो बात थी कि कर्मोपर जोर था। फलतः जिसमें कर्म न हो वह वर्णच्युत और पतित हो जाता था—वह "धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका" माना जाता था। मगर आज तो इतना भी नही है। आज तो केवल माँ-बापसे जन्म ही काफी है ब्राह्मणादि बननेके लिये !

मगर गीताके अनुसार तो उलटी बात थी, उलटी बात होनी है, उलटी बात चाहिये। गीता तो कर्मके पहले माँ-बाप मे उत्पत्तिको न देख स्वभाव देखती है। वह तो इस बातकी जाँच-पड़ताल करती है कि जिसमे किसी भी कर्मकी आशा की जाती है उसका स्वभाव कैसा है। आखिर सियार, हाथी और सिंहका स्वभाव तो एकसा है नहीं। इसीलिए उनके काम भी एकसे नहीं है। यदि स्वभावका खयाल न करके "सब धान बाईस पंसेरी" तौला जाय और गीदड़से सिंहके कामकी आशा की जाय तो सिवाअ नादानी और निराशाके और होगा ही क्या ? इसीलिये गीता सबमे पहले स्वभाव देखती है जो शुरूमें ही शरीररचनामें शामिल हुए थे। क्योंकि स्वभाव के नामपर गड़बड़ हो सकती है और कोशिशसे सिखा-पढ़ाके थोड़े समयके लिये कोई भी किसी कामके लिये तैयार किया जा सकता है—कोई भी "ठोंक-पीटके तत्काल वैद्यराज" बनाया जा सकता है और

स्वभाव नाम इस बातको भी दिया जा सकता है। आखिर पहचान हुई क्या ? इसीलिये गीता भूल-भुन गणोंको ही पकड़ती है जो कृत्रिम नहीं है। फलतः कल्पित या चन्दरोजा चीज कबतक टिक सकेगी ? सारांश यह कि, बहुत गौरसे दीर्घ कालतक पर्यवेक्षणके बाद ही स्वभावका निश्चय होता है, ऐसी बात गीताको मान्य है। उसके बाद ही उसीके अनुसार कर्म कराया जाना—किया जाना—चाहिये, ऐसी मान्यता गीताकी है और अन्ततोगत्वा वर्णोका अन्तिम निश्चय उसीसे होता है। महाभारतमें लिखा है कि पहले कोई वर्ण न थे—सब एक ही समान थे; पीछे स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार ही वर्ण बने। ज्यादेसे ज्यादा यही कि सभी ब्राह्मण ही थे—पीछे वर्ण विभाग हुआ—"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्" (मोक्षधर्म १८८।१०)। फिर वर्णोका विवरण भी दिया है। इसमें भी यही बात सिद्ध होती है।

इस तरह हमने देखा कि गीता कर्मोंसे वर्णोंको पकड़नेके बजाय गुणोंके अनुसार बने स्वभावसे ही कर्मोंको पकड़ना उचित समझती है। हमारा तो ऐसा खयाल है कि गीताके अलावे औरोंकी भी मान्यता पहले ऐसी ही थी। उसीका पतन होते-होते वर्त्तमान दशाको यह धर्म पहुँच गया है। लेकिन गीताके बारेमें तो शककी जगह हई नहीं कि उसने यही माना है। ऐसी दशामें धर्मको सामूहिक रूप मिली कैसे सकता है ? यह तो जरूरी नहीं कि ब्राह्मणका बच्चा ब्राह्मण ही हो, यदि ठीक-ठीक गुण और स्वभावकी पाबन्दी की जाय और उसी कसौटीपर कसा जाय। यह भी नही कि अगर ब्राह्मणका लड़का ब्राह्मण हो भो गया तो भी बाप और बेटा—दोनों ही—एक ही तराजूपर सोलह आना पाव रत्ती ठीक उतर जायें—बराबर हो जायँ। यह तो तभी संभव है जब दोनोंकी समझ एवं श्रद्धा और दोनोंके स्वभाव एक हो जायें। मगर ऐसा होना गैरमुमकिन है यह पहले ही कहा जा चुका है। यह दूसरी बात है कि जैसे एक ही कक्षामें पढ़नेवाले छात्रोंमें समता न होनेपर भी उनका एक वर्गीकरण व्यवहारके लिये होता है वैसा ही यहाँ भी होता रहा हो और आगे भी हो। मगर उसका मतलब यह तो नहीं है कि समानता और एकता हो गई। योग्यता तो सबोंकी भिन्न-भिन्न रहती ही है, रहेगी ही। एक वर्ण कहनेका तो मतलब केवल यही है कि उस तरहके कर्मोंके लिये कौनसे लोग यत्न करें और कौन उनके योग्य है यह मालूम हो जाय।

जिस प्रकार किसीकी निजी चीज होती है, अपनी समझ तथा योग्यता होती है, अपना शरीर और स्वास्थ्य होता है; न तो उसपर किसीका अधिकार होता है और न उसकी अपनी चीजसे एकता और समानता किसी औरकी वैसी ही चीजसे होती है। ठीक उसी प्रकार धर्मकी भी बात है। वह भी हरेक आदमी-

का अपना निजी और व्यक्तिगत पदार्थ है। उसमें किसीका साझा या हिस्सा नहीं है। धर्म सामूहिक--समूहकी—चीज न होकर व्यक्तिगत है, हर व्यक्तिका जुदा-जुदा है।) अगर दो आदमी एक ही ढङ्गसे खाना खाते हों और एक ही चीज खाते हों, तो भी दोनोंके खानेकी क्रिया दो होगी, न कि एक। धर्मकी भी यही बात है। यह बात गीताने निर्विवाद सिद्ध कर दी है। कमसे कम अपना मन्तव्य उसने यही बता दिया है। यदि यही मन्तव्य संसारमें व्यापक हो जाय, सार्वभौम हो जाय—यदि यह गीताधर्म (गीताका बताया धर्म) संसार मान ले—तो धर्मके झगड़े रहने ही न पायें। इनके करते आज जो हमारा देश नर्क बन रहा है और गजबकी बलामें आ फँसा है, वह तो न रहे। आज जो भाईका गला भाई और पड़ोसीका पड़ोसी धर्मकी वेदीपर चढ़ानेको आमादा है, वह तो न हो। धर्मकी यह नापाकीजगी तो मिट जाय।

इसीके चलते—धर्मको जो लोगोंने सामूहिक चीज समझ उसीके नामपर भेड़ोंकी तरह लोगोंको मूँड़ना शुरू कर दिया है। उसीके करते—तो राजनीति भी पनाह माँगती है। पण्डित, मौलवी और पादरी हजारों लोगोंको योंही मूँड़के जानें क्या-क्या अंटसंट सिखाते फिरते हैं। वे लोग कमानेवाली जनताको—किसानों और मजदूरोंको—अपने पाँवों खड़े होने देना नहीं चाहते इसी धर्मके नामपर और इसीकी ओटमे। जब किसानों और मजदूरोंमें वर्गचेतना पनपती है, शुरू होती है और प्रगति करती है तो इन धर्माचार्योंके घरमें जानें क्यों आतंक छा जाता है और ये मातम मनाने लगते है! इनके पास कोठियाँ, कल कारखाने और जमींदारियाँ न भी हों—और ज्यादातरके पास तो ये चीजें होती भी नहीं; उनका काम तो चेलों और मुरीदोंकी 'पूजा' और चढ़ावेसे ही चलता है—तो भी ये जानें क्यों घबरा जाते हैं और नंगे पाँव दौड़ पड़ते है किसान मजदूरोंको उलटा-मुलटा समझाने और गुमराह करनेके लिये। कर्म, तकदीर, भाग्य और भगवान ही तो धर्मके स्तम्भ और पाये माने जाते हैं और उन्हींके नामपर किसानों तथा मजदूरोंको ये भलेमानस वर्ग-संघर्ष और हककी लड़ाईसे खामखा रोकते है! सीधे और भोले लोग तो इन्हें पवित्र, धर्ममूर्त्ति, भगवानके दूत और पारसा समझते हैं—कम से कम उनका यही विश्वास होता है। यही कारण है कि ये गरीब ठगे जाते हैं और मालदार-जमींदारोंके घर घीके चिराग जलते है! धर्मके नामपर यदि और नहीं हो सका तो किसानों और मजदूरोंके संघ ही अलग-अलग बनवा दिये जाते हैं! जब कभी वर्ग-संघर्ष चालू हो तो ये धर्माचार्य कहे जानेवाले पादरी, पुरोहित और मुल्ला अपनेको धर्मके ठेकेदार कहके नियमतः धनियों और मालदारोंका ही साथ देते हैं और शोषितों एवं पीड़ितोंको छोड़ देते हैं; हालाँकि वही इनके चेले होते और उन्हींसे इनकी गुजर होती है।

२. मार्क्सवाद और धर्म

"Religion cannot be stopped. Conscience cannot be stilled. Religion is a matter of conscience and conscience is free. Worship and religion are free" (Stalin to Dean of Canterbury.)

"धर्मको रोका नहीं जा सकता। अन्तरात्मा या हृदयको दबाया नहीं जा सकता। धर्म तो हृदयकी चीज है और हृदय है स्वतन्त्र। इसीलिये पूजा और धर्म स्वतन्त्र हैं।" (स्तालिनका उत्तर)।

यही कारण है—यह एक प्रमुख कारण है—जिसके करते मार्क्सवादमें धर्मका विरोध पाया जाता है। धर्मको मानवसमाजके लिये अफीम (Religion is the opium of the people) बतानेकी यही असली वजह है। क्योंकि शोषितों तथा पीड़ितोंपर धर्माचार्योंका जादू चल जाता है और उनके उत्थानके लिए होनेवाला सारा यत्न बेकारसा हो जाता है। ऐसी परीशानी होती है कि कुछ कहिये मत। हम मानते हैं कि धर्मके सम्बन्धमें मार्क्सवादकी निश्चित बातें हैं और पक्के मार्क्सवादी इस मामलेमें बुनियादी तौरपर अलग जाते और कोई रिआयत करनेको तैयार नहीं हैं। लेनिनने धर्म-सम्बन्धी अपने एक लेखमें कहा है कि "मार्क्सवाद तो भौतिकवाद है। इसीलिये वह बेमुरव्वतीके साथ धर्मका विरोध करता है"—"Marxism is materialism. As such it is ruthlessly hostile to religion." मगर घबरानेका सवाल नहीं है। यदि ठंडे दिलसे विचारें तो पता चलेगा कि इसकी तहमें और चीज है। सभी सिद्धांतकी स्थापना और प्रतिपादनके मूलमें कुछ खास बातें और परिस्थितियाँ रहती हैं और अगर हम उनपर खयाल न करें तो गलती कर सकते हैं।

मार्क्सवादका मूल सिद्धान्त द्वन्द्ववाद (dialectics) है और उसका यदि अबाध प्रयोग किया जाय—और दूसरी बात हो भी नहीं सकती—तो श्रेणी विहीन समाजके बन जानेके बाद भी यह द्वन्द्ववाद तो चालू रहेगा ही। उसका परिणाम क्या होगा, कौन कहे? यदि द्वन्द्ववादसे प्रगति होती है तो यह तो मानना ही होगा कि वर्गविहीन समाज सभी प्रगतिके साधनोंसे पूर्णरूपेण सम्पन्न होनेके कारण और भी उन्नति करेगा, सभी तरहकी उन्नति—शारीरिक, मानसिक, वैज्ञानिक आदि—जिसके फलस्वरूप कौन-कौनसे अज्ञात तत्व विदित होंगे यह कौन बताये? मार्क्सवाद तो श्रेणीविहीन समाज तक ही फिलहाल एक जात:

है। दरअसल बात यह है कि ज्ञानकी ठेकेदारी ले लेना अच्छा नहीं, बुद्धिमानी नहीं। यदि उस समय ईश्वर या आत्माका पता लग जाय तो क्या इनकार किया जायगा, सिर्फ इसीलिये कि मार्क्सवाद उसे नहीं मानता? बुद्धिमानी इसीमें है कि भविष्यके झमेलेमें न पड़ें और उसका रास्ता किसीके भी लिये बन्द न करें—चाहे वह ईश्वरवादी बननेवाला हो या अनीश्वरवादी ही रहनेवाला हो। हाँ, आज इसके करते दिक्कत है, आज ईश्वरवाद प्रगतिका बाधक है। क्योंकि जिस ज्ञानपर ही उसका टिक सकना या न टिक सकना संभव है और उचित भी है उसीका बाधक वही बन गया है! जिसे ज्ञानस्वरूप कहा जाय वही ज्ञानप्रसारका विरोधी! मगर स्थिति कुछ ऐसी ही बेढब है। इसलिये प्रगति चाहनेवालोंको सारी शक्ति लगाके उसका बेमुरव्वतीसे विरोध करना चाहिये—ऐसा करना चाहिये कि किसी भी तरह वह हमारे रास्तेमें अड़ंगे डाल न सके। बस! मेरे जानते यही मार्क्सका आशय है होना चाहिये और लेनिनके उक्त वाक्यों का यही अर्थ मैं समझता हूँ। इसीलिये इसमें साथ भी देता हूँ। आगे यह बात और भी साफ होगी।

लेनिन उसी लेखमें आगे लिखता है, "The fight against religion must not be confined to abstract preaching. The fight must be linked up with the concrete practical class movement directed towards eradicating the social roots of religion."

"No educational books will obliterate religion from the minds of those condemned to hard labour of capitalism, until they themselves learn to fight in a united, organised, systematic and conscious manner the roots of religion, the domination of capital in all its forms."

"धर्मके विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई सिर्फ दिमागी बहस-मुबाहसे तक ही परिसीमित न होनी चाहिये। किन्तु धर्म की जड़के रूपमें जो सामाजिक बातें हैं उन्हें खत्म करनेके लिये जो वर्ग आन्दोलन और संघर्ष चलें—चलाये जायँ—उनके साथ इसे जोड़ देना चाहिये।"

"धर्मकी जो जड़ पूँजीवादकी अनेक सूरतोंके रूपमें कायम है उसे मिटानेके लिए संयुक्त, संगठित, नियमित और समझदारोंके साथ लड़ाई चलाना जबतक वे सीख न जायें तबतक पूँजीवादके नीचे सख्त मिहनत हो जिनके पल्ले पड़ी है

उन लोगोंके दिमागसे कोई भी पढ़ने-लिखनेकी किताब इस धर्मको जड़मूलसे निकाल नहीं सकती है ।"

लेनिनके ये उद्धरण इसलिये महत्व रखते हैं कि वह इस बातपर जोर देते हैं कि धर्मके खण्डन-मंडनके झमेलेमें पड़नेके बजाय शोषितोंका वर्गसंघर्ष ही खूब संगठित रूपसे बराबर चलाना और उनमें वर्गचेतना पैदा करना यही बुनियादी चीज है। वह बात नहीं चाहता, काम चाहता था। उसकी आँखें तो बड़ी तेज थीं। वह बहुत ही दूरतक देखता था। उसने समझ लिया कि धर्म और ईश्वरके खंडन-मंडनकी वितंडामें पड़के जनसेवक लोग कहींके न रहेंगे—भटक जायेंगे। काम तो इससे कुछ होगा नहीं। केवल अक्लकी बदहजमी मिटेगी। हाँ, सीधे-सादे जन-साधारण विरोधी जरूर हो जायँगे। धर्मध्वजी—धर्मके ठेकेदार—उन्हें जनसेवकों और क्रांतिकारियोंके खिलाफ आसानीसे भड़का देंगे। क्योंकि तर्क दलीलोंकी पेचीदगी तो वे समझ पायेंगे नहीं। इधर मुल्ले लोग अपनी चिकनी-चुपड़ी बातें आसानीसे समझाके उन्हें विरोधी बना देंगे। यदि नास्तिक और धर्मविरोधी लोग अपनी दलीलके साथ-साथ गरीबोंकी कोई ठोस भलाई कर पाते और धर्मध्वजी लोग नहीं कर सकते, तो बात दूसरी होती। क्योंकि तब तो जनसाधारण आसानीसे समझ जाते कि हो न हो यही हमारा मित्र है। धर्मके विरुद्ध बोलता है तो क्या ? काम तो हमारा ही करता है न ? यदि दो-चार लात मारके भी गाय काफी दूध दे, तो बुरा कौन माने ? यही वजह है कि लेनिन उस संघर्षपर ही जोर देता है जिससे जनताको लाभ होता है और वह खिंच आती है। लड़ाई ही ऐसी चीज है जो उसे अपनी ओर खींच लेती है।

एक बात और है। जब जनता दिमागी बारीकियोंको समझ पाती ही नहीं और हमें उसीको समझाके उठाना है, तो ऐसा क्यों न करें कि दोनों पक्षवाले—आस्तिक-नास्तिक—साफ ही कह दें कि इस झगड़ेसे क्या काम ? धर्म-वर्म भी तो लोगों के हितार्थ ही है और यहाँ जीते जी नारकीय यंत्रणा भोगके स्वर्ग जाने के बजाय जो यहीं आराम मिले वही ठीक। आखिर स्वर्गके लिये कोई मरना तो चाहता है नहीं। इसलिये आइये पहले यहीं लोगों को आराम पहुँचाने के लिये ही कुछ कर लें, लोगोंकी तरफसे उनके हकोंके लिये लड़ लें। हम जानते हैं कि धर्मके ठेकेदार ऐसा नहीं करेंगे। मगर जनसेवक उन्हें ऐसा करनेके लिये मजबूर क्यों न करें ? इससे लोगोंके सामने उनका पर्दाफाश हो जायगा, ज्योंही उन्होंने इसमें आनाकानी या बहानेबाजी शुरू की। हम तो उनसे और दूसरे लोगोंसे

भी कह देंगे कि हमारा विश्वास है कि धर्मवादी लोग शोषकोंका ही साथ खामखा देते हैं—उनके दलाल होते हैं और कमानेवालोंको धोका देते हैं। फिर ऐसे लोगोंका और उनके इस धर्मके सिद्धांतका विरोध करें न तो और क्या करें ? न वे दूसरी बात कर सकते, सिवाय शोषकोंके साथ देनेके और न हम धर्म और ईश्वरके विरोधके जरिये उनका विरोध करने और उनकी जड़ उखाड़नेसे रुक सकते। हाँ, यदि उनकी बात सच्ची है और जनहितकी है तो आयें पहले यहीं जनसेवा कर लें। तब मानी जायगा कि मरनेपर भी उनका धर्म लोगोंको लाभ पहुँचायेगा।

यह ऐसी बात है कि लोगोंके दिलमें जम जायगी। इससे धर्माचार्योंकी कलई भी खुल जायगी और लोग उन्हें छोड़के हमारे साथ आ जायँगे। यही होगा। दूसरी बात हो नहीं सकती। इस तरह हम विजयी होंगे। यदि कहा जाय कि धर्मवाले लोग भी वर्ग-संघर्ष करेंगे, तो यह असंभव बात है। वह इक्के-दुक्के कहीं कुछ भले ही कर लें। मगर सर्वत्र डटके ऐसा कभी कर नहीं सकते। नहीं तो फिर उनका धर्म ही डूब जायगा—उनके धर्मका सारा आधार ही खत्म हो जायगा। यह काम वही कर सकते हैं जिनमें आत्मविश्वास हो, जो अपने ही यत्नोंसे सब कुछ कर डालनेकी हिम्मत और विश्वास रखते हों। मगर धर्मवाले तो दैव, तकदीर, कर्म, पूर्व जन्मकी कमाई और भगवानपर ही भरोसा रखते हैं। उनका अन्तिम दारमदार उन्हींपर होता है। भाग्यमें जो बदा होगा सोई होगा, भगवानकी मर्जी होगी, जब यही मानना है तो जमके प्राणपन से कौन लड़े ? और ये मुफ्तकी हलवा पूड़ी उड़ाके तोंद फुलानेवाले लड़ेंगे ? लेकिन यदि असंभव भी संभव हो जाय और वही लोग सर्वत्र वर्गसंघर्ष सफलतापूर्वक चलाने लगें तो चिन्ता क्या ? हमारा काम तो हो गया। मार्क्सवाद जो चाहता है वह हो गया ! हमारा काम है वर्गविहीन समाज बनाना न कि ईश्वरको मिटाना या उसके पीछे लाठी लिये फिरना ! यदि धार्मिकोंने ही ऐसा समाज बनाया तो भी हमारी जीत हो गई ! हमें तो ऐसी दशामें यह कहनेका भी हक है, हम तो तब ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्ममे भी जो गलत चीज है वह भी इसी संघर्षमें ऐसे ही मिट जायगी जैसे श्रेणियाँ मिटेंगी। फिर शुद्ध समाजकी तरह कोई शुद्ध धर्म भी अन्तमें बन जाय तो हर्ज क्या ?

लेनिन या मार्क्स और एंगेल्सके मतमें एक और भी खूबी है कि उसमें वर्गसंघर्ष की कसौटीपर धर्मको कसते हैं। हमने तो कही दिया है कि भविष्यका रास्ता मत बन्द कीजिए। हाँ, इस समय ईश्वर और धर्मका रास्ता रोक दीजिये। भविष्यसे हमारा मतलब है श्रेणीविहीन समाज बन जानेके बादसे। हमारे कलेजेके पास ही फोड़ा हो गया है और उसमे नश्तर लगना जरूरी है। नश्तर लगे भी जरूर; ताकि हम बचें। मगर ऐसा नश्तर हर्गिज न लगे कि कलेजा ही

कट जाय और हमीं मर जायँ। सदाके लिए धर्म या ईश्वरको इजाजत ही न देना और उन्हें आँख मूँदके मार देना कलेजेका चीरना हो जायगा। हम उससे बचे तो क्या बुरा। हम बिच्छूका डंक बेमुरव्वतीसे निकाल लें जरूर। मगर उसे जानसे मारने तक क्यों परीशान हों? हमें तो लोगोंको उसके डंकसे ही भविष्यमें बचाना है न? या कि उसका खून भी पीना है? हाँ, तो फोड़ेपर नश्तर जरूर लगायें। आज श्रेणीयुक्त समाजमे धर्मके लिए स्थान नहीं है, ऐसा जरूर कहे और खुशीसे कहे। मगर कहे या न कहे, हर हालतमें वर्गसंघर्ष जरूर करें, ताकि ईश्वरवादियोंकी पोल खुल जाय। जितनी जरूरत है उतना ही कहें और करें। बहकें न। जरूरतसे ज्यादा न बढ़ें जिससे कहीं बहक जायँ। इससे सजग रहें। हमारे जानते यही मार्क्सवादका इस सम्बन्धका निचोड़ है।

मगर आइये, जरा और भी विस्तारके साथ लेनिनके इस सम्बन्धके वचनोंपर विचार कर लें जो उसी लेखमे पाये जाते है। वह लिखता है—

"The workers in a certain district and in a certain branch of industry are divided, we will assume, into a pogressive Section of class conscious Social Democrats, who are, of course, atheists, and a rather backward section, which still maintains contact with the rural districts and the peasantry, which believes in God, goes to church and is perhaps under The direct influence of a priest, who we will assume, has organised a Christian Labour Union. Let us assume further that the economic struggle in this district has led to a strike. the duty of the Marxist is to place the success of this strike in the forefront and to prevent the workers from being split up into atheists and Christians. Atheist propaganda in such circumstances may be superfluous and even harmful, not from vulgar point of view of frightening away the backward workers, or losing a seat at the elections etc., but from the point of view of the real progress of class struggle, which in the condition of present day capitalist society will lead the Christian workers to Social Democracy and atheism a hundred times more effectively than bare atheist propag-

anda. In the conditions described above an atheist preacher would simply play into the hands of the priests who desire nothing more than that the division among the workers as between strikers and blacklegs should be substituted by a division between atheists and Christians The anarchist preaching irreconcilable war against God would, in such conditions, actually be helping the priests and the bourgeoisie, as indeed the anarchists always help the bourgeoisie.

A Marxist must be a materialist, that is, an enemy of religion, but from the materialist and dialectical standpoint, i.e., he must conceive the fight against religion not as an abstraction, not on the basis of pure theoretical atheism, *equally applicable to all times and conditions*, but concretely, on the basis of the class struggle which is actually going on and which will train and educate the masses better than anything else. A Marxist should take into consideration all the concrete circumstances, should always be able to see the dividing line between anarchism and opportunism (the dividing line is relative flexible, changeable, but it exists), should take care not to fall into the abstract, verbal, empty 'revolutionism' of the anarchist, or into the vulgar opportunism of the petty bourgeois or liberal intellectual, who shirks from the fight against religion, who evades this task, who reconciles himself with the belief in God, who is guided not by the interests of class struggle, but by the petty pitiful fear of offending, repelling or scaring off others by the wise precept, "Live and let live" etc.

All other questions that rise in connection with the attitude of Social-Democrats towards religion should be decided from the point of view outlined above. For example, it is frequently asked whether a clergyman

may join the Social Democratic Party and usually this question is answered in the affirmative, without any reservation, and reference is made to the practice of Social Democratic Parties in Europe. This practice is a result not only of the application of Marxist doctrines to the labour movement, but also of the special hisrtorical conditions in the west which do not exist in Russia Consequently, an affirmative reply would not be correct. We cannot say once and for all that a clergyman cannot, in any circumstances, become a member of the Social Democratic Party, But on the other hand, we cannot make so positive a reply to the contrary. If a clergyman wishes to join us in political work, conscientiously carries out party work, and does not infringe the party programme, then he may be accepted into the ranks of Social Democracy, tor the contradiction between the spirit and principles of our programme and the religious convictions of the clergyman may, in the circumstances, remain a matter that concerns him alone. A political organisation cannot undertake to examine all its members to see whether there is any contradiction between their views and the programme of the party. But of course such a case is very rare even in Europe, and in Russia is scarcely probable. If on the other hand, the clergyman joined the Social Democratic Party and concerned himself mainly with preaching his religious ideas, then, of course, he would have to be expelled. We must not only admit, we must do everything possible to attract workers who retain their belief in God into the Social Democratic Party. We are resolutey opposed to offending. But we attract them to our Party in order to allow them to fight against it. We permit freedom of opinion inside the party, but within certain limits defined by the freedom of forming groups. We are not obliged to go hand in hand with those who advocate views rejected by the mojority of the Party."

इसका आशय यह है, "कल्पना करें कि एक इलाकेके किसी कारखानेके मजदूरोंके दो दल हो गये हैं। एक दल है प्रगतिशील एवं वर्गचेतनायुक्त सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीवालोंका, जो बेशक नास्तिक हैं। दूसरा दल है पिछड़े हुओंका, जिनका सम्बन्ध देहाती इलाकों और किसानोंके साथ अभी कायम है, जो ईश्वरमें विश्वास रखते हैं और गिरजाघरोंमें जाते हैं और जिनपर वहाँके पादरीका खूब असर है। हम यह भी मान लें कि उस पादरीने वहाँ एक "क्रिस्तान-मजदूर-संघ" भी संगठित कर रखा है। हम यह भी कबूल कर लें कि उस इलाकेके मजदूरोंकी आर्थिक लड़ाईके परिणामस्वरूप वहाँ हड़ताल हो गई है। उस दशामें वहाँ मार्क्सवादीका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस हड़तालकी सफलताको ही मुख्य बात माने और इस बातकी कोशिश करे कि उस संघर्षसे सम्बन्ध रखनेवाले मजदूरोंमें क्रिस्तान और नास्तिक—इस तरहके—दो दल बनने न पायें—हड़तालके समय इस तरहकी दलबन्दी होने न पाये। ऐसी परिस्थितिमें तो नास्तिकताका प्रचार केवल व्यर्थ ही न होगा; किन्तु हानिकारक भी होगा—हानिकारक इस मोटी दृष्टिसे नहीं कि पिछड़े विचारके मजदूर वहाँ भड़क जायँगे, या चुनावके समय नास्तिक प्रचारकोंको उनका वोट न मिलने से मजदूर-संघके चुनावमें वे हार जायँगे। किन्तु वास्तविक वर्गसंघर्षकी प्रगतिकी दृष्टिसे भी वह हानिकारक होगा और वर्गसंघर्षकी वह प्रगति ही, वर्त्तमान पूँजीवादी समाजकी हालतमें, नास्तिकताके केवल प्रचारकी अपेक्षा सौ गुना प्रभावशाली रीतिसे क्रिस्तान मजदूरोंको सोशलडेमोक्रेटिक पार्टी तथा नास्तिकवादमें प्रवेश करायेगी। बल्कि वैसी दशामें तो नास्तिकताका प्रचारक उन पादरियोंका ही मददगार बन जायगा जो सबसे अधिक यही बात चाहते हैं कि हड़तालके समय भी मजदूरोंमें हड़तालकारी और उसके तोड़नेवाले ऐसे दो दल न होकर नास्तिक और आस्तिक (क्रिस्तान) यही दो दल कायम रहें। उस हड़तालमें ईश्वरके विरुद्ध बेमुरव्वतीसे युद्ध चलानेवाले अराजक लोग तो पादरियों और पूँजीवादियोंकी ही मदद करेंगे, जैसा कि वे लोग सचमुच सदा ही ऐसी सहायता करते ही हैं।

"लेकिन मार्क्सवादीको तो भौतिकवादी होना होगा—अर्थात् वह ईश्वरकी शत्रु तो होगा। मगर होगा भौतिकवाद तथा द्वन्द्ववादकी ही दृष्टिसे। इसका आशय यह है कि उसे धर्मविरोधी लड़ाईको केवल एक दिमागी चीज नहीं बनाना होगा और न उसे केवल नास्तिकताकी सैद्धान्तिक दृष्टिसे चलाना ही होगा—ऐसी सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो हमेशा हरेक परिस्थितिमें समान-रूपसे लागू होती है। किन्तु स्थूल सांसारिक (बाहरी हिताहितकी) दृष्टिसे ही चलाना होगा, जिसका आधार होगा वह वर्गसंघर्ष जो सचमुच चालू है और जो जनसमूह को और

उपायोंकी अपेक्षा कहीं अच्छी तरह शिक्षित तथा कुशल बनायेगा। मार्क्सवादीको चाहिये कि वह वास्तविक परिस्थितिका खयाल करे, वह इस योग्य हो कि बखूबी समझ सके कि कहाँतक जानेपर अराजकवाद और अवसरवादसे मेल हो जायगा (एक ऐसी सीमा जरूर होती है जो अराजकता तथा अवसरवादको पृथक् करती है। यह ठीक है कि वह सीमा आपेक्षिक है, उसका संकोच विस्तार होता रहता है, और वह बदलती रहती है), मार्क्सवादीको हमेशा सतर्क रहना चाहिये, ताकि वह अराजकतावादियोंके खयाली, जबानी और खोखले क्रांतिवादमें कहीं फँस न जाय, या कहीं ऐसा न हो जाय कि वह टुटपुँजिये बाबुओं या उदारतावादी दिमागदारोंके भद्दे अवसरवादका शिकार ही हो जाय। ये टुटपुँजिये बाबू या उदार दिमागदार ऐसे होते हैं कि धर्म-वरोधी संघर्षोंसे भागते और पिंड छुड़ाने फिरते हैं और आस्तिकताके साथ उनका समझौता हो जाता है। उन्हें इस बातमें पथदर्शक वर्गसंघर्षका स्वार्थ तो होता नहीं। किन्तु वे तो हमेशा इसी तुच्छ एवं दयाजनक डरसे काँपते रहते हैं कि कहीं और लोग रंज न हो जायँ, हट न जायँ या भड़क न उठें। वे तो इसीमें बुद्धिमानी समझते हैं कि खुद भी कायम रहें और दूसरे भी बने रहें।

"इस सम्बन्धमें जो भी दूसरे प्रश्न उठते है कि सोशलडेमोक्रेटिक पार्टीके लोग धर्मके बारेमें कौनसा रुख अख्तियार करें उन सबोंका निर्णय इसी ऊपर बताये सिद्धान्त के ही आधारपर दिया जाना चाहिये। दृष्टान्तस्वरूप प्रायः ऐसा पूछा जाता है कि पादरी लोग सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्य बन सकते हैं या नहीं? इसका उत्तर भी बिना आगा-पीछा किये ही आमतौरसे 'हाँ' दिया जाता है और कहा जाता है कि यूरोपकी ये पार्टियाँ ऐसा ही तो करती है। असलमें यूरोपमें जो यह रीति चल पड़ी वह सिर्फ इसीलिये नहीं कि मजदूर आन्दोलनमें मार्क्सके मन्तव्योंका प्रयोग किया गया था। बल्कि इसका कारण पश्चिमकी कुछ खास ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं, जो रूसमें नहीं हैं। फलतः 'हाँ' वाला उत्तर यहाँ ठीक नहीं है। हम एक ही साँसमें सबोंके लिये यह नहीं कह सकते कि किसी भी हालतमें कोई भी पादरी इस पार्टीका मेम्बर हो नहीं सकता। लेकिन दूसरी ओर हम विरोधमें भी एक निश्चित उत्तर नहीं दे सकते। यदि कोई पादरी राजनीतिक कामोंमें हमारा साथ देना चाहता है, हमारी पार्टीका काम समझ-बूझके करता है और पार्टीके कार्यक्रमका उल्लंघन नहीं करता, तो उसे हम अपनी पार्टीमें ले सकते हैं। क्योंकि उस दशामें हमारे कार्यक्रमके सिद्धान्तों और भावोंके साथ अगर उस पादरीके धार्मिक विचारोंका कोई विरोध हो तो वह केवल उस पादरीके ही विचारनेकी बात है। किसी राजनीतिक संस्थाका यह काम

हर्गिज नहीं है कि वह अपने प्रत्येक मेम्बरोंमें यह बात ढूँढ़ती फिरे कि आया उसके कार्यक्रमके साथ उनके दूसरे विचारोंका विरोध तो नहीं है। लेकिन बेशक ऐसे पादरी तो यूरोपमें भी बहुत ही कम मिलते हैं और रूसमें तो वे शायद ही मुश्किलसे मिल सकें।

"विपरीत इसके यदि कोई पादरी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में दाखिल होके अपना प्रधान काम अपने धार्मिक विचारोंके प्रचारको ही बना ले, तो बेशक उसे पार्टीसे निकाल देना ही होगा। हमें सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में मजदूरोंको सिर्फ दाखिल करना ही नहीं होगा। किन्तु जो मजदूर ईश्वरमें विश्वास करते हैं उन्हें भी अपनी ओर खिंच आनेके लिये सभी संभव उपाय करने होंगे। हम किसीको भी भड़काने या रंज करनेके पक्के विरोधी हैं।—लेकिन हम तो उन्हें अपनी पार्टीमें इसीलिये खींचते हैं कि उन्हें मौका दें कि वे हमसे (पार्टीसे) लड़ लें। हम तो पार्टीके भीतर विचार-स्वातंत्र्यका मौका देते ही हैं। मगर इस स्वतन्त्रताको कुछ सीमायें हैं जिनका निर्धारण पार्टीके भीतर छोटे-मोटे दल बननेसे नियमोंसे ही हो जाता है। पार्टीके बहुमतने जिन विचारोंको नहीं माना हो उन्हींका जो प्रचार करें उनसे हमारा साथ नहीं हो सकता।"

हमने जानबूझकर यह लम्बा अवतरण दिया है जिससे धर्मके इस पेचीदे मामलेपर काफी प्रकाश पड़ जाय। इसमें कई ऐसी बातें हैं जो बहुत बड़ा महत्व रखती हैं। इसलिये उनपर विशेष खयाल होना जरूरी है। लेनिनने यह साफ कह दिया है कि हम खयाली और सैद्धान्तिक रूपसे ही नास्तिकता या अनीश्वरवादके समर्थक नहीं हैं। बल्कि हम तो इस निरी दिमागी दुनियाके विरोधी हैं। इसमें तो उसे अवसरवाद और अराजकवाद साफ ही मालूम होता है। इसलिये भी उसने इसका विरोध किया है।

इसीके साथ वह यह भी साफ कहता है कि हमारा (मार्क्सवादका) अनीश्वर-वाद तो ऐसा नहीं है जो हर हमय, हर परिस्थितिमें लागू किया जा सके। यह कोई कोरी सिद्धान्तकी चीज नहीं है। यह तो सिर्फ व्यावहारिक बात है। इसीलिये इसका प्रयोग व्यावहारिक परिस्थितिको देखनेके बाद ही खूब जानबूझके करना होगा। कहीं ऐसा न हो कि हमने परिस्थिति तो इसके अनुकूल देखी और इसे लागू भी किया। मगर ऐसा हो गया कि हमने आगेका मौका समझा नहीं कि अब इसे बन्द कर देना होगा; क्योंकि इसकी सीमा पूरी हो रही है। नतीजा यह हुआ कि अवसरवादमें हम जा फँसे! इसीलिये हमेशा सतर्क रहनेपर उसने जोर दिया है।

वह यह भी कहता है कि हमें तो वर्गसंघर्ष देखना है—हमारे लिये तो नास्तिकवाद असल चीज है नहीं। वह यदि कुछ भी हो सकता है तो ज्यादेसे ज्यादा यही कि वर्गसंघर्षको निर्विघ्न चालू करने मे मददगार हो जाय। मगर हमारा साध्य या असली लक्ष्य तो है वह वर्गसंघर्ष ही। इसलिये हमे बराबर यह खयाल रखना होगा कि कही हमारे नास्तिकवादसे उलटे उसीमे हानि न पहुँच जाये। कही ऐसा न हो कि साधन ही साध्यकी छातीपर कोदों दलने लग जाय—कही देवीसे बकरा ही बड़ा न हो जाय और ऐसा न हो कि देवीकी छातीपर वही चढ़ बैठे। यह सबसे मार्केकी बात उसने कही है।

वह तो वर्गसंघर्षका दृष्टान्त देके कहता है कि हड़ताल वगैरहके समय नास्तिकताका प्रचार उसके लिये घातक होता है। हडतालके समय तो मजदूरोंमे एकता चाहिये—दलबन्दी नहीं चाहिये। यदि कोई भी दलबन्दी उस समय हो सकती है, तो ऐसी ही जिसपर मजदूरो और उनके नेताओंका कोई वश न हो और वह हो सकती है हडतालियों और हड़ताल विरोधियोंकी ही, जिन्हे, 'काली-टाँगे' कहते हैं और जिनका काम होना है हडतालियोंकी जगह पर जाके काम करें और इस तरह हडतालको तोडे! शेष मजदूर तो एक ही दलमें होंगे। अगर पहले धर्म-वर्मके नामपर दल बने भी हों तो वह फौरन खत्म कर दिये जायँ। लेनिन तो यह भी कहता है कि पादरी-पुरोहित तो दरअसल मजदूरोंके नेता होते नहीं। इसीलिये यह बात तो वही चाहते हैं कि हड़ताल या वर्गयुद्धके समय भी आस्तिक और नास्तिक दलोंका बखेड़ा जरूर ही रहे। वे तो पूँजीपतियोंके दलाल होते हैं। इसीसे यह बात चाहते हैं। इसीलिये लेनिनका कहना है कि नास्तिकताका प्रचार संघर्षके समय जो कोई करता है वह पूँजीवादियोंका सहायक और दलाल होता है, चाहे वह यह बात भले ही न समझे।

और जब असली मौकेपर—संघर्ष और लड़ाईके ही समय—ही हम आस्तिक-नास्तिकका झमेला खड़ा कर नही सकते, जब उस वक्त ऐसा करनेकी हमें इजाजत हई नही, तो फिर मार्क्सवादपर नास्तिकताके इलजामका अर्थ ही क्या है? जब हम मौजमे बैठे हैं तब तो बहुतसी बाते करते रहते ही है। उन्हींमें यह नास्तिकतावाली बात भी हो सकती है। कितने ही प्रकारके वाद-विवाद और मतभेद होते हैं। बातें जानने, समझने और स्थितिके स्पष्टीकरणके लिये यह चीजें जरूरी होती है। मगर उन्हें उद्देश्य या मान्य समझ लेना भूल है। नास्तिकवाद आदिकी बातें तो वर्गसंघर्षकी तैयारीके रूपमे ही की जाती है। क्योंकि पादरी-पुरोहित लोग धर्म, भाग्य और भगवानके नामपर जमींदारों और कारखाने-

दारोंके साथ किसानों और मजदूरोंको लड़नेसे रोकते हैं। फलतः उन्हें मनाना, किसान मजदूरोंको समझाना और पादरी-पुरोहितोंका मुँह बन्द कर देना जरूरी हो जाता है। यह भी ठीक है कि जबतक जड़मूलसे भाग्य और भगवानको ही उड़ाया न जाय तबतक वे मानते ही नहीं। वे होते हैं बड़े ही बेहया और उनका असर शोषित जनतापर खूब होता है। इसीलिये नास्तिकवाद अनिवार्य होता है। यह भी बात होती है कि धर्म और ईश्वरके मामलेमें जरा भी नर्मी और मुरव्वतसे काम लिया जाय तो एक तो पादरी-पुरोहित चट कह बैठते हैं कि देखा न, आखिर वे लोग भी, दबी जबानसे ही सही, भाग्य और भगवानको मानते ही हैं ? फलतः सारा किया-कराया चौपट हो जाता है। दूसरी बात यह हो जाती है कि किसान और मजदूर दिलोजानसे लड़नेको तैयार नहीं हो पाते। क्योंकि उसी नर्मीके करते उनमें भी कमजोरी आती है और अन्ततोगत्वा इतना तो सोचते ही हैं कि जैसा होगा देखा जायगा।

और जब वह यह भी कहता है कि अनीश्वरवाद हर देश और हर कालके लिये नहीं है और उसका प्रचार विशेष सामाजिक परिस्थितिमें ही होता है, तो फिर इसे सदाके लिये मान्य करके मार्क्सवादपर निरीश्वरवाद का कलंक लगाना कहाँतक जायज है ? वह यह भी तो कहता ही है कि वर्गसंघर्षके आधारपर ही निरीश्वरवादका प्रचार करना होगा। उसके मतसे वर्तमान समयमें संघर्ष चालू हो वह जनताको कहीं अच्छी तरह शिक्षित और वर्गचेतनायुक्त कर देगा। फिर तो रास्ता साफ हो जाता है। मार्क्सवादका असली काम निरीश्वरता प्रचार नहीं है। उसका तो काम है शोषितों एवं पीड़ितोंको—कमानेवालोंको—शिक्षित तथा वर्गचेतनायुक्त करना, जो दूसरे अन्य सभी उपायोंकी अपेक्षा वर्गसंघर्षसे ही बहुत अच्छी तरह पूरा होता है। फिर निरीश्वरताके कोरे प्रचारको छोड़ हम इसी संघर्षमें ही क्यों न लगें ? इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि वह नास्तिकवादको साधनके रूपमें ही स्वीकार करता है।

इस लम्बे उद्धरणके पहले जो हमने लेनिनके दो छोटे-छोटे उद्धरण दिये हैं उनमें जो सबसे मार्केकी बात है वह यह है कि दोनोंमें यही कहा गया है कि धर्मकी बुनियाद तो पूँजीवाद और उसकी अनेक शकलें हैं। वह तो पूँजीवादके आधारपर बनी सामाजिक व्यवस्थाको ही वर्त्तमान धर्म और ईश्वरवादकी जड़ मानता है। फलतः मुख्य काम वह यही बताता है कि उस जड़को ही खोदना होगा। पत्ता और शाखा तोड़नेसे पेड़ तो रही जायगा। इसीलिये इस सामाजिक व्यवस्थाको ही मिटानेपर हमें जोर देना चाहिये। इससे साफ और क्या कहा जा सकता है ?

और जब पादरी-पुरोहितों तकको भी अपनी पार्टीमें लेनेकी राय वह देता है, बशर्ते कि उनका प्रधान काम धर्म प्रचार न होके पार्टीके कार्यक्रमको पूरा करना ही हो, तो फिर निरीश्वरताके इल्जामके कुछ मानी रही नहीं जाते। जो पादरी पार्टीमें आके पार्टीके कामकी अपेक्षा धर्म प्रचारको ही प्रधान काम समझे और प्रधानतया (स्मरण रहे 'प्रधानतया' लिखा है) वही करे उसीको पार्टीसे निकालनेकी बात कही गई है। इससे तो और भी सफाई हो जाती है। वह तो कहता कि हमें ऐसे सभी उपाय करने होंगे जिससे धर्ममें विश्वास करनेवाले किसान-मजदूर जरूर हमारी पार्टीमें आयें और हमारी इस चीजका—नास्तिकता का—विरोध करें—इसके खिलाफ लड़ें। हमें उन्हें इसका मौका देनेके ही लिये पार्टीमें खींचना होगा। और यह तो जरूरी नहीं कि आस्तिक मजदूर थोड़े और नास्तिक ही ज्यादा हों। बात तो उलटी ही होती है। फिर भी वह कहता है कि पार्टीके सदस्योंको भी अपने स्वतन्त्र विचार रखनेकी आजादी किसी हदतक रहनी ही चाहिये। फलतः यदि पार्टीमें बहुमत आस्तिकोंका ही हो जाय तो? लेनिनको इसकी पर्वा नहीं है। वह तो खूब जानता है कि असल चीज यह न होके वर्गसंघर्ष ही असल चीज हमारी पार्टीके लिये है, जिसमे आस्तिक-नास्तिक सभी साथ देंगे ही। नतीजा यह होगा कि संघर्ष चालू होनेपर ज्यों-ज्यों उसमें सफलता मिलेगी त्यों-त्यों धर्मके ठेकेदारोंका पर्दाफाश होता जायगा। फलस्वरूप अन्तमें सभी या अधिकांश मजदूरोंकी आस्था धर्मसे खुदबखुद उठ जायगी। वे उसे खुद पूंजीवादकी उपज और करामात समझ उससे घृणा कर बैठेंगे और बहुमतसे निर्णय कर देंगे कि धर्म-वर्मकी बात ठीक नहीं। फिर तो सभीको यही मानना ही होगा।

हम लेनिनके दो उद्धरण और देके यह विवाद खत्म करेंगे। वह अपने लेखके प्रायः शुरूमें ही कहता है कि, "Religion is the opium of the people,' said Marx, and this thought is the corner-stone of the whole Marxian philosophy on the question of religion. Marxism regards all modern religions and churches all religious organisations as organs of bourgeois reaction, serving to drug the minds of the working class and to perpetuate their exploitation."

इसका आशय है कि, "मार्क्सने कहा था कि धर्म तो लोगोंके लिये अफीम है और उसका यही कहना, यही विचार धार्मिक प्रश्नोंके बारेमें मार्क्सके समूचे सिद्धान्त की असली बुनियाद है। मार्क्सके सिद्धान्तके अनुसार आजकलके

(modern—यह याद रखनेकी चीज है) धर्म, गिर्जे वगैरह और सभी धार्मिक संस्थाएँ पूँजीवादी प्रतिगामियोंके हथकंडे हैं, जिनका इस्तेमाल वे लोग श्रमजीवियों के दिमागोंमें जहर भरने और इस तरह उनका शोषण बराबर जारी रखनेके लिए करते है।"

यहाँ तो इस बातको खोलके कह दिया है कि वर्त्तमान धर्म, मठमन्दिर और धर्मकी संस्थायें जाल हैं, धोकेकी चीजें हैं। इन्हें मालदारोंने कमानेवालोंको ठगनेके ही लिये बनाया है। इन्होंके द्वारा भोलीभाली जनताके दिमागमें जहर भरा जाता है। जैसे बच्चोंको अफीम खिलाके सुला देते है वही बात पूँजीवादी धर्मके जरिये आम लोगोंके बारेमें करते है। उनके दिमाग खराब कर देते है। मार्क्सके धार्मिक सिद्धान्तोंकी यही बुनियाद है। मार्क्सने जो धर्मका विरोध किया है उसका असली कारण यही है। हमने तो शुरूमें ही यही बात कही थी। यहाँ जो 'वर्त्तमान' धर्म कहा है, उससे भी यह झलकता है कि एक तो मार्क्सको इन बातोंका विरोधी बनानेमें यही चीजें कारण हुई, इन्हींको हरकतोंने मार्क्सको इनका—धर्मका—बागी बना दिया। दूसरे पीछे या पहले (भूत या भविष्यमें) ऐसे धर्मों या धर्मकी संभावना भी इससे सिद्ध हो जाती है, जिनका विरोध मार्क्सको इष्ट नहीं है। हमने गीताधर्मके निरूपणमें धर्मका जो रूप गीताको मान्य बताया है वह तो वर्त्तमान धर्मसे जुदा ही है। इसलिए उसके साथ भी मार्क्सका विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

जरा और भी सुनिये कि लेनिन क्या कहता है। वह अभी-अभी लिखे गये वाक्योंके बाद ही लिखता है कि, "At the same time, however, Engels frequently condemned those who, desiring to be more 'left' or more 'revolutionary' than Social Democracy, attempted to introduce into the programme of the workers' party a direct profession of atheism in the sense of declaring war on religion. In 1874, speaking of the celebrated manifesto issued by the Blanquist refugees from the Commune, who were living in exile in London, Engels described their clamorous declaration of war upon religion as stupid, and stated that it would be the best means of reviving religion and retarding its death. Engels accused the Blanquists of

failing to understand that only the class struggle of the workers, by drawing the masses into class-conscious revolutionary practical work, can really liblrate the oppressed masses from the yoke of religion........ ...and with equal ruthlessness condemned his pseudo-revolutionary idea of suppressing religion in socialist society."

इसका अभिप्राय है कि, "इसीके साथ एंगेल्सने उन लोगोंकी भर्त्सना की, जिसने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीकी अपेक्षा ज्यादा वामपक्षी या क्रांतिकारी बननेके गुमानमें श्रमजीवियोंकी पार्टीके कार्यक्रममें नास्तिकताको साफ-साफ स्वीकार करनेकी बात रखनेकी कोशिश की। इसमे उनका साफ मतलब था धर्मके खिलाफ जेहाद बोलना—युद्धघोषणा करना। पेरिसवाले कम्यून (साम्यवादी सरकार)से भागके जो ब्लाकी (अराजकतावादी नेता) के अनुयायी लंदनमे रहते थे उनने जो महत्त्वपूर्ण घोषणापत्र प्रकाशित किया था उसके सम्बन्धमे १८७४मे बोलते हुए एंगेल्सने उनकी धर्मविरोधी युद्धघोषणाकी लम्बी बातोंको मूर्खतापूर्ण बताया और कहा कि धर्मकी मौतको रोकके उसे फिरसे फैलानेका सबसे सुन्दर साधन यह युद्धघोषणा ही हो जायगी। एंगेल्सने ब्लांकीके अनुयायियोंपर यह भी आरोप लगाया कि वह यह समझते ही नहीं कि सिर्फ श्रमजीवियोंका वर्गसंघर्ष ही, जनसमूहको वर्गचेतनायुक्त क्रांतिकारी अमली काममे खींचके, पीड़ित जनताको सचमुच धर्मके जुएसे मुक्त कर सकता है।.... ...और उसी प्रकार पूरी बेरहमीके साथ उसने, समाजवादी समाजमे धर्मको मिटा देनेके सम्बन्धमे ड्यूहिंगके नकली क्रांतिकारी विचारोंकी भी लानत-मलामत की।"

इसपर अब टीकाटिप्पणी बेकार है। एंगेल्स भी धर्मकी बुनियादी पूँजीवादको ही उसके मानके पंजेसे छूटनेको ही धर्मके जुएसे मुक्ति मानता है। वह तो साफ ही कहता है कि श्रेणीविहीन समाजमें जो लोग धर्मका नामोनिशान मिटानेके स्वप्न देखा करते है वह नकली क्रांतिकारी और रंगे सियार है! हमने तो यह पहले ही कहा है कि भविष्यका दर्वाजा ही ईश्वर या धर्मके लिये बन्द करनेकी कोशिश अति हो जायगी। एंगेल्सने तो अपनी "ड्युहिंगके विरुद्ध" नामक पुस्तकमें ही, जिसका जिक्र लेनिनने ऊपर किया है, यह भी लिखा है कि धर्मके विरोधमे वाद-विवाद और लड़ाई छेड़ देना लोगोंके ध्यानको मार्क्सके अमली राजनीतिक लक्ष्यसे हटाके गलत रास्तेमें ले जाना हो जायगा और यह गलत बात होगी। उसके मतसे मार्क्सवाद तो दरअसल राजनीतिक है, न कि

धार्मिक। मार्क्स वर्गविहीन समाजकी स्थापनाका भूखा है, न कि खामखा धर्म-विहीन समाजका।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और धर्म

बस, उद्धरणोंकी बात हो चुकी। इनपर विवाद भी हमने काफी कर दिया। अब एक ही बात और कहके हम आगे बढ़ेंगे। लेनिनने कहा है कि मार्क्सवाद तो भौतिकवाद है और मार्क्सवादी द्वन्द्ववादका सिद्धान्त मानते हैं। इसलिए उन्हें धर्म या ईश्वरका विचार या खंडन-मंडन भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके अनुसार ही करना होगा। यही बात जरा समझनेको रह जाती है। इसीलिए हमें इस सम्बन्ध में दो-चार शब्द कहने पड़ जाते हैं। क्योंकि यदि हम इस बातको, इस कुञ्जीको, बखूबी समझ जायें तो धर्म और ईश्वरके बारेमें मार्क्सवादका क्या रुख है और उस दृष्टिसे हमें खुद क्या करना चाहिये, यह बात अच्छी तरह साफ हो जायगी। बड़े-बड़े क्रांतिकारी कहे जानेवाले भी इस सम्बन्धमें भयंकर भूलें करते आये हैं, यह तो एंगेल्सने ही खुद कह दिया है। इसलिए थोडेसे स्पष्टीकरणकी जरूरत अभी है। अभीतक, हमारे जानते, इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है।

यदि भगवान ऐसा हो कि मरनेके बादकी किसी दुनियाका प्रबन्ध करता हो जिसे स्वर्ग, नर्क, बैकुंठ या बिहिश्त कहते हैं; अगर हमारी इस भौतिक दुनियाके कारबारसे उसका कोई ताल्लुक न हो, तो मार्क्सको और मार्क्सवादियोंको भी उससे नाहक कलह क्यों हो? जिस दुनियाका जीतेजी हमसे कोई वास्ता नहीं, जो निराली दुनिया है, मगर भौतिक नहीं है, आध्यात्मिक है, उसकी फिक्र हम क्यों करें, अगर वह बिलकुल ही अलग और जुदी है? अगर वह दुनिया और उसका प्रबन्धक हमारे इस भौतिक संसारके कारबारमें "दालभातमें मूसरचन्द" नहीं बनता और दखल नहीं देता, तो हम भी उसमें क्यों दखल देने जायेंगे? अगर काजीजी शहरकी फिक्रमें नाहक दुबले हो रहे थे, तो हम भी काजी क्यों बनें? हम यहाँ कुछ यत्न करते और इस प्रकार इस भौतिक संसार एवं समाजको पूर्णतः बदलना चाहते हैं। हमारे इस काममें धर्म और भगवान यदि कोई मदद न करें तो भी हमें उनसे कोई शिकायत नहीं, गिला नहीं। मार्क्सवादी किसी अदृश्य तथा अलौकिक (Supernatural) शक्तिकी मदद चाहते ही नहीं। उन्हें इस काममें ऐसी शक्तिकी पर्वा और जरूरत नहीं है। बल्कि वे तो ऐसा मानते हैं कि ज्योंही मददके भी नामपर किसी शक्तिने हमारे काममें दखल दिया

कि सारा गुड़ गोबर हुआ। वे तो ऐसी शक्तिका किसी भी तरह इस काममें पड़ना ही खतरनाक मानते हैं। क्योंकि तब तो हमारा अपना यत्न ही ढीला हो जायगा, शिथिल हो जायगा और इसीमें सारा खतरा है।

(हम इस समाजको आमूल परिवर्तित करने एवं बदलनेके लिए किए जानेवाले अपने यत्नमें किसी भी वजहसे, किसी भी मुरव्वतसे जरा भी शिथिलता बर्दाश्त नहीं कर सकते। भाग्य और भगवान हमारे विरुद्ध लाठी थोड़े ही चलाते हैं। दरअसल होता है यही कि उनके नामपर हमारे हाँथ-पाँव रुक जाते है, हमारे यत्न ढीले पड़ जाते है और सफल हो नहीं सकते, हममें आत्मविश्वास नही रह जाता, हम उसीको खो देते है और अन्ततोगत्वा चौपट हो जाते है। हम लोगोंका कुछ ऐसा संस्कार बन गया है कि यदि किसी भी तरह भाग्य और भगवानका नाम हमारे सामने आया कि हम जालमें फँसे और चौपट हुए। हम इस तरह अपने उद्धारकी कोशिशमे शिथिल होके तबाह होते रहते हैं।) मार्क्सने हमारे इस असाध्य रोगको खूब ही समझा था। इसीलिए उसने बेदर्दीसे इसकी दंवा की और भाग्य तथा भगवानका खयाल भी इस भौतिक संसारके कामोंमें आने न दिया। उसने कह दिया कि भगवन्, आप कृपा करें, अलग ही रहें, हम योंही अच्छे है, हमें आपकी कोई जरूरत नहीं, "बिलार दाई बख्श दें, मुर्ग बेचारा बिना पूँछका हो रहेगा।" कोई भी आदमी, जो कमानेवाली जनताके कष्टोंसे द्रवीभूत हृदय रखता है और जिसे हमारे स्वभावों, संस्कारों तथा धर्मके नामपर बनी रंगमकी चमकीली फाँसीका कड़वा अनुभव है, मार्क्सकी इस बेमुरव्वती और रूखेपनका पूरा समर्थन करेगा। धर्म, भगवान और उनके गण बैकुंठ और स्वर्गका प्रबन्ध करें न, और मुक्तिका हिसाब रखें न? उन्हें कौन रोकता है? मगर इधर पाँव हर्गिज न बढ़ायें! खबरदार!

भौतिक द्वन्द्ववाद

मार्क्स तो भौतिकवादी इसी मानीमें है कि इस संसार के छोटे-बड़े सभी कामोंमें वह किसी भी भगवान या दैवी-शक्तिका हाथ नहीं देखता। उसने तो इसके सभी कामोंके बाकायदा चलानेकी ताकत इसी दुनियामें, यहा के पदार्थों में देख ली है। हम चाहे सो भी जायें। मगर वह ताकत, जिसे वह निरी भौतिक ताकत समझता है, बराबर जगी रहती और अपना काम करती जाती है। उसे तो जरा भी विराम नहीं है, जरा साँस लेनेकी भी फुर्सत नही है। इसी ताकतका नाम उसने द्वन्द्ववाद रखा है। इसे ताकत कहिये, या भौतिक प्रक्रिया (Material Process) कहिये। यही सब कुछ करती है। मार्क्स इस दुनियाके

निर्माण-सम्बन्धी दार्शनिक विचारोंमें इससे आगे नहीं जाता, नहीं जा सकता है। उसके मतमें इससे आगे जानेकी जरूरत हुई नहीं। हमारा काम तो इतनेसे ही बखूबी चल जाता है, चल जायगा। बल्कि वह तो यहाँतक कहता है कि आगे जानेमें खतरा है और सारा गुड़ गोबर हो जायगा—हमारे काम ही चौपट हो जायँगे। यही है संक्षेपमें मार्क्सका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या भौतिक द्वन्द्ववाद (Dialectical Materialism)।

इस सिद्धान्तके अनुसार संसारके पदार्थोंमें बराबर संघर्ष (द्वन्द्व) चलता रहता है, जिसे हलचल, संग्राम, युद्ध या जीवन संग्राम (Struggle for Existence) भी कहते हैं। इससे कमजोर पक्ष हारता और जबर्दस्त जीतता है; दुर्बल खत्म हो जाते, मिट जाते और प्रबल जम जाते हैं। इसे ही डार्विनका विकासवाद भी कहते हैं। इस दुनियामें जो लोग साधन सम्पन्न, कुशल और चौकन्ने हैं वही रह पाते और आगे बढ़ते हैं। विपरीत इसके जो ढीले, आगा-पीछा करनेवाले, असहाय, भोंदू हैं वे मिट जाते हैं। इस निरन्तर चलनेवाले (सतत) संग्रामके फलस्वरूप ही संसारकी प्रगति होती है। यह तो बात मानी हुई है। चाहे ढीले ढाले और आगा-पीछावाले खत्म भले ही हो जायँ और उनके विरोधी भले ही आगे बढ़ जायँ। मगर इसीके साथ समूचा संसार आगे बढ़ जाता है और इसीमें पीछे पड़ जानेवालों या शोषितोंके उद्धारकी आशा है, गुंजाइश है। यदि केवल विरोधी ही आगे बढ़ते और उन्हीं के साथ बाकी दुनिया नहीं बढ़ती, तो यह बात नहीं होती। परन्तु उन्हींके साथ शोषित जनता भी बढ़ती जाती है। किसानों और मजदूरोंको तरह-तरहकी चालाकी, जाल तथा उपायोंसे दबाके पूँजीवादी आगे बढ़े हैं सही। मगर उनकी ही प्रगतिके साथ कलकारखाने, उत्पादनके साधन और ज्ञान-विज्ञान भी खूब ही प्रगति कर गये हैं। इन सबोंकी प्रगतिके करते ही पूँजीवादियोंकी दिक्कतें भी बढ़ गई हैं, उनकी चिन्ता और परेशानी भी बढ़ गई है। फलतः वे डरने लगे हैं कि कहीं शोषित जनता हमें यकायक दबा न ले। रूसमें तो ऐसा हो भी चुका है। दूसरी जगह भी यह होके ही रहेगा। इसीलिये पूँजीवादियोंकी घबराहट बढ़ती ही जा रही है। यदि उनके वशकी बात होती तो वे उत्पादन वगैरहके साधनोंकी ऐसी भयंकर प्रगति होने नहीं देते। मगर क्या करें ? बेबस हैं। रेशमका कीड़ा अपने ही बनाये कोयेमें बन्द होके मरनेपर है!

मार्क्सवाद शोषितों और पीड़ितोंको बताता है कि आँखें खोलो और इस द्वन्द्ववादमें विश्वास करो। इस अटल सत्यको मानो कि तुम्हारा उद्धार इस भौतिक और सांसारिक संघर्षोंके चलते ही अवश्यम्भावी है। इसमें कोई भी बाहरी हाथ नहीं है। यदि बाहरी हाथ होता तो तुमसे लाख गुना कादर्यां और

चलते-पुर्जे जमींदार-मालदार उस बाहरी हाथको अपने काबूमें करके संसारकी ऐसी प्रगति होने ही नहीं देते, जिससे आज उनपर आफत आ बनी है। फिर तुम किस खेतकी मूली हो कि उस बाहरी हाथको अपने पक्षमें करोगे? यदि कोई भगवान ऐसा करनेवाला होता तो मालदार सोने और संगमर्मरके मन्दिरमें उसे पधराके और मेवा-मिश्री खिलाके—भोग लगाके—जरूर अपने कब्जेमें कर लेता। तुम्हारे सत्तूकी क्या बिसात? इसलिये ये खाम खयाल छोड़के भौतिक द्वन्द्व-वादपर ही विश्वास करो।

मार्क्स यहींपर यह भी कहता है कि देखो, पूँजीवादी और जमींदार—तुम्हारे शोषक—बड़े काइयाँ हैं। उनने तुम्हारे लिये अनेक जाल फैलाये हैं। भगवान और धर्मका कोई भी ताल्लुक इस भौतिक कारबारसे नहीं होनेपर भी उनने इन्हें खड़ा करी तो दिया। यह देखो, इन्हींके नामपर तुम्हे ठगते आ रहे हैं, ठगने चले हैं! और ये पंडित, मौलवी, पादरी, पुरोहित, साधु फकीर? क्या ये भी ठगते हैं? हाँ, हाँ, जरूर ठगते हैं। ये सबके सब मालदार-जमींदारोंके दलाल हैं। इसीलिये तो खाते तुम्हारा और गुण गाते उनका। बडी चालाकीसे जाल बिछा है। सजग रहो। दूरकी कौड़ी लाई गई है। ये गुरु, पीर, पंडित वगैरह तुम्हे धोका दे रहे हैं और अंत तक धोका देंगे। इनकी बातोंमे हर्गिज न पड़ो। तुम जो अपने उद्धारके लिये कटिबद्ध हो रहे हो और द्वन्द्ववादके चलते जो तुम्हारे उद्धारका सामान प्रस्तुत हो गया है उसीसे घबराके मालदारोंने ये जाल खड़े किये हैं; ताकि भाग्य और भगवानके फेरमे पड़के तुम अपने यत्नमें शिथिल हो जाओ, उससे मुँह मोड़ लो और मालदार-जमींदारोंके घर घीके चिराग जल। फिर तो इन गुरु-पुरोहितों और पादरी-मौलवियोंको वे लोग भरपूर बिदाई देंगे!

मार्क्स और भी कहता है कि द्वन्द्ववाद और कुछ नही, केवल वर्गसंघर्ष है। एक वर्ग दूसरेको कल, बल, छलसे दबाके, मिटाके खुद आगे बढ़ना चाहता है। मठ, मन्दिर, तीर्थ, हज्ज, पोथी, पुराण इसी वर्गसंघर्षकी सफलताके साधन हैं। मालदार-जमींदार तुम्हारे वेतनमें एक पैसा नही बढ़ाते, तुम्हारी दवाका प्रबन्ध नहीं करते और न लगानमें ही कमी करते है। मगर मन्दिरों और तीर्थोंमे लाखों रुपये फूँकते है! क्यों? वही पैसे तुम्हे क्यों नही देते? कल-कारखाने तुम्हीं चलाते हो न? खेतीबारी करके उनके लिये गेहूँ-मलाई तुम्हीं उपजाते हो न? या कि ये मठ, मन्दिर और तीर्थ वगैरह? फिर तुम्हें पैसे न देके उन्हे वे लोग क्यों देते है? सोचो। तुम्हें देनेसे तुम्हारी हिम्मत बढ़ेगी और आगे फिर भी माँगे पेश करोगे और ये माँगें जब वे पूरा न करेंगे तो उन्हें मिटाने चलोगे। मगर मन्दिरों और तीर्थोंके पैसे तो उन्हें सूद-दरसूद सहित वापस मिलेंगे। क्योंकि पंडे, पुजारी, साधु-फकीर वगैरह तुम्हें भाग्य और भगवानके नामपर

भड़कायेंगे, गुमराह करेंगे और संघर्षसे विमुख करेंगे! समझा न? यही चाल है। इसमें हर्गिज न पडो और लड़ो। यदि तुम्हारा विश्वास हो कि ये साधु-फकीर वगैरह तुम्हारे ही साथी हैं, तो चलो खुलके वर्गसंघर्ष करो और उन्हें भी मददके लिये बुलाओ। उनसे कह दो कि आइये, मदद कीजिये। अभी तो हमारे पास कुछ है नहीं, तो भी आप लोगोंको भरसक अच्छा ही खिलाते-पिलाते हैं। मगर इस संघर्षमें जीत होनेपर तो खूब माल चखायेंगे और सुनहले वस्त्र पहनायेंगे, संगमर्मरके महल बनवा देंगे। मठ-मन्दिर भी वैसे ही सजा देंगे। मगर देखोगे कि वे हर्गिज तुम्हारा साथ न देंगे; हालाँकि उन्हे इसीमें लाभ है। साथ दें भी कैसे? वे तो मालदारोंके दलाल ठहरे न? वे मजबूर हे, बँधे हैं। अपना फायदा सोचे या मालिकोंका?

इस प्रकार भौतिक बातोंमें अध्यात्मवाद और ईश्वरका अड़ंगा खड़ा करके साधु-फकीर और मन्दिर-तीर्थवाले संत-महंत मालदारोंका पक्ष करते और उनके विरुद्ध शोषितोंके द्वारा चलाई जानेवाली हककी लड़ाई या वर्गसंघर्षमें बाधक होते हैं, यही बात मार्क्सवादके जरिये शोषितोंके दिल-दिमागमें बैठा दी जाती है। वे इसे बखूबी समझके वर्गसंघर्षसे धर्म या ईश्वरके नामपर नहीं मुड़ते। किन्तु उसे अविराम चलाते जाते हे। इसी वजहसे पहले कहा गया है कि हड़तालके समय नास्तिक-आस्तिकवाली दलबन्दी मजदूरोंमें हर्गिज रहने न दी जाय, होने न दी जाय। पुरोहित या पादरी तो जरूर चाहेगा कि यह दलबन्दी जारी रहे। मगर मार्क्सवादी हर्गिज इसे बर्दाश्त नही करेगा। उसका तो असली लक्ष्य यह लड़ाई ही है। इसीके लिये यह आस्तिक-नास्तिकका झगडा भी पहले करता था; ताकि रास्ता साफ हो। मगर जब यह युद्ध चल पडा, तो उस झगडेका क्या काम? उससे तो अब इसमें उलटे बाधा हो सकती है। इसीलिये उसे तिलाजलि दे देता है।

हमने इस लम्बे विवेचनसे साफ देख लिया कि भौतिक संघर्ष और वर्गयुद्धमें बाधक होनेके कारण ही मार्क्सवादसे धर्म और ईश्वरका विरोध किया गया है। जब और कोई उपाय नही चला तो जमीदार-मालदारोंने इसी आखिरी ब्रह्मास्त्रसे ही काम लेना शुरू जो कर दिया था। वह आज भी यही करते है। यही है धर्म और ईश्वरके विरोधका भौतिक दृष्टिसे और द्वन्द्ववादकी दृष्टिसे प्रयोग, या यों कहिये कि भौतिक द्वन्द्ववादको दृष्टिसे प्रयोग। इससे स्पष्ट है कि यदि इनके करते वर्गसंघर्षमे कोई भी बाधा न हो तो मार्क्सवाद इन्हे छूए भी नही। इनके साथ कमसे कम क्षणिक सन्धि तो करी ले। बहुत पहले तो यह बात न थी—वर्ग-संघर्षमें ये धर्मादि बाधक न थे, या यों कहिये कि वर्गसंघर्षका यह रूप पहले था ही नही। तो फिर वे बाधक होते भी कैसे? इधर कुछ सदियोंसे ही यह बात

हुई है। इसीलिये मार्क्सवादमें "वर्त्तमान" धर्म (Modern Religion) और धर्मसंस्थाओंकी ही बात कही गई है और इन्हींको मालदारोंका हथकंडा बताके विरोध किया गया है। मार्क्सके मतसे जब सभी चीजें बदलती हैं तो धर्म भी आज बदला हुआ ही यदि मान लिया जाय तो हर्ज ही क्या ? जो भी धर्म वर्गसंघर्षका जरा भी बाधक हो यदि वह इसी बदले हुएके भीतर ही माना जाय तो इसमें उज्र क्या होगा ?

यदि मार्क्सवादकी दृष्टि धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमें भौतिक द्वन्द्ववादकी न होके कोरी सैद्धान्तिक होती, तो यह बात नहीं होती। सिद्धान्तकी दृष्टिका तो यही मतलब है कि बिना किसी प्रयोजन और खयालके ही हम असलियत एवं वस्तुस्थितिका पता लगाना चाहते हैं। जैसा कि नये-नये ग्रहोंका पता लगाते हैं। इसमें कोई खास प्रयोजन तो है नहीं। यह काम तो सृष्टिकी असलियतकी जानकारीके ही लिये किया जाता है। यह भी नहीं जानते कि इन अनन्त ग्रहों और उपग्रहोंकी कौनसी जरूरत इस सृष्टिके काममें है। फिर भी इनका और इनकी गति आदिका पता भी लगाते ही हैं। इसके बारेमें वाद-विवाद चलता है और पोथी-पोथे भी लिखे जाते हैं। यही है सैद्धान्तिक दृष्टि। यदि इस दृष्टिसे धर्म और ईश्वरका विरोध मार्क्सको इष्ट होता तो फिर भौतिक द्वन्द्ववादकी बात इस सिलसिलेमें छेड़नेका प्रश्न ही कहाँ होता ? यह दृष्टि तो ईश्वरके विरोधका प्रयोजन बताती है। अर्थात् मार्क्स किसी खास प्रयोजनसे ही उसका विरोध करता है न कि ईश्वर सचमुच हई नहीं, केवल इस सैद्धान्तिक दृष्टि से। बल्कि इस सैद्धान्तिक दृष्टिका तो वह पक्का विरोधी है। इसमें तो वह अराजकतावाद और अवसरवादकी गंध पाता है। इसीलिये इसका सख्त विरोध भी करता है। क्योंकि ये दोनों वाद मार्क्सवादके विरोधी तथा वर्गसंघर्षके घातक हैं। इससे तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः धर्म या ईश्वर हई नहीं, यह बात मार्क्स या मार्क्सवादकी नहीं है, इस पचड़ेमें वह नहीं पड़ता। भौतिक द्वन्द्ववादकी दृष्टिके इस लम्बे विचारने, हमें विश्वास है, मार्क्सवादके इस पहलूको काफी साफ कर दिया है।

धर्म, सरकार और पार्टी

अब हमें फिर गीताके धर्मको देखना है। जब, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं, धर्म गीताके अनुसार नितान्त वैयक्तिक या व्यक्तिगत (शख्सी—Personal) चीज है, तो न सिर्फ इसमें या इसके नामपर कलहकी रोक हो जाती है। बल्कि मार्क्सवादसे भी मेल हो जाता है, विरोध नहीं रहता। व्यक्तिगत कहनेका यही मतलब है कि किसी समुदाय, गिरोह, कमिटी, पार्टी, दल, सभा या अंजुमनकी

चीज यह हर्गिज नहीं है। हरेक आदमी चाहे जैसे इसके बारेमें अमल करे, सोचे या कुछ भी करे। किसी दूसरे आदमी, दल, पार्टी, गिरोह या देशको इसमें टाँग अड़ाने और दखल देनेका कोई हक नहीं। असलमें गिरोह, समुदाय, पार्टी आदिको इससे कोई ताल्लुक हुई नहीं। इसीलिये सरकारको भी इसमें पड़नेका हक है नहीं। अगर वह पड़ती है, जैसा कि बराबर ही देखा जा रहा है, खासकर पूँजीवादी युगमें, तो और भी, नाजायज काम करती है। जर्मनी या और देशोंकी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियोंने जहाँ सरकारको इसमें पड़नेसे रोका तहाँ उनने खुद इसमें पड़ जानेकी गलती की, या कमसे कम ऐसा खयाल जाहिर किया। इसीलिये एंगेल्सने उन्हें डाँटा था। उसने कहा था कि सरकार इसमें हाथ न डाले यह तो ठीक है। मगर पार्टीकी भी यह निजी चीज क्यों हो? पार्टीको इससे क्या काम? उसका कोई मेम्बर धर्मको माने या न माने। पार्टी उसमें दखल क्यों देने लगी? हाँ, इसके चलते जो भारी खतरे हैं, उनका खयाल करके पार्टीका रुख तो इसके बारेमें सदा भौतिक द्वन्द्ववादवाला ही होगा। यही बात लेनिनने अपने लेखमें यों लिखी है—

"This he did in a declaration in which he emphatically pointed out that Social Democracy regards religion as a private matter in so far as the State is concerned, but not in so far as it concerns Marxism or the worker's party."

"Should our deputy have gone further and developed atheistic ideas in greater detail? We think not. This might have exaggerated the significance of the fight which the party of the proletariat is carryi g on against religion; it might have obliterated the dividing line between the bourgeois and socialist fight against religion."

इसका अर्थ यह है, "एंगेल्सने यह काम एक घोषणाके द्वारा किया, जिसमें उसने जोर देकर बताया कि सोशल डेमोक्रेटिक (मजदूरोंकी क्रांतिकारी) पार्टी धर्मको व्यक्तिगत चीज वहीं तक मानती है जहाँतक सरकारका इससे ताल्लुक है। लेकिन उसके मतसे मार्क्सवाद या मजदूरोंकी पार्टीके लिये यह व्यक्तिगत चीज नहीं है।"

"क्या ड्यूमाके हमारे प्रतिनिधि (सरकोफ) को चाहिये था कि आगे बढ़ जाता और नास्तिकवादपर विस्तारसे बोलता एवं खंडन-मंडन करता? हम तो ऐसा नहीं समझते। यदि वह ऐसा करता तो मजदूरोंकी पार्टीका जो धर्म-विरोधी आन्दोलन और संघर्ष है उसके महत्त्वकी अत्युक्ति हो जाती। समाजवादियों और पूँजीवादियोंके द्वारा धर्मका विरोध करनेमें जो भेद है वह ऐसा करनेसे मिट जाता।"

यहाँ यह बात जाननेकी है कि पूँजीवादी लोग भी अपना काम निकालनेके लिये समय-समयपर धर्मका विरोध करते हैं। उस समय जर्मनीमें बिस्मार्कने ऐसा ही किया था। जार भी यहूदियोंका विरोध करता था और हिटलर भी। मगर उनका मतलब तो दूसरा ही होता है। या तो उन्हें दिमागी दुनियाकी कुश्ती लड़नेका शौक होता है, या वे ख्यातिके लिये ही ऐसा करते हैं, या ऐसा करनेसे उनका कोई दुनियाबी मतलब सिद्ध होता है। वर्गसंघर्षकी दृष्टिसे वे ऐसा काम हर्गिज नहीं करते। भले ही सैद्धान्तिक दृष्टिसे करते हों। विपरीत इसके साम्यवादी लोग वर्गसंघर्षकी ही दृष्टिसे उसका विरोध करते हैं। मगर कोरे वाद-विवाद और खंडन-मंडनमें पड़ जानेपर खतरा यह है कि मार्क्सवादी भी उसी सैद्धान्तिक दृष्टिमें पड जा सकते हैं। इसीलिये उसे रोकके दोनों दृष्टियोंको अलग-अलग रखा गया है। मार्क्स कोरे खंडन-मंडनको पूँजीवादी और इसीलिये अपनी विरोधी दृष्टि मानता है, यह बात मार्केकी है।

दृष्ट और अदृष्ट

यह कहा जा सकता है कि गीताने जब कर्मवादको माना है तो भाग्य या प्रारब्धका सवाल हमारे भौतिक कामोंमें भी आई जाता है। अठारहवें अध्यायके "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता" से लेकर "पंचैते तस्यहेतवः" (१४, १५) तक दो श्लोकोंमें साफ ही कहा है कि जो कोई भी भला या बुरा काम किया जाता है उसके पाँच कारण होते हैं, जिनमें एक दैव, प्रारब्ध या भाग्य भी है, जिसे तकदीर भी कहते हैं। गीताने स्वीकार कर लिया है कि प्रारब्धका हाथ दुनियाके सभी कामोंमें होता ही है। इसमें शककी जगह हुई नहीं। फिर तीसरे अध्यायके "यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः" (१४) में भी साफ ही कर्म और यज्ञको वृष्टिके द्वारा अन्नादिके उत्पादनमें और इस तरह भौतिक कार्य चलानेमें कारण ठहराया है। चौथे अध्यायके "नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य" (३१) श्लोकमें भी स्पष्ट ही कह दिया है कि यज्ञके बिना इस दुनियाका काम चली नहीं सकता। छठें अध्यायके ३७ से ४८ तकके श्लोकोंमें इसी कर्मका सम्बन्ध मनुष्योंके जन्म और स्वभावके साथ जोड़के ४५वेंमें कह दिया है कि "अनेक जन्मोंमें यत्न करनेके बाद ही उसका दिल-दिमाग ठीक हो जानेपर मनुष्य मोक्षका भागी होता है"—"अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।" इस तरह कर्मोंका सम्बन्ध पुनर्जन्मके साथ लगा हुआ है और पुनर्जन्मका तो अर्थ ही है यह भौतिक शरीर। सोलहवें अध्यायके १९, २० श्लोकोंमें आसुरी सम्पत्तिवालोंके दुष्कर्मोंके फलस्वरूप उनकी दुर्गति और नीच योनियोंमें उनका जन्म बताया गया है। दूसरे अध्यायके "बुद्धियुक्तो जहातीह" (५०) श्लोकमें पुण्य-पापका जिक्र है। इधर-उधरके श्लोकोंमें

भी यही बात है। इस तरह गीतामें जानें कितनी ही जगह यही बात पाई जाती है। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि भाग्य और भगवान्का दखल इस दुनियाके भौतिक कार्योंमें गीताको भी मान्य है।

बात तो कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है और अगर इसपर कुछ ज्यादा खोद-विनोद न किया जाय तो इसी नतीजेपर पहुँचना अनिवार्य हो जायगा। यह ठीक है कि ऐसा होनेपर भी हमारा पहलेका मन्तव्य ज्योंका त्यों रह जाता है। क्योंकि यह जो कर्मवादकी बात अभी-अभी कही गई है वह तो गीताधर्म है नहीं—वह गीताकी अपनी चीज नहीं है। इसके बारेमें तो अधिकसे अधिक इतना ही कह सकते हैं कि सामान्यतः उस समयके समाज और शास्त्रमें जो कुछ कर्म-सम्बन्धी बातें और धारणायें प्रचलित थीं, जो सिद्धान्त आमतौरसे इस सम्बन्धमें माने जाते थे, उन्हींको अक्षरशः अनुवाद करके गीताने लिख दिया है। ऐसा करनेमें उसका प्रयोजन कुछ न कुछ है। बावजूद इन सभी बातोंके योग और ज्ञानके आश्रय लेनेपर मनुष्य बन्धनरहित हो जाता है, यही बात दिखलाने और योग, ज्ञान या भक्तिके मार्गके महत्त्वको बतानेके ही लिये उन कर्मफलों और विविध गतियोंका उल्लेख गीता करती है, जो आस्तिक समाजमें प्रचलित थीं और हैं। गीताका उनके अनुमोदन या उनकी यथार्थतासे कोई ताल्लुक नहीं है। यह उसका ध्येय हुई नहीं। यदि उन प्रसंगों और पूर्वापर विचारोंको देखा जाय तो यह बात साफ हो जायगी। गीताके श्लोकार्थके समय हम भी यह बात साफ दिखायेंगे।

इसके विपरीत गीताधर्मके नामसे जो कुछ हमने कहा है और जिसका उल्लेख सत्रहवें अध्यायमें आया है वह गीताकी निजी चीज है, अपनी देन है। द्वितीय अध्यायवाले योगको जिस प्रकार हम गीताधर्म मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि वह उसकी खास देन है, ठीक यही बात यहां भी है। श्रद्धापूर्वक कर्म करना ही असल चीज है। श्रद्धासे ही कर्मोंका रूप निर्णीत हो जाता है। इसीलिये कर्म सोलहों आना व्यक्तिगत चीज है, यह बात भी गीताधर्म है। उस योगकी ही तरह यह चीज भी और कहीं पाई नहीं जाती है। इसलिये गीताधर्म और मार्क्सवादमें कोई भी विरोध नहीं है यह जो हमने पहले कहा है वह ज्योंका-त्यों बना रह जाता है और इस प्रकार हमारा अपना काम सिद्ध हो जाता है—पूरा हो जाता है। जो चीज या जो विषय—जो सिद्धान्त—अन्यान्य ग्रन्थों और मतवादोंमें पाया जाय उसे भला गीता-धर्म कैसे कहेंगे? और यही बात कर्मवादके सम्बन्धमें भी है। यही कारण है कि हमारे हरेक कामोंमें पाँच कारणोंको गिनाके उनमें जो दैव या भाग्यको भी गिनाया है, ठीक उसीके पूर्वके श्लोक "पंचैतानि महाबाहो", "सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि" (१३) में साफ ही कहा है कि सांख्यमत या सांख्य-सिद्धान्तमें ऐसा माना गया है।

फिर भी इस सम्बन्धमें कुछ बातें जाननेकी हैं। इससे गीताधर्मके यथार्थ महत्त्वको समझनेमें आसानी होगी। प्रायः हजारों साल पहले एक अपूर्व प्रतिभाशाली नैयायिक विद्वान उदयनाचार्य हो गये हैं, जिनने ईश्वरवाद और धर्म-कर्मकी सिद्धिपर कई अपूर्व ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हींमें एकका नाम न्यायकुसुमाञ्जलि है। उसमें एक स्थानपर इसी दैव, प्रारब्ध, अदृष्ट या अपूर्व—दैवको ही अपूर्व तथा अदृष्ट भी कहते हैं—के सम्बन्धमे लिखते हुए लिखा है कि सांसारिक पदार्थोंकी उत्पत्तिके लिये दो प्रकारके कारण माने जाते हैं, दृष्ट और अदृष्ट। कपड़ा तैयार करनेमें जिस प्रकार सूत, जुलाहा, करघा वगैरह प्रत्यक्ष या दृष्ट कारण हैं, उसी प्रकार सभी पदार्थोंके ऐसे ही कारणोंको दृष्ट कारण कहते हैं। मगर इनके अलावे जो दूसरा कारण है और प्रत्यक्ष दीखनेवाला नही है उसे अदृष्ट कहते है। उदयनाचार्यने कहा है कि यह अदृष्ट कारण कोई स्वतंत्र या करामाती चीज नहीं है। उसका काम है दृष्ट कारणोंको जुटानेमे ही सहायक होना—"अदृश्यदृष्ट-सम्पादनेनैव चारितार्थ्यात्"। यह अदृष्ट, दैव या प्रारब्ध दूसरा कुछ नहीं करता! यह नहीं होगा कि सूत, जुलाहा, करघा आदि सभी प्रत्यक्ष कारण जुटे हों तो भी अदृष्टके करते कपड़ेके तैयार होनेमें देर लगेगी।

अब अगर हम इस दार्शनिक विचारपर गौर करते है तो कर्मवादकी सारी दिक्कतें दूर हो जाती हैं। ईश्वरवादके ही सिलसिलेमें यह बात कही जानेके कारण महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यदि ऐसा न माने तो बड़ी गड़बड़ होगी और रसोई बनानेवाला चावल, पानी, लकड़ी, आग, चूल्हा, बर्तन वगैरह रसोईके सभी सामानोंको जुटाके भी भाग्यका मुँह देखता बैठा रहेगा। फलतः सभी जगह गड़बड़झाला हो जायगा। पाचक महाशय अदृष्ट महाराजकी बाट जोहते रहेंगे। मगर उनका दर्शन होगा ही नही! और तटस्थ दुनियाँ कहेगी कि यह कैसी मूर्खताकी बात है अदृष्टका सिद्धान्त! इसमे तो कोई अक्ल मालूम होती ही नही। इसीलिये दार्शनिक नैयायिकको हैसियतसे उदयनाचार्यने बहुत ही सुन्दर समाधान करके सारा झमेला ही मिटा दिया। यह भी नहीं कि अदृष्टका अर्थ केवल पूर्व कर्म, दैव या प्रारब्ध ही हो। अदृष्टका अर्थ है जो न दीखे—जो प्रत्यक्ष न हो। इसलिये ईश्वर, उसकी इच्छा वगैरह जो भी ऐसे कारण माने जाते हैं सभी इसमे आ गये और सभीका समाधान उदयनाचार्यने किया है। क्योंकि दलील तो सभीके लिये एक ही है और गड़बड़ भी वही एक ही है।

हाँ, तो इस सिद्धान्तके अनुसार यदि हम देखते हैं तो हमें कोई गड़बड़ नहीं मालूम होती। मजदूरोंकी लड़ाईके सिलसिलेमे हड़तालका मौका आनेपर सारी तैयारी हो गई और मजदूर लड़ने जा रहे हैं या लड़ रहे हैं, इस विश्वासके साथ कि विजय होके ही रहेगी। इसी बीच भाग्यवादी और भगवानका ठेकेदार कोई

पादरी, पण्डित या मौलवी आके उन्हें बहकाता है कि कुछ न हो सकेगा, तुम्हारी तकदीर ही खराब है, तुमपर भगवान ही रंज है ! तुम लोग हारोगे जरूर । मिलवालेपर भगवान खुश जो है, उसका भाग्य सुन्दर जो है, उसका करम चन्दनसे लिखा जो गया है ! बस, सारा मामला बिगड़ता है—उसके बिगड़नेका खतरा हो जाता है । मगर अगर उदयनाचार्यवाली दार्शनिक बात और युक्ति मान लें, तो फिर ऐसी बेहूदा बातोंकी गुंजाइश ही नहीं रह जाती । उस दशामें इन गुरु-पुरोहितों या मौलवी-पादरियोंकी बेहूदगी को जगह है कहाँ ? हड़तालकी सफलताका सारा बाहरी या दृष्ट सामान जब होई गया तो अब अदृष्ट—भाग्य या भगवान—अलग कहाँ रह गया ? यह तो सारी शैतानियत है । अमीरोंके दलालोंने यह कुचक्र खुद रचा है जो निराधार और बेबुनियाद है । उन्हें तो उलटे यह कहना चाहिये कि हड़तालकी तैयारीमें कोई कसर रहने न दो । बस, भगवान और भाग्य तुम्हारे साथ है और जरूर जीतोगे । यही उचित और कर्मवादके सिद्धान्तके अनुसार है ।

और गीताका क्या कहना ? वह तो हमारे यत्नों और कोशिशोंको ही सब कुछ मानती है । वह अदृष्टकी पर्वा न करके काममें मुस्तैदीसे जुट जानेपर ही जोर देती है । वह कहती है कि जब सभी सामान मौजूद है तो जीत तो होगी ही, कार्यसिद्धि तो होगी ही । फिर आगा पीछा क्यों ? वह तो यहाँतक कहती है कि जीतने हारनेका क्या सवाल ? हमें तो काम करनेका ही हक है । हमारे बसकी चीज तो यही है । हम फल-वलकी फिक्र करके कामसे, संघर्षसे क्यों मुँड़े ? यह तो नादानी होगी । वह तो पीछे मुड़नेवालोंको कहती है कि छिः-छिः क्या मुँह दिखाओगे जब दुश्मन हँसेंगे और और लोग गालियाँ देंगे ? इस तरह बेइज्जतीसे जीनेकी अपेक्षा तो काम करते-करते और लड़ते-लड़ते मर जाना लाख दर्जे अच्छा है । इसमें शान है, प्रतिष्ठा है, इज्जत है । इसमें न सिर्फ लड़ने और काम करनेवालोंका, बल्कि उनके साथियोंका भी सर ऊँचा होता है । फिर और चाहिये ही क्या ? इससे बढ़के और हई क्या ?

जब अर्जुन इसी आगा-पीछामें अपने कर्त्तव्यसे विमुख हो रहा था, तो कृष्णने दूसरे अध्यायसे ही शुरू करके अठारहवें तक जानें बीसियों बार उसे ललकारा और कहा कि क्या नाहक मरने-मारनेको फिक्र नादानोंकी तरह कर रहे हो ? तैयार हो जाओ, डट जाओ, कमर बाँध लो, दृढ़ संकल्पके साथ लड़ो । यह नामर्दोंकी-सी बातें क्या कर रहे हो ? ये बातें तुम्हारे जैसोंके लिये मुनासिब नहीं है, जेबा नहीं देती है । जरा सुख-दुःख बर्दाश्त करनेकी हिम्मत तो करो । इस विश्वासके साथ भिड़ तो जाओ कि जरूर फतह होगी । फिर तो बेड़ापार ही

समझो। ये बातें अक्लमन्दोंकी नहीं हैं जो तुम कर रहे हो। तुम धोकेमें पड़के आगा-पीछा कर रहे हो, खबरदार! जरा सुनिये,—"धीरस्तत्र न मुह्यति" (२।१३), "तांस्तितिक्षस्व" (२।१४), "तस्माद्युध्यस्व" (२।१८), "उभौ तौ न विजानीतः" (२।१९), "कं घातयति हन्ति कम्" (२।२१), "नानुशोचितुमर्हसि", "न शोचितुमर्हसि" (२।२५-२७, ३०), "का परिदेवना" (२।२८), "न विकम्पितुमर्हसि" (२।३१), "पापमवाप्स्यसि" (२।३३), "उत्तिष्ठ युद्धाय कृतनिश्चय" (२।३७), "युद्धाय युज्यस्व" (२।३८), "कुरु कर्माणि" (२।४८), "योगाय युज्यस्व" (२।५०), "नियतं कुरु कर्म त्वं" (३।८), "मुक्तसंग समाचर" (३।९), "कार्यं कर्म समाचर" (३।१९), "कर्त्तुमर्हसि" (३।२०), "युध्यस्व विगतज्वरः" (३।३०), "कुरु कर्मैव" (४।१५), "कृत्वापि न निबध्यते" (४।२२), "उत्तिष्ठ भारत" (४।४२), "योगिनः कर्म कुर्वन्ति" (५।११), "कार्यं कर्म करोति" (६।१), "तस्माद्योगी भव" (६।४६), "युध्य च" (८।७), "योगयुक्तो भव" (८।२७), "तत्कुरुष्वमदर्पणम्" (९।२७), "यमो लभस्व" (११।३३), "निमित्तमात्रं भव" (११।३३), "युध्यस्व" (११।३४), "मत्कर्मपरमो भव" (१२।१०), "न हिनस्त्यात्मनात्मानम्" (१३।२८), "मा शुचः" (१६।५), "कर्म कर्तुमिहार्हसि" (१६।२४), "कर्म न त्याज्यं" (१८।३), "न त्याज्य कार्यमेव" (१८।५), "कर्माणि कर्त्तव्यानि" (१८।६), "कर्मणः संन्यासो नोपपद्यते" (१८।७), "न हन्ति न निबध्यते" (१८।१७), "संसिद्धि लभते" (१८।४५), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" (१८।४६), "स्वधर्म श्रेयान्" (१८।४७), "कर्मकुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" (१८।४७), 'सहजं कर्म न त्यजेत्' (१८।४८), "न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि" (१८।५८), "यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्ये" (१८।५९), "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" (१८।५९), "करिष्यस्यवशोऽपि तत्" (१८।६०), 'करिष्ये वचनं तव" (१८।७३) इत्यादि। इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि पचास बारसे ज्यादा अर्जुनपर ललकार पड़ी है। शायद ही कोई अध्याय है जिसमें यह बात नहीं आई है। गीतामें कर्मकी ललकार ओतप्रोत है—यह कर्मकी ललकार गीताकी रग-रगमें भिनी हुई है और कर्मयोग उसका कारण है।

अर्जुनकी मानवीय कमजोरियाँ

यों तो दूसरे अध्यायके ३१-३६ श्लोकोंमें, मानव स्वभावकी कमजोरियोंको समझके ही, अर्जुनको खूब ही ललकारा है कि मुँहमें कालिख पुत जायगा, यदि पीछे हटे, लोग धिक्कारेंगे; हटनेसे तो मरना कहीं बेहतर है; शानकी मौत बेइज्जती की गद्दीसे लाख दर्जे अच्छी है, आदि आदि ३७वेंमें भी कह दिया है कि तुम्हारे तो दोनों ही हाथोंमें लड्डू है—हारो तो शान तथा स्वर्ग और जीतो तो राजपाट!

इसलिये हर्गिज मुँह न मोडो। असलमे विवेक और अध्यात्मवादकी अपेक्षा यही बातें मनुष्यको स्वभावतः उत्तेजित करके कर्त्तव्य पथमे खामखा जुटा देती हैं' गीता इसे बखूबी जानती है और इसपर जोर भी उसने इसीलिये दिया है। तथापि दूसरे अध्यायके शुरूके दो और तीन श्लोकोमे जो कुछ कहा गया है वह इतना सुन्दर है और मार्क्सवादके साथ गीताको मिलानेमे उसका इतना महत्त्व है कि हम उसे लिखे बिना रह नही सकते। वे दोनो श्लोक ये है, "कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप: ॥"

इन दोनोका अर्थ ऐसा है, "अर्जुन, इस विकट समयमे, जब कि सारी तैयारी हो चुकनेके बाद भिडन्त होने ही वाली है, तुममे यह कमजोरी कहाँसे आ गई? कमजोरी भी ऐसी कि भले लोग जिससे लाख कोस दूर भागें, और जो निहायत मनहूस और अमंगल होनेके साथ ही इज्जतको भी मिट्टीमे मिला दे। खबरदार, नामर्दी मत दिखाओ। यह चीज तुममे जेबा नही देती। इसलिये बहादुर, दिलकी इस बेहूदी कमजोरीको छोडकर तैयार हो जाओ।" मगर इतनेमे ही काम नही चलेगा। इन बातोकी खूबी और अहमियत समझनेके लिये हमे अर्जुनकी उन बातोपर सरसरी नजर दौडानी होगी जो उसने इससे पहले कही थीं और जिनके जवाबमे यह कहा गया है।

पहले अध्यायके २८-४६ श्लोकोंको देखनेसे पता चलता है कि अर्जुनको जैसे धर्म और अक्लका अजीर्ण हो गया हो। उसका हृदय उस समय दयासे दब गया था, यह बात उससे ठीक पहलेके २७वे श्लोकके "कृपया परयाविष्टः" से स्पष्ट है। यही कारण है कि बुद्धि ठीक काम करती थी नही। फलतः अक्लका अजीर्ण मिटाना जरूरी हो गया। जो लोग ऐन कर्त्तव्य पालनके समय दिलकी कमजोरी और नादानीसे दयार्द्र हो जाते और रहम करने लगते हैं वह ऐसी ही बे सर-पैरकी बातें करते हैं। १९०५ में काले सागरके रूसी जहाजी बेडेके सिपाहियोको मजबूरन अपने ही अफसरोके विरुद्ध बगावत करनी पडी थी। क्योंकि अफसरोने जानबूझके ऐसी शैतानियत की और सिपाहियोंकी स्वतन्त्रतापर ऐसी रोक लगाई कि बर्दाश्तसे बाहर थी। बात यह थी कि रूसके किसानों और मजदूरोके क्रान्तिकारी आन्दोलनोके साथ जहाजी सिपाही (Sailors) सहानुभूति दिखाना चाहते थे। कारण, वह आन्दोलन उनके अपने ही मजलूम भाइयोंका था। मगर इसमे अफसरोने अड़ंगे डाले। फलतः विद्रोहकी आग भडक उठी और सिपाहियोने सभी अफसरोको चटपट कैद कर लिया! फिर तो लेनेके देने पड़े! अफसरोंकी सारी गर्मी ही गायब हो गई। उनने आर्जू मिन्नत की, माफी माँगी,

आगेके लिये बाधा न डालनेके वादे किये। फिर क्या था? दयामें आके सिपाहियोंने उन्हें रिहा कर दिया। बस, मौका मिलते ही बाहरसे अपने पक्षकी फौज मँगाके अफसरोंने उन्हीं सिपाहियोंका कत्लेआम शुरू कर दिया। ऐसे समयकी दया नादानीकी पराकाष्टा होती है और उसका नतीजा इसी तरह भुगतना पड़ता है। लेनिनने इस दयावाली नादानीका सुन्दर वर्णन सन् १९०५ वाली रूसी क्रान्तिके सम्बन्धके ९।२।१।१९१७वाले ज्यूरिचके भाषणमें किया है। महाभारतके समय वही गलती अर्जुन भी ऐन मौकेपर करने जा रहा था।

मगर इस ऐन मौकेपर पीछे हटनेके लिये कोई कारण तो चाहिये ही। दयाकी बात तो की जा नहीं सकती थी। जिनने सब कुछ किया और पांडव परिवारका सर्वस्व छीनने, उन्हें तंग-तबाह करने, उनकी स्त्रीतकको बेइज्जत करने और उन्हें मार डालनेतकके लिये जिनने कोई भी दकीका बाकी नहीं रखा, यहाँतक कि जंगलमें भटकनेके समय उन्हें चिढ़ाने तथा जलेपर नमक छिड़कनेके लिये वही राजसी ठाटबाटके साथ दुर्योधनका सारा समाज पहुँच गया था, उन्हींके साथ दया! ऐसा बोलनेकी हिम्मत अर्जुनको थी नहीं। इसलिये वह धर्म, पाप, कुल-संहार, वर्णसंकर, नरकवासका भय आदि बातें पेश करने लगा, धर्म एवं नीतिशास्त्रके पन्नेके पन्ने उलटने लगा। उसने यह भी कहा कि यह ठीक है कि विरोधियोंको भी ऐसा ही सोचना चाहिये; आखिर अक्लकी ठेकेदारी हमींको तो नहीं है; एक ही पक्षके सोचने से दुनियाँ में काम भी नहीं चला करता। फिर भी उनकी आँखें तो बन्द है! वे तो लोभमें पड़े हैं! उन्हें तो लोक-परलोक कुछ सूझता नहीं! लेकिन हमारी तो खुली है। हम तो सारा अनर्थ साफ देख रहे हैं। इसलिये हम तो सन्तोषको ही कल्याणकारी मानते हैं। यह भी ठीक है कि हम हटेंगे तो शत्रु लोग हमें बर्बाद करके ही छोड़ेंगे। मगर इससे क्या? हमारा परलोक तो न बर्बाद होगा, स्वर्ग वैकुंठ तो मिलेगा, भगवान तो खुश होंगे। इसलिये हमें हर्गिज-हर्गिज लड़ना नहीं चाहिये।

ऐसा मालूम होता है कि किसी जमींदार या कारखानेदारके अत्याचारोंसे ऊबकर हड़ताल या और तरहकी सीधी लड़ाई लड़नेको जब किसान और मजदूर पूरी तरह आमादा हैं, ठीक उसी समय कोई धर्मध्वजी, धर्मका ठेकेदार गुरु, पीर, पण्डित, मौलवी या पादरी उन्हें धर्म और भगवानके नामपर सिखा रहा है कि कभी संघर्ष और लड़ाईका नाम न लो! राम, राम, महापाप होगा। यदि जमींदार-मालदार कष्ट देते हैं, तो बर्दाश्त करो आखिर वे लोग बड़े हैं, मालिक हैं। छोटोंके लिये बड़ोंकी बातें सहनेमें ही फायदा है! सन्तोष करो, तो भगवान खुश होगा, परलोक बनेगा। भुलावेमें मत पड़ो। वे गलती करते हैं तो करें, मगर

उनकी देखा-देखी तुम लोग क्यों नादानी कर रहे हो, आदि आदि। और दूसरे अध्यायके शुरूके दो श्लोकोंमें जो कुछ कृष्णके मुँहसे गीताने कहलवाया है वह तो ऐसा मालूम होता है कि कोई वर्गसंघर्षवादी मार्क्सवादी ऐसे उपदेशकोंको और उन किसान-मजदूरोको भी फटकार रहा है जो भूलभुलैयामें पड़के आगा-पीछा कर रहे हैं। गीताने धर्म और पुण्य-पाप आदिकी सारी दलीलोंका जो उत्तर इन दो श्लोकोंमे ही खत्म कर दिया है वह निरी भौतिक दृष्टिसे ही है। इतना चुभता हुआ, संक्षिप्त और माकूल उत्तर शायद ही मिले। अर्जुनकी धर्म-वर्मकी बातोंकी जरा भी पर्वा नहीं की गई है। उनका खयाल ही नहीं किया गया है। सीधे सांसारिक दृष्टिसे ही उसे कसके चपत लगाई गई है और करारी डाँट दी गई है। इन दो श्लोंमें जो सिर्फ एक शब्द 'अस्वर्ग्य' आया है उससे शायद यह भ्रम हो कि स्वर्ग या परलोककी बात भी इसमें है। मगर संस्कृतमें 'अस्वर्ग या अस्वर्ग्य' शब्द मनहूस,अमंगल आदिके ही मानीमें आता है। ऐन लड़ाईके समय इन बातोंमे बढ़के मनहूस या अमंगल होई क्या सकता है? इसीलिये हम गीता-धर्मको मार्क्सवादका साथी पाते हैं।

स्वधर्म और स्वकर्म

इस सिलसिलेमें हम दो और बातें कहके यह प्रकरण पूरा करेंगे। एक तो है अपने-अपने धर्मोमें ही डटे रहने और दूसरेके साथ छेड़खानी न करनेकी। अपने धर्मको कभी किसी दूसरे धर्मसे बुरा या छोटा न मानना और दूसरोंके धर्मोंपर न तो हाथ बढ़ाना और न उनकी निन्दा करना, यह गीताकी एक खास बात है। गीताने इसपर खास तौरसे जोर दिया है। चाहे और जगह भी यह बात भले ही पाई जाती हो; मगर गीतामें जिस ढंगसे इसपर जोर दिया गया है और जिस प्रकार यह कही गई है वह चीज और जगह नहीं पाई जाती।

यों तो किसी न किसी रूपमें यह बात अन्य अध्यायों एवं स्थानोमें भी पाई जाती है। मगर तीसरे अध्यायके ३५वें और अठारहवेंके ४७, ४८ श्लोकोंमें खास तौरसे इसका प्रतिपादन है। यहाँतक कि "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" श्लोकका यह आधा भाग दोनों ही जगह ज्योंका त्यों लिखा गया है। इससे गीताकी नजरोंमें इसकी अहमियत बहुत ज्यादा मालूम पड़ती है। यह भी जान पड़ता है कि इस मामलेमें जो एक निश्चित दृष्टि तय कर दी गई है उसीका ज्योंका त्यों पालन करनेपर ही गीताका जोर है। वह उसमें जरा भी परिवर्तन बर्दाश्त नहीं कर सकती। नहीं तो उन्हीं शब्दोंको हूबहू दोनों जगह दुहरानेका और दूसरा मतलब होई क्या सकता है? यह भी नहीं कि वे शब्द साधा-

रण हैं। वही तो गीताके इस मन्तव्यके प्रतिपादक हैं। उनके साथ जो अन्य शब्द या वाक्य पाये जाते हैं उनका काम है इन्हींकी पुष्टि करना—इन्हींके आशयको स्पष्ट करना।

अब जरा इनका अर्थ देखें। श्लोकका जो आधा भाग ऊपर लिखा गया है उसका आशय यही है कि "दूसरेका धर्म यदि अच्छी तरह पालन भी किया जाय तो भी उसकी अपेक्षा अपना (स्व) धर्म अधूरा या देखनेमें बुरा होनेपर भी कहीं अच्छा होता है।" एक तो गीताने धर्म और कर्मको एक ही माना है यह बात पहले कही जा चुकी है और आगे भी इसपर विशेष प्रकाश डालेंगे। लेकिन इतना तो इससे साफ हो जाता है कि यह मन्तव्य सभी कामों, क्रियाओं या अमलोंके सम्बन्धमें है, न कि धर्मके नामपर गिनाये गये कुछ पूजा-पाठ, नमाज आदिके ही बारेमें। इसका मतलब यह हुआ कि हमें अपने-अपने कामोंकी ही पर्वा करनी चाहिये, फिक्र करनी चाहिये, फिर चाहे वे कितने भी बुरे जँचते हों, भद्दे लगते हों या उनका पूरा होना गैरमुमकिन हो। वे अधूरे भी दूसरोंके पूरोंसे कहीं अच्छे होते हैं। इसलिये दूसरोंके अच्छे, सुन्दर और आसानीसे पूरे होनेवाले कामोंपर हमारा खयाल कभी नहीं जाये; हम उन्हें करने और अपनोंको छोड़नेकी भूल कभी न करें। क्योंकि इस तरह हम दो कसूर कर डालेंगे। एक तो अपने कर्त्तव्यसे भ्रष्ट होंगे और इस तरह उसकी पाबन्दीके बिना होनेवाली खराबियोंका जवाबदेही हमपर होगी। दूसरे हम अनधिकार चेष्टाके भी अपराधी होंगे।

दूसरी बात है इसमें अपने या 'स्व'की। स्वकर्म या स्वधर्मका मतलब है जो प्रत्येक आदमीके लिये किसी वजहसे भी निर्धारित हैं, निश्चित है उसके जिम्मे लगाया गया (assigned) है, या जो उसके स्वभावके अनुकूल होनेके कारण ही उसपर लादा गया है, उसके माथे मढ़ा गया है। १८वें अध्यायवाले श्लोकमें ऊपर लिखे आधे श्लोकके बाद कारणके रूपमें लिखा गया है कि "स्वभावके अनुकूल जो काम हो उसे करनेमें पाप या बुराई होती नहीं"—स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" इससे पता चलता है कि स्वकर्म या स्वधर्मका अर्थ है "स्वाभाविक धर्म या कर्म।" उसके पहले ४१-४६तकके छै श्लोकोंमें चारों वर्णोंके धर्मोंको गिनाते हुए सबोंको "स्वाभाविकधर्म" ही कहा है। उन श्लोकोंमें केवल कर्मशब्द ही है और इस ४७वेंमें भी पूर्वार्द्धमें 'धर्म' कहके उत्तरार्द्धमें, जैसा कि अभी दिखाया है, 'कर्म' ही कहा गया है। बादवाले ४८वेंमें भी 'सहजं कर्म-कौन्तेय" में पुनरपि कर्म शब्द ही आया है। फलतः मानना होगा कि धर्म और कर्म एक ही मानीमें बोले गये हैं और इन शब्दोंका अर्थ है स्वभावनियत, स्वभाव-के अनुकूल या स्वाभाविक काम।

मगर समस्त गीताके आलोडन करने और १८वें अध्यायके आरंभके ही कुछ वचनोंको भी देखनेसे पता चलता है कि कुछ कर्म ऐसे हैं जिनके बारेमें स्वभावका सवाल होता ही नहीं। वे तो सबोंके लिये नियत, स्थिर या तयशुदा हैं। दृष्टान्त-के लिये ५-६—दो-श्लोकोंमें यज्ञ, दान, तपके बारेमें कहा गया है कि ये सबोंके लिये समान रूपसे कर्त्तव्य हैं। इन्हें कोई छोड़ नहीं सकता। बेशक फल और कर्म—दोनोंकी ही—आसक्ति छोड़के ही ये किये जाने चाहिये', कृष्णने अपना यह पक्का मन्तव्य कहा है। इसके बाद ही "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः" आदिमें कहा है कि नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है। वह तो तामस त्याग है। ९वें श्लोकमें भी "कार्यमित्येव यत्कर्म नियतः" शब्दोंके द्वारा नियत कर्मको कर्त्तव्य समझके करते हुए फलासक्तिके एवं कर्मासक्तिके त्यागको ही सात्त्विक-त्याग कहा है। इससे स्पष्ट है कि नियत कर्म कहते हैं स्वाभाविक कर्मको और किसी कारणवश स्थिर या निश्चित किये गये (assigned) कर्मको भी। यज्ञ, दान, तप ऐसे ही कर्मोंमें आते हैं। अपने आश्रितोंका पालन या रक्षा भी ऐसे ही कर्मोंमें है। पहरेदारका पहरा देना, अध्यापकका पढ़ाना या सेवककी सेवा भी ऐसी ही है। अनेक धर्म, मजहब या सम्प्रदायोंके अनुसार जिसे जो करनेको कहा गया है वह भी नियतकर्म या स्वधर्ममें आ जाता है। अपनी श्रद्धा और समझसे जो कुछ भी करता है वह तो पक्का-पक्को स्वधर्म है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो गीताने धर्म-मजहबके झगड़े और शुद्धि या तबलीगके सवालकी जड़को ही खत्म कर दिया है। गीता इन झगड़ों और सवालोंको भेड़ोंका मूँड़ना ही समझती है। और आदमीको भेड़ बनाना तो कभी उचित नहीं। इसीलिये इन झमेलोंमें पड़नेकी मनाही उसने कर दी है। उसने तो अठारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमे यह भी कह दिया है कि बुराई-भलाई तो सभी जगह और सभी कामोंमें लगी हुई है। इसलिये कर्मोंके सम्बन्धमें अच्छे और बुरे होनेकी क्या बात? हमारा धर्म अच्छा, तुम्हारा बुरा, यह बात उठती ही है कैसे? सभी बुरे और सभी अच्छे हैं। किसने देखा है कि कौनसे धर्म भगवान या खुदा तक सीढ़ी लगा देते हैं? इसीलिये तीसरे अध्यायमें "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः" आदि आधे श्लोकके बाद कहा है कि "इसलिये स्वधर्म करते-करते मर जाना ही कल्याणकारी है; दूसरेका (पर) धर्म तो भयदायक है।"

इतना ही नहीं। ठीक इस श्लोकके पूर्ववाले ३४वें श्लोकमें कहा है कि "हरेक इन्द्रियोंके जो पदार्थ (विषय) होते हैं उनके साथ रागद्वेष लगे ही होते हैं; उनसे किसीका भी पिंड छूटा नहीं होता। इसलिये इन रागद्वेषोंसे ही बचना चाहिये। असलमें चीजें या उनका ताल्लुक ये खुद बुरे नहीं हैं—इनसे

किसीकी हानि नही होती । किन्तु उनमे जो रागद्वेष होते है वही सब कुछ करते है—वही जहर है, घातक है"—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥" इस बातका प्रतिपादन तो पहले बहुत विस्तारके साथ किया गया है । यहाँ ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि भले बुरेका सवाल उठाके जो किसी धर्म या कामको बुरा और दूसरेको अच्छा कहते है और इसीलिये आपसमे लोगोंके सर भी फूटते है, वह तो नादानी है । न कोई भला है न बुरा । भला-बुरा तो अपना मन ही है । यही तो चीजो या कामोमे रागद्वेष पैदा करके जहन्नुम पहुँचाता है । इसलिये हमे इस भूलमें हर्गिज नही पड़ना होगा । गीताका यह कितना सुन्दर मन्त्र है और यदि हम इसपर चले तो हमारे हककी लड़ाई कितनी जल्दी सफल हो जाय । ऐसा होनेपर तो मार्क्सवादके सामनेकी भारी चट्टान ही खत्म हो जाय और वर्गसंघर्ष निर्बाध चलने लगे ।

योग और मार्क्सवाद

जिन दो बातोंको कहके यह प्रकरण पूरा करनेकी इच्छा हमने जाहिर की थी उनमे स्वधर्मवाली यह एक बात तो हो चुकी है । अब दूसरीको देखना है । गीताके छठे अध्यायके ४५वे और सातवे अध्यायके तीसरे एवं १९वें श्लोकोंके अनुसार गीताका योग प्रायः अप्राप्य है । लाखो करोड़ोंमे शायद ही एकाध आदमी इसमें पूरे उतरते है । उक्त ४५वे श्लोकमे तो कहा है कि 'योगकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाला मनुष्य जब इसमे सारी शक्ति लगाके पड़े तो उसके भीतरकी मैल धुलते-धुलते बहुत जन्म लग जाते है, तब कही वह पूर्ण योगी बनके परमगति प्राप्त करता है"—"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः । अनेक-जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥"

इसी प्रकार सातवें अध्यायके १९वे श्लोकमे भी कहा है कि "बहुत जन्मोमे कोशिश करते-करते ज्ञान हासिल होता है, समस्त संसारमे वासुदेव बुद्धि या परमात्मज्ञान होता है । उसीके बाद ब्रह्मप्राप्ति होती है । ऐसे महात्मा लोग अत्यन्त अलभ्य है ।" 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥" मगर तीसरे श्लोकमे तो और भी कठिनाईका वर्णन इस मार्गमे सिलसिलेमे मिलता है । वहा तो कहा है कि 'हजारों लाखोमे एकाध आदमी ही योगी होनेके लिये यत्न करते है और ऐसे लाखोंमे बिरला ही कोई मुझे—परमात्माको—ठीक ठीक जान पाता है"—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

यदि इन तीनों वचनोंको मिलाके देखें तो पता चलता है कि गीताका योग नियम तो हो सकता है नहीं। यह तो इतना कठिन है कि असंभवप्राय है। कठोपनिषत्में इसी सम्बन्धके प्रश्नके उत्तरमें यमने नचिकेतासे कहा था कि "नचिकेता, मौतकी बात मत पूछो—जीते जी मर जानेकी बात न पूछो"—"नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः" (१।१।२५)। उनने यह भी कह दिया था कि "इस मार्गपर चलना क्या है छुरेकी तीखी धारपर चलना समझो, जो असंभव जैसी बात है। इसीलिये जानकार लोगोंने कहा है कि यह मार्ग दुर्गम है"—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" (१।३।१४)। हमने भी योगके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है उससे भी निस्सन्देह यही बात पक्की हो गई है।

तृतीय अध्यायके "यस्त्वात्मरतिरेव" श्लोकका बार-बार उल्लेख तो आया है। मगर इस सम्बन्धमें उसे मनन करना चाहिये। चौथे अध्याय के १९-२३ श्लोकोंको भी गौरसे पढ़ना होगा। पाँचवेंके ७-२१ श्लोक भी इस सम्बन्धमें बहुत महत्त्व रखते हैं। छठे अध्यायके ७-३२ श्लोकोंमें जितनी बातें कही गई है उनसे भी इस विषयपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आठवेंके ८-१६ श्लोक भी विचारणीय हैं। दूसरे अध्यायके अन्तमें जो स्थितप्रज्ञ का, बारहवेंके १३-१९ श्लोकोंमें जो भक्तका और चौदहवेंके २२-२५ श्लोकोंमें जो गुणातीतका वर्णन है वह हमारी आखें खोल देता है, ताकि इस चीजकी कठिनाईका अनुभव करें। तेरहवेंके २७-२८ श्लोकोंमे भी यह बात मिलती है। अन्तमे अठारहवें अध्यायके ५०-५८ श्लोकोंमें भी यह बात लिखी गई है। यदि हम इन सभी वचनोंका पर्यालोचन और मन्थन करते हैं तो कठोपनिषत्‌वाली बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है और मानना पड़ जाता है कि गीताका योग असंभवसी चीज है। फलतः वह अपवाद स्वरूप ही हो सकता है न कि मनुष्योंके लिये नियम या सर्व-जन-संभव पदार्थ। सभी लोग ऐसी चीजको कमसे कम आदर्श बनायें यह भी उचित नहीं। आकाशके चाँदको जो आदर्श बनाये ओर उसीके पीछे अपने सभी कामोंको चौपट करे वह पागलके सिवाय ओर कुछ नहीं। यह योग ऐसा नहीं कि उसे आदर्श बनाके हम कुछ और भी कर सकते हैं जबतक वह प्राप्त न हो जाय।

जब इस भौतिक संसारमें गीताधर्म—योग—अपवाद ही हो सकता है, न कि नियम, तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सर्वसाधारणके लिये जो चीज साध्य हो और इसीलिये जो हमारे लिये नियम जैसी सार्वजनिक वस्तु हो सके वह क्या है ? उत्तरमें बेखटके कहा जा सकता है कि वह है मार्क्सवाद। बहुत लोग इस बातको नहीं समझके ही नाक भौं सिकोड़ते हैं। हालाँकि हमने धर्म तथा ईश्वरके

सम्बन्धमें मार्क्सवादका जो विश्लेषण किया है उससे लोगोंका भ्रम कमसे कम उस सम्बन्धमें तो मिट जाना ही चाहिये। मगर वह तो मार्क्सवादका एक पहलू मात्र है। असलमे तो मार्क्सवाद साम्यवाद या वर्गविहीन समाजका निर्माण ही है। मार्क्सवादका तो यही लक्ष्य माना जाता है कि इस संसारको आनन्दमय, सुखमय, स्वर्ग या वैकुंठ जैसा बना दिया जाय; न बीमारियाँ हो और न अकाल-मृत्यु हो, न कोई गरीब हो और न अमीर; सबोको समानरूपसे खाने-पीने पढने-लिखने, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञानकी सभी सुविधाये प्राप्त हों; सबसे ऊँचे दर्जेके आरामका सभीके लिये—मानवमात्रके लिये—पूरा सामान होनेपर भी अन्वेषण, विज्ञान, कला आदिके लिये पर्याप्त समय सबको प्राप्त हो; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पाला आदिको निर्मूल कर दिया जाय; प्रकृतिके साथ ही सघर्ष करके मौतके ऊपर भी कब्जा कर लिया जाय, आदि-आदि। एक वाक्यमे "सर्वेऽपि सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यतु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्," पूरी तरह चरितार्थ हो जाय। यह बाते केवल मनोराज्य नही है। विज्ञानके लिये ये सभी संभव है। यदि विश्वामित्रकी नई सृष्टि मानी जाती है तो आज भी विज्ञान क्या नही कर सकता है? विश्वामित्रने भी यदि किया होगा तो विज्ञानके ही बलसे।

यह ऐसी चीज नही है कि मानवमात्रमें किसीके भी लिये असाध्य हो। यह भी नहीं कि इसके लिये कोई खास ढंगकी या अलौकिक तैयारी चाहिये। मार्क्सने तो इसका सीधा उपाय वर्गसंघर्ष बताया है। उसीका मार्ग अबाध हो जानेपर यह सभी बाते अपने आप धीरे-धीरे हो जायंगी। रूसने इसका नमूना पेश भी कर दिया है। वह इस मामलेमे बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। असलमे पूँजीवादी राष्ट्रोंसे घिरे होनेके कारण ही—ऐसे राष्ट्रोसे जो उसे हजम करनेपर तुले बैठे है—उसकी प्रगतिमे वैसी तेजी नही आ सकी है। यदि यह बात न होती तो वह देश आज कहाँका कहा जा पहुँचा होता। फिर भी उसने जो कुछ किया है वह भी कम नही है।

हमने अनीश्वरवादके सम्बन्धमे मार्क्सवादका मत स्पष्ट करी दिया है। मगर थोडी देरके लिये मान भी ले कि वह धर्म-वर्मसे नाता तोडनेको ही कहता है, तो हर्ज क्या है? यदि ऊपर लिखो सभी बातोंकी सिद्धिके लिये—भूमिपर ही स्वर्ग लानेके लिये—यह करना भी पडे और ईश्वरको भी विदाई देनी हो तो क्या बुरा है? मामूली जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे और कारबारके लिये भी तो रोज ही धर्म और ईश्वरको धकियाने ही है, गर्दनियाँ देते ही है। कचहरियोमे, सर्वेसेट्लमेन्टके समय और खरीद-बिक्रीमे तो रोज ही सालग्राम, गंगा,-तुलसी,

वेद कुरान, बाइबिल उठाके झूठी कसमें खाते ही है। क्या इतनेपर भी धर्म और ईश्वर रही गये? फाटका और सट्टेबाजीमे तो कोई भी जाल-फरेब बच पाता नहीं और आजकलका व्यापार तो केवल जूआ ही है। फिर भी क्या हम लोगोंने धर्म और ईश्वरको भूमंडलमे कही भी रख छोड़ा है? यदि इतनेपर भी हममें कोई ऐसा कहनेकी धृष्टता करे कि वह धर्मवादी और ईश्वरवादी है तो यह पहले दर्जेका धोका है, आत्मप्रवंचना और लोकवंचन है।

फिर हम साफ ही क्यो न कह दे कि हम धर्म-वर्म नही मानते? इसमें ईमानदारी तो है। उसमे तो यह भी नही है। इसका परिणाम भी सुन्दर होगा। हम धर्मके ठेकेदारोंसे बाल-बाल—साफ-साफ बच—जायँगे, और अपने हककी लडाई बेखटके अच्छी तरह चलाके श्रेणी-विहीन समाज जल्दसे जल्द स्थापित कर सकेंगे। धर्म माननेकी दशामे तो दुबिधेमे—रमखुदैयामे—रह जानेके कारण कोई काम ठीक-ठीक कर पाते नही। न इधरके रह जाते है और न उधरके। परिणाम बहुत ही बुरा होता है। इसमे यह बात न होगी। कोई रुकावट तो होगी ही नही। मालदार-जमीदारोका अन्तिम ब्रह्मास्त्र तो यही है और जब यही न रहा, तो उनकी तो कमर ही टूट जायगी और जल्दी ही धड़ामसे गिर पड़ेंगे। इसलिये हमारी—शोषितो एव पीडितोंकी—जीत शीघ्र ही होगी और अवश्य होगी। धर्म और ईश्वरके नामपर जो स्वर्ग वैकुंठ या बहिश्त मिलनेवाला बताया जाता है वह एक तो अनिश्चित है। दूसरे उसका आँखो देखा प्रमाण तो है नहा। तीसरे वह मिलेगा भी तो मरनेके बाद। मगर इसका फल तो यहीपर प्रत्यक्ष स्वर्ग और बैकुंठ है। इसमे तो यहीपर आनन्द-समुद्रमे गोते लगाना है।

इतना ही नहीं। जब ज्ञान-विज्ञानका मार्ग उन्मुक्त हो जायगा और सभीको इसका पूरा अवसर प्राप्त होगा, सारी सुविधाये सुलभ होगी, तो यह भी हो सकता है कि हम उसी विज्ञानके जरिये धर्म और ईश्वरको भी ढूंढ निकालें। आखिर विज्ञान और साइन्सका तो यही काम ही है न, कि सत्यका पता लगाये? वह तो असत्यका शत्रु और सत्यका साथी है। उसका तो एक ही काम है कि सत्यका पता चाहे जैसे हो लगाये। और अगर ईश्वर, धर्म और परलोक सत्य है, अबाध्य है, अखंडनीय है जैसा कि धर्मवादी लोग दावा करते है, तब तो उन्हे और भी घबराना नहीं चाहिये। साँचको आँच क्या? तब तो विज्ञान ईश्वर वगैरहको जरूर ढूंढ लायेगा। जैसे बादलोमें छिपा सूर्य कुछी देरके बाद बाहर आ जाता है और उसकी चमक-दमक और भी तेज मालूम होती है, वही बात धर्म और ईश्वरके बारेमे भी होगी। इस दर्म्यान कुछ समयके लिये छिपे रहनेके कारण वे और भी सर्वजनप्रिय हो जायँगे। तब तो हम उनकी कद्र और भी ज्यादा करेंगे।

अभी तो ऐसा नही होता है। अभी तो हम उन्हे आधे मनसे सिर्फ दिखानेके

लिये ढोंगकी तौरपर ही मानते हैं। हमारा मतलब है आम लोगोंसे ही। इसी-लिये, जैसा कि कहा है, भौतिक स्वार्थोंके सामने उन्हे ताकपर रख भी देते हैं। मगर तब तो यह बात न होगी। तब तो पूरी तौरसे मानेंगे और कचहरियों या सट्टोंका सवाल तब होगा ही नहीं और न रोजगार-व्यापारवाले ही होंगे कि झूठी कसमें खाने और जाल-फरेबकी जरूरत पड़े। इसलिये तो धर्मवादियोंको मार्क्स-वादका कृतज्ञ होना चाहिये, यदि वे ईमानदारीसे धर्म तथा ईश्वरको मानते है, कि वह उनका रास्ता निष्कंटक और निराबाध बना देता है। यदि थोड़ी देरके धर्मत्यागसे—यदि कुछ समय तक इस त्यागरूपी घोर तपके प्रतापसे—धर्म और भगवान्का मार्ग सदाके लिये निरुपद्रव हो जाय तो हमे खुशी-खुशी इस त्यागको अपनाना चाहिये। आखिर बिना त्यागके तो कुछ होना जाता नही।

लेकिन यदि धर्म और ईश्वर सत्य नहीं है तब तो विज्ञान उनका पता नहीं ही लगा पायेगा, यह बात पक्की है और जो विज्ञानकी कसौटीपर खरा न उतरे वह तो जरूर ही नकली होगा। फिर हमे उसकी चिन्ता ही क्यों हो? हमे तो उलटे इसमे खुशी होनी चाहिये कि मिथ्या चीजोंसे पिंड छूटा। तब तो हमे मार्क्सवादका कृतज्ञ भी होना चाहिये कि उसने सत्यका पता लगाया और धर्म या ईश्वर जैसी मिथ्या चीजोसे हमारा पिंड छुड़ाया। आखिर मिथ्याचार और मिथ्या पदार्थोंसे चिपटे रहना तो कोई बुद्धिमानी है नहीं। यह तो किसी भी भलेमानसका काम नही है और हम—धर्मवादी—लोग यह तो दावा करते ही है कि हम भले लोग है। फिर तो हृदयसे धर्मवादी खुश ही होंगे कि चलो अच्छा ही हुआ और मिथ्या पदार्थोंसे पिंड छूटा। ईमानदारीका तकाजा तो यही है।

इस प्रकार इस लम्बे विवेचनने यह साफ कर दिया कि गीताधर्म और मार्क्सवादका कहीं भी विरोध नही है। वे अनेक मौलिक बातोंमे एक दूसरेके निकट पहुँच जाते हैं—मिल जाते है। बल्कि यो कहिये कि कई बुनियादी बातोंमें गीताधर्म मार्क्सवादका पूर्णतया पोषक है। इतना कहनेमें तो किसीको भी आना-कानी नहीं होनी चाहिये कि मार्क्सवादको गीतासे कोई आँच नही है—कोई भय नही है। मार्क्सवादसे गीताधर्मके डरने या उसे आँच लगनेका प्रश्न तो उठी नहीं सकता। ऐसा प्रश्न उठाना ही तो गीताधर्मको नीचे गिराना और उसके महत्त्वको कम करना है। वह तो इतनी मजबूत नींवपर खड़ा है, उसकी बुनियाद तो इतनी पक्की है कि वह सदा निर्भय है। उसे किसीसे भी भय नहीं है। वह इतना ऊँचा है कि उसतक कोई दुश्मन पहुँच नहीं सकता है। असलमें उसका शत्रु कोई हुई नहीं। गीताधर्मका तो निष्कर्ष ही है "तुल्यो मित्रारि-पक्षयोः" (१४।२५), "समः शत्रौ च मित्रे च" (१२।१८) आदि-आदि।

३. गीताकी शेष बातें

गीताकी प्रमुख बातो और मुख्य मन्तव्योके विवेचनके सिलसिलेमे ही हमने जो 'गीताका धर्म और मार्क्सवाद' का स्वतंत्र रूपसे विचार किया है उसका कारण तो बताई चुके हैं। उस लम्बे विवेचनसे भी उसके स्वतन्त्र निरूपण की आवश्यकताका पता लोगोको लग जाता है। अतएव हमे फिर उसी साधारण मार्गपर आ जाना और गीताकी बची-बचाई प्रमुख बातोपर कुछ विशेष प्रकाश डाल देना है। बेशक, अब जिन बातोका विवेचन हम करेगे वह भी अहमियत तथा महत्त्व रखती है और गीतामे उनका भी अपना स्थान है। मगर यह ठीक है कि उन्हे वैसी महत्ता मिल नही सकती जो अबतक कही गई गीताधर्मकी बातोको मिली है। आगेवाली बातोमे भी कुछ मौलिक जरूर है। मगर उनका जिक्र किसी न किसी रूपमे पहले आ चुका है। फलत यहाँ उनका कुछ विस्तार मात्र कर दिया है। हाँ, जो नई है उनकी विशेषता यही है कि गीता ने उन्हे नये ढंगसे रखा है और इस तरह उनपर अपनी मुहर लगा दी है।

गीतामें ईश्वर

सबसे पहली बात आती है ईश्वरकी। गीतामे ईश्वरका नाम और उसकी चर्चा बहुत आई है, इसमे शक नही है। मगर यह चर्चा कुछ निराले ढंगकी है। अठारहवे अध्यायके "ईश्वरः सर्वभूतानां" (६१) श्लोकमे ईश्वर शब्दसे ही उसका उल्लेख आया है। जितना स्पष्ट वहाँ लिखा गया है उतना और कही नही। और जगह दूसरे-दूसरे शब्दोंके द्वारा उसका उल्लेख होनेसे वह सफाई नही है। एक बात और भी है। १३वे अध्यायके "समं पश्यन्हि सर्वत्र" (२८)मे भी ईश्वर शब्द आया है। उससे पहलेके २७वे श्लोकमे परमेश्वर शब्द भी आया है। मगर उसमें वह सफाई नहीं है जो १८वे अध्यायके उस ईश्वर शब्दमे है। वहाँ तो कुछ ऐसा मालूम होता है कि सबोंसे अलग और सबोंके ऊपर कोई पदार्थ है जिसे ईश्वर कहते है और उसकी शरण जानेसे ही उद्धार होगा। इस प्रकार जैसा आमतौरसे ईश्वरके बारेमे खयाल है ठीक उसी रूपमे वहाँ आया मालूम होता है। मगर यहाँ जो ईश्वर और परमेश्वर है वह उस रूपमे उसे बताता मालूम नही पडता है। "प्रकृति पुरुषं चैव" इस १९वे श्लोकसे ही शुरू करके यदि देखा जाय तो देह और जीव या प्रकृति और पुरुषका ही वर्णन इस प्रसगमे है। उन्हीको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी पहले तथा इस प्रसंग मे भी कहा है। फिर २२वे श्लोकमे तो साफ ही

कहा है कि इसी पुरुषको पर, परमात्मा, महेश्वर आदि भी कहते हैं जो इसी देहमें मौजूद है। आगे चलके २६वेंमें उसे ही क्षेत्रज्ञ कहके २७, २८में परमेश्वर और ईश्वर कहा है। इसलिये वह सफाई यहाँ है कहाँ ? यहाँ तो जीव और ईश्वर एकही प्रतीत होते है। ३१वें श्लोकमें भी "परमात्माऽयमव्ययः" शब्दोंके द्वारा इसी पुरुषको ही अविनाशी परमात्मा कह दिया है।

बेशक पन्द्रहवे अध्यायके १७, १८ श्लोकोंमें परमात्मा, उत्तम पुरुष, पुरुषोत्तम तथा ईश्वर शब्दोंमें ऐसे ही ईश्वरका उल्लेख आया है जो प्रकृति एवं पुरुषके ऊपर—दोनोंसे निराला और उत्तम—बताया गया है। लेकिन यहाँवाला ईश्वर शब्द मुख्य नही है, ऐसा लगता है। चोदहवे अध्यायके १९वें श्लोकमें पर शब्द आया है। उसीके साथ 'मद्भाव' शब्द है। २६ और २७ श्लोकोंमें 'मां' या 'अस्मत्' शब्द है। इससे पता लगता है कि पर शब्द भी परमात्माका वाचक है। मगर वह जीवात्मासे अलग यहाँ प्रतीत नहीं होता। हाँ, १६वें अध्यायके "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" (८) में जो अनीश्वर शब्दके भीतर ईश्वर है वह उसी ईश्वरका वाचक है, यद्यपि सफाईमें कुछ कमी है। आगे चोदहवें श्लोकका ईश्वर शब्द तो मालिक या शासकके ही अर्थमें आया है। हाँ, १८, १९, २० श्लोकोंमें जो 'अहं' ओर 'मां' शब्द आये है वह जरूर ईश्वरके मानीमे है। सत्रहवे अध्यायके छठे श्लोकमे 'मा' शब्द स्पष्ट ईश्वरके अर्थमें नही है। किन्तु जीवाभिन्न ईश्वर ही उसका आशय मालूम पडता है। बेशक, २९वे श्लोकमे जो 'तदर्थीय' शब्द है उसका 'तत्' शब्द ईश्वरवाचक है। लेकिन वह व्यापक अर्थमे ही आया है।

अठारहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें त' शब्द ईश्वरके ही मानीमें आया है, चाहे स्पष्टता उतनी भले ही न हो। उससे पहलेके ४३वें श्लोकका ईश्वर शब्द शासकके ही अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। ५०-५८ श्लोकोंमे ब्रह्म और अस्मत् शब्द बारबार आये है और ईश्वरार्थक है। यही बात ६१, ६६ श्लोकोंके 'अहं', 'मत्' आदि शब्दोंकी है। इसपर आगे विशेष बाते लिखी जायंगी। ६८वें श्लोकमे भी यही बात है। ग्यारहवे अध्यायके ५-५५ श्लोकोंमें 'अहं', 'माम्', 'मत्', 'मे', 'मम', 'ऐश्वरम्' आदि शब्द ईश्वरवाची ही हैं। दसवेंके २-४२ श्लोकोंमें भी बारबार 'अहं' शब्द 'परमात्मावाची' ही है। यही हालत ९वें अध्यायकी भी है। सातवेंके २९, ३० श्लोकोमे और ८वेंके शुरूके चार श्लोकोंमे भी ब्रह्म, अधियज्ञ आदि शब्द ईश्वरके ही अर्थमें प्रयुक्त हुए है। आगेके 'अक्षर' शब्दका भी यही मतलब है। अव्यक्त, परपुरुष आदि शब्द भी इसी मानीमें आये है। यहाँ 'अस्मत्' शब्दके जितने रूप हैं सभी ईश्वरके ही अर्थमें है। सातवें अध्यायके 'वासुदेव' तथा 'अनुत्तमागति' ईश्वरार्थ कही है। वहाँ 'माम्', 'अहम्' आदि

बारबार आनेवाले शब्द भी उसी मानीमें आये है। छठें अध्यायकी भी यही बात है। पाँचवेंके १०वें श्लोकका 'ब्रह्म' शब्द और २९वें श्लोकमें 'महेश्वर' शब्द निस्सन्देह ईश्वरवाचक है। 'अहं' या 'मां' आदि शब्द भी वैसे ही है। चौथे अध्यायके पहले श्लोकका 'अहं' शब्द ईश्वरार्थक है। मगर तीसरेके 'मया' और 'मे' कृष्णके ही अर्थमे आये है। छठेके 'अज' एवं 'ईश्वर' शब्द ईश्वरके अर्थमे आये है। फिर १४ श्लोकतक अस्मत्' शब्दका प्रयोग भी उसी मानीमें है। २३वे का यज्ञ शब्द व्यापक अर्थमे ईश्वरको भी कहता है। उसके बादका ब्रह्म शब्द परमात्माका ही वाचक है। ३१वेमे भी ब्रह्मका वही अर्थ है। ३५वेंका 'मयि' शब्द ईश्वरार्थ है।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमे मया' शब्द ईश्वरके ही अर्थमें आया है। दसवेंका प्रजापति ईश्वर ही है और पन्द्रहवेका अक्षर भी वही है। ३०वेंमे 'मयि' शब्द ईश्वरको ही कहता है। मगर ३१, ३२मे जो 'मे' शब्द है वह कृष्णका वाचक है। जिस प्रकार अठारहवे अध्यायमे अत्यन्त सफाईके साथ ईश्वरका जिक्र अन्तमे आया है, ठीक उसके उलटा दूसरे अध्यायमे उसकी चर्चातक कही हुई नही! वह वहाँ कतई बेदखल कर दिया गया है! वहाँ तो आत्मा ही परमात्मा बना बैठा है। इस प्रकार स्पष्ट रूपमें तो बहुत ही कम, लेकिन अस्पष्ट रूपमें ईश्वरका उल्लेख गीतामे पद-पदपर पाया जाता है।

इस तरह मालूम हो गया कि गीतामे ईश्वरकी किसी न किसी रूपमें सैकड़ों बारसे ज्यादा चर्चा आई है। मगर असली रूपमे हम उसे केवल १८वे अध्यायके ६१वें श्लोकमें ही साफ-साफ पाते है। कृष्णने खुद जो "मैं" और "मेरा" आदिके रूपमे सैकड़ों बार कहा है उसमे कुछी बार अपने लिये—साकार वसुदेव-पुत्रके लिये—कहा है। मगर आमतौरसे अपने ईश्वरीय स्वरूपको ही लक्ष्य करके बोल गये है। यदि पूर्वापरका विचार करके देखा जाय या शरीरी कृष्णमे वे बातें लागू होई नही सकती है, जिनका उल्लेख उनने ऊपर बताये स्थानोंमे जानें कितनी बार किया है। जब चौथे अध्यायके शुरूमे ही उनने कहा है कि मैने यह योग पहले विवस्वान्को बताया था और विवस्वान्ने मनुको, तो यह बात शरीरी कृष्णमें कथमपि लागू हो सकती है नही। उसीके आगे जब अवतारकी बातके प्रसंगमे कहा है कि मै समय-समयपर पैदा हो जाता हूँ, तो यह भी शरीरधारीके लिये सम्भव नहीं। कोई नही मानता कि कृष्ण बार-बार जन्म लेते है। यों तो हर मनुष्य भी बार-बार जन्मता ही है। मगर उसे अवतार नहीं कहते। चातुर्वर्ण्यकी रचना भी कृष्णके शरीरसे नही होती। हालाकि उनने कहा है कि मैं ही चातुर्वर्ण्य बनाता हूँ। सातवे अध्यायमे अपनेको अधियज्ञ कहा है। यह

भी ईश्वरके ही लिये सम्भव है, न कि शरीरवालेके लिये। अधियज्ञका आशय आगे मालूम होगा। इसी प्रकार प्रत्येक प्रसंगके देखनेसे पता चलता है कि आत्मज्ञानके बलसे कृष्ण अपनी आत्माको परमात्मस्वरूप ही अनुभव करते थे और वैसा ही बोलते भी थे। वह उपदेशके समय आत्माका ब्रह्मके साथ तादात्म्य मानते हुए ही बात करते थे। मालूम होता है, जरा भी नीचे नहीं उतरते थे! उसी ऊंचाईपर बराबर कायम रहते थे। इसीलिये तो इन उपदेशोंमें अपूर्व आकर्षणशक्ति और मोहनी है। बृहदारण्यक उपनिषदमें वामदेवके इसी प्रकारके अनुभवका उल्लेख आया है। वहां लिखा है कि "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" (१।४।१० ।)।

इसका अर्थ है यह कि "वामदेव ऋषिको जब अपनी ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार हो गया तो उनने कहा कि हम, हमी तो मनु, सूर्य आदि बने! आज भी जिसे ठीक वैसा ही अनुभव अपनी ब्रह्मरूपताका हो जाय वह भी यही मानता है कि वही यह सारा संसार बन गया है।" संसार तो ईश्वरका ही रूप माना जाता है। गीतामें तो इसकी घोषणा है। इसलिये जो अपनेको ब्रह्मरूप ही मानने लगेगा वह तो यह समझेगा ही कि सारी दुनिया उसीका रूप है। कृष्णका अनुभव ऐसा ही था। इसीलिये सातवें अध्यायके ३-१२ श्लोकोंमें, नवेंके १६-१९ श्लोकोंमें और दसवेंके प्रायः सभी श्लोकोंमें विभूतिके रूपमें उनने सबको अपना ही रूप बताया है। ग्यारहवें अध्यायमें अपने आपको ही उनने कालरूपी कहा है। फलतः गीताके अहम् और मम आदि शब्दोंको देखके जो ऐसा मानते हैं कि सगुण ईश्वरका वर्णन गीतामें है वह भूलते हैं। अठारहवें अध्यायके "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं" (६६) इत्यादि पूरे श्लोकमें भी निर्गुण तथा निराकारसे ही मतलब है, न कि साकारसे। क्योंकि यदि कृष्णका अभिप्राय अपने साकार रूपमें होता तो सिर्फ 'मेरी ही शरण जाओ"—"मामेकं शरण व्रज" की जगह वह कह देते कि मेरी ही शरण आओ—"मामेकं शरणमाव्रज"। 'व्रज' का अर्थ है जाओ और आव्रजका अर्थ है आओ। जब वह सामने ही मौजूद थे तो जाओ कहना ठीक न था। जाओ तो परोक्ष या दूरवर्ती पदार्थके ही लिये कहा जा सकता है। "मामेकं शरणं त्वेहि" कह देनेसे श्लोक भी ठीक रहता। "एहि" का अर्थ है आना। या कुछ दूसरा ही पद कह देते जिसका अर्थ आओ होता। इसपर ज्यादा विचार आगे मिलेगा।

ईश्वर हृदयग्राह्य

हमें यहां ईश्वरके सम्बन्धकी एक खास बातकी ओर ध्यान देना है। वह यह है कि गीताके मतसे ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेका एक ही परिणाम

होता है कि हमारा आचरण प्रशंसनीय और लोकहितकारी हो जाता है। इसीलिये गीताने ईश्वरकी सत्ताकी स्वीकृतिकी तरफ उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना हमारे आचरणकी ओर। इस सम्बंधमे ज्यादा महत्त्वपर्ण बात कहनेके पहले हम एक बात कहना चाहते हैं। उसकी ओर ध्यान जाना जरूरी है। ईश्वरके बारेमे तेरहवें अध्यायमे कहा है कि "वह ज्ञान है, ज्ञेय—ज्ञानका विषय—है, ज्ञानके द्वारा अनुभवनीय है और सबोंके हृदयोमे बसता है"—"ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" (१७)। अठारहवेके ६१वे श्लोकमे तो यह कहनेके साथ ही और भी बात कही गई है। वहाँ तो कहते है कि "अर्जुन, ईश्वर तो सभी प्राणियोके हृदयमे ही रहता है और अपनी माया (शक्ति) से लोगोको ऐसे ही घुमाता रहता है जैसे यंत्र(चख आदि) पर चढे लोगोको यन्त्रका चलानेवाला—'ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढाणि मायया'"॥

यहाँ दो बात विचारणीय है। पहली है हृदयमे रहनेकी। यह कहना कि हृदय ईश्वरका घर है, कुछ ठीक नही जँचता है। वह जब सर्वत्र है, व्यापक है, तो हृदयमे भी रहता ही है। फिर इस कथन के मानी क्या? यदि कहा जाय कि हृदयमे विशेष रूपसे रहता है, तो भी सवाल होता है कि विशेषरूपसे रहनेका क्या अर्थ? यह तो कही नही सकते कि वहा ज्यादा रहता है और बाकी जगह कम। यह भी नही कि जैसे यन्त्रका चलानेवाला बीचमे बैठके चलाता है तसे ही ईश्वर भी बीचकी जगह—हृदय—मे बैठके सबोंको चलाता है। यदि इसका अर्थ यह हो कि हृदयके बलसे ही चलाता है तो यह कैसे होगा? जिस यंत्रके बलसे चलाते है उसका चलानेवाला उससे तो अलग ही रहता है। मोटर या जहाज वगैरहके चलाने और घुमाने-फिरानेवाले यन्त्रसे अलग ही रहके ड्राइवर वगैरह उन्हें चलाते-घुमाते है। हृदयमे बैठके घुमाना कुछ जंचता भी नही, यदि इसका मतलब व्यावहारिक घुमाने-फिराने जैसा ही हो।

इसीलिये मानना पडता है कि हृदयमे रहनेका अर्थ है कि वह हृदय-ग्राह्य है। सरस और श्रद्धालु हृदय ही उसे ठीक-ठीक पकड सकता है। दिमाग या बुद्धिकी शक्ति हुई नहीं कि उसे पकड सके या अपने कब्जेमे कर सके। ईश्वर या ब्रह्म तर्क-दलीलसे जाना नही जा सकता, यह बात छान्दोग्योपनिषत्मे भी उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कही है। वहा कहा है कि अक्ल बघारना और बालकी खाल खीचना छोड़के श्रद्धा करो ऐ मेरे प्यारे,—"श्रद्धत्स्व सोम्य" (६।१२।३)। और यह श्रद्धा हृदयकी चीज है। यह पहले ही कहा जा चुका

है। इसलिये गीताके मतसे ईश्वर हृदयग्राह्य है। फलतः जो सहृदय नहीं वह ईश्वर को जान नहीं सकता।

हृदयकी शक्ति

अब दूसरी बात रही लोगोंके चलानेकी। सो भी ठीक ही है। जिस हृदयने भगवानको जान लिया, पकड़ लिया, कब्जेमें कर लिया वह दुनियाको चाहे जिस ओर घुमा सकता है। नरसी, नामदेव, सूर, तुलसी आदि भक्तजनोंकी बातें ऐसी ही कही जाती है। बताया जाता है कि भीष्मने कहा कि, "आज मैं हरिसों अस्त्र गहाऊं।" उनने अपने प्रेमके बलसे अपनी प्रतिज्ञा रख ली थी और कृष्णकी तुड़वा दी थी। सूरदासने कहा था कि "हिरदयसे जो जाहुगे बली बखानौ तोहिं"। रामकृष्णने विवेकानन्द जैसे नास्तिकको एक शब्दमें आस्तिक बना दिया। वह सच्चे हृदयकी ही शक्ति थी जिसने भगवानको पकड़ लिया था। इसीलिये जिसने शुद्ध हृदयसे श्रद्धाके साथ भगवानको अपना लिया है वह दुनियाको इधरसे उधर कर सकता है।

गीताके इस कथनमें एक बड़ी खूबी है। संसारके लोगोंको हम तीन भागोंमें बांट सकते हैं। या यों कहिये कि पहले दो भाग करके फिर एक भागके दो भाग कर देनेपर तीन भाग हो जाते है। आस्तिक और नास्तिक यही पहले दो भाग है। फिर आस्तिकके दो भाग हो जाते है—साकार ईश्वरवादी और निराकार-वादी। इस प्रकार साकारवादी, निराकारवादी और निरीश्वरवादी ये तीन भाग हो गये। हमने देखा है कि ये तीनों ही आपसमें तर्क-दलीलें करते और लड़ते रहते हैं। यह झमेला इतना बड़ा और इतना पुराना है कि कुछ कहिये मत। जबसे लोगोंको समझ हुई तभीसे ये तीनों मतवाद चल पड़े। इनपर सैकड़ों पोथे लिखे जा चुके हैं।

मगर गीता इन तीनों पर तरस खाती और हँसती है। उसने जो ईश्वरको हृदयकी चीज बनाके बुद्धिके दायरेसे उसे अलग कर दिया है, उसके चलते ये सभी झगड़े बेकार मालूम होते हैं और गीताकी नजरोंमें ये झगड़नेवाले सिर्फ भटके हुए सिद्ध हो जाते है। इन झगड़ों की गुंजाइश तो बुद्धिके ही क्षेत्रमें है न? इसीलिये जहाँ हृदय आया कि इन्हें बेदखल कर देता है, कान पकड़के हटा देता है। क्यों? इसीलिये कि यदि ईश्वर है तो वह तो यह नहीं देखने जाता है कि किसके ऊपर आस्तिक या नास्तिककी छाप (label) लगी है, या साकार-वादी और निराकारवादीकी छाप। वह तो हृदयको देखता है। वह यही देखता है कि उसे सच्चाई से ठीक-ठीक याद कौन करता है।

आस्तिक-नास्तिकका भेद

जब इस प्रकार देखते हैं तो पता लगता है कि साकारवादी और निराकार-वादी तो याद करते ही है। मगर निरीश्वरवादी भी उनसे कम ईश्वरको याद नही करते! यदि भक्तिका अर्थ यह याद ही है तो फिर नास्तिक भी क्यों न भक्त माने जायँ? बेशक, प्रेमी याद करता है और खूब ही याद करता है, यदि सच्चा प्रेमी है। मगर पक्का शत्रु तो उससे भी ज्यादा याद करता है। प्रेमी तो शायद नींदकी दशामे ऐसा न भी करे। मगर शत्रु तो अपने शत्रुके सपने देखा करता है, बशर्ते कि सच्चा और पक्का शत्रु हो। इसीलिए मानना ही होगा कि ईश्वरका सच्चा शत्रु भक्तोंसे नीचे दर्जेका हो नही सकता, यदि ऊँचे दर्जेका न भी माना जाय। पहले जो कहा है कि धर्म तो व्यक्तिगत और अपने समझके ही अनुसार ईमानदारीसे करनेकी चीज है, उसमे भी यही बात सिद्ध हो जाती है यदि हमें ईमानदारीमे यही प्रतीत हो कि ईश्वर हई नहीं और हम तदनुसार ही अमल करें तो फिर पतनकी गुंजाइश रही कहाँ जाती है?

इसीलिय प्रौढ नैयायिक उदयनाचार्यने ईश्वर-सिद्धिके ही लिये बनाये अपने ग्रंथ "न्यायकुसुमाञ्जलि" को पूरा करके उपसंहारमें यही लिखा है। वे साफ ही सच्चे और ईमानदार नास्तिकोंके लिए वही स्थान चाहते है जो सच्चे आस्तिकों-को मिले। उनने प्रार्थनाके रूपमे अपने भगवानसे यही बात बहुत सुन्दर ढंगसे यों कही है—"इत्येवं श्रुतिनीति संप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते; येषा नास्पदमाद-धासि हृदये ते शैलसाराशयाः। किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः; काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः।" इसका आशय यही है कि "कृपासागर, इस प्रकार वेद, न्याय, तर्क आदिके रूपमे हमने झरनेका जल इस ग्रंथमे प्रस्तुत किया है और उससे उन नास्तिकोंके मलिन हृदयोंको अच्छी तरह धो दिया भी है, ताकि वे आपके निवास योग्य बन जायँ। लेकिन यदि इतनेपर भी आपको वहाँ स्थान न मिले, तो हम यही कहेगे कि वे हृदय इस्पात या वज्रके है। लेकिन यह याद रहे कि प्रचंड शत्रुके रूपमे वे भी तो आपको पूरी तौरसे आखिर याद करते ही हैं। इसलिए उचित तो यही है कि समय आनेपर आप उन्हें भी भक्तोंकी ही तरह संतुष्ट करें। कितना ऊंचा खयाल है! कितनी ऊंची भावना है! गीता इसी खयाल और इसी भावनाका प्रसार चाहती है।

दैव तथा आसुर सम्पत्ति

अच्छा, अब जरा ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेका परिणाम क्या होता है, क्या होना चाहिये, इसपर भी गीताकी दृष्टि देखें। गीताके सोलहवे अध्यायके

शुरूवाले छे श्लोकोंमें दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोंका संक्षेपमें वर्णन कर दिया है। इन दोनोंका तात्पर्य मनुष्यके ऐसे गुणों और आचरणोंसे है जिनसे समाजका हिताहित, भला-बुरा होता है। कल्याणकारी और मंगलमय गुणों एवं आचरणोंको दैवी सम्पत्ति और विपरीतोंको आसुरी सम्पत्ति कहा है। पाँचवें श्लोकमें यही बात साफ कह दी है कि दैवी सम्पत्ति मुक्तिसम्पादक और कल्याणकारी है, जब कि आसुरी सभी बन्धनों और संकटोंको पैदा करती है। साथ ही यह भी कहा है कि अर्जुनके लिये चिन्ताकी तो कोई बात हुई नहीं। क्योंकि वह तो दैवी सम्पत्तिवाला है। इसके बाद छठे श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा है कि अबतक तो दैव सम्पत्तिका ही विस्तृत विवेचन किया गया है। मगर आसुरी तो छूटी ही है। इसलिये उसे भी जरा खोलके बता दें तो ठीक हो। फिर सातवेंसे लेकर अध्यायके अन्ततकके शेष १८ श्लोकोंमें यही बात लिखी गई है। बेशक, अन्तके २२-२४ श्लोकोंमें निषेधके रूपमें ही यह बात कही गई है। शेष श्लोकोंमें साफ-साफ निरूपण ही है।

यहाँ जो यह कहा गया है कि अबतक तो विस्तारके साथ दैव सम्पत्तिका ही वर्णन आया है, उससे साफ हो जाता है कि गीताके शुरूसे लेकर सोलहवें अध्यायके कुछ श्लोकोंतक मुख्यतः वही बात कही गई है। यह तो निर्विवाद है कि पहले अध्यायमें खुलके समाज-संहारकी कड़ीसे कड़ी निन्दा की गई है। दूसरेमें भी जो अर्जुनको यह कहा गया है कि लोग तुम्हें गालियाँ देंगे और तुमपर थूकेंगे वह भी सामाजिक दृष्टिसे ही तो है। तीसरे अध्यायमें तो समाज रक्षार्थ यज्ञका विस्तार ही बताया गया है और कहा गया है कि समाजके लिये उसे मूलभूत मानना चाहिये। इसी प्रकार चौथेके "नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य" (३१) आदिके द्वारा तथा छठेके "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" (३२) के जरिये लोक-कल्याणकारी भावनाओं एवं आचरणोंका ही महत्त्व दिखाया है। सातवेंसे लेकर पन्द्रहवें अध्यायतक यही बात जगह-जगह किसी न किसी रूपमें बराबर पाई जाती है। इसलिये स्पष्ट है कि समाजके कल्याणसे ही गीताका मतलब है। यों तो योगका जो स्वरूप पहले बताया जा चुका है वह समाजके कल्याणकी ही चीज है। दसवें अध्यायके अन्तके ४१ वें श्लोकमें तो साफ ही कह दिया है कि संसारमें जोई चमत्कारवाली गुणयुक्त चीज है वह भगवानका ही रूप है, उसीका अंश है। इससे तो स्पष्ट है कि गीताकी दृष्टिमें भगवानका मतलब ही है जगन्मंगलकर्त्तासे। गीता वैसे भगवानको कहाँ देखती और मानती है जो केवल स्वर्ग और नर्कमें भेजनेका इन्तजाम करता हो, या मुक्ति देता हो? गीताने तो ऐसे भगवानका खयाल ही नहीं किया है।

यही बात सोलहवे अध्यायके ७-२४ श्लोकोंसे भी सिद्ध होती है। आमतौरसे यही होना है, यही बात देखी जाती है कि जो कुकर्मोंको करता हुआ ईश्वरकी सत्तामे विश्वास नही करता हो उसकी निन्दा या उसके खंडन-मंडनका जब प्रसग आये तो इसी बातसे शुरू करते है कि देखिये न, यह तो ईश्वरको ही नही मानता है और साफ ही कहता है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति या इसके कामके सचालनके लिये उसकी जरूरत हुई नही! फिर और लोगोकी इसे क्या पर्वा होगी? उनके हितोको क्यो न पाव तले रादेगा? आदि आदि। ठीक भी यही प्रतीत होता है और स्वाभाविक भी। भगवान तो लोगोके लिये सबसे बडी चीज है और जो उसे ही नही मानता वह बाकीको क्यो मानने लगा? लोगोका गुस्सा भी यदि उसपर उतरेगा तो यही कहके कि जब यह शालग्रामको ही भून देता है तो इसे बैगन भूननेमे क्या देर? अन्तमे भी सब कुछ लानत-मलामतके बाद यही कहेगे कि इसकी ऐसी हिम्मत कि भगवान तकको भी इनकार कर जाये?

मगर गीतामे कुछ और ही देखते है। वहाँ तो असुरोका लक्षण बताते हुए पूरे सातवे श्लोकमे ईश्वरका नाम ही नही आया है। आसुर-सम्पत्तिवाले इस ससारके मूलमे ईश्वरको नही मानते यह बात सिर्फ आठवे श्लोकके पूर्वार्द्धके अन्तमे यो पाई जाती है कि देखो न, ये लोग ससारके मूलमे उसे नही मानते—'जगदाहुरनीश्वरम्'। इसके पहले सातवे मे तो यही कहा है कि "असुर लोग तो क्या करे क्या न करे यह—कर्त्तव्याकर्त्तव्य—जानते ही नही, उनमे पवित्रता भी नही होती और न उनका आचरण ही ठीक होता है। सत्यका तो उनमे नाम भी नही होता"—"प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा। न शौच नापिचाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।" आठवेके शुरूमे भी कहा है कि "वे जगतको बेबुनियाद और इसीलिये निष्प्रयोजन मानते है"—"असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहु।" और जब ऐसी बात है तो फिर ईश्वरकी क्या जरूरत? वह तो तभी होती जब यह संसार किसी खास मकसद या उद्देश्यको लेकर बनाया गया होता—बना होता। इसीलिये वे कहते है कि ईश्वरकी कोई जरूरत हुई नही।

समाजका कल्याण

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनीश्वरवाद या नास्तिकताको पीछे धकेल दिया गया है। उसे वह महत्त्व नहीं मिला, जो आमतौरसे दिया जाता है। गीताने तो महत्त्व दिया है उन्ही चीजोको जिनसे ससारके उत्थान-पतनका—इसकी उन्नति-अवनतिका—गहरा सम्बन्ध है। भले-बुरेकी पहचान होना, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यको जानकारी, उत्तम आचरण, बाहर-भीतर पवित्रता और सच्चा व्यवहार—यही चीजे तो समाजकी बुनियाद है। इनके बिना न तो हमी एक मिनट

टिक सकते और न यह समाज ही चल सकता है। ईश्वरको आप मानिये, या मत मानिये। मगर ये चीजे मानिये खामखा। आपका अमल अगर इन्हींके अनुसार हो तो हमें आपके अनीश्वरवादमे—आपको नास्तिकतासे—कोई मतलब नहीं, उसकी पर्वा हम नही करते। हम जानते हैं कि उसका जहरीला डंक खत्म हो गया है। फलतः वह कुछ बिगाड़ नहीं सकती। आप तो पिंजड़में बन्द पक्षी हो गये हैं इन्हीं बातोंके करते। इसलिये समाजकी ही गीत गायेंगे। न तो स्वच्छन्द उड़ान ही मार सकते और न मनचाही डालपर बैठके स्वतंत्र गीत ही गा सकेंगे। यही है गीताका इस सम्बन्धमें वक्तव्य, यही है उसका कहना।

मगर जिनमें यही चीजें नही है—जो असुर हैं—जो देव नहीं हैं उनका क्या कहना? वे ईश्वरको क्यों मानने लगे? यह परस्पर विरोधी बातें जो हैं। यह होई नहीं सकता कि सदाचार और कर्त्तव्यपरायणता न रहे तथा बाहर-भीतर एक समान ही सच्चा व्यवहार भी न रहे; मगर ईश्वरवादी बने रहें। गीताकी नजरों में ये दोनों बात एक जगह हो नहीं सकती है। बेशक, आज तो धर्म ओर ईश्वरकी ठेकेदारी लिये फिरनेवाले ऐसे लोगोंकी ही भरमार है जिनमें ये बातें जरा भी पाई नहीं जाती हैं। एक ओर देखिये तो कंठीमाला, जटा, टीका-चन्दन, दंड-कमंडल और क्या-क्या नहीं है। सभीके सभी धर्मवाले ट्रेडमार्क पाये जाते हैं। मगर दूसरी ओर ऐसे लोगोंमें न तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान है, न तदनुकूल आचरण है, न बाहर-भीतर सर्वत्र होनेवाली पवित्रताही है और न सच्चाई तथा ईमानदारी हो। आज तो यही बात धार्मिक ससारमें सर्वत्र ही पाई जाती है। सब जगह इसीकी छूट है। कोई पूछनेवाला ही नहीं कि यह क्या अन्धेरखाता है। जिस हृदयमे भगवान बसे वह कितना पवित्र और कितना उदार होगा! उसकी गंभीरता और उच्चता कैसी होगी! वह विश्वप्रेमसे कितना ओतप्रोत होगा! (आखिर ईश्वर तो प्रेममय, सत्य, शुद्ध, आनन्दरूप और निर्विकार है न? और वही हमारे हृदयमें बसता भी है। फिर भी यह गन्दगी और बदबू? कस्तूरी जहाँ हो वहाँ उसकी सुगन्ध न फैले, यह क्या बात? और ईश्वरकी गन्ध तो भौतिक कस्तूरीके गन्धसे लाख गुना तेज है। फिर हमारे दिलोंमे, जहाँ वही मौजूद है, सत्य, प्रेम, दया, पवित्रता, सदाचार और आनन्द क्यों नहीं पाया जाता? इन चीजोंका स्रोत उमड़ क्यों नहीं पड़ता?

कहनेके लिये तो लोग कहेंगे कि हम धर्मात्मा हैं, ईश्वरवादी हैं। मगर हैं ये लोग दरअसल पापात्मा और अनीश्वरवादी। नास्तिक लोग तो जबानसे ही ईश्वरकी सत्ता इनकार करते है। मगर ये भलेमानस तो अमली तौरपर उसे जहन्नुम पहुंचाते हैं। हम तो महान्से महान् नास्तिकोंको जानते हैं जो अनीश्वर-

वादी तो थे, मगर जिनका आचरण इतना ऊँचा और लोकहितकारी था कि बड़े-बड़े पादरी, पंडित और धर्मवादी दाँतों तले उँगली दबाते थे। हिम्मत नहीं होती थी कि उनके विरुद्ध कोई चूँ भी करे, उँगली उठाये। मार्क्सवाद वैसे नास्तिकोंको ही चाहता है जिनके काममे आस्तिक लोग भी शर्मिन्दा हो जायँ। वह बेशक उन धर्मात्माओंसे अपना और समाजका पिंड खामखा छुड़ाना चाहता है जो व्यवहार मे ठीक उलटा चलते है। हमे तो अमल चाहिये, काम चाहिये, न कि जबानी हिसाब और जमाखर्च। हम तो "कह-सुनाऊँ" नही चाहते; किन्तु "कर-दिखाऊँ" चाहते है।

यदि गीताके सोलहवे अध्यायके ९-१८ श्लोकोपर गौर करें तो हमे पता चल जायगा कि जो धर्मके ठेकेदार आज जनताके हकोंकी लड़ाईका विरोध करते फिरते है और इस मामलेमे धर्म और ईश्वरका ही सहारा लेते है उन्हींका चित्र वहाँ खीचा गया है। यह चित्र ऐसा है कि देखते ही बनता है। इसमे शक नही कि ९-१४ श्लोकोसे तो यह साफ पता नही चलता कि धर्मके ठेकेदारोंका ही यह चित्रण है। मगर पन्द्रहवेके "यक्ष्ये दास्यामि" पदोसे, जिनका अर्थ है कि "यज्ञ करेंगे और दान देंगे" तथा "यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्" (१७) मे तो यह बात बिल्कुल ही साफ हो जाती है। जहाँ पहले वचनोमे सिर्फ यज्ञ करने और दान देनेकी बात है तहाँ आखिरवाले तो साफ ही कहते है कि—"वे लोग दिखावटी यज्ञ ख्याति आदिके लिये ही करते है। यज्ञोके विधि-विधानमे तो उन्हे कोई मतलब होता ही नही।" यह 'अविधिपूर्वकम्" शब्द दूसरे मानीमे आई नही सकता है। वह इसीलिये धर्मके ठेकेदारोकी नकाब उतार फेंकता है, इसमे शक नही।

उनका चित्र खड़ा करना शुरू ही किया है यह कहते हुए कि "संसारके तो वे शत्रु ही होते है। फलतः उसे चौपट करनेके बड़ेसे बड़े उग्र काम कर डालनेकी ताकत रखते है"—"प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।" संसारसे तात्पर्य यहाँ समाजसे ही है। वहाँ बताया गया है कि उनका तो काम ही है समाजको तहस-नहस करना। ऐसा करते हुए वे खुद भी चौपट हो जाते है। क्योंकि समाजसे बाहर तो जा सकते नही। उनकी वासनाये तथा आकांक्षाये इतनी ज्यादा और बड़ी होती है कि उनकी पूर्ति हो सकती नही। उनका ठाटबाट और ढोंग इतना ज्यादा होता है, गरूर इस कदर होता है और प्रभुत्व, प्रभाव या शक्तिका नशा ऐसा होता है कि कुछ पूछिये मत। जिद्दमे ही पड़के अटसंट कर बैठते है। उन्हे पवित्रताका तो कोई खयाल रहता ही नही। दुनिया भरकी फिक्र उन्हीके माथे सवार रहती है, ऐसा मालूम होता है। खूब चीजे प्राप्त करो और

खाओ, पिओ, मौज करो, यही उनका महामंत्र होता है। जानें कितनी उनींदे उन्हें होती हैं। काम और क्रोध यही दो उनके पक्के और सदाके साथी होते हैं। विषयवासनाकी तृप्ति और शान बढ़ानेके लिये वे हजार जुल्म और अत्याचार कर डालते हैं। बराबर यही सोचते रहते हैं कि अमुक काम तो हमने कर लिया, अब तो सिर्फ फलाँ फलाँ बाकी है। इतनी सम्पत्ति तो मिल चुकी ही है। मगर अभी तो कितनी ही गुनी हासिल करेंगे! बहुत दुश्मनोंको खत्म कर डाला है। बचे हुओंको भी न छोड़ेंगे। हमीं सबसे बड़े है, महलों में रहते हैं, जो चाहते हैं करके ही छोड़ते है। हमसे बड़ा ताकतवर है कौन? सुखी भी तो हमीं हैं। न तो हमसे बढ़के कोई धनी है और न संगी-साथियोंवाला हो। हमारे मुकाबिलेमें कौन खड़ा हो सकता है? वे दिनरात खुद अपने ही मुँहसे अपनी बड़ाई करते रहते हैं। रुपये-पैसे, गरूर और नशाकी गर्मीमें ही चूर रहते हैं। यज्ञ और दान तो वे केवल दिखाने और ठगनेके ही लिये करते हैं। उनमें अहंकार इतना ज्यादा होता है कि मत कहिये। वे आत्मा-परमात्माको तो समझते भी नहीं कि क्या चीज हैं—उनके नामसे ही उन्हें नफरत होती है। नतीजा यह होता है कि उनका पतन होता ही जाता है। ऊपर तो वे उठ सकते नहीं। दूसरे, तीसरे आदि जन्मोंमें भी अधिकाधिक नीचे गिरते ही जाते हैं। ईश्वर या आत्मातक उनकी पहुँच कभी होती ही नहीं।"

इसी रूपमें असुरों या धर्मध्वजियोंका चित्र गीताने खींचा है। १८वें और २०वें श्लोकमें एक बार फिर परमात्माका उल्लेख यद्यपि किया है। मगर वह है आत्माके रूपमें ही। चाहे ईश्वरके रूपमें भी मानें, तो भी जो कुछ उसके साथ-साथ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि ऊपर लिखे आसुरी व्यवहारों और आचरणोंके करते हो उनकी परमात्मातक पहुँच हो पाती नहीं। इससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि असल चीज आचरण ही हैं। २१, २२ श्लोकोंमें तो खुलके कही दिया है—और यह बात उपसंहारकी है—कि "नर्क या पतनके तीन ही रास्ते हैं जिन्हें काम, क्रोध और लोभ कहते हैं। ये तीनों आत्माको भी चौपट कर देते हैं। इसलिये इनसे अपना पिंड छुड़ाना जरूरी है। जहन्नुममें ले जानेवाले इन तीनोंसे पल्ला छूटनेपर ही कल्याणकारी रास्ता सूझता और सदाचरण होता है। फिर तो हर तरहसे मौज ही मौज समझिये"—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥" आखिरमें कार्य-अकार्य या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके जानने और तदनुसार ही काम करनेका आदेश देके यह अध्याय पूरा किया गया है।

इस तरह देखते हैं कि जिस कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानसे ही शुरू किया था उसीसे प्रकरणका अन्त भी किया गया है। यह नहीं कहा गया है कि भगवानके ज्ञान, उसकी भक्ति या पूजा-पाठको ही अपनाना चाहिये। यह कहते भी कैसे? गीताने तो पहले ही कह दिया है और उसे आगे भी यही कहना है कि कर्त्तव्यका पालन ही भगवानकी पूजा है। फिर उलटी बात यहाँ कैसे कही जाती? और जब सभी बातोंका पर्यवसान समाजके कल्याण एवं क्षेममें ही है—जब लोकसंग्रह ही गीताका ध्येय है—तो दूसरी बात कही जाय कैसे? जब भगवानका ज्ञान, ध्यान वगैरह भी मनुष्यको ऐसे साँचेमें ढालनेके ही लिये हैं कि उसकी प्रत्येक क्रिया, हरेक साँस और हर काम संसारके लिए मंगलप्रद बन सके, तो और बातोंका अवसर ही कहाँ रह जाता है? गीताने ईश्वर-अनीश्वरवादके झमेलेको जिस तरह सुलझाया है और खुद इस गड़बड़में जो वह बहुत ऊपर पहुँची हुई है वही उसकी इस सम्बन्धकी खूबी है।

कर्म और धर्म

अब जरा कर्म और धर्मकी बातोंको भी देखें। आमतौरसे ऐसी धारणा पाई जाती है कि कर्म, क्रिया या अमल तो सभी बुरे-भले कामोंको ही कहते हैं। मगर धर्म कुछ खास कर्मों या कामोंका ही नाम है। धर्मके ही मानीमें मजहब और रिलिजन (religion) शब्दोंका भी प्रयोग करके उनके बारेमें भी यही खयाल सर्वत्र पाया जाता है। इसका परिणाम भी बुरासे बुरा होता है। जब हमने मान लिया कि सिर्फ सन्ध्या, पूजा, नमाज, रोजा, प्रार्थना वगैरह धर्म हैं, तब तो स्वाभाविक रूपसे बाकी कामोंमें एक प्रकारकी स्वतन्त्रताका अनुभव करेंगे ही। धर्मोंके सम्बन्धमें तो सैकड़ों तरहके बन्धन होते हैं—कब करें, कैसे करें, कितनी देरतक करें आदि आदि। गड़बड़ होनेपर नर्क, दोजख आदिके भय भी माथेपर सवार रहते हैं। भगवानकी रंजिशका भी सबसे बड़ा खतरा इस बातमें बना रहता है। इसीलिये स्वभावतः उनकी पाबन्दी ठीक-ठीक की जाती है—कमसे कम पाबन्दीकी कोशिश तो जरूर होती है।

लेकिन बाकी कामोंमें? उनमें तो कोई डर-भय उस तरहका नहीं होता। हाँ, लोक-लाज या कानून-कानूनका डर जरूर रहता है। मगर लोगोंसे छिप-छिपाके और कानूनी फन्दे से बच-बचाके भी काम किये जा सकते हैं, किये जाते हैं। कानूनकी आँखमें धूल डालना चतुर खिलाड़ियोंके लिये बायें हाथका खेल है। वे तो कानूनको बराबर चराते फिरते हैं। इसलिये उन्हें स्वतंत्रता तो करीब-करीब रहती ही है। क्योंकि भगवान तो यहाँ दखल देता नहीं और न धर्मराज या यमराज ही। यह तो धर्मसे बाहरकी चीजें हैं, जहाँ उनका अधिकार नहीं। यदि

थोड़ा-बहुत मानते भी है कि वह दखल देगे तो भी यह बात अधूरी ही रह जाती है। क्योंकि सन्ध्या, नमाजकी तरह सच बोलने या शराब न पीनेकी बात नही है। यदि ये चीजे धर्ममे किसी प्रकार आ भी जाये तो भी इनका स्थान गौण है, मुख्य नही। देखते ही है कि सन्ध्या, नमाज वगैरहकी पाबन्दीमे जो सख्ती पाई जाती है वह सच बोलने और सूद न लेने या शराब न पीनेमे हर्गिज नही है। बड़े-बड़े धर्माधिकारी भी बड़े-बड़े कारबारों और जमीदारियोके चलानेवाले होते है, जहा झूठ बोलने और जाल-फरेबके बिना काम चलता ही नही। मैनेजर, प्रबन्धक और कारपर्दाज वगैरहके जरिये वह काम करवाके अपनेको बचानेकी बात केवल अपने आपको धोका देना है—आत्मप्रवंचना है। जब कारबार उनका है, जमीदारी उनकी है तो उसके मुतल्लिक होनेवाले झूठ और जाल फरेबकी जवाबदेही उन्हीपर होगी ही। यह छुपके पानी पीना और खुदासे चोरी करना ठीक नही। यदि कारबार और जमीदारीके फायदेके लिये बड़े झूठ और जाल न हो तो बात दूसरी है। मगर यहा तो उन्हे चलानेके ही लिये ऐसा किया जाता है।

इसीलिये गीताने न तो धर्मकी श्रेणियाँ बताके मुख्य, अमुख्य या प्रधान और गौण धर्म जैसा उसका विभाग ही किया है और न कोई दूसरी ही तरकीब निकाली है। गीताकी नजरोमे तो धर्म और कर्म या क्रिया (अमल या काम) एक ही चीज है। जिसे हम अंग्रेजीमे ऐक्शन (action) कहते है उसमें और धर्ममें जरा भी फर्क गीता नही मानती। इसका मोटा दृष्टान्त ले सकते है। हिन्दू लोग चार वर्णोंको मानते हुए उनके पृथक्-पृथक् धर्म मानते है। उनके सिद्धान्तमे वर्णधर्म एक खास चीज है। मगर चौथे अध्यायके १२, १३ श्लोकोंकी अजीब बात है। १३वें मे तो वर्णधर्मोकी ही बात है। फिर भी कृष्ण कहते है कि "हमने चारों वर्णोकी रचना कर्मोंके विभागके ही मुताबिक की है और ये कर्म गुणोंके अनुसार बने स्वभावोके अनुकूल अलग-अलग होते है",—"चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागशः।" यहा धर्मकी जगह कर्म ही कहा गया है। १२वे श्लोकमे भी कहा है कि "मर्त्यलोकमे कर्मोकी सिद्धि जल्द होती है। इसीलिये यहा उसी सिद्धि (इष्टसिद्धि) के लिये देवताओका यज्ञ किया करते है"—"काङ्क्षन्त कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।" यहा यज्ञको कर्म कहा है, न कि धर्म; हालाँकि यह तो पक्का धर्म है। धर्मोकी सिद्धि न कहके कर्मोकी सिद्धि कहनेका भी यही मतलब है कि धर्म और कर्म एक ही चीज है और गीता इन दोनोमे कोई भेद नही रखती।

इसी प्रकार १८वे अध्यायके ४१-४४ श्लोकोमे भी चारों वर्णोंके ही धर्मोकी

बात आई है। ४५, ४६ श्लोकोंमें भी उसी सम्बन्धमें यह बताया गया है कि उन धर्मोंके द्वारा ही भगवानकी पूजा कैसे हो सकती है और इष्टसिद्धि क्योंकर होती है। चारों वर्णोंके कुछ चुने-चुनाये धर्मोंको गिनाया भी गया है, जो पक्के और स्वाभाविक माने जाते हैं। साराश यह कि ये छे श्लोक वर्णोंके धर्मोंकी जितनी सफाईके साथ कहते हैं उतनी सफाई शायद ही कहीं मिलेगी। मगर एक बार भी उनमें धर्म शब्द नहीं आया है। खूबी तो यह कि उन्हींमें कर्म शब्द पूरे आठ बार आया है। धर्मके बारेमें जिनका बड़ा जोर है उन्हें इस बातसे काफी धक्का लग सकता है कि जहा धर्म शब्दका बार-बार आना निहायत जरूरी था वहाँ उसे गीता भूलसी गई! और अगर ऐसे ही अवसरपर धर्मकी बात नहीं आती है, किन्तु उसकी जगह कर्म कहके ही सन्तोष किया जाता है, तो फिर यह कहनेकी गुंजाइश रही जाती कहाँ है कि धर्म और कर्म दो चीज है?

जो लोग फिर भी हठ करते रहे और ऐसा कहनेका साहस करें कि यद्यपि सभी धर्म तो कर्म ही होते हैं, तथापि सभी कर्म कदापि धर्म हो नहीं सकते, इसीलिये धर्मकी जगह कर्म कहके काम चलाया जा सकता है और यही बात यहाँ पाई जाती है उनके लिये कोई भी समझदारीकी बात क्या कही जाय? योंही कभी-कभी धर्मका नाम ले लेना और हर विशेष अवसरपर बारबार कर्मका ही जिक्र करना, जबकि धर्मका उल्लेख ज्यादा मौजूँ और उचित होता, क्या यह बात नहीं बताता कि गीता इस झमेलेसे हजार कोस दूर है? यदि धर्मका नाम कहीं-कहीं आ गया भी है तो योंही, न कि किसी खास अभिप्रायसे, यही कथन ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह ठीक है कि एकाध जगह धर्म शब्दसे ही काम निकलता देख और कर्म कहनेमें दिक्कत या कठिनाई समझके गीताने धर्मशास्त्रोंके अर्थमें ही धर्म शब्द कहा है। मगर वह ज्योंका त्यों बोल दिया गया है, न कि प्रतिपादन किया गया है कि धर्म खास चीज है। जैसा कि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (२।३१) में पाया जाता है। और जब दूसरे अध्यायमें योगका सिद्धान्त एवं स्वरूप बताते समय, तीसरे अध्यायमें यज्ञकी महत्ता दिखाते वक्त, चौथेमें यज्ञका विस्तार एवं विवरण बताते समय और अठारहवेंमें अपने-अपने (स्व) धर्मोंके रूपमें ही कैसे भगवत्पूजा होती है यह सिद्ध करते समय भी सिर्फ कर्मकी ही चर्चा आती है, न कि धर्मकी एक बार भी, तो गीतामें प्रतिपाद्य किसका माना जाय? वहाँ रहस्य और सिद्धान्त किसके सम्बन्धका बताया गया माना जाय? धर्मकी या कर्मका? अगर कर्मका, क्योंकि धर्मका कहनेकी तो कोई भी गुंजाइश हई नहीं, तो फिर अन्ततोगत्वा यही बात रही कि गीताने धर्म और कर्ममें कोई भी अन्तर नहीं किया है। उसने कर्मके ही दार्शनिक विवेचनमें सन्तोष करके दिखा दिया है कि असली चीज कर्म ही है।

एक बात और भी है। गीताने बारबार कहा है कि कर्मोंसे ही बन्धन होता है और उसीसे छुटकारा मिलनेको मुक्ति कहते हैं। अर्जुनने इसी बन्धनके डरसे ही तो आगा-पीछा किया था। यदि दूसरे अध्यायके ३८वें श्लोकसे शुरू करके देखें तो प्रायः हरेक अध्यायमें बारबार कर्मोंकी इस ताकतका और उससे छुटकारा पानेकी हिकमतका जिक्र मिलेगा। चाहे उस हिकमतको योग कहें, निर्लेपता कहें, अनासक्ति कहें, समत्व बुद्धि कहें या इन सबोंको मिलाके कहें, यह बात दूसरी है। मगर यह तो पक्की चीज है कि बारबार यही बात शुरूसे अन्ततक आई है। अर्जुनकी धारणा कुछ ऐसी थी कि धर्म उन कामोंको ही कहते हैं जिनमें कोई भी बुराई न हो, जिनसे स्वजन-वध आदि सम्भव न हो, जैसा ध्यान, समाधि, पूजा आदि। उसका यह भी खयाल था कि जिसके करनेमें बुराई हो, हत्या हो या ऐसी तरहकी और बातें हों वह धर्म माना जानेपर भी वस्तुगत्या अधर्म—धर्म विरोधी—ही है। युद्धसे विरक्त होने और भीख-मांगनेकी इच्छा पैदा करनेका उसका यही मतलब था। दूसरा मतलब हो भी क्या सकता था? इसका उत्तर भी कृष्णने साफ ही दे दिया कि "सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" (१८।४८), "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः" (३।३५, १८।४७)—"बुराई-भलाई तो सर्वत्र मिली हुई है। ऐसा काम हो नहीं सकता जिसमें बुराई न हो या भलाई न हो। इसलिये बुराईवाला होनेपर भी स्वधर्म ही ठीक है। उसीको करना चाहिये।" गीतामें जो धर्म अधर्म शब्द कहीं-कहीं आ गये हैं वह अर्जुनकी इसी भ्रान्त धारणाको ही लेकर और उसे ही कृष्णने दूर किया है।

इससे एक और भी गड़बड़ हो जाती है। ऐसी धारणासे कर्म, धर्म और अधर्म अजीबसी चीज बन जाते हैं। क्षत्रियके लिये युद्ध जैसा महान् धर्म भी अधर्मकी कोटिमें—उसी श्रेणीमें—आ जाता है। यह कितनी गलत बात है! ऐसा समझना कि जो निर्दोष हो, हिंसारहित हो वही धर्म और शेष अधर्म है, कितनी नादानी है! साँस लेने एवं पलक मारनेमें भी तो लक्ष-लक्ष कीटाणुओंका संहार होता रहता ही है। पुराने लोगोंने भी कहा ही है कि वायुमण्डलमें ऐसे अनंत जीव भरे पड़े हैं जिनका संहार पलक मारनेसे ही हो जाता है—'पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कन्धपर्ययः।' जब यह बात है तो फिर साँसका क्या कहना? वह तो बराबर चलती और गर्मागर्म रहती है। फलतः कत्लेआम ही होता रहता है। रास्ते चलते भी! तो क्या किया जाय? क्या पलक न मारें? साँस न लें? क्योंकि अधर्म जो हो जायगा! और जब इस प्रकार जीवन ही अधर्म हो गया तो आगे क्या कहा जाय? धर्मशास्त्रियोंने जिस जीवनरक्षाके लिये सब

कुछ कर डालने और खा-पी लेनेतककी छूट दे दी है वही अधर्म ? और पूजा-पाठ ? माला जपो जबान हिलाओ चन्दन रगडो, फूल तोडो, आरती करो, दीप जलाओ भोग लगाओ और पद-पदपर अनन्त निर्दोष जीवोंका संहार करो। फिर भी यह कहना कि यह पूजा-पाठ धर्म है महज नादानी है, यदि धर्मकी वही परिभाषा मानी जाय जो अर्जुनके दिमागमें थी। तब तो कहीं भी किसी प्रकार गुजर नहीं और धर्म महाराज यहाँसे सदाके लिये विदाई ले लेके चले जाय।

इसीलिये तो कृष्णको कसके सुनाना पड़ा कि यह तो तुम्हारी अजीब [illegible] है—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' (२।११)। उसकी यह परिभाषा तो [illegible] जानेकी चीज है [illegible] [illegible] त्रिवचनम ही [illegible] किया और अर्जुनको [illegible]। [illegible] वहाँ जाय [illegible] धर्म-अधर्मके बारेमें [illegible] [illegible] जाता है और धर्मपालनके [illegible] आत्मा परमात्मा [illegible] [illegible] तो [illegible] [illegible] अनिवार्य था। [illegible] और उसका दार्शनिक विश्लेषण [illegible] [illegible] धर्म-अधर्म और हिंसा-अहिंसाका यह [illegible] [illegible] होता है। इसलिये जरूरी हो गया कि वही विश्लेषण किया जाय। गीताने यही किया भी। इससे तो साफ हो जाता है कि धर्म-अधर्मकी सर्वसाधारण धारणा निहायत ही थोथी और ऐन मौकेपर खतरनाक हो जाती है। अजनबी जो धोखा हुआ यह उसीके चलते। इसीलिये आमतौरसे जिसे लोग धर्म या अधर्म मानते हैं वह बच्चोंकीसी बात हो जाती है। गीताने यह बात दिखला दी है। वह धर्म ही क्या जिसके या जिसकी सर्वसाधारण समझके चलते ऐन मौकेपर, जब कि जीवन-मरणका संग्राम उपस्थित है, गड़बड़-घोटाला हो जाय ? धर्मको उस समय ठीक पथ प्रदर्शन करना चाहिये। मगर वह तो उलटा गंगा बहाने लगता है। इसलिये धर्मशास्त्रियोंकी बातोंका तात्पर्य रखके उसका नये सिरेसे विवेचन और विश्लेषण जरूरी हो जाता है। यही जरूरत शुरूमें ही बड़ी खूबीके साथ दिखाके गीताने उसका नया विवेचन एवं ही दार्शनिक विश्लेषण (Philosophical anal[illegible]) [illegible] किया है। क्योंकि इसके बिना दूसरा रास्ता था नहीं।

यह भी तो देखिये कि [illegible] [illegible] अन्तकार कर्मका उल्लेख सकड़ों बार [illegible] करनेके अलावा [illegible], यज्ञ यज्ञ यत्न योग आदि शब्दोंसे किया है वहाँ धर्म शब्द मुश्किलसे किसी न किसी रूपमें—अधर्म, धर्म्य, साधर्म्यके रूपमें भी—सिर्फ तेरह बार आया है। खूबी तो यह है कि

गीताके पहले श्लोकका धर्म तो नामके साथ ही लगा है। वह कोई धर्म जैसी चीजको खास तौरसे कहनेके लिये नहीं आया है। कुरुक्षेत्रकी प्रसिद्धि धर्मक्षेत्रके नामसे उस समय थी और यही बात श्लोकमे भी आ गई! अठारहवें अध्यायके ७०वें श्लोकमे जो 'धर्म्य' शब्द है वह भी कुछ ऐसा ही है। वह तो केवल 'संवाद'का विशेषण होनेसे उसके औचित्यको ही बताता है। उसका कोई खास प्रयोजन नही है। चौदहवेंके दूसरे श्लोकके 'साधर्म्य'का धर्म शब्द भी दूसरे ही मानोमें बोला गया है, न कि कर्त्तव्यके अर्थमे। वह तो समानताका ही सूचक है। दूसरे अध्यायके ४०वे श्लोकका धर्म शब्द भी गीताके योगके ही अर्थमे आया है, न कि धर्म-शास्त्रोंके धर्मके मानोमें। इसी प्रकार ९वेके २,३ श्लोकोंमें जो धर्म्य और धर्म शब्द आये है वह ज्ञान-विज्ञानके ही लिये आये है, न कि अपने खास मानीमे। १२वेंके २०वे श्लोकका धर्म्य शब्द भी कुछ ऐसा ही है। वह समस्त अध्यायके प्रतिपादित विषयको ही कहता है। इसी प्रकार १८वेंके ४६वे श्लोकमे जो धर्म शब्द है उसीके अर्थमे उसी श्लोकमे आगे कर्म शब्द आनेके कारण वह भी संकुचित अर्थमे प्रयुक्त नही हुआ है। उसी अध्यायके ६६वे श्लोकका धर्म शब्द भी व्यापक अर्थमे ही आया है और धर्म, अधर्म तथा दूसरे कर्मोंका भी वाचक है। यह बात प्रसंग-वश आगे कही जायगी और उसपर विशेष प्रकाश पड़ेगा। यह ठीक है कि उस धर्मको कर्मकी जगहपर प्रयोग नही किया है। क्योंकि ऐसा करना असभव था। कहनेका आशय यह है कि जितना व्यापक अर्थ कर्म शब्द का है उस अर्थमे वह धर्म शब्द नही आया है और उसकी वजह है जो प्रसंगवश लिखी जायगी।

इस प्रकार देखनेसे पता चलता है कि पाचसे लेकर सत्रह अध्यायतक कुल तेरह अध्यायोमे यह धर्म आया तो नही है। हालाकि इन्हीमें कर्मका दार्शनिक विवेचन सब ही हुआ है। जिस समन्वयरूप योगका वर्णन दूसरे अध्यायमे पाया जाता है और जो कर्मोकी कुजी है वह पाच छे, नो, बारह, तेरह और चोदह अध्यायोमे किसी न किसी रूपमे आया ही है। सोलह और सत्रह अध्याय तो गीताधर्मकी दृष्टिसे काफी महत्व रखते हैं, यह पहले कहा चुके है और विस्तारके साथ वह बात सिद्ध की जा चुकी भी है।

अब रहे सिर्फ पहले दूसरे, तीसरे, चौथे और अठारहवे अध्याय। इन्हीमे धर्म शब्द कुल मिलाके केवल चौबीस बार अपने विशेष मानीमे प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। इसमे भी खूबी यह है कि पहले अध्याय के ४०वेंमे तीन बार और तीसरेके ३५वेमे ही चार बार आया है। पहलेके तेतालीसवमे, दूसरेके बत्तीस-तेंतीसमे, चौथेके सातवेमे और अठारहवेके एकतीस-बत्तीस श्लोकोमे दो-दो बार आ जाने के कारण कुल उन्नीस बार तो सिर्फ आठ ही श्लोकोंमे आया है।

शेष ५ श्लोकोंमे ५ बार। इनमें भी पहले अध्यायके ४१ तथा ४४में, दूसरेके ७वेंमें, चौथेके ८वेंमें और अठारहवेंके ३४वेमें—इस प्रकार एक-एक बारका बँटवारा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछी जगहोंमें वह पाया जाता है। इसमे भी खूबी यह है कि पहले अध्यायमे सात बार और दूसरेमें एक—कुल आठ—बार तो खुद अर्जुनने ही यह शब्द कहा है। फलतः वह तो गीताके सिद्धान्तके भीतर यों ही नही आता है। हाँ, सत्रह बार जो कृष्णने कहा है उसी-पर कुछ भरोसा कर सकते है।

मजा तो यह है कि दूसरे अध्यायके ३१ तथा ३३ श्लोकोंमे जो कुल चार बार धर्म शब्द कृष्णने कहा है वह अर्जुनके ही कथनानुसार धर्मशास्त्रवाला ही है, न कि कृष्णका खास। वहाँ तो अर्जुनको ही बातके अनुसार ही उसे माकूल करते हैं। इसी प्रकार तीसरेके ३५वेंमे जो चार बार आया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अठारहवेंके ४७वेका। क्योंकि "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात" यह श्लोकका आधा ज्योंका त्यों दोनों ही जगह पूर्वार्द्धमें आया है। फलतः यदि १८वेंमे धर्मका अर्थ कर्म ही है, तो तीसरेमे भी यही बात है—होनी चाहिये। यह भी बात है कि तीसरे अध्यायके शुरूसे लेकर इस श्लोकके पूर्वतक कर्मकी ही बात लगातार आई है। उसकी शृंखला टूटी नही है। इसलिये धर्म शब्द भी कर्मके ही अर्थमे प्रयुक्त हुआ है यही मानना उचित है।

इस प्रकार देखनेपर तो सिर्फ चौथे अध्यायके ७, ८ तथा अठारहवेंके ३१, ३२ एवं ३४ श्लोकोंमे जो धर्म शब्द कृष्णके मुखसे निकले है केवल वही, मालूम पड़ता है, धर्मके विशेष या पारिभाषिक अर्थमे आये है। मगर यहा भी कुछ बाते विचारणीय है। चौथे अध्यायमे तो धर्मका उल्लेख अवतारके ही प्रसंगमे हुआ है। वहा कहा गया है कि जब समाजमे उपद्रव होने लगता है और दुष्टोकी वृद्धि हो जाती है तो अवतारोंकी जरूरत होती है। ताकि भले लोगोंकी, सत्पुरुषोकी रक्षा हो सके। अब यदि इस वर्णनको मिलान सोलहवें अध्यायके असुरोके आचरणोसे करे और तुलसीदासके "जब जब होइ धर्मकी हानी। बाढहि असुर महा अभिमाना" वचनको भी इस सिलसिलेमे खयाल करे, तो पता लग जाता है कि धर्मका मतलब यहाँ समाज-हितकारी समस्त आचरणोंमे ही है। जिन कामोंसे समाजका मंगल हो वही धर्म है, ऐसा ही अभिप्राय कृष्णका प्रतीत होता है।

बेशक, सिर्फ १८वे अध्यायके ३१, ३२ तथा ३४ श्लोकोमें यह बात जरूर मालूम होती है कि सामान्य कर्तव्य-अकर्त्तव्यसे अलग धर्म-अधर्म है। ३०वे श्लोकमें प्रवृत्ति-निवृत्ति शब्दोंसे इन्ही धर्म और अधर्मको कहा है। इसके सिवाय जिस प्रकार वहा कार्याकार्य—कार्य-अकार्य—अलग बताया है, न कि इन्हे धर्म-

अधर्म—प्रवृत्ति-निवृत्ति—के ही भीतर ले लिया है, ठीक उसी प्रकार ३१वेंमें भी अधर्म और धर्म तथा अकार्य एवं कार्य जुदा-जुदा लिखा है। इससे साफ हो जाता है कि सामान्य कार्य और अकार्यसे अलग ही धर्म एवं अधर्म है—ये विशेष पदार्थ हैं। मगर जब बत्तीसवें श्लोकपर विशेष ध्यान देते हैं तो यह पहेली सुलझ जाती है और पता चल जाता है कि धर्म-अधर्म शब्द भी व्यापक अर्थमें ही आये हैं। पहले—३१वें—श्लोकमें आम लोगोंकी धारणाके ही अनुसार इन्हें अलग रखा है जरूर। मगर यह बात विवरणके ही रूपमें है यह मानना ही पड़ेगा।

बात असल यह है कि सात्त्विक, राजस और तामस बुद्धियोंकी पहचान इन तीन—३०से ३२—श्लोकोंमें बताई गई है। पहलेमें कहा गया है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति या धर्म-अधर्म तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको ठीक-ठीक बताना सात्त्विक बुद्धिका काम है। इसीसे उसकी पहचान होती है। फिर ३१वेंमें कहा गया है कि इन चीजोंको जो ठीक-ठीक न बताये—कभी ठीक बताये और कभी नहीं—वही राजस बुद्धि है। इसकी यही पहचान है। यहाँतक तो ठीक है। दोनोंकी पहचानमें धर्म (प्रवृत्ति) अधर्म (निवृत्ति) तथा कार्य-अकार्यका उल्लेख आया है। मगर जब तामस बुद्धिका परिचय [illegible] श्लोकमें आया है तो कार्य-अकार्यको छोड़के सिर्फ धर्म और अधर्मका ही [illegible] है और कहा गया है कि जो अधर्मको ही धर्म माने और इसी प्रकार सभी बातें उलटी ही बताये वही तामसी बुद्धि है। यदि पहला क्रम रखा जाता तो [illegible] धर्म और अकार्यको कार्य समझे वही तामसी बुद्धि है। क्योंकि उसका काम न तो ठीक-ठीक बताना और न कुछ गड़बड़ करना किन्तु सिर्फ उलटा बताना। मगर यहाँ कार्य-अकार्यको छोड़के केवल धर्म-अधर्मका ही उल्लेख यही बताता है कि इन्हींके भीतर कार्य-अकार्य भी आ जाते हैं और ये [illegible] व्यापक अर्थमें आये हैं। फलतः कार्य-अकार्यका पहले दो श्लोकोंमें उल्लेख [illegible] विवरणके ही रूपमें है। ३४वें श्लोकका धर्म शब्द तो प्रचलित परिपाटीके ही अनुसार धर्म अर्थ [illegible] रखता है और जब पहले ही उसका अर्थ ठीक हो गया तो यहाँ दूसरा क्या होगा?

इस प्रकार यह बात निर्विवाद हो गई कि गीताने धर्मको कर्म, काम या अर्थसे भिन्न नहीं माना है [illegible] ही माना है—धर्म ही [illegible] कर्म ही धर्म। [illegible] जो [illegible] गीता [illegible] श्लोकोंमें कहा है कि [illegible] निरन्तर [illegible] धारण ही [illegible] कर रहा है— [illegible] उसीको भी [illegible] धर्म या कर्म ही है। इसीसे [illegible] दिया गया है उसमें कर्मोंका स्वरूप और उसके सभी पहलुओंका विवेचन किया गया है। यही तो वजह है कि शुरूसे लेकर अन्त-

तक जो भी विवेचन किया गया है वह कर्मका ही है, न कि धर्मका। एक भी स्थानपर धर्मका उल्लेख करके विश्लेषण या विवेचन पाया जाता है नहीं। अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमे जो कुछ कहना शुरू हुआ है वह भी मरने-मारने और युद्ध करने की ही बात लेके। इन्ही बातोको धर्म कहके शुरू करते तो भी एक बात थी। मगर वहाँ तो सीधे कौन मारता है, कौन मरता है आदि प्रश्न ही उठाये गये है और उन्हींका उत्तर दिया गया है। युद्ध करो, तयार हो जाओ, लड़नेका निश्चय कर लो आदिके ही रूपमे बार-बार उपसंहार किया गया है, न कि धर्म करो, ये धर्म है इसलिये इन्हे करो, आदिके रूपमे। खूबी तो यह है कि यह सभी बाते स्वतन्त्र रूपसे कहके आगे ३१-३८ श्लोकोमे यह भी बात कहते है कि धर्मबुद्धिसे भी यही काम कर सकते हो—यह युद्ध और मरने-मारनेका काम धर्म समझके भी करना ही होगा। इससे तो साफ है कि पहले धर्म समझके इन्हे करनेपर जोर नही दे, कर्तव्य बुद्धि या विवेकबुद्धिसे ही इन्हे करने को कहा गया है।

इस प्रकार सभी कामोको धर्मके भीतर डाल देनेका असर यह हो जाता है कि धर्म बहुत बड़ा एवं व्यापक बन जाता है और उसका सर्वजनप्रसिद्ध संकुचित रूप जाता रहता है। फलत लोगोमे जो धर्माचरणकी प्रवृत्ति आमतौरसे पाई जाती है उससे काफी फायदा उठाके सभी समाजोपयोगी कामोको उसी व्यापक एवं उदार बुद्धिसे धर्म समझके ही कराया जा सकता है। गीताके इस ढंगसे कर्तव्यके प्रसारमे बहुत बड़ा लाभ हो जाता है।

मगर दूसरा और असली महत्त्वपूर्ण लाभ इसमें यह होता है कि धर्मके नामपर धर्मशास्त्रों, धर्मशास्त्रियों तथा धर्माचार्योंका जो नाहकका नियन्त्रण लोगोकी समझ और उनके कामोपर रहा करता है वह खत्म हो जाता है। जब धर्म अत्यन्त व्यापक बन जाता है, जब सभी काम उसमे आ जाते है, तब धर्मके ठेकेदारोंकी गुंजाइश रही कहाँ जाती है? जबतक कोई खास चीज और कुछ चुनी-चुनाई बाते न हो तबतक उन्हे पूछे कौन? जीवनके हरेक काममे कौन किससे पूछने जाता है? किसे धर्माचार्यकी जरूरत इस बातके लिये होती है कि हम कैसे आगे-पीछे पाँव दे, कैसे सांस ले, कैसे खानेमे मुँह चलावे, कैसे दाँतोसे अन्नको खूब चबाये, कैसे कपड़े पहने आदि आदि? ये बाते पूछना असम्भव भी तो है। हाँ, स्वास्थ्यशास्त्र और [illegible] इनकी पोथियोंकी सहायतासे इन्हे भले ही जान ले सकते है। मगर ऐसा तो नहीं होगा कि [illegible] गुरु और पीर या पंडित-पुरोहित [illegible] जिस खास तौरसे [illegible] पूजा किया करेंगे, और [illegible] पूजा आदिके सिलसिलेमे आते ही [illegible]। [illegible] रोजा, नमाज, संध्या, पूजा, [illegible] भी नाम लेने आदिकी [illegible] आ जायगी और वहाँसे भी धर्मध्वजियोंकी बेदखली होई जायगी, चाहे देरमे हो या सबेर।

तीसरी बात यह होगी कि जब हरेक बातको धर्मके फन्देसे निकालके व्यावहारिक और सामाजिक दुनियामें ला देंगे तो उसके भले-बुरेपर जाँच स्वर्ग और नर्ककी दृष्टिसे न करके देखेंगे कि इससे अपना और समाजका भौतिक लाभ क्या है, इससे सामाजिक, वैज्ञानिक या सांस्कृतिक विकासमें कहाँतक फायदा पहुँचता है, समाजके स्वास्थ्यकी उन्नति इससे कहाँ तक होती है। बिना इस व्यावहारिक दृष्टिके हो तो सब गुड़ गोबर हो रहा है। नहानेमें भी जब धर्मकी बात घुसती है तो उसमें शरीर या वस्त्रादिकी स्वच्छता न देखके स्वर्ग-नर्कको ही देखने लगते हैं! जैसे ऊँटकी नजर हमेशा पश्चिमके रेगिस्तान की तरफ होती है, ऐसा कहा जाता है, ठीक उसी तरह हमें हर काममें ठेठ स्वर्ग, बैकुण्ठ या नर्क ही सूझता है। इस पतनका कोई ठिकाना है! इस अन्धी धर्मबुद्धिने हमें—मानव-समाजको—निरा भोंदू और बुद्धिहीन बना डाला है, मैशीन करार दे दिया है! गीताका यह रास्ता इस बलासे हमारा निस्तार कर देता है और हमें आदमी बना देता है।

चौथी और आखिरी बात यह होती है कि कर्म भले हैं या बुरे, इनके करते हम नर्कमें जायेंगे या स्वर्गमें आदि बातों और प्रश्नोंका भी निर्णय जो अबतक पंडितों एवं मोलवी लोगोंके हाथोंमें रहा है उसे गीता इस प्रकार उनसे छीन लेती और इन्हें ऐसी कसौटीपर कसती है जो सर्वत्र सुलभ हो, जिसे हम खुद हासिल कर सकते हैं, यदि चाहें। अबतक तो धर्मके नामपर फैसला करनेवाले पंडित आदि ही थे। मगर अब जब धर्म हो गया कर्म और कर्मके जाँचने की एक दूसरीही कसौटी गीताने तैयार कर दी, जो दूसरेके पास न होके हरेक आदमीके पास अपनी-अपनी अलग होती है, तो फिर पंडितों और मोलवियोंको कौन पूछे? यह भी नहीं कि दूसरेकी कसौटी-गैरकी तराजू—दूसरेके काम आये। यहाँ तो अपनी-अपनी ही बात है। यहाँ "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत" है। फलतः परमुखापेक्षिताके लिये स्थान रही नहीं जाता। सोलह आना स्वावलम्बन ही उसकी जगह ले लेता है। तब धर्मके नामपर झमेले और झगड़े भी क्यों होंगे?

गीताका साम्यवाद

गीतामें समता या साम्यवादकी भी बात है और उसे लेके बहुत लोग मार्क्सवादी साम्यवादको खरी-खोटी सुनाने लगते हैं। उनके जानते मार्क्सका साम्यवाद भौतिक होनेके कारण हलके दर्जेका है, तुच्छ है गीताके आध्यात्मिक साम्यवादके मुकाबिलेमें। वह तो यह भी कहते हैं कि हमारा देश धर्मप्रधान एवं धर्मप्राण होनेके कारण भौतिक साम्यवादके निकट भी न जायगा। यह तो आध्यात्मिक साम्यवादको ही पसन्द करेगा। असलमें इस युगमें जो साम्यवादकी हवा बह

निकली है उसीसे घबराके यह बातें उसीके जवाबमें कही जाती हैं। उस तरहकी दूसरी चीज न रहनेपर तो लोग खामखा उधर ही झुकेंगे। इसीलिये गीताकी यह बात लोगोंके सामने ला खड़ी कर दी जाती है, ताकि स्वभावतः लोग इधर ही आकृष्ट हों और दूसरे साम्यवादका खतरा न रह जाय। खूबी तो यह है कि जिन्हें अध्यात्मवादसे लाख कोस दूर रहना है वह भी गीताकी यही बात रटते फिरते हैं! उनके स्थायी स्वार्थोको भौतिक साम्यवादसे बहुत बड़ा खतरा होनेके कारण ही वे गीताका नाम लेके टट्टीकी ओटसे शिकार खेलते हैं। हर हालतमें इस चीजपर प्रकाश डालना जरूरी है।

असलमें गीतामें प्रायः बीस जगह या तो सम शब्दका प्रयोग मिलता है या उसीके मानीमें तुल्य जैसे शब्दका प्रयोग। दूसरे अध्यायके ३८ तथा ४८वें, चौथेके २२वें, पाँचवेंके १८, १९वें, छठेके ८, ९, १३, २९, ३२, ३३वें, नवेंके २९वे, बारहवेंके १३, १८वें, तेरहवेंके ९, २७, २८वें, चौदहवेंके २४वें तथा १८वेंके ५४वें श्लोकोंमे सम, समत्व या साम्य शब्द आया है। किसी-किसी श्लोकमें दो बार भी आया है। चौदहवेंके २४वें श्लोकमें समके साथ ही तुल्य शब्द भी आया है और २५वेंमें सिर्फ तुल्य शब्द ही दो बार मिलता है। इनमें केवल छठेके तेरहवें श्लोक-वाला सम शब्द 'सीधा' (Straight) के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसलिये उसका साम्यवादसे कोई भी ताल्लुक नहीं है। शेष सम शब्दों या उन्हींके अर्थमें प्रयुक्त तुल्य शब्दोंका साम्यवादसे सम्बन्ध जरूर जुट जाता है। यदि असक्त, अनासक्त, परित्यागी या परित्याग आदि शब्दोंको, जो समके ही अर्थमें—उसी अभिप्रायसे ही—प्रयुक्त हुए हैं, भी इसी सिलसिले में गिन लें; तब तो गीताके अंग-प्रत्यंग में यह बात पाई जाती है, यही मानना पडेगा। कर्मके विश्लेषण और इस समत्व या साम्यवादका ऐसा सम्बन्ध है कि दोनों एक दूसरेके बिना रही नहीं सकते।

अब देखना है कि गीताकी यह समता, उसका यह समत्व समदर्शन या साम्यवाद है क्या चीज। जबतक उसकी असलियत और रूपरेखाका ही पता हमें न हो उसको तुलना भौतिक साम्यवादके साथ कर कैसे सकते हैं? तबतक हमें यह भी कैसे पता लग सकता है कि कौन भला, कौन बुरा है? यदि भला या बुरा है तो भी किस दृष्टिसे, यह भी तो तभी जान सकते हैं। हरेक चीज हर दृष्टिसे तो कभी भी अच्छी या बुरी होती नहीं। आखिर पदार्थोके पहलू तो होते ही हैं और उन्हे हर पहलूसे अलग-अलग देखना जरूरी हो जाता है, यदि किसी औरके साथ मिलान या तुलना करना हो। यही कारण है कि गीताके समदर्शन या साम्यवादके हर पहलूपर प्रकाश डालना और विचार करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, गीताका साम्यवाद, समदर्शन, समत्वबुद्धि

या साम्ययोग तो दिल-दिमागकी ही दशा विशेष है। दरअसल युरोपमें हीगेल आदि दार्शनिकोंने जिस विचारवाद या आईडियलिज्म (idealism) को प्रश्रय दिया और उसका समर्थन किया है वह बहुत कुछ गीताके समदर्शनसे मिलता-जुलता है। यह भी नहीं कि यह कोरी मानसिक अवस्था विशेष है जिसे ज्ञानकी एक विलक्षण कोटि या दशा कह सकते हैं। निस्सन्देह पाँचवें अध्यायके १८, १९—दो— श्लोकोंमे जो कुछ कहा है वह तो दर्शन या ज्ञानात्मक ही है। क्योंकि वहाँ साफही लिखा है कि पंडित लोग समदर्शी होते या सम नामकी चीजको ही देखते हैं, "पण्डिताः समदर्शिनः", "साम्ये स्थितं मनः।" छठेंके ८, ९ श्लोकोंमें भी "समलोष्टाश्मकाञ्चनः", "समबुद्धिर्विशिष्यते" के द्वारा कुछ ऐसा ही कहा है। हालाँकि "समलोष्टाश्मकाञ्चनः" का व्यापक भाव माना जाता है जो आगे बताया जायगा। यही बात उस अध्यायके ३२, ३३ श्लोकोंमें भी है। क्योंकि ३२वेंमें "समं पश्यति" लिखा गया है और उसीका उल्लेख ३३वेंमे है। यद्यपि तेरहवेंके ९वें श्लोकमे यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है और उसका दूसरा आशय भी संभव है; तथापि २७, २८-दो-श्लोकोंमें 'पश्यति' एवं 'पश्यन्' शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान ही बताया है। बस।

नकाब और नकाबपोश

इसका आशय यह है कि जिस तरह स्वाग बनानेवालेकी बाहरी वेशभूषाके रहते हुए भी समझदार आदमी उससे धोखेमे नही पड़ता है; किन्तु असली आदमीको पहचानता और देखता रहता है; ठीक यही बात यहाँ भी है। संसारके पदार्थोंका जो बाहरी रूप नजर आता है उसे विवेकी या गीताका योगी एकमात्र नट, नर्त्तक या स्वाँग बनानेवालेकी बाहरी वेशभूषा ही मानता है। इसीलिये इन सभी बाहरी आकारोंके भीतर या पीछे किसी ऐसी अखंड, एकरस, निर्विकार—सम—वस्तुको देखता है जो उसकी अपनी आत्मा या ब्रह्म हो है। उसे समस्त दृश्य भौतिक संसार उसी आत्मा या ब्रह्मकी नटलीला मात्र ही बराबर दीखता है। वह तो इस नटलीलाकी ओर भी दृष्टि न करके उसी सम या एक रस पदार्थको ही देखता है वह जो बाहरी पर्दा या नकाब है उसे वह उतार फेंकता है और पर्दानशीन या नकाबपोशको हूबहू देखता रहता है।

नरसी मेहता एक ज्ञानी भक्त हो गये हैं। उनकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि वह एक बार कहीसे आटा और घी माँग लाये। फिर घीको अलग किसी पात्रमें रखके कुछ दूर पानीके पास आटा गूँधके रोटी पकाने लगे। जब रोटी तैयार हो गई तो सोचा कि घी लगाके भगवानको भोग लगाऊँ और यज्ञ-शिष्ट या प्रसाद स्वयं ग्रहण करूँ। बेशक, आजकलके नकली भक्तोंकी तरह

ठाकुरजीकी मूर्त्ति तो वह साथमे बांधे फिरते न थे। वे थे तो बहुत पहुँचे हुए मस्तराम। उनके भगवान तो सभी जगह मौजूद थे। खैर, उनने रोटियाँ रखके घीकी ओर पॉव बढाया और उसे लेके जो उलटे पॉव लौटे तो देखा कि एक कुत्ता रोटिया लिये भागा जा रहा है! फिर क्या था? कुत्तेके पीछे दौड पडे। कुत्ता भागा जा रहा है बेतहाशा और नरसी उसके पीछे-पीछे हाथमे घी लिये आजू मिन्नत करते हुए हांपते-हांपते दौडे जा रहे है कि, महाराज, रूखी रोटियाँ गलेमे अटकेंगी। जरा घी तो लगा देने दीजिये! मुझे क्या मालूम कि आप इतने भूखे है कि घी लगाने भर की इंतजार भी बर्दाश्त नही कर सकते। यदि मुझे ऐसा पता होता तो और सबेरे ही रोटियाँ बना लेता! अपराध क्षमा हो! अब आगे ऐसी गलती न होगी! कृपया रुक जाइये, आदि-आदि। बहुत दौड-धूपके बाद तब कही कुत्ता रुका और नरसीने भगवान्के चरण पकडे!

नरसीको तो असलमे कुत्ता नजर आता न था। कुत्तेकी शकल तो बाहरी नकाब थी, ऊपरी पर्दा था। वह तो नकाबको फाडके उसके भीतर अपने भगवानको ही देखते थे। उनकी आखे तो दूसरी चीज देख पाती न थीं। उनके लिये सर्वत्र सम ही सम था, सर्वत्र उनकी आत्मा ही आत्मा थी, ब्रह्म ही ब्रह्म था। नटलीलाका पर्दा वह भूल चुके थे—देखते ही न थे। यदि किसी वैज्ञानिकके सामने पानी लाइये तो वह उसमे और ही कुछ देखता है। उसकी दूरदर्शी एवं भीतर घुसनेवाली—पर्दा फाड डालनेवाली आँखे उसमे सिवाय औक्सिजन और हाइड्रोजन (Oxygen and Hydrogen) नामक दो हवाओकी खास मात्राओके और कुछ नही देखती है, हालांकि सर्वसाधारणकी नजरोमे वह सिर्फ पानी है, दूसरा कुछ नही। वैज्ञानिककी भी स्थूल दृष्टि पानी देखती है, यदि उसे वह मौका दे। नही तो वह भी देख नही पाती। मगर सूक्ष्म दृष्टि—और वही यथार्थ दृष्टि है—तो उस दृश्य जलको न देख अदृश्य वायुवोंको ही देखती है। यही दशा नरसीकी थी। यही दशा गीताके योगी या समदर्शीको भी समझिये।

यदि नौ मन बालूके भीतर दो-चार दाने चीनीके मिला दिये जायँ तो हमारी तेजसे तेज आँखे भी उनका पता लगा न सकेगी, चाहे हम हजार कोशिश करे। मगर चीटी? वह तो खामखा ढूँढ-ढाँढके उन दानोतक पहुँची जायगी। उसे कोई रोक नही सकता। समदर्शी भक्तोंकी भी यही दशा होती है। जिस प्रकार चीटीकी लगन तथा नाक तेज और सच्ची होनेके कारण ही वह चीनीके दानोंतक अवश्य पहुँचती और उनसे जा मिलती है; बालूका समूह जो उन दानों और चीटीके बीचमे पडा है उसका कुछ कर नही सकता; ठीक वही बात ज्ञानी एवं समदर्शी प्रेमी जनोंकी होती है। उनके और भगवानके बीचमें खडे ये स्थूल पदार्थ

हर्गिज उन्हें रोक नहीं सकते। शायद किसी विशेष ढंगका एक्स रे (Xray) या खुर्दबीन उन्हें प्राप्त हो जाता है। फिर तो शत्रु-मित्र, मिट्टी-पत्थर, सोना, सुख-दुःख, मानापमान आदि सभी चीजों के भीतर उन्हें केवल सम ही सम नजर आता है। पर्दा हट जो गया है, नकाब फट जा गई है। यही है गीताके साम्य-वादके समदर्शनका पहलू और यही है उस ज्ञानकी दशाविशेष।

रसका त्याग

मगर यह तो एक पहलू हुआ। मन या बुद्धिका पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उनके बाहरी या भौतिक आकार एवं रूपकी छाप उनपर लगने न पाये और ये इन पदार्थोंके इन दृश्य आकारों एवं रूपोंसे अछूते रह जायँ, यह तो समदर्शन या गीताके साम्यवादका केवल एक पहलू हुआ। उसका दूसरा पहलू तो अभी बाकी ही है और गीताने उसपर काफी जोर दिया है। वही तो आखिरी और असली चीज है। इस पहले पहलूका वही तो नतीजा है और यदि वही न हो तो अन्ततोगत्वा यह एक प्रकारसे या तो बेकार हो जाता है या परिश्रमके द्वारा उस दूसरेको सम्पादन करनेमें प्रेरक एवं सहायक होता है। यही कारण है कि गीतामें पहलेकी अपेक्षा उसीपर अधिक ध्यान दिया गया है।

बात यों होती है कि मनका भौतिक पदार्थोंसे संसर्ग होते ही उनकी मुहर उसपर लग जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फोटोग्राफीमें फोटोवाली पटरी या शीशेपर सामनेवाले पदार्थोंकी। सहसा देखनेसे यह पता नहीं चलता कि सचमुच उस शीशेपर सामनेकी वस्तुकी छाप लगी है; हालाँकि वह होती है जरूर। इसीलिए तो उसे स्पष्ट करनेके लिए पीछे यत्न करना पड़ता है। मन या बुद्धिपर भी लगी हुई पदार्थोंकी छाप प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वे तो अदृश्य हैं—अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मन या बुद्धिको देख तो सकते नहीं। उनका काम है पदार्थोंकी छाप या प्रतिबिम्ब लेके बाहरका अपना काम खत्म कर देना और भीतर लौट आना।

मगर भीतर आनेपर ही तो गड़बड़ पैदा होती है! मनने बाहर जाके पदार्थोंको प्रकट कर दिया जो चीजें अज्ञानके अन्धकारमें पड़ी थीं उन्हें ज्ञानके प्रकाशमें ला दिया। अब उन चीजोंकी बारी आई। उनकी छापके साथ जब मनीराम (मन) भीतर घुसे तो उन पदार्थोंने अब अपना तमाशा और करिश्मा दिखाना शुरू किया। जहाँ पहले भीतर शान्तिसी विराज रही थी, तहाँ अब ऊधम और बेचैनी—उथल-पुथल—शुरू हो गई! मालूम होता है, जैसे बिरनीके छत्तेमें किसीने कोई चीज घुसेड़ दी और पहले जो वे भीतर चुपचाप पड़ी थीं

भनभनाके बाहर निकल आई। किसी छूतवाली या संक्रामक बीमारीको लेके जब कोई किसी घर या समाजमें घुसता है तो एक प्रकारका आतंक छा जाता है, चारों ओर परीशानी छा जाती है और वह छूतकी बीमारी जानें कितनोंको तबाह करती है। मनपर अपनी मुहर लगाके जब भौतिक पदार्थ उसी रूपमें मनके साथ भीतर—शरीरमें—घुसते हैं तो ठीक संक्रामक रोगकी सी बात हो जाती है और भीतरकी शान्ति भंग हो जाती है। वह मन अंग-प्रत्यंगमें अपनी उस छापका असर डालता है। या यों कहिये कि मनके द्वारा बाहरी भौतिक पदार्थ ही ऐसा करते हैं। फलतः हृदय या दिल पूर्ण रूपसे प्रभावित हो जाता है। दिलका काम तो खोद-विनोद करना या जानना है नहीं। वह तो ऊँटकी पकड़ पकड़ता है। जब उसपर भौतिक पदार्थोंका प्रभाव इस प्रकार हुआ तो वह उन्हें जैसेका तैसा पकड़ लेता और परीशान होता है। यदि उसमें विवेक शक्ति होती तो उनसे भाग जाता। मगर सो तो है नहीं, और जिस मन और बुद्धिमें यह शक्ति है उनने तो खुद ही यह काम किया है—बाहरी पदार्थोंको भीतर पहुँचाया है, या कमसे कम उनके कीटाणुओंको ही। फिर हो क्या ?

पहले भी कहा जा चुका है कि भौतिक पदार्थ खुद कुछ कर नहीं सकते—ये बुरा-भला कर नहीं सकते, सुख-दुःख दे नहीं सकते। किन्तु मनमें जो उनका रूप बन जाता है वही सुख-दुखादिका कारण होता है। इस बातका विशेष रूपसे विवरण ऊपरकी पंक्तियोंसे हो जाता है। जब मनपर भौतिक पदार्थोंकी छाप पड़ती है तो उसमें एक खास बात पाई जाती है। पहले भी कहा जा चुका है कि उदासीन या लापर्वाह आदमीको ये पदार्थ बुरे-भले नहीं लगते। क्योंकि उसके मनपर इनकी मुहर लग पाती नहीं। उनका मन बेलाग जो होता है। जिनके मनमें लाग होती है, जिसे लस बोलते हैं, उन्हींकी यह दशा होती है। इसी लाग को गीताने रस कहा है "रसवर्जं रसोऽप्यस्य" (२।५९) श्लोकमें। राग-द्वेष या काम, क्रोधके नाम से भी इसी चीजको बार-बार याद किया है। यही लाग या रागद्वेष-रस-सब तूफानों का मूल है। यदि यह न हो तो सारी बला खत्म हो जाय। गीताने इस रसको खत्म करने पर इसीलिए काफी जोर भी दिया है।

अब हालत यह होती है कि भौतिक पदार्थोंके इस प्रकार भीतर पहुँचते ही मैं, मेरा, तू, तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हित-अहित, अहन्ता-ममता आदि का जमघट लग जाता है—भीतर इनका बाजार गर्म हो जाता है। जैसे मांस का टुकड़ा देखते ही, उनकी गन्ध पाते ही गीध, चील, कौवे आदि रक्तपिपासु पक्षियों की भीड़ लग जाती है और वे इर्द-गिर्द-मँडराने लगते हैं; ठीक वही

बात यहाँ भी हो जाती है। मैं-तू, मेरा-तेरा, शत्रु-मित्र आदि जो जोड़े हैं—द्वन्द्व हैं—वे जमके एक प्रकारका आपसी युद्ध—एक तरहकी कुश्ती—मचा देते हैं और कोई किसीकी सुनता नहीं। ये द्वन्द्व होते हैं बड़े ही खतरनाक। ये तो फौरन ही आपस में हाथापाई शुरू कर देते हैं। पहलवानों की कुश्ती में जैसे अखाड़ेकी धूल उड़ जाती है इनकी कुश्ती में ठीक उसी प्रकार मनुष्य के दिल की दुर्दशा हो जाती है, एक भी फजीती बाकी नहीं रहती। फिर तो सारे तूफान शुरू होते हैं। इसीके बाद बाहरी लड़ाई-झगड़े जारी हो जाते हैं, हाय-हाय मच जाती है। बाहरके झगड़े-झमेले इसी भीतरी कुश्तम-कुश्ताके ही परिणाम हैं। नतीजा यह होता है, कि मनुष्यका जीवन दुःखमय हो जाता है। क्योंकि इन भीतरी कशमकशोंका न कभी अन्त होता है और न बाहरी शान्ति मिलती है। भीतर शान्ति हो तब न बाहर होगी ?

गीताके आध्यात्मिक साम्यवादकी आवश्यकता यहींपर होती है। वह इसी भीतरी कशमकश और महाभारतको मिटा देता है, ताकि बाहरका भी महायुद्ध अपने आप मिट जाये। ज्योंही मन बाहरी पदार्थोंकी छूत भीतर लाये या लानेकी कोशिश करे, त्योंही उसका दर्वाजा बन्द कर देना यही उस साम्यवादका दूसरा पहलू है। इसके दोई उपाय हैं। या तो मनमें भौतिक पदार्थोंकी छूत लगने पाये ही न, जैसा कि समदर्शनवाले पहलूके निरूपणके सिलसिले में कहा जा चुका है। तब तो सारी झंझट ही खत्म हो जाती है। और अगर लगने पाये भी, तो भीतर घुसते ही मनको ऐसी ऊँची सतह या भूमिकामें पहुँचा दें कि वह अकेला पड़ जाय और कुछ करी न सके; जिस प्रकार छूतवालेको दूरके स्थानमें अलग रखते हैं जबतक उसकी छूत मिट न जाये। मनको ध्यान, धारणा या चिन्तनकी ऐसी ऊँची एवं एकान्त अट्टालिका में चढ़ा देते हैं कि वह और चीजें देख सकता ही नहीं। अगर उसे किसी चीज में फँसा दें तो दूसरीको देखेगा ही नहीं। उसका तो स्वभाव ही है एक समय एकही में फँसना। कहते हैं कि व्रजमें गोपियोंको जब ऊधवने ज्ञान और निराकार भगवानके ध्यानका उपदेश दिया तो उनने चट उत्तर दे दिया कि मन तो एक ही है और वह चला गया है कृष्णके साथ। फिर ध्यान किससे किया जाय ? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम संग कौन भजै जगदीस ?" यही बात यहाँ हो जाती है और सारी बला जाती रहती है।

मस्ती और नशा

दूसरा उपाय मनकी मस्ती है, पागलपन है, नशा है। चौबीसों घंटे बेहोश बनी रहती है। जिसे प्रेमका प्याला या शोककी शराब कहा है उसीका नशा

दिनरात बना रहता है। बाहरी संसारका खयाल कभी आता ही नहीं। असलमें तो यह बात होती है हृदयमें, दिलमें। यह मस्ती मनका काम न होके दिलकी ही चीज है। मन तो बड़ा ही नीच है, लंपट है। उसे तो किसी चीज में जबर्दस्ती बाँध रखना होता है। मगर दिल तो गंगाकी धारा है, बहता दर्या है जिसका जल निर्मल है। उसीमें यह मस्ती आती है, यह पागलपन होता है, यह नशा रहता है और वही मनको मजबूर कर देता है कि चुपचाप बैठ जाये, नटखटी या शैतानियत न करे। इसीलिये इसे मनकी भी मस्ती कहा करते हैं। खतरनाक फोड़ेके चीरने-फाड़नेके समय डाक्टर लोग मनुष्यको क्लोरोफार्मके प्रभाव से बेहोश कर देते हैं; ताकि उसे चीर-फाड़का पता ही न चले। उसका मन कहीं जाता नहीं—किसी चीजमें बँध जाता नहीं। किन्तु निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाता है, उसकी सारी हरकतें बन्द हो जाती हैं, जैसे मुर्दा हो गया हो। यही बात मस्तीकी दशामें भी मनकी होती है। जब दिल अपने रंगमें आता है और प्रेमके प्याले में लिपट जाता है तो गोया मनको क्लोरोफार्म दे दिया और वह मुर्दा बन जाता है। फिर तो कुछ भी कर नहीं सकता। दिलकी इसी दशाको साम्यावस्था या साम्ययोग कहते हैं। मनकी छूतका ऐसी दशामें न दिल पर असर होता है और न आगेवाला तूफान चालू होता है। जब डंकका ही असर न हो तो हायतोबा, चिल्लाहट और रोने-धोने या मरनेका सवाल ही कहाँ ?

इस दशामें भीतरकी शान्ति ज्योंकी त्यों अखंड बनी रह जाती है। हृदयकी गंभीरता (serenity) नहीं टूटती और कोई खलबली मचने पाती नहीं। जब बाहरी चीजोंका उसपर असर होता ही नहीं तो शान्तिभंग हो कैसे ? चट्टानसे टकराके जैसे लहरें लौट जाती हैं; छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, ठीक यही हालत मनके द्वारा भीतर आनेवाले भौतिक पदार्थोंकी होती है। वे कुछ कर पाते नहीं। फलतः अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, बुरे-भलेका द्वन्द्व भीतर हो पाता नहीं। वहाँ तो सभी चीजें एकसी ही रह जाती हैं। जब उनका असर हो नहीं हो पाता तो क्या कहा जाय कि कैसी हैं ? इसीलिये उन्हें एकसी कहते हैं। वे खुद एकसी बन तो जाती हैं नहीं। मगर जब उनकी विभिन्नताका, उनके भले-बुरेपनका अनुभव होता ही नहीं तो, उन्हें समान, सम या तुल्य कहनेमें हर्ज हुई क्या ? यही बात गीताने भी कही है। और जब भीतर असर हुआ ही नहीं, तो बाहरी महाभारतकी तो जड़ ही कट गई। वह तो भीतरी घमासानका ही प्रतिबिम्ब होता है न ?

दूसरे अध्यायमें सुख-दुःखादि परस्पर विरोधी जोड़ों—द्वन्द्वों—को सम करने

की जो बात "सुखदुःखे समेकृत्वा" (२।३८) आदिके जरिये कही गई है और "सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा" (२।४८) में जो कामके बनने-बिगड़नेमें एक रस—लापर्वा—बने रहनेकी बात कही गई है, वह यही मस्ती है। चौथे अध्यायके "समः सिद्धावसिद्धौ च" (२२) मे भी यही चीज पाई जाती है। छठेंके "लोहा, पत्थर, सोनाको समान समझता हैं"—"समलोष्ठाश्मकाञ्चनः" (८) का भी यही अभिप्राय है। नवेंमें जो यह कहा हैं कि "मै तो सबके लिये समान हूँ, न मेरा शत्रु है न मित्र"—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" (२९) वह भी इसीका चित्रण है। बारहवेंमें जो ' अहन्ता-ममतासे शून्य, क्षमाशील और सुख-दुःखमें एकरस"—"निर्ममो निरहंकारः सम-दुःखसुखः क्षमी" (१३), कहा है तथा जो "शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें एकसाँ लापर्वा रहे और किसी चीजमे चिपके नहीं"—"समःशत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः" (१८) कहा है, वह इसी चीजका विवरण है। चौदहवेंके २४, २५ श्लोकों में "समदुःखसुखः स्वस्थः" आदि जो कुछ कहा है वह भी यही चीज है। यहाँ जो "स्वस्थः" कहा है उसका अर्थ है "अपने आपमे स्थिर रह जाना।" यह उसी मस्ती या पागलपनकी दशाकी ही तरफ इशारा है। अठारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमे भी इसी बातका एक स्वरूप खड़ा कर दिया है "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" आदि शब्दोंके द्वारा। यों तो जगह-जगह यही बात कही गई है, हालाँकि सर्वत्र सम शब्द नहीं पाया जाता।

ज्ञानी और पागल

जनसाधारणको यह सुनके आश्चर्य होगा कि यह क्या बात है कि जो परले दर्जेका तत्वज्ञानी हो वही पागल भी हो और बाहरी सुध-बुध रखे ही न। मगर बात तो ऐसी ही है। वामदेव, जड़भरत आदिकी ऐसी बातें बराबर कही जाती हैं भी। यही नहीं कि हिन्दुओंके ही यहाँ यह चीज पाई जाती है, या गीताने ही यही बात "या निशा सर्वभूतानां" (२।६९) मे कही है, या सुरेश्वराचार्यने अपने वार्तिकमें खुलके कह दिया है कि "बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत्। बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत्"—"पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानीकी नजरोंमे यह सारी दुनिया जड़, पागल और पिशाच जैसी है और दुनियाकी नजरोंमें वह भी ऐसा ही है।" किन्तु प्राचीनतम ग्रीक विद्वान् अरिस्टाटिल (अरस्तू) ने भी प्रायः ढाई हजार साल पूर्व यही बात अपनी पुस्तक "जीवनकी बुद्धिमत्ता" (Wisdom of life) में यों कही है :—

"Men distinguished in philosophy, politics, poetry or art appear to be all of a melancholy temperament." (page 19).

"By a diligent search in lunatic asylums I have found individual cases of patients who were unquestionably endowed with great talents, and whose genius distinctly appeared through their madness" (I, 247).

"जिन लोगोने दर्शन, राजनीति, कविता या कलामे विशेषज्ञता प्राप्त की है उन सबोंका ही स्वभाव कुछ मनहूस जैसा रहा है।" "पागलखानोंमें यत्नपूर्वक अन्वेषण करनेपर हमने ऐसे भी पागल पाये है जिनका दिमाग निस्सन्देह आले दर्जेका था और पागलपनकी दशामे भी उनकी चमत्कारशील प्रतिभा साफ झलकती थी।' पश्चिमी दर्शनोंका इतिहासका लेखक दुरान्ती (D. ranti) भी लिखता है कि, "The direct connection of madness and genius is established by the biographies of great men, such as Rousseau, Byron, Alfieri etc"

"पागलपन और प्रतिभाका सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है यदि हम रूसो, बायरन, आलफीरी जैसे महापुरुषोंकी जीवनियाँ गौरसे पढे।"

पुराने समाजकी झाँकी

बेशक, इस जमानेमें यह बात ताज्जुबकी मालूम होगी चाहे हजार पुराने दृष्टान्त दिये जायँ, या महापुरुषोंके वचन उद्धृत किये जायँ। आज तो ऐसे लोग नजर आते ही नही। जीतेजी सदाके लिये हमारी माया-ममता मिट जाये और हम किसीको भी शत्रु-मित्र न समझें, यह बात तो इस संसारमें इस समय अचम्भेकी चीज जरूर है। गीताने इसपर मुहर दी है अवश्य। मगर इससे क्या ? दिमागमे भी तो आखिर बात आये। ज्यों-ज्यों सभ्यताका विकास होता जाता है, मालूम होता है, यह बात भी त्यों-त्यों दूर पडती और असंभवसी होती जाती है। असलमें दिनपर दिन हम इतना ज्यादा भौतिक पदार्थोंमें लिपटते जाते है कि कोई हद्द नहीं। इसीलिये यह बात असंभव हो गई है। मगर पुराने जमानेके समाजमें माया-ममताका त्याग इतना कठिन न था। गीताने जिस समय यह बात कही है उस समय यह बात इतनी कठिन बेशक नही थी। उस समयका समाज ही कुछ ऐसा था कि यह बात हो सकती थी। और तो और, यदि हम बर्बर एवं असभ्य कहे जानेवाले लोगोंका प्रामाणिक इतिहास पढ़ें तो पता लग जायगा कि

उनके लिये यह बात कहीं आसान थी। उनकी सामाजिक परिस्थिति तथा रहन-सहन ही ऐसी थी कि वे आसानीसे इस ओर अग्रसर हो सकते थे।

जीसुइत सम्प्रदायवादी शारलेवो नामक फ्रांसीसी पादरीने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है "हिस्तोरिया द ला नूवेल फ्रांस" (Historia dela Nouvelle France)। वह अमेरिकाके रक्तवर्ण आदि वासियोंमें घूमता और प्रचार करता था। उसने तथा लहोतन नामक विचारशील पुरुषने अपने अनुभव एवं दूसरोंकी भी जानकारीके आधारपर उस पुस्तकके अनेक पृष्ठोंमें इन असभ्य रक्तवर्ण लोगोंके बारेमें लिखा है, जिसे पाल लाफार्गने अपनी पुस्तक "सम्पत्तिका विकास" (The Evolution of Property) के ३२-३३ पृष्ठोंमें यों उद्धृत किया है :—

"The brotherly sentiments of the Redskins are doubtless in part, ascribable to the fact that the words 'mine and thine,' 'those cold words;' as Saint John Chrysostomos calls them, are all unknown as yet to the savages. The protection they extend to the orphans, the widows and the infirm, the hospitality which they exercise in so admirable a manner, are, in their eyes, but a consequence of the conviction which they hold that all things should be common to all men."

"The free thinker Lahotan says in his 'Voyage de Lahetan II,' "Savages do not distinguish between mine and thine, for it may be affirmed that what belongs to the one belongs to the other. It is only among the Christian savages, who dwell at the gates of cities, that money is in use. The others will neither handle it nor even look upon it. They call it : the serpent of the white-men. They think it strange that some should possess more than others, and that those who have most should be more highly esteemed than those who have least. They neither quarrel nor fight among themselves; they neither rob nor speak ill of one another."

'बेशक रक्तवर्ण असभ्य लोगोंमें जो परस्पर भ्रातृभाव पाया जाता है वह किसी हद्दतक इसीलिये है कि उन लोगोंको अबतक 'मेरा और तेरा' का ज्ञान हुई नहीं—वही 'मेरा' और 'तेरा', जिन्हें महात्मा जौन्क्रिसोस्तमोने 'ठंडे शब्द' ऐसा कहा है। अनाथों, विधवाओं एवं कमजोरोंकी रक्षा वे लोग जिस तरह

करते हैं और जिस प्रशंसनीय ढंगसे वे लोग आगंतुकोंका आदर-सत्कार करते हैं वह उनकी नजरोंमें इसीलिए अनिवार्य और स्वाभाविक हैं कि उनका विश्वास है कि संसारकी सभी चीजें सभी लोगोंकी हैं।"

"स्वतंत्र विचारक लहोतनने अपनी 'द्वितीय लहोतनकी समुद्रयात्रा' पुस्तकमें लिखा है कि असभ्य लोगोंमें 'मेरे' और 'तेरे' का भेद होता ही नहीं। क्योंकि यह बात उनमें देखी जाती है कि जो चीज एककी है वही दूसरेकी भी है। जो असभ्य लोग क्रिस्तान हो गये हैं और हमारे शहरोंके पास रहते हैं केवल उन्हीं लोगोंमें रुपये-पैसेका प्रचार पाया जाता है। शेष असभ्य न तो रुपया-पैसा छूते और न उनकी ओर ताकतेतक हैं। उन्हें यह बात विचित्र लगती है कि कुछ लोगोंके पास ज्यादा चीजें होती हैं बनिस्बत औरोंके, और जिनके पास ज्यादा हैं उनकी ज्यादा इज्जत होती हैं बनिस्बत कम रखने वालोंके। वे असभ्य न तो आपसमें झगड़ते और न लड़ते हैं। वे न तो किसीकी चीज चुराते और न एक दूसरेकी शिकायत ही करते हैं।"

कितनी आदर्श स्थिति है! कैसी उच्च भावनायें हैं! खूबी तो यह है कि ये लोग निरे अपढ़ और निरक्षर हैं! यह ठीक है कि सभ्यताकी हवा उन्हें लगी नहीं है। आजसे डेढ़ सौ वर्ष पहले तक जिनने उनकी यह बातें खुद देखी हैं उन्हींके ये बयान हैं, न कि हजार दो हजार साल पहलेवालोंके! इसलिये जो लोग ऐसा समझते हैं कि अहन्ता-ममताके त्यागकी बातें कोरी गप्पबाजी है उन्हें होश सँभालना चाहिये। वे आँखें खोलें और देखें कि हकीकत क्या है। पुरानी पोथियोंमें जो बातें ऋषि-मुनियोंके लिये आदर्श एवं वाञ्छनीय मानी गई हैं वही असभ्य लोगोंमें पाई जाती हैं! बेशक, इस मामलेमें हम सभ्योंसे वे असभ्य ही भले हैं! हमने तो अपने-परायेके इस मर्जके चलते समूचे समाजको ही नर्क बना डाला है—सारे संसारको जलती भट्ठी जैसा कर दिया है!

तब और अब

लेकिन अब हम अपने प्रसंगमें आते हैं तो देखते हैं कि गीताका जो आध्यात्मिक साम्यवाद है और जिसकी दुहाई आज बहुत ज्यादा दी जाने लगी है, वह इस युगकी चीज हो नहीं सकती, वह जनसाधारणकी वस्तु हो नहीं सकती। बिरले माईके लाल उसे प्राप्त कर सकते हैं। इसी कठिनताको लक्ष्य करके कठोपनिषद्में कहा गया है कि "बहुतोंको तो इसकी चर्चा सुननेका भी मौका नहीं लगता और सुनकर भी बहुतेरे इसे हासिल नहीं कर सकते—जान नहीं सकते। क्योंकि एक तो इस बातका पूरा जानकर उपदेशक ही दुर्लभ है और अगर कहीं मिला भी तो उसके

उपदेशको सुनके तदनुसार प्रवीण हो जानेवाले हो असंभव होते हैं"—"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" (१।२।७) यही बात ज्योंकी त्यों गीताने भी कुछ और भी विशद रूपसे इसकी असंभवताको दिखाते हुए यों कही है कि "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्" (२।२९)।

पहले भी तो इस चीज की अव्यावहारिकता का वर्णन किया जाई चुका है। आमतौरसे सांसारिक लोगोंके लिये तो यह चीज पुराने युगमें भी कठिनतम थी—प्रायः असंभव थी हो। मगर वर्त्तमान समयमें तो एकदम असंभव हो चुकी है। जो लोग इसकी बार-बार चर्चा करते तथा मार्क्सके भौतिक साम्यवादके मुकाबिलेमें इसी आध्यात्मिक साम्यवादको पेश करके इसीसे लोगोंको सन्तोष करना चाहते हैं वे तो इससे और भी लाखों कोस दूर हैं। वे या तो पूँजीवादी और जमींदार हैं या उनके समर्थक और इष्ट-मित्र या संगी-साथी। क्या वे लोग सपनेमें भी इस चीजको प्राप्तिका ख्याल कर सकते है, करते हैं? क्या वे मेरा-तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ आदिसे अलग होनेकी हिम्मत जन्म-जन्मान्तर भी कर सकते हैं? क्या यह बात सच नहीं है कि उनको जो यह भयका भूत सदा सता रहा है कि कहीं भौतिक साम्यवादके चलते उन्हें सचमुच हानि-लाभ, शत्रु-मित्र आदिसे अलग हो जाना पड़े और सारी व्यक्तिगत सम्पत्तिसे हाथ धोना पड़ जाय, उसीके चलते इस आध्यात्मिक साम्यवादकी ओटमें अपनी सम्पत्ति और कारखानेको बचाना चाहते है? वे लोग बहुत दूरसे घूमके आते है सही। मगर उनकी यह चाल जानकार लोगोंमें छिप नहीं सकती है। ऐसी दशामें तो यह बात उठाना निरी प्रवंचना और धोकेबाजी है। पहले वे खुद इसका अभ्यास कर लें। तब दूसरोंको सिखायें। "खुदरा फजीहत, दीगरे रा नसीहत" ठीक नहीं है।

मुकाबिला भी वे करते हैं किसके साथ? असंभवका संभवके साथ, अनहोनीका होनीके साथ। एक ओर जहाँ यह आध्यात्मिक साम्यवाद बहुत ऊँचा होनेके कारण आम लोगोंके पहुँचके बाहरकी चीज है, तहाँ दूसरी ओर भौतिक साम्यवाद सर्वजनसुलभ है, अत्यन्त आसान है। यदि ये भलेमानस केवल इतनी ही दया करें कि अड़ंगे लगाना छोड़ दें, तो यह चीज बातकी बातमें संसार व्यापी बन जाय। इसमें न तो जीते जी मुर्दा बननेकी जरूरत है और न ध्यान या समाधिकी ही। यह तो हमारे आये दिनकी चीज है, रोज-रोजकी बात है; इसकी तरफ तो हम स्वभावसे ही झुकते है, यदि स्थायी स्वार्थ (Vested interests) वाले हमें बहकायें और फुसलायें न। फिर इसके साथ उसकी तुलना क्या? हाँ, जो सांसा-

रिक सुख नहीं चाहते वह भले ही उस ओर खुशी-खुशी जायें। उन्हें रोकता कौन है? बल्कि इसी साम्यवादके पूर्ण प्रचारसे हो उस साम्यवादका भी मार्ग साफ होगा, यह पहले ही कहा जा चुका है।

यज्ञचक्र

गीतामें यज्ञ और यज्ञचक्रकी भी बात आई है। यों तो हिन्दुओंकी पोथियोंमें इस बातकी चर्चा भरी पड़ी है। उपनिषदोंमें भी यह बात कुछ निराले ढंगसे ही आई है। मगर गीताका ढंग कुछ दूसरा ही है, जो ज्यादा व्यावहारिक एवं आकर्षक है। उपनिषद् रूपकके ढंगसे यज्ञ और हवनका आलंकारिक वर्णन करते हैं और धर्मशास्त्र या पुराण इन्हें स्वर्ग, नर्क या मुक्ति और वैकुण्ठके ही लिये करने की आज्ञा देते हैं। उनने यज्ञोंको पूरा धार्मिक रूप दे दिया है। फिर तो स्वर्ग-नर्ककी बात आई जाती है और हुक्म या आज्ञा (Order or command) की भी जरूरत होई जाती है। हाँ, मनुस्मृतिमें "अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" (३।७६) वचन आया है। इसमें गीताकी बातोंका कुछ स्थूल आभास पाया जाता है। यह श्लोक इतना तो कहता ही है कि "यज्ञ-यागादिके समय अग्निमें जो कुछ ठीक-ठीक हवन किया जाता है वह सूर्य तक पहुँचता है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा बृद्धि होती है।" महाभारतके शान्तिपर्वके २६१वें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक भी ऐसा ही है। इससे इतना तो साफ होई जाता है कि उस समय लोगोंका खयाल यज्ञके सम्बन्धमें केवल स्वर्गादि तक ही सीमित न रहके समाजकी व्यवस्था और उसके भरण-पोषणतक भी गया था। लोग यह मानने लगे थे कि समाज कल्याणके लिये—प्राणियोंके सीधे भरण-पोषण आदिके लिये—भी यज्ञ एक जरूरी चीज है। धर्मके रूपमें यज्ञके करनेसे पुण्यके जरिये लोगोंको अन्न-वस्त्रादि प्राप्त होंगे इस खयालके सिवाय यह विचार भी जड़ पकड़ चुका था कि यज्ञसे सीधे ही वृष्टिमें सहायता होती है और उससे अन्नादि उत्पन्न होते हैं।

बेशक, मीमांसकोंने कारीरी नामक यागके बारेमें यह भी कहा है कि उसके करनेसे अवर्षण मिट जाता है और वृष्टि होती है—"कारीर्या वृष्टिकामो यजेत।" मगर आमतौरसे सभी यज्ञयागोंके बारेमें उनका ऐसा मत है नहीं। इसीलिये मनुस्मृति और शान्तिपर्वके उक्त वचन उस समयके लोगोंके विचारोंकी प्रगतिके सूचक हैं। उससे पता चलता है कि किस प्रकार सामान्य रूपसे पुण्य-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति आदिसे आगे बढ़के क्रमशः कारीरी यज्ञके द्वारा सामान्यतः सभी यज्ञोंका उपयोग समाजहितके काममें सीधे होने लगा। उपनिषदोंके समयमें

ऋषियोंने और पीछे दार्शनिकोंने भी जो यह स्वीकार किया कि अग्निसे जल और जलसे पृथिवीके द्वारा अन्नादि उत्पन्न हुए और इस प्रकार प्राणि-सृष्टिका विकास हुआ उसका भी सम्बन्ध इस यज्ञवाली प्रक्रियासे है या नहीं और अगर है तो कितना यह कहना असम्भव है। यज्ञ और अग्निका सम्बन्ध पुराने लोग अविच्छिन्न मानते थे। इसीलिये यह खयाल स्वाभाविक है कि शायद वह बात भी इसी सिलसिलेमें आई हो। मगर हमें तो उतने गहरे पानीमें उतरना है नहीं। हम तो गीताकी ही बात देखना चाहते है।

इससे पहले कि हम इस यज्ञ के बारेमें गीताका मन्तव्य या उसकी विशेषता बतायें यह जान लेना आवश्यक है कि गीतामें कहाँ-कहाँ यज्ञका जिक्र है और किस प्रसंगमें। यों तो यज्ञके बारेमें गीताका एक रुख और भाव हम बहुत पहले बता चुके है और कह चुके है कि उसमें क्या खूबी है। मगर यहाँ उसके दूसरे ही पहलू-का वर्णन करना है। इस विवेचनसे पहले कही गई बातपर भी काफी प्रकाश पड़ जायगा। गीताकी यह यज्ञ वाली बात जो अपना निरालापन रखती है उसे भी हम बखूबी जान सकेंगे।

गीतामे तीसरे ही अध्यायसे यज्ञकी बात शुरू होके चौथेमें उसका खूब विस्तार है। पाँचवेंमे भी यज्ञ शब्द अन्तके २९वे श्लोकमें आया है। सिर्फ छठेंमें वह पाया नहीं जाता। फिर लगातार सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और बारह अध्यायोंमें यज्ञकी बात आती है। यह ठीक है कि बारहवेंमे यज्ञ शब्द नहीं आता। मगर तीसरे अध्यायमें 'यज्ञार्थ' (३।९) शब्द आया है और "अहं क्रतुरहं यज्ञ:" (९।१६) में भगवानको ही यज्ञ कहा है। "यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि" (१०।२५) में भी भगवानको ही जप यज्ञ कहा है। फिर बारहवेके १०वे श्लोकमे 'सत्कर्म', तथा 'मदर्थ कर्म' शब्द आये हैं। इसीलिये उसे भी यज्ञ ही माना है। बीचवाले १३, १४, १५, अध्यायोंमें यज्ञकी चर्चा नहीं है। उसके बाद १६, १७, १८में स्थान-स्थानपर आई है। इससे स्पष्ट है कि गीताकी दृष्टिसे यज्ञकी महत्ता बहुत है, और है वह व्यापक चीज। गीताकी खास-खास बातोंमें एक यह भी है।

अब जरा उसके स्वरूपका विचार करें। सबसे पहले तीसरे अध्यायके ९-१६ श्लोकोंको ही ले। इन आठ श्लोकोंमें यज्ञ और यज्ञचक्रकी बात आई है। यहाँ यज्ञका कोई भी ब्योरा नहीं दिया गया है और न उसका विशेष विश्लेषण ही किया गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि "जो कर्म यज्ञके लिए हो उससे बन्धन नहीं होता है, किन्तु और और कर्मोंसे ही",—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:" (३।९)। इसके बाद यज्ञको प्राणियोंके लिये जरूरी और कल्याणकारी कहके १४-१६ श्लोकोंमें एक शृंखला ऐसी बनाई है जो चक्रको

तरह गोल हो जाती है और उसके बीचमें यज्ञ आ जाता है। इसीको यज्ञचक्र कहके इसे निरन्तर चालू रखनेपर बड़ा ही जोर दिया है। १३वें तथा १६वें श्लोकोंमें यज्ञ न करनेवालोंकी सख्त शिकायत भी की गयी है। यहाँतक कह दिया है कि जो इस चक्रको निरन्तर चालू न रखे वह पतित तथा गुनहगार है और उसका जीना बेकार है!

चौथे अध्यायकी यह दशा है कि उसके २३-३३ श्लोकोंमें यज्ञका बहुत ज्यादा ब्योरा दिया गया है। इन ग्यारह श्लोकोंमें जो पहला-२३वाँ- है उसमें तो वही बात कही गई है जो तीसरेके ९वेंमें कि "यज्ञार्थ कर्म सोलहों आना जड़मूलसे विलीन हो जाता है। फिर बन्धनमें कौन डालेगा?"—"यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।" इसके बाद यज्ञोंकी किस्मे २४वेंसे शुरू होके ३३वेंतक बताई गई हैं। बीचके ३१वेंमें तो यहाँतक—साफ कह दिया है कि "जो यज्ञ नहीं करता उसका दुनियावी कामतक तो चली नहीं सकता, परलोककी बात तो दूर रहे"—"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।" इससे एक तो यज्ञकी व्यापकता तथा समाजोपयोगिता सिद्ध होती है—यह बात पक्की हो जाती है कि वह समाजको कायम रखनेके लिये अनिवार्य है। दूसरे यह कि पूर्वके सात श्लोकोंमें जिन यज्ञोंको गिनाया है वह केवल नमूनेकी तौरपर ही है। इसीलिये २८वें श्लोकमें गोल-गोल बात ही कही भी गई है कि—"द्रव्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले, तप-सम्बन्धी, योग-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी और सद्ग्रन्थसम्बन्धी अनेक यज्ञ हैं"—"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।" फिर ३२वें श्लोकमें भी इसकी पुष्टि कर दी गई है कि "इस प्रकारके अनेक यज्ञ वेदादि सद्ग्रन्थोंमें बताये गये हैं और सभीके सभी क्रियात्मक या क्रियासाध्य हैं"—"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्।" आखिरमें ज्ञानयज्ञको और यज्ञोंमें उत्तम कहके इस प्रसंगको पूरा किया है। फिर ज्ञानकी प्राप्तिका विचार शुरू किया है।

पाँचवें अध्यायमें तो एक ही बार अन्तिम-२९वें-श्लोकमें यज्ञ शब्द आया ही है। उसमें इतना ही कहा गया है कि परमात्मा ही यज्ञों तथा तपोंको स्वीकार करनेवाला एवं सभी पदार्थोंका बड़ेसे बड़ा शासक और नियंत्रणकर्त्ता है। लेकिन यह बात भी है कि सबोंका कल्याण भी वह चाहता है—"भोक्तारं यज्ञतपसां" आदि। यह दूसरी बात है कि चौथे अध्यायमें जिस प्राणायामको यज्ञ कहा है उसीका कुछ अधिक विवरण और तरीका इस अध्यायमें दिया गया है। छठेंमें तो प्राणायामकी ही विधि विशेष रूपसे दी गई है। फलतः इस दृष्टिसे तो वह भी यज्ञप्रतिपादक ही है।

सातवें अध्यायकी यह हालत है कि उसके २० से २३ तकके चार श्लोकोंमें निचले दर्जेके—जघन्य—यज्ञोंका वर्णन करके अन्तमे कह दिया है कि जो भगवान्‌के लिये यज्ञ करता है वही सबसे अच्छा है। यह एक अजीबसी बात है कि जिसकी मर्जी जिस चीजमे हो उसकी श्रद्धा उसीमें मजबूत कर दी जाती है। यह काम खुद भगवान् करते है ऐसी बात "तस्यतस्याचला श्रद्धा" (२१) मे साफ ही कही गई है। इसका एक मतलब तो यही है कि छोटी-छोटी चीजोंमे एकाग्रता होने और श्रद्धा जम जानेपर मनुष्यका अपने दिल-दिमागपर काबू होने लगता है। इसलिये मौका पडनेपर ऊँची चीजमे भी वह उसे लगा सकता है। यकायक वैसी चीजमें लगाना असम्भव होता है। इसीलिये पतंजलिने योगसूत्रोंमे साफ ही कहा है कि "यथाभिमतध्यानाद्वा" (१।३९)। इसके भाष्यमे व्यासने लिखा है कि "यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते"—"जिसीमे मन लगे उसीका ध्यान करे। जब उसमें मन जमते-जमते स्थिर होने लगेगा तो उससे हटाके दूसरेमे भी स्थिर किया जा सकता है।" दूसरी बात यह है कि धर्म तो श्रद्धाकी ही चीज है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वह न छोटा है न बड़ा, और न ऊंचा है न नीचा। वह कैसा है यह सब कुछ निर्भर करता है इस बातपर कि उसमे हमारी श्रद्धा कैसी है, हमारे दिल-दिमाग, हमारी जबान और हमारे हाथ-पाँवोमे—इन चारोमे—सामञ्जस्य कहाँतक है और हम सच्चे तथा ईमानदार कहाँतक है। इसीलिये यह सामञ्जस्य पूर्ण न होनेके कारण ही कमअक्ल लोगोंके कर्मोको तुच्छ फलवाला कहा है "अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्" (७।२३)। लेकिन जिनका सामञ्जस्य पूरा हो गया है उनके लिये कहा है कि वे भगवान् रूप ही है—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (७।२३)। इस अध्यायके अन्तके ३०वे श्लोकमे 'अधियज्ञ' के रूपमे यज्ञ का नाम लेकर प्रश्न किया है कि वह क्या है, कौन है? अधियज्ञ आदिकी बात हम स्वतंत्र रूपमे आगे लिखेंगे।

आठवे अध्यायके तो आरम्भमे ही उसी अधियज्ञके बारेमे दूसरे ही श्लोकमे प्रश्न किया गया है कि वह है कौनसा पदार्थ? फिर इसीका उत्तर चौथे श्लोकमे आया है कि भगवान् ही इस शरीरके भीतर अधियज्ञ हैं—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।" मगर इससे पूर्वके तीसरे श्लोकमे कर्म किसे कहते है, पूर्वके इस प्रश्नका जो उत्तर दिया गया है कि "पदार्थोंके उत्पादन और पालनका कारण जो त्याग या विसर्जन है वही कर्म कहा जाता है"—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः", वह भी यज्ञका ही निरूपण है। क्योंकि जैसा कि कह चुके हैं, तीसरे अध्यायमे तो वृष्टि आदिके द्वारा यज्ञका यही काम कहा हो गया है। इसी अध्यायके अन्तिम—२८वे—श्लोकमे भी यज्ञ शब्द आया है। मगर उसकायही

मतलब है कि यज्ञ कोई उत्तम चीज है जिसका फल बहुत ही सुन्दर और रमणीय होता है। इससे ज्यादा कुछ नहीं कहा गया है।

नवेंके १५, १६ तथा २०-२८ श्लोकोंमे इस यज्ञका विस्तार पाया जाता है। १५वेंमें ज्ञान-यज्ञका ही विभिन्न रूप बताके दिखाया है कि उसके द्वारा कैसे भगवान्‌की पूजा होती है। १६वेंमे भगवान्‌को ही यज्ञ करार देके वैदिक यज्ञके साधन घी, अग्नि आदिको भी भगवान्‌का ही स्वरूप कह दिया है। २०, २१ श्लोकोंमें वैदिक सोम-यागादिका क्या परिणाम होता है और स्वर्ग पहुँचके उस यज्ञके करनेवाले फिर क्योंकर कुछी दिनों बाद लौट आते तथा जन्म लेते हैं, यह बताया गया है। २२वेंमें पुनरपि उसी ज्ञान-यज्ञके महत्त्वका वर्णन है। २३-२५ श्लोकोंमें सातवें अध्यायकी ही तरह दूसरे-दूसरे देवताओंके यज्ञोंकी बात कहके उसमें इतना और जोड़ दिया है कि वह भी भगवान्‌की ही पूजा है; हालाँकि जैसी चाहिये वैसी नहो है। क्योंकि उसे करनेवाले यह बात तो समझ पाते नहीं कि यह भी भगवत्पूजा ही है। इसीलिये वे चूकते हैं—उनका पतन होता है। जिस चीजमें मन लगाइये वही पहुँचियेगा—वही बनियेगा, यही तो नियम है और वे लोग तो दूसरोंमे—भूत-प्रेत, पितर आदिमे—ही मन लगाते हैं, उसी भावनासे यज्ञ या पूजन करते है। फिर उन्हें भगवान् कैसे मिलें? यही उनका चूकना है।

इस अध्यायके २६-२८ तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है वह है तो यज्ञ ही। मगर है वह बहुत बड़ी चीज। कोई भी काम, जो निश्चित कर दिया गया हो, करते रहिये। बस, वही भगवत्पूजा होती हैं यदि इसी भावनासे वह काम किया जाय, यही अमूल्य मन्तव्य इन श्लोकोंमे कहा गया है। कर्मोंके छुटकारेके लिये खुद कर्म ही किस प्रकार साबुनका काम करते हैं, यही चीज यहाँ पाई जाती है। इन श्लोकोंके सिवाय पीछेके १९वें श्लोकमे भी कुछ ऐसी बात कही गई है जिससे पता चलता है कि उसमें भी यज्ञका ही निरूपण है। भगवान्‌को तो उससे पूर्वके १६वें श्लोकमे यज्ञ कहा ही है। मगर इसमे जो यह कहा गया है कि "मैं ही वर्षा रोकता हूँ और उसे जारी भी करता हूँ"—"अहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च", उससे पता चलता है कि यज्ञका ही उल्लेख है। क्योंकि तीसरे अध्यायमें तो कही दिया है कि "यज्ञसे ही वृष्टि होती है"—"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः।" 'उत्सृजामि' शब्दका अर्थ है उत्सर्ग या छोड़ना—बाधा हटा देना। आठवेंमें जो विसर्ग कहा गया है वही है यह उत्सर्ग। यज्ञोंसे वृष्टिकी बाधा हटके पानी बरसता है। नवें अध्यायके अन्तके ३४वे श्लोकमें भी "मद्याजी" शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है "मेरा-भगवान्‌का—यज्ञ करनेवाला—भगवत्पूजक"।

इसी श्लोकके प्राय: तीन चरण १८वें अध्यायके ६५वें श्लोकमें भी ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। अर्थ भी यही है।

दसवें अध्यायके तो केवल २५वें श्लोकमें जप यज्ञकी बात आई है। इसके बारेमें हम भी इस प्रसंगके शुरूमे ही कह चुके हैं। ग्यारहवें अध्यायके "नवेद-यज्ञाध्ययनैर्नदानैः" (४८), तथा "नदानेन नचेज्यया" (५३) श्लोकोंमें यज्ञ और इज्या शब्द आये हैं। इज्याका वही अर्थ है जो यज्ञका। यहाँ केवल यज्ञका उल्लेख है। कोई खास बात नहीं है। बारहवेंके १०वें श्लोकमे 'मदर्थ' यम भगवान्के लिये किये जानेवाले कर्मोका उल्लेख है और यज्ञार्थ कर्मकी बात तो कही चुके हैं। इसीलिये वहाँ भी यज्ञकी ही बात है।

सोलहवें अध्यायमें यज्ञका जिक्र है केवल १५वें तथा १७वें श्लोकोंमें। यह बात बहुत अच्छी तरह ईश्वरवादके प्रसंगमें लिखी जा चुकी है। हाँ, सत्रहवें अध्यायमें यज्ञकी बात बार-बार अनेक रूपमें आई है। पहले और चौथे श्लोकमें श्रद्धापूर्वक यज्ञादि करने और सात्त्विक यज्ञोंका साधारण उल्लेख है। कोई विवरण नहीं है। हाँ, इतना कह दिया है कि कैसोंकी यज्ञपूजा किस प्रकार की होती है। यज्ञके सात्त्विक आदि तीन प्रकार यजनीय और पूजनीय पदार्थोंके ही हिसाबसे बताये गये हैं। फिर आगेके ११-१३—तीन—श्लोकोंमें यज्ञके कर्त्ताके अपने ही भावों और विचारोंके अनुसार यज्ञके वही सात्त्विक आदि तीन भेद बताये गये हैं। इसके बाद २३-२५—तीन—श्लोकोंमें और कुछ न कहके यज्ञादि कर्मोकी त्रुटियोंके पूरा करनेका सीधा उपाय बताया गया है कि श्रद्धाके साथ-साथ यदि ओंतत्सत् बोलके उन्हें किया जाय तो उनमें अधूरापन रही नहीं जाता—वे सात्त्विक बन जाते हैं। यही बात २७, २८ श्लोकोंमें भी पाई जाती है। २८वेंमे हुत शब्दका अर्थ यज्ञ ही है। २७वेंका 'तदर्थीयकर्म' भी इसी मानी-में आया है। यज्ञार्थ और तदर्थ एक ही चीज है।

अठारहवे अध्यायके ६५वेंके सिवाय ७०वें श्लोकमे भी ज्ञानयज्ञका उल्लेख है। गीताके उपसंहारमें ज्ञानयज्ञका नाम लेना कुछ महत्त्व रखता है। पहले भी तो कही चुके हैं कि और यज्ञोसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। वही बात यहाँ याद हो आई है। खूबी तो यह है कि उस श्लोकमें गीताके पढ़नेवालेको ही कहा है कि वही ज्ञानयज्ञके द्वारा भगवान्की पूजा करता है। इस प्रकार पठन-पाठनको ज्ञानयज्ञके भीतर डालके गीताने सुन्दर पथ-प्रदर्शन किया है। यज्ञका अर्थ समझनेके लिये कुंजी भी दे दी है। इस अध्यायके प्रारम्भके ३, ५, ६ श्लोकोंमें भी यज्ञ, दान, तप इन तीन कर्मोका बार-बार उल्लेख किया है और कहा है कि ये बुनियादी

कर्म है। इन्हें किसी भी दशामें छोड़ नहीं सकते। इस तरह यज्ञका महत्त्व सिद्ध कर दिया है।

इतनी दूरतक गीताके यज्ञका सामान्य तथा विशेष विचार कर लेनेके बाद अब हमे मौका मिलता है कि उसकी तहतमे घुसके देखें कि यह क्या चीज है। तीसरे अध्यायमे जो यज्ञचक्र बनाया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उससे इस मामलेपर काफी प्रकाश पडता है। इसलिये पहले उसे ही देखें कि उसकी हकीकत क्या है। वहाँ यह क्रम पाया जाता है कि कर्मोसे यज्ञका स्वरूप तैयार होता है, वह पूर्ण होता है—यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे भूतों यानी पदार्थो तथा प्राणियोंका भरण-पोषण होता है और उनकी उत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार जो एक श्रृंखला तैयार की गई है उसके एक सिरेपर भूत आ जाते है। भूतका असल तात्पर्य है ऐसे पदार्थोंसे जिनका अस्तित्व पाया जाय—यानी सत्ताधारी पदार्थमात्र। उसी श्रृंखलाके दूसरे सिरेपर कर्म पाया जाता है, ऐसा खयाल हो सकता है। होना भी ऐसा ही चाहिये। क्योंकि कर्मका ही सम्बन्ध पदार्थोंसे मिलाना है और यही चीज गीताको अभिमत भी है। मगर इससे चक्र तैयार हो पाता नही। क्योकि जबतक श्रृंखलाके दोनों सिरे—छोर—मिल न जायँ, जुट न जायँ, चक्र होगा कैसे? चक्रका तो मतलब ही है कि श्रृंखलाके भीतरवाले सभी पदार्थोका लगाव एक सिरेसे रहे और कही भी वह लगाव टूटने न पाये। फलतः एक बार एक पदार्थको शुरू कर दिया और वह चक्र खुदबखुद चालू रहेगा। केवल श्रृंखला रहनेपर और चक्र न होनेपर यह बात नही हो सकती। तब तो बार-बार श्रृंखलाकी लड़ियोके किनारे पहुँचके नये सिरेसे शुरू करनेकी बात आ जायगी। मगर चक्रमे किनारेकी बात ही नही होती। सभी लड़ियाँ बीचमें ही होती है।

यह ठीक है कि भूतोंका तो कर्मोसे ताल्लुक हुई। भूतोंमे ही तो क्रिया पाई जाती और क्रियासे यज्ञका सम्बन्ध होके चक्र चालू रहता है। किनारेका सवाल भी अब नही उठता। यही सर्वजनसिद्ध बात है भी। मगर इसमें दो चीजोंकी कमी रह जाती है। एक तो यह बात निरी मैशीन जैसी चीज हो जाती है। भूतोंकी क्रियाके पीछे कोई ज्ञान, दिमाग या पद्धति है, या कि योंही वह क्रिया चालू है, जैसे घड़ीकी सुइयोंकी क्रिया चालू रहती है? यह प्रश्न उठता है और इसका उत्तर जरूरी है। मगर इस चक्रमे इसका उत्तर नही मिलता है। दूसरी बात यह है कि हमें तो अपने ही दिल-दिमागके अनुसार कर्मोके करनेका हक है, गीताका यह सिद्धान्त बताया जा चुका है। इस चक्रमें यह बात भी साफ हो पाती नहीं और इसके बिना काम ठीक होता नहीं।

इसीलिये तीसरे अध्यायमें उस श्रृंखलामें दो लड़ें और भी जुटी है जो इस कमीकी पूर्ति कर देती है। दोई कमियाँ थीं और दो लड़ें जुट गई। वहाँ कहा गया है कि अक्षरसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म पैदा होता है। कर्मका तो यज्ञके द्वारा उस श्रृंखलामें लगाव हुई। मगर प्रश्न यह होता है कि चक्र बनता है कैसे? अक्षरसे शुरू करके भूतोंपर खात्मा हो जानेपर मिलान तो होती नहीं। भूत और अक्षर तो दो जुदी चीजें है न? यह भी नहीं कि जैसे भूतोंसे कर्म बनते हों—उनके ही द्वारा कर्म होते हों—वैसे ही भूतोंसे अक्षर होता हो या बनता हो। फलतः भारी अड़चन आ जाती है। दोनों कमियोंको पूर्ति कैसे हो गई यह बात तो अलग ही है—इसका भी पता नहीं चलता।

इस पहेलीको सुलझानेके लिये हमें ब्रह्म और अक्षरको पहले जान लेना होगा कि ये दोनों है क्या। पहले ही ब्रह्मको लें। गीतामें ब्रह्म शब्द तीन अर्थोंमें आया है। यों तो ब्रह्म शब्दका अर्थ है बृहत् या बड़ा—बहुत बड़ा, सबसे बड़ा। आमतौरसे ब्रह्म कहते हैं परमात्मा या भगवानको ही। उसे इसीलिये समंब्रह्म, परंब्रह्म या परब्रह्म और अक्षरब्रह्मभी कहा करते हैं। ब्रह्म शब्द गीतामें कुल मिलाके प्रायः तिरपन बार आया है। अध्याय और श्लोक जिनमें यह शब्द मिलता है इस तरह है—(२।७२), (३।१५), (४।२४, २५, ३१, ३२), (५।६, १०, १९, २०, २१, २४, २५, २६), (६।१४, २८, ३८, ४४), (७।२९), (८।१, ३, ११, १३, १६, १७, २४), (१०।१२), (११।१५, ३७), (१३।४, १२), (१४।३, ४, २६, २७), (१७।१४, २३, २४), (१८।४२, ५०, ५३, ५४)। किसी-किसी श्लोकमें कई कई बार आनेके कारण ५० बारसे ज्यादा हो जाता है।

मगर यदि पूर्वापर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि पाँच ही अर्थोंमें यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। परमात्माके अर्थ में तो बारबार आया है और सबसे ज्यादा आया है। ब्राह्मण जातिके अर्थमे केवल एक बार १८वें अध्यायके ४२वे श्लोकमे पाया जाता है। यों तो इसी ब्रह्म शब्दसे बना ब्राह्मण शब्द कई बार आया है। प्रकृति या मायाके अर्थमे चौदहवें अध्यायके ३, ४ श्लोकोंमें पाया जाता है। असलमे उसके साथ महत् शब्द लगा है और उसका अर्थ है महान् या महत्तत्त्व। प्रकृतिसे जिस तत्त्वकी उत्पत्ति वेदान्त और सांख्यदर्शनोंमें मानी जाती है उसे ही महान्, महत् या महत्तत्त्व कहते है। तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें जिसे बुद्धि कहा है वह यही महत् है। यह है समष्टि या व्यापक बुद्धि, न कि जीवोंकी जुदा-जुदा। वहाँ जिसे अव्यक्त कहा है वही है प्रकृति और चौदहवेंमें उसीको ब्रह्म कहा है। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमे भी उसे बुद्धि और अव्यक्तको

को अहंकार कह दिया है। वहाँ मनका अर्थ है अहंकार और अहंकारका प्रकृति अर्थ है। चौदहवेंमें महत् शब्दके सम्बन्धसे ब्रह्मका अर्थ प्रकृति हो जाता है। प्रकृतिसे ही तो विस्तार या सृष्टिका पसारा शुरू होता है और सबसे पहले समष्टि बुद्धि पैदा होती है। इसीलिये प्रकृतिका विशेषण महत् दे दिया है। महत्तत्त्व भी तो प्रकृतिसे जुदा नहीं है, जैसे मिट्टीसे घड़ा।

ब्रह्म शब्दका चौथा अर्थ है हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा। उसीको अव्यक्त भी कहा है। आठवें अध्यायके १६, १७ श्लोकोंमें ब्रह्माके ही अर्थमें ब्रह्म शब्द और १८वें में अव्यक्त शब्द आया है। ग्यारहवें अध्यायके १५वेंमें भी ब्रह्म शब्दका ब्रह्मा ही अर्थ है। छठेंके चौदहवें तथा १७वेके १४वें श्लोकमे ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचर्यवाला ब्रह्म शब्द वेदके ही अर्थमें सर्वत्र आता है और वहाँ भी आया है। चौथेके "ब्रह्मणोमुखे" का ब्रह्म शब्द भी वेदका ही वाचक है। इसी प्रकार छठें अध्याय-के ४४वें श्लोकमें जो ब्रह्म शब्द है वह भी वेदार्थक ही है। उसके पूर्वमें 'शब्द' शब्द लग जानेसे दूसरे अर्थकी गुंजाइश वहाँ रही नहीं जाती। तीसरे अध्यायमें जो यज्ञचक्रके सिलसिलेमें ब्रह्म शब्द आया है वह भी वेदका ही वाचक है। शेष ब्रह्म शब्द परब्रह्म या परमात्माके ही अर्थमे आये है। शायद ही कहीं परमात्मा के सिवाय उक्त शेष चार अर्थोंमें किसीमें आये हो।

असलमें तो ब्रह्म शब्दके तीन ही मुख्य अर्थ गीतामें पाये जाते है और ये हैं वेद, परमात्मा, प्रकृति। यह भी कही चुके है कि आमतौरसे ब्रह्मका अर्थ पर-मात्मा ही होता है। शेष अर्थ या तो प्रसंगसे जाने जाते है, या किसी विशेषणके फलस्वरूप। दृष्टान्तके लिये प्रकृतिके अर्थमे ब्रह्म शब्दका प्रयोग होनेके समय प्रसंग तो हुई। पर, उसीके साथ महत् विशेषण भी जुटा है। यही बात वेदके अर्थमें भी है। शब्द ब्रह्मकी बात अभी कही गई है। "ब्रह्मणोमुखे" में जो ब्रह्म-का अर्थ वेद होता है वह प्रसंगवश ही समझा जाता है। यज्ञोंका विस्तार वेदोंमें ही है। उसे ही वेदका मुख कह दिया है। मुख है प्रधान अंग। इसीलिये मुख और मुख्य शब्द प्रधानार्थक है। वेदोंके प्रधान अंशोंमे यज्ञोंका ही विस्तार पाया जाता भी है। जिन लोगोंने यहाँ "ब्रह्मणोमुखे" में ब्रह्मका अर्थ परमात्मा किया है उन्हें क्या कहा जाय? यज्ञोंका विस्तार वेदोंमें ही तो है। भगवानके मुखमे विस्तार है, यह अजीब बात है। हमें आश्चर्य तो तब और होता है जब वही लोग "त्रैविद्या मां सोमपाः" (९।२०), तथा "त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः" (९।२१), में खुद स्वीकार करते है कि त्रयी या तीनों वेदोंमें यज्ञयागादिका ही विशेष वर्णन है। फिर यहाँ वही अर्थ क्यों नहीं किया जाय? तीसरे अध्यायमें भी ब्रह्मका विशेषण सर्वगत है। गम् धातु संस्कृतमें ज्ञानके अर्थमें भी प्रयुक्त होती है।

इसीलिये अवगत शब्दका अर्थ है जाना हुआ। इस प्रकार सर्वगत शब्दका अर्थ है सब चीजोंको जनाने या बतानेवाला। खुद वेद शब्दका अर्थ है ज्ञान। ज्ञानसे ही तो सब चीजें प्रकाशित होती हैं या जानी जाती हैं। इसीलिये यहाँ अर्थ हो जाता है कि सभी बातोंको अवगत करानेवाले वेदोंसे ही कर्म आते हैं, पैदा होते हैं या जाने जाते हैं। वेदका तो काम केवल बताना ही है न ?

यह तो सभी वेदज्ञ जानते हैं कि यज्ञयागादि सभी प्रकारके कर्मोंपर बहुत ज्यादा जोर वेदोंने दिया है। मीमांसा दर्शन उन्हीं वेदवाक्योंके आधारपर कर्मोंका विस्तृत विवेचन करता है। श्रौत तथा स्मार्त्त सूत्रग्रन्थ इन्हीं वैदिक कर्मोंकी विधियाँ बताते हैं। यहाँतक कि यजुर्वेदके अन्तिम—४०वें—अध्यायके दूसरे मंत्रमें साफ ही कह दिया है कि "कर्मोको करते रहके ही इस दुनियामें सौ साल जीनेकी इच्छा करे; क्योंकि मनुष्यमें कर्मोंका लेप न हो—वे मनुष्यको बन्धनमें न डालें—इसका दूसरा उपाय हई नहीं"—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥" यह तो कही चुके हैं कि गीताने भी कर्मोंको ही उनके बन्धनके धोनेका साबुन बताया है। उसने इसकी तरकीब भी सुझाई है।

परन्तु दरअसल ब्रह्मके दोई भेद किये गये हैं। मुण्डक उपनिषद्के प्रथम खंडमें ही जिसे परा एवं अपरा विद्याके रूपमें "द्वे विद्ये वेदितव्ये" कहा है, उसी चीजको सफाईके साथ महाभारतके शान्तिपर्वके (२३१-६।२६९-१) दो श्लोकोंमें, जो हुबहू एक ही हैं, कह दिया है कि "ब्रह्म तो दोई हैं—पर तथा अपर या शब्द ब्रह्म और परब्रह्म। जो शब्दब्रह्ममें प्रवीण हो जाता है वही परब्रह्मको जान पाता है"—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥" इन्हीं दोमेंसे शब्द-ब्रह्मको गीता के तृतीय अध्यायमें सर्वगत ब्रह्म और पर-ब्रह्मको अक्षर कहा है। आठवें (८।३) में उसे ही अक्षर ब्रह्म और परमब्रह्म भी कहा है। और भी स्थान-स्थानपर यही बात पाई जाती है।

इस प्रकार सर्वगत वेदसे यदि कर्मों की जानकारी होती है तो यह शंका कि कर्मोंके पीछे ज्ञान और दिमाग है या नहीं, अपने आप मिट जाती है। वेद तो ज्ञानको कहते ही हैं। इसलिये मानना पड़ता है कि यज्ञयागादि कर्म घड़ीकी सूई की चाल जैसे न होके ज्ञानपूर्वक होते हैं। इनकी व्यवस्था ही ऐसी है। इसीलिये तो जवाबदेही भी करनेवालों पर आती है। अब सिर्फ दूसरी शंका रह जाती है कि लोगोंको समझ-बूझके करनेकी बात है या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि किसीकी प्रेरणासे विवश होके ही कर्म करने पड़ते हैं। इसका उत्तर

"ब्रह्म अक्षरसे पैदा हुआ"—ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" पद देते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्के अन्तिम—छठे—अध्यायमें एक मंत्र आता है कि "जो परमात्मा सबसे पहले ब्रह्माको पैदा करके उसे वेदोंका ज्ञान कराता है—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै" (६।१८)। जगह-जगह वैदिक ग्रंथोंमें यही बात पाई जाती है। मनु आदिने भी यही लिखा है। ब्राह्मण ग्रंथोमें भी बार-बार यही कहा गया है। इससे यह बात तो निर्विवाद है कि अविनाशी या अक्षरब्रह्मसे वेद पैदा हुए। या यों कहिये कि उसने ही वेद बनाये। और जब ऐसा नही कहके कि परमात्माने कर्म बनाये, यह कहा है कि उसने वेद बनाये, तो स्पष्ट है कि हम वेदोंको पढके जानकारी हासिल करें और कर्मोंको समझ-बूझके करे। अगर यह कह दिया होता कि परमात्माने कर्म ही बनाये, तो यहा खयाल होता है कि कर्म करनेको उसकी आज्ञा या मर्जी है। उसमे सोचने-विचारनेका प्रश्न है नही।

तब सवाल यह होता है कि चक्र कैसे बनेगा? भूतोंका अक्षर ब्रह्मसे कौन-सा सम्बन्ध है? जबतक या तो भूतोंसे अक्षरब्रह्मकी उत्पत्ति न मानी जाय, या दोनोंकी एकता स्वीकार न की जाय तबतक शृंखलाके दोनों छोर पृथक्-पृथक् रहेंगे। वे मिलेंगे हर्गिज नही। मगर इन दोनोमे एक भी संभव नहीं। भूतोंमें तो सभी पदार्थ आ जाते है, चाहे जड हो या चेतन। फिर सबकी एकता ब्रह्मके साथ होगी कैसे? उनमे ब्रह्मकी उत्पत्ति तो कोई भी नहीं मानता। तब यह गुत्थी सुलझे कैसे? यहाँ हमे फिर उपनिषदोकी ही ओर देखना पडता है। तभी यह गाँठ सुलझेगी। गीता तो उपनिषद हई। सभी अध्यायोंके अन्तमें ऐसा ही कहा गया भी है।

वृहदारण्यक उपनिषदके चतुर्थ अध्यायके पाचवें ब्राह्मणके ११वें मंत्रमे याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयीके सम्वादके सिलसिलेमे याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे कहा है कि, "यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चिरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानिव्याख्यानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।" इसका आशय यह है कि "जिस तरह गीले ईंधनसे अग्निका सम्बन्ध होनेपर उससे चारों ओर धुआँ फैलता है, ठीक उसी तरह इस महान् भूतकी साँसके रूपमें ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, कला, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, व्याख्यानोंके व्याख्यान, हवनके पदार्थ, यज्ञके भोज्य तथा पेय पदार्थ, यह लोक, परलोक, सभी भूत चारों ओर फैले हैं।"

यहाँ कई बातें हैं। एक तो वेदादि जितनी ज्ञानकी राशियाँ हैं उनका केन्द्र परमात्मा ही माना गया है। दूसरे सृष्टिके सभी पदार्थोंका पसारा उसीसे बताया गया है। तीसरे भूतोंको भी उसीकी साँसकी तरह कहा गया है। यानी भूत उससे जुदा नहीं हैं। चौथी बात यह है और यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस परमात्माको महाभूत कहा गया है। आगेके १४, १५ मंत्रोंमें उसीको अविनाशी आत्मा कहा है, जिसका नाश कभी नहीं होता, जो पकड़ा जा सकता नहीं, जो गलता-पचता नहीं, जो सटता नहीं, जिसे व्यथा नहीं होती और जो घटता नहीं तथा सभीको जानता है—"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा। अगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यते विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्।"

भूतोंका महाभूतके साथ सम्बन्ध तो बताई दिया है कि भूत उसी महाभूतके रूप हैं। सिर्फ व्यष्टि और समष्टिका विभेद है। मगर है वह सबोंकी आत्मा ही। समष्टि होनेके कारण ही उसे महाभूत कह दिया है। वह ज्ञानका आगार है। इसीलिये तो सबोंकी समझका प्रश्न हल हो जाता है। जबर्दस्ती कोई कुछ नहीं करता। जबर्दस्ती या प्रेरणाका सवाल यहाँ हई नहीं। सभी विवेकसे काम लेकर जिसे उचित समझें उसे करनेको स्वतंत्र हैं। व्यष्टि और समष्टिका ताल्लुक होनेसे अक्षरका भूतोंके साथ लगाव भी होई गया। दोनों तो एकही ठहरे। इस प्रकार चक्र पूरा हो गया। इसी यज्ञचक्रके जारी रखनेपर जोर दिया गया है।

इसमें कर्म न कहके यज्ञ कहने या इसे यज्ञचक्र बतानेमें खूबी यही है कि लोग यज्ञकी ओर आसानीसे आकृष्ट हो जाते हैं। लोगोंके दिल-दिमागमें उसका महत्त्व भरा पड़ा जो है। यह बात कर्मके सम्बन्धमें नहीं है, हालाँकि कर्मोंको यज्ञसे अलग नहीं कर सकते। कर्मोंसे ही यज्ञ सम्पन्न होता है। फिर भी उसे ऊँचा स्थान मिला है। यह बात भी है कि यज्ञके भीतर आत्मा, ईश्वर और ज्ञान भी आ जाते हैं। मगर कर्म कहनेसे इनका ग्रहण हो नहीं सकता है। यज्ञको इतना व्यापक बना दिया है कि उसके भीतर सभी चीजें आ जाती हैं। समाजकी वृद्धि, रक्षा और प्रगतिके लिये जो कुछ भी किया जाय वह यज्ञके भीतर आ जाता है। आत्माको नीचे गिरनेसे रोकना यह बहुत बड़ा यज्ञ है। पतनसे उसे बचाना आवश्यक है। सत्रहवें अध्यायके छठें श्लोकमें जो आत्मा-परमात्माके कृश करनेकी बात कही गई है या घसीटनेकी—खींचनेकी—उसका भी मतलब नीचे गिराने, गिरने या पतनसे ही है। यह बात आसुरी कामोंसे होती है। इसीलिये उनकी निन्दा और यज्ञकी प्रशंसा की गई है। देखिये न,

दुनियावी बातों में ऐसे लोग अपनी एवं ईश्वरकी कितनी झूठी कसमें खाते हैं और इस प्रकार अपने आपको तथा ईश्वरको भी कितना नीचे घसीट लाते हैं !

जैसे भूतका अर्थ है सत्ताधारी, ठीक उसी प्रकार अन्नका अर्थ है जिसे खाया-पिया जाय या जो औरोंको खा-पी जाय—"अद्यतेऽत्ति वा भूतानीत्यन्नम् ।" वृष्टि या पानीकी सहायतासे जो भी चीजें तैयार हों या शुद्ध हों सभी अन्नके भीतर आ जाती है । वैदिक यज्ञादिसे या वैज्ञानिक रीतिसे जो वृष्टि कराई जाय, नहर आदिके जरिये या कुएँसे पानी वहाँ पहुँचाया जाय जहाँ जरूरत हो, वृक्षादिकी वृद्धिके जरिये वृष्टिको उत्तेजना दी जाय—क्योंकि यह मानी हुई बात है कि जंगलोंकी वृद्धिसे पानी ज्यादा बरसता है और काट देनेपर कम—या दूसरा भी जो तरीका अख्तियार किया जाय और जितनी भी वैज्ञानिक प्रक्रियाये सिखाई-पढाई जायँ सभी यज्ञके भीतर आ जाती है । औषधियोंके जरिये, स्वच्छताका खूब प्रसार करके या जैसे हो जलकी शुद्धिके सभी उपाय यज्ञ ही है । फिर आगे जो कुछ भी जलके प्रभावसे हमारे कामके लिये—समाजके लाभके लिये—किया जाय, बनाया जाय—फिर चाहे वह शुद्ध हवा हो, खाद्य पदार्थ हो, जमीन हो, घर हों या दूसरी ही चीजे—सभी अन्नके भीतर आ जाती है । ज्ञान, ध्यान, समाधिके जरिये जो शक्ति पैदा होती है उससे क्या नहीं होता । योगसिद्धियोका पूरा वर्णन योगसूत्रोमे है । इसलिये यह सब कुछ यज्ञ ही है । जो भी काम आत्मा, समाज तथा पदार्थोंकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये जरूरी हो उससे चूकना पाप है । यही गीताका उपदेश है, यही यज्ञचक्रका रहस्य है ।

अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ

अब हमे जरा सातवे अध्यायके अन्त और आठवेंके शुरूमे कहे गये गीताके अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका भी विचार कर लेना चाहिये । गीतामे यह बाते पढके सर्वसाधारणकी मनोवृत्ति कुछ अजीब हो जाती है । ये शब्द कुछ ऐसे नये और निराले मालूम पडते है जैसे विदेशी हों । असलमे यज्ञ, भूत, दैव, आत्मा शब्द या इनके अर्थ तो समझमे आते है । इसीलिये इनके सम्बन्धमे किसीको कभी गडबडी मालूम नही होती । मगर अध्यात्म आदि शब्द एकदम नये मालूम पडते है । इसीलिये कुछ ठीक जँचते नहीं । यही कारण है कि ये बाते पहेली जैसी मालूम पड़ती है । ऐसा लगता है कि ये किसी और ही दुनियाकी चीजे है ।

एक बात और भी है । छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें अध्यात्म, अधिभूत और

अधिदैव या आधिदैवत शब्द तो पाये जाते हैं। इसलिये जो उपनिषदों का मंथन करते और उनका अर्थ समझते हैं वह इन शब्दोंके अर्थ गीतामें भी समझनेकी कोशिश कर सकते हैं, करते हैं। इनके अर्थ भी वे लोग जैसे-तैसे समझ पाते हैं। मगर अधियज्ञ बिल्कुल ही नया है। यह तो उपनिषदोंमें भी पाया जाता है नहीं। इसलिये न सिर्फ यह अकेला एक पहेली बन जाता है, बल्कि अपने साथ अध्यात्म आदिको भी वैसी ही चीज बना डालता है। जब हम अधियज्ञका ठीक-ठीक आशय समझ नहीं पाते तो खयाल होता है कि हो न हो, अध्यात्म आदि भी कुछ इसी तरहकी अलौकिक चीजें हैं। आठवें अध्यायके ३, ४ श्लोकों में जो इनके अर्थ बताये गये हैं उनसे तो यह उलझन सुलझनेके बजाय और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार कहते हैं कि "मघवा मूल और विडोजा टीका"। यानी मघवा शब्दका अर्थ किसीने विडौजा किया सही। मगर उससे सुननेवालों को कुछ पता ही न लगा। वे तो और भी परेशानीमें पड़ गये कि यह विडौजा कौनसी बला है। मघवामें तो मघ शब्द था जो माघ जैसा लगता था। मगर विडौजा तो एकदम अनजान ही है। ठीक यही बात यहाँ हो जाती है। ये शब्द तो कुछ समझ में आते भी हैं, कुछ परिचित जैसे लगते हैं। मगर इनके जो अर्थ बताये गये हैं वे? वे तो ठीक विडौजा जैसे हैं और समझमें आते ही नहीं।

बेशक यह दिक्कत है। इसलिये भीतरसे पता लगाना होगा कि बात क्या है। एतदर्थ हमें उपनिषदोंसे ही कुंजी मिलेगी। मगर वह कुंजी क्या है यह जाननेके पहले यह तो जान लेना ही होगा कि अधियज्ञ गीताकी अपनी चीज है। गीतामें नवीनता तो हुई। फिर यहाँ भी क्यों न हो? गीताने यज्ञको जो महत्त्व दिया है और उसके नये रूपके साथ जो इसकी नई उपयोगिता उसने सुझाई है उसीके चलते अध्यात्म आदि तीनके साथ यहाँ अधियज्ञका आ जाना जरूरी था। एक बात यह भी है कि यज्ञ तो भगवत्पूजाकी ही बात है। गीताकी नजरोंमें यज्ञका प्रधान प्रयोजन है समाज कल्याणके द्वारा आत्मकल्याण और आत्मज्ञान। गीता-का यज्ञ चौबीस घंटा चलता रहता है यह भी कही चुके है। इसलिये गीताने आत्मज्ञानके ही सिलसिलेमें यहाँ अधियज्ञ शब्दको लिखके शरीरके भीतर ही यह जानना-जनाना चाहा है कि इस शरीरमें अधियज्ञ कौन है? बाहर देवताओं को या तीर्थ और मन्दिरमें भगवानको ढूंढ़ने के बजाय शरीर के भीतर ही यज्ञ-पूजा मानके गीताने उसीको तीर्थ तथा मन्दिर करार दे दिया है और कह दिया है कि वहीं आत्मा-परमात्मा को ढूंढ़ो। बाहर भटकना बेकार है। प्रश्न और उत्तर दोनोंमें ही जो "इस शरीरमें"—"अत्र देहेऽस्मिन्" कहा गया है उसका यही रहस्य है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी जान लेना चाहिये। अगस्त कोन्त (Auguste Comte) नामक फ्रांसीसी दार्शनिकने तथा और भी पश्चिमी दार्शनिकोंने किसी चीजके और खासकर समाज और सृष्टिके विवेचनके तीन तरीके माने हैं, जिन्हें पौजिटिव (Positive), थियोलौजिकल (Theological) और मेटाफिजिकल (Metaphysical) नाम दिया गया है। मेटाफिजिक्स अध्यात्मशास्त्रको कहते हैं, जिसमें आत्मा-परमात्माका विवेचन होता है और थियोलौजो कहते हैं धर्मशास्त्रको, जिसमें स्वर्ग, नर्क तथा दिव्यशक्ति-सम्पन्न लोगोंका, जिन्हें देवता कहते हैं, वर्णन और महत्त्व पाया जाता है। पौजिटिवका अर्थ है निश्चित रूपसे प्रतिपादित या सिद्ध किया हुआ, बताया हुआ। कोन्तके मतसे किसी पदार्थको दैवी या आध्यात्मिक कहना ठीक नही है। वह इन बातोंको बेवकूफी समझता है। उसके मतसे कोई चीज स्वाभाविक (Natural) भी नही कही जा सकती। ऐसा कहना अपने आपके अज्ञानका सबूत देना है। किन्तु हरेक दृश्य पदार्थोंका जो कुछ ज्ञान होता है वही हमें पदार्थोंके स्वरूपोंको बता सकता है और उसीके जरिये हम किसी वस्तुके बारेमें निर्णय करते हैं कि कैसी है क्या है आदि। बेशक, यह ज्ञान आपेक्षिक होता है—देश, काल, परिस्थिति और पूर्व जानकारी की अपेक्षा करके ही यह ज्ञान होता है, न कि सर्वथा स्वतन्त्र। इसी ज्ञानके द्वारा उसके पदार्थोंका विश्लेषण करके जो कुछ स्थिर किया जाता है वही पौजिटिव है, असल है, वस्तुतत्त्व है। इसी प्रणालीको लोगोंने आधिभौतिक विवेचनकी प्रणाली कहा है। इसे ही मैटिरियलिस्टिक मेथड (Materialistic method) भी कहते हैं। शेष दो को क्रमशः आधिदैवत एवं आध्यात्मिक विवेचन प्रणाली कहते हैं।

आधिदैवत प्रणालीमें दिव्य शक्तियोंकी सत्ता स्वीकार करके ही आगे बढ़ते हैं। उसमें मानते हैं कि ऐसी अलौकिक ताकतें है जो संसारके बहुतसे कामोंको चलाती हैं। बिजलीका गिरना, चन्द्र-सूर्य आदिका भ्रमण तथा निश्चित समयपर अपने स्थानपर पहुँच जाना, जिससे ऋतुओंका परिवर्त्तन होता है, आदि बातें ऐसे लोग उस दैवी-शक्तिके ही प्रभावसे मानते है। यह बातें मानवीय शक्तिके बाहरकी हैं। हमारी तो वहाँ पहुँच हुई नहीं। सूर्यसे निरन्तर ताप निकल रहा है। फिर भी वह ठंडा नही होता! ऐसा करनेवाली कोई दिव्य-शक्ति ही मानी जाती है। हम किसी चीजको कितना भी गर्म करें। फिर भी खुद बातकी बातमें वह ठंडी हो जाती है। मगर सूर्य क्यों ठंडा नहीं होता? उसमें ताप कहाँसे आया और बराबर आता ही क्यों कहाँसे रहता है? ऐसे प्रश्नोंका उत्तर वे लोग यही देते हैं संसारका काम चलानेके लिये वह ताप और प्रकाश अनिवार्य होनेके कारण संसार

का निर्माण करनेवाली वह दैवी-शक्ति ही यह सारी व्यवस्था कर रही है। इसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंकी रचना वगैरहको भी ले सकते हैं। जाने कितनी बूँदें वीर्यकी योंही गिर जाती है और पता नहीं चलता कि क्या हुई। मगर देखिये उसीकी एक ही बूँद स्त्रीके गर्भमें जानेसे साढ़े तीन हाथका मोटा-ताजा, विद्वान और कलाकार मनुष्यके रूपमें तैयार हो जाता है सिंह, हाथी आदि जन्तु बन जाते हैं! यह तो इन्द्रजाल ही मालूम होता है! मगर है यह काम किसी अदृश्य हाथ या दिव्य शक्तिका ही। इसलिये उसकी ही पूजा-आराधना करें तो मानव-समाजका कल्याण हो। वह यदि जरासी भी नजर फेर दे तो हम क्यासे क्या हो जायँ। शक्तिका भंडार हो तो वह देवता आखिर है न? जिस प्रकार आधिभौतिकवादी जड़ पदार्थोंकी पूजा करते हैं या यों कहिये कि इन्हींके अध्ययनमें दिमाग खर्चना ठीक मानते है, ठीक वैसे ही आधिदैवतवादी देवताओंके ही ध्यान, अन्वेषण आदिको कर्त्तव्य ममझते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष इन दोनोंको ही स्वीकार न करके यही मानता है कि हर चीजकी अपनी हस्ती होती है, सत्ता होती है, अपना अस्तित्व होता है। वही उसकी अपनी है, स्व है, आत्मा है। उमे हटा लो, अलग कर दो। फिर देखो कि वह चीज कहाँ चली गई, लापता हो गई! मगर जबतक उसकी आत्मा मौजूद है, सत्ता कायम है तबतक उममे कितनी ताकतें है! बारूद या डिनामाइटसे पहाडोंको फाड देते हैं। बिजलीमे क्या-क्या करामाती काम नहीं होते! आग क्या नहीं कर डालती! दिमागदार वैज्ञानिक क्या-क्या अनोखे आविष्कार करते है! हाथी पहाड जैमा जानवर कितना बोझ ढो लेना है! मिंह कितनी बहादुरी करता है! मनुष्योंकी हिम्मत और वीरताका क्या कहना! मगर यह मब बातें तभीतक होती हैं जबतक इन चीजोकी हस्ती है, सत्ता है, आत्मा है। उसे हटा दो, सत्ता मिटा दो। फिर कुछ न देखोगे। अतएव यह आत्मा ही असल चीज है, इसीकी सारी करामात है। इसका हटना या मिटना यही है कि हम इसे देख नही पाते। यह हमसे ओझल हो जाती है। इसका नाश तो कभी होता नही, हो सकता नही। आखिर नाशकी भी तो अपनी आत्मा है, सत्ता है, हस्ती है। फिर तो नाश होनेका अर्थ ही है आत्माका रहना। यह भी नही कि वह आत्मा जुदा-जुदा है। वह तो सबोमे—सभी पदार्थोमे—एक ही है। उसे जुदा करे कौन? जब एक ही रूप, एक ही काम, एक ही हालत ठहरी, तो विभिन्नताका प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो विभिन्नता मालूम पडती है वह बनावटी है, झूठी है, धोका है, माया है। यह ठीक है कि शरीरोमें ज्ञानके साधन होनेसे चेतना प्रतीत होती है। मगर पत्थरमें यह बात नहीं। लेकिन आत्माका इससे क्या? आग सर्वत्र है।

मगर रगड़ दो तो बाहर आ जाय। नही तो नहीं! ज्ञानको प्रकट करनेके लिये इन्द्रियाँ आगके लिये रगडनेके समान ही है। इस तरह आध्यात्मिक पक्षवाले सर्वत्र आत्माको ही देखते है, ढूंढ़ते है। उसे ही परमात्मा मानते है।

अन्य मतवाद

कुछ लोगों का खयाल है कि इन्ही आधिभौतिक, आदिदैवत एवं आध्यात्मिक—तीनों—पक्षोंका जिक्र गीतामें किया गया है। उनके मतसे गीताका यही कहना है कि हमें इन सभी पक्षोंको जानना चाहिये। जिन्हे मुक्ति लेना है और जन्म-मरणसे छुटकारा पाना है उन्हे इन सभी पक्षोंका मन्थन करना ही होगा। वे खामखा इन सबोंका मंथन करते है। सातवें अध्यायके अन्तके जिन दो श्लोकोंमें ये बाते कही गई है और इसीलिये आठवेके शुरूमे इनके बारेमे पूछनेका मौका अर्जुनको मिल गया है, उनमे पहले यानी २९वे श्लोकमे तो उनके मतसे कुछ ऐसा ही लिखा भी गया है। वह श्लोक यों है, "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदु: कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥" इसका अर्थ यह है कि "जो लोग भगवानका आश्रय लेकर जन्म, मरणादिसे छुटकारा पानेकी कोशिश करते है वे उस ब्रह्मको पूरा-पूरा जान लेते हैं, सभी कर्मोको जान जाते हैं और अध्यात्म आदिको भी जानते है।" इसमे वे लोग अपना खयाल सही साबित करते है।

मगर बात दरअसल ऐसी है नही। वस्तुओंके विवेचनके उक्त तीन तरीके है सही। इन्हे लोग अपनी-अपनी रुचि एवं प्रवृत्तिके अनुसार हो अपनाते भी है। मगर यहाँ उन तरीकों तथा प्रणालियोंसे मतलब हर्गिज है नही। यदि इन श्लोकोंसे पहलेके सिर्फ सातवे अध्यायके ही श्लोकोंपर गौर किया जाय तो साफ मालूम हो जाता है कि आत्मा परमात्माकी एकताके ज्ञानका ही वह प्रसंग है। इसीलिये वही बात किसी न किसी रूपमे कई प्रकारसे कही गई है। १६-१९ श्लोकोंमे तो भक्तोंके चार भेदोको गिनाके ज्ञानीको ही चौथा माना है और कहा है कि "ज्ञानी तो मेरी—भगवानकी—आत्मा ही है"—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७।१८)। इसकी वजह भी बताते है कि "वह तो हमसे—परमात्मासे—बढ़के किसीको मानता ही नही और हमींमे डूब जाता है"—"आस्थित: सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" (७।१८)। लेकिन इसके बाद ही जो यह कहा है कि "संसारमे जो कुछ है वह सबका सब वासुदेव—परमात्मा—ही है, ऐसा जो समझता है, वह तो अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:" (७।१९), वह तो बाकी बातोंको हवामें मिला देता है। उससे तो स्पष्ट हो जाता है कि यही एक ही चीज दरअसल जाननेकी है।

इतना ही नहीं। इसके आगे २०-२७ श्लोकोंमें उन लोगोंकी काफी निन्दा भी की गई है जो दूसरे देवताओं या पदार्थोंकी ओर झुकते हैं। उनकी समझ घपलेमे पडी हुई बताई गई है, "हृतज्ञाना:" (७।२०)। इसीलिये तुच्छ एवं विनाशशील फलोको ही वे लोग प्राप्त कर पाते है",—"अन्तवत्तु फलं तेषां" (७।२३)। भौतिक दृष्टिवालोंके बारेमें तो यहाँतक कह दिया है कि हमारे असली रूपको न जानके हो ऐसे बुद्धिहीन लोग स्थूल रूपमे ही हमे देखते है,—"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय:" (७।२४)। आगेके तीन श्लोकोंमें इसी बातका स्पष्टीकरण हुआ हे। अन्त मे तो यहाँतक कह दिया है कि रागद्वेषके चलते जो अपने-पराये और भले-बुरेकी गलत धारणा हो जाती है उसीका यह नतीजा हे कि लोग इधर-उधर इस सृष्टिके भौतिक पदार्थोमे भटकते फिरते है—"इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि संमोहं मर्गे यान्ति परन्तप" (७।२७)। इसके विपरीत जिन सत्कर्मियो मे यह रागद्वेषादि ऐब नही है वे अपने-पराये आदिके झमेलेमे न पडके पक्के निश्चय एवं दृढसंकल्पके साथ केवल हमीं—परमात्मा—मे रम जाते है,—"येपा त्वन्तगतं पापं जनाना पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रता" (७।२८)। इसीके बाद वे श्लोक आये है। तब कैसे कहा जाय कि उनमे आधिभौतिक आदि विवेचनोपर जोर दिया गया है या ऐसे विवेचनोकी जानकरी अवश्य प्राप्तव्य बताई गई हैं ?

इसके सिवाय उक्त तीन बातोंके अलावे ब्रह्म और कर्मकी जानकारीकी भी तो बात वही लिखी है। शंका भी इन दोनों हीके बारेमें की गई है। उत्तर भी दिया गया है। भला अधियज्ञको तो उन्ही तीनोके साथ जैसे-तैसे जोडके वे लोग पार हो जाते है। मगर मरनेके समय भगवान को जानकारी कैसे होती है, यह भी तो एक प्रश्न है। पता नहीं वे लोग इसे किस पक्षमे डालते है। ऐसा तो कोई पुराना पक्ष है नहीं। और अधियज्ञवाला पक्ष तो बिलकुल ही नया है। फिर पुरानोंके साथ इसका मेल कैसे होता है ? खूबी तो यह है कि उनने 'अधिदेह' नामका एक दूसरा भी पक्ष यहीपर खडा कर दिया है और यह ऐसा है कि "न भूतो न भविष्यति।" यदि वे लोग यह समझ पाते कि अध्यात्म शब्दमे जो आत्मा शब्द है वह देहके ही मानीमे है और जहाँ-जहाँ यह शब्द छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदो या और जगह आया है इसी मानीमे आया है, तो शायद अधिदेहकी बात बोलनेकी हिम्मत ही न करते। ज्यादा तो नहीं, लेकिन हमारा उनसे यही अनुरोध है कि छान्दोग्यके पहले अध्यायका दूसरा खंड बृहदारण्यकके पहले अध्यायके पाँचवे ब्राह्मणका २१वाँ मन्त्र तथा कौषीतकी उपनिषदके चौथे अध्यायके ९-१७ मंत्रोंको गौरसे पढ़ जाये। तब उन्हें

पता लगेगा कि अध्यात्ममें जो आत्मा शब्द है वह शरीरका ही वाचक है या नहीं ।

लेकिन जब कर्म, ब्रह्म और मरण कालका ब्रह्मज्ञान किसी पुराने पक्षकी चीज नहीं है तो फिर अध्यात्म वगैरहको ही क्यों पुराने पक्षमें घसीटा जाय ? और इन पक्षोंको जाननेमे लाभ ही क्या ? किसी विश्वविद्यालयकी न तो परीक्षा ही देनी है और न कोई उपाधि ही लेनी है । कोई पुस्तक भी नहीं लिखनी है कि पाण्डित्यका प्रदर्शन किया जायगा या खंडन-मंडन ही होगा, जिसके लिये इन अनेक पक्षोंकी जानकारी जरूरी हो जाती है । यहाँ तो ब्रह्मज्ञान और मोक्षका ही सवाल है । सो भी मरण कालकी जानकारीकी बात उठाके यह भी जनाया है कि विशेष रूपसे मरण समयके लिये जरूरी बातें यहाँ बता दी गई हैं । यही कारण है कि चार श्लोकोंमें ये बातें खत्म करके पाँचवेंके ही "अन्तकाले च" आदि शब्दोंसे शुरू करके उसी अन्तकाल या मरण समयकी ही बातें अन्ततक लिखी गई हैं । तरीका भी बताया गया है कि किस प्रकार उस समय आत्मा और ब्रह्मका साक्षात्कार होता है । मरनेपर लोग किन-किन रास्तोंसे होके जाते हैं यह बात भी अन्तमे कही गई है । ऐसी हालतमें आधिभौतिक आदि मतवादों-का तो यहाँ अवसर ही नहीं है । इसीलिये मानना पड़ता है कि इन बखेड़ोंसे यहाँ कोई भी मतलब नहीं है ।

अपना पक्ष

असल बात यह है कि प्राचीन समयमे कुछ ऐसी प्रणाली थी कि हम क्या हैं, यह संसार क्या है, और हमारा इसके साथ सम्बन्ध क्या है. इन्ही तीन प्रश्नोंको लेकर जो अनेक दर्शनोंकी विचारधारायें हुई थीं और आत्मा-परमात्मा आदिका पता लगा था, या यों कहिये कि इनकी कल्पना की गई थी, उन्हीमें एक व्याव-हारिक या अमली धारा ऐसी भी थी कि उसके माननेवाले निरन्तर चिन्तनमे लगे रहते थे । उनकी बात कोई शास्त्रीय-विवेचनकी पद्धति न थी । वे तो खुद दिन-रात सोचने-विचारने एवं ध्यानमे ही लगे रहते थे । इसीलिये हमने उनकी धारा या प्रणालीको अमली और व्यावहारिक (Practical) कहा है । इस प्रणालीके सैद्धान्तिक पहलूपर लिखने-पढ़ने या विवाद करनेवाले भी लोग होंगे ही । मगर हमारा उनसे मतलब नहीं है और न गीताका ही है । गीतामें तो अमली बातका वह प्रसंग ही है । वही बात यहाँ चल रही है । आगे भी मरण समयकी बात आ जानेके कारण अमली या व्यावहारिक चीजकी ही आवश्यकता हो जाती है ।

मरणकालमे कोरे दार्शनिकवादोंसे सिवाय हानिके कुछ मिलने-जुलनेवाला तो है नही ।

ऐसे लोगोंने दृश्य—बाहरी—संसारको पहले दो भागोंमे बाँटा । पहले भागमे रखा अपने शरीरको । अपने शरीरसे अर्थ है चिन्तन करनेवालोंके शरीर-से । फिर भी इस प्रकार सभी जीवधारियोंके शरीर, या कमसे कम मनुष्योंके शरीर इस विभागमे आ जाते है । क्योंकि सोचने-विचारनेका मौका तो सभीके लिये है । हालाँकि एक आदमीके लिये दूसरोंके भी शरीर वैसे ही है जैसे अन्न, वस्त्र, पृथिवी, वृक्ष आदि पदार्थ । शरीरके अतिरिक्त शेष पदार्थोंको भूत या भौतिक माना गया । पीछे इन भौतिक पदार्थोंके दो विभाग कर दिये गये । एक तो ऐसोंका जिनमे कोई खास चमत्कार नही पाया जाता । इनमे आगये वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, पृथिवी आदि । दूसरा हुआ उन पदार्थोंका जिनमे चमत्कार पाया गया । इनमे आये चन्द्र, सूर्य, विद्युत् आदि । इस प्रकार शरीर, पृथिवी आदि सूर्य प्रभृति, इन तीन विभागोमे दृश्य संसारको बाँट दिया गया । शुरूमे तो शरीरके सिवाय आत्मा, स्व, या निज नामकी और चीजका पता था नही। इसलिये शरीरको ही आत्मा भी कहते थे । पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंको, जिनमे चमत्कार या दिव्य-शक्ति नही देखी गई, भूत कहने लगे । भूतका अर्थ है ठोस । इन्हे छूके इनका ठोसपन जान सकते थे । मगर जो आदमीकी पहुँचके बाहरके सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि पदार्थ थे उन्हे देवता, देव या दिव्य कहते थे । इनके ठोसपनका पता तो लगा सकते न थे । ये चीज आकाशमे ही नजर आती है । इसलिये आकाश को भी दिव् या द्यु कहते थे । वह ठोस भी तो नही है । जिस स्वर्ग नामक स्थानमे इन दिव्य पदार्थोंका निवास माना गया वह भी दिव् या द्यु कहा जाने लगा ।

इस प्रकार आत्म या आत्मा, भूत और देव या देवता इन—तीन— विभागों के हो जानेके बाद सोचने-विचारने, चिन्तन या ध्यानकी प्रक्रिया आगे बढी । आगे चलके शरीरके विश्लेषण करनेपर इन्द्रिय प्राण, बुद्धि आदिको शरीरसे स्वतंत्र स्वीकार करना पडा । भौतिक शरीरको छोड देनेके बाद भी इन्द्रिय, प्राणादि रहते है । तभी तो जन्म, मरण, पुनर्जन्म आदिकी बात मानी जाती है । यदि ये अलग न होते तो कौन जाता, कौन आता और किसका जन्म बार-बार होता ? फलत. आत्मा या शरीरमे रहनेके कारण ही इन्द्रियादिको अध्यात्म कहा गया । उपनिषदोंमें यही बात रह-रहके लिखी पाई जाती है । पाणिनीय व्याकरणके अव्ययीभाव समासके नियमानुसार यही अर्थ भी अध्यात्म शब्दका है कि आत्मामें

रहनेवाला। 'अधि'को अव्यय कहते हैं। उसीका आत्म शब्दके साथ समास होके अध्यात्म बना है। फिर कालान्तरमें जब अन्वेषण और भी आगे बढ़ा तो शरीर, इन्द्रियादिसे अलग आत्मा नामक एक अजर अमर पदार्थकी कल्पना हुई। उसकी भी जानकारी तो शरीरमें ही होती है। उसे भी इसीलिये अध्यात्म कह दिया। उसी आत्माको जब परमात्मा मान लिया और इसका विवेचन भी किया गया तो सभी विवेचनोंको अध्यात्मशास्त्र, आध्यात्मिकशास्त्र या आध्यात्मिकविवेचन नाम दिया गया।

इसी प्रकार भौतिक पदार्थों या भूतोंका भी विश्लेषण एवं विवेचन किया गया और उनमे जो रूप, रस, गन्ध आदि खूबियाँ या विशेषताएँ पाई गई उन्हे अधिभूत कहा गया। वे भूतोंमें ही जो पाई गई। कुछ अन्वेषणकर्त्ता यहीं टिक गये और आगे न बढ़े। दूसरे लोग आगे बढ़े और इन भूतोंमें भी सत्ता, अस्तित्व आदि जैसी चीजोंका पता लगाया। इनके बारेमें हमने पहले ही बहुत कुछ कहा है। इसी प्रकार देव या देवता कहे जानेवालोंकी भी जाँच-पडताल होती रही। भूतोंके अन्वेषण होनेपर जिन पदार्थोंको अधिभूत कहा गया उनके सम्बन्धके विवेक, विचार और मंथन आदिको ही आधिभौतिक नाम दिया गया। इसी तरह देवों या देवताओंमें जो भी विभूति, खूबी, चमक, आभा वगैरह जान पड़ी उसे अधिदेव, अधिदैव या अधिदैवत नाम दिया गया। तत्सम्बन्धी चिन्तन, ध्यान या विवेचन भी आधिदैवत, आधिदैव या आधिदैविक कहा जाने लगा। पीछे तो लोगोंने अधिभूत और अधिदैवको एकमें मिलाके सबोंके भीतर एक अन्तर्यामी पदार्थको मान लिया, जो सबोंको चलाता है, कायम रखता है, व्यवस्थित रखता है। उसी अन्तर्यामीको ब्रह्म या परमात्मा कहने लगे। सबसे बड़ा होनेके कारण ही उसे ब्रह्म कहना शुरू किया। शरीरके भीतरवाली आत्माको व्यष्टि मानके ब्रह्मको परमात्मा, बड़ी आत्मा या समष्टि आत्मा कहनेकी रीति चल पड़ी।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है वह शुरूसे लेकर आजतकको स्थितिका संक्षिप्त वर्णन है। शुरूसे ही यह हालत तो थी नही। यह परिस्थिति तो क्रमिक विकास होते-होते पैदा हो गई है। जब स्वतंत्र रूपसे लोगोका चिन्तन चलता था तो कोई अध्यात्म-विमर्शमें लगे थे, कोई अधिदैव-विचारमे और कोई अधिभूत-विवेचनमें। यह तो संभव न था कि सभी लोग सभी बाते सोच सकें। तब तो सभी बातें अधूरी ही रह जातीं। कोई भी पूरी न हो पाती, अन्ततक पहुँच पाती नहीं। और ज्ञानकी वृद्धिके लिये यह अधूरापन सर्वथा अवाञ्छनीय है, त्याज्य है। यही कारण है कि अलग-अलग सोचनेवाले अपने-अपने कामोंमें लीन थे। यही कारण है कि जबतक सब लोग गोष्ठी या परस्पर विमर्श नहीं कर लेते थे

तबतक अनेक स्वतंत्र निश्चयोंपर पहुँचते थे। यह बात स्वाभाविक थी। श्वेताश्वतर उपनिषदके पहले ही दो मंत्रों "ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः" आदि, तथा "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा" आदिमें यही मतभेद और विचारभेद बताया गया है। साथ ही सभी सोचनेवालोंको ब्रह्मवादी ही कहा है, न कि किसीको भी कमबेश। उसीके छठें अध्यायके पहले मंत्रमें भी इसी प्रकारके विचार-विभेदका उल्लेख "स्वभावमेके कवयो वदन्ति" आदिके द्वारा किया है। वहाँ सबोंको कवि या सूक्ष्मदर्शी कहा है। छान्दोग्यके छठें अध्याय के दूसरे खंडके पहले ही मंत्रमें "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' आदिके जरिये यही विचार विभिन्नता बताई गई है और अगले "कुतस्तु खलु" मंत्रमें इसीका खंडन-मंडन लिखा गया है। फलतः विभिन्न विचारोंके प्रवाह होने जरूरी थे।

वैसी हालतमें जो परम कल्याण या मोक्षकी आकांक्षा रखता हो उसके दिलमें यह बात स्वभावतः उठ सकती है कि कहीं धोका और गड़बड न हो जाय; कहीं ऐसा रास्ता न पकड लें कि या तो भटक जायँ या परीशानीमें पड़ जायँ; कहीं ऐसे मार्गमें न पड़ें जो अन्ततक पहुँचानेवाला न होके मुख्य मार्गसे जुटनेवाली पगडंडी या छोटी-मोटी सड़क हो; राजमार्गके अलावे कहीं दूसरे ही मार्गके पथिक न बन जायँ; कहीं ऐसा न हो कि मार्ग तो सही हो, मगर उसके लिये जरूरी सामान सम्पादन करनेवाले उपाय या रास्ते छूट जायँ और सारा मामला अन्तमें खटाईमें पड जाय। जो सभी विचारपद्धतियों एवं चिन्तनमार्गोको बखूबी नहीं जानते और न उनके लक्ष्य स्थानोंका ही पता रखते हैं उनके भीतर ऐसी जिज्ञासाका पैदा होना अनिवार्य है। जिन्हें सभी विचार प्रवाहोंका समन्वय या एकीकरण विदित न हो और जो यह समझ सके न हों कि पुष्पदन्तके शब्दोंमें रुचि या प्रवृत्तिके अनुसार अनेक मार्गोको पकडनेवाले अन्तमें एक ही लक्ष्यतक—परमात्मातक—पहुँचते हैं—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथ जुषाम्, नृणामेको गम्यत्वमसि पयसामर्णव इव", वे तो घबराके सवाल करेंगे ही कि "परमात्माका ध्यान तो हम करेंगे सही, लेकिन अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतका क्या होगा? उनकी जानकारी हमें कैसे होगी? यदि न हो तो कोई हानि तो नहीं?

सबसे बड़ी बात यह है कि उस काममें फँस जानेपर कर्मोंसे तो अलग हो जाना ही होगा। यह तो संभव नहीं कि ध्यान और समाधि भी करें और कर्मोको भी पूरा करें। ऐसी दशामें संसारका एवं समाजका कल्याण कहीं गड़बड़ीमें न पड़ जाय यह खयाल भी परीशान करेगा ही। उनका यह काम ऐसे

मंगलकारी कर्मोंके भीतर तो शायद ही आये। कमसे कम इसके बारेमें उन्हें सन्देह तो होगा ही। फिर काम कैसे चलेगा? और अगर जानकार लोग ही समाजके लिये मंगलकारी कामोंको छोडके अपने ही मतलबमें—अपनी ही मुक्तिके साधनमें—फँस जायँ, तो फिर संसारकी तो खुदा ही खैर करे। तब तो संसार पथदर्शनके बिना चौपट ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त यज्ञवाला प्रश्न भी उन्हे परीशान करेगा। जब पहले ही कहा जा चुका है कि "यज्ञोंके बिना तो यही खैरियत नहीं होती, परलोकका तो कुछ कहना ही नही"—"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम" (४।३१), तो काम कैसे चलेगा? तब तो सब खत्म ही समझिये। यज्ञके ही बारेमे एक बात और भी उठ सकती है। यदि कहा जाय कि यज्ञ तो व्यापक चीज है। अतएव ध्यान और समाधिके समय भी होता ही रहता है, तो सवाल होता है कि यज्ञमे असल लक्ष्य, असल ध्येय कौन है जिसे सन्तुष्ट किया जाय? कहीं वह कोई दूसरा तो नही है। ज्ञान, ध्यान तो शरीरके भीतर ही होता है और यह यदि यज्ञचक्रमे आगया तब तो अच्छी बात है। तब तो बीमारी, दुर्बलता, अशक्ति और मरणावस्थामे भी यह हो सकता है। इसीलिये तब खासतौरसे यह जानना जरूरी हो जाता है कि शरीरके भीतर जब यज्ञ होता है तो उससे किसकी तृप्ति होती है, कौन सन्तुष्ट होता है? कहीं नास्तिकोंकी तरह खाओ-पिओ, मौज करोकी बात तो नही होती और केवल अपना ही सन्तोष तो नहीं होता? असलमें उस यज्ञसे परमात्मातक पहुँचते है या नही यही प्रश्न है। इसीलिये देहके भीतर ही अधियज्ञको जाननेकी उत्कंठा हुई है। क्योंकि सबसे महत्वपूर्ण चीज यही है और सबसे सुलभ भी। मगर यदि इससे इन्द्रियादिकी ही पुष्टि हुई तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। इसीलिये सभी प्रश्न किये गये है। यह ठीक है कि सातवें अध्यायके अन्तमे कृष्ण ने कह दिया है कि वह ज्ञान सर्वांगपूर्ण है—इसमे कोई कमी नहीं है; क्योंकि अधिभूत आदिको भी ऐसा पुरुष बखूबी जानता है। लेकिन जबतक अर्जुनको पता न लग जाय कि आखिर ये अधिभूत आदि है क्या, तबतक सन्तोष हो तो कैसे? इसालिये आठवेंके शुरूमें उसने यही पूछा है, यही प्रश्न किये हैं।

उनके उत्तर भी ठीक वैसे ही हैं जिनसे पूछनेवालेको पूरा सन्तोष हो जाय। मरनेके समय भगवानको जाननेकी जो उत्कंठा दिखाई गई थी उसका सम्बन्ध अधियज्ञसे ही है। इसीलिये उसे उसके बाद ही रखा है और उसका उत्तर शेष समूचे अध्यायमें दिया गया है। क्योंकि सब प्रश्नोंका मतलब चौपट हो जाय, यदि वह बात न हो सके। अर्जुनको यह भी खयाल था कि कृष्ण कहीं अपने आपकी ही भक्तिकी बात न करते हों, और इस प्रकार ब्रह्मज्ञानसे नाता ही न

रह जानेपर कल्याणमें बाधा न पड़ जाय। इसीलिये अर्जुनने पूछा कि आखिर वह ब्रह्म क्या है? आपसे या ईश्वरसे अलग है या एक ही चीज? उसका यह भी खयाल था कि कहीं ब्रह्म या परमात्मा भी वैसा ही चन्दरोजा न हो जैसी यह दुनिया। तब तो मुक्तिका यत्न ही बेकार हो जायगा। हिरण्यगर्भको भी तो ब्रह्मा या ब्रह्म कहते हैं और उसका नाश माना जाता है। यही कारण है कि उस ब्रह्मासे पृथक् परम अक्षर या अविनाशी ब्रह्मका निरूपण आगे किया गया है। वहाँ बताया गया है कि क्यों ब्रह्माका नाश होता है और कैसे, लेकिन अक्षर ब्रह्मका क्यों नहीं।

उत्तरसे सभी बातोंको पूरी सफाई हो जाती है। परम अक्षरको ब्रह्म कहा है। असलमें १५वें अध्यायके "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" (१६) श्लोकमें जीवको भी अक्षर कहा है। इसीलिये परम आत्मा—परमात्मा—की ही तरह यहाँ परम अक्षर कहनेसे परमात्माका ही बोध होता है। नहीं तो गड़बड़ होती।

अध्यात्मको स्वभाव कहा है। ब्रह्मके बाद स्वभाव शब्द आनेसे इसमें स्वका अर्थ वही ब्रह्म ही है। उसीका भाव या स्वरूप स्वभाव कहा जाता है। अर्थात् अध्यात्म, जीव या आत्मा ब्रह्मका ही रूप है। गीतामें स्वभाव शब्द कई जगह आया है। अठारहवें अध्यायके ४१-४४ श्लोकोंमें कई बार यह शब्द प्रकृति या गुणोंके अनुसार दिल-दिमागकी बनावटके ही अर्थमें आया है। उसी अध्यायके ६०वें श्लोकवालेका भी वही अर्थ है। पाँचवें अध्यायके "न कर्तृत्वं" (१४) श्लोकमें जो स्वभाव है उसका अर्थ है सांसारिक पदार्थों या सृष्टिका नियम। मगर जैसे अठारहवें अध्यायके स्वभाव शब्दमें स्वका अर्थ है गुण और तदनुसार रचना, उसी तरह पाँचवें अध्यायमें स्वका अर्थ है इसके पहलेके सांसारिक पदार्थ, जिनका जिक्र उसी श्लोकमें है। ७वेंके ही २०वें श्लोकमें जो भाव शब्द है उसका अर्थ है पदार्थ या हस्ती—अस्तित्व। ठीक उसी प्रकार इस श्लोकमें भी स्वभावका अर्थ हो जाता है ब्रह्मका भाव, अस्तित्व या रूप। दूसरा अर्थ ठीक नहीं होगा।

कर्मका जो स्वरूप बताया गया है वह भी व्यापक है। "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः" यही उसका स्वरूप है। इसका अर्थ है जिससे पदार्थोंका अस्तित्व, वृद्धि या उत्पत्ति हो उस त्याग, जुदाई या पार्थक्यको कर्म कहते हैं। यहाँ विसर्ग शब्द और सातवेंके २७वेंका सर्ग शब्द मिलते-जुलते हैं। संस्कृतके धातुपाठमें जो धातुओंका अर्थ लिखा गया है वहाँ सृज धातुका विसर्ग ही अर्थ लिखा है। पहले कह चुके हैं कि "तपाम्यहमहं वर्षं" (९।१९) श्लोकमें उत्सृजामिका जो उत्सर्ग अर्थ है वही विसर्गका भी है। दोनोंमें सृज धातु ही है। वर्णमालामें आखिर

अक्षर जो स्वरगणनामें पाया जाता है उसे भी विसर्ग एवं विसर्जनीय कहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'वैसर्जन होम' आता है। वहाँ भी विसर्जनका अर्थ है समाप्ति या खात्मा, या छोड़ देना। स्वरोंका अन्त होनेके कारण ही विसर्ग आखिरी स्वरवर्ण है। वहाँ भी उस सिलसिलेका अन्त है। मलमूत्रादिके त्याग या वीर्यपातको भी विसर्ग कहते हैं। सारांश यह है कि जिस चीजके छोड़ने, अलग करने, पूरा करने, प्रयोग करने, त्यागनेसे सृष्टिकी उत्पत्ति, रक्षा, वृद्धि आदि हो सके वही कर्म है। इस प्रकार इस व्यापक अर्थमें ज्ञान, ध्यान, समाधि वगैरहका भी समावेश हो जाता है और इस तरह प्रश्नकर्त्ताका शक जाता रहता है। यह कम कल्याण-कारी चीजें नहीं है। गीताका कर्म कोई पारिभाषिक या खास ढंगकी चीज नहीं है, यही आशय है।

"अधिभूतं क्षरोभावः" का अर्थ है कि पदार्थोंका जो क्षर स्वरूप है, या यों कहिये कि उनकी विनाशिता है वही अधिभूत है। भाव शब्द तीन बार इतनी ही दूरमे आ गया है और तीनोंका एक ही अर्थ है सत्ता, अस्तित्व या रूप। पहले कह चुके है कि आखिर दृश्यजगत् या भौतिकपदार्थोंमें जो विनाशिता है वह तो अजर-अमर है। यदि वह ऐसी न हो और सदा रहनेवाली न हो तो पदार्थ ही अविनाशी बन जाये। इसीलिये वही उनका असली रूप है, स्व है, आत्मा है। आत्माको तो गीताने बार-बार अविनाशी कहा है। इस सम्बन्धमे बृहदारण्यकका वचन भी पहले ही लिखा जा चुका है। इस प्रकार अधिभूत भी आत्मा या परमात्मासे जुदा नहीं है। मगर उसे जिस ढंग से कहा है उसमें सुन्दर दार्शनिकता पाई जाती है। इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें भाव शब्द जिस अर्थमें आया है वही अर्थ यहाँ भी है—पदार्थोंका असल मूल वही है जिसे आत्मा या परमात्मा कहते हैं।

"पुरुषश्चाधिदैवतम्" का अर्थ है कि "पुरुष ही अधिदैवत है।" गीताके "द्वाविमौ पुरुषौ" श्लोककी बात कह चुके है। उसमें पुरुष आता है। उसीमें "क्षरः सर्वाणि भूतानि" भी लिखा है, जिससे अधिभूतका अर्थ साफ होता है। मगर प्रकृति तथा जीव दोनोंको ही पुरुष कहा गया है, यह बात याद रखनेकी है। उससे आगेके १७वें श्लोकमे "उत्तमः पुरुषः" शब्दोंमें परमात्माको उत्तम पुरुष या दोनोंसे ही पृथक् बताया है और १८वेंमें उसीको पुरुषोत्तम भी कहा है। इससे सिद्ध हो जाता है कि आधिदैवत भी वही परमात्मा या पुरुष हैं और है वह सभीका स्वरूप "वासुदेवः सर्वम्।"

अन्तमे "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे" के द्वारा यह कह दिया है कि मैं—परमात्मा—ही सभी शरीरोंके भीतर अधियज्ञ हूँ। जो दिनरात श्वास-प्रश्वास, खानपान,

निद्रा, बोलचाल, विचार, ध्यान आदिके रूपमें "यत् करोऽषि यदश्नासि" (९।२७) के अनुसार अखंड यज्ञ जारी है उससे भगवानकी ही पूजा हो रही है, यही इसका आशय है। यह पूजा सुलभ और सुकर है। फलतः चिन्ताका अवसर रही नहीं जाता।

सातवें अध्यायके अन्तिम—२९, ३०—श्लोकोंमें जो कुछ कहा है वह भी हमारे पूर्वके बताये इसी अर्थका पोषक है। उन दोनों श्लोकोंका पूरा विचार किया जाय तो यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि जन्म-मरण आदिके संकटोंसे छुटकारा सदाके लिये पा जानेके विचारसे जो लोग भगवानमें ही रमते और यही काम करते हैं वह उस पूर्ण ब्रह्मको भी जानते है, अध्यात्मको भी और सभी कर्मोको भी। अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके रूपमें भी भगवानको वही जानते है। इसीलिये पूर्ण योगी होनेके कारण मरण समयमें भी परमात्माको साक्षात् जान लेते है। दूसरे शब्दोंमें इसका आशय यह है कि जो लोग अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, अध्यात्म, ब्रह्म और कर्मको जानते है वही परमात्माको अन्तमें भी जानते है। वही जरामरण—जन्ममरण—से छुटकारा पानेका यत्न भी ठीक-ठीक करते है। हर हालतमे जाननेसे ही मतलब है; न कि शास्त्रीय पद्धति एवं वादविवादसे। ये सभी एक ही चीज है यह इससे साफ हो जाता है। "एकै साधे सब सधै" भी चरितार्थ हो जाता है। इसलिये भगवानमें रमनेवालेके लिये चिन्ताकी कोई गुंजाइश रह जाती नहीं।

एक ही बात और कहके इस लम्बे विवेचनको पूरा करेंगे। जिस सातवें अध्यायमें अध्यात्म आदि आये हैं और आठवें तक चले गये है उसके शुरूका ही श्लोक ऐसा है, "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्य-ज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" (७।२)। इसका भाव यह है कि "हम तुम्हें ज्ञान-विज्ञान दोनों ही बतायेंगे, सो भी पूरा-पूरा। उसके बाद तो कुछ जानना बाकी रही नहीं जायगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि आगे जो कुछ कहा गया है वह ज्ञान और विज्ञानके ही सिलसिलेमें विस्तारके साथ आया है। ज्ञान और विज्ञानकी बात यहींसे शुरू होके सत्रहवें अध्यायके अन्ततक पाई जाती है। अठारहवेंमें भी बहुत कुछ वही है। सातवें अध्यायका तो नाम ही है ज्ञान-विज्ञान योग। नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी "ज्ञानं विज्ञानसहितं" आया ही है। इसपर आगे और भी लिखेंगे। लेकिन ज्ञान-विज्ञानकी बात चालू है यह तो मानना ही होगा। उसी प्रसंगसे अध्यात्म आदि आये हैं यह भी निर्विवाद है।

और यह ज्ञान एवं विज्ञान है क्या चीज? ज्ञान तो है जानकारी या अनुभव और उसमें जब विशेषता या खूबी आ जाय तो वह हुआ विज्ञान। किसीने हमें

कह दिया या हमने कहीं पढ़ लिया कि सफेद और पीले रंगोंको मिलाके लाल तैयार करते है । यही हुआ लाल रंगके बारेमें ज्ञान । इसे सामान्य जानकारी भी कह सकते है । मगर जब समने खुद दोनों रंगोंको मिलाके लाल रंग तैयार कर लिया और उसकी पूरी जानकारी हासिल कर ली, तो वही हो गया विज्ञान। दूसरा दृष्टान्त लीजिये । कहीं पढ लिया या जान लिया कि हाइड्रोजन और औक्सिजन नामक हवाओंको विभिन्न अनुपातमें मिलानेसे ही जल तैयार हो जाता है । यह ज्ञान हुआ । और जब किसी प्रयोगशालामे जाके हमने इसका प्रयोग खुद करके देख लिया या दूसरोंसे प्रयोग करा लिया तो वही विज्ञान हुआ । विज्ञानसे वस्तुके रगरेशेकी जानकारी हो जाती है ।

प्रकृतमें भी यही बात है । योंही आत्मा-परमात्मा या जीव-ब्रह्म और मंसारकी बात कह देनेसे काम नही चलता । वह बात दिलमें बैठ पाती नही । यदि बैठाना है तो उसका प्रयोग करके देखना होगा—यह देखना होगा कि किस पदार्थसे कौन कैसे बनता है, रहता है, खत्म होता है । यदि परमात्मा ही मब कुछ है तो कैसे, इसका विश्लेषण करना होगा । जब तक ब्योरेवार सभी चीजोंको अलग-अलग करके न देखेंगे तब तक हमारा ज्ञान पक्का न होगा, विज्ञान न होगा, दिलमें बैठेगा नही । फलतः उससे कल्याण न होगा । इसीलिये अध्यात्म, अधिभूत आदि विभिन्न रूपोंमें आत्मा या परमात्माका जानना जरूरी हो जाता है और इसीलिये उसका उल्लेख आया है । बिना इमके जिज्ञासुओंको सन्तोष कैसे हो ?

इसीलिये सातवेके आखिरी—३०वे—श्लोकका जो लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि भगवानके ज्ञानके साथ ही अधिभूत आदिका पृथक् ज्ञान होना चाहिये, यही गीताकी मंशा है, वह भूलते है । वहाँ तो सबोंको परमात्म स्वरूप ही—"वासुदेवः सर्वमिति"—जानना है । ब्रह्म तथा अधियज्ञको तो परमात्म-रूप साफ ही कहा है । जीव—अध्यात्म—भी तो वही है । हाँ, कर्म शायद अलग हो । मगर वह तो व्यापक है । फलतः अन्ततोगत्वा वह भी जुदा नही है ।

४. कर्मवाद और अवतारवाद

गीताकी अपनी निजी बातोंपर ही अबतक प्रकाश डाला गया है। मगर गीतामें कुछ ऐसी बातें भी पाई जाती हैं, जो उसकी खास अपनी न होनेपर भी उनके वर्णनमें विशेषता है, अपनापन है, गीताकी छाप लगी है। वे बातें तो हैं दार्शनिक। उनपर दर्शनोंने खूब माथापच्ची की है, वाद-विवाद किया है। गीताने उनका उल्लेख अपने मतलबसे ही किया है। लेकिन खूबी उसमें यही है कि उन-पर उसने अपना रंग चढ़ा दिया है, उन्हें अपना जामा पहना दिया है। गीताकी निरूपणशैली पौराणिक है। इसके बारेमें आगे विशेष लिखा जायगा। फलतः इसमें पौराणिक बातोंका आ जाना अनिवार्य था। हालाँकि ज्यादा बातें इस तरह की नहीं आई हैं। एक तो कुछ ऐसी हैं जिन्हें ज्योंकी त्यों लिख दिया है। इसे दार्शनिक भाषामे अनुवाद कहते हैं। वैसा ही लिखनेका प्रयोजन कुछ और ही होता है। जबतक वे बातें लिखी न जायँ आगेका मतलब सिद्ध हो पाता नहीं। इसलिये गीताने ऐसी बातोंका उपयोग अपने लिये इस तरह कर लिया है कि उनके चलते उसके उपदेशका प्रसंग खड़ा हो गया है।

मगर ऐसी भी एकाध पौराणिक बातें आई हैं जिन्हें उसने सिद्धान्तके तौर-पर, या यों कहिये कि एक प्रकारसे अनुमोदनके ढंगपर लिखा है। वे केवल अनुवाद नहीं हैं। उनमें कुछ विशेषता है, कुछ तथ्य है। ऐसी ही एक बात अवतारवादकी है। चौथे अध्यायके ५-१० श्लोकोंमें यह बात आई है और बहुत ही सुन्दर ढंगसे आई है। यह योंही कह नहीं दी गई है। लेकिन गीताकी खूबी यही है कि उसपर उसने दार्शनिक रंग चढ़ा दिया है। यदि हम उन कुल छै श्लोकोंपर गौर करें तो साफ मालूम हो जाता है कि पुराणोंका अवतारवाला सिद्धान्त दार्शनिक साँचेमें ढाल दिया गया है। फलतः वह हो जाता है बुद्धि-ग्राह्य। यदि ऐसा न होता, तो विद्वान और तर्क-वितर्क करनेवाले पंडित लोग उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। मजा तो यह है कि दार्शनिक साँचेमें ढालने-पर भी वह रूखापन, वह वादविवादकी कटुता आने नहीं पाई है जो दार्शनिक रीतियोंमें पाई जाती है। सूखे तर्कों और नीरस दलीलोंकी ही तो भरमार वहाँ होती है। वहाँ सरसताका क्या काम? दार्शनिक तो केवल वस्तुतत्त्वके ही खोजने-में परीशान रहते हैं। उन्हें फुर्सत कहाँ कि नीरसता और सरसता देखें?

ईश्वरवाद

हम उसी चीजपर यहाँ विशेष प्रकाश डालने चले है। लेकिन उस अवतार-वादकी जड़में कर्मवाद है और है यह दार्शनिकोंकी चीज। गीताने उसीको ले लिया है। इसलिये जबतक कर्मवादका विवेचन नहीं कर लिया जाता, अवतार-वादका रहस्य समझमे आ सकता नहीं। यही कारण है कि हम पहले कर्मवादकी ही बात उठाते है। यह कर्मका सिद्धान्त किसी न किसी रूपमे अन्य देशोंके भी बहुतेरे दार्शनिकोंने—पुरानोंने और नयोंने भी—माना है। यह दूसरी बात है कि उनने खुलके ऐसा न लिखा हो। उनके अपने लिखनेके तरीके भी तो निराले ही थे और सोचनेके भी। इसीलिये उनने यह बात निराले ही ढंगमे—अपने ही ढंगमे—मानी या लिखी है। मगर हमारे देशके तो आस्तिक-नास्तिक सभी दार्शनिकोंने यह कर्मवाद स्वीकार किया है, सिवाय चार्वाकके। न्याय, सांख्य आदि दर्शनोंके अलावे जैन, बौद्ध, पाशुपत आदिने भी इमे साफ स्वीकार किया है। यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि गीताने भी कर्मवादको माना है। मगर वह पौरा-णिक ढंगके कर्मवादको स्वीकार न करके दार्शनिक कर्मवादको ही मानती है, यह भी बताया जा चुका है। गीताके और और स्थानोंमें भी यह बात पाई जाती है। १८वे अध्यायके "दैव चैवात्र पंचमम्" (१८।१४) मे यही बात 'दैव' शब्दसे कही गई है, यह भी कह चुके है। चौथे अध्यायके "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (४।९) मे दैवकी जगह दिव्य शब्द आया है। मगर बात वही है। दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही है। दिव् शब्दसे ही दिव्य या दैव शब्द बनते भी हैं। यों तो उसके ७, ८—दो—श्लोकोंमे जो कुछ कहा गया है वह कर्मवादके ही आधारपर कहा जा सकता है। दूसरे ढंगसे वह कभी भी युक्तिसंगत होई नही सकता।

हाँ तो आइये जरा इस कर्मवादकी दार्शनिक तहमे पहले घुसे और देखे कि इसकी हकीकत क्या है। हम पहले कह चुके है कि पदार्थोंमे बराबर परिवर्त्तन जारी है। फलतः कुछी दिनों बाद चीजें बदलके एकदम नई बन जाती है यद्यपि हमे ऐसा पता नही चलता और न हम यही समझ पाते है कि सचमुच कोई चीज बदल चुकी है। इस बातमें वैज्ञानिकोंकी भी सम्मति दी जा चुकी है। गीताने भी यह बात शुरूमे ही "देहिनोऽस्मिन्" (२।१३) मे स्वीकार की है। हमने वहींपर इस परिवर्त्तनके दृष्टान्तके रूपमे किसी कोठी या बर्त्तनमे बन्दकरके रखे गये चावलका दृष्टान्त भी दिया है और बताया है कि किस तरह नया चावल कुछ दिनोंमे बदलके बिलकुल ही दूसरा बन जाता है। यहाँ भी हम फिर उसी दृष्टान्तको लेगे। हालाँकि जो कुछ विचार अब करेंगे वह दूसरे ढंगसे, दूसरे पहलूसे होगा।

मगर इसे समझने के लिये वहाँ लिखी सभी बाते स्मरण कर लेने को है। दुबारा लिखना व्यर्थ है। वैज्ञानिककी प्रयोगशालाकी भी जो बात वहाँ लिखी है, खयाल कर लेने की है।

जब हम देखते है कि प्रतिक्षण प्रति सेकण्ड हरेक पदार्थसे अनन्त परमाणु निकलते और उनकी जगह नये-नये आ धमकते है तो हमे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इसीलिये प्रयोगशालामें बैठके ही यह बात सोचनेकी है। क्योंकि दूसरे ढंगसे इसपर आमतौरसे लोगोंको विश्वास होई नही सकता। लोगोंके दिमागमे यह बात समाई नहीं सकती कि प्रतिक्षण हरेक पदार्थके भीतरसे असख्य परमाणु निकलते और भागते रहते है और उनकी जगह ले लेते है नये-नये बाहरसे आके। विज्ञानके प्रतापसे यह बात अब लोगोंके दिमागमे आसानीसे आ जाती है। मगर पुराने जमानेमे जब ये वैज्ञानिक यन्त्र कही थे नही और न ये प्रयोगशालाये थो, तब हमारे दार्शनिक विद्वानोंने ये बातें कैसे सोच निकाली यह एक पहेलो हो है। फिर भी इसमे तो कोई शक हुई नही—यह तो सर्वमान्य बात है—कि उनने ये बाते सोची थी, ढूँढ़ निकाली थी। इन्हीके अन्वेषण, पर्यवेक्षण और सोच-विचारने उन्हे अगत्या कर्मवादके सिद्धान्ततक पहुँचाया और उसे माननेको मजबूर किया। या यों कहिये कि इन्हींको ढूँढते-ढूँढ़ते उनने कर्मवादका सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला।

हमारे नैयायिक दार्शनिकोंका एक पुराना सिद्धान्त है कि एक ही स्थानमे दो द्रव्योंका समावेश नही होता। पार्थिव, जलीय आदि सभी पदार्थोको उनने द्रव्य नाम दिया है। रूप, रस आदि गुणोंमे कोई भी जिन पदार्थोंमे पाये जायँ उन्हींको उनने द्रव्य कहा है। वे यह भी मानते आये हैं कि कई द्रव्योंके संयोगसे नया द्रव्य तैयार होता है। दृष्टान्तके लिये कई सूतोंके परस्पर जुट जानेसे कपड़ा बनता है। सूत भी द्रव्य है और कपड़ा भी। फर्क यही है कि सूत अवयव है और कपड़ा अवयवी। सूतोंके भी जो रेशे होते है उन्हीसे सूत तैयार होते है। फलतः रेशोंकी अपेक्षा सूत हुआ अवयवी और रेशे हो गये अवयव। रेशोके भी अवयव होते है और उन अवयवोके भी अवयव। इस प्रकार अवयवोंकी धारा—परम्परा—चलती है। उधर कपडेको भी काट-छाँटके और जोड़-जाड़के कुर्त्ता, कोट वगैरह बनाते हैं। वहाँपर कपड़ा अवयव हो जाता है और कोट, कुर्त्ते अवयवी। जितने नये सूत जुटते जाते हैं उतना ही लम्बा कपड़ा होता जाता है—नया-नया कपड़ा बनता जाता है। उधर अवयवोंके भी अवयव करते-करते कहीं न कही रुक जाना जरूरी होता है, जहाँसे यह काम शुरू हुआ है। क्योंकि अगर कहीं रुके न और हर अवयवके अवयव करते जायँ तो पता ही नहीं लगता कि

आखिर अवयवीका बनना कब और कहाँसे शुरू हुआ। इसीलिये जहाँ जाके रुक जायँ उसीको नैयायिकोंने परमाणु कहा है। परमाणु (Atom) का अर्थ ही सबसे छोटा, छोटेसे छोटा—जिससे छोटा हो न सके। परमाणुवादके बारेमें और भी दलीलें हैं। मगर हमें यहाँ उनमें नहीं पड़ना है। उनपर कुछ प्रकाश आगे डाला गया है गुणवादके प्रकरणमें।

इस प्रकार परमाणुओंके जुटने—संजोग—से चीजें बनती रहती हैं। अब मान लें कि कुछ परमाणुओंने मिलके एक चीज बनाई। लेकिन, जैसा कि कह चुके हैं कि पुराने परमाणुओंका निकलना और नयोंका जुटना जारी है, जब कुछ और भी परमाणु पुरानोंके साथ, जिनने आपसमें मिलके कोई चीज बनाई थी, आ जुटे तो अब जो चीज बनेगी वह तो दूसरी ही होगी। पहली तो यह होगी नहीं। क्योंकि पहलीमें तो नये परमाणु थे नहीं। इसी प्रकार कुछ सूतोंको जुटाकर कपड़ा बना। मगर सूत तो जुटते ही रहते हैं। इसलिये नये सूतोंको पुरानोंके साथ जुटनेपर कपड़ा भी बनता ही जायगा। हाँ, यह नया होगा, न कि वही पहलेही वाला। क्योंकि पहले तो ये नये सूत जुटे न थे। यही हालत सर्वत्र जारी रहती है। अब यहींपर नैयायिकोंकी वह बात आती है कि एक ही स्थानमें दो द्रव्योंका समावेश नहीं हो सकता है।

चाहे परमाणुओंवाली बातमें या सूतोंवाली। हम हर हालतमें देखेंगे कि नये-नये कपड़े या नई-नई चीजें बनती जाती हैं। मगर सवाल तो यह होता है कि जिन सूतोंसे पहला कपड़ा बना है उन्हींके साथ कुछ दूसरोंके जुटनेसे दूसरा और तीसरा बनता है। यह बात चाहे जैसे भी देखें, यह तो मानना ही होगा कि पहलेके जिन सूतोंसे पहला कपड़ा बना और उन्हींमें उसका समावेश है, अँटाव है, उन्हींमें दूसरा भी बनता है और उसके बादवाले कपड़े भी बनते हैं; हालाँकि दूसरे-तीसरे आदिका अँटाव कुछ नये सूतोंमें भी रहता है। मगर पहले सूतोंमें भी तो रहता ही है। पीछेवाले कपड़े पहलेवाले सूतोंके बिलकुल ही बाहर तो चले जाते नहीं। ऐसी हालतमें उन्हीं सूतोंमें कई कपडे कैसे अँटेंगे, यही तो पहेली है। कपड़े तो द्रव्य हैं और द्रव्य तो जगह घेर लेते हैं। इसीसे नैयायिक कहते हैं कि एक ही स्थानमें एकसे ज्यादा द्रव्योंका अँटाव या समावेश नहीं हो सकता।

तब सवाल होता है कि यदि एक ही कपड़ा उनमें रहेगा तो साफ ही है कि जोई पीछे या नया बनेगा, तैयार होगा, तैयार होता जायगा वही सभी—नये पुराने—सूतोंमें समाविष्ट होगा। फलतः पहलेवाले हट जायँगे, नष्ट हो जायँगे, खत्म हो जायँगे। जैसे-जैसे नये सिरेसे कपड़ा बनता जायगा तैसे-तैसे पहले बने कपड़े नष्ट होते जायँगे। इस प्रकारके सभी पदार्थोंमें यही प्रक्रिया जारी रहती

है—पहलेवालोंके नाशका यह सिलसिला जारी रहता है। दूसरा उपाय है नहीं—दूसरा चारा है नहीं। बात तो कुछ अजीब और बेढंगीसी मालूम पड़ती है। मगर हमें इस दुनियामें कितनी ही बेढंगी बात माननी ही पड़नी है। जब बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर कसते हैं तो जो बातें खरी उतरें उनके माननेमें उज्र क्या है? किसी जमानेमें सूर्य स्थिर है और पृथिवी चलती है; इस बातके कहने-वालोंको बड़ी आफतें झेलनी पड़ीं। मगर गणित और हिसाब-किताबकी मजबूरी जो थी। वे लोग करते क्या? नतीजा यह हुआ कि आज आमतौरसे वही बात मानी जाने लगी है।

पहले विज्ञानका यह विकास न होनेके कारण लोगोंको इसमें झिझक हुई। मगर आज तो विज्ञानने ही बता दिया है कि जरूर ही पुराने वस्त्र, पुराने चावल, पुराने पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और नये पैदा हो जाते हैं। भला कपड़ेके बारेमें तो नैयायिक दार्शनिक यह भी कहते थे कि साफ ही नये सूत जुटे हैं। देखनेवाले देखते भी थे। मगर कोठीमें बन्द चावलोंमें कौन देखता है कि चावलोंके नये परमाणु जुटते और पुराने भागते जाते है। पुराने सूतोंकी ही सूरत-शकलके नये सूत कपड़ेमें जुटते हैं। मगर चावलोंके पुराने परमाणुओंमें जो स्वाद या रस होता है उसी स्वाद और रसके नये परमाणुओंको आते और पुरानोंकी जगह लेते कौन देखता है? चावलका स्वाद दस सालके बाद बदलके गेहूँका तो हो जाता नही। उसमे स्वाद, रस वगैरह चावलका ही रहता है। इससे मानना पड़ेगा कि जो नये परमाणु आये वे चावलके ही स्वाद और रसके थे। बात तो यह भी कम अजीब और बेढंगीसी है नहीं। इसीलिये नैयायिकोंकी बात अब समझमे आ जाती है—आ सकती है। चावलोके ही परमाणुओंका—वैसे ही स्वाद, रस, रूप-रेखाओंका—खजाना किसने कहाँ जमा कर रखा है जो बराबर आते-जाते हैं? यह नही कि चावलोंकी ही बात हो। गेहूँ, चने, मटर आदिकी भी तो यही बात है। पशु, पक्षी, मनुष्य, खाक, पत्थर सबोंकी यही हालत है। सबोंमें अपनी ही जातिके परमाणु आ मिलते है! फलतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि सबोंका अलग कोष, खजाना (Stock) कहीं पड़ा है। मगर पता नहीं कहाँ, कैसे पडा है। यही तो पहेली है। बर्त्तन या कोठीके मुँह तो ऐसे बन्द हैं कि जरा भी हवा आ जा न सके। मगर ये अनन्त परमाणु बराबर आते-जाते रहते है! यही तो माया है, जादू है!

यहाँतक तो हमने इस पहेलीको उधेड़-बुन दार्शनिक ढंगसे की। मगर सवाल हो सकता है कि इसका कर्मवादसे ताल्लुक क्या है? ताल्लुक है और जरूर है। इसीलिये तो जरा विस्तार से हमने यह बात लिखी है। नहीं तो आगेकी बात

समझमें नहीं आती। बात यह है कि अनन्त परमाणुओंका आना-जाना और पुरानीकी जगह नई चीजका बन जाना एक पहेली है यह तो मान चुके। अब जरा सोचें कि आखिर यह होता है क्यों और कैसे? पुराने चावलोंकी जगह नये क्यों बने? वैसे ही परमाणु क्यों आये और उतने ही क्यों आये जितने निकले? यदि कमीबेशी भी हुई तो बहुत ही कम। गेहूँमें चावलके और चावलमें गेहूँके क्यों नहीं आ गये? गायमें भैंसके और भैंसमें गायके क्यों न घुसे? आदमीमें पशुके तथा पशुमें आदमीके क्यों न प्रवेश पा सके? मर्दमें औरतके और औरतमें मर्दके क्यों न चले आये? वृक्षोंमें पत्थरके और पत्थरोंमे वृक्षोंके क्यों न जुटे? मूर्खोंमें पंडितोंके तथा पंडितोंमें निरक्षरोंके क्यों न लिपटे? ऐसे प्रश्न तो हजार लाख हो सकते हैं, होते हैं।

इन परमाणुओंका वर्गीकरण कहाँ कैसे किया गया है? यदि काम कौन करता है? जिसमें जरा भी गड़बड़ी न हो, किन्तु सभी ठीक-ठीक अपनी-अपनी जगह जायें-आयें यह पक्का प्रबन्ध क्यों, किसने, कैसे किया? इसमें कभी गड़बड़ न हो इस बातका क्या प्रबन्ध है और कैसा है? परमाणुओंके कोषमें कमी-बेशी हो तो उसकी पूर्त्ति कैसे हो? यदि यह माना जाय कि हरेक पदार्थमे निकलनेवाले परमाणु अपने सजातियोंके ही कोषमें जा मिलते है, तो प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है और उन्हें कौन, कहाँ, कैसे ले जाता है? साथ ही यह भी प्रश्न होता है कि निकलनेवाले परमाणुओंकी जो हालत होती है वह तो कुछ निराली होती है, नकि कोषमें रहनेवालोंकी ही जैसी। ऐसी दशामें उनके मिलनेसे वह कोष खिचड़ी बन जायगा या नहीं? नये चावलका भात भारी होता है और मीठा ज्यादा होता हैं, बनिस्बत पुराने चावलोंके। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि चावलके भी परमाणु सबके सब एक ही तरहके नहीं होते। ऐसी हालतमें चावलके परमाणुओंके भी कई प्रकारके कोष मानने ही होंगे। अब यदि यह कहें कि नये चावलोंके परमाणु पुनरपि वैसे ही नये चावलोंमें जा मिलेंगे और जबतक जाकर मिल जाते नहीं तबतक कहीं शान्त पड़े रहेंगे, तो सवाल होता है कि यह बारीक देख भाल कौन करता है और क्यों? ठीक समयपर वैसे ही चावलोंमें उन्हें कहाँ, कैसे पहुँचाया जायगा यह व्यवस्था भी कैसे होती है? यह तो ऐसा लगता है कि कोई सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापक देखनेवाला चारों ओर आँखें फाड़के हर चीजको बारीकीसे देखता हो और ठीक समयपर सारी व्यवस्था करता हो। यह कैसी बात है यह प्रश्न स्वाभाविक है? यह कौन है। क्यों है? कैसे है? ये प्रश्न भी होते हैं। उसके हाथ बँधे हैं या स्वतंत्र हैं? यदि बँधे हैं तो किससे? और तब वह सारे कम ठीक-ठीक करेगा कैसे? यदि स्वतंत्र है तो भी

वही बात आती है कि सारे काम नियमित रूपसे क्यों होते हैं ? कहीं-कहीं मन-जानी घरजानी क्यों नहीं चलती ?

चावलोंको ही लेके और भी बातें उठती हैं। माना कि चावलोंसे असंख्य परमाणु निकलते रहते हैं। तो फिर जरूरत क्या है कि उनकी जगह खाली न रहे और दूसरे परमाणु खामखा आके जम जायें ? धीरे-धीरे चावल पतले पड जायें तो हर्ज क्या ? आखिर घुनोंके खा जानेसे तो ऐसा होई जाता है। कपूरके पर-माणु निकलते हैं और उनमें नये आते नहीं। इसीलिये वह जल्द खत्म हो जाता है। वही बात चावलोंमे भी क्यों नहीं होती ? यदि कहा जाय कि चावलवाला मर जो जायगा, तो प्रश्न होता है कि आग लगने या चोरी होनेपर क्या वह भूखों नहीं मर जाता जब चावल लुट जाते या जल जाते हैं ? और कपूर वाले पर भी यही दलील क्यों न लागू हो ? चावल जलनेपर या लुटजाने पर जो होता है वही बात यों भी क्यों नहीं हो ? किसी समय चावलोंके परमाणु ज्यादा निकल जायें और वह गल-सड़ जायें और किसी समय नहीं, ऐसा क्यो होता है ? इसी तरहके हजारों सवाल उठ खड़े होते हैं यदि हम इन पदार्थोंके खोद-विनोद और अन्वेषणमे पड़ जायें। हमने तो यहाँ थोडेसे प्रश्न नमूनेके तौरपर ही दिये हैं।

इसी खोद-विनोद, इसी जाँच-पडताल, इसी अन्वेषणके सिलसिलेमे इन जैसे प्रश्नोके उत्तर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमारे प्राचीन दार्शनिकोंको विवश होके ईश्वर और कर्मवादकी शरण लेनी पड़ी, यह सिद्धान्त स्थिर करना पडा। मनुष्य अपनी पहुँचके अनुसार ही कल्पना करता है। हम तो देखते हैं कि नियमित व्यवस्था बुद्धिपूर्वक ही होती है। बिना समझ और ज्ञानके यह बात हो पाती नही। और अगर कभी घडी या दूसरे यंत्रोंको नियमित काम करते देखते हैं तो उसीके साथ यह भी देखते हैं कि उनके मूलमें कोई बुद्धि है जिसने उन्हें तैयार करके चालू किया है। वही उनके बिगड जानेपर पुनरपि उन्हें ठीक कर देती है। जड़ पदार्थोंमे तो यह शक्ति नहीं होती कि अपनी भूल या गड़बड देखें, त्रुटिका पता लगायें और उसे सँभालें। इसके बाद हम बाकी दुनियामे भी ऐसी ही व्यापक या समष्टि बुद्धिकी कल्पना करते हैं, क्योंकि हम सभी मिल-मिलाकेभी बहुतसे कामोंको नहीं कर सकते। वे हमारी ताकतके बाहरके हैं। दृष्टान्तके लिये चावल वगैरहके बारेमें जो बाते पूछी गई है उन्हीको ले सकते हैं। वे हमारी पहुँचके बाहरकी बातें हैं। जिन्हें हम देख पाते नहीं उनकी व्यवस्था क्या करें ? और अगर थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि हमीं सब लोग उन्हें करते है, कर लेते हैं, कर सकते हैं, तो भी हम सबोंके कामोंकी मिलान (Co-ordination) तो होनी ही चाहिये न। नहीं

तो फिर वही गड़बड़ होगी। अब इस मिलानका करनेवाला कोई एक तो होगा ही जो सब कुछ बखूबी जानता हो।

जो लोग इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें प्रकृति, नैसर्गिक-नियम, शाश्वत विधान (Nature, Natural Law, Eternal Law) आदि कहके बातें टाल देते हैं वे शब्दान्तरसे अपनी अनभिज्ञता मान लेते हैं। हमारा काम है गुप्त रहस्योंका पता लगाना, प्रकृतिके—संसारके—नियमोंको ढूँढ़ निकालना। दिमाग, अक्ल, बुद्धिका दूसरा काम है भी नहीं। इन बातोंसे किनाराकशी करना भी हमारा काम नहीं है। कोई समय था जब कहा जाता था कि योगियोंका आकाशमें योंही चला जाना असंभव है, दूर देशका समाचार जान लेना गैरमुमकिन है। पक्षी उड़ते है तो उड़ें। उनकी तो प्रकृति ही ऐसी है। मगर आदमीके लिये यह बात असभव है। अपेक्षाकृत कुछ कम-बेश दूरीपर हमारी आवाज दूसरोंको भले ही सुनाई दे। मगर हजारों मील दूर कैसे सुनाई देगी? शब्दका स्वभाव ऐसा नहीं है, आदि-आदि। मगर अन्वेषण और विज्ञानने सब कुछ संभव और सही बता दिया—करके दिखा दिया! फलतः स्वभावकी बात जाती रही। मामूलीसी बातमें भी तर्क-दलील करते-करते जब हम थक जायें और उत्तर न दे सकें, तो क्यों न स्वभाव या प्रकृतिकी शरण लेके पार हो जायँ? तब हम भी क्यों न कह दें कि यही प्रकृतिका नियम है, नित्य नियम है? बात तो एक ही है। ज्यादा बुद्धिवाले कुछ ज्यादा दूरतक जाके प्रकृतिकी शरण लेते हैं। मगर हम कम अक्लवाले जरा नजदीकमें ही। और यह कैसे पता चला कि यह प्रकृतिका नियम है, नित्य नियम है? प्रकृति क्या चीज है? नियम क्या चीज है? किसे नियम कहें और किसे नहीं? पहले तो कहा जाता था कि पृथिवी स्थिर है और सूर्य चलता है। क्यों? यही नित्य नियम है यही उत्तर मिलता था। अब उलटी बात हो गई। इसीलिये प्रकृति, नेचर प्राकृतिक नियमोंकी बात करना दूसरे शब्दोंमें अपने अज्ञान, अपनी संकुचित समझ, अपनी अविकसित बुद्धिको कबूल करना है। यह बात पुराने दार्शनिक नहीं करते थे। और जब जड़ नियमोंको मानते ही हैं, तो फिर चेतन ईश्वरको ही क्यों न मानें? अन्धेसे तो आँखवाला ही ठीक है न? नहीं तो फिर भी अड़चन आ सकती है।

इसीलिये उनने उस व्यापक हाथ, शक्ति या पुरुषको स्वीकार किया, या यों कहिये कि ढूँढ़ निकाला। उसके बिना इस संसारका काम उन्हे चलता नहीं दीखा। इसीलिये उसे पुरुष कहा, पुरुषका अर्थ ही है जो सर्वत्र पूर्ण या व्यापक हो। यदि उसमे अविद्या, भले-बुरे कर्म, सुख-दुःख, रागद्वेष या भलेबुरे संस्कार मनुष्यों जैसे ही रहे तो फिर वही गड़बड़ होगी। पुरुष तो जीवोंको भी कहते हैं।

आत्मायें भी तो व्यापक हैं। इसीलिये उसे निराला पुरुष माना और पतंजलिने योग-सूत्रोंमें साफ ही कह दिया कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (१।२४)। इसका अर्थ यही है कि अविद्या आदिसे वह सर्वथा रहित है। इसीलिये उसे रत्ती-रत्ती चीजोंका जानकार होना चाहिये। नहीं तो फिर भी दिक्कत होगी और संसारकी व्यवस्था ठीक हो न सकेगी। उसका ज्ञान ऐसा हो कि उसकी कोई सीमा न हो—वह भूत, भविष्य, वर्त्तमान सभी कालके सभी पदार्थोंको जान सके। इसीलिये पतंजलिने कहा कि "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (१।२५)। अगर वह मरे-जिये, कभी रहे कभी न रहे तो भी वही दिक्कत हो। इसलिये कह दिया कि वह समयकी सीमासे बाहर है—नित्य है, अजर-अमर है। जितने जानकार, विद्वान, दार्शनिक और तत्वज्ञ अबतक हो चुके उसके सामने सब फीके हैं—तुच्छ हैं। क्योंकि देशकालसे सीमित तो सभी ठहरे और वह ठहरा इससे बाहर। इसीलिये वह सबोंका दादागुरु है—"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (१।२६)।

कर्मवाद

मगर इतनेसे भी काम चलता न दीखा। यदि ऐसा ईश्वर हो कि जो चाहे सोई करे तो उसपर स्वेच्छाचारिता (Autocracy) का आरोप आसानीसे लग सकता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होनेके कारण उसकी स्वेच्छाचारिता बडी ही खतरनाक सिद्ध होगी। जिस व्यवस्था और नियमितताके लिये हम उसे स्वीकार करते हैं या उसका लोहा मानते है, वही न रह पायेगी। क्योंकि उसकी स्वतंत्रता ही कैसी यदि उसपर बन्धन लगा रहा? वह स्वतंत्र ही कैसा यदि उसने किसी बातकी पर्वा की? यदि उसपर कोई भी अंकुश रहे, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, तो वह परतंत्र ही माना जायगा। यह प्रश्न मामूली नहीं है। यह एक बहुत बड़ी चीज है। जब हम किसी बातको बुद्धि और तर्ककी तराजूपर तौलते है, तो हमें उसके नतीजोंके लिये तैयार रहना ही होगा। यह दार्शनिक बात है। कोई खेल, गप्प या कहानी तो है नहीं। इस प्रकारके ईश्वरको माननेपर क्या होगा यह बात आँखें खोलके देखनेकी है। पुराने महापुरुषोंने—दार्शनिकोंने—इसे देखा भी ठीक-ठीक। वे इस पहेलीको सुलझानेमें सफल भी हुए, चाहे संसार उसे गलत माने या सही। और हमारी सभी बातें सदा ध्रुव सत्य हैं यह दावा तो समझदार लोग करते ही नहीं। ज्ञानका ठीका तो किसीने लिया है नहीं। तब हमारे दार्शनिक ऐसी गलती क्यों करते? उन्हें जो सूझा उसे उनने कह दिया।

इस दिक्कतसे बचनेके ही लिए उनने कर्मवादकी शरण ली। असलमें यह बात भी उनने अपने अनुभव और आँखों देखीके ही अनुसार तय की। उनने सोचा कि प्रतिदिन जो कुछ भी बुरा-भला होता है वह कामोंके हो अनुसार होता है। चाहे खेतीबारी लें या रोजगार-व्यापार, पढ़ना-लिखना, पारितोषिक, दण्ड और हिंसा-प्रतिहिंसाके काम। सर्वत्र एक ही बात पाई जाती है। जैसा करते हैं वैसा पाते हैं। जैसा बोते हैं वैसा काटते हैं। गाय पालते है तो दूध दुहते हैं। साँप पालके जहरका खतरा उठाते हैं। सिंह पालके मौतका। जान मागी तो जान देनी पड़ी। पढ़ा तो पास किया। न पढ़ा तो फेल रहे। अच्छे काममे इनाम मिला और बुरेमें जेल या बदनामी हाथ आई। असलमे यदि कामोंके अनुसार परिणामकी व्यवस्था न हो तो संसारमे अन्धेरखाता ही मच जाए। जब इससे उलटा किया जाता है तो बदनामी और शिकायत होती है, पक्षपातका आरोप होता है। यदि इसमें भी गड़बड़ होती है तो वह कामके नियमका दोष न होके लोगोंकी कमजोरी और नादानीसे ही होती है। अगर कामके अनुसार फलका नियम न हो तो कोई कुछ करे ही न। पढ़नेमें दिमाग खपानेवाला फेल हो जाय और निठल्ला बैठा पास हो। खेती करनेवालेको गल्ला न मिले और बैठे ठालेकी कोठी भरे। ऐसा भी होता है कि एकके कामका परिणाम वंशपरंपराको भी भुगतना पड़ता है। यदि अपनी नादानोसे कोई पागल हो जाय तो वंशमें भी उसका फल बच्चों और उनके बच्चोंतक पहुँचता है। ऐसी ही दूसरी भी बीमारियाँ है। एकके कियेका फल सारा वंश, गाँव या देश भी भुगतता है।

इस प्रकार एक तो कर्म ही सारी व्यवस्थाके करनेवाले सिद्ध हुए। दूसरे उनके दो विभाग भी हो गये। एकका ताल्लुक उसी व्यक्तिसे होता है जो उसे करे। यह हुआ व्यष्टि कर्म। दूसरेका सम्बन्ध समाज, देश या पुश्त-दरपुश्तसे होता है। यही है समष्टि कर्म। ऐसा भी होता है कि हरेक आदमी अपने कामसे अपनी जरूरत पूरी कर लेता है। नदीसे पानी लाके प्यास बुझा ली। मिहनतसे पढ़के पास कर लिया। बेशक इसमें विवादकी गुंजाइश है कि कौन व्यक्तिगत या व्यष्टि कर्म है और समष्टि। मगर इसमें तो शक नही कि व्यष्टि कर्म है। जहर खा लिया और मर गये। हाँ, समष्टि कर्ममे एकसे ज्यादा लोग शरीक होते है। कुआँ अकेले कौन खोदे ? खेती एक आदमी कर नहीं सकता। घरबार सभी मिलके उठाते है। समष्टि कर्म यही है। सभी मिलके करते और फल भी सभी भोगते है। कभी-कभी एकका किया भी अनेक भुगतते है। फलतः वह भी समष्टि कर्म ही हुआ।

बस, तत्त्वदर्शियोंने इस सृष्टिका यही सिद्धान्त सभी बातोंमें लागू कर दिया।

उनने माना कि जन्म, मरण, सुख, दुःख, बीमारी, आराम वगैरह सभीके मूलमें या तो व्यष्टि या समष्टि कर्म है। उनने सभीकी स्वतंत्रता मर्यादित कर दी। चावलों या पदार्थोंके परमाणुओंके आनेजानेसे लेकर सारे संसारके बनाने-बिगाडने या प्रबन्धका काम ईश्वरके जिम्मे हुआ और सभी पदार्थ उसके अधीन हो गये। ईश्वर भी जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही व्यवस्था करेगा। यह नही कि अपने मनसे किसीको कोढी बना दिया तो किसीको दिव्य; किसीको राजा तो किसीको रंक; किसीको लूटनेवाला तो किसीको लुटानेवाला। जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही वह सब व्यवस्था करता है। जैसे भले-बुरे कर्म है वैसी ही हालत है, व्यवस्था है। कही चुके हैं कि बहुतेरे कर्म पुश्त-दरपुश्ततक चलते है। इसीलिये इस शरीरमें किये कर्मोंमे जिनका फल भुगतना शेष रहा उन्हींके अनुसार अगले जन्ममे व्यवस्था की गई। जैसे भले-बुरे कर्म थे वैसी ही भली-बुरी हालतमे सभी लोग लाये गये। इस तरह ईश्वरपर भी कर्मोंका नियंत्रण हो गया। फिर मनमानी घरजानी क्यों होगी? तब वह निरकुश या स्वेच्छाचारी क्यो होगा? कर्म भी खुद कुछ कर नही सकते। वह भी किसी चेतन या जानकारके सहारे ही अपना फल देते है। वे खुद जड या अन्धे जो ठहरे। इस तरह उनपर भी ईश्वरका अंकुश या नियंत्रण रहा—वे भी उसके अधीन रहे। साराश यह कि सभीको सबकी अपेक्षा है। इसीलिये गट-बड नही हो पाती। किसीका भी हाथ सोलह आना खुला नही कि खुलके खेले।

कर्मोंके भेद और उनके काम

यह तो पहले ही कह चुके है कि जब कर्म अपना फल देते है तो उस फलकी सामग्रीको जुटाकर ही। कर्मोंका कोई दूसरा तरीका फल देनेका नही है। यकायक आकाशसे कोई चीज वे टपका नही देते। अगर जाडेमे आराम मिलना है तो घर वस्त्र आदिके ही रूपमे कर्मोंके फल मिलेगे। इन्ही कर्मोंके तीन दल प्रकारान्तरसे किये गये है। एक तो वे जिनका फल भोगा जा रहा हो। इन्हे प्रारब्ध कहते है। प्रारब्धका अर्थ ही है कि जिनने अपना फल देना प्रारंभ कर दिया। लेकिन बहुतसे कर्म बचे-बचाये रह जाते है। सबोका नतीजा बराबर भुगता जाय यह संभव नही। इसलिये बचे-बचायोका जो कोष होता है उसे संचित कर्म कहते है। संचितके मानी है जमा किये गये या बचे-बचाये। इसी कोषमें सभी कर्म जमा होते रहते है। इनमे जिनकी दौर शुरू हो गई, जिनने फल देना शुरू कर दिया वही प्रारब्ध कहे गये। इन दोनोंके अलावे क्रियमाण कर्म हैं जो आगे किये जायँगे और संचित कोषमे जमा होगे। असलमे तो कर्मोंके संचित और प्रारब्ध यही दो भेद है। क्रियमाण भी संचितमें ही आ जाते हैं। यों तो प्रारब्ध भी संचित ही हैं। मगर दोनोंका फर्क बता चुके है। यही है संक्षेपमें कर्मोंकी बात।

अब जरा इनका प्रयोग सृष्टिकी व्यवस्थामें कर देखें। पृथिवीके बननेमें समष्टि कर्म कारण है। क्योंकि इससे सबोंका ताल्लुक है—सबोंको सुख-दुःख इससे मिलता है। यही बात है सूर्य, मेघ, जल, हवा आदिके बारेमें भी। हरेकके व्यक्तिगत सुख-दुःख अपने व्यष्टि कर्मके ही फल हैं। अपने-अपने शरीरादिको एक तरहसे व्यष्टि कर्मका फल कह सकते हैं। मगर जह तक एकके शरीरका दूसरेको सुख-दुःख पहुँचानेसे ताल्लुक है वहाँतक वह समष्टि कर्मका ही फल माना जा सकता है। यही समष्टि और व्यष्टि कर्म चावल वगैरहमे भी व्यवस्था करते हैं। जिस किसानने चावल पैदा करके उन्हे कोठीमे बन्द किया है उसके चावलोंसे उसे आराम पहुँचना है। ऐसा करनेवाले उसके व्यष्टि या समष्टि कर्म है जो पूर्व जन्मके कमाये हुए हैं। यदि चावलोंके परमाणु निकलते ही जायँ और आये नहीं, तो किसान दिवालिया हो जायगा। फिर आराम उसे कैसे होगा? इसलिये उसीके कर्मोंसे यह व्यवस्था हो गई कि नये परमाणु आते गये और चावल कीमती बन गया। यदि पुराने नहीं जाते और नये नहो आते तो यह बात न हो पाती। परमाणुओंका कोष भी कर्मोके अनुसार बनता है, बना रहता है। ईश्वर उसका नियंत्रण करता है। जब बुरे कर्मोंकी दौर आई तो घुन खागये, चावल सड गये या और कुछ हो गया। उनमे अच्छे परमाणु आके मिले भी नही। यही तरीका सर्वत्र जारी है, ऐसा प्राचीन दार्शनिकोंने माना है। यों तो कर्मोंके और भी अनेक भेद है। ऐसे भी कर्म होते हैं जिनका काम है केवल कुछ दूसरे कर्मो को खत्म (Negative) कर देना। ऐसे भी होते हैं जो अकेले हा कई कर्मोके बराबर फल देते हैं। मगर इतने लंबे पँवारेसे हमें क्या मतलब? योगसूत्रोंके भाष्य और दूसरे दर्शनोंको पढ़के यह बाते जानी जा सकती हैं।

अवतारवाद

इतने लम्बे विवरणके बाद अब मौका आता है कि हम अवतारवादके सम्बन्ध में इन कर्मोको लगाके देखें कि कर्मवाद वहाँ किस प्रकार लागू होता है। यह तो कही चुके है कि समष्टि कर्मोके फलस्वरूप पृथिवी आदि पदार्थ बनते हैं जिनका ताल्लुक एक-दोसे न होके समुदायसे है, समाजसे है, मानव-संसारसे है, सभी पदार्थोंसे है। यदि यह ढूँढ़ने लगें कि पृथिवीको किस व्यक्तिके कर्मने तैयार किया कराया, तो यह हमारी भूल होगी। एकसे तो उसका सम्बन्ध है नहीं। पृथिवीके चलते हजारों-लाखोंको सुख-दुःख भोगना है, गल्ला पैदा करना है, घर बनाना है, कपड़ा तैयार करना है—होना है। उससे तलवारे, भाले, तोपें, गोले, लाठियाँ बनके जानें कितने मरें-मारेंगे। फिर एकके कर्मका क्या सवाल? पृथिवी आदि पदार्थ एकके कर्मसे क्यों बनेंगे?

जरा यही बात अवतारोंके विषयमे भी लगा देखें। आखिर अवतारोंका काम क्या है? उनसे होता क्या है? उनकी भली-बुरी उपयोगिता है क्या? गीता कहती है कि "भले लोगोकी रक्षा, बुरोंके नाश और धर्म—सत्कर्मों, पुण्य-कार्यो, समाज-हितकारी कामों—की मजबूती एवं प्रचारके लिये बार-बार— समय-समयपर— अवतार होते हैं",—"परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे" (४।८)। अवतारके पहलेकी भी समाजकी दशा यों कही गई है, "जब-जब धर्म—सत्कर्मों—का खात्मा या अत्यन्त ह्रास हो जाता है और अधर्म—बुरे कर्मो—की वृद्धि हो जाती है तभी-तभी भगवान खुद आते है"—"यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" (४।७)। इन श्लोकोंमें जो 'यदायदा'—जब-जब—तथा 'युगे-युगे' —समय-समय पर —कहा है उसका तात्पर्य यही है कि ऐसी ही परिस्थिति के साथ अवतारका ताल्लुक है। जिस प्रकार खेती बारीके लिये जमीन और सींचनेके लिये पानी की जरूरत है, साँसके लिये जैसे हवा जरूरी है; ठीक वैसेही ऐसी परि-स्थिति आ जानेपर उसका समुचित सामना करने, उसके प्रतिकारके लिये अवतार जरूरी है। पृथिवी, जल, वायु आदिका काम जिस प्रकार दूसरोसे नही हो सकता है—जिस तरह पृथिवी आदिके बिना काम चल नही सकता—ठीक उसी तरह अवतारका काम और तरहसे, दूसरोसे चल नही सकता—उसके बिना काम हो नही सकता। इससे साफ हो जाता है कि जिस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ बनते है, पैदा होते है लोगोके समष्टि कर्मोके ही करते उन्हीके फलस्वरूप, ठीक वैसे ही अवतार होते है लोगोके समष्टि कर्मोके ही फलस्वरूप उन्हीके करते। अब यही देखना है कि यह बात होती है कैसे।

इसमे विशेष दिक्कतकी तो कोई बात है नही। राम, कृष्ण आदि अवतारोंके शरीरोसे भले लोगोंको-साधु-महात्माओ, देवताओं, तपस्वियों, सदाचारियों और भोलीभाली जनताको—तो बेशक आराम पहुँचता है शान्ति मिलती है, उनकी चिन्ता और परीशानी मिटती है, उनके कर्मोमे आसानी होती, सहायता पहुँचती है और वे निर्द्वन्द्व विचरते रहते है। जैसा कि खुद कृष्णने ही कहा है कि, "लोक-संग्रह या लागोके पथदर्शनके खयालसे भी तो कर्म करना ही चाहिये"—लोक-संग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि' (३।२०)। उनने यह भी साफ ही कह दिया है कि, "मेरे अपने लिये तो कुछ भी करना-धरना शेष नहीं है, क्योंकि मुझे कोई चीज हासिल करनी जो नही है। फिर भी कर्म तो मुस्तैदीसे करता रहता ही हूँ। क्योकि यदि ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरीही देखा-देखी कर्मोंको छोड़ बैठेंगे। नतीजा यह होगा कि सारी गड़बड़ पैदा हो जायगी। फिर तो अव्यवस्था होनेके कारण लोग चौपट ही हो जायेंगे—" "न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु

किंचन", आदि (३।२२-२६)। इसके अनुसार तो सभीको अच्छेसे अच्छा पथ-दर्शन एवं नेतृत्व मिलता है, जिससे सभी बातोंकी मर्यादा चल पडती है और समाज मजबूती के साथ उन्ननिके पथमें अग्रसर होता है। इस तरह जितनोंका कल्याण होता है उतनोंका सत्कर्म या उनके पूर्व जन्मके अच्छे कामोका ही यह फल माना जाना चाहिये। यदि वे आराम पाते और निर्बाध आगे बढ़ते हैं तो इसमे दूसरोंकी कमाई, प्रारब्ध या पूर्व जन्मार्जित कर्मोंकी कोई बात आती ही नही। जिन्हे सुख मिलता है, सुविधाये मिलती है उनके अपने हो कर्मोंके ये फल है, यही मानना होगा।

दूसरी ओर ऐसे लोग भी होते है जिन्हे मिटानेके लिये अवतारोंके शरीर होते है। जिनकी शैतानियते मिटानी हैं, जिन्हे तबाह-बर्बाद करना है, अवतारोंके करने जितनोंको आठ-आठ आँसू रोने पडते है, जो खुद ओर जिनके सगे-सम्बन्धी भी चौपट होते है, रो-रो मरते हैं, जिनकी भीषणसे भीषण यंत्रणाये होती हैं, जिनकी स्वेच्छाचारिता बन्द हो जाती और निरंकुशता एवं स्वच्छन्दतापर पाले पड जाते हैं, उनकी यह दशा होती है यद्यपि अवतारोंके शरीरोंसे ही, उनके कामोंसे ही। फिर भी इसका कारण उन्हो दुराचारियो, दुष्कृत—दुष्ट—लोगोके अपने ही बुरे कर्म मानने होंगे। यदि किसीकी लाठीसे सर फूटा या तलवारसे गला काटा तो यह ठीक है कि सर फूटने एवं गला कटनेका प्रत्यक्ष कारण लाठी या तलवार है। मगर ऐसे कारणोके सम्पादन करनेवाले वे दुष्कर्म माने जाते है जो पहले या पूर्व जन्ममे ऐसे लोगोने किये थे जिनके सर फूटे या गले कटे। यह तो कर्मोका मोटा-मोटी हिसाब माना ही जाता है। इसलिए अवतारों के शरीरोके निर्माणमे भी इन दुष्ट जनोंके ही बुरे कर्म कारण है। पहले कही चुके है कि यदि किसीके शरीरसे दूसरोको कष्ट या आराम पहुँचे तो उनके भी भले-बुरे कर्म उस शरीरके कारण होते है। शरीरवालेके कर्म तो होते ही है। फलत: जिस प्रकार साधारण शरीरके निर्माणमे समष्टि कर्म कारण बनते हैं उसी तरह अवतारोंके शरीरोंके निर्माणमें भी।

एक बात और भी जान लेनेकी है। यह जरूरी नही को पूर्व जन्मके ही भले-बुरे कर्म वर्त्तमान जन्मके सुख-दुखोंके कारण हों। इसी देहके अच्छे या गन्दे काम भी कारण बन सकते हैं, बन जाते है। बासी या पुराने ही कर्म ऐसा करे यह कोई नियम नही है। सब कुछ निर्भर करता है कर्मोंकी शक्तिपर, उनकी ताकत-पर, उनकी भयंकरता या उत्तमतापर। इसीलिये नीतिकारोंने माना है कि "तीन साल, तीन महीने, तीन पखवारे या तीन दिनो मे भी जबर्दस्त कर्मोके भले-बुरे

फल यही मिल जाते है"—"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।" इसीलिये तो यह भी कहा जाता है कि "इस हाथ दे, उस हाथ ले।" इसलिये दुष्ट जनोंके जिन भयंकर कुकर्मोके करते हाहाकार मच जाता है, बहुत संभव है कि अवतारोंके कारण वही हों या वह भी हों। इसी प्रकार महान् पुरुषोके तप और सदाचरण भी, जो उन पापी जनोंसे त्राण पानेके लिये किये जाते है, अवतारोंके कारण बन जाते है, बन सकते है। मीमासकोने जानें कितने ही ऐसे कर्म माने है जिनके फल जल्दी ही मिलते है।

इस प्रकार समष्टि कर्मोके चलते ही पृथिवी आदिकी ही तरह अवतारोंके शरीर बनते है यह बात समझमे आ जाती है। जो लोग ऐसा सोचते हों कि हमारे भले-बुरे समष्टि कर्म भगवानको नही खीच सकते; क्योकि वह तो सबके ऊपर माना जाता है, उनके लिये तो पहले ही कहा जा चुका है कि कर्मोके अनुसार ही तो भगवानको चलना पडता है। उसे भी कर्मकी अधीनता एक अर्थमे स्वीकार करनी ही पडती है। यदि लोगोके कर्मोके अनुसार उसे हजार परेशानी उठानी पडती हो, दौड-धूप और चिन्ता फिक्र करनी पडती हो, तो यह तो मामूलीसी बात ठहरी। जब लोगो ने ऐसा भी माना है कि भक्तजन भगवानको नचाते है, तो फिर अवतार बनना क्या बडी बात है? जिनके कर्मोके करते पूर्व बताये ढंगसे परमाणुओकी क्रियाये, दौडधूप और चावल, पेड़, मनुष्यके शरीर आदि बनना-बिगडना निरन्तर जारी है, अवतारोके शरीर भी उन्हीकी क्रियाओके भीतर क्यो न आ जाये, उन्हीसे तयार क्यों न हो जाये? आखिर ये सारी चीजे होती ही है संसारका काम चलानेके ही लिये न? फिर यदि अवतारोंके बिना कोई काम रुकता हो या न चल सकता हो, तो उनके शरीर भी वैसे कामोके ही लिये क्यों न बन जायेंगे?

यह ठीक है कि जितनी चीजे बनती है सभी अनिवार्य आवश्यकताओं और जरूरतोके ही चलते। प्रकृति या संसारके भीतर व्यर्थ और फिजूल पदार्थोकी गुंजाइश हई नही। बल्कि प्रकृति तो ऐसी चीजोंको दुश्मन है। इसीलिये उन्हे जल्द मिटा देती है। वैसी ही आवश्यकताओंके चलते अवतार भी होते है। यही कारण है कि आवश्यकताओंकी पूर्त्ति होते ही अवतारोंका काम पूरा हो जाता है और उनके शरीर खत्म हो जाते है। किन्हीका काम कुछ देरसे होता है और किन्हीका जल्द। कहते है कि नृसिहके बिना हिरण्यकशिपुको कोई मार नहीं सकता था। कहानी तो ऐसी है कि उसने अपने लिए ऐसा ही सामान कर लिया था। यही वजह है कि भगवानको नृसिह बनना और उसे मारके फौरन विलीन हो जाना पडा। पीछे नृसिंहका शरीर रह न सका। यही बात राम, कृष्ण आदिके

बारे मे भी है। जो जो काम उनने किये, जो पथदर्शन उनसे हुए वे औरोंसे हो नही सकते थे। मगर उन कामोके लिये कुछ ज्यादा समय चाहता था। इसीलिये वे लोग देरतक रहे। हमारा मतलब यहाँ पौराणिक आख्यानोंपर मुहर लगाने या उन्हे अक्षरशः सही बतानेसे नही है। हमे तो यही दिखाना है कि अवतारोंके लिये दार्शनिक युक्तिके अनुसार जो परिस्थिति चाहिये वह संभव है या नही।

यह बात भी अब साफ होई चुकी कि अवतारोके शरीरोंमे भगवानको खिच आना ही पडता है। अवतार शब्दका तो अर्थ ही है उतरना या खिच आना। अगर संसारमे बुरे-भले कर्म माया-ममताशून्य जनोतकको अपनी ओर खीच सकते हैं और उनमे दया या रोष पैदा करवाके हजारो कठिनतम काम उनसे करवा सकते है, तो फिर भगवानका खिच जाना कोई आश्चर्य नही है। यदि बाँसुरीका स्वर मृग या साँपको खीच सकता है, उन्हे मुग्ध एवं बेताब कर सकता है, यदि बछडेकी आवाज गायको बहुत दूरसे खीच सकती है; यदि किसी प्रेमीका प्रेम हजारो कोसमे किसी को घसीट सकता है, तो सृष्टिकी जरूरत या लोगोके भले-बुरे कर्म तथा प्रेम और द्वेष भगवानको उस शरीरमे क्यों नहीं खीच लेंगे। न्याय और वैशेषिक दर्शनोने तो स्पष्ट कहा है कि लोगोके कर्मोंसे ही परमाणुओंमे क्रिया जारी होती है और वे आपसमे खिचके मिलते-मिलते महाकाय पृथिवी, समुद्र आदि बना डालते है। फिर प्रलयके समय उलटी क्रिया होनेसे अलग होते-होते वही सबको मिटा देते है। ऐसी दशामे उन्ही कर्मोंसे भगवानके शरीर क्यो न बन जाये? उनमे वह खिच जाय क्यो नही?

अब एक ही सवाल और रह जाता है। कहा जा सकता है कि शरीर बन जानेपर तो भगवान्‌की भी वही हालत हो जायगी जो साधारण जीवोकी। वही तकलीफ-आराम, वही माया-ममता और वही हैरानी-परेशानी होगी ही। इसका उत्तर गीताने चौथे अध्यायमे ही दे दिया है। वहाँ लिखा है कि, "अविनाशी एवं जन्मशून्य होते हुए और सभी पदार्थोका शासक रहते हुए भी मै अपनी मायाके बलसे शरीर धारण करता हूँ। मगर अपने स्वभावको कायम रखता हूँ जिससे माया मुझपर अपना असर नही जमा पाती"—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" (४।६)। माया कहने और अपने स्वभावको कायम रखनेकी बात बोलनेका मतलब यह है कि एक तो भगवानका शरीर साधारण लोगों जैसा देखनेपर भी वैसा नही है; किन्तु मायामय और नटलीला जैसा है। नटकी कलाकी कितनी ही बाते असाधारण होती है। वह देखने मे चाहे जो लगे; मगर उनकी हकीकत कुछ और ही होती

है। देखनेवाले चकाचौंध में पड़के और का और समझ बैठते हैं। यही बात अवतारों के भी शरीरों की हैं। दूसरी बात यह है कि साधारण लोगोंकी तरह माया-ममतामें वे दबते नहीं। उनका अपना स्वभाव, अपना ज्ञान, अपनी अनासक्ति और अपना बेलागपन बराबर कायम रहता है। खानपान आदि सारी क्रियाएँ उस शरीरके लिए आवश्यक होनेके कारण ही होती हैं जरूर। मगर उनमें वे अवतार लिपटते नहीं, चिपकते नहीं। वे इन मब बातोंसे बहुत ऊपर रहते हैं।

यह भी जान लेना जरूरी है कि गीतामें इस मायाको दैवी या अलौकिक शक्तिवाली कहा है, जिसमें हजारों गुण, खूबियाँ या करिश्मे होते हैं—"दैवीह्येषा गुणमयी मममाया" (७।१४)। इसीलिये उस मायाके चलते जो शरीर बनेगा उसमें मामूली नटोंके करिश्मोंसे हजार गुने अधिक करिश्मे होंगे—चमत्कार होंगे। वह तो महान् इन्द्रजाल होगा। इसीके साथ-साथ यह भी बात है कि जिस तरह कर्मोंकी व्यवस्था बताके भगवानके शरीर बननेकी रीति कही जा चुकी है वह असाधारण है, गैरमामूली है। इसीलिये जो निराले, अलौकिक काम अवतार करते हैं वह औरोंमें पाये नहीं जाते, पाये जा नहीं सकते। यह तो सारी प्रणाली ही अलौकिक है, निराले कर्मोंकी खेल है, भगवानकी लीला है। भगवान भी दिव्य हैं, निराले हैं। उनकी माया भी वैसी ही है। अनोखे कर्मोंसे ही उनके शरीर बनते हैं, न कि मामूली कर्मोंसे। इसीलिये गीताने कह दिया है कि इन सारी निराली बातोंको जो ठीक-ठीक समझता है, भगवान के दिव्य जन्म एवं दिव्य कर्मको जो बखूबी जान जाता है, मरनेके बाद वह पुनरपि जन्म नहीं लेके भगवान ही बन जाता है—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन" (४।९)।

अवतारोंके सम्बन्धमें गीताकी बातें सामान्य रूपसे बताई जा चुकी। अब एक खास बात कहके यह प्रसंग पूरा करना है। हमने जो परमाणुओंके जुटनेसे पृथिवी आदिके बनने और अलग होनेसे उनके नष्ट हो जाने तथा प्रलयके आ जानेकी बात कह दी है उससे यह तो पता लगी गया कि प्रलय और कुछ चीज नहीं है, सिवाय इसके कि वह कर्मोंके, और इसीलिये सभी पदार्थोंके जो उस समय रह जाते है, विरामका समय है, विश्रामका काल है। संसारमें विश्रामका भी नियम पाया जाता है। इसीलिये कर्मवादके माननेवालोंने कर्मोंके सिलसिलेमें ही उसे माना है। इसीलिये वे प्रलयको कर्मोका विश्राम काल और सृष्टिको उनके काम या फल देनेका समय मानते हैं।

इसी नियमके अनुसार जब-जब जहाँ-जहाँ समष्टि कर्मोंकी प्रेरणासे अवतारोंकी आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है तब-तब तहाँ-तहाँ अवतार पाये जाते है, होते हैं। किसी खास देश या खास समयमे ही अवतारोंका मानना भारी भूल है। गीताको यह बात मान्य नही है। इसीलिये अवतार के प्रकरणमे सिर्फ "जब-जब, या समय-समयपर" "यदायदाहि", "युगेयुगे" (४।७-८) यही कहा है। वहाँ किसी देश या मुल्कको बात पाई नहीं जाती है। पुराण-इतिहासोंमें भी सिर्फ भूलोक या मर्त्यलोक ही कहा है और यही बात प्रधान है। यदि कही एकाध जगह भारतवर्ष आया है तो वह या तो योंही आ गया है दृष्टान्तके रूपमे, या अवतार विशेषके सिलसिलेमे ही, जो भारतवर्षमे ही हुए हैं। मगर दरअसल देश या मुल्कका कोई नियम नही है। मानव-समाजके ही कल्याणके लिये अवतार होते है और वह समाज सभी देशोमे है। इसलिये यहूदी, इस्लाम या ईसाई धर्मोमे जिन महापुरुषो 'या प्रमुख आचार्योंकी बात आती है, जो धर्म संस्थापक माने जाते हैं, उन्हे अवतार मानने में गीताको कोई उज्र नही है। गीताके अनुसार तो वे सबके सब अवतार हई। यों तो "यद्यद्विभूतिमत्" (१०।४१) मे सभी प्रकार के विलक्षण पुरुषो या पदार्थोको भगवानकी ही विभूति आम-तौरसे माना है।

इस प्रकार हमने देखा कि यदि ईश्वर या कर्मवादकी शरण ली गई है तो सिर्फ सृष्टिके कामोंको पूरी तौरसे चलानेके लिये। मालूम होता है कि इनके बिना कोई स्थान खाली था, गैप—gap—था। उसीकी पूर्तिके लिये इन्हे माना गया। मगर पीछे हमारा पतन ऐसा हो गया कि हम अपना सारा यत्न छोड़के इन्ही भगवान और भाग्य—कर्म—के भरोसे बैठने लगे! यही बात अबतक जारी है।

५. गुणवाद और अद्वैतवाद

कर्मवाद एवं अवतारवादकी ही तरह गीतामें गुणवाद तथा अद्वैतवादकी भी बात आई है । इनके सम्बन्धमे भी गीताका वर्णन अत्यन्त सरस, विलक्षण एवं हृदयग्राही है । यों तो यह बात भी गीताकी अपनी नही है । गुणवाद दरअसल वेदान्त, साख्य और योगदर्शनोंकी चीज है । ये तीनों ही दर्शन इस सिद्धान्तको मानते है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन ही गुणोंका पसारा, परिणाम या विकास यह समूचा संसार है—यह सारी भौतिक दुनिया है । इसी तरह अद्वैतवाद भी वेदान्त दर्शनका मौलिक सिद्धान्त है । वह समस्त दर्शन इसी अद्वैतवादके प्रतिपादनमे ही तैयार हुआ है । वेदान्तने गुणवादको भी अद्वैतवादकी पुष्टिमे ही लगाया है—उसने उसीका प्रतिपादन किया है । फिर ये दोनों ही चीजे गीताकी निजी होंगी कैसे ? लेकिन इनके वर्णन, विश्लेषण, विवेचन और निरूपणका जो गीताका ढंग है वही उसका अपना है, निराला है । यही कारण है कि गीताने इनपर भी अपनी छाप आखिर लगाई दी है ।

परमाणुवाद और आरंभवाद

असलमे प्राचीन दार्शनिकोंमे और अर्वाचीनोंमे भी, फिर चाहे वह किसी देशके हों, सृष्टिके सम्बन्धमें दो मत हैं—दो दल है । एक दल है न्याय और वैशेषिकका, या यों कहिये कि गौतम और कणादका । जैमिनि भी उन्हीके साथ किसी हद्तक जाते है । असलमें उनका मीमांसादर्शन तो प्रलय जैसी चीज मानता नही । मगर न्याय, तथा वैशेषिक उसे मानते हैं । इसीलिये कुछ अन्तर पड जाता है । असलमें गौतम और कणाद दोईने इसे अपना मन्तव्य माना हैं । दूसरे लोग सिर्फ उनका साथ देते है । इसी पक्षको परमाणुवाद (Atomic Theory) कहते हैं । यह बात पाश्चात्य देशोंमे भी पहले मान्य थी । मगर अब विज्ञानके विकासने इसे अमान्य बना दिया । इसी मतको आरम्भवाद (Theory of creation) भी कहते है । इस पक्षने परमाणुओंको नित्य माना है । हरेक पदार्थके टुकडे करते-करते जहाँ रुक जायें या यों समझिये कि जिस टुकड़ेका फिर टुकडा न हो सके, जिसे अविभाज्य अवयव (Absolute or indivisible particle) कह सकते है उसीका नाम परमाणु (Atom) है । उसे जब छिन्न-भिन्न कर सकते ही नहीं तो उसका नाश कैसे होगा ? इसीलिये वह अविनाशी—नित्य—माना गया है ।

परमाणुके माननेमें उनका मूल तर्क यही है कि यदि हर चीजके टुकड़ोंके टुकडे होते ही चले जायँ और कही रुक न जाय—कोई टुकडा अन्तमें ऐसा न मान लें जिसका खंड होई न सके—तो हरेक स्थूल पदार्थके अनन्त टुकडे, अवयव या खंड हो जायँगे। चाहे राईको लें या पहाडको; जब खंड करना शुरू करेंगे तो राईके भी असंख्य खंड होंगे—इतने होंगे जिनकी गिनती नही हो सकती, और पर्वतके भी असंख्य ही होंगे। वैसी हालतमे राई छोटी क्यों और पर्वत बडा क्यों? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अवयवोंकी संख्या है, तो दोनोंकी अपरिमित है, असंख्य है, अनन्त है। इसीलिये बराबर है, एकसी है। फिर छुटाई, बडाई कैसे हुई? इसीलिये उनने कहा कि जब कही, किसी भागपर, रुकेंगे और उस भागके भाग न हो सकेंगे, तो अवयवोंकी गिनती सीमित हो जायगी, परिमित हो जायगी। फलतः राईके कम और पर्वतके ज्यादा टुकडे होंगे। इसीलिये राई छोटी हो गई और पर्वत बडा हो गया। उसी सबसे छोटे अवयवको परमाणु कहा है। परमाणुओंके जुटनेसे ही सभी चीजे बनी।

गुणवाद और विकासवाद

दूसरा दल गुणवादियोंका है। उनके गुणवादको परिणामवाद या विकासवाद (Evolution Theory) भी कहते है। इसे वही तीन दर्शन—वेदान्त, सांख्य तथा योग—मानते है। इनके आचार्य है क्रमशः व्यास, कपिल और पतंजलि। ये लोग परमाणुओंकी सत्ता स्वीकार न करके तीन गुणोंको ही मूल कारण मानते है। इन्हें परमाणुओंसे इनकार नही। मगर ये उन्हे अविभाज्य नहीं मानते है। इनका कहना यही है कि कोई भी भौतिक पदार्थ अविभाज्य नहीं हो सकता है। विज्ञानने भी इसे सिद्ध कर दिया है कि जिसे परमाणु कहते है उसके भी टुकडे होते है। परमाणुवादके माननेमे जो मुख्य दलील दी गई है उसका उत्तर गुणवादी आसानीसे देते है। वे तो यही कहते है कि पर्वतके टुकडे करते-करते एक दशा ऐसी जरूर आ जायगी जब सभी टुकडे राई जैसे ही हो जायँगे। उनकी संख्या भी निश्चित होगी, फिर चाहे जितनी ही लम्बी हो। अब आगे जो टुकडे हरेक राई जैसे टुकडेके होंगे वह अनन्त—असंख्य—होंगे। नतीजा यह होगा कि इन अनन्त टुकडोंसे हरेक राई या राई जैसी ही लम्बी-चौडी चीज तैयार होगी, जिसकी संख्या निश्चित होगी। अब यहीसे एक ओर राई रह जायगी अकेली और दूसरी ओर उसी जैसे टुकडोंको, जिनकी संख्या निश्चित है, मिलाके पर्वत बना लेंगे। इसीलिये वह बडा भी हो जायगा। फिर परमाणुका क्या सवाल? गीतामें परमाणुवादकी गन्ध भी नहीं है—चर्चा भी नहीं है, यह विचित्र बात है।

इसीलिये परमाणुवाद और तन्मूलक आरंभवादकी जगह उनने गुणवाद और तन्मूलक परिणामवाद या विकासवाद स्थिर किया। उनने अन्वेषण करके पता लगाया कि देखनेमे चाहे पृथिवी, जल आदि पदार्थ भिन्न हो; मगर उनका विश्लेषण (Analysis) करनेपर अन्तमे सबोमें तीन ही चीजें, तीन ही तत्त्व, तीन ही मूल पदार्थ पाये जायँगे, पाये जाते है। इन तीनोंको उनने सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया। आमतौरसे इन्हे सत्त्व, रज, तम कहते है। इन्हींका सर्वत्र अखंड राज्य है—सर्वत्र बोलबाला है। चाहे स्थूल पदार्थ अन्न, जल, वायु, अग्नि आदिको लें, या क्रिया, ज्ञान, प्रयत्न, धैर्य आदि सूक्ष्म पदार्थोंको ले। सबोंमे यही तोन गुण पाये जाते है। इमीलिये गीताने साफ ही कह दिया है कि "आकाश, पाताल, मर्त्यलोकमे—संसार भरमे—ऐसा एक भी सत्ताधारी पदार्थ नही है जो इन तीन गुणोसे अछूता हो, अलग हो"—"न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः" (१८।४०)। यों तो १८वे अध्यायके ७वेसे लेकर ४४तकके श्लोकोमे विशेष रूपमे कर्म, धैर्य, ज्ञान, सुख, दु:खादि सभी चीजोका विश्लेषण करके उन्हे त्रिगुणात्मक सिद्ध किया है। सत्रहवे अध्यायके शुरूके २२ श्लोकोमे भी दूसरी अनेक चीजोका ऐसा ही विश्लेषण किया गया है। गीतामे और जगह भी गुणोंकी बात पाई जाती है। चौदहवें अध्यायमे यही बात है। वह तो सारा अध्याय गुणनिरूपणका ही है। मगर वहाँ गुणोका सामान्य वर्णन है। इसका महत्त्व आगे बतायेंगे।

यहाँपर आरभवाद और परिणामवाद या विकासवादके मौलिक भेदोंको भी समझ लेना चाहिये। तभी आगे बढना ठीक होगा। आरंभवादमे यही माना जाता है कि परमाणुओके संयोग या जोडसे ही पदार्थोंके बननेका काम शुरू होता है—आरम्भ होता है। वे ही पदार्थोका आरंभ या श्रीगणेश करते है। वे इस तरह एक नई चीज तयार करते है जैसे सूत कपडा बनाते है। जो काम सूतोंसे नही हो सकता है वह तन ढकनेका काम कपडा करता है। यही उसका नवीनपन है। मगर परिणामवाद या विकासवादमे तो किसीके जुटने, मिलने या संयुक्त होनेका प्रश्न ही नही होता। वहाँ पहलेसे बनी चीज ही दूसरे रूपमे परिणत हो जाती है, विकसित हो जाती है। जैसे दूध ही दहीके रूपमे परिणत हो जाता है। इस मतमे तीनो गुण ही सभी भौतिक पदार्थोके रूपमे परिणत हो जाते है। कैसे हो जाते है यह कहना कठिन है, असभव है। मगर हो जाते है यह तो ठोस सत्य है। जब परमाणुओंको निरवयव मानते है, तो फिर उनका संयोग होगा भी कैसे? सयोग तो दो पदार्थोके अवयवोका ही होता है न? जब हम हाथसे लोटा

पकड़ते हैं तो हाथके कुछ भाग या अवयव लोटेके कुछ हिस्सों के साथ मिलते हैं। मगर निरवयव चीजें कैसे परस्पर मिलेंगी ? इसीलिये आरंभवादको माननेसे इनकार कर दिया गया। क्योंकि इस मतके माननेसे दार्शनिक ढंगसे पदार्थोंका निर्माण सिद्ध किया जा सकना असंभव जँचा।

गुण और प्रधान

सत्त्व, रज, तमको गुण नाम क्यों दिया गया यह भी मजेदार बात है। जब यही सृष्टिके मूलमें है तब तो यही प्रधान ठहरे, मुख्य ठहरे, असल ठहरे, अग्रणी ठहरे। लेकिन इन्हें गुण कहते हैं! गुण या गौणका अर्थ है अप्रधान, जो मुख्य न हो, अग्रणी न हो। और प्रधान किसे कहा है ? प्रकृतिको, जो इन तीनों गुणोंके मिल जानेसे बन जाती है। जब ये तीनों गुण अपनी विषमता छोड़के सम रूपमें मिल जाते हैं, जब इनकी साम्यावस्था हो जाती है तो उसे ही प्रकृति और प्रधान कहते हैं; हालाँकि वह पीछेकी चीज होनेसे गुण या गौण ठहरी। साम्यावस्था ही प्रलयकी अवस्था है। उस दशामें सृष्टिका काम कुछ भी नहीं हो पाता—सब कुछ खत्म हो जाता है।

यद्यपि चौदहवें अध्यायके ५वेंसे २५वें तकके श्लोकोंमें इन गुणोंकी बात विशेष रूपसे कही गई है, तथापि ५-१८ तकके १४ श्लोकोंके पढ़नेसे, अभी जो शंका उठी है, उसका उत्तर मिल जाता है। दूसरी भी बातें विदित हो जाती हैं। इसीलिये इस अध्यायका विशेष महत्त्व हमने माना है। इन्हें गुण क्यों कहते हैं, इस सम्बन्धमें पाँचवाँ श्लोक खास महत्त्व रखता है। मगर उसका अर्थ करने या और भी विचार करनेके पूर्व हमें सृष्टिकी एक बात जान लेनेकी है जो उससे पहलेके ३,४ श्लोकोंमें कही गई है। हम तो हमेशा सृष्टिके ही सम्बन्धमें सोचते हैं कि यह कैसे बनी, इसका विकास या पसारा कैसे हुआ। दर्शनोंका श्री गणेश तो इसी बातको लेके होता ही है, यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रलय या सृष्टि न रहनेकी दशाको तो हम पहले सोचते नहीं। वह तो हमारे सामनेकी चीज है नहीं। विचारके ही सिलसिलेमें जब उसकी बात पीछे आ जाती है, तो उसपर भी सोचते हैं। मगर उस दशामें भी वह महज खयाली और दिमागी चीज होती है। वह सामनेकी या ठोस वस्तु तो होती नहीं। फिर पहले उधर खयाल जाये तो कैसे ?

एक बात और है। सृष्टिका अर्थ ही है अनेकता, विभिन्नता (Diversity, heterogeneity)। इसी विभिन्नताको लेके हम शुरू करते हैं और अन्वेषण

चालू होता है। प्रलय तो इससे उलटी चीज है। उसमें तो एकता और अभिन्नता है, एकरूपता और समता (Uniformity & homogeneity) है। जैसा कि गीताने चौदहवेंके ६-१८ श्लोकोमे बताया है, गुणोंमें तो परस्पर विरोध है—वे ऐसे हैं कि एक दूसरेको खा जाये। यदि हम तीनोंके प्रतिनिधिके रूपमें पित्त, वात और कफको मान लें तो इनकी बात कुछ समझमे आ जाये। क्रमशः सत्त्व, रज, तमकी जगह स्थूल शरीरमे पित्त, वात, कफ माने जाते भी है। पित्तादिमे सत्त्वादिकी हो यों भी प्रधानता रहती है। सत्त्वमें प्रकाश, उजाला, हल्कापन आदि माने जाते है। पित्तमे भी यही चीजें है। पित्त आग या गर्म है और उसीमें ये बातें होती है। रजमे क्रिया होती है और वायु तो सतत क्रियाशील है। तम भारी है और कफ भी जकडनेवाली चीज है। शरीरके लिये जैसे पित्तादि तीनोंकी जरूरत है, वैसे ही संसारके लिये सत्त्वादिकी आवश्यकता है। हाँ, पित्त आदिकी मात्रा निश्चित रहे तो ठीक हो, नही तो गडबड, बेचैनी, बीमारी हो। यही बात सत्त्वादिकी भी है। उनकी भी निश्चित मात्रा है और जहाँ वह बिगडी कि गडबड शुरू हुई। जैसे शरीरमें एक समय एक ही पित्त या वायु या कफ प्रधान होके रहता है, वैसी ही बात इन गुणोंकी भी है। एक समय एक ही प्रधान रहेगा; बाकी उसीके मातहत। यही बात गीताने "रजस्तमश्चाभिभूय" (१४।१०) श्लोकमे साफ कही है।

इन गुणोंका परस्पर विरोध तो मानते ही है। वायु, कफ, पित्त, की भी यही बात है। मगर जरा और भी देख ले। ज्ञानके लिये, हल्केपन के लिये और प्रकाशके लिये क्रिया नही चाहिये, भारीपन नहीं चाहिये। ज्यादा हलचलसे प्रकाश रुक जाता है, ज्ञान नही हो पाता, मनकी एकाग्रता नही हो पाती। भारीपनसे या तो नींद आती है या बेचैनी होती है। ज्ञान है सत्त्वका काम। हल्कापन और प्रकाश भी उसीका काम है। उसकी विरोधी क्रिया है रजका काम और भारीपन है तमका। साफ ही देखते है कि ज्ञान होनेसे मन उसमें लगे तो क्रिया रुक जाये। निद्रा या भारीपन भी जाता रहे। हल्कापन उसका विरोधी जो है। भारीपन हो तो सारी चीजें दबके रह जायें, नीद आ जाय और क्रिया न हो सके। ज्ञानकी तो बात ही मत पूछिये। ६ से ९ तथा १४ से १८ तकके श्लोकों मे इसी बात का सुन्दर विवरण है।

मगर खूबी यह है कि इन तीनोंका आपसमें समझौता है कि हम लोग मिलके रहेंगे; नहो तो किसीकी खैर नही! राजनीतिमें आज तो धर्मो और देशों का परस्पर विरोध है वह तो इनके सामने फीका पड़ जाता है—वह इनके विरोधके सामने कुछ नहीं है। मगर चाहे हमारी नादानी से धर्मविरोध और

राजनीतिका विरोध मिटे या न मिटे, भाई-भाई की लडाई खत्म हो या न हो। मगर इनने तो पारस्परिक विरोध मिटा लिया है, समझौता (pact) कर लिया है। इन्हे दुनियामे सर ऊंचा करके रहना जो है। और हमें? हमे तो गैरोंके जूते सहने और गुलामी करनी है न? फिर हमारा मेल कैसे हो? हाँ, तो इनने यह समझौता कर लिया है कि एक वक्तमे हममे एक ही प्रधान होगा, नेता होगा, मुखिया होगा; बाकी दो उसीके साथ, उसीके अनुकूल चलेंगे, उसीकी मदद करेंगे, बावजूद इसके कि ये दोनो ही उसके सख्त दुश्मन हैं! फिर मौके पर जरूरत के अनुसार हममे दूसरा प्रधान तथा लीडर होगा और पहला उस जगहमे हटेगा। उस समय भी बाकी दो उसी प्रधानके सहायक होंगे। आवश्यकतानुसार उसे हटाके जब तीसरा मुखिया बनेगा तो बाकी दो उसके ही सहायक और साथी बनेंगे। यही है इन तीनों का अलिखित समझौता (Convention)। पूर्वोक्त दसवे श्लोकका यही अभिप्राय है।

यहींपर इन्हे गुण कहनेका एक कारण मिल जाता है। जैसा कि अभी कहा गया है, सृष्टिके रहते हुए इन तीनमे दो या अधिकाश हमेशा एकके पीछे रहते हैं, उसीके सहायक और मददगार होते हैं। यहातक कि अपना स्वभाव छोडके उसके विपरीत उसकी मदद करते हैं, जैसे बलपूर्वक किसी गुलामसे कोई काम कराया जाय। फर्क यही है कि इनके लिये बल प्रयोग नही है। दूरदेशीमे खुद ही ये वैसा करते हैं। और इनमे जो एक कभी प्रधान होता है वही पीछे अप्रधान बन जाता है। इस प्रकार देखते है कि ये तीनो गुण सृष्टिके मूल कारण होते हुए यद्यपि प्रधान कहे जाने योग्य हैं, तथापि इनकी असली खूबी है दूसरोके अनुयायी बनना, उनकी सहायता करना, उनके अनुकूल होना। सृष्टिकी दृष्टिसे इनकी यह खूबी जरूरी है भी। इसी विशेषताके खयालसे, इसी ओर खयाल आकृष्ट करनेके ही लिये इन्हे गुण कहा है। दसवे श्लोकसे यही पता चलता है।

अब जरा दूसरा पहलू देखिये। यदि ८-९ श्लोकोको देखे तो पता चलता है कि ये तीनों ही गुण बांधनेका काम करते हैं। कोई ज्ञान, सुख आदिमें मनुष्य को लिप्त करके, लिपटाके उन्ही चीजोसे उसे बाँध देते हैं, क्योंकि किसी चीजकी ज्यादती ही ऐब है, बन्धन है, तो कोई क्रिया और लोभ आदिमे फँसा देते हैं। यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, यह काम शेष है, वह बाकी है इसी हाय-हायमे जिन्दगी गुजरती है। जिस प्रकार सत्त्व गुण ज्ञान आदिमे फँसाके बाँध देता है, उसी प्रकार रज क्रिया और लोभ आदिमें। जालमे फँसानेका काम करनेमें ज्ञान, सुख, क्रिया, लोभ चारेकी जगह प्रयुक्त होते हैं। तमका तो फँसाना काम प्रसिद्ध

ही है। वह तो हमेशाका ही बदनाम है। मगर जो उससे अच्छा रज है और जो महान माने जानेवाला सत्त्व है वह भी फँसानेमे किसीसे पीछे नही है। "छोटी बहू तो छोटी, बड़ी बहू शुभानल्ला!" और यह तो जानते ही है कि फाँसने और बाँधनेका काम रस्सी करती है। फिर चाहे वह सूतकी बारीक या मोटी हो, या और चीजकी हो। संस्कृतमे रस्सी को गुण कहते है। इसीका अपभ्रंश होके गोन शब्द हो गया। नाव खीचनेकी रस्सीको गोन कहते है। फलतः फँसाने और बाँधनेकी ताकत इन गुणोंमे होनेके ही कारण इन्हे गुण कहा है; ताकि लोग इनसे सजग रहे। ५-८ श्लोकोंसे यह स्पष्ट है। ५वेके उत्तरार्द्धमे तो एक ही साथ तीनों को बाँधनवाले कह दिया है—'निबध्नन्ति महाबाहो।' इसीलिए अर्जुनको कहा गया है कि इन गुणोंमे ऊपर जाओ—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (२।४५)। इसी चौदहवे अध्यायमे भी कहा है कि इन गुणोसे अलग ब्रह्मात्माको जाननेवालेकी मुक्ति होती है—"गुणेभ्यश्च परं वेत्ति" (१४।१९), तथा इन गुणोंसे ऊपर उठनेपर ही मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है—"स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते" (१४।२६)।

गुणोमे यह परस्पर विरोध और मिलके काम करनेकी—दोनो—बात योगसूत्र—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)—मे और इसके भाष्यमे भी अत्यन्त विशद रूपसे बताई गई है। वही पर यह भी कह दिया है कि तीनो गुण परस्पर मिलके ही हर चीज पैदा करते है। इसीलिये तो सभी पदार्थोंमे तीनों ही गुण पाये जाते है। ईश्वरकृष्णने साख्यकारिकाओमे भी 'सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वर्णकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति" (१३) के द्वारा इन तीनो गुणो का परस्पर विरोधी बताके बादमे तीनोके मिलके काम करनेका बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। इनके परस्पर मिलनेका कारण भी बताया है। वह कहता है कि जिस प्रकार दीपकसे तेल, बत्ती और तेज या अग्नि तीनों ही परस्पर विरोधी है, तथापि तीनोंको मिलाय बिना रोशनी होई नही सकती। आग बत्ती और तेल दोनोंको ही खतम करनेवाली है। तेल ज्यादा दे दिया जाय जलना बन्द हो जाय, [illegible]त्तीको भी भिगोके बेकाम बना देता है। बत्ती भी तेलको सोखनी [illegible]रुईका बंडल डाल दे तो चिराग बुझ जाये। मगर [illegible]काम चलाते है। इस तरह परस्पर मेलसे [illegible]संसारके कामोके चलाने और गुणोके अपने [illegible]मिलके काम करना जरूरी हो जाता हे।

तीनों गुणोंकी जरूरत

अब हमें एक ही बातका विचार करना शेष है जिसका सृष्टिसे ही ताल्लुक है। बादमे प्रलयकी बात कहके आगे बढ़ेगे। सृष्टिकी रचना कैसे होती है यह बात तो प्रलयके ही निरूपणमे आगे आयेगी। अभी तो हमें यह देखना है कि इन तीनों परस्पर विरोधी गुणोंकी क्या जरूरत है। क्या सचमुच ही इन तीनोंकी आवश्यकता है, यह प्रश्न होता है। उत्तरमें 'हाँ' कहना ही पड़ता है। यह कैसे है यह बात और ये तीनों एक दूसरेकी मदद कैसे करते है यह भी एक ही साथ मालूम हो जायगी। यदि सिर्फ सत्त्व रहे तो हम ज्ञान, प्रकाश तथा सुखसे ऊब जायँगे। एकही चीजका निरन्तर होना (monotony) ही ता ऊबनेका प्रधान कारण है। इसीलिये तो परिवर्त्तन जरूरी होता है। ज्ञानके मारे न नीद, न खाना-पीना, न और कुछ होगा। प्रकाशमे चकाचौंध हो जायगी। हल्का होके यह संसार कहाँ उड जायगा कौन कहे? यदि सिर्फ तम हो तो भी दबते-दबते कहाँ जायगा पता नही। निरन्तर नींद, भारीपन, जड़ता, अँधेरा, अज्ञान कौन बर्दाश्त करेगा? पत्थरकी दशा भी उससे अच्छी होगी। संसारका कोई काम होगा ही नहीं। इसलिए यदि सत्त्व और तम दोनोंको ही माने तो दोनों एक दूसरेको दबाके खतम या बेकार (neutralised) कर देंगे। फलतः दोमें एकका भी काम न होगा। इसीलिए रज आके दोनोंमे क्रिया पैदा करता है, दोनोंको चलाता है; ताकि दोनों सारी ताकतसे आपसमें भिड़ न सकें। न दोनों जमेंगे, स्थिर होंगे और न जमके लड़ेंगे। फिर एक दूसरेको बेकार कैसे बनायेंगे? यदि रज ही रहे और बराबर क्रिया होती रहे तो भी वही बेचैनी! सारी दुनिया जल्द घिस जाये, मिट जाये। इसलिये तम उसे दबाके बीच-बीचमे क्रियाको रोकता है। सत्त्व क्रियाका पथ-प्रदर्शन करता है प्रकाश और ज्ञान देके। मगर जब तम प्रकाशको रोक देता है तो ज्ञानके अभावमें भी क्रिया रुकती है। ज्ञान और क्रियाके बिना कुछ होई नहीं सकता। अत्यन्त हल्की चीज स्थिर हो सकती ही नहीं। फिर उसमें ज्ञान या क्रिया हो कैसे? उसे वजनी बनानेके लिये भी तो तमोगुण चाहिये ही। इस प्रकार तीनोंकी जरूरत और परस्पर सहायता स्पष्ट सिद्ध है।

सृष्टि और प्रलय

रह गई सृष्टिकी प्रारम्भिक दशा तथा प्रलयकी बात। जब सृष्टिका विचार करने लगे तो अन्तमें यह बात उठी कि जब यह चीजें न थीं तो क्या था?

आखिर न रहनेपर ही तो बननेका सवाल पैदा होता है। यह भी बात है कि जब ये गुण परस्पर विरोधी हैं तो यदि ये कभी स्वतंत्र बन जायें और एक दूसरेकी न सुनें, तब क्या होगा? यह निरी खयाली बात तो है नहीं। इनके प्रतिनिधि कफ, वायु, पित्त जब स्वतंत्र हो जाते और एक दूसरेकी नहीं सुनते तो त्रिदोष और सन्निपात होता है और मौत आती है। वही जो कभी एक दूसरेके अनुयायी थे, आज आजाद हो गये! यही बात गुणोंमें हो तो? और जब विश्रामका नियम संसारमें लागू है तो ये भी तो विश्राम करेंगे ही, फिर चाहे देरमे करें या जल्द करें। उस समय क्या हालत होगी और ये किस तरह रहेंगे? और जब विश्रामका समय पूरा होगा तब कैसे, क्या होगा? इसी ढंगके सवाल उठनेपर सृष्टि तथा प्रलयकी बात आ जाती है।

दार्शनिकोंने इन प्रश्नोंपर बहुत ही उधेड़-बुन करके जवाब दिया कि जबतक ये गुण ऐसेके ऐसे ही रहेंगे तबतक इनका काम जारी रहेगा ही, तबतक तो चूहा बिल खोदता ही रहेगा। इनका स्वभाव ही जो यह ठहरा। इसीलिये, और कभी तन जानेपर भी, तीनों आजाद हो जायँगे, समान हो जायँगे। फिर तो कोई काम हो न सकेगा। बिना विषमताके, बिना एक दूसरेकी मातहतीके तो सृष्टिका काम चल सकता है नहीं और यहाँ तो "नाईकी बारातमें सब ठाकुर ही ठाकुर ठहरे।" फलतः आजादी या साम्यावस्थामें ही विश्राम होगा और यह सारा पसारा रुका रहेगा। क्योंकि "रहे बाँस न बाजे बाँसुरी।" उसी साम्यावस्थाको प्रलय कहते हैं, प्रकृति कहते हैं और प्रधान भी कहते हैं। ये गुण उसी हालतमें जाने और फिर वहींसे लौटते हैं। इनका यह चरखा रह-रहके चालू रहता है। उससे आगे तो इनकी पहुँच है नहीं। वही इनकी अन्तिम दशा है। इसीलिए उसे प्रधान कहते हैं। प्रधान कहते हैं उसे जो सबके अन्तमें हो, आखिरमें हो। उसी प्रधानकी अपेक्षा इनको गुण कहते हैं। क्योंकि इनकी आखिरी कृति वही है जिसे ये बनाते हैं अपनी प्रधानता, मुख्यताको गँवाके। जब इनकी क्रिया रही ही नहीं तो तने भले ही हों और आजाद भले ही रहें, फिर भी इनका पता कहाँ रहता है? वही प्रधान फिर इन्हीं गुणोके द्वारा अपना विस्तार करती है, सारा पसारा फैलाती है। इसीसे उसे प्रकृति कहते है। प्रकृतिका अर्थ ही है कि जो खूब करे, ज्यादा फैले-फैलाये।

कागज काटनेके लिये जो मैशीन (Cutting machine) आजकल बनी है उसकी एक खूबी यह है कि हैंडिल—चलानेवाला भाग—पकड़के मैशीन चलाते रहिये और उसकी तेज धार कागजतक पहुँचके उसे काट देगी। फिर ऊपर वापस

भी चली जायगी। चलानेवालेका काम बराबर एक ही तरह चलता रहेगा। वह जरा भी इधर-उधर या उलट-फेर न करेगा। मगर उसी चलानेकी क्रिया—कर्म—के—फलस्वरूप तेज धार ऊपरसे नीचे उतरके काटेगी और फिर ऊपर लौट जायगी। जितनी देरतक चलाते रहिये यही आना-जाना जारी रहेगा। सृष्टि और प्रलयकी भी यही हालत है। हमारे काम, कर्म (actions) ही सब कुछ करते हैं। उन्हींके करते कभी सृष्टि और कभी प्रलय होती है। ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी हैं, जैसे मैशीनकी धारका नीचे आना और ऊपर जाना। मगर उन्ही—एक ही—कर्मोंके फलस्वरूप ये दोनों ही होती है। कभी भी जीवोंको विश्राम मिल जाता है जिसे प्रलय कहते हैं। गीताने उसीको 'कल्पक्षय' (९।७) भी कहा है। उसे भूतसम्प्लव भी कहते हैं। फिर कभी सृष्टिका काम चालू हो जाता है। प्रलय शब्द भी गीता (१४।२) मे आया ही है।

यद्यपि यह खयाल हो सकता है कि सबोंकी दशा तो एकसी नही है। सबोंके कर्मों, कर्मफलभोगो तथा अन्य बातोमे भी कोई समानता तो है नही। यहाँ तो "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत", है। यहाँ तो "मुंडेमुंडे मतिर्भिन्ना तुंडे तुंडे सरस्वती।" फिर यह कैसे संभव है कि सभी जीव किसी समय विश्राममे चले जायं और प्रलय हो जाय? यदि गीताने ऐसा माना है और अगर दर्शनोंने भी इसे स्वीकार किया है तो इससे क्या? सभीका कार्य-विराम एक ही साथ हो, यह क्या बात? संसार कोई एक कारखाना या एक ही कम्पनीके अनेक कारखानोका समूह तो है नही, कि निश्चित समयपर कामसे छुट्टी मिल जाये, या काम बन्द हो जाया करे। यहाँ तो साफ ही उल्टी बात देखी जाती है। तब कल्पक्षयकी बात कैसे मानी जाय? प्रलय क्यों मानी जाय?

बात तो है कुछ पेचीदगीसे भरी जरूर। मगर असंभव नही है। ऐसी बातें दुनियामे होती रहती है। यों तो रातमें विराम और दिनमें कामकी बात आमतौरसे सर्वत्र है। यह तो सभीके लिये है। मगर जहाँ दिन रात बडे होते हैं, जैसे उत्तर ध्रुवके आसपास, वहाँ भी और नही तो छे मासका दिन एवं उतनी ही लम्बी रात तो होती ही है। प्रकृतिकी ओरसे जब तूफान आता है, बर्फीली आँधियाँ चलती है तब तो सबोंको एक ही साथ काम बन्द कर देना ही पड़ता है। मगर इन सबोंको न भी मानें और अगर इनमें भी कोई गड़बड़ सूझे तो भी तो यह बात देखी जाती है कि किसी गोल घेरे या रास्तेपर चक्कर लगानेवाले यद्यपि भिन्न-भिन्न चालोंवाले होते है, फिर भी ऐसा मौका आता है कि कभी न कभी सभी एक साथ मिल जाते हैं। फिर फौरन आगे-पीछे हो

जाते हैं। यों तो आमतौरसे आगे-पीछे चलते ही रहते हैं। मगर चक्कर लगाते-लगाते बहुत चक्करोंके बाद देर या सबेर एक बार तो सभी इकट्ठे होई जाते है। फिर आगे-पीछे होके चलते-चलते उतनी ही देर बाद दूसरी-तीसरी बार भी एकत्र हो जाते हैं। यही सिलसिला चलता रहता हैं। बस, यही हालत प्रलय या कल्पक्षयकी मानिये। इसीलिये हिसाब लगाके एक निश्चित समयके ही अन्तरपर इसका बारंबार होना गीताने भी माना है। इस प्रलयको गीताने रात भी कहा है (८।१७-१९मे)।

हाँ, तो उस प्रलयकी दशासे सृष्टिका श्रीगणेश कैसे होता है यह बात भी जरा देखें। गीताके (७।४-६), (८।१७-१९), (९।७-१०), (१३।५) तथा (१४।३-५) में यह बात खास तौरसे लिखी गई है। यों छिट्टफुट्ट एकाध बात प्रसगसे कह देनेका तो कुछ कहना ही नही। आठ और नौ अध्यायोंमें कुछ ज्यादा प्रकाश डाला गया है। जीवोंके कर्मोकी मजबूरीसे उन्हें बार-बार जनमना-मरना पड़ता है। प्रलयके बाद भी यही चीज चालू रहती है, यही गोलमोल बातें वहाँ कही गई है। बेशक, चौदहवे अध्यायमे सृष्टिके श्रीगणेशकी खास बात कही गई है और बताया गया है कि यह किस तरह होती है। मगर इसे जब हम सातवे और तेरहवें अध्यायके वर्णनसे मिलाके तीनोंका अर्थ एक साथ करते है और चौदहवेंके समूचे गुण-वर्णनको भी उसीके साथ ध्यानमे रखत है तभी इस बातपर पूरा प्रकाश पड़ता है। चौदहवेंके '५वे श्लोकमे कहा गया है कि "तीनो गुण प्रकृतिसे निकलते है"—"गुणा. प्रकृतिसंभवाः।" निकलनेका अर्थ तो कही चुके है कि साम्यावस्था छोड़के अपनी विषम अवस्थामे—अपनी असली सूरतमे—आते हैं; न कि पैदा होते हैं। कैसे बाहर आते हैं यही बात उससे पहलेके दो श्लोकोमें माँके पेटसे बच्चेके बाहर आनेका दृष्टान्त देकर बताई गई है। उसीका विशेष विवरण सातवे एवं तेरहवें अध्यायमे दिया गया है।

यह तो पहले ही कह चुके है कि प्रधान या प्रकृति तो साम्यावस्था है, एक रसता है, अविभिन्नता (homogeneity) है। उसके विपरीत उस अवस्थाको भग करके ही सृष्टि होती है जिसमे अनेकता ओर विभिन्नता (heterogeneity and diversity) है। यह चीज कैसे होती है, इनकी प्रक्रिया या क्रम क्या है, इसपर भी दार्शनिकोंने सोचके जो कुछ तय किया है वही बात उन दोनों अध्यायोंमें पाई जाती है। उसमे भी सातवेंमे बहुत कुछ कमी रह गई है। उसकी पूर्त्ति तेरहवमे हो जाती है। हाँ, कुछ ब्यौरेकी बाते वहाँ नही कही गई है, या एकाधमें कुछ फर्क भी मालूम पड़ता है। मगर वह कोई खास चीज नहीं है। असल बातें

ठीक-ठीक मिल जाती हैं। ब्योरा कहाँतक गिनाया जा सकता है? ब्योरेमें तो जानें कितनी ही बातें होती हैं। अगर उनमे कुछ छूटें तो फर्क तो मालूम होगा ही।

सांख्यदर्शनकी एक कारिका है "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तुविकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (३)। इसका आशय यह है कि "सृष्टिकी जड़में प्रकृति है। वह किसीसे भी पैदा नहीं होती। हाँ, उससे महान्, अहंकार और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीके सूक्ष्म स्वरूप—जिन्हें पंचतंमात्रा कहते हैं—यही सात पदार्थ पैदा होते है। फिर उनसे दूसरी चीजें पैदा होती हैं। इसीलिए इन्हें प्रकृति-विकृति नामसे पुकारते हैं। वे दूसरी चीजें हैं सोलह—पाँच कर्म-इन्द्रिय, पाँच ज्ञान-इन्द्रिय, पाँच महाभूत और अन्तःकरण। ये सोलहों विकृति कहाते हैं। पुरुष या जीव तो न प्रकृति है और न विकृति।" यद्यपि इस कारिकामें महान् आदि सातों या शेष सोलहका भी नाम नही दिया है; तथापि एक और कारिका "प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारस्तमाद् गणश्च षोडशकः" (१६) आदिमें सबोंको गिना दिया है और सातोंका क्रम भी बताया है कि पहले महान्, तब अहंकार, तब पाँच तन्मात्रायें। आगेका भी क्रम दे दिया गया है। मगर आगे बढ़नेके पहले इन बातोंका थोड़ा स्पष्टीकरण जरूरी है।

सांख्यदर्शनने जीव या पुरुषको तो सबसे निराला कहा है। वह न तो किसीसे पैदा होता है और न किसीको पैदा करता है। वह न प्रकृति है, न विकृति। प्रकृति कहते हैं कारणको और विकृति कहते हैं कार्यको। वह दोमें एक भी नहीं है। रह गये संसारके पदार्थ। सो इन्हें तीन दलोंमें बाँटा है। पहली है मूल प्रकृति या प्रधान। गीताने इसीको प्रकृति या महद्ब्रह्मके अलावे भूतप्रकृति भी भूत-प्रकृतिमोक्षं च" (१३।३४) में कहा है। अपरा भी कहा है जैसा कि आगे लिखा है। इससे पंचभूत पैदा होते हैं। इसीसे इसे भूतप्रकृति कहा है। यह किसीसे पैदा तो होती नहीं; मगर खुद पैदा करती है—यह किसीका कार्य नहीं है। इसीलिये इसे अविकृति भी कहा है। दूसरे दलमें महान् आदि सात आ जाते हैं। इन्हें प्रकृति-विकृति कहा है। ये खुद तो आगेके सोलह पदार्थोंको पैदा करते हैं। इसीलिये प्रकृति या कारण कहाये। मूल प्रकृतिसे ही ये पैदा होनेकी वजहसे विकृति भी कहे गये। अब इनसे जो सोलह पदार्थ पैदा हुए वह विकृति कहे जाते हैं। क्योंकि वे इनसे पैदा होनेके कारण ही कार्य या विकृति हो गये। मगर उनसे दूसरी चीजें बनती हैं नहीं। दस इन्द्रियों या पाँच प्राणोंसे अन्य पदार्थ पैदा तो होते नहीं। अन्तःकरण या बुद्धिसे भी नहीं पैदा होते। चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियाँ है और बुद्धि या मन भीतरकी। इसीलिये उसे अन्तःकरण कहते है। करण नाम है इन्द्रियका। अन्तःका अर्थ है भीतरी। गीताने पुरुषको मिलाके

यह चार विभाग नही किया है। किन्तु सभी को—चारोंको—ही प्रकृति कहके जीव या पुरुषको परा या ऊँचे दर्जेकी और शेष तीनको अपरा या नीचे दर्जेकी प्रकृति "अपरेयमितस्त्वन्या" (७।५) आदिमें कहा है।

दोनोंमे यह दो या चार भेदोंका होना कोई खास बात नही है। मगर पुरुष-को भी प्रकृति कहना जरूर निराला है। क्योंकि सांख्यने साफ ही कहा है कि वह प्रकृति नहीं है। असलमे गीता वेदान्तदर्शनको ही मानती है, न कि साख्यको। इसीलिये साख्यका जो बातें वेदान्तसे मिलती हैं उन्हें तो माने लेती है। लेकिन जो नही मिलती हैं वहाँ स्वतंत्र बात कहती है। वेदान्तने तो माना ही है कि पुरुष या भगवानने ही पहले सोचा; पीछे संसार बनाया। वेदान्तदर्शनके दूसरे सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" मे साफ ही माना है कि भगवानसे ही आकाशादि पदार्थोंका जन्म होता है। इसलिये वही कारण है। यदि वह कारण न होता तो उसे सिद्ध करना असंभव था। उसका तब जरूरत ही क्या थी? वेदान्तने जीव-को भगवानका रूप ही माना है और दोनोंको ही पुरुष कहा है। हाँ, व्यष्टि और समष्टिके भेदके हिसाबसे पर पुरुष एवं अपर पुरुष या पुरुष तथा पुरुषोत्तम यही दो नाम उसने जीव और ईश्वरको अलग-अलग दिये हैं। गीताने भी "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (१५।१७) मे यही कहा है। इसीलिये "मम योनिः" (१४।३-४) आदिमे पुरुषका ही सृष्टिका पिता और प्रधान या प्रकृतिको माता कहा है। गीता सृष्टि-रचनाको अन्धेका खेल नही मानती। किन्तु सोच-समझके बनाई चीज (Planned creation) मानती है।

सृष्टिका क्रम

सोचने-समझनेका यह मतलब नही कि चलना, फिरना, उठना, बैठना, खेती, गिरस्ती आदि हरेक कामोंको हरेक आदमियोके बारेमें पहलेसे ही तय कर लिया था। यह तो भाग्यवाद (fatalism) तथा 'ईश्वरने जो तय कर दिया वही होगा'(determinism) वाली बात है। फलतः इसमे करनेवालोंकी जवाबदेही जाती रहती है। वह तो मैशीनकी तरह ईश्वरकी मर्जी पूरा करनेवाले मान लिये जाते हैं। फिर उनपर जवाबदेही किसी भी कामकी क्यों हो और वे पुण्य-पापके भागी क्यों बने? मैशीनकी तो यह बात होती नही और इस काममें वे ठहरे मैशीन ही। सोचने-समझनेका सिर्फ यही आशय है कि मूलस्वरूप कौन-कौन पदार्थ कैसे बने कि यह सृष्टि चालू हो, इसका काम चले, यही बात उसने सोची और इसीके अनुसार सृष्टि बनाई। यह तो हमारा काम है कि हममें हरेक आदमी खुद भला-बुरा सोचके अपना रोजका काम करता रहे। इसीलिये तो हमें बुद्धि दी गई है।

उसे देकर ही तो ईश्वर जवाबदेहीसे हट गया और उसने हमपर अपने कामोंकी जवाबदेही लाद दी।

अब जरा यह देखें कि ईश्वरके सोचने और तदनुसार सृष्टि बनानेके मानी क्या है। वह हमारे जैसा देहधारी तो है नही कि इसी प्रकार सोचे-विचारेगा। यह तो कही चुके है कि प्रलयमे प्रधान या प्रकृति समान थी, एक रूप थी। उसमे अनेकता और विभिन्नता लानेके लिये सबसे पहले क्रिया होना जरूरी है। क्योंकि क्रियासे ही अनेकता और विभिन्नता होती है। मिट्टीका एक धोंधा है। क्रियाके करते ही उसे अनेक टुकडोमे कर देते या उससे अनेक बर्त्तन तैयार कर लेते है। मगर क्रियाके पहले जानकारी या ज्ञान जरूरी है। यह तो हम कही चुके है कि सोच-विचारके यह सृष्टि बनी है। एक बात यह है कि यदि फिजूल और बेकार चीजे न बनानी हो, साथ ही, सृष्टिकी सभी जरूरते पूरी करनी हो तो जो कुछ भी किया जाय वह सोच-विचारके ही होना चाहिये। कुम्हार सोच-साचके ही बर्त्तन बनाता है। किसान खेती इसी तरह करता है। नही तो अन्धेरखाना ही हो जाय और घडेकी जगह हाडी तथा गेहूकी जगह मटरकी खेती हो जाय। यही कारण है कि साख्यने ईश्वरको न मानके भी सृष्टिके शुरूमे यह सोचना-समझना या ज्ञान माना है। मगर ज्ञान तो जड प्रकृतिमे होगा नही और जीवका काम साख्यके मतसे सृष्टि करना है नही। इसीलिए वेदान्तने और गीताने भी सृष्टिके मूलमे ईश्वरको माना है। वह है भी परम-आत्मा या श्रेष्ठ-आत्मा।

वह ज्ञान होगा भी हम लोगोके ज्ञान जैसा कुछ बातोका ही नही, छोटा या हलकासा ही नही। वह तो सारी सृष्टिके सम्बन्धका होगा, व्यापक और बडेसे बडा होगा। इसीलिये उसे महत् या महान् कहा है। उसके बाद जो क्रिया होगी उसीको अहम् या अहकार कहा है। यह हम लोगोका अहकार नही होके सृष्टिके मूलकी क्रिया है। समष्टि या व्यापक ज्ञानकी ही तरह यह भी व्यापक या समष्टि क्रिया है। नीदके बाद जब ज्ञान होता है तो उसके बाद पहले अहम् या मै और मेरा होनेके बाद ही दूसरी क्रिया होती है, और प्रलय तो नीद ही है न? इसीलिये उसके बादको समष्टि क्रियाको अहंकार नाम दिया गया है। इस अहंकार या क्रियाके बाद प्रकृतिकी समता खत्म होके विभिन्नता आती है और आकाश, वायु, तेज (प्रकाश), जल, पृथिवी इन पाँचोकी सूक्ष्म या अदृश्य मूर्त्तियाँ (शकले) बनती है। इन्हीसे आगे सृष्टिका सारा पसारा होता है।

इन पाँच सूक्ष्म पदार्थों या भूतोके भी, जिन्हे तन्मात्रा भी कहते है, वही तीन गुण होते है, जैसा कि कह चुके है। उनमे पाँचोके सात्त्विक अंशों या सत्त्व-

गुणोंसे क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञानइन्द्रियाँ बनती हैं, जिनसे शब्दादि पदार्थोंके ज्ञान होते हैं । ज्ञान पैदा करनेके ही कारण ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती हैं । उन्हीं पाँचोंके जो राजस भाग या रजोगुण है उनसे ही क्रमशः वाक्, पाणि (हाथ), पाँव, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ बनती हैं । इन पाँचोंसे ज्ञान न होके कर्म या काम ही होते हैं । फलतः ये कर्मेन्द्रियाँ कही गई । और इन पाँचोंके रजोगुणोंको मिलाके पाँच प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—बने । ये पाँचोंके रजोगुणोंके सम्मिलित होनेपर ही बनते हैं । उसी तरह पाँचोंके सत्त्वगुणोंको सम्मिलित करके भीतरी ज्ञानेन्द्रिय या अन्तःकरण बनता है, जिसे कभी एक, कभी दो—मन और बुद्धि—और कभी चार—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—भी कहते हैं । उसके ये चार भेद चार कामोंके ही चलते होते हैं, जैसे पाँच काम करनेसे ही एक ही प्राण पाँच प्रकारका हो गया । हमें यह न भूलना होगा कि जब हम सत्त्व या रजोगुणकी बात करते हैं तो यह मतलब नहीं होता है कि खाली वही गुण रहते हैं । यह तो असंभव है । गुण तो तीनों ही हमेशा मिले रहते हैं । इसीलिये इन्हें एक दूसरे से चिपके हुए—"अन्योन्यमिथुनवृत्तयः—" सांख्य कारिका (१२)में लिखा है । इसलिये सत्त्व कहनेका यही अर्थ है कि उसकी प्रधानता रहती है । इसी प्रकार रजका भी अर्थ है रजोगुण-प्रधान अंश । दोनोंमें हरेकके साथ बाकी गुण भी रहते हैं सही; मगर अप्रधान रूपमें ।

अब बचे पाँचों तन्मात्राओंके तमःप्रधान अंश जिन्हें तमोंऽश या तमोगुण भी कहते हैं । उन्हींसे ये स्थूल पाँच महाभूत—आकाश आदि—बने । जो पहले सूक्ष्म थे, दीखते न थे, जिनका ग्रहण या ज्ञान होना असंभव था, वही अब स्थूल हो गये । जैसे अदृश्य हवाओं—औक्सिजन तथा हाईड्रोजन—को विभिन्न मात्राओं में मिला के दृश्यजल तैयार करते हैं; ठीक वैसे ही इन सूक्ष्म पाँचों तन्मात्राओंके तमप्रधान अंशोंको परस्पर विभिन्न मात्रामें मिलाके स्थूल भूतोंको बनाया गया । इसी मिलानेको पंचीकरण कहते हैं । पंचीकरण शब्दका अर्थ है कि जो पाँचों भूत अकेले-अकेले थे—एक-एक थे—उन्हींमें चार दूसरोंके भी थोड़े-थोड़े अंश आ मिले और वे पाँच हो गये, या यों कहिये कि वे पाँच-पाँचकी खिचड़ी या संमिश्रण बन गये । दूसरे चारके थोड़े-थोड़े अंश मिलानेपर भी अपना-अपना अंश तो ज्यादा रहा ही । हरेकमें आधा अपना रहा और आधेमें शेष चारके बराबर अंश । इसीलिये अपने आधे भागके करते ही हरेक भूत अलग-अलग रहे । नहीं तो पाँचोंमें कोई भी एक दूसरेसे अलग हो नहीं पाता । फलतः यह हालत हो गई कि पृथिवीमें आधा अपना भाग रहा और आधेमें शेष जल आदि चार रहे । यानी समूची पृथिवीका आधा वह खुद रही और बाकी आधेमें शेष चारों बराबर-

बराबर रहे। इस तरह समूचीमें इन प्रत्येकका आठवाँ भाग रहा। इसीलिये उसे पृथिवी कहते ही रहे। जल आदिकी भी यही बात समझी जानी चाहिये।

यह ठीक है कि इस विवरण में सांख्य और वेदान्तमें थोड़ासा भेद है। पाँच प्राणोंको सांख्यवाले पाँच कर्म-इन्द्रियों से जुदा नहीं मानते। इसलिये उनके मतसे पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण यही सोलह पदार्थ अहंकारके बाद बने। उनके मतमें पाँच तन्मात्राकी ही जगह पाँच महाभूत हैं। क्योंकि तन्मात्राओंके तामसी अंशोंको ही मिलानेसे ये पाँच भूत हुए। इसीलिये वे तन्मात्राओं और भूतोंको अलग-अलग नहीं मानते। महाभूतोंके बननेके बाद तन्मात्राएँ तो रह जाती भी नहीं। उनके सात्त्विक तथा राजस भागोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण बने। बचे-बचाये तामस अंशसे, महाभूत। बाकी संसार तो इन्हीं महाभूतोंका ही पसारा, या विकास है, परिणाम है, रूपान्तर है, करिश्मा है। इस प्रकार उनके ये सोलह तत्त्व या विकार सिद्ध होते हैं। वेदान्तियोंने पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि ये दो अन्तःकरण—और कभी-कभी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार अन्तःकरण—मानके सत्रह या उन्नीस पदार्थ मान लिये। पाँच भूतोंको मिला लेनेपर वे चौबीस हो गये। महान् तथा अहंकार-को जोडनेपर छब्बीस और प्रकृतिको लेके सत्ताईस हो गये। सांख्यके मतसे तेईस रहे। मगर यह तो कोई खास बात है नहीं। यह ब्योरेकी चीज है। ये पदार्थ तो सभी—दोनों ही—मानते ही हैं।

एक बात और। हम पहले कह चुके हैं कि गीताके मतसे गुण प्रकृतिसे निकले है, बने हैं। मगर हमने अभी-अभी जो कहा है उससे तो गुणोंके बजाय बुद्धि, ज्ञान या महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ—यही चीजें—प्रकृतिसे निकली है। भले ही यह चीजें गुणमय ही हों। मगर गुणोंका निकलना न कहके इन्हींका निकलना कहनेका मतलब क्या है? बात तो सही है। गुणोंका बाहर आना सीधे नहीं कहा गया है। लेकिन ज्ञान या महत् है क्या चीज, यदि सत्त्वगुण नहीं है? ज्ञान तो सत्त्वका ही रूप है न? उसी प्रकार अहंकार है क्या यदि रजोगुण या क्रिया है नहीं? अहंकारको तो समष्टि क्रिया ही कहा है और क्रिया रजोगुणका ही रूप है न? अब रह गये पंचभूत जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं। वह तो तमके ही रूप है। आगे जब पंचीकरणके द्वारा वे दृश्य और स्थूल बनते हैं तब तो उन्हें तमका रूप कहते ही हैं। फिर पहले भी क्यों न कहें? यह ठीक है कि तमके साथ भी सत्त्व और रज तो रहेंगे ही, जैसे इनके साथ तम भी रहता ही है। इसीलिये तो पंचतन्मात्राओंके सत्त्व-अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ और रज-अंशसे

कर्मेन्द्रियाँ बनती है। इसलिये यह तो निर्विवाद है कि "गुणाः प्रकृति-संभवाः"—प्रकृतिसे गुण ही बाहर होते हैं।

चौदहवें अध्यायके ३, ४ श्लोकोंमें जो गर्भाधानकी बात कही गई है उसका मतलब भी अब स्पष्ट हो जाता है। गर्भाधानके बाद ही गर्भाशयमें क्रिया पैदा होके सन्तानका स्वरूप धीरे-धीरे तैयार होता है। उसके पहले उसमें बच्चेका नाम भी नहीं पाया जाता। ठीक उसी तरह महान् या समष्टि ज्ञानरूप चिन्तन, संकल्प या सोच-विचारके बाद ही प्रकृतिके भीतर अहंकार या समष्टि क्रिया पैदा होके पंचतन्मात्रादिकी रचना होती है। जबतक भगवानके इस समष्टि ज्ञानका सम्बन्ध प्रकृतिसे नहीं होता, जबतक वह खयाल नहीं करता, तबतक प्रकृतिमें कोई भी क्रिया—मंथन—पैदा नहीं होती जिससे सृष्टिका प्रसार हो सके। प्रकृतिकी शान्ति, समता या एकरसता—घोर गंभीरता—भंग होती है अहंकार रूप मंथन क्रिया होसे और वह पैदा होती है महत्तत्त्व, महान् या समष्टि ज्ञानके बाद ही। इसीको उपनिषदोंमें ईक्षण या संकल्प कहा है, जैसा कि छान्दोग्यमें "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (६।२।३)। 'प्रजायेय' शब्दका अर्थ है कि प्रजा या वंश पैदा करें। इससे गर्भाधानकी बात सिद्ध हो जाती है। गीताने भी यही कहा है। गीतामें गर्भाधानके बाद संभवः' और 'मूर्त्तयः' लिखनेका मतलब भी ठीक ही है। स्वरूप ही तैयार होते हैं, पैदा होते हैं, आकृतियाँ बनती हैं।

हमने जो प्रकृति, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदिकी बात कही है उसका मतलब अब साफ हो गया। यहाँ सचमुच ही बच्चे या फलकी तरह पैदा होनेका सवाल तो है नहीं। प्रकृति तो पहलेसे ही होती है। महान्का उसीसे पीछे सम्बन्ध होता है। इसीलिये प्रकृतिके बाद ही उसका स्थान होनेसे प्रकृतिसे उसकी उत्पत्ति अकसर लिखी मिलती है। महान्के बाद ही आता है अहंकार। इसीलिए वह महान्से पैदा होनेवाला माना जाता है; हालाँकि वह प्रकृतिकी ही क्रिया है। उसके बाद पंचतन्मात्रायें प्रकृतिसे ही बनती हैं। मगर कहते हैं कि अहंकार से तन्मात्रायें पैदा हुई। यह तो कही चुके है कि ये तन्मात्रायें महाभूतोंके सूक्ष्म रूप हैं। इसीलिये इन्हें भूत और महाभूत भी कहा करते हैं।

तेरहवें अध्यायके "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः" (१३।५) का अर्थ यह है कि पाँच महाभूत (तन्मात्राएँ), अहंकार, समष्टि बुद्धि (महान्), अव्यक्त या प्रकृति (प्रधान), ग्यारह इंद्रियाँ—दस बाहरी और एक अन्तःकरण—और इन्द्रियोंके पाँच विषय, यही क्षेत्रके भीतर आते हैं, क्षेत्र कहे जाते हैं। क्षेत्रका अर्थ है शरीर। मगर यहाँ समष्टि शरीर

या सृष्टिकी बुनियादी—शुरूवाली—चीजसे मतलब है। इस श्लोकमें वही बातें हैं जिनका वर्णन अभी-अभी किया है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें तन्मात्राओं से ही शुरू करके उलटे ढंगसे प्रकृतितक पहुँचे हैं। मगर ठीक क्रम समझनेमें प्रकृतिसे ही शुरू करना होगा। श्लोकमें क्रमसे तात्पर्य नहीं है। वहाँ तो कौन-कौनसे पदार्थ क्षेत्रके अन्तर्गत हैं, यही बात दिखानी है। इसीलिये उत्तरार्द्धमें ग्यारह इन्द्रियाँ आई हैं। नहीं तो उलटे क्रममें इन्द्रियोंसे ही शुरू करते। इन्द्रियोंके बाद जो उनके पाँच विषय लिखे हैं उनका कोई सम्बन्ध सृष्टिक्रमसे या उसके मूल-पदार्थोंसे नहीं है। पाँच तन्मात्रा, महान् आदिके अलावे क्षेत्रके अन्तर्गत जो विषय, राग, द्वेष आदि अनेक चीजें आगे गिनाई गई हैं उन्होंमें ये पाँच विषय भी हैं।

सातवें अध्यायमें इन्द्रियोंका नाम न लेकर शेष पदार्थोंका उल्लेख "भूमि-रापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (७।४) श्लोकमें आया है। जैसा कि पहले कहा गया है, यह अपरा या नीचेवाली प्रकृतिका आठ भेद या प्रसार बताया गया है। तेरहवें अध्यायके "महाभूतानि" की जगह यहाँ पाँचों भूतोंका नाम ही ले लिया है "भूमि, जल, अनल (तेज), वायु और आकाश (ख)।" मगर उत्तरार्द्धमें जो "मनो बुद्धिरेव च अहंकारः" शब्दोंमें मन, बुद्धि और अहंकारका नाम लिया है उसके समझनेमें थोड़ी दिक्कत है। जिस क्रमसे तेरहवें अध्यायमें नीचेसे ही शुरू किया है, उसी क्रमसे यहाँ भी नीचेसे ही शुरू है, यह तो साफ है। मगर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके बाद तो क्रम है अहंकार, महान् और प्रकृतिका। इसलिये मन, बुद्धि, अहंकारका अर्थ क्रमशः अहंकार, महान् और प्रकृति ही करना होगा। दूसरा चारा है नहीं। इसमें बुद्धिका अर्थ महान् तो ठीक ही है। वे दोनों तो एक ही अर्थवाले हैं। हाँ मनका अर्थ अहंकार और अहंकारका प्रकृति करनेमें जरा उलट-फेर हो जाता है। लेकिन किया जाय क्या? इस प्रकार गुणवाद और सृष्टिका क्रम तथा उसकी प्रणाली आदि बातें संक्षेपमें स्पष्ट हो गई। गीताके मतका इस सम्बन्धमें स्पष्टीकरण भी हो गया। इससे उसके समझनेमें आसानी भी होगी।

अद्वैतवाद

अब अद्वैतवादकी कुछ बातें भी जान लेनेकी है। गीताका क्या खयाल इस सम्बन्धमें है यही बात समझनी है। हालाँकि जब वेदान्तके ही अनुकूल चलना गीताके बारेमें कह चुके, तो एक प्रकारसे उसका अर्थ तो मालूम भी हो गया। फिर भी गीताके वचनोंको उद्धृत करके ही यह बात कहनेमें मजा भी आयगा

और लोग मान भी सकेंगे। अद्वैतवादका अभिप्राय क्या है, वह भी तो कुछ न कुछ कहना ही होगा। क्योंकि सभी लोग आम तौरसे क्या जानने गये कि यह क्या बला है ?

हमने पहले यह कहा है कि गौतम और कणाद तथा अर्वाचीन दार्शनिक डाल्टनके परमाणुवाद और तन्मूलक आरंभवादकी जगह सांख्य, योग एवं वेदान्त तथा अर्वाचीन दार्शनिक डारविनकी तरह गीता भी गुणवाद तथा तन्मूलक परिणामवाद या विकासवादको ही मानती है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि क्या वेदान्त और सांख्यका परिणामवाद एक ही है ? या दोनोंमें कुछ अन्तर है ? कहनेका आशय यह है कि जब दोनोंके मौलिक सिद्धान्त दो हैं। तो सृष्टिके सम्बन्धमें भी दोनोंमे कुछ तो अन्तर होगा ही। और जब वेदान्तका मन्तव्य अद्वैतवाद है तब वह परिणामवादको पूरा-पूरा कैसे मान सकता है ? क्योंकि ऐसा होनेपर तो गुणोंको मानके अनेक पदार्थ स्वीकार करने ही होंगे। फिर एक ही चेतन पदार्थ-आत्मा या ब्रह्म—को स्वीकार करने का वेदान्त का सिद्धान्त कैसे रह सकेगा ? यदि सभी गुणोको और उनसे होनेवाले पदार्थोको प्रकृतिसे जुदा न भी मानें—क्योंकि सभी तो प्रकृतिके ही प्रसार या परिणाम ही माने जाते हैं—और इस प्रकार जड पदार्थोकी एकता या अद्वैत (Monism) मान भी लें, जिसे जडाद्वैत (Material monism) कहते हैं; साथ ही आत्मा एवं ब्रह्मकी एकताके द्वारा चेतनाद्वैत (Spiritual monism) भी मान ले, तो भी जड और चेतन ये दो तो रही जाएँगे। फिर तो द्वित्व या द्वैत—दो—होनेमे द्वैतवाद ही होगा, न कि अद्वैतवाद। वह तो तभी होगा जब द्वित्व—दो चीज—न हो। अद्वैतका तो अर्थ ही है द्वैत या दोका न होना।

असलमें वेदान्तका अद्वैतवाद परिणाम और विवर्त्तवादको मानता है। अद्वैतवादको विकासवाद या परिणामवादसे विरोध नही है, यदि उसको जडमे विवर्त्तवाद हो। इसका मतलब यह है कि अद्वैतवादी मानते है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म या परमात्मा, जिसे ही आत्मा भी कहते है, मे आरोपित है, कल्पित है; यह कोई वास्तविक वस्तु है नही। इसकी कल्पना, इसका आरोप ब्रह्ममें उसी तरह किया गया है जैसे रस्सीमे साँपकी कल्पना अँधेरेमे हो जाती है। या यों कहिये कि नीदकी दशामे मनुष्य अपना ही सर कटता देखता है, या कलकत्ता, दिल्ली आदिकी सफर करता है। यह आरोप ही तो है, कल्पना ही तो है। इसीको अध्यास भी कहते है। किसी पदार्थमें एक दूसरे पदार्थकी झूठी कल्पना करनेको ही अध्यास कहते है। रस्सीमे साँप तो है नहीं। मगर उसीकी कल्पना अँधेरेमे करते और डरके भागते है। सोनेके समय अपना सर तो कटता नहीं।

फिर भी कटता नजर आता है। बिस्तरपर घरमें पडे है। फिर कलकत्ता या दिल्ली कैसे चले गये ? मगर साफ ही मालूम होता है कि वहाँ गये हैं। भर पेट खाके पलंगपर सोये है। मगर सपना देखते है कि भूखों दर-दर मारे फिरते है ! सुन्दर वस्त्र पहने सोये है। मगर नंगे या चिथडे लपेटे जानें कहाँ-कहाँ भटकते मालूम होते है ! यही अध्यास है। इसीको आरोप, कल्पना आदि नाम देते है। इसे भ्रम या भ्रान्ति भी कहते है। मिथ्या ज्ञान और मिथ्या कल्पना भी इसको ही कहा है। अद्वैतवादी कहते है कि ब्रह्ममे इस समूचे संसारका—स्वर्ग-नर्कादि सभीके साथ—अध्यास है, आरोप है। जैसे सपनेमे सर कटना, भूखों चिथडे लपेटे मारे फिरना आदि सभी बाते मिथ्या है, झूठी है; ठीक वैसे ही यह समूचे संसार-का नजारा झूठा ही ब्रह्ममे दीख रहा है। इसमे तथ्यका लेश भी नही है। यह सरासर झूठा है, असत्य है। केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है। ब्रह्म और आत्मा तो एक हीके दो नाम है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः।"

स्वप्न और मिथ्यात्ववाद

जो लोग इन बातोमे अच्छी तरह प्रवेश नही कर पाते वह चटपट कह बैठते है कि सपनेकी बात तो साफ ही झूठी है। उसमे तो शककी गुंजाइश है नहीं। उसे तो कोई भी सच कहनेको तैयार नही है। मगर संसारको तो सभी सत्य कहते हैं। सभी यहाँकी बातोको सच्ची मानते है। एक भी इन्हे मिथ्या कहनेको तैयार नही। इसके सिवाय सपनेका संसार केवल दाई-चार मिनट या घंटे-आध घंटेकी ही चीज है, उतनी ही देरको खेल है—यह तो निर्विवाद है। सपनेका समय होता ही आखिर कितना लम्बा ? मगर हमारा यह संसार तो लम्बी मुद्दतवाला है, हजारो लाखों वर्ष कायम रहता है। यहाँतक कि सृष्टि और प्रलयके सिलसिले-मे वेदान्ती भी ऐसा ही कहते है कि प्रलय बहुत दिनो बाद होती है और लम्बी मुद्दतके बाद ही पुनरपि सृष्टिका कारबार शुरू होता है। गीता (८।१७-१९) के वचनोसे भी यही बात सिद्ध होती है। फिर सपनेके साथ इसकी तुलना कैसी ? यह तो वही हुआ कि "कहाँ राजा भोज, और कहाँ भोजवा तेली !"

मगर ऐसे लोग जरा भूलते हैं। सपनेकी बाते झूठी है, झूठी मानी जाती हैं सही। मगर कब ? सपनेके ही समय या जगनेपर ? जरा सोचें और उत्तर तो दें ? हम अपने संसारको थोडी देरके लिए भूलके सपनेमें जा बैठें और देखें कि क्या सपनेके भी समय वहाँकी देखी-सुनी चीजें झूठी मानी जाती है। विचारनेपर साफ उत्तर मिलेगा कि नही। उस समय तो वह एकदम सच्ची और पक्की लगती

हैं। उनकी झुठाईका तो वहाँ खयाल भी नहीं होता। इस बातका सवाल उठना तो दूर रहे। हाँ, जगनेपर वे जरूर मिथ्या प्रतीत होती हैं। ठीक उसी प्रकार इस जागृत संसारकी भी चीजें अभी तो जरूर सत्य प्रतीत होती हैं। इसमें तो कोई शक है नहीं। मगर सपनेमें भी क्या ये सच्ची ही लगती हैं? क्या सपनेमें ये सच्ची होती हैं, बनी रहती हैं? यदि कोई हाँ कहे, तो उससे पूछा जाय कि भरपेट खाके सोनेपर सपनेमें भूखे दर-दर मारे क्यों फिरते हैं? पेट तो भरा ही है और वह यदि सच्चा है, तो सपनेमें भूखे होनेकी क्या बात? तो क्या भूखे होनेमें कोई भी शक उस समय रहता है? इसी प्रकार कपड़े पहने सोये हैं। महल या मकानमें ही बिस्तर है भी। ऐसी दशामें सपनेमें नंगे या चिथड़े लपेटे दर-दर खाक छाननेकी बात क्यों मालूम होती है? क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि जैसे सपनेकी चीजें जागनेपर नहीं रह जाती है, ठीक उसी तरह जागृत-की चीजें भी सपनेमें नहीं रह जाती हैं? जैसे सपनेकी अपेक्षा यह संसार जागृत है, वैसे ही इसकी अपेक्षा सपनेका ही संसार जागृत है और यही सपनेका है। दोनोंमें जरा भी फर्क नहीं है।

सपनेकी बात थोड़ी देर रहती है और यहाँकी हजारों साल, यह बात भी वैसी ही है। यहाँ भी वैसा ही सवाल उठता है कि क्या सपनेमे भी वहाँकी चीजें थोड़ी ही देरकी मालूम पड़ती है? या वहाँ भी सालों और युग गुजरते मालूम पड़ते है? सपनेमें किसे खयाल होता है कि यह दस ही पाँच मिनटका तमाशा है? वहाँ तो जानें कहाँ-कहाँ जाते, हफ्तों, महीनों, सालों गुजारने, सारा इन्तजाम करते दीखते हैं, ठीक जैसे यहाँ कर रहे हैं। हाँ, जगनेपर वह चन्द मिनटकी चीज जरूर मालूम होती है। तो सोनेपर इस संसारका भी तो यही हाल होता है। इसका भी कहाँ पता रहता है? अगर ऐसा ही विचार करनेका मौका वहाँ भी आये तो ठीक ऐसी ही दलीलें देते मालूम होते है कि वह तो चन्द ही मिनटोंका तमाशा है! उस समय यह जागृतवाला संसार ही चन्द मिनटोंकी चीज नजर आती है और सपनेकी ही दुनिया स्थायी प्रतीत होती है! इसलिये यह भी तर्क बेमानी है। इसलिये भुसुंडीने अपने सपने या भ्रमके बारेमें कहा था कि "उभय घरी महँ कौतुक देखा।" हालाँकि तुलसीदासने उनका ही बयान दिया है कि उस समय मालूम होता था कि कितने युग गुजर गये। गौड़पादाचार्यने माण्डूक्य उपनिषदकी कारिकाओंमें दोनोंकी हर तरहसे समानता तर्क-दलीलसे सिद्ध की है और बहुत ही सुन्दर विवेचनके बाद उपसंहार कर दिया है कि "मनीषी लोग स्वप्न और जागृतको एकसा ही मानते है। क्योंकि दोनोंकी हरेक

बातें बराबर हैं और यह बिलकुल ही साफ बात है"—"स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः। भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।"

अनिर्वचनीयतावाद

संसारके सम्बन्धके इस मन्तव्यको मिथ्यात्ववाद और अनिर्वचनीयतावाद भी कहते हैं। अनिर्वचनीयताका अर्थ है कि इन चीजोंका निर्वचन या निरूपण होना असंभव है। इनकी सत्यता तो सिद्ध होई नहीं सकती। यदि इनको अत्यन्त निर्मूल मानें और कहे कि ये अत्यन्त असत्य है, जैसे आदमीकी सींग न कभी हुई, न है और न होगी, तो यह भी ठीक नही। क्योंकि सींग तो कभी दीखती नहीं। मगर ये तो प्रत्यक्ष ही दीखते है। इसलिये मनुष्यकी सीग जैसे तो नहीं ही है। यदि इन्हें सत्य और असत्यका मिश्रण मानें, तो यह और भी बुरा है। क्योंकि परस्पर विरोधी चीजोंका मिश्रण असंभव है। फलतः मानना ही पडना है कि इनके बारेमें कुछ भी कहा नहीं जा सकता है—ये अनिर्वचनीय हैं। मगर यह सही है कि ये मिथ्या है। मिथ्याका मतलब ही यही है कि मालूम तो हो कि कुछ है; मगर ढूंढ़नेपर इसका पता ही न लगे। यह विचार कुछ नया और निराला प्रतीत होता है सही। मगर रेखागणितमें जो विन्दुका लक्षण बताया गया है कि उसमें लम्बाई-चौड़ाई कुछ भी होती नहीं, या रेखाके बारेमें जो कहा गया है कि उसमें केवल लम्बाई होती है, चौडाई नहीं, क्या यह अक्लमें आनेकी चीज है? जिसमें लम्बाई-चौडाई कुछ भी न हो या जा सिर्फ लम्बाई रखता हो ऐसा पदार्थ दिमागमें कैसे घुसेगा? फिर भी उसे मानते ही है।

यह ठीक है कि काम चलानेके लिये—केवल वादविवाद और विचारके लिये—वेदान्तने तीन प्रकारके पदार्थ माने है। एक तो सदा रहनेवाला, वस्तु-तत्त्व या परमार्थ पदार्थ, जिसे ब्रह्म कहिये या आत्मा कहिये। इसीलिये ब्रह्म या आत्माकी हस्ती, उसके अस्तित्व या उसकी सत्ताको परमार्थ सत्ता भी कहते है। दूसरे हैं सपने या भ्रमके पदार्थ, जैसे रस्सीमें साँप, सीपमें चाँदी या सपनेका सर कटना। ये जबतक प्रतीत होते हैं तभीतक रहते हैं। प्रतीति या ज्ञानको ही प्रतिभास भी कहते है। इसीलिये ये पदार्थ प्रातिभासिक है और इनकी सत्ता है प्रातिभासिक सत्ता। तीसरे है हमारे इस जागृत संसारके पृथिवी आदि पदार्थ, जिनसे हमारा व्यवहार चलता है, काम निकलता है। सपनेके साँपका जहर तो नही चढ़ता। मगर इस साँपका चढ़ता है। यही है व्यवहार या काम-काजका चलना। ये चीजें काम चलाऊ है, व्यावहारिक है। इसलिये इनकी सत्ताको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। इस तरह तीन प्रकारके पदार्थ और उनकी तीन सत्तायें हो जाती है।

प्रातिभासिक सत्ता

मगर दर हकीकत व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थ दो नहीं है। दोनों ही बराबर ही है। यह तो हम सभी सिद्ध कर चुके है। दोनोंकी सत्तामें रत्तीभर भी अन्तर हैं नही। इसीलिये दोई पदार्थ—पारमार्थिक एवं प्रातिभासिक—माने जाने योग्य है और दोई सत्तायें भी। लेकिन हम लिखने-पढ़ने और वाद-विवादमें जागृत तथा स्वप्नको दो मानके उनकी चीजोंको भी दो ढंगकी मानते है। यों कहिये कि जागृतको सत्य मानके सपनेको मिथ्या मानते है। जागृतकी चीजें हमारे खयालमें सही और सपनेकी झूठी है। इसीलिये खामखा दोनोंकी दो सत्ता भी मान बैठते हैं। लेकिन वेदान्ती तो जागृतको सत्य मान सकता नही। इसीलिये लोगोंके सन्तोषके लिये उसने व्यावहारिक और प्रातिभासिक ये दो भेद कर दिये। इस प्रकार काम भी चलाया। विचार करने या लिखने-पढनेमे आसानी भी हो गई। आखिर अद्वैतवादी वेदान्ती भी जागृत और स्वप्नकी बात उठाके और स्वप्नेका दृष्टान्त देके लोगोंको समझायेगा कैसे, यदि दोनोंको दो तरहके मानके ही शुरू न करे ?

मायावाद

जो लोग ज्यादा समझदार है वह वेदान्तके उक्त जगत-मिथ्यात्वके सिद्धान्त-पर, जिसे अध्यासवाद और मायावाद भी कहते है, दूसरे प्रकारसे आक्षेप करते है। उनका कहना है कि यदि यह जगत् भ्रममूलक है और इसीलिये यदि इसे भगवानकी मायाका ही पसारा मानते है, क्योकि माया कहिये, भूल या भ्रम कहिये, बात तो एक ही है, तो वह माया रहती है कहाँ ? वह भ्रम होता है किसे ? जिस प्रकार हमे नीद आनेसे सपनेमें भ्रम होता है और उलटी बाते देख पाते है, उसी तरह यहाँ नीदकी जगह यह माया किसे भुलाके या भ्रममे डालके जगत्का दृश्य खडा करती है और किसके सामने ? वहाँ तो सोनेवाले हमी लोग है। मगर यहाँ ? यहाँ यह मायाकी नीद किसपर सवार है ? यहाँ कौन सपना देख रहा है ? आखिर सोनेवालेको ही तो सपने नजर आते है। निर्विकार ब्रह्म या आत्मामे ही मायाका मानना तो ऐसा ही है जैसा यह कहना कि समुद्रमे आग लगी है या सूर्य पूर्वमे पच्छिम निकलता है। यह तो उलटी बात है, असंभव चीज है। ब्रह्म या आत्मा और उसीमे माया ? निर्विकारमें विकार ? यदि ऐसा माने भी तो सवाल है कि ऐसा हुआ क्यों ?

उनका दूसरा सवाल यह है कि माना कि यह दृश्य जगत् मिथ्या है, कल्पित है। मगर इसकी बुनियाद तो कही होगी ही। तभी तो ब्रह्ममे या आत्मामे यह

नजर आता है, आरोपित है, अध्यस्त है, ऐसा माना जायगा। जब कहीं असली साँप पड़ा है तभी तो रस्सीमें उसका आरोप होता है, कल्पना होती है। जब हमारा सर सही साबित है तभी तो सपनेमें कटता नजर आता है। जब कोई भूखा-नंगा दर-दर सचमुच घूमता रहता है तभी तो हम अपने आपको सपनेमें वैसा देखते है। ऐसा तो कभी नहीं होता कि जो वस्तु कहीं होई न, उसीकी कल्पना की जाय, उसीका आरोप किया जाय। कल्पित वस्तुकी भी कहीं तो वस्तु सत्ता होती ही है। नहीं तो कल्पना या भ्रम होई नहीं सकता। इसलिये इस संसारको कल्पित या मिथ्या मान लेनेपर भी कहीं न कहीं इसे वस्तुगत्या मानना ही होगा, कहीं न कहीं इसकी वस्तुस्थिति स्वीकार करनी ही होगी। ऐसी दशामें मायावाद बेकार हो जाता है। क्योंकि आखिर सच्चा संसार भी तो मानना ही पड़ जाता है। फिर अध्यासवादकी क्या जरूरत है?

लेकिन यदि हम इनकी तहमें घुसें तो ये दोनों शंकायें भी कुछ ज्यादा कीमत नहीं रखती है, ऐसा मालूम हो जाता है। यह ठीक है कि यह नींद, यह माया निर्विकार आत्मा या ब्रह्ममें ही है और उसीके चलते यह सारी खुराफात है। दृश्य जगत्का सपना वही निर्लेप ब्रह्म ही तो देखता है। खूबी तो यह है कि यह सब कुछ देखनेपर भी, यह खुराफात होनेपर भी वह निर्लेपका निर्लेप ही है। मरुस्थलमें सूर्यकी किरणोंमें पानीका भ्रम या कल्पना हो जानेपरभी जैसे मरुभूमि उससे भीग नहीं जाती, या साँपकी कल्पना होनेपर भी रस्सीमें जहर नहीं आ जाता, ठीक यही बात यहाँ है। सपनेमें सर कटनेपर भी गर्दन तो हमारी ज्योंकी त्यों ही रहती है—वह निर्विकार ही रहती है। यही तो मायाकी महिमा है। इसीलिए तो गीताने उसे "दैवी" (७।१४) कहा है। इसका तो मतलब ही कि इसमे निराली करामातें हैं। यह ऐसा काम करती है कि अचम्भा होता है। ब्रह्म या आत्मामें ही सारे जगत्की रचना यह कर डालती है जरूर। मगर आत्माका दरअसल कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

हाँ, यह सवाल हो सकता है कि आखिर उसमें यह माया पिशाची लगी कब और कैसे? हमें नींद आने या भ्रम होनेकी तो हजार वजहें हैं। हमारा ज्ञान संकुचित है, हम भूलें करते हैं, चीजोंसे लिपटते हैं, खराबियाँ रखते है। मगर वह तो ऐसा है नहीं। वह तो ज्ञानरूप ही माना जाता है, सो भी अखंड ज्ञानरूप, जो कभी जरा भी इधर-उधर न हो। वह निर्लेप और निर्विकार है। वह भूलें तो इसीलिये कर सकता ही नहीं। फिर उसीमें यह छछुन्दर माया? यह अनहोनी

कैसे हुई ? यह बात तो दिमागमें आती नहीं कि वह क्यों हुई, कैसे हुई, कब हुई ? कोई वजह तो इसकी नजर आती ही नहीं ।

अनादिताका सिद्धांत

यही कारण है कि ब्रह्ममे मायाका सम्बन्ध अनादि मानते है । इस सम्बन्धका ऐसा श्रीगणेश यदि कभी माना जाय तो यह सवाल हो सकता है कि ऐसा क्यो हुआ ? मगर इसका श्रीगणेश, इसकी इब्तदा, इसका आरंभ (beginning) तो मानते ही नही । इसे तो अनादि कहते है । अनादिका तो मतलब ही है कि जिसकी आदि जिसका श्रीगणेश हुआ न हो । फिर तो सारी शंकाओकी बुनियाद ही चली गई । ससारमे अनादि चीजे तो हई । यह कोई नई या निराली कल्पना केवल मायाके ही बारेमे तो है नही । यदि किसीसे पूछा जाय कि आमका वृक्ष पहले-पहल हुआ या उसकी गुठली हुई ? पहले वृक्ष हुआ या बीज ? तो क्या उत्तर मिलेगा ? दोमे एक भी नही कहके यही कहना पडेगा कि बीज और वृक्षकी परम्परा अनादि है । अक्लमे तो यह बात आती नही कि पहले बीज कहे या वृक्ष क्योकि वृक्ष कहनेपर फौरन सवाल होगा कि वह तो बीजसे ही होता है । इसलिये उससे पहले बीज जरूर रहा होगा । और अगर पहले बीज ही माने, तो फौरन ही वृक्षकी बात आ जायगी । क्योकि बीज तो वृक्षसे ही होता है । कब, क्या हुआ यह देखनेवाले हम तो थे नही । हमे तो अभी जो चीजे है उन्हीको देखके इनके पहले क्या था यही ढूंढना है और यही बात हम करते भी है । मगर ऐसा करनेमे कही ठिकाना नही लगता और पीछे बढते ही चले जाते है । यही तो है अनादिताकी बात । इसी प्रकार जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धमे मायाकी कल्पना करनेमे भी हमे अनादिताकी शरण लेनी ही पडती है । हमारे लिये कोई चारा है नही । दूसरी चीज मानने या दूसरा रास्ता पकडनेमे हम आफतमे पड जायेंगे और निकल न सकेंगे । हमे तो वर्त्तमानको देखके पीछेकी बात सोचनी है, उनकी कल्पना करना है, जिससे वर्त्तमान काम चल सके, निभ सके । कोई चाहे मान सकते नही । यही तो हमारी परीशानी है, यही तो हमारी सीमा (limitation) है । किया क्या जाय ? इसीलिये मीमासादर्शनके श्लोकवार्त्तिकमे कुमारिलको कहना पडा कि हम तो सिर्फ इतना ही कर सकते है कि दुनियाकी वर्त्तमान व्यवस्थाके बारेमे यदि कोई शक-शुभा हो तो तर्क-दलीलसे उसे दूर करके अडचन हटा दे । हम ऐसा तो हर्गिज कर नही सकते कि बेसर-पैरकी बाते मानके वर्त्तमान व्यवस्थाके प्रतिकूल जायें—"सिद्धानुगममात्र हि कर्त्तु युक्तं परीक्षकैः । न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्त्तनम्" (१।१।४।१२३) ।

निर्विकारमें विकार

इसीलिये निर्विकारमे विकार या मायाका सम्बन्ध साफ ही है। इसमें झमेले-की तो गुंजाइश हुई नही। सारा संसार जब उसीमे है तो फिर मायाका क्या कहना ? हमे तो यही जानना है कि वह निर्लेप है या नही। विचारसे तो सिद्ध भी हो जाता है कि वह सचमुच निर्लेप है। नहीं तो भरपेट खाके सोने-पर भूखा क्यों नजर आना ? खाना तो पेटमे मौजूद ही है न ? इसका तो एक ही उत्तर है कि पेटमे खाना भले ही हो, मगर आत्मा तो उससे निर्लेप है। वह उससे चिपके, उसे अपना माने तब न ? जगनेपर ऐसा मालूम पडता था कि अपना मानती है। मगर सोनेपर साफ पता लग गया कि वह तो निराली है, मौजी है। उसे इन खुराफातोसे क्या काम ? वह तो लीला करती है, नाटक करती है। इसलिये जब चाहा छोडके अलग हो गई और निर्लेप का निर्लेप है। सपनेमे भी एकको छोडके दूसरेपर और फिर तीसरेपर जाती है और अन्तमे सबको खत्म करती है। वहाँ कुछ नहीं होनेपर भी सब कुछ बनाके बच्चोंके घरौदेकी तरह फिर चौपट कर देती है। असंग जो ठहरी। उसे न किसी मददकी जरूरत है और न सूर्य-चाँद या चिरागकी ही। वह तो खुद सब कुछ कर लेता है। वह तो स्वयं प्रकाश रूप ही है। बृहदारण्यक उपनिषदके चोथे अध्यायके तीसरे ब्राह्मणमे यह वर्णन इतना सरस है कि कुछ कहा नही जाता। वह पढने ही लायक है। वहाँ कहते है कि—

"स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतोमात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ।९। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्योभवन्त्यथवेंशान्तान् पुष्करिणोः स्रवन्तीः सृजते सहि कर्त्ता ।१०। स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या-द्रवति स्वप्नायैव सय त्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोह्ययं पुरुषः (१५)।"

अब केवल दूसरी शंका रह जाती है कि जबतक कही असल चीज न हो तबतक दूसरी जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो नही सकती। इसीलिये कहीं न कही संसारको भी सत्य मानना ही होगा। इसका तो उत्तर आसान है। दूसरी जगह उस चीजका ज्ञान होना जरूरी है। तभी और जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो सकती है। बस, इतनेसे ही काम चल जाता है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ है वहाँ वह चीज सच्ची है या मिथ्या, इसकी तो कोई जरूरत है नहीं। कल्पनाकी जगह वह चीज प्रतीत होती है, यही देखते है। न कि उसकी सारी

बातें प्रतीत होती हैं, या उसकी सत्यता और मिथ्यापन भी प्रतीत होता है। यदि किसीने बनावटी, इन्द्रजालका या इसी तरहका साँप, फल या फूल देख लिया; उससे पहले उसे इन चीजोंकी कहीं भी जानकारी न रही हो; उसीके साथ यह भी मालूम हो जाय कि यह चीजें मिथ्या हैं, सच्ची नहीं; तो क्या कहीं उनका भ्रम होनेपर यह भी बात भ्रमके साथ ही मालूम हो जायगी कि ये मिथ्या हैं, बनावटी हैं? यदि ऐसा ज्ञान हो जाय तो फिर भ्रम कैसा? ऐसी जानकारी तो भ्रम हटनेपर ही होती है। यह तो कही नहीं सकते कि झूठी चीजें ही जिनने देखी हैं, न कि सच्चो भी, उन्हें भ्रम होई नहीं सकता। भ्रम होता है अपनी सामग्रीके करते और यदि वह सामग्री जुट जाये तो सच्ची-झूठी चीजके करते वह रुक नहीं सकता। इसलिये जिस चीजका भ्रम हो उसका अन्यत्र सत्य होना जरूरी नहीं है; किन्तु उसकी जानकारी ही असल चीज है। जानकारीके बिना सत्य वस्तुका भी कहीं भ्रम नही होता है। जानें ही नहीं, तो दूसरी जगह उसकी कल्पना कैसे होगी? इसी प्रकार इस संसारका भी कहीं अन्यत्र सत्य होना जरूरी नहीं है। किन्तु किसी एक स्थानपर भ्रमसे ही यह बना है। उसीकी कल्पना दूसरी जगह और इसी तरह आगे भी होती रहती है। एक बार जिसकी कल्पना आत्मामें हो गई उसीकी बार-बार होती रहती है। यह कल्पित ही संसार अनादि-कालसे चला आ रहा है।

मगर हमे इन दार्शनिक विवादोंमें न पड़के केवल अद्वैतवादका सिद्धान्त मोटामोटी बता देना है और यह काम हमने कर दिया। यहींपर यह भी जान लेना होगा कि जहाँ एक बार इस दृश्य जगहका अध्यास या आरोप आत्मा या ब्रह्ममे हो गया कि विवर्त्तवादका काम हो गया। चेतन ब्रह्ममें इस जड़ जगत्के आरोपको ही विवर्त्तवाद कहते हैं। जहाँतक इस दृश्यजगत्का ब्रह्मसे ताल्लुक है वहींतक विवर्त्तवाद है। मगर इस जगत्की चीजोंके बनने-बिगड़नेका जो विस्तार या ब्योरा है वह तो गुणवादके आधारपर विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार ही होता है। विवर्त्तवादने इन्हे मिथ्या सिद्ध कर दिया। अब परिणाम या विकास-वादसे कोई हानि नहीं। क्योंकि इसमे इन पदार्थोंकी सत्यता तो हो सकती नहीं। विवर्त्तवादने इनकी जड़ ही खत्म जो करदी है। उसके न माननेपर ही यह खतरा था, द्वैतवाद आ जानेकी गुंजाइश थी। बस, इतनेके ही लिये विवर्त्तवाद आ गया और काम हो गया।

गीता, न्याय और परमाणुवाद

आश्चर्यकी बात कहिये या कुछ भी मानिये; मगर यह सही है कि गीतामें गौतम और कणादका परमाणुवाद पाया नहीं जाता। इसकी कहीं चर्चा तक नहीं

है और न गौतम या कणादकी ही। विपरीत इसके गुणकीर्त्तन और गुणवाद तो भरा पड़ा है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इतना ही नहीं। जिन योग, सांख्य या वेदान्तदर्शनोंने इसे मान्य किया है उनका भी उल्लेख है और उनके आचार्योंका भी। यह ठीक है कि योगदर्शनके प्रवर्त्तक पतंजलिका जिक्र नहीं है। मगर योगकी विस्तृत चर्चा पाँच, छे, आठ और अठारह अध्यायोंमें खूब आई है। यों तो प्रकारान्तरसे यह बात और अध्यायोंमें भी मनके निरोध या आत्मसंयमके नामसे बार-बार आई ही है। पंतजलिने इसी बातको "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" (१।२) तथा "अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोधः" (२।१२) आदि सूत्रोंमें साफ ही कहा है। गीताके छठें अध्यायमें, मालूम होता है, यह दूसरा सूत्र ही जैसे उद्धृत कर दिया गया हो "अभ्यासेन तु कौन्तेय,वैराग्येण च गृह्यते" (६।३५)। चौथे अध्यायके "आत्मसंयमयोगाग्नौ" (४।२७) में तो साफ ही मनके संयमको ही योग कहा है। और स्थानोंमे भी यही बात है। पाँचवेंके २७, २८ श्लोकोंमें, छठेके १०-२६ श्लोकोंमें तथा आठवेंके १२, १३ श्लोकोंमें तो साफ ही योगके प्राणायामकी बात लिखी गई है। अठारहवेंके ५१-५३ श्लोकोंमें भी जिस ध्यान-योगकी बात आई है, उसीका उल्लेख पतंजलिने "यथाभिमतध्यानाद्वा" (१।३५), "यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यानधारणासमाधयोऽष्टावंगानि" (२।२९) तथा "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (३।२) सूत्रोंमे किया है।

वेदान्त, सांख्य और गीता

सांख्य और वेदान्तका तथा उनके प्रवर्त्तक आचार्योंका भी तो नाम आया ही है। सांख्यके प्रवर्त्तक कपिलका उल्लेख "कपिलोमुनिः" (१०।२६) मे तथा वेदान्तके आचार्य व्यासका "मुनीनामप्यहं व्यासः" (१०।३७) में आया है। पहले कपिलका और पीछे व्यासका। इन दर्शनोंका क्रम भी यही माना जाता है। इसी प्रकार "वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" (१५।१५) मे वेदान्तका और "सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि" (१८।१३) तथा "प्रोच्यते गुणसंख्याने" (१८।१९) में सांख्यदर्शनका उल्लेख है। कृतान्त और सिद्धान्त शब्दोंका एक ही अर्थ है। इसलिये 'सांख्ये कृतान्ते'का अर्थ है 'सांख्यसिद्धान्तमे।' सांख्यवादी भी तो आत्माको अकर्त्ता, केवल तथा निर्विकार मानते है और यही बात यहाँ लिखी गई है। इसी प्रकार गुणसंख्यान शब्दका अर्थ है गुणोंका वर्णन जहाँ पाया जाय। सांख्य शब्दका भी तो अर्थ है गिनना, वर्णन करना। सांख्यने तो गुणोंका ही ब्योरा ज्यादातर बताया है। इसीलिये उसे गुणसंख्यानशास्त्र भी कह दिया है। शेष सांख्य और योग शब्द ज्ञान आदिके ही अर्थमें गीतामें आये है।

गीतामें मायावाद

यह ठीक है कि मायावादकी साफ चर्चा गीतामें नहीं आती। मगर मायाका और उसके भ्रममे डालने आदि कामोंको बार-बार जिक्र उसमें आया ही है। "संभवाम्यात्ममायया" (४।६), "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (७।१४), "माययापहृतज्ञाना" (७।१५), "योगमाया समावृतः" (७।२५), "यंत्रारूढानि मायया" (१८।६१) में जिस प्रकार मायाका उल्लेख है, जैसा चौदहवेंमे प्रकृतिका वर्णन आया है, "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः" (९।१०) में जिस तरह प्रकृतिका नाम लिया है, तेरहवें अध्यायके "भूतप्रकृतिमोक्षं च" (१३।३४) आदि श्लोकोंमें बार-बार प्रकृतिका उल्लेख जिस प्रसंगमें आया है तथा "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" (१३।५) में जो अव्यक्त शब्द है ये सभी मायाके ही अर्थमें आके वेदान्तके मायावादके ही समर्थक है। तेरहवेंके शुरूमें जो क्षेत्रज्ञका बार-बार जिक्र आया है और "एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" (१३।६) में क्षेत्रका उसके घासपात—विकार—के साथ जो वर्णन आलंकारिक ढंगसे किया गया है वह भी इसी बातका समर्थक है। क्षेत्र तो खेतको कहते है और जैसे खेतिहर खेतके घासपातको साफ करके ही सफल खेती कर सकता है, ठीक उसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ—आत्मा—रूपी खेतिहर भी रागद्वेष आदि घासपातों को निर्मूल करके ही अपने कल्याणका उत्पादन इस खेत—शरीर—में कर सकता है, यही बात वहाँ कही गई है। मगर वहाँ समष्टि शरीर या मायाको ही क्षेत्र कहनेका तात्पर्य है। व्यष्टि शरीर तो उसके भीतर आई जाते है। शुरूमें जो महाभूत, अहंकार आदिका उल्लेख है वह इसी बातका सूचक है।

ब्रह्मज्ञान और लोकसंग्रह

जहाँतक गीताका ताल्लुक इस मिथ्यात्वके सिद्धान्तसे और तन्मूलक अद्वैतवादसे है उसे बतानेके पहले यह जान लेना जरूरी है कि संसारको मिथ्या माननेके बाद अद्वैतवाद एवं अद्वैततत्त्वके ज्ञानका व्यवहारमें कैसा रूप होता है। क्योंकि गीता तो केवल एकान्तमें बैठके समाधि लगानेवालोंके लिये है नहीं। वह तो व्यावहारिक ससारका पारमार्थिक दुनियाके साथ मेल स्थापित करती है। उसकी नजरमें तो अद्वैतब्रह्मके ज्ञानके बाद संसारके व्यवहारोंमें खामखा रोक होती नहीं। यह ठीक है कि कुछ लोगोंकी मनोवृत्ति बहुत ऊँचे चढ जानेसे वे संसारके व्यवहारमे अलग हो जाते है। मगर ऐसे लोग होते हैं कम ही। ज्यादा तो ऐसे ही होते है जो लोकसंग्रहका काम करते रहते ही हैं। गीताकी इसी दृष्टिका मेल अद्वैतवादसे होता है। इसीलिये पहले उस अद्वैतवादका इस दृष्टिसे जरा विचार कर लेना जरूरी है।

असलमें ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और आत्मा ब्रह्मरूप ही है, उससे पृथक् नहीं है, इस दृष्टिके, इस विचारके दो रूप हो सकते हैं। या यों कहिये कि इस विचारको दो प्रकारसे प्रकाशित किया जा सकता है। रस्सीमें साँपका भ्रम होनेके बाद जब चिराग आने या नजदीक जानेपर वह दूर हो जाता तथा साँप मिथ्या मालूम पड़ता है, तो इस बातको प्रकाशित करते हुए या तो कहते है कि यह तो रस्सी ही है, या साँप-वाँप कुछ भी नहीं है। यदि दोनोंको मिलाके भी बोलें तो यही कहेंगे कि वह तो रस्सी ही है और कुछ नहीं, या रस्सीके अलावे साँप-वाँप कुछ नही है। इन दोनों कथनोंमें और कुछ बात नहीं है, सिवाय इसके कि पहले कथनमे विधिपक्ष (Positive side) पर विशेष जोर है, वही मुख्य चीज है। उसमे निषेधपक्ष (Negative side) अर्थ-सिद्ध है। उसपर जोर नहीं है। यदि वह बात बोलते भी हैं तो विधिपक्षकी मजबूतीके ही लिये। विपरीत इसके दूसरे कथनमे निषेध पक्षपर ही जोर है, वही प्रधान बात है। यहाँ विधिपक्षपर जोर न देके उसे निषेधकी दृढताके ही लिये कहते है।

ठीक इसी तरह संसारके बारेमें भी अद्वैत पक्षको लेके कह सकते है कि यह तो ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, या ब्रह्मके अलावे यह जगत् कुछ चीज नहीं है। यहाँ भी पहले कथनमें ब्रह्मकी ही प्रधानता और उसकी जगद्रूपता ही विवक्षित है—उसीपर जोर है। जगत्का निषेध तो अर्थ-सिद्ध हो जाता है जो उसी ब्रह्मरूपताको दृढ करता है। दूसरे कथनमें जगत्का निषेध ही असल चीज है। विधिपक्ष उसीको पुष्ट करता है। इसी तरह आत्मा ब्रह्म रूप ही है, उससे जुदा नही है ऐसा कहनेमे भी विधि और निषेधपक्ष आ जाते है। ब्रह्मरूप कहना विधिपक्ष है और आत्मासे अलग ब्रह्म नहीं है यह निषेधपक्ष। बात तो वही है। मगर कहने और जोर देनेमें फर्क है और गीताके लिये वह बड़े ही कामकी चीज है। गीता इस फर्कपर पूर्ण दृष्टि रखके चलती है। दरअसल यदि पूछा जाय तो गीताने निषेधपक्षको एक प्रकारसे भुला दिया है। उसने उसपर जोर न देके विधिपक्षपर ही जोर दिया है और इसकी वजह है।

असीम प्रेम का मार्ग

कर्मका मार्ग तो निषेधका रास्ता है नहीं। वह तो विधिका ही मार्ग है और गीताकर्मसे ही शुरू करके अकर्म या कर्मत्यागपर—संन्यासपर—पहुँचती है। उसके संन्यासकी परख, उसकी जाँच कर्मसे ही होती है। गीतामें कर्म शुरू करके ही संन्यासको आगे हासिल करते और उसे पक्का बनाते हैं। ऐसी हालतमें निषेधपक्ष उसके किस कामका है? सो भी पहले हो? वह तो अन्तमें खुदबखुद

आई जाता है यदि उसका अवसर आये। वह खामखा आये ही यह हठ भी तो गीतामें नहीं है। जब ब्रह्मको अपनी आत्माका ही रूप मानते हैं तो अपना होनेसे कितना अलौकिक प्रेम उसमें होता है ! दो रहनेसे तो फिर भी जुदाई रही गई यद्यपि वह उतनी दुःखद नहीं है। इसीलिए प्रेममें—उसके साक्षात् प्रकट करनेमें, प्रकट होनेमें—कमी तो रही जाती है, बाधा तो रही जाती है। दोके बीचमें वह बँट जाता जो है—कभी इधर तो कभी उधर। यदि एक ओर पूरा जाय तो दूसरी ओर खाली ! यदि इधर आये तो वह सूना ! दोनोंकी चिन्तामें कही जम पाता नहीं। किसी एकको छोड़ना भी असंभव है। यह बँटवारेकी पहेली बड़ी बीहड़ है, पेचीदा है। मगर है जरूर।

देशकोश, गाँव, परिवार, घर, स्त्री, पुत्र, शरीर, इन्द्रियाँ, आत्मा वगैरहको देखें तो पता चलता है कि जो चीज अपने आपसे जितनी ही दूर पड़ती है उसमें प्रेमकी कमी उतनी ही होती है। दूरतक पहुँचनेमें समय और दिक्कत तो होती है और ताँता भी तो रहना ही चाहिये। नहीं तो स्रोत ही टूट जाये, सूख जाय और अपने आपसे ही अलग हो जायें। इसीलिये ज्यों-ज्यों नजदीक आइये, दिक्कत कम होती जाती है और ताँता टूटने या स्रोत सूखनेका डर कम होता जाता है। मगर फिर भी रहता है कुछ न कुछ जरूर। इसीलिए जब ऐसा मौका आ जाय कि देश और गाँवमे एक हीको रख सकते है तो आमतौरसे देशको छोड़ देते हैं और गाँवको ही रख लेते हैं। प्रेमको कमी-बेशी का यही सबूत है। इसी तरह हटते-हटते पुत्र, शरीर और इन्द्रियोंतक चले जाते है। मगर आत्माकी मौज या आनन्दमें, उसके मजामें किरकिरी डालनेपर, या कमसे कम ऐसा मालूम होनेपर कि शरीर या इन्द्रियोंके करते आत्माका—अपना—मजा किरकिरा हो रहा है, आत्म-हत्या—शरीरका नाश—या इन्द्रियोंका नाशतक कर डालते है ! क्यों ? इसीलिये न, कि आत्मा तो अपनेसे आप ही है। अपनेसे अत्यन्त नजदीक है ? यही बात याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे वृहदारण्यकमें कही है और सभीके साथके प्रेमोंको परस्पर मुकाबिला करके अन्तमें आत्मामें होनेवाले प्रेमको सबसे बड़ा—सबसे बढ़के—यों ठहराया है—"नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति" (४।५।६)।

प्रेम और अद्वैतवाद

यदि ब्रह्म या परमात्मामें असली प्रेम करना है जो सोलह आना हो और निर्बाध हो, अखंड हो, एक रस हो, निरन्तर हो, अविच्छिन्न हो, तो आत्मा और ब्रह्मके बीचका भेद मिटाना ही होगा—उसे जरा भी न रहने देकर दोनोंको एक करना ही

होगा। यदि सच्ची भक्ति चाहते हैं तो दोनोंको—आशिक और माशूकको—एक करना ही होगा। यही असली भक्ति है और यही असली अद्वैतज्ञान भी है। इसीलिये गीताने भक्तोंके चार भेद गिनाते हुए अद्वैतज्ञानीको भी न सिर्फ भक्त कहा है, किन्तु भगवानकी अपनी आत्मा ही कह दिया है—अपना रूप ही कह दिया है,—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७।१८)। जरा सुनिये, गीता क्या कहती है। क्योंकि पूरी बात न सुननेमें मजा नहीं आयेगा। गीताका कहना है कि, "चार प्रकारके सुकृती—पुण्यात्मा—लोग मुझमें—भगवानमें—मन लगाते, प्रेम करते हैं। वे हैं दुखिया या कष्टमें पड़े हुए, ज्ञानकी इच्छावाले, धनसम्पत्ति चाहनेवाले और ज्ञानी। इन चारोंमें ज्ञानी तो बराबर ही मुझीमें लगा रहता है। कारण, उसकी नजरोंमें तो दूसरा कोई हई नहीं। इसीलिए वह सबोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि वह मेरा अत्यन्त प्यारा है और मैं भी उसका वैसा ही हूँ। यों तो सभी अच्छे ही हैं; मगर ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है न? मुझसे बढ़के किसी और पदार्थको वह समझता ही नहीं। इसीलिये निरन्तर मुझीमें लगा हुआ मस्त रहता है"—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्" (७।१६-१८)।

ज्ञान और अनन्य भक्ति

इस प्रकार हमने देखा कि जिस भक्तिके नामपर बहुत चिल्लाहट और नाच-कूद मचाई जाती है और जिसे ज्ञानसे जुदा माना जाता है वह तो घटिया चीज है। असल भक्ति तो अद्वैत भावना, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान ही है। इसीलिये "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (९।२२) में यही कहा गया है कि 'भगवानको अपना स्वरूप—अपनी आत्मा—ही समझके जो उसमें लीन होते हैं, रम जाते हैं तथा बाहरी बातोंकी सुध-बुध नहीं रखते, उनकी रक्षा और शरीर यात्राका काम खुद भगवान करते हैं।" यहाँ अनन्य शब्दका अर्थ है भगवानको अपनेसे अलग नहीं माननेवाले। इसीलिये अगले श्लोक "येऽप्यन्य देवताभक्ताः" (९।२३) में अपनेसे भिन्न देवता या आराध्यदेवकी भक्तिका फल दूसरा ही कहा गया है। "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः" (८।१४) में भी यही बात कही गई है कि "जो भगवानको अपनी आत्मा ही समझके उसीमें प्रेम लगाता है उसे भगवान सुलभ हैं—कहीं अन्यत्र ढूंढ़े जानेकी चीज है नहीं।" यदि असल और सर्वोत्तम भक्ति ज्ञानरूप नहीं

होती, तो "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (१८।५५) श्लोकमे क्यों कहते कि "उस भक्तिसे ही मुझे बखूबी जान लेता है और उसके बाद ही मेरा रूप बन जाता है"। जानना तो ज्ञानसे होता है, न कि दूसरी चीजसे। इससे पूर्वके श्लोक 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" आदिमे उसे ब्रह्मरूप कहके समदर्शनका ही वर्णन किया है। समदर्शन तो ज्ञान ही है यह पहले ही कहा गया है। यहाँ उसी समदर्शनको भक्ति कहा है। इस सम्बन्धमे और बाते आगे लिखी है।

इससे इतना सिद्ध हो गया कि जब ब्रह्म हमी है ऐसा अनुभव करते है, तो प्रेमके प्रवाहके लिये पूरा स्थान मिलता है और उसका अबाध स्रोत उमड पडता है। क्योंकि वह प्रवाह जहाँ जाके स्थिर होगा वह वस्तु मालूम हो गई। मगर निषेधात्मक मनोवृत्ति होनेपर ब्रह्म हममे अलग या दूसरी चीज नही है, ऐसी भावना होगी। फलतः इसमे प्रेम-प्रवाहके लिये वह गुजाइश नही रह जाती है। मालूम होता है, जैसे मरुभूमिकी अपार बालुका-राशिमे सरस्वतीकी धारा विलुप्त हो जाती है और समुद्रतक पहुँच पाती नही, ठीक वैसे ही, इस निषेधात्मक बालुका-राशिमे प्रेमकी धारा लापता हो जाती और लक्ष्यको पा सकती है नही। यही कारण है कि विधि-भावना ही गीतामे मानी गई है। भक्तिकी महत्ता भी इसी माननेमे है।

सर्वत्र हमीं हम और लोकसंग्रह

अब जरा जगत्के बारेमे भी देखे। यहाँ भी यह जगत् तो ब्रह्म ही है ऐसा विधिरूप ज्ञान ही गीताको मान्य है। क्योंकि इसमे हमारे कर्मोके लिये, लोकसंग्रहके लिये पूरी गुंजाइश रहती है। निषेधमे यह बात नही रहती। मालूम पडता है कि निठल्ले जैसा बैठनेकी बान आ जाती है। आज जो वेदान्तके अद्वैतवादमे इस निषेध पक्ष या संसारके मिथ्यात्वके ही पहलूपर जोर देनेके कारण लोगोंमें अकर्मण्यता आ गई है वह गीताधर्म और गीताके इस महान् मार्गके छोड देनेका ही परिणाम है। वेदान्तके नामपर आज प्रचलित महान् पतनकी यही वजह है। जब कोई विधानात्मक चीज हई नही, तो फिर कुछ भी करने धरनेकी जरूरतही क्या है? फलतः वेदान्तवाद एवं अद्वैतवादको इस पतनके गभीर गर्त्तसे निकालनेके लिए जगत्के मिथ्यात्व पर जोर देनेवाले निषेधात्मक पक्षकी ओर दृष्टि न करके हमे 'जगत् ब्रह्म ही है, हमारी आत्माही है' इस विधानात्मक पक्षकी ओर ही दृष्टि देना जरूरी है। इससे यही होगा कि हम चारों ओर अपनी ही आत्माको देखके उसके कल्याणार्थ ठीक वैसे ही उतावले हो पड़ेंगे, दौड़ पड़ेंगे जैसे अपने

पाँवोंमें फोडा-फुंसी होने, खुद भूख-प्यास लगने या अपने पेटमें दर्द होनेपर उतावले और बेचैन होके प्रतीकारमे लग जाते है। और जरा भी विलम्ब या आलस्य, अपना या गैरोका, बर्दाश्त कर नही सकते।

गीता इसी दृष्टिपर जोर देती हुई कहती है कि "बहुत जन्मोंमे लगातार यत्न करके, यह जो कुछ देखा-सुना जाता है सब भगवान ही है, ऐसा ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाय वही इस संसारमे अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" (७।१९)। ऐसा अद्वैत तत्त्वज्ञानी दूसरेके सुख-दुःखको अपनेमे ही अनुभव करता है। यदि किसीको भी एक लाठी मारे तो उसकी चोट उसे ही लगती है। इसीलिये उसका हृदय द्रवीभूत होके दत्तचित्तताके साथ लोकसग्रहमे उसे दिनरात लग जानेको विवश कर देता है। इस बातका कितना मार्मिक वर्णन गीताके छठें अध्यायके ये श्लोक करते है, "सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति। सर्वभूतस्थितं यो मा भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते। आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः" (६।२९-३२)।

इनका आशय यह है कि "जिसका मन सब तरफसे हटके आत्मा—ब्रह्म—मे लीन हो गया है और जो सवत्र समदर्शी है (समदर्शनका पूरा विवेचन पहले किया गया है) वह अपने आपको सभी पदार्थोंमे और पदार्थोंको अपने आपमे ही देखता है। इस प्रकार जो भगवानको भी सर्वत्र—सभी पदार्थोंमे—देखता है और पदार्थोंको भगवानमे, वह न तो भगवान—ब्रह्म—से जरा भी जुदा हो सकता है और न भगवान ही उससे जुदा हो सकता है—दोनों एक ही जो हो गये—जो योगी सभी पदार्थोंमे रहनेवाले—पदार्थोंके रग-रगमे रमनेवाले—एक ही भगवान-को अपनेसे जुदा नहीं देखता, वह चाहे किसी भी हालतमे रहे, फिर भी परमात्मामे ही रमा हुआ रहता है। जो योगी किसी भी प्राणी या पदार्थके दुःख-सुखको अपना ही समझता है, अनुभव करता है, वही सर्वोत्तम है।" इसी ज्ञानके बारेमें पुनरपि गीता कहती है कि "उसे हासिल करके फिर इस प्रकार भूल-भुलैयामे हर्गिज न पडोगे। तब हालत यह होगी कि संसारके सभी पदार्थोंको अपने आपमे देखोगे और मुझमे भी—अर्थात् तुममे, हममे—परमात्मामे—और इस जगत्‌मे कोई विभिन्नता रहेगी ही नही—सभी एक ही बन जायँगे"—यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (४।३५)।

हमने शुरूमें ही कर्मोंके भेदोंके निरूपणके प्रसंगमें बता दिया है कि आगे बढ़ते-बढ़ते सभी भौतिक पदार्थों और परमात्माके साथ आत्माकी तन्मयता कैसे हो जाती है। वही बात गीता बार-बार कहती है। इसीलिये जो प्रत्येक शरीरमें आत्माको जुदा-जुदा मानते हैं वह तो गीतासे अनन्त दूरीपर हैं। उनसे और गीताधर्मसे कोई ताल्लुक है नहीं। सबकी एकता—एकरसता—के पहले सभी शरीरोंकी आत्माकी एकता तो अनिवार्य है। ऐसी बुद्धि और भावना सबसे पहले होनी चाहिये। यहींसे तो गीताका श्रीगणेश होता है। इसीलिए "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः" (२।१८) आदि श्लोकोंमें अनेक शरीरोंमें रहनेवाले शरीरी—आत्मा—को एक ही कहा है। जहाँ 'देहाः' यह बहुवचन दिया है, तहां "शरीरिण." एक वचन ही रखा है। आगे भी यही बात है। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (१३।२) में भी सभी क्षेत्रोंमें—शरीरोंमें—एक ही क्षेत्रज्ञ—शरीरी—को कहके साफ सुना दिया है कि शरीर और शरीरी–आत्मा—भगवानके ही स्वरूप हैं। "मयि ते तेषु चाप्यहम् (९।२९) में भी यही बात कही गई है कि भक्तजनोंमें भगवान है और भगवानमें भक्तजन है—अर्थात् दोनों एक है। "अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते" (१२।६) मे भी दोनोंकी अभिन्नता—एकता—ही कही गई है। ऐसे ज्ञानियोंकी हालत यह होती है कि न तो उनसे किसीको उद्वेग या जरासी भी दिक्कत मालूम होती है और न उन्हें दूसरोंसे। यही बात "यस्मान्नोद्विजते लोकः" (१२।१५) मे कही गई है। यही है ज्ञानी जनोंकी पहचान। "मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी" (१३।१०) में इसी अद्वैततत्त्वज्ञानको अव्यभिचारिणी भक्ति नाम दिया है। "मां च योऽव्यभिचारेण" (१४।२६) मे इसे ही अव्यभिचारी भक्तियोग भी कहा है।



६. "अपर्याप्तं तदस्माकम्"

गीताके प्रथमाध्यायके 'अपर्याप्तं तदस्माकम्' (१।१०) श्लोकके अर्थमें बहुत मतभेद हैं। इसके शब्दों और उनके अर्थोकी मनमानी खींचतान की गई है। अतः स्पष्टीकरण जरूरी है। संक्षेपमें दो खयालके लोग इस सम्बन्धमें पाये जाते हैं। एक तो वह हैं जो मानते हैं कि दुर्योधन अपनी फौजको कमजोर या नाकाफी कहे, इसकी कोई वजह नहीं थी। इसके उलटे काफी और अपरिमित कहनेके कई प्रमाण वे लोग पेश करते हैं। पहली बात यह है कि खुद दुर्योधनने उद्योगपर्व (५४।६०-७०) में अपनी सेनाकी सब तरहमे तारीफ करके कहा था कि जीत मेरी ही होगी। दूसरी यह कि उसने गीतामे जो श्लोक कहे हैं प्राय इमो तरहके श्लोक उसके मुँहसे गीताके बाद ही भीष्मपर्व (५१।४-६) मे पुनरपि द्रोणाचार्यके ही सामने निकले है। तीसरी यह कि यह बयान अपने सैनिकोंको प्रोत्साहित करनेके ही लिये तो किया गया है। फिर इसमें अपनी ही कमजोरीकी बात कैसे आयेगी? तब तो उलटा ही प्रभाव होगा न? और स्वयं दुर्योधन ही इतनी बड़ी भूल करे, यह कब संभव है? जो लोग ऐसा खयाल करते है कि दुर्योधन डरके मारे ही ऐसा कह रहा था, वह भूलते है। क्योंकि महाभारतकी लम्बी पोथीमें कही भी उसके भयभीत होनेका जिक्र है नहीं। विपरीत इसके भीष्मपर्व (१९।५ तथा २१।१) से पता चलता है कि दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणीके मुकाबिलेमे अपनी केवल सात ही अक्षौहणी सेना देखके युधिष्ठिरको ही खिन्नता हुई थी।

इसीलिये इस खयालके लोग इस श्लोकके पर्याप्त और अपर्याप्त शब्दोंका आमतौरसे प्रचलित अर्थ काफी और नाकाफी माननेमे दिक्कत एवं ऊपरवाली अड़चने देखके इनका दूसरा ही अर्थ मर्यादित या परिमित और अमर्यादित या अपरिमित करते हैं। इन अर्थोंमें भी दिक्कत जरूर है। क्योंकि ये प्रचलित नहीं है। मगर ऊपर लिखी दिक्कतोंकी अपेक्षा यह दिक्कत कोई चीज नहीं है। ऐसी परिस्थितियोंमे ही तो शब्दोंके दूसरे-दूसरे अर्थ माने जाते है जो आमतौरसे अप्रसिद्ध होते है। इसीलिये शब्दोंको पतंजलिने महाभाष्यमें बार-बार कामधेनु कहा है: "शब्दा: कामधेनवः"। क्योंकि संकटके समय या मौकेपर जैसा चाहिये इनसे अर्थ (प्रयोजन) प्राप्त कर लीजिये। यही है पहले खयालवालोंकी स्थिति।

मगर दूसरे खयालवाले शब्दोंके प्रचलित और आमतौरसे मालूम अर्थोंको छोड़नेके लिये यहाँ तैयार नहीं हैं। इस सम्बन्धमें जो दलीलें पहले खयालवाले

देते हैं उनके विचारसे वे सभी लचर हैं। शब्दोंके अर्थोके बारेमें मीमांसादर्शनमें जो यह नियम माना गया है कि शब्दमे आमतौरसे मालूम होनेवाले सीधे अर्थको ही लेना चाहिये उसे छोडनेका कारण कोई भी यहाँ है नहीं। बेशक दुर्योधन भयभीत था और इसके लिये दूर न जाके इसी श्लोकमें प्रमाण रखा हुआ है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अपर्याप्तं' के बाद ही 'तत्' शब्द है जिसके आगे 'अस्माकं' है। इसी तरह उत्तरार्द्धमे 'पर्याप्तं तु' के बाद 'इदम्' है जिसके बाद 'एतेषा' आया है। 'तत्'का अर्थ है वह या जो सामने न हो। जो पदार्थ केवल दिमागमे हो और सामने न हो साधारणतया उसीको बतानेके लिये 'तत्' आता है। इसके उलटा जो चीज सामने हो उसीका वाचक 'इदम्' है।

अब जरा मजा तो देखिये कि खुद अपनी ही फौजमे खड़ा होके दुर्योधन द्रोणाचार्यसे बाते कर रहा है और अपने खास-खास योद्धाओके नाम उसने अभी-अभी गिनाके यह श्लोक कहा है—यह बात कही है। पाडव-सेनाकी बात पहले कहके अपनी फौजकी पीछे बोला है और फौरन ही उसीके बाद 'अपर्याप्तं' आया है। ऐसी हालतमे तो हर तरहसे अपनी ही सेना सामने है और पाडवोंकी हर तरहसे दूर है। यो भी दूर खड़ी है और उसकी चर्चा भी पहले हो चुकी है। फिर भी उसीको सामने और प्रत्यक्ष कहता है। 'इदम्' कहता है और अपनीको परोक्ष और दूरकी। क्यों? इसीलिये न, कि उसके भीतर आतंक छाया है, उसे डर और घबराहट है और भूतकी तरह पाडवोंकी सेना उसकी छातीपर जैसे सवार है? इसी घबराहटमे अपनी फौज जैसे भूलीसी हो। आँखोंके सामने और दिल दिमागपर तो पाडवोंकी फौज ही नाचती है। फिर कहे तो क्या कहे? अपनी फौज और अपनी शेखी तो भूलसी गई है! यह बात इतनी साफ है कि कुछ पूछिये मत।

दूसरी बात है "भीष्माभिरक्षितं" और "भीमाभिरक्षितं" शब्दोंकी। यह तो सबोंको मालूम था ही और दुर्योधन भी अच्छी तरह जानता था कि जहाँ भीम एकतरफा और आँख मूँदके लडनेवाले है, वहाँ भीष्म दो नावपर चढ़नेवाले और सोच-विचारके लडनेवाले है। इसमे कई बाते है। महाभारत पढ़नेवाले जानते हैं कि कर्ण और भीष्ममे तनातनी थी जिसके चलते कर्णने कह दिया था कि जबतक भीष्म जिन्दा है मैं युद्धमे अलग रहूँगा। इसीलिये तो गीताके बादवाले पहले ही अध्यायमे लिखा है कि युधिष्ठिरने उसे अपना ओर मिलानेकी बडी कोशिश की थी। फिर भी न आया यह बात दूसरी है। मगर वही बैर बताके वह उसे फोड़ना चाहते थे। अगर नहीं फूटा तो इससे पता लगता है कि वह दुर्योधनका पक्का आदमी था। मगर पक्का तो सेनारक्षक हो नही और दुभाषिया हो सेना-

पति, यह क्या कमजोरीकी बात नहीं है ? इसीसे तो दुर्योधनको डर था। मगर भीमके बारेमें कोई ऐसी बात न थी।

वह यह भी जानता था कि शिखंडीसे भीष्मको खतरा है। इसीलिये इस श्लोकके बादके श्लोकमें ही दुर्योधन सबोंसे कहता है कि आप लोग सबके सब सिर्फ भीष्मको ही बचायें—"भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवन्तः सर्व एव हि"। लेकिन यह भी क्या अजीब बात है कि जोई सेनापति और सेनाका रक्षक हो उसीकी रक्षाके लिये शेष सबोंको आदेश दिया जाय कि आप लोग 'केवल भीष्म'—'भीष्ममेव'—की रक्षा करें ! मालूम होता है, दूसरा कोई भी इससे जरूरी काम न था। मगर जिस फौजके सेनापतिके ही बारेमें यह बात हो वह फौज क्या जीतेगी खाक ? ऐसा कहीं नहीं देखा सुना कि फौजके सभी प्रमुख योद्धा केवल सेनापतिकी ही रक्षा करें। मगर भीमके बारेमें तो यह बात न थी। उन्हें कुछ सोचना-विचारना थोड़े ही था कि किसपर अस्त्र चलायें किसपर नहीं। इस मामलेमें तो वे ऐसे थे कि मीनमेख करना जानते ही न थे। बल्कि मीनमेखसे चिढ़ते थे। वे तो युधिष्ठिरको कोसा करते थे कि आपको बुद्धिकी बदहजमी और धर्मकी बीमारी लगी है, जिससे रह-रहके मीनमेख निकाला करते हैं।

महाभारतमें गीताके बादवाले अध्यायमें ही यह बात लिखी है कि भीष्मने साफ ही कह दिया कि युधिष्ठिर, जाओ, जीत तुम्हारी हो होगी। उनने यह भी कहा था कि क्या करूँ मजबूरी है इसीलिये लड़ूंगा तो दुर्योधनकी ही ओरसे, हालाँकि पक्ष तुम्हारा ही न्याययुक्त है। इसीलिये तुम्हारे सामने दबना पड़ता है और सिर उठा नहीं सकता। क्या ऐसे ही 'आ फँसे' वाले सेनापतिसे जीत हो सकती थी ? और क्या इतनी बात भी दुर्योधन समझता न था ? खूबी तो यह है कि न सिर्फ भीष्म, किन्तु द्रोण, कृप और शल्य भी इसी ढंगके थे और यह बात उसे ज्ञात न थी यह कहनेकी हिम्मत किसे है ? विपरीत इसके भीम अपने पक्षके लिये मर मिटनेवाला था, उचित अनुचित सब कुछ कर सकता था। इसीलिये तो दुर्योधनकी कमरके नीचे उसने गदा मारी जो पुराने समयके नियमोंके विरुद्ध काम था और इसीलिये अपने चेले दुर्योधनकी कमर टूटनेपर बलराम बिगड़ खड़े भी हुए थे कि भीमने अनुचित काम किया। मगर भीमको इसकी क्या पर्वा थी ?

जरा यह भी तो देखिये कि जहाँ स्वयं दुर्योधनने शत्रुओंकी सेना और उसके सेनानायकोंका वर्णन पूरे चार (३ से ७) श्लोकोंमें किया है, तहाँ अपनी सेना-वालोंका सिर्फ एक (८) ही श्लोकमें करके अगले (९वें) में केवल इतनेसे ही सन्तोष कर लिया है कि और भी बहुतेरे हैं जो मेरे लिये मर मिटेंगे ! आखिर

बात क्या है ? यह "प्रथमग्रासे मक्षिकाभक्षणम्" कैसा ? अपने ही लोगोंका कीर्त्तन इतना संक्षिप्त ? इसमें भी खूबी यह कि जिनके नाम गिनाये है उनमें एकाधको छोड़ सभी दोतर्फे है, और विकर्ण तो साफ ही युधिष्ठिरकी ओर जा मिला था, यह गीताके बादवाले ही अध्यायमे लिखा है। शत्रु पक्षके वर्णनमें भी यह बात है कि द्रुपदपुत्रकी बडी तारीफ की है। कहता है कि आपका ही चेला है। बड़ा काइयाँ है और वही है सेनाको सजाके नाकेपर खड़ी करनेवाला। सबोंको भीम और अर्जुनके समान ही युद्धके बहादुर भी कह दिया है "भीमार्जुन समायुधि", अन्तमें सभीको यह भी कह दिया कि महारथी ही है—"सर्व एव महारथाः"। क्या ये एक बाते भी अपनोंके बारेमें उसने कही हैं ? और अगर कोई यह कहनेकी हिम्मत करे कि शत्रुओंकी यह बड़ाई तो सिर्फ अपने लोगोंको उत्तेजित करनेके ही लिये है, तो यही बात "अपर्याप्तं" श्लोकके बारेमें भी क्यों नहीं लागू होती ? दरअसल तो उसके दिलपर पांडवोंका आतंक छाया हुआ था। फिर वैसा कहता क्यों नहीं ?

एक बात और देखिये। उसके कह चुकनेपर "तस्य संजनयन्हर्षं' इस बारहवें श्लोकमे यह कहा गया है कि दुर्योधनके भीतर बखूबी हर्ष पैदा करनेके लिये भीष्मने शंख बजाया। जरा गौर कीजिये कि "उसके हर्षको बढ़ानेके लिये" कहनेके बजाय यह कहा गया है कि "उसका हर्ष पैदा करनेके लिये"—"हर्ष संजनयन्"। जन धातुका अर्थ पैदा करना ही होता है न कि बढ़ाना। जो चीज पहलेसे न हो उसीको तो पैदा करते है। जो पहलेसे ही हो उसे तो केवल बढा सकते है। इसीसे पता लग जाता है कि दुर्योधनके भीतर हर्षका नाम भी न था। इसीलिये भीष्मने उसे पैदा करनेको कोशिश की। 'जनयन्'के पहले जो "सम्" दिया गया है उससे यह भी प्रकट होता है कि काफी मनहूसी थी जिसे हटाके खुशी लानेमें भीष्मको अधिक यत्न करना पड़ा।

यह भी तो विचित्र बात है कि वह बातें तो करता है द्रोणसे। मगर वह तो कुछ बोलते या करते नहीं। किन्तु उसे खुश करनेका काम भीष्म करते है जिनके पास वह गया तक नही ! वह जानता था कि उनके पास जाना या कुछ भी कहना बेकार है। वह तो सुनेंगे नहीं। उलटे रंज हो गये तो और भी बुरा होगा। इसीलिये सेनापति होते हुए भी उन्हें छोड़के द्रोणके पास दुर्योधन इसीलिये गया कि खतरेसे सजग कर दिया जाय। उचित तो सेनापतिके ही पास जाना था। यही तरीका भी है। मगर न गया। इससे भीष्मको भी पता चल गया कि मेरी ओरसे उसे शक है। इसीसे भीतर ही भीतर नाखुश है। उसी नाखुशीको दूर करनेके लिये उनने बिना कहे-सुने शंख बजाया। नहीं तो एक

प्रकारके इस अकाण्ड ताण्डवका प्रयोजन था ही क्या ? जोरसे सिंहगर्जन करना और खूब तेज शंख बजाना अपनी सफाई ही तो थी ।

द्रोणके पास जानेमे दुर्योधनका और भी मतलब था । युद्धविद्याके आचार्य तो वही थे । इसलिये आगे लड़ाईकी सफलता और भीष्मादि की रक्षाका ठीक उपाय वही बता सकते थे । यह काम जितनी खूबीके साथ वह कर सकते थे दूसरा कोई भी कर न सकता था । शत्रुओंकी सारी कला और खूबियोंको वही जानते थे । उन्हें जरा उत्तेजित भी करना था । जिन्हे सिखा-पढाके उनने तैयार किया वही अब उन्हीसे निपटनेको तैयार है ! जिस धृष्टद्युम्नको रणविद्या दी उसीने आप हीके खिलाफ व्यूहरचना की है ! कृतघ्नताकी हद हो गई ! इसीलिये जो "तव शिष्येण" यह विशेषण उसने "द्रुपद पुत्रेण" के साथ लगाया है उसके दोनों ही मानी है । एक तो यह कि सजग रहिये, वह काफी होशियार है । क्योंकि आपका ही सिखाया-पढ़ाया है । दूसरा यह कि चेला होके गुरुके ही खिलाफ लडनेकी पूरी तैयारीमे है, यह उसकी शोखी देखिये ।

यह दलील, कि उत्तेजित करने और जोश बढ़ानेके बजाय डरानेवाली कमजोरीकी बात कैसे कहेगा, क्योंकि तब तो सभी लोग डर जायेंगे ही और सारा गुड ही गोबर हो जायगा, भी निस्सार है । वह तो सिर्फ द्रोणसे ही बातें कर रहा था । बाकी लोगोंको क्या मालूम कि क्या बाते हो रही है ? फिर उनके डरने का सवाल आता ही कहां से है ? और द्रोणसे भी सारी हकीकत और असलियत छिपाई जाय, यह कौनसी बुद्धिमानी थी ? वही तो दिक्कतों और खतरोंका रास्ता सुझा सकते थे । आखिर दुर्योधन और किससे दिलकी बाते कहता ? द्रोणाचार्य इस बातका डंका पीटने तो जाते न थे कि सबोके दिल दहलनेकी नौबत आ जाती । और जब आगे "सघोषोधार्त्तराष्ट्राणा" (१९) श्लोकमे साफ ही कह दिया है कि पाण्डवोंकी शंखध्वनियोंसे दुर्योधनके दलवालोका कलेजा दहल गया, तो फिर वही बात चाहे एक मिनट आग हुई या पीछे, इसमे खास ढगका एतराज क्यों हो सकता है ? जब भीष्मपर्वके पहले ही अध्यायके १८, १९ श्लोकोंमे यही बात लिखी जा चुकी है कि केवल कृष्ण और अर्जुनके शंखोकी ही आवाजसे दुर्योधनकी सेनाके लोग ऐसे भयभीत हो गये जैसे सिंहके गर्जनसे हिरण कॉप उठते है, इसीलिये हालत यहाँतक हो गई कि सबोकी पाखाना-पेशाब तक उतर आई, तो फिर यहाँ दुर्योधनकी बातोंसे दहलनेका क्या प्रश्न ?

अब रही यह दलील कि उद्योगपर्व मे दुर्योधनने स्वय अपनी सेनाकी बड़ाई करके विजयका विश्वास जाहिर किया था यह भी वैसी ही है । यों प्रशंसाके

पुल बाँधना और मनोराज्यके महल बनाना दूसरी चीज है। उसे कौन रोके। उसमें बाधा भी क्या है। मगर जब ऊँट पहाड़पर चढ़ता है तो उसका बलबलाना बन्द हो जाता है। उँचाई कैसी है इसका मजा भी मिलता है। यही बात हमेशा होती है जब ठोस चीजों और परिस्थितियोंका सामना करना पड़ता है। अर्जुनने भी तो बहुत दिनोंमे जान-बूझके लड़ाईकी तैयारी की थी और जब कभी युधिष्ठिर जरा भी आगा-पीछा करते तो घबरा जाते थे और उन्हें कुछ सुना भी देते थे। मगर मैदाने जंगमें जब सभी चीजे सामने आई और ठोस परिस्थिति चट्टान की तरह आ डँटी तो घबराके धर्मशास्त्रकी पोथियोंके पन्ने उलटने लगे। क्या उन्हे पहले मालूम न था कि युद्धमे गुरुजनों और कुलका संहार होगा ? फिर यह रोना पसारनेकी वजह क्या थी सिवाय इसके कि पहले ठोस चीजे सामने न थी, केवल दिमागी बातें थी, मगर अब वही चीजे स्वयं सामने आ गई ? यही बात दुर्योधनकी थी। पहले बड़ी-बड़ी कल्पनायें थी। मगर युद्धके मैदानमें सारा रंग फीका हो गया।

गीताके बाद भी यदि यही श्लोक आये है तो इससे क्या ? अगर इन श्लोकासे उसकी त्रस्तता सिद्ध होती हैं तो बादवाले भी यही सिद्ध करेंगे। हाँ, यदि इनमे ही उत्साह-उमग हो तो बात दूसरी है। मगर यही तो अभी सिद्ध करना है। इसलिये बादके श्लोक तो गीताके ही श्लोकोंके अर्थपर निर्भर करते है। यदि गीतामे ही बादके १२से लेकर १९ तकके आठ श्लोकोंको देखा जाय तो पता चलता है कि केवल दो श्लोकोमे दुर्योधनके पक्षवालोंके बाजे-गाजे वगैरह बजनेकी बात लिखी है और बाकी ६मे पाडव पक्षकी ! खूबी तो यह है कि इन दोनोंमे भी पहलेमे सिर्फ भीष्मके गर्जन और शखनादकी बात है। दूसरेमे भी किसीका नाम न लेके इतना ही लिखा है कि उसके बाद एक-एक शंख, नफीरी आदि बज पडीं। मगर पांडव पक्षका तो इन शेष ६ श्लोकोमे पूरा ब्योरा दिया गया है कि किसने क्या बजाया। इससे इतना तो साफ हो जाता है कि कमसे कम गीताकार तो पाडव पक्षका ही महत्त्व दिखाते है, दिखाना चाहते हैं, और हमे गीताके ही श्लोकोंका आशय समझना है। महाभारतमे क्या स्थिति थी, इसका पता हमे दूसरी तरहसे तो है भी नहीं कि गीताके शब्दोंको भी खीचखाँचकर उसी अर्थमें ले जायँ। अतएव हमने जो अर्थ इस श्लोकका लिखा है वही ठीक और मुनासिब है।

७. "जायते वर्णसंकरः"

गीताके पहले अध्यायके 'अधर्माभिवात् कृष्ण' (१।४१) श्लोकमें वर्णसंकरके मानोमें भी अकसर गडबड़ हो जाती है। वर्णसंकरका शब्दार्थ है वर्णोंका संकीर्ण हो जाना या मिल जाना। जब वर्णोंकी कोई व्यवस्था न रह जाय तो उसी हालतको वर्णसंकर कहा जाता है। बात असल यह है कि हिन्दुओंने जो वर्णोंकी व्यवस्था बनाई थी वह उस समयके समाजकी परिस्थिति और प्रगतिके अनुकूल ही थी। उनने यह अच्छी तरह देख लिया था कि समाज कहाँ तक उन्नति कर गया, आगे बढ़ गया और किस हालतमें है—उसकी प्रगति वैसी ही तेज़ है, रुक गई है या बहुत ही धीरे-धीरे चींटी कीसी चालसे चल रही है। बस, यही बातें देखके इन्हीके अनुकूल वर्णोंकी व्यवस्था उस समय बनी थी और यह बनी थी जीवन-संग्राम (Struggle for existence) का खयाल करके ही।

पुराने जमानेमे युद्ध करनेवाली सेनाके चार विभाग होते थे, जिन्हें पैदल, रथवाले, घुडसवार और हाथी सवार कहते थे। तोपखाना आजकी तरह अलग न था; किन्तु इन्हीं चारोंके साथ आवश्यकतानुसार जुटता था। उनका रथ बहुत व्यापक अर्थमे बोला जाता था। इसीलिये कहा जाता है कि राम-रावणके युद्धमें रामके पास रथ न होनेके कारण देवताओंने भेजा था। वह रथ तो कोई हवाई जहाज जैसी ही चीज होगी। यह भी मिलता है कि वैसे ही रथसे राम जंगलसे अयोध्या वापस आये थे। इसीलिये आजका हवाई जहाज भी उसीमे आ जाता है। समुद्री जहाजोंकी लडाई तब तो थी नही। फिर भी वे तो रथके भीतर ही आ जाते है। अन्तर यही है कि वह रथ पानीमें चलनेवाला होता है। पनडुब्बी जहाज पानीके भीतर ही चलते हैं। इसीलिये आज भी पैदल (Infantry), घुड़सवार (Cavalry), तोपखाना (Artillery) जहाजी बेडा (Navy) और हवाई सेना (Airforce) इन पाँच विभागोंके बावजूद भी हवाई जहाजकी स्वतंत्र हस्ती नहीं है। वह चारोंका ही साथी जरूरतके अनुसार बन जाता है, जैसे पहले तोपखानेकी बात थी। इससे यह बात निकलती है कि युद्धके लिये सेनाके साधारणतः चार विभाग जरूरी होते हैं।

इसी दृष्टिसे प्राचीनोंने जीवन संघर्षको ठीक-ठीक चलाने और मानव समाजको उसमें विजयी बनानेके लिये उसके भी चार विभाग किये थे—समाजको चार हिस्सोंमें बाँटा था; जिन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते थे और अब भी कहते हैं। उनने अध्यात्मवाद, पुनर्जन्म और परलोकका भी सिद्धान्त स्वीकार

किया था इसीलिये वर्णोंके ही कार्योंकी पुष्टि एवं सहायताके लिये चार आश्रम भी बनाये गये थे। ये आश्रम विद्यार्जन, तप, समाधि आदिके जरिये चारों वर्णोंके लौकिक-पारलौकिक हित साधनमे ही मदद करते थे। गृहस्थ आश्रम तो साफ ही है। मगर ब्रह्मचर्यका काम था सभी विद्याये पढना तथा वानप्रस्थका था तप और सर्दी-गर्मीको सहन करके समाधिके लिये अपनेको तैयार करना। संन्यासीका काम था ध्यान और समाधिके द्वारा आत्मज्ञानको पूर्ण बनाना। यही लोग गृहस्थों और दूसरोको भी ज्ञानोपदेशके द्वारा कर्मयोगी बनाते थे।

वर्णोंकी हालत यह थी कि ब्राह्मणका काम था सभी प्रकारके ज्ञानोको पूरा-पूरा हासिल करना। यहाँ तक कि गृहस्थ लोग ही ज्येष्ठ आश्रमी माने जाते थे। ब्राह्मणका ज्ञान पूर्ण होने पर वही सबोमे—शेष क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीनोमे—उसका पूरा प्रसार करते थे। इसीलिये सभी वर्णोंके गृहस्थ ज्ञान दाता माने जाते थे। अम्बरीषने क्षत्रिय होके भी दुर्वासा जैसे ब्राह्मण ऋषिको ज्ञान दिया था। जनकको भी यही बात थी। उपनिषदो मे प्रतर्दन आदि राजाओके बारेमे तो यहा तक लिखा है कि पञ्चाग्नि विद्या जैसी चीजे वही जानते थे आरुणि जैसे प्रगाढ विद्वान् ब्राह्मणोका भी मालूम न थी। इसी प्रकार तुलाधार वणिक और जाजलि ब्राह्मणका सम्वाद महाभारतके शान्तिपर्वमे आता है जिसमे ब्राह्मणको बनियेने ज्ञानोपदेश किया है। शूद्रकी बात तो इतनी बडी है कि साक्षात् धर्म व्याधकी ही कथा महाभारतमे है जहाँ सन्यासी तक ज्ञान सीखने जाते थे। इसीलिये मनुने तीसरे अध्यायमे कहा है कि "गृहस्थ ही तो शेष तीन आश्रमवालों-को अन्न और ज्ञान देकर कायम रखता है। इसलिये वही चारोमे बडा आश्रम है"—"यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेनचान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्ये-ष्ठाश्रमोगृही" फिर भी ब्राह्मणोका ही प्रधान काम रखा गया था विद्या देना और ज्ञानका प्रचार करना।

असलमे जब तक एक दल समाजमे ऐसा न हो जिसका काम हो हो अन्वेषण, जाँच-पडताल, प्रयोग और सोचना विचारना तब तक ज्ञानका विकास असंभव है। खासकर उस जमानेमे जब आजकी तरह ज्ञानके साधनोका विकास हो पाया न था और न ऐसे यन्त्र ही बन पाये थे जो आज पाये जाते है। यातायातके साधन भी ऐसे न थे कि दुर्गमसे भी दुर्गम स्थानोमे जाया जा सके। उस दशामे सभी प्रकारकी शोध और अन्वेषण वगैरहकी प्रगतिके लिये यह जरूरी था कि समाजका एक भाग हर तरहसे निश्चिन्त करके इसी कामके लिये छोड दिया जाय। उपनिषदो और दूसरे ग्रंथोमे जो ऋषियो एवं विद्वानोंकी गोष्ठियो तथा सभाओके बार-बार वर्णन पाये जाते है वह उन्हीं ब्राह्मणोंकी वैसीही कान्फ्रेंसे थी

जैसी आजकल दर्शन, विज्ञान आदिकी कान्फ्रेंसें हुआ करती हैं। अपने-अपने अनुभवोंको वहाँ प्रकट करके मिलान की जाती थी और कोई न कोई निष्कर्ष निकाला जाता था।

इसी प्रकार शासन और व्यवस्थाके लिये भी समाजका एक विभाग अलग कर दिया गया था जिसे क्षत्रिय नाम दिया गया। इसमें भी वही बात है जो ब्राह्मणके सिलसिलेमें कही गई है। शासनका काम बडा ही पेचीदा है। अमन एवं शान्ति बराबर बनाये रखना ताकि समाज ठीक-ठीक प्रगति कर सके, मामूली काम नहीं है। युद्ध विद्याको व्यावहारिक रूप देना और उसे पूर्णताको पहुँचाना असंभव सी चीज है। सभी दिमागी कामोंके बीचमें ब्राह्मणोंके लिये गैरमुमकिन था कि युद्ध विद्याको अमली रूपमें शिखर पर पहुँचा दें। द्रोण या कृपकी तरह कोई-कोई ऐसा करें भी तो सभी ब्राह्मणोके लिये यह असंभव बात थी। और जब तक सामूहिक रूपसे लाखो लोग यह काम न करे शत्रुओंसे सफलतापूर्वक लोहा लेना असंभव था। द्रोण वगैरह इस काममें पड़े तो दूसरी विद्याओंकी उतनी जानकारी उन्हे भी नहीं रही। इसीलिये क्षत्रिय नामका एक जुदा वर्ण शासन और युद्धके विज्ञानमें पारंगत होनेके ही लिये बनाया गया।

मगर जब तक खेती-बारी और रोजगार-व्यापार अच्छी तरहसे न हो न तो ब्राह्मणका ही काम चल सकता है और न क्षत्रियका ही। जैसे फौजके कमिसरियट विभागके बगैर सभी सेना अन्न, वस्त्रादि जरूरी चीजोंके बिना ही खत्म हो जाय। ठीक वही बात वर्णोंके बारेमें भी समझना चाहिये। इसीलिये तो वैश्य नामक तीसरा वर्ण बनाया गया जो खती-बारीके द्वारा अन्न, दूध, घी आदि उपजाये और व्यापारके जरिये वस्त्रादि दूसरी जरूरी चीजें मुहय्या करे। अधिकाश व्यापार तो पहले जमीनसे उत्पन्न चीजोंका ही होता था। आजके कारखाने तो पहले थे नही। इसीलिये वैश्यका ही काम खेती और व्यापार दोनों ही रखा गया। फौज आदिके लिये सामूहिक रूपसे भी अन्न-वस्त्र और अस्त्र-शस्त्रादि वही जमा कर सकता था। इसीलिये व्यापार भी उसीके हाथमें था।

अब समाजोपयोगी एक ही तरहका काम बच जाता है जिसे कारीगरी कहते हैं। इसमें दिमाग और शरीर दोनोंके ही पूरे-पूरे सहयोगका सवाल आता है। पहलेके तीनों वर्ण यह कर न सकते थे। उनके काम ऐसे हो गये कि दूसरी बातमे पड़नेपर उनसे वह काम भी पूरे न हो पाते। एक बात यह भी है कि कारीगरीमे हजारों बातें हैं। अस्त्र-शस्त्र बनाना, कपड़ा बनाना, यंत्रादि बनाना वगैरह। फिर इनमें भी कितने ही विभाग हो जाते हैं। इसीलिये इन सबोंके लिये एक दल ऐसा ही चाहिये जो बाँटके एक-एक काम ले ले और उसे न सिर्फ

पूरा करे, किन्तु उसमें पूर्ण प्रगति करे, नये-नये आविष्कार करे। इसीके साथ मौके बे मौके ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंके भी काम कर सके। जरूरत आने पर ब्राह्मणका काम करे और आवश्यकता होने पर क्षत्रिय या वैश्य का। सारांश यह कि उक्त तीनों वर्णोंके लिये संरक्षित शक्ति (Reserve force) का काम दे। इसीलिये चौथा वर्ण बना जिसे शूद्र कहते हैं और उसमें भी लुहार, बढ़ई आदि सैकडों छोटे-छोटे विभाग हो गये। हमने सभी पुरानी पोथियोंको देखा है। उनमें सभी तरहके दस्तकारों और कारीगरोंको शूद्र ही कहा है।

शूद्र सभी वर्णोंकी कमीको भी पूरा (Supplement) करता था यह बात भी माननी ही होगी। इसीलिये तो ऐसे अनेक आख्यान पुराने ग्रंथोंमें मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियको भी कभी-कभी शूद्र कह देते थे। छान्दोग्य-उपनिषदके चौथे अध्यायके पहले दो ब्राह्मणोंमें जानश्रुति राजा और रैक्व ऋषिका आख्यान आया है और चौथे में सत्यकाम जाबाल ऋषिका। रैक्वने जानश्रुतिको दो बार शूद्र कहा है—"तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्तु" (४।२।३) तथा 'तस्याह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेन्त लापयिष्यथाः" (४।२।४)। रैक्वने दोनों जगह जानश्रुति राजाको शूद्र कहके पुकारा है। सत्यकामकी बात ऐसी है कि जब अपनी माता जाबालासे आज्ञा लेने लगे कि मैं कहीं ब्रह्मचारी बनके पढ़ूं लिखूँगा तो उनने पूछा कि मेरा गोत्र तो बता दे, ताकि पूछने पर कह सकूँगा। इस पर माताने कहा कि मैं भी नहीं जानती। मै तो नौजवानीमें इधर-उधर भटकती थी। उसी बीच तेरा जन्म हुआ और मेरा नाम जाबाला होनेसे तेरा नाम सत्यकाम जाबाल रखा गया। पीछे जब सत्यकाम हारिद्रुमत गौतमके पास गये और उनके पूछने पर अपने गोत्रके बारेमें सारा हाल कह सुनाया तो गौतमने कहा कि तुम जरूर ब्राह्मण हो। क्योंकि जो ब्राह्मण न हो वह ऐसी साफ बात बोल नहीं सकता—"नैतद ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" (४।४।५)। जिसके बापका ठिकाना हो उसे तो वर्णसंकर और ज्यादेसे ज्यादा शूद्र ही कहते हैं। मगर उनने ब्राह्मण मान लिया। और कारण भी कितना सुन्दर है कि उसने अपना कच्चा चिट्ठा जो कह दिया! ऐसा तो शूद्र या दूसरे वर्णवाले भी कर सकते हैं। करते हैं! इसीसे मानना पड़ता है कि शूद्र सभी वर्णोंका रिजर्व भी माना जाता था।

इस प्रकार समाजके कार्य-संचालनके लिये और उसकी पूर्ण प्रगतिके खयालसे भी समाजको चार दलोंमें बाँटा गया। ऐसा करनेमें, जैसा कि गीताने कहा है (४।१३, १८-४१-४४), आदमियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और सत्त्वादि गुणोंका भी शुरू-शुरूमें खयाल किया गया। नहीं तो योंही कैसे किसीको

ब्राह्मण बना देते तो किसीको शूद्र ? यही काम करनेमें उनके शरीरोंके रंग (वर्ण) से भी मदद ली गई। तीनों गुणोंके रंगोंकी कल्पना तो उन लोगोंनेकी थी ही। इसी-लिये आदमियोंके शरीरोंके रंगों या वर्णोंको देखनेके बाद उनके गुणों और तदनुसार स्वभावोंका निश्चय करके ही उन्हें काम बाँटे गये। फिर वे अलग-अलग कर दिये गये। यदि स्वभाव एवं रुचिके अनुसार काम न दिया जाता तो सब गुड गोबर जो हो जाता। कोई भी वर्ण अपना काम ठीक-ठीक पूरा न कर पाता। इसी वर्ण या रंगका खयाल करके ही चारोंको वर्ण कहा। वर्ण विभाग शब्दका भी यही मतलब है। इसीलिये महाभारतके शान्तिपर्वके मोक्ष धर्मके १८८वें अध्यायमें भृगुका वचन इस प्रकार लिखा गया है, "न विशेषोऽस्तिवर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणापूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥१०॥ कामभोग प्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः। त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥ गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्तितेद्विजावैश्यतां गताः ॥१२॥ हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टा-स्तेद्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥ इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजावर्णान्तरं गताः। धर्मो-यज्ञक्रियातेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते" ॥१४॥ इन श्लोकोंका आशय यह है—"शुरू शुरूमें तो वर्णोका विभेद थाई नही, संसारमें सभी ब्राह्मण ही थे। क्योंकि ब्रह्मा-ने ही तो सबको पैदा किया था। मगर पीछे विभिन्न कामोंके करते अनेक वर्ण हो गये। जिन ब्राह्मणों (ब्रह्माके पुत्रों) को पदार्थोंके भोगमे ज्यादा प्रेम था, जो रूखे स्वभावके और क्रोधी थे और जो बहादुरीको ओर बहुत ज्यादा झुकते थे ऐसे रक्त वर्णवाले ब्राह्मण ही जो अपना कर्त्तव्य छोड देनेके कारण क्षत्रिय हो गये। जो पीले शरीरवाले गौ आदि पशुओंको पालते और खेतीसे जीविका करने लगे थे, साथ ही जो अपना (ब्राह्मणका) धर्म करते न थे वही वैश्य हुए। जो हिंसा और असत्यकी ओर अधिक झुकते थे, लोभी थे, काले वर्णके थे, सफाईसे नहीं रहते थे और सभी काम करते थे वही ब्राह्मण शूद्र हो गये। इस प्रकार अलग-अलग कर्मोंके चलते एक ब्राह्मण समाज ही अनेक वर्णोंमें बँट गया। इसी-लिये तो सबोंके पहचान स्वरूप यज्ञ की क्रिया सभीके लिये जरूरी बताई गई है। किसीके लिये उस यज्ञकी मनाही नहीं है।"

इन श्लोकोंसे कई बातें साफ होती हैं। एक तो यह कि एक समय ऐसा भी था जब वर्ण विभाग बिलकुल थाई नहीं। सभी एक ही थे। पीछे वर्णोंका विभाग बना। दूसरी चीज यह कि पहले सभी ब्राह्मण ही थे। क्योंकि सभी ब्रह्माके पुत्र थे। ब्रह्मन् शब्दसे ब्रह्मा बनता है और ब्राह्मण भी। ब्राह्मणका अर्थ ही ब्रह्माका पुत्र। द्विज तो उन्हें इसीलिये कहते हैं कि उनके दो जन्म (द्वि + ज) होते हैं।

एक माता-पितावाला और दूसरा गायत्री संस्कारवाला। तीसरी बात यह कि ये जो वर्ण-भेद हुए वह स्वभाव तथा क्रिया (काम) की विभिन्नता एवं शरीरके रंग (वर्ण) की विभिन्नतासे ही। इस तरह जो अनेक वर्ण बने उन्हें अपनी असली हालत (ब्राह्मणता) से पतन माना गया यह चौथी बात है। इससे पता लगता है कि एक समय ऐसा जरूर था जब किसी भी प्रकारके विभागकी जरूरत न थी। इसे ही प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था (Primitive communism) कहते हैं। पाँचवीं बात यह है कि शूद्रोंके बारेमें लिखा है कि वे सभी काम करने लगे "सर्वकर्मोपजीविनः"। इससे दो बातें सिद्ध हो जाती है, एक तो यह कि शूद्र सभी वर्णोंके रिजर्वका काम करते थे। दूसरी यह कि उन्हें कला-कौशल और दस्तकारी वगैरःके हजारों काम करने पड़ते थे। छठीं बात यह कि सबोंको जो यज्ञ करनेकी छुट्टी है और इसकी रोक न होके करने पर ही जोर दिया गया है उससे पता लगता है कि फिर उसी ओर इन्हे जाना है जहाँसे आये थे। इन्हें यह यज्ञ याद दिलाता है कि पुनरपि उसी साम्यवादी अवस्थाको प्राप्त करना है। यज्ञका अर्थ है भी बहुत व्यापक, जैसा कि पहले ही भागमें लिखा जा चुका है। इन श्लोकोंने सभी वर्णोंके स्वभावोंका अच्छा चित्र खींचा है।

यहींपर एक बात और जाननेकी है जिसका ताल्लुक वर्णसंकरसे है। जब एक बार वर्णोंका विभाग हो गया तो इस बातका पूरी व्यवस्था कर दी गई कि फिर खिचड़ी होने न पाये—फिर ऐसा न हो कि वर्णोंकी खिल्लत मिल्लत हो जाय। चाहे इस बातपर कितने हो आक्षेप किये जायँ—ओर दुनियामें निर्दोष तो कुछ भी नही है—लेकिन ऐसा करनेमें उनका एक खास मतलब था। वे यह मानते थे और आजके अन्वेषण तथा विज्ञानसे भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो काम पुश्त दर पुश्तसे होता रह जाय वह एक प्रकारका स्वभाव बन जाता है। फलतः पीछे चलके जो लोग उस वंशमे पैदा होते हैं वह उस काममें क्रमशः ज्यादेसे ज्यादा विशेषज्ञ होते जाते है। बढ़ईका पेशा जिन वंशोंमें होता हो उनके बच्चे स्वभावतः उस कार्यमें कुशल होते हैं। वे उसके सम्बन्धमें नये-नये आविष्कार आसानीसे कर लेते हैं। कर सकते है। यही बात दूसरे पेशों, दूसरे कामोंकी भी है।

यही कारण है कि वर्णोंके लिये जो व्यवस्था बनी उसमें विवाह-शादी और खान-पानकी बड़ी सख्ती रखी गई। असल चीज है रक्तकी शुद्धि जिसका मतलब यही है कि यदि उसी पेशे या कामके माँ-बाप होंगे और उनमें जरा भी गड़बड़ी न होगी, जैसीकि पशु-पक्षियोंमें पाई जाती है कि एक ही ढंगके पशु-पक्षियोंके जोड़े लगते हैं, तो उनसे जो बच्चा होगा उसका संस्कार उस पेशेके

बारेमें और भी तेज होगा। वह उस काममें साधारणतः और भी कुशल होगा—कमसे कम उसकी कुशलताका सामान तैयार तो होगा ही। विभिन्न वर्णोंकी परस्पर विवाह-शादीको सख्तीसे रोकनेका यही अभिप्राय था। जब कहीं उस रोकमें कुछ ढिलाई भी की तो उसे ठीक न कहके वासना युक्त शादी—कामतस्तु प्रवृत्तानां— कह दी। आखिर ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता या विपरीत माता-पितासे जो सन्तान होगी वह किसका संस्कार रखेगी? दोनोंके तो संस्कार दो ढंगके ठहरे जो मेल खाते नहीं। अब अगर परस्पर विरोध हो गया तो दोनों ही एक दूसरेको खत्म ही कर देंगे। खान-पान वगैरहकी सख्ती भी इसी संस्कार की ही मजबूती और रक्षासे ताल्लुक रखती है और स्वास्थ्यसे भी। उस स्वास्थ्यका आखिरी असर भी संस्कारोंकी ही मजबूतीपर पड़ता है।

जिस प्रकार चित्रमें तीन चीजें होती हैं। एक तो आधार भूत कागज, दीवार या कपड़ा वगैरः। दूसरा उसी पर रंग भरना। तीसरा किसी ढाँचे (Frame) के भीतर लगाके रखना। इनमें फ्रेम या ढाँचा तो सिर्फ रक्षार्थ है। ताकि बाहरी हवा पानीसे रंग फीका न पड़े या घिस न जाये। आधारवाले कागज वगैरह भी जरूरी हैं। अगर वे ठीक न हों तो न रंग ठीक भरेगा और न चित्र ठीक उतरेगा। मगर रंग भरना यही असली चित्रकारी है, चित्र है। फिर भी आधार भी जरूरी है और किसी हद तक बाहरी शीशे आदिका ढाँचा या फ्रेम भी।

यही बात वर्णोंकी भी समझिये। एक ही काम या पेशेवाले माँ-बापका होना आधार स्वरूप कागज या दीवारकी तरह है। आखिर छायाचित्र या फोटो सभी शीशों पर नहीं उतरता। उसके लिये खास ढंगकी शीशेवाली पटरी (Plate) चाहिये। संस्कारकी बात भी कुछ उसीसे मिलती-जुलती है। उसके बाद जो संतान हो उसे उचित शिक्षा आदि देना यही रंग भरना है और यही असल चीज है, असल चित्र है। खान-पान आदिका संयम और विवाह शादीकी सख्ती तीसरी चीज है जो ढाँचे या फ्रेमका काम देती है। इसीलिये प्राचीन स्मृतिकारोंने लिखा है कि "तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मण कारणम्। तपः श्रुताभ्यां योहीनो जाति ब्राह्मण एव सः" (पातंजल महाभाष्य ५।१।११५) "संयम, सदाचार आदि तप, विद्या और ब्राह्मणी ब्राह्मणसे जन्म ये तीनों मिलके ब्राह्मण बनाते या पक्की ब्राह्मणता लाते हैं। इसीलिये जिनमें तप और विद्या न हो वह नाममात्रके—कहनेके ही लिये—ब्राह्मण है।" यही बात क्षत्रियादिके संबंधमें भी है। महाभाष्यके शुरूमें ही पतंजलिने जो कहा है कि ब्राह्मणका तो बिना किसी कारण या प्रयोजनके ही वेद-वेदांगको पढ़ना और जानना कर्त्तव्य है—"ब्राह्मणेन हि अकारणो धर्मः षडंगोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" उसका भी यही मतलब है। बिना ऐसा किये वह ब्राह्मण होई नहीं सकता।

इससे वर्णोंके निर्माणकी बुनियादी बातका पता चल गया और मालूम हो गया कि उनकी क्या जरूरत थी। आज तो ऐसा पतन हो गया है कि सारी चीजें धोखेकी टट्टी और मौरूसी बन गई हैं। ब्राह्मणादि बननेका दावा तो अन्ध परम्पराकी चीज हो गई है। वर्णोंमें छोटे-बड़ेपनका भूत ऐसा घुस गया है और नीच-ऊँचकी बात हमारे दिमागमें इस कद्र घर कर गई है कि कुछ कहा नहीं जाता। ये निराधार बातें कहाँसे कैसे घुस गईं यह कहना मुश्किल है। मगर पतनके साथ ऐसा होता ही है यह निर्विवाद है। पहले तो विश्वामित्रादिके सम्बन्धमें इस नियमका अपवाद भी होता था। मगर अब तो नियम का मूल मिट्टीमें मिलाकर जब सारी बातें अन्धपरम्परा एवं मूर्खताके ही आधार पर बनी हैं तो वह अपवाद भी जाता रहा! जैसा कि पहले कहा जा चुका है और अभी-अभी कहा है, वर्ण विभागके भीतर नीच-ऊँच या छोटे-बड़ेकी तो बात कभी आई ही नहीं। यह तो दिल-दिमागकी बनावटके अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्ति देखके ही सामाजिक कामोंका बँटवारा मात्र था, जिससे समाजकी रक्षा और प्रगति निराबाध रूपसे उस जमानेमें हो सके जब आज जैसी परिस्थिति न थी।

यही कारण है कि वर्णसंकरको उस समय बहुत बुरा मानते थे। क्योंकि किसी पेशे या वर्णकी माँ और किसीके बापके संयोगसे जो संतान होगी वह साधारणतः समाजकी प्रगतिमें सहायक हो सकती नहीं। अपवाद स्वरूप कुछ लोगोंमें भले ही कुछ खास बातें हो जायँ। मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह व्यवस्था लक्ष-लक्ष लोगोंके लिये आम तौरसे थी और यह बात दूसरे ढंगसे हो सकती न थी। सभी लोगोंके लिए खास ढंगकी व्यवस्थाका प्रबन्ध होना असंभव था। क्योंकि विभिन्न वर्गोंकी जोड़ी (Cross breeding) बड़ी ही कठिन चीज है यदि सफलता लानी हो। इसीलिये आम तौरसे उसे चला नहीं सकते। मगर जब सभी क्षत्रिय मर्द मर जायें तो आखिर होगा क्या? वर्णसंकर तो होगा ही या ज्यादेसे ज्यादा गये गुजरोंसे सन्तानें होंगी जो वर्ण-संकरसे भी बुरी चीज होगी। यही कारण है कि अगले श्लोकमें इस वर्णसंकरका नतीजा बताया है कि कुलके नाशक और समस्त कुल—दोनों ही—नरकमें जाते हैं। इसका सीधा मतलब यही है कि सभीका पतन हो जाता है। नरक तो पतन, नीचे गिरने अवनति या फजीती और कष्टकी दशाको ही कहते हैं और यही बात वर्णसंकरके करने होती है। जब सारा समाज ही पतित हो जायगा, नीचे जा गिरेगा तो अकेला आदमी, जिसने कुल क्षयके द्वारा यह दशा ला दी, कहाँ जायगा, कैसे रहेगा? उसे भी तो आखिर पतितों एवं गिरे हुओंके साथ ही रहना और व्यवहार करना होगा। समाजमें अकेला तो कोई कुछ कर नहीं

सकता। यह तो लम्बी शृंखला है जिसकी एक एक लड़ी हरेक व्यक्ति है। नतीजा यह होगा कि उन्नतिके सभी मार्गोंके अवरुद्ध होनेसे वह भी नीचे जा गिरेगा। पुरानी कहानी है कि किसी राजाका बच्चा दिनरात किरातोंमें रहनेसे पूरा किरात ही बन गया था।

यही वजह है कि आगे जातिधर्म और कुलधर्मोंका नाश लिखा है। वह रहने कैसे पायेंगे। उनकी तो बुनियाद ही जाती रही। एक तो उनके जाननेवाले ही नहीं रहे। और अगर कोई किसी प्रकार बचे भी तो जब समाजका समाज पथ-भ्रष्ट हो गया, तो वह भी उसी गढ़ेमें लाचार गिरेंगे ही। ऐसी हालतमें कला, कौशल, कारीगरी, हुनर, हिकमतका पता कहाँ होगा? इन चीजोंकी विशेषज्ञता कैसे रह सकेगी और कहाँ?

जो पुरानी पोथियोंमें पिंडदान और तर्पणकी बात कही गई है और जिसका उल्लेख आगे गीतामे भी इसी सिलसिलेमें आया है कि वह भी चीज़ें चौपट हो जायँगी वह भी ठीक ही है। ये चीजें तो व्यष्टिका समष्टिके साथ—व्यक्तिका समाजके साथ—होनेवाली एकताकी सूचक हैं। इसीलिए साँप, बिच्छू, अनाथ, अनजानमें मरे आदिका भी तर्पण-श्राद्ध करते हैं। मंत्रोंमें ऐसा ही लिखा है। इस तरह भूत, भविष्य, वर्त्तमान सभीके साथ हम अपनी तन्मयता और एकताका अनुभव करते हैं, अभ्यास करते हैं। यही है गीताधर्म जैसा कि कह चुके हैं। मगर जब अवनतिके गर्त्तमें जा गिरेंगे तो यह बात कैसे होगी। फलतः समाज विशृंखलित होके नीचे गिरेगा। फिर तो ऊपरवाले लोग या पितर भी गिरेंगे ही। वे अलग कैसे रहेंगे? देव-पितर हमसे जुदा तो हैं नहीं।



८. 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव'

गीताके "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" (१३।४) में बहुतसे लोग ब्रह्मसूत्रका शारीरकसूत्र या वेदान्तदर्शनके सूत्र यही अर्थ करते हैं। क्योंकि ब्रह्मसूत्र शब्द एक प्रकारसे वेदान्तसूत्रोंका नाम ही है। मगर शंकरने अपने भाष्यमें ऐसा न करके ब्रह्मके प्रतिपादक वचन ही अर्थ किया है। क्योंकि वेदान्तसूत्रके अर्थ करनेमें एक भारी दिक्कत है। ऐसा अर्थ करनेपर गीतासे पहले ही वेदान्तसूत्रोंका अस्तित्व उपनिषदों और वेदोंकी ही तरह मानना पड जायगा। तभी तो इन सबोंका उल्लेख गीतामे संभव है। किन्तु ऐसा मानने मे अडचन यह है कि ब्रह्मसूत्रोंमें ही कई जगह स्मृति शब्दसे साफ ही गीताका उल्लेख आया है। खासकर "अंशोनानाव्यपदेशात्" (वेदा० २।३।४३) मे जीवको परमात्माका अंश लिखके उसमें प्रमाणस्वरूप गीताके "ममैवांशो जीवलोके" (१५।७) का उल्लेख "अपि च स्मर्यते" (२।३।४५) सूत्रमे स्मृति शब्दसे किया है। यहाँ दूसरी स्मृतिकी संभावना हई नहीं, यह सभी मानते हैं। इसी प्रकार गीतामे "यत्र काले त्वनावृत्तिम" (८।२३-२७) मे जो उत्तरायण-दक्षिणायनका वर्णन है उसीका उल्लेख "योगिनः प्रति च स्मर्यते" (४।२।२१) मे आया है। क्योकि गीतामे भी "आवृत्तिं चैव योगिनः" (८।२३) मे यही 'योगिन' शब्द आया है। इस प्रकार जब गीताका स्पष्ट और असंदिग्ध उल्लेख ब्रह्म-सूत्रोंमे है, तो मानना पडेगा कि ब्रह्म-सूत्रोसे पहले ही गीता थी। फिर गीतामे ब्रह्म-सूत्रोंका उल्लेख कैसे संभव एवं युक्तियुक्त हो सकता है ? इसीलिये हमे ब्रह्म-सूत्रका वैसा अर्थ करना पड़ा है।

लेकिन कुछ लोग फिर भी इसे न मानके वेदान्तसूत्र ही अर्थ कर डालते हैं। वे इस दिक्कतका सामना करनेके लिये दो महाभारत और इसीलिये दो गीतायें मानते हैं। उनके मतमे पहले महाभारत न लिखा जाके भारत ही लिखा गया था। उसीमे गीता भी थी। उसीके बाद वेदान्तसूत्र बने और उनमे गीताको प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया गया। इसके बाद समय पाके भारत तखड-पखड और छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिये व्यासने उसे फिरसे एकत्र किया और कुछ इधर-उधरसे उसमे जोडा-जाडा भी। इसीसे भारतका अब महाभारत हो गया। आखिर बडा होनेका कोई कारण भी तो चाहिये और जबतक उसमे कुछ और न जुटता तबतक वह भारत हो न कहा जाके महाभारत क्यो कहा जाता ? इस प्रकार तर्क-युक्तिके साथ वे महाभारतका पुन नर्माण मानते है। या यों कहिये

कि भारतमें ही संशोधन और संवर्धन करके उसे महाभारत बनाते हैं। गीता भी उसीमें थी। इसलिये स्वभावतः उसमें भी जरामरा संशोधन हुआ और यह "ऋषिभिर्बहुधा" श्लोक उसी संशोधनके फलस्वरूप पीछेसे उसमें जुट गया। इस प्रकार यह महाभारत वेदान्त-सूत्रों के बाद ही तैयार होनेके कारण गीतामें वेदान्तसूत्रोंका उल्लेख "ब्रह्मसूत्र" शब्दसे होनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। यही है संक्षेपमें उनके तर्कों और युक्तियोंका निचोड।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि महाभारतको भारतका संशोधित एवं परि-वर्द्धित रूप ही मानें और बडा होनेसे ही उसका नाम भी युक्ति-युक्त मानें, तो सामवेदके ताड्य महाब्राह्म और पाणिनीय सूत्रोंके पातंजल महाभाष्यके बारेमें क्या कहा जायगा? यह तो सभी संस्कृतज्ञ जानते है कि सामवेदके ब्राह्मणभागको अन्य वेदोंके ब्राह्मणभागोंकी तरह केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेय ब्राह्मण आदि जैसा न कहके ताड्य महाब्राह्मण कहते हैं। इसी तरह व्याकरणके भाष्यको महाभाष्य ही कहते हैं। इतना बोलनेसे ही और भाष्योंको न समझ केवल पातंजल भाष्य ही समझा जाता है। तो क्या इसी दलीलसे यह भी माना जाय कि पहले छोटासा ताड्य ब्राह्मण और छोटा पातंजल भाष्य बना था, पीछे उन्ही दोनोंका आकार बढ़ाया गया? लेकिन यह तो कोरी कल्पना ही होगी न? कहा जाता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) मे भारत और महाभारत दोनों हीका उल्लेख है। इसीलिये इन दोकी कल्पना की गई है। मगर ताड्य या पातंजल भाष्यके बारेमें तो ऐसा कोई आधार नहीं है। यह भी बात है कि भारत एवं महाभारत दो तो मिलते नही। महाभारत ही तो मिलता है। और जब उसीमे कुछ और जोडा गया है तो दो लिखने या कहनेके मानी क्या? जबतक जुदे-जुदे पाये न जायें, दो कैसे कहे जा सकते हैं? आखिर गृह्यसूत्रोका समय उपनिषदों, ब्राह्मणों या वेदोंसे पुराना तो है नही। फलतः यदि उस समय भारत और महाभारत दोनों थे तो और ग्रंथोकी तरह दोनोंका पता तो चाहिये आज भी। नही तो गीता भी दो क्यों न मानी और लिखी जाय, लिखी जाती? सिर्फ एक सूत्र ग्रन्थमे एक शब्दको लिखा या छपा देखके इतनी लम्बी उडान उचित नही। लिखने और छपनेमें भूलसे एक ही नाम, एक ही शब्द दो बार लिख या छप जाते हैं। ऐसा प्रायः देखा जाता है। हाँ, यदि विभिन्न समयोंके लिखे और छपे दो-चार सूत्रग्रन्थोंमें ऐसी चीज मिलती, तो शायद कुछ कहा जा सकता था।

यह भी तो जरा सोचें कि महात्मा और महेश्वर शब्द पहुँचे हुए बडे लोगों या भगवानके लिये प्रयुक्त होते है। मगर इसका यह आशय नहीं होता कि खामखा

महात्माओंके पहले आत्मा शब्दसे भी किसीको कहा जाता था, या भगवानको महेश्वर कहनेके पहले जरूर ही औरोंको ईश्वर कहते थे। भगवानकी सत्ता तो सबसे पहले मानी जाती है। फिर उससे पहले कैसे कोई हुआ? "मायिनं तुमहेश्वरम्" (४।१०) में श्वेताश्वतर उपनिषदने ब्रह्मको ही महेश्वर कहा है। मगर वहाँ ईश्वरका कोई मुकाबिला है नहीं। क्योंकि उसी उपनिषदमें और वेदोंमें भी महेश्वरको ही ईश्वर भी कहा है। आत्मा नामसे न तो किसीको कभी बोलते ही और न यह विशेषण ही किसीमें लगाते हैं। स्वभावतः ही महान् होनेसे ही महात्मा या महेश्वर कहनेकी परिपाटी पड गई है। इसी प्रकार तांड्य, पातंजल भाष्य और महाभारतको भी स्वभावतः बहुत बड़े होनेके कारण ही महाब्राह्मण, महाभाष्य और महाभारत कहने लग गये। यहाँ बालकी खाल खींचनेकी जरूरत हुई नहीं। उसीमें उसे कहीं भारत और कहीं महाभारत लिखा है।

जरा यह भी तो सोचें कि भारतमें महज थोड़ा-बहुत जोड़नेसे ही तो महाभारत होता नहीं। इसके लिये तो जरूर ही बहुत ज्यादा जोड़-जाड करना होगा। जहाँ अपेक्षाकृत महत्ता दिखानी होती है तहाँ पहलेसे दूसरेमें बहुत ज्यादा अन्तर का होना अनिवार्य है। जाल और महाजाल इस बातके मोटे दृष्टान्त हैं, समुद्र में डाले जानेवाले महाजालके भीतर जाने कितने ही जाल आसानीसे समा सकते हैं, आ सकते हैं। अन्य मारक-बीमारियोंकी अपेक्षा हैजा या प्लेगको हजार गुना मारक और खतरनाक समझके ही इन्हें महामारी कहते हैं। ऐसी दशामें भारतकी अपेक्षा महाभारतमें बहुत ज्यादा—कई गुना—पदार्थ घुसानेसे ही उसे महाभारत कह सकते थे। फिर तो दोनोंकी पृथक् सत्ता अनिवार्य है। यह असंभव है कि महाभारतके रहते भारत सर्वथा लुप्त हो जाये। वराहमिहिरके बृहज्जातक के रहते लघुजातक कहीं गायब नहीं हो गया और न मंजूषाके रहते व्याकरणकी लघुमंजूषा कहीं चली गई। वराहमिहिरकी बृहत् संहिताके मुकाबिलेमें उनकी कोई लघुसंहिता या केवल संहिता नहीं मानी जाती। महान् तथा बृहत्का एक ही अर्थ है भी। सबसे बड़ी बात यह हो जायगी कि गीतामें भी तब बहुत ज्यादा परिवर्त्तन मानना होगा। यह नहीं हो सकता कि जो गीता भारतमें थी वही जरा-मरा परिवर्त्तनके साथ महाभारतमें आ गई!

परन्तु गीताके बारेमें ऐसा कह सकते नहीं। यह इतनी लोकप्रिय रही है कि इसमें एक शब्दका प्रक्षेप होना या मिलाना असंभव हो गया है। तेरहवें अध्यायमें एक श्लोक घुसेड़नेकी कोशिश कभी किसीने की जरूर। लेकिन वह सफल न हो सका। वैदिक मंत्रों, ब्राह्मणों या प्रधान उपनिषदोंमें जैसे कोई प्रक्षेप होना

संभव न हुआ, वही हालत गीताकी भी रही है। मालूम होता है, उन्हींकी तरह इसे भी लोग जबानपर ही रखते थे। इसकी भी 'श्रुति' जैसी ही दशा रही है। प्रत्युत इसमें तो और भी विशेषता है कि वेदों और उपनिषदोंको प्रायः भूल जाने पर भी इसे लोग भूल न सके। आज भी वैसा ही मानते हैं, पढ़ते-लिखते हैं, कद्र करते हैं जैसा कि पहले करते थे। इसलिये यदि कभी किसी भी हालतमें इसमें एक भी शब्द या श्लोक जोड़ा जाता तो खामखा पकड़ा जाता, यह पक्की बात है। किन्तु "ऋषिभिर्बहुधा" श्लोकके बारेमें ऐसी धारणा किसीकी भी पाई नहीं जाती। यही कारण है कि सात या ज्यादा श्लोकोंकी छोटी-छोटी गीताओंके थोड़ा बहुत प्रचार होनेपर भी, ऐसी गीता नहीं पाई जाती जिसमें यह "ऋषिभिर्बहुधा" या ऐसे ही कुछ श्लोक न हों। भारतको ही महाभारत माननेवाले भी तो नहीं बताते कि कितने श्लोक इसमें पीछे जुटे थे। इसलिये यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

एक बात और। छान्दोग्यके सातवें अध्यायमें कई बार इतिहास, पुराण आदिका उल्लेख है। इसी प्रकार बृहदारण्यके दूसरे अध्यायमें भी इतिहास, पुराण, सूत्र, व्याख्यान आदिका उल्लेख चौथे ब्राह्मणमें आया है। तो क्या इससे यह समझें कि सचमुच वेदान्तसूत्रोंकी तरह इनसे पहले भी सूत्रग्रन्थ और आजके इतिहासों और पुराणोंकी ही तरह पहले भी इतिहासपुराण थे? क्या पहले भाष्य और व्याख्यान भी ऐसे ही थे यह माना जाय? यह तो सभी मानते हैं कि पुराणोंका समय बहुत इधरका है। सूत्रोंका समय भी ब्राह्मण ग्रन्थोंके बादका ही है। फिर यह कैसे माना जाय कि इस प्रकार आमतौरसे सूत्रों और उनके व्याख्यानोंका उल्लेख करने मात्रसे वे भी ब्राह्मणग्रन्थोंसे पहले थे? खूबी तो यह है कि जब एक ही तरहका उल्लेख कई उपनिषदोंमें मिलता है तो मानना ही होगा कि वे सूत्र और व्याख्यान प्रसिद्ध होंगे और ज्यादा संख्यामें होंगे। इतिहास पुराण भी काफी होंगे। ऐसी दशामें इन शब्दोंका रूढ़ अर्थ न मानके यौगिक ही माननेमें गुजर है। जैसा कि इस श्लोकमें हमने ब्रह्मसूत्र शब्दका अर्थ रूढ़ न करके यौगिक ही किया है। दूसरा उपाय हई नहीं। इसलिये हमने जो अर्थ इस श्लोक का लिखा है वह कोई यकायक नई कल्पना नही है। किन्तु ऐसी कल्पना पहले भी होती आई है। शंकरने उसीका अनुसरण किया है। बेशक, यह विषय और भी अधिक विवेचन चाहता है। मगर वह यहाँके लिये नही है। किन्तु आगे होगा।

लेकिन दो एक ऐसी बातें और भी यहीं कह देना जरूरी है जिनके बारेमें

विशेष अन्वेषण एवं जाँच-पडतालकी जरूरत नहीं है। सबसे पहिली बात यह है। यह जानते हुए भी कि ब्रह्मसूत्रोंने गीताको ही प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है गीताकारके लिये यह कब संभव था कि उन्हीं ब्रह्म-सूत्रोंको प्रमाणके रूपमें स्वयं उद्धृत करते ? यह तो बिलकुल ही अनहोनी बात है। व्यवहारमें तो यह बात कभी देखनेमे आती नहीं। चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण और बडी पोथी क्यों न हो। मगर ज्योंही एक बार उसने किसी दूसरीको अपनी बातोंके समर्थनमें उद्धृत किया कि उसके सामने उसकी अपनी महत्ता वैसी नहीं रह जाती। फलतः कोई भी समझदार आदमी इस दूसरीके समर्थनमे पहलीकी किसी बातको प्रमाण-स्वरूप पेश नही करता, पेश करनेकी हिम्मत नहीं करता। फिर गीता जैसे महान् ग्रन्थमे ऐसी बातका होना कथमपि संभव होगा यह कौन माने ?

दूसरी बात भी इसीमे मिलती-जुलती ही है। जो लोग यह मानते है कि ज्ञानोत्तर कर्म करना गीताके मतसे अनिवार्य है, जिनके मतमे गीताकी आवश्यकता ही इसीलिये हुई थी, वही यह भी मानते है कि उस समय "ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना, हर एककी इच्छापर अवलम्बित था, अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था" (गीतारह० पृ० ५५४)। वे इसके सम्बन्धमें उन्ही वेदान्तसूत्रों या ब्रह्म-सूत्र (३।४।१५) को प्रमाणके लिये उद्धृत भी करते है। ऐसी दशामें यह बात तो समझमे आ जाती है कि ब्रह्म-सूत्र गीताको अपने समर्थनमे उद्धृत कर ले। लेकिन गीतामे उन्ही ब्रह्म-सूत्रोंका हवाला कैसे दिया जा सकता है ? क्योंकि ज्योंही यह बात हुई कि गीता पढनेवालोकी नजरमे उन सूत्रोकी महत्ता आ जायगी। फलतः ऐसे लोग वेदान्तसूत्रोकी उन बातोंपर भी स्वभावतः आकृष्ट होंगे ही जिनमे ज्ञानोत्तर कर्म करना जरूरी नही माना गया है। परिणाम क्या होगा ? यही न, कि गीतामे भी वही चीज माननेकी ओर उनकी प्रवृत्ति हो जायगी ? अतएव बडी मुसीबत और कठिनाईके बाद गीतारहस्यमे जो यह सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है कि ज्ञानोत्तर कर्म करते-करते ही मरना गीताधर्म और गीतोपदेश है, उसकी जड़मे ही इस प्रकार कुठाराघात हो जायगा। जिस बातकी पुष्टिके लिये यह चीज पेश की गई उसीको कमजोर करने लगेगी ! और खुद गीता अपने ही सिद्धान्तको दुर्बल करनेका रास्ता इस तरह ब्रह्मसूत्रका नाम लेकर साफ कर दे, यह असंभव है।

एक तरफ तो यह कहा जाता है कि महाभारतका तथा उसीके भीतर आ जानेवाली गीताका भी निर्माण "बुद्धके जन्मके बाद—परन्तु अवतारोंमें उनकी गणना होनेके पहले ही" हुआ होगा। इसीलिये विष्णुके अवतारोंमे बुद्धकी गणना

महाभारतमें कहीं पाई नहीं जाती। गीतारहस्यमें यह भी माना गया है कि यद्यपि महाभारतके युद्धके समय भागवतधर्मका उदय हो गया था। तथापि उसकी प्रधान पोथीके रूपमें इस गीताकी रचना तत्काल न होके प्रायः पाँचसौ वर्ष बाद हुई होगी। क्योंकि किसी भी सिद्धान्त या धर्मके प्रतिपादक ग्रंथ फौरन न बनके पीछे बनते हैं। इसीसे पाँचसौ साल इसके लिये मान लिया है। मगर ब्रह्मसूत्रों (२।२।१८-२६) का हवाला देके उनने यह भी लिखा है कि "आत्मा या ब्रह्ममें से कोई भी नित्य वस्तु जगत्के मूलमे नहीं है। जो कुछ देख पड़ता है वह क्षणिक या शून्य है", अथवा "जो कुछ देख पड़ता है वह ज्ञान है, ज्ञानके अतिरिक्त जगत्में कुछ भी नहीं है, इस निरीश्वर तथा अनात्मवादी बौद्ध मतको ही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते हैं" (गीता र० ५८०)। भला ये दोनों बातें कैसे सम्भव होंगी यदि ब्रह्मसूत्रोंको गीताके पहले मान लें? क्योंकि बुद्धधर्मके भीतर इन अनेक मतों और पंथोंके खड़े होने और उनके ग्रन्थोंके बननेमें तो कई सौ साल लगे ही होंगे और बिना प्रामाणिक बातके केवल मौखिक बातोंका तो खंडन ब्रह्मसूत्र जैसा ग्रंथ करता नहीं। इस तरह यदि बुद्धके बाद पाँचसौ साल भी इन बातोंके लिये मान लें तो ब्रह्मसूत्रोंका समय सन् ईस्वीके आरंभमें ही माना जायगा। फिर गीताने उन्हें कैसे उद्धृत किया या हवालेमें दिया?

एक ही बात और। "सुमन्तु जैमिनि वैशंपायन पैल सूत्र भाष्य भारत महाभारत धर्माचार्याः" (३।४।४) इसी आश्वलायन गृह्यसूत्रमें भारत और महाभारत देखके कल्पना की गई है कि दोनों दो हैं। इस सूत्रमें पहले जो सुमन्तु आदि नाम आये हैं उन्हींका सम्बन्ध भारत महाभारतसे जोड़ते हुए उनने लिखा है कि "इससे, अब यह भी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पणमे भारत महाभारत शब्दोंके पहले सुमन्तु आदि नाम क्यों रखे गये हैं" (गी० र० ५२४)। मगर हमें अफसोस है कि ऐसा लिखते समय यह बात उन्हें कैसे नहीं सूझी कि नाम तो चार ही ऋषियोंके आये हैं, मगर ग्रन्थ हो जाते हैं सूत्र, भाष्य, भारत, महाभारत और धर्म ये पाँच! हाँ, यदि यह मान ले कि भारत अलग न होके भूलसे महाभारतका ही 'भारत महाभारत' ऐसा लिखा गया है, तब ठीक हो सकता है। तभी चार ऋषियोंके लिये क्रमशः चार ग्रंथ आ सकते हैं और उन्हींके आचार्य उन्हें मान सकते हैं। यह तो गीतारहस्यके लेखक भी नहीं मानते कि सभीने पाँचों ग्रन्थ बनाये हैं। यह असंभव भी है। धर्म शब्द शेष ग्रन्थोंके साथ होनेसे ग्रंथका ही वाचक माना जाना भी चाहिये।

इस प्रकार इस विस्तृत विवेचनने गुणवाद और अद्वैतवादके सभी पहलुवों

पर संक्षेपमें ही इतना प्रकाश डाल दिया है कि उनके सम्बन्धकी गीताकी सभी बातोंको समझनेमें आसानी हो जायगी। इसके मुतल्लिक गीताकी जो खास दृष्टि है—तत्त्वज्ञान एवं वास्तविक भक्तिमें जो गीताकी दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं है, किन्तु दोनों ही एक ही है—इस बातके निरूपणसे इस चीजपर पूरा प्रकाश पड गया कि अद्वैतवाद और जगन्मिथ्यात्ववादके विधानात्मक पहलूपर ही गीताका विशेष आग्रह क्यों है।



९. "सर्वं धर्मान्परित्यज्य"

अब हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। फिर भी गीताके अठारहवें अध्यायके अन्तमें जो "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:" (६६) श्लोक आया है उसके ही सम्बन्धमें कुछ लिखना हम जरूरी समझते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि अबतकके हमारे कथनने उसपर प्रकाश नहीं डाला है। उसकी चर्चा तो बार-बार आई है। यह भी नहीं कि हम कोई नई बात खास तौरसे यहाँ कहने जा रहे हैं। इस सम्बन्धमें इतना कहा जा चुका है कि नई बात मालूम पडती ही नहीं। यों तो गीता हीरा ठहरी। इसीलिये इसे जितना ही कसो, इसपर जितना ही विचार करो यह उतनी ही खरी निकलती है और इसकी चमक उतनी ही बढ़ती है। बात असल यह है कि एक तो अठारहवें अध्यायको ही गीताका उपसंहार-अध्याय माना जाता है। उसमें भी अन्तमें यह श्लोक आया है। इसलिये गीताके उपसंहारका भी उपसंहार इसे मानके लोगोंने अपने-अपने मत और सम्प्रदायके अनुसार इसके अर्थकी काफी खींच-तान की है। यदि यह कहें कि यह श्लोक एक प्रकारसे गीतार्थका कुरुक्षेत्र बना दिया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसलिये हम यहाँ यही दिखाना चाहते हैं कि साम्प्रदायिकताके आग्रहमें गीताको उसके अत्यन्त महान् एवं उच्च स्थानसे बेदर्दीके साथ घसीटके गहरे गढ़ेमें गिरानेकी कोशिश बडेसे बड़े विद्वान भी किस प्रकार करते हैं। इसी बातका यह एक नमूना है। इसीसे समूची गीतामें की गई खींच-तान और जबर्दस्तीका पता लग जायगा। हमारा काम यह नहीं रहा है कि इतने लम्बे लेखमें किसीका भी खासतौरसे खंडन-मंडन करें। हम इसे अनुचित समझते हैं। इसके लिये तो स्वतंत्र रूपसे लिखनेका हमारा विचार है। मगर अन्तमें थोड़ासा नमूना पेश किये बिना शायद यह प्रयास अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये यह यत्न है।

इस श्लोकका अक्षरार्थ तो यही है कि "सभी धर्मोंको छोड़के एक मेरी—भगवानकी—ही शरणमें जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। सोच मत कर।" गीताको तो उपनिषदोंका ही रूप या निचोड़ मानते हैं और उपनिषदोंमें धर्म-अधर्मके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है कि उन्हें कैसे, कब और क्यों छोड़ना चाहिये। "त्यज धर्ममधर्मं च" ये स्मृति वचन धर्म-अधर्म सभीके त्यागकी बात कहते हैं। कठोपनिषदके भी "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (२।१४) तथा "नाविरतो दुश्चरितात्" (२।२३) में धर्म-अधर्म सभीके छोड़नेकी बात

मिलती है। वृहदारण्यक (४।४।२२) से धर्मोका संन्यास आवश्यक सिद्ध होता है यह हमने पहले ही सिद्ध किया है। आत्मा और उसके ज्ञानको न सभी झमेलोंसे बहुत दूरकी बात इन वचनोंने कही है। इसके सिवाय् गीतामे ही "सर्वभूत-स्थितं यो मा भजत्येकत्वमास्थितः" (६।३१), "एकत्वेन पृथक्त्वेन" (९।१५) आदि वचनोंके द्वारा यही कहा गया है कि असली भजन या भक्ति यही है कि हम अपनेको परमात्माके साथ एक समझें और जगत्को भी अपना ही रूप मानें। यहाँ एक शब्दका अर्थ गीताने स्पष्ट कर दिया है। यह भी बात है कि यद्यपि गीताका धर्म कर्मसे जुदा नहीं है, बल्कि गीताने दोनोंको एक ही माना है; तथापि मभी कर्मोका त्याग तो अमंभव है। गीताने तो कही दिया है कि "यदि सभी कर्म छोड़ दें तो शरीरका रहना भी असंभव हो जाय"—"शरीर-यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः" (३।८)। इसीलिये इस श्लोकमे कर्मकी जगह धर्म शब्द दिया गया है; हालाँकि इमसे पहलेके बीसियों श्लोकोंमे केवल कर्म शब्द ही पाया जाता है, धर्म-शब्द लापता है। इसीलिये परिस्थितिवश धर्म शब्द सामान्य कर्मके अर्थमे न बोला जाकर कुछ संकुचित अर्थमे ही यहाँ आया हुआ माना जाना उचित है। फलतः कुछ विस्तृत एवं व्यापक रूपमे शास्त्रीय विधि-विधानके अनुसार ही यहाँ धर्म शब्दका अर्थ लिया जाना उचित प्रतीत होता है। दूसरे अध्यायके "स्वधर्ममपि" (२।३१) मे जिस अर्थमे यह प्रयुक्त हुआ है, या खुद अर्जुनने ही "धर्मसंमूढ़चेताः" (२।७), 'कुलधर्माः सनातनाः" (१।४०) आदि वचनोंमे जिस संकुचित अर्थमे इसे कहा है यहाँ भी वही अर्थ या उसीसे मिलता-जुलता ही मान लेना ठीक है। छान्दोग्योपनिषद्मे "एकमेवा-द्वितीयम्" (६।२।१) मे ब्रह्मको एक कहा भी है।

इसीलिये शंकरने अपने गीताभाष्यमें धर्मशास्त्रीय बन्धनोंको छोड़के और उनमे लिखे धर्मो-अधर्मोसे पल्ला छुड़ाके "अहं ब्रह्मास्मि'—'मै खुद ब्रह्म ही हूं' इसी अद्वैतज्ञाननिष्ठाके प्राप्त करनेका प्रतिपादन इस श्लोकमे माना है। हम तो पहले अच्छी तरह बता चुके हैं कि बिना शास्त्रीयधर्मोको छोड़े या उनका संन्यास किये ज्ञाननिष्ठा गैरमुमकिन है। उमो जगह इस श्लोकका भी उल्लेख हमने किया है। यह भी बताई चुके हैं कि अठारहवें अध्यायके शुरूमे जिम संन्यास और त्यागकी असलियत और हकीकत जाननेके लिये अर्जुनने सवाल किया है वह संन्यास इसी श्लोकमे स्पष्ट रूपसे बताया गया है। इससे पहले ४९वें श्लोकमे सिर्फ उसका उल्लेख आया है। उससे पहले तो त्यागकी ही बातको लेके बहुत कुछ कहा गया है। इसी श्लोकमे जो 'परित्यज्य' शब्द आया है और जिसका अर्थ है 'परित्याग करके या छोड़के', उससे ही साफ हो जाता है कि अद्वितीय या

जीवसे अभिन्न ब्रह्मकी शरण जाने और उसका ज्ञान प्राप्त करनेके पहले धर्मोंको कतई छोड़ देना पड़ेगा। क्योंकि "समान कर्त्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा" (३।४।२१) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार पहले किये गयेके मानीमें ही 'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्यय हुआ करते हैं। परित्यागमें त्यागके अलावे जो 'परि' शब्द है वह यही बतानेके लिये है कि धर्म-अधर्मके झमेलेसे अपना पिंड कतई छुड़ा लेना होगा। विपरीत इसके अगर धर्मका अर्थ धर्मोंका फल लेते हैं तो उसका त्याग तो भगवान की शरणमें जानेपर भी होता ही रहेगा। क्योंकि ऐसा अर्थ करनेवाले तो श्रवण, कीर्त्तन आदि नौ प्रकारकी भक्तिको ही असल चीज मानते हैं। उनके मतसे शरण जानेका अर्थ ही है यही नवधा—नौ प्रकारकी—भक्ति करना। अन्य धर्मोंको भी करते रहना वे मानते ही हैं। ऐसी दशामें उनके फलोंका त्याग तो बादमें भी होता ही रहेगा। फिर यह कहनेके क्या मानी कि सभी धर्मोंसे अपना पिंड पहले ही छुड़ा लो, अगर धर्मोंका अर्थ है उनका फलमात्र ?

अब जरा दूसरोंका अर्थ भी देखें। मध्वसम्प्रदायके आचार्य अपने इसी श्लोकके भाष्यमें लिखते हैं कि "यहाँ धर्मोंके त्यागका अर्थ है उनके फलोंका ही त्याग, न कि खुद धर्मोंका ही। क्योंकि तब युद्ध करनेकी जो आज्ञा दी गई है वह कैसे ठीक होगी। इसके अलावे खुद गीताके १८वें अध्यायके ११वें श्लोकमें तो कही दिया है कि जो कर्मोंके फलोंका त्याग करता है उसे ही त्यागी कहते हैं—"धर्मत्यागः फलत्यागः। कथमन्यथा युद्धविधिः ? 'यस्तुकर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' इति चोक्तम्।'

रामानुज-सम्प्रदायके आचार्य स्वयं रामानुजके भाष्यमें भी कुछ इसी तरहकी बात लिखी गई है। वह कहते हैं कि "मुक्तिके साधनके रूपमें जितने भी काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगके नामसे प्रसिद्ध हैं वे सभी भगवानकी आराधना ही है। इसलिये प्रेमके साथ जिसे जो धर्म करनेको शास्त्रोंने कहा है उसे करते हुए ही पूर्व बताये तरीकेसे उनके फलों एवं कर्त्तृत्वके अभिमानको छोड़के केवल हमींको सबका कर्त्ता तथा आराध्यदेव मानो"—"कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोगरूपान्सर्वान्धर्मान् परमनिःश्रेयससाधनभूतान् मदाराधनत्वेनातिमात्रप्रीत्या यथाधिकारं कुर्वाण एवोक्तरीत्या फलकर्मकर्त्तृत्वादिपरित्यागेन परित्यज्य मामेकमेव कर्त्तारमाराध्यं प्राप्यमुपायं चानुसन्धत्स्व।" "एष एव सर्वधर्माणां शास्त्रीय परित्याग।"—"यही—फलादिका त्याग ही—सब धर्मोंका शास्त्र रीतिके अनुसार त्याग माना जाता है, न कि स्वयं धर्मोंका त्याग ही।"

ये दो तो पुराने आचार्योंके अर्थ हुए। अब जरा हाल-सालके लोकमान्य

तिलकके हाथों लिखे गये गीतारहस्यमें माने गये अर्थको भी देखें। वह पहले यह लिखते हैं कि "यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमें ही कह रहे हैं। इस कारण हमारा यह दृढ मत है कि यह उपसंहार भक्तिप्रधान ही है।" फिर कहते है कि "परन्तु इस स्थानपर गीताके प्रतिपाद्य धर्मके अनुरोधसे भगवानका यह निश्चयात्मक उपदेश है कि उक्त नाना धर्मोंके गडबड़में न पड़कर मुझ अकेलेको भज, मै तेरा उद्धार कर दूँगा, डर मत।" मगर आखिरमें कहते है कि "मेरी दृढ भक्ति करके मत्परायण बुद्धिसे स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर इह लोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा; डरो मत।" इसे पढनेसे तो एक अजीब झमेला खड़ा हो जाता है। एक ओर सब धर्म करते रहनेकी बात और दूसरी ओर उन्हें छोड़नेकी बात! लेकिन तिलकने कुछ खास धर्मोंको यहाँ गिनाके कहा है कि इन अहिंसा, दान, गुरुसेवा सत्य, मातृपितृसेवा, यज्ञयाग और संन्यास आदि धर्मोंको, जो परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन माने जाते हैं, छोडके साकार भगवानकी ही भक्ति करो। इस श्लोकके धर्मसे उनका मतलब उन्ही चन्द गिनेगिनाये धर्मोंसे ही है। उनने धर्म शब्दका अर्थ धर्मोंका फल करना मुनासिब न समझ यह नवीन मार्ग स्वीकार किया है। कुछ नवीनता भी तो आखिर चाहिये ही।

हमने साम्प्रदायिक अर्थोंकी बानगी दिखा दी। यह ठीक है कि तिलकने अपने अर्थको साम्प्रदायिक नहो माना है। बल्कि उनने शंकर, रामानुज आदिके ही अर्थोंको साम्प्रदायिक कहके निन्दाकी है। मगर साम्प्रदायिकताके कोई सींग-पूँछ तो होती नहीं। जो बात पहलेसे चली आती हो उसीका समर्थन करना यही तो साम्प्रदायिकता है। तिलकने यही किया है भी। भक्तिमार्ग तो पुराना है। व्यक्त या साकार भगवानकी उपासना करना ही भक्तिमार्ग माना जाता है। तिलकने न सिर्फ इसी श्लोकमें, बल्कि गीतारहस्यमें सैकडों जगह इसी भक्तिमार्ग-पर जोर दिया है। वह तो गीताका विषय ही मानते है "तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधानकर्मयोग।" उनने भक्तिमार्गियोंके ज्ञानकर्म-समुच्चयके समर्थनमें भी बहुत ज्यादा जोर दिया है। यदि और नहो तो गीतारहस्यके "भक्तिमार्ग" तथा *"संन्यास और कर्मयोग"* इन दो प्रकरणोंको ही पढ़के और खासकर रहस्यके ३५८-३६१ पष्ठोंको ही देखके कोई भी कह सकता है कि उसमें घोर साम्प्रदायिकता है। भक्तिमार्गकी आधुनिक वकालत तो ऐसी और कहीं मिलती ही नहीं। श्लोकोंके अर्थ करनेमे प्राचीन लोगोंकी अपेक्षा कुछ नई बात कह देनेसे ही साम्प्रदायिकतासे पिंड छूट नहो सकता। हरेक सम्प्रदायके टीकाकारोंमें पाया जाता है कि वे लोग शब्दार्थमें कुछ न कुछ फर्क रखते ही हैं। वे प्रतिपादनकी नई शैली

भी निकालते है। आखिर पुराने अर्थों एवं तरीकोंमें जो दोष विरोधी लोग निकालते हैं उनका समाधान भी तो करना जरूरी होता है।

हाँ, तो इन अर्थोंपर विचारकर देखें कि ये कहाँतक युक्तिसंगत और सही हैं। सबसे पहले तिलककी बात लें उनके अर्थमें दो बातें हैं। एक तो वे कृष्णके साकार या व्यक्त स्वरूपकी ही उपासना, पूजा या भक्तिका निरूपण इस श्लोकमें मानते हैं। दूसरे धर्मका अर्थ कुछ खास धर्ममात्र करके सन्तोष कर लेते हैं। अब जहाँतक व्यक्त कृष्णकी उपासनाकी बात है वह तो कुछ जँचती नहीं। चाहे और बातें कुछ हों या न हों, लेकिन क्या कृष्ण जैसे महान् पुरुषके लिये कभी भी उचित था कि अपने व्यक्त स्वरूपकी पूजा और उपासनाकी बात कहें? यह कितनी छोटी बात है! यह उनके दिमागमें आ भी कैसे सकती थी? वे ठहरे महान् विभूति। फिर इतनीसी मामूली बातको भी क्या वे समझ न सके कि खुद अपनी पूजा—प्रशंसाकी बातें कितनी बुरी और निन्दनीय होती है? वे इतने नीचे उतरनेकी बात सोच भी कैसे सकते थे? उनकी ऐसी हिम्मत हो भी कैसे सकती थी? यदि यह मान लें कि उनने अपने साकार स्वरूपकी उपासनाकी बात नहीं कहके भगवानके ही वैसे रूपकी भक्तिका उपदेश किया, तो फिर यह लिखनेका क्या अर्थ है कि "यहाँ भगवान श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमें ही कह रहे हैं?" इस वाक्यमें "श्रीकृष्ण अपने" इन शब्दोंकी क्या जरूरत थी? इनसे तो कृष्णकी अपनी ही प्रशंसाका प्रतिपादन सिद्ध होता है।

अच्छा, यदि यही मान लें कि भगवानके ही व्यक्तरूपकी उपासना है और कृष्ण अपनेको भगवान समझके ही ऐसा उपदेश करते हैं; इसीलिये उन्हें अपनी व्यक्तिगत बड़ाईसे कोई भी मतलब नहीं है; तो दूसरी ही दिक्कत आ खड़ी हो जाती है। यदि गीतारहस्यमें लिखे इस श्लोकका शब्दार्थ पढ़ें तो वहाँ लिखा है कि "सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा, डर मत।" यहाँ जो "आ जा" लिखा गया है वह श्लोकके "व्रज" का ही अर्थ है। मगर 'व्रज' का तो अर्थ होता है 'जा'। व्रज धातु तो जानेके ही अर्थमें है, न कि आनेके अर्थमें। इसलिए जबतक श्लोकमें 'आव्रज' नहीं हो तबतक 'आ जा' अर्थ होगा कैसे? यह तो उलटी बात होगी। हमने पहले भी यह लिखा है और बताया है कि उस दशामें इस श्लोकका क्या रूप बन जायगा। जबतक 'आ जा' या 'आओ' अर्थ नहीं करते तबतक अर्जुनके सामने खड़े कृष्णके व्यक्त स्वरूपकी शरण जानेकी बात इस श्लोकसे सिद्ध हो सकती ही नहीं। क्योंकि जब कृष्ण खुद सामने खड़े हैं तो अर्जुनसे अपने बारेमें 'मेरी शरण आ जा' यही कह सकते हैं। अगर 'मेरी शरण जा' कहें तब तो प्रत्यक्ष

साकार रूपको छोड़के अपने किसी और या निराकार रूपसे ही उनका मतलब होगा। जो चीज सामने नही हो, किन्तु परोक्षमे या दूर हो, उसीके सम्बन्धमे यह कहा जा सकता है कि उसकी शरणमे जाओ। परन्तु ऐसी चीज—कृष्णका ऐसा परोक्ष स्वरूप—तो केवल वही निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो सकता है और यही अर्थ शंकरने किया भी है। तो फिर इसीलिए शंकरपर तिलकके बहुत ज्यादा बिगडने और उन्हे खरी-खोटी सुनानेका मौका ही कहाँ रह जाता है ?

दूसरी दिक्कत भी सुनिए। धर्म शब्दका इतना संकुचित अर्थ करनेके लिये कारण क्या है ? यदि इस प्रकार अर्थ किया जाने लगे तो क्या यह भद्दी खीच-तान न होगी ? जिस खीच-तानका आरोप तिलकने खुद शंकरपर बार-बार लगाया है उसके शिकार तो वे इस प्रकार स्वयं हो जाते हैं। इतना ही नही। स्वयं गीतारहस्यके ४४० और ८४८ पृष्ठोमे महाभारतके अश्वमेध पर्वके ४९ और शान्तिपर्वके ३५४ अध्यायोंका हवाला देके जिन खास-खास धर्मोको गिनाया है और जिनमे "क्षत्रियोका रणागणमे मरण", "ब्राह्मणोंका स्वाध्याय", मातृ-पितृसेवा, राजधर्म, गार्हस्थ्य धर्म आदि सभीका समावेश है, उन्हीके त्यागनेकी बात इस श्लोकमे कही गई है ऐसी मान्यता तिलककी है। तो क्या इससे यह समझा जाय कि अर्जुनको युद्ध करनेसे भी उनने रोका है ? गृहस्थ धर्मसे भी उन्हे हटाया है ? माता-पिताकी सेवा और क्षत्रियके धर्म—राजधर्म—से भी उसे उनने रोका है और इन सबोको झंझट कहा है ? यह तो अजीब बात होगी। युद्ध करनेका आदेश बार-बार देते है, यहाँतक कि उस श्लोकके पहलेतक उसीपर जोर दिया है; और "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट" (४।१३) तथा "ब्राह्मणक्षत्रियविशां" (१८।४१-४४) मे न सिर्फ वर्णोंके धर्मोपर ही जोर दिया है, बल्कि उन्हे स्वाभाविक, 'स्वभावज' (natural) कहा है। तो क्या अन्तमं,सब किये-करायेपर लीपा-पोती करते है ? और अगर स्वाभाविक धर्मोके छोडनेको बातका कहना माना जाय तो सिहको अहिंसक होनेकी भी शिक्षा व्यावहारिक मानी जानी चाहिये। शंकरके अर्थमे तो यह दिक्कत नही है। क्योंकि वह तो ज्ञानोत्पत्तिके ही लिये धर्मोका त्याग कुछ समयके लिये जरूरी मानते है। वे ज्ञानके बादका त्याग सबके लिये जरूरी नही मानते। मगर जो लोग ऐसा नही मानके धर्म करनेकी बातके साथ ही इन धर्मोके झमेलेसे छुटकारेकी बात बोलते है उनके लिये ही तो आफत है। और अगर अर्जुन इस प्रकारके धर्मोको छोड ही दे तो फिर वह करेगा कौनसे "स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म ?"

और भी तो देखिये। *यदि कुछ इने-गिने धर्मोंका ही त्याग करना इस* श्लोकमे बताया माना जाय, तो फिर धर्म शब्दके पहले सर्व शब्दकी क्या जरूरत

थी ? 'धर्मान्' यह बहुवचन शब्द ही तो काफी है। उन धर्मोंको इसीसे समझ ले सकते है। ऐसी हालतमे सर्वं कहनेका तो यही मतलब हो सकता है कि कही ऐसा न हो कि बहुवचन धर्म शब्दसे कुछी धर्मोको लेके बस कर दे। इसीलिये सर्वधर्मान् कह दिया। ताकि गिन-गिनके सभी धर्मोंको ले लिया जाय। पूर्व मीमासाके कपिजलाधिकरण नामक प्रकरणमे "कपिजलानालभेत"—"कपिंजल पक्षियोंको मारे", इस वचनमे बहुवचनके खयालसे तीन ही पक्षियोंकी बात मानी गई है। जब तीन पक्षी भी बहुत हुई और उतने ही लेनेसे 'कपिंजलान्', बहुवचन सार्थक हो जाता है, तो नाहक ज्यादा पक्षियोंका सहार क्यों किया जाय ? यही बात वहाँ मानी गई है। वही यहाँ भी लागू हो सकती थी। इसीलिये 'सर्वं' विशेषण सार्थक हो सकता है। मगर तिलकके अर्थमे तो यह एकदम बेकार है। उनने खुद गीतारहस्यमे शब्दोके अर्थमे जगह-जगह बालकी खाल खीची है और दूसरोको नसीहत की है। मगर यहाँ ? यहाँ तो वही "खुदरा फजीहत, दीगरे रा नसीहत" हो गई। यहाँ "अन्यहि राह दिखावही आप अधेरे जाहि" वाली बात हो गई।

सबमे बडी बात यह है कि गीताके उपदेशका यही आखिरी श्लोक है। इसके बाद जो बाते कही गई है वे तो शिष्टाचार वगैरहकी है कि गीताकी ये बाते किन्हे सुनाई जायँ किन्हे नही आदि-आदि। मगर इस श्लोकमे जो पेचीदगी आ जाती है। उसमे बातकी सच्चाईके बदले घपला और भी बढ जाता है। यहा धर्म कहनेसे सभी धर्मोको ले या कुछेकको ही। यदि कुछेकको ही लेनेकी बात कहे तभी गडबड होती है। सभीके लेनेमे तो रास्ता एकदम साफ है—कही रोक-टोक नही। कुछेकके लेनेमे किन्हे ले, किन्हे नही, यह सवाल खामखा खडा हो जाता है। यदि यह भी लिखा होता कि शान्ति पर्व या अश्वमेध पर्वके उन दो अध्यायोंमें लिखे धर्मोको ही ले सकते है, दूसरोंको नही, तो भी काम चल जाता और घपला न होता। मगर ऐसा तो लिखा है नही। यहाँ तो धर्म शब्दसे ही अटकल लगाना है कि किनको लें किनको न ले। ऐसी हालतमे यदि कुछ ऐसे धर्म छूट गये जिन्हे लेना जरूरी है, या कुछ ऐसे लिये गये जिनका लेना ठीक नही, तो क्या होगा ? तब तो सारा मामला ही गडबडी मे पड जायगा। ऐसा नही होगा यह कैसे कहा जाय ? आखिर अटकलपच्चू बात ही तो ठहरी। फलतः अर्जुनका दिमाग साफ होनके बजाय और भी आगा-पीछामे पड जायगा। अगर ज्यादा नही तो कमसे कम उतना आगा-पीछामे तो जरूर, जितना गीतोपदेशके शुरूमे था। ऐसी हालतमे इसके बाद ही अर्जुनका यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि "आपकी कृपासे मेरा मोह दूर हो गया, मुझे सारी बाते याद हो आई और अब मुझे जरा भी शक किसी भी बातमे नही है; इसलिये आपकी बात मान लूँगा"—

'नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मिगतसंदेहः करिष्ये वचनं तव" (१८।७३) ? यह तो उलटी बात हो जाती है । अन्तमें कृष्णकी आज्ञा क्या हुई इसका पता भी लगता नहीं । फिर उनकी किस बातको माननेका वादा अर्जुनने किया ? और जब रणांगणमें मरनेवाला धर्म आखिरमें छोड़ देनेका ही कहा गया था तो अर्जुन कृष्णकी बात मानके लड़ने क्यों लगा ?

गीतारहस्यमें लिखे अर्थके बारेमें जो कुछ कहा गया है उससे शेष दो अर्थोंकी भी बहुत कुछ बातोंपर प्रकाश पड़ जाता है । असलमें रामानुजभाष्यमें आगे एक दूसरा भी अर्थ किया गया है जो तिलकके अर्थसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है । वहाँ धर्मका अर्थ कृच्छ्र, चान्द्रायण, वैश्वानर आदि अनेक यज्ञ-याग और व्रत विशेष ही किया गया है । इसीलिये जो बातें इस तरहके अर्थमें गीतारहस्यपर लागू हैं वही उस अर्थपर भी । यह ठीक है कि तिलकने एक ही धर्म शब्दके दो अर्थ कर डाले हैं । क्योंकि एक ओर तो वह कुछ गिनेचुने धर्मोंको ही धर्म-शब्दार्थ मानके उनका त्याग चाहते हैं । लेकिन दूसरी ओर उसी शब्दका यह भी अर्थ करते हैं कि "स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर ।" इसीलिये उनके यहाँ ज्यादा गड़बड़ है । मगर धर्म शब्दका जो कुछ इने-गिने धर्मोंसे ही अभिप्राय माना गया है और उसके सम्बन्धमें जो आपत्ति हमने अभी-अभी बताई है वह तो दोनोंपर ही लागू है ।

एक बात और भी दोनों ही में समान रूपसे पाई जाती है । यदि इस श्लोकके मध्व एवं रामानुज भाष्योंको उनके उन भाष्योंके साथ पढ़ें जो गीताके अन्यान्य श्लोकोंके ऊपर और खासकर ग्यारहवें तथा बारहवें अध्यायके ऊपर लिखे गये हैं, तो पता लग जाता है, कि वे लोग सगुण ब्रह्म या साकार कृष्ण भगवानकी उपासनाको ही इस श्लोकका विषय मानते हैं । ऐसी दशामें जो भी आपत्ति तिलकवाले अर्थमें 'व्रज' को लेके या और तरहसे उठाई गई है वह तो इनमें भी अक्षरशः लागू है । यह कहना कि गीताका पर्यवसान साकार भगवानकी शरणागतिमें ही है, दूसरा मानो नहीं रखता और इसमें घोरसे घोर आपत्ति बताई जा जा चुकी है । हम तो पहले ही 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दोंके अर्थोंको समझाते हुए बता चुके हैं कि उन शब्दोंसे साकार या व्यक्त कृष्णको समझना असंभव है— ऐसी कोशिश करना भारीसे भारी भूल है । जो कुछ हमें इस सम्बन्धमें कहना था वही कह चुके हैं । उसे इन भाष्योंके भी सम्बन्धमें पूरा-पूरा लागू किया जा सकता है ।

रह गई इन दोनों भाष्यकारोंकी यह दलील कि धर्मका अर्थ उसका फल और कर्त्तृत्वादि है, न कि धर्मका स्वरूप; क्योंकि गीताके इसी अठारहवें अध्यायके

शुरूमें ही त्यागका यही अर्थ माना गया है । हमने पहले योग या कर्म तथा फलमें अनासक्ति एवं बेलगावकी बातपर विचार करते हुए गीताके श्लोकोंके बीसियों दृष्टान्त दिये हैं । उनके देखनेसे साफ हो जाता है कि गीताने बार बार कर्म और उसके फलका साथ-साथ वर्णन करके दोनों हीकी आसक्तिको मना किया है । यही नहीं । "सुखदुःखे समेकृत्वा" (२।३८) जैसे अनेक श्लोकोंमें कर्मका जिक्र न भी करके उसके फलोंको ही साफ-साफ लिखा और उनमें आसक्तिको सख्तीसे रोका है । जैसा कि पहले विस्तारके साथ समदर्शनकी बात कही जा चुकी है, यह समदर्शन कर्मोंके सम्बन्धमें न होके अनेक स्थानोंपर कर्मके फलोंसे ही ताल्लुक रखता है । "यदृच्छालाभसंतुष्टः" (४।२२), "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य" आदि (५।२०-२२), "सुहृन्मित्रायुदासीन" (६।९), "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" आदि (१२।१३-१९) तथा "उदासीनवदासीनः" आदि (१४।२३-२५) श्लोकोंको यदि गौरसे देखा जाय तो कर्मोका जिक्र न भी करके फलोंमे ही अलग रहनेकी बातपर जोर देते हैं । दूसरे अध्यायके स्थितप्रज्ञ, बारहवेंके भक्त और चौदहवेंके गुणातीत—ये तीनों ही—हैं क्या यदि कर्मोंके फलोंमे कतई निर्लेप रहनेवाले लोग नहीं हैं ?

इस प्रकार गीताने असल चीज फलको ही माना है और उसीसे बचने, उसीके त्याग और उसीकी अनासक्तिपर खास तौरसे जोर दिया है । यही कारण है कि कर्मोंके साथ तो फलोंको अलग लिखा ही है; मगर स्वतंत्र रूपसे भी जगह-जगह लिखा है । दूसरे अध्यायमें जब गीताकी अपनी चीज—योग—का स्वरूप उसने "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (२।४७-४८) में बताया है, तो फलको अलग कहनेकी जरूरत पड़ी है । उसके बिना काम चली नहीं सकता था । यदि उसे अलग नहीं कहते तो योग ही चौपट हो जाता । उसकी असली शकल बन सकती न थी । गीता तो कर्मको न देख उसकी आसक्तिको ही देखती और उसीको रोकती है । उसीके साथ उसके फलकी इच्छा और आसक्तिको भी हटाती है । यह बात हम बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं । यह भी बखूबी बता चुके हैं कि अठारहवें अध्यायके "निश्चयं शृणु मे तत्र" (१८।४) से लेकर "स त्यागीत्यभिधीयते" (१८।११) तकके श्लोकोंमें साफ ही उसी कर्मासक्ति तथा फलासक्तिका त्याग कहा गया है । फिर भी हमें आश्चर्य होता है कि उन भाष्योंके रचयिता महापुरुष इन्हीं ४से ११ तकके श्लोकोंके आधारपर "सर्वधर्मान्" मे धर्मका अर्थ उसका फल और धर्मके करनेका अभिमान यह अर्थ कर डालते हैं ! दोनोंकी आसक्ति-अर्थ करते तो एक बात थी ।

यदि उन श्लोकों या गीताके योग—कर्मयोग—की बात यहाँ होती और

उसीका उपसंहार इस श्लोकमें माना जाता तो क्या कभी यह बात संभव थी कि कर्म और फल या धर्म और फलको साफ-साफ न कहते और दोनोंकी आसक्तिका अत्यन्त साफ शब्दोंमें निषेध न करते ? गीताकी तो यही रीति है और इसे उसने कहीं एक जगह भी नही छोडा है। यह बात हम दावेके साथ कह सकते है। बीसियों जगह यह बात गीता भरमें आई है। मगर सभी जगह नियमित रूपसे कर्मासक्ति और फलासक्तिका त्याग साथ कहा है। फिर उपसंहारमें भी वही बात क्यों न की जाती ? ऐसा न करनेसे तो अर्जुनके लिये साफ ही शंकाकी गुंजाइश रह जाती कि कहीं दूसरा ही तो मतलब नही है ? उपसंहारमें साफ न बोलनेसे जरूर शंका होती और उसके बाद अर्जुन हर्गिज यह नहीं कहता कि "स्थितोऽस्मि गतसन्देहः।" इसीलिये दोनों भाष्यकारोंका अर्थ गीताको मान्य नहीं यह बात निर्विवाद हो गई। यह भी तो उन्हें सोचना चाहिये था कि यदि इस श्लोकमें भी संन्यासके तत्त्वका निरूपण नहीं है और इसके पहले तो और किसी श्लोकमें हुआ ही नहीं, जैसा कि अच्छी तरह दिखाया जा चुका है, तो आखिर वह है कहाँ ? और अगर कहीं नही है तो अर्जुनकी शंका तो रही जाती है। फिर "नष्टोमोह" कैसा ?

शंकरके अर्थमें तो ऐसी एक आपत्ति भी नही हो सकती। वह तो गीताके कर्मयोग या योगका निरूपण इसमें मानते ही नही। फिर धर्म और फलको अलग-अलग लिखके उनकी आसक्तिके त्यागकी बातका उनके मतमे यहाँ अवसर ही कहाँ रह जाता है ? वह तो तत्त्वज्ञानके पहले शास्त्रीय विधिविधानके अनुसार कर्त्तव्य धर्मोंका संन्यास ही इस श्लोकमें ज्ञानके साधनके रूपमे मानते है और वह काम "सर्वधर्मान्" से ही चल जाता है। मुख्यतया पुराने संस्कारके वश किसी एकाध धर्ममे लोग चिपके न रह जायँ इसीलिये सर्वधर्मान् कह दिया है। सबोसे पिंड छुडाना जरूरी है। एक भी रहेगा तो बाधक होगा जरूर। इस सम्बन्धमें अब और लिखना यहाँ ठीक नहीं है। इसका स्वतंत्र विचार श्लोकार्थके प्रसंगसे किया जायगा।



१०. शेष बातें

गीताधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रमुख बातोंपर जहाँतक हो सका हमने अबतक प्रकाश डाला और इस तरह गीतार्थ समझनेका रास्ता बहुत कुछ साफ कर दिया। अब हमें समाप्त करनेके पहले कुछ और भी कह देना है। जो बातें हम अब कहेंगे उनका भी ताल्लुक गीताधर्मसे ही है। उनसे भी गीताका आशय समझनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी; हालाँकि ये बाते इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी अबतक लिखी गई है। बात असल यह है कि केवल आशय समझना ही जरूरी नहीं होता। श्लोकों और पदोंके अर्थोंको ठीक-ठीक हृदयंगम करना भी आवश्यक होना है। इसके बिना आशय आसानीसे समझमें आ नहीं सकता। कभी-कभी तो शब्दार्थ अच्छी तरह जाने बिना आशय और भावार्थ कतई समझमें आते ही नहीं। शब्दार्थके सिवाय भी कुछ बातें होती है जिनसे श्लोकार्थ और श्लोकका आशय समझनेमें आसानी हो जाती है। उन बातोंको जाने बिना बड़ी दिक्कत होती है। कभी-कभी तो चीज उलटे समझी जाती हैं। एकाध ऐसी भी बातें है जिनमें और कुछ न भी हो तो आशयकी गंभीरता जरूर मालूम पड़ती है। इसलिये उनका जानना भी जरूरी है। यही सब बातें लिखके और अन्तमें दो-चार शब्दोंमें गीता-धर्मका उपसंहार करके यह वक्तव्य पूरा करेंगे। इसीलिये इसमें छोटी-मोटी छुटो-छुटाई बातोंका ही समावेश पाया जायगा।

उत्तरायण और दक्षिणायन

गीताके आठवें अध्यायके "यत्र काले त्वनावृत्ति" आदि २३से २७ तकके श्लोकोंमें उत्तरायण और दक्षिणायन या शुक्ल और कृष्ण मार्गोका वर्णन आता है। इसके बारेमें तरह-तरहकी कल्पनायें होती है। पुराने टीकाकारों और भाष्यकारोंने तो प्राय: एक ही ढंगसे अर्थ किया है। हाँ, शब्दोंके अर्थोंसे किन चीजोंका अभिप्राय है इसमें कुछ मतभेद उनमें भी पाया जाता है। उनने इन दोनों मार्गोंको देवयान और पितृयान (याण) भी कहा है। यान रास्तेको भी कहते है और सवारी या लेचलनेवालेको भी। घोडा, गाड़ी वगैरह यान कहे जाते है। मगर जो पथदर्शक हो वह भी सवारीसे कम काम नहीं करता। इसलिये उसे भी यान कहते हैं और वाहक भी। इन मार्गोंको अर्चिरादि मार्ग और धूमादि या धूम्रादि मार्ग भी कहा है। पहलेमें अग्निसे ही शुरू करते हैं। और उसके बाद ही तो ज्योति:, अर्चि: या प्रकाश है। इसीलिये उसे अर्चिरादि

कह दिया है। अग्नि ही यद्यपि शुरूमें है और उसके बाद ही ज्योतिः शब्द और कहीं-कहीं अर्चिः शब्द आता है; मगर अग्न्यादि मार्ग न कहके अर्चिरादि इसलिये कहते है कि अग्नि तो दोनोंमे है। उसके बाद ही रास्ते बदलते हैं। दूसरेमें धूमसे ही शुरू करनेके कारण धूमादि नाम उसका पड़ा। इसी धूमको किसी-किसीने धूम्र कहा है। धूम्रके मानी है मलिन या अँधेरेवाला। इस मार्गमें प्रकाश नहीं होनेसे ही इसे धूम्रादि कह डाला। कुछ नये टीकाकारोंने यही कहके सन्तोष कर लिया कि हमें इन श्लोकोंका तात्पर्य समझमे नही आता। असलमे पुराणोंकी तो बात ही जाने दीजिये। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों-मे भी जो इन दोनों मार्गोका वर्णन है उसपर भी उन्हें या तो विश्वास नहीं है, या उसे भी वे एक पहेली ही मानके ऐसा कह देते है।

बेशक यह चीज पुरानी है यहाँ तक कि ऋग्वेद (१०।८८।१५) में भी इसका जिक्र है। यास्कके निरुक्त (१४।९) मे भी यह बात पाई जाती है। महाभारतके शान्तिपर्वमे ता हई। वेदान्तदर्शनके चौथे पादके दूसरे और तीसरे अधिकरणोंमे भी यह बात आई हे। इसपर वाद-विवाद भी पाया जाता है। कौषीतकी उपनिषद्के पहले अध्यायके शुरूके २, ३ आदि मंत्रोंमे भी यह बात आई है। वहाँ बहुत विस्तृत वर्णन है जो अन्य उपनिषदोंमे नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्के पाँचवे अध्यायके दसवें ब्राह्मणमे थोड़ीसी और छठे अध्यायके दूसरे ब्राह्मणके कुल सोलह मंत्रोंमे यही बात आई है। हालाँकि कौषीतकीवाली कुछ ब्योरेकी बातें इसमें नही लिखी है; फिर भी बहुत विस्तृत वर्णन है। छान्दोग्योप-निषद्के पाँचवें अध्यायके तीनसे लेकर दसतकके आठ खंडोंमे भी यह वर्णन पूरा-पूरा पाया जाता है। उसके चौथे अध्यायके १५वें खंडमें भी यह बात आई है। जब ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थसे लेकर महाभारततकमे यह चीज पाई जाती है तो मानना ही होगा कि उस समय इसका पूरा प्रचार था। इसपर पूरा मनन, विचार और अन्वेषण ही उस समय जारी था। इसीलिये इस प्रश्नका महत्त्व भी बहुत ज्यादा था। यदि छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमे इस विषयका निरूपण पढ़ें तो पता लगता है कि आरुणि जैसे महान् ऋषिको भी इसका पता न था। इसे वहाँ पंचाग्नि-विद्या कहा है। साथ ही छान्दोग्य उपनिषद्मे ही नक्षत्र विद्या आदि कितनी ही विद्यायें (Science) गिनाई है, जिनका नाम भी हम नहीं जानते। छान्दोग्योपनिषद्के सातवें अध्यायके पहले और दूसरे खंडोंमे नारदने सनत्कुमारसे कहा है कि ऋग्वेदादि चारों वेदों, वेदोंके वेद, पाँचवें इतिहास-पुराणके सिवाय, अनेक विद्याओंके साथ देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जनविद्या और देवविद्या जानता हूँ। ये विभिन्न

वैज्ञानिक अध्ययन नहीं तो और क्या है ? मगर अन्यान्य बातोंमें पतनके साथ ही इस बातमें भी हमारा पतन कुछ ऐसा भयंकर हो गया कि हम ये बातें पीछे चलके कतई भूल गये । आज तो यह हालत है कि इन्हें हम केवल धर्म; बुद्धिसे ही मानते है, सो भी इसीलिये कि हमारी पोथियोंमे लिखी हैं । मगर इनके बारेमें न तो सोच सकते और न कोई दार्शनिक युक्ति ही दे सकते हैं ?

लेकिन यदि थोड़ा भी विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इन बातोंका उसी कर्मवादसे ताल्लुक है जिसका निरूपण हम बहुत ही विस्तारके साथ पहले कर चुके है । जब हमारे पुराने आचार्य, ऋषिमुनि और दार्शनिक पुनर्जन्मको स्वीकार करने लगे तो उनने उसके मूलमें इस कर्मवादको ही माना । सद्गति और दुर्गति या मनुष्यसे लेकर कीट-पतंग एवं वृक्षादिकी योनियोंमें जाने और वैसा ही शरीर ग्रहण करनेका कारण वह कर्मको ही मानते थे । आज हम यहाँ मनुष्य शरीरमे हैं । कुछ दिन बाद मरके हजार कोसपर पशु या किसी और योनिमें जायेंगे । सवाल होता है कि वहाँ हमें कौन, क्यों पहुँचायेगा और कैसे ? हमने यहाँ बुरा-भला कर्म किया । उसका फल हमें हजारों कोसपर कौन पहुँचायेगा ? जब व्यष्टि और समष्टि दोनों ही तरहके कर्मोसे हमारे शरीर बनते या बुरी-भली बातें होती हैं, तो यहाँके गैरके द्वारा किये गये कर्मोसे हमारा शरीर कही दूर देशमें कैसे बनेगा कि हम उस गैरको वहीं उसी शरीरसे सतायेंगे या आराम देंगे ? श्राद्ध, यज्ञयागादि हमारे लिये कोई भी करे और उसका नतीजा हमें भी मिले—क्योंकि एकके कर्मका फल दूसरेको भी मिलता ही है, यह बता चुके हैं—इसकी व्यवस्था कैसे होती है ? किसीने हमारे मरनेपर पिंड-दान या तर्पण किया और हम बाघ या साँपकी योनिमे जनम चुके हैं, तो उस श्राद्ध या तर्पणका फल मास या हवा आदि के रूपमे हमें कौन पहुँचायेगा ? बाघको मांस ही चाहिये न ? भात या आटेका पिंड तो उसके किसी कामका नहीं । वह तो यहीं रह जाता है भी । साँपको भी तो हवा चाहिये । ऐसी ही बातोंपर सोच-विचार करके उनने कर्मवादकी शरण ली । साथ ही सबकी व्यवस्थाके लिये एक व्यापक चेतन शक्तिको मानकर उसे ईश्वर नाम दिया । ईश्वर कहते है शासन करनेवालेको ।

इसी कर्मवादके सिलसिलेमें यह उत्तरायण और दक्षिणायनवाली बात भी आ गई । हम तो कही चुके हैं कि हरेक पदार्थोसे अनन्त परमाणु प्रत्येक क्षणमें निकलते ही रहते और उनकी जगह दूसरे आते रहते है । यह भी बात अच्छी तरह लिखी गई है कि ठीक समयपर ये परमाणु निकलते है, इनके कोष (stock) हजारों ढंगके बने होते हैं, नये भी बनते जाते हैं, उनमेंसे ही दूसरे परमाणुओंके

चावल वगैरहमें शामिल होते है और उनमे जो निकले थे वे या तो पहलेसे बने परमाणु-कोषमे जा मिलते हैं या उनसे नये कोष बनते है। यह बात दिनरात चालू है। हमारी बाहरी आख इसे नही देखती है सही मगर भीतरी आँखे माननेको मजबूर होती है। फिर भी यह सारी बाते कैसे हो रही है और इनकी क्या व्यवस्था है, हम नही जानते। ब्योरेकी बाते हमारी शक्तिके बाहरकी है। नही तो फिर ईश्वरकी जरूरत ही क्यो हो ? तब हमी ईश्वर न्ही बन जाते ? हम भीतरकी धुँधली आँखोमे इन बातोंको मोटा-मोटी देखते है। क्योकि इनके बिना काम चलता नही दीखता, अक्ल रुक जाती है, आगे बढ पाती नही और कुंठित हो जाती है। जो नये परमाणु आते है वह ऊपर ही ऊपर गर्द-गुब्बारकी तरह नही चिपकते। वे तो चावलोके भीतर घुस जाते, उनमे घुस जाते, प्रविष्ट हो जाते। उनके अंग प्रत्यग बन जाते है !

जिस प्रकार ये बाते भौतिक पदार्थोंके बारेमे उनने इस भौतिक विज्ञान-युगके आनेके बहुत पहले मान ली थी, देख ली थी, हम यह पहले ही कह भी चुके है, ठीक उसी प्रकार कर्म और आत्माके बारेमे भी उनने—उनकी सूक्ष्म आँखोंने—कुछ बाते देखी, कुछ सिद्धान्त स्वीकार किये। आत्मा या आत्माके साथ ही चलने वाले सूक्ष्म शरीरके आने-जानेके बारेमे भी उनने कुछ बाते तय की थी। गीताने 'ममैवांशो जोवलोके" आदि (१५।७-११) श्लोकोमे जीवात्माके आने जाने का जो वर्णन करते हुए कहा है कि वह मन आदि इन्द्रियोको साथ लेके जाता है वह उनकी यही कल्पना है। मन आदि इन्द्रियोसे मतलब वहाँ उस सूक्ष्म शरीरसे ही है, जिसमे पूर्वोक्त पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन एव बुद्धि यही सत्रह पदार्थ पाये जाते हैं—वह शरीर इन्ही सत्रहोसे बना है। मरनेके समय वही निकल जाता है स्थूल शरीरसे, और जन्म लेनेमे वही पुनरपि आ घुसता है। उसीके साथ आत्माका आना-जाना है। खुद तो आ जा सकतो नही। आईनेके साथ जैसे किसी चीजका प्रतिबिम्ब चलता है वैसे ही सूक्ष्म शरीरके साथ आत्माका प्रतिबिम्ब चलता है। आत्मा स्वय तो सर्वत्र व्यापक है। वह कैसे आये जायेगी ? प्राणोका काम है घोडेकी तरह खीचना। उनमे क्रिया जो है। बुद्धि आईना है। उसीमे आत्माका प्रतिबिम्ब है। वही अँधेरेमे रास्ता दिखाती है।

यहाँ सवाल यह होता है कि सूक्ष्म शरीरका यह आना-जाना कैसे होता है ? यह किस रास्तेसे, किस सवारी या पथदर्शककी मददसे ठीक रास्तेपर जाता है और चौराहेपर नही भटकता ? रास्तेमे पडाव है या नही। पथदर्शक (guide) भी तो अनेक होगे। क्योंकि एक ही कहाँतक ले जायेगा ? और यदि एक ही जीवात्माके सूक्ष्म शरीरको ले जाना हो तो यह भी हो। मगर यहाँ तो

हजारों हैं, लाखों हैं, अनन्त हैं। रोज ही लाखों प्राणी मरते हैं। फलतः रास्तेमें भीड़ तो होगी ही। इसीलिये कुछ दूर बाद ही एक पथदर्शक अपनी थाती (charge) को दूसरेके जिम्मे लगाके फौरन लौट आता होगा। फिर दूसरेको ले चलता होगा। इस प्रकार सबकी ड्यूटी बँटी होगी, बँधी होगी। कितनी दूरसे कितनी दूरतक हरेकका चार्ज रहेगा यह भी निश्चित होगा, निश्चित होना ही चाहिये। जैसा यहाँ भौतिक दुनियामे हो रहा है उसीके अनुसार ही उस दुनियामें भी, जिसे आध्यात्मिक या परलोककी दुनिया कहते है, उनने सोच निकाला होगा। दूसरा करते भी क्या? दूसरा तो रास्ता है नहीं, उपाय है नही। यही है उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गके माननेकी दार्शनिक बुनियाद। यही है उसका मूल सिद्धान्त।

मरनेके बाद शरीरको तो जलाई देते थे। कमसे कम अग्नि संस्कार करते थे। यह भी कहा जाता है कि जलाने या अग्नि संस्कारके ही समय समान नामक प्राण इस शरीरसे निकलता है। तबतक चिपका रह जाता है। यह खयाल अत्यन्त पुराना है। इसीलिये मृतकका जलाना और अग्नि-संस्कार हिन्दुओं के यहाँ जरूरी माना गया है। यही कारण है कि जो लोग किसी वजहसे मृतकको जला नहीं सकते वह भी अग्निसंस्कार अवश्य करते हैं। जलानेसे बिगड़ते-बिगड़ते यह बात हो गई! मगर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जलानेके बाद ही जीवात्माकी अतिम विदाई यहाँसे होती है, ऐसी ही मान्यता थी। यही कारण है कि गीता (८।२४) में अग्निसे ही शुरू किया है—उत्तरायण मार्गको लिखते हुए अग्निसे ही शुरू किया है। हालाँकि जब इस मार्गको ज्योतिरादि या अर्चिरादि कहते है तब तो अग्निके बाद जो ज्योतिः शब्द आया है उसे ही शुरूमे आना चाहिये था। इसीलिये अगले श्लोकमें धूमसे ही शुरू किया है। मगर अग्नि देनेका अभिप्राय यही है कि अग्निसे सम्बन्ध तो सभी का होता है। उसके बाद ही दो रास्ते अग्निको ज्वाला और उसके धूमसे शुरू हो जाते हैं। यही वजह है कि अगले श्लोकमे अग्नि शब्दकी जरूरत न समझी गई। उसका काम तो पहले ही श्लोकसे चला जाता है। उस एक ही अग्नि शब्दसे और दोनों मार्गोंके ज्योतिरादि एवं धूमादि नाम होनेसे ही लोग यह आसानीसे समझ जायँगे कि अग्निमे जलानेके बाद ही ज्योति और धूमसे सम्बन्ध होगा, न कि पहले।

"यत्रकाले त्वनावृत्ति" (८।२३) में कालका उल्लेख है। उससे यह भी पता चलता है कि दोनों मार्गोंमें काल हीकी बात आती है। लेकिन यहाँ तो शुरूमें अर्चि और धूम ही आये हैं। उनके बाद अहः, रात्रि, कृष्णपक्ष, शुक्ल, उत्तरायणके छे महीने और दक्षिणायनके छे महीने जरूर आये हैं, ये काल या समयके

ही वाचक है भी । लेकिन आगेके श्लोकोंमें 'गती' और 'सृती' शब्द मार्ग या रास्तेके ही मानीमे आये है । इसलिये, एव छान्दोग्य, बृहदारण्य तथा निरुक्त आदिमे भी उत्तरायणमे आदित्य, चन्द्र विद्युत् और मानस या अमानव आदिका तथा दक्षिणायनमे पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा आदिका भी जिक्र है इसलिये भी, बहुतोका ख्याल है कि यहाँ काल या समयकी बात न होके कुछ और ही है । इसके विपरीत महाभारतके भीष्म पर्व (१२०) और अनुशासनपर्व (१६७) से पता चलता है कि आहत होनेके बाद भीष्म बाण-शय्यापर पड़े-पड़े उत्तरायण-कालको देख रहे थे कि जब सूर्य उत्तरायण हो तो शरीर छोड़े । इसीलिये जबतक दक्षिणायन रहा वह प्राणत्याग न करके लोगोंको उपदेश देते रहे । इससे तो कालकी ही महत्ता उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गोंमे प्रतीत होती है । गीताने शुरूमे काल ही नाम इन दोनोको दिया भी है ।

इस उलझनको सुलझानेके लिये शंकरने कहा है कि* प्रधानता तो कालकी ही है । इसीलिये दूसरोके आ जानेपर भी काल ही कहा गया है । क्योंकि जिस वनमे ज्यादा आम हों उसे आम्रवन और जहाँ ब्राह्मण ज्यादा हो उसे ब्राह्मणोका गाँव कहते है—"भूयसातुनिर्देशो यत्रकाले त कालमित्याम्रवणवत् ।" कुछ लोगोंने इससे यह भी अर्थ लगाया है कि जब किसी समयमे वैदिक ऋषियोका निवास उत्तर ध्रुवके पास था, जहा छे मासके दिनरात होते हैं, उसी समय उत्तरायणका समय मृत्युके लिये प्रशस्त माना गया । वही बात पीछे भी चल पडी । इसलिये शंकर आदिने जो ज्योति., अहः आदि शब्दोमे तत्सम्बन्धी देवताओको माना है उसपर उनने आक्षेप भी किया है, हालाकि काल तो शंकरने साफ ही स्वीकार किया है । हमारे जानते तो शकरका लिखना सही है । इसकी सुलझन भी हमे थोडा विचार करनेसे मिल जाती है । हमे इस बातके विवादमे नही पडना है कि उत्तर ध्रुवके पास कभी आर्य लोग या वैदिक ऋषि थे या नही । संभव है, वे रहे भी हों ! मगर यहा वह बात नही है, हमारा यही खयाल है ।

असलमे एक बात सोचनेकी यह है कि प्रत्येक पदार्थके परिपक्व होनेमे सबसे बडा हाथ काल या समयका ही होता है यह तो मानना ही होगा । कम-बेश समयके चलते ही चीजे पक्व तथा अपक्व होती हैं । यह ठीक है कि युक्तिसे हम समयमे कमी बेशी कर दे सकते है । मगर समयकी अपेक्षा तो फिर भी रहती ही है । काल और दिशाको जो प्राचीन दार्शनिकोने माना वह इसी जरूरत-को पूरा करनेके लिये । काल और दिशामे कोई बुनियादी फर्क नही है । दोनों एक जैसे ही है और एक दूसरेके सहायक हैं । इसीलिये वस्तुगत्या एक ही है । हम देखते है कि पदार्थोंमे परमाणुओंका आना या वहाँसे जाना भी समयकी

अपेक्षा करता है। कैसा परमाणु कब निकले या आये यह बात भी कालकी अपेक्षा रखती है। यहाँ उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गोंमें क्रमशः उपासना या अपरिपक्व ज्ञान तथा कर्मके परिपाककी ही जरूरत है भी; ताकि आगे वे अपना परिणाम या फल दिखला सकें। इसीलिये जो भी परिणाम होनेवाला हो उससे पहले एक लम्बा या विस्तृत काल होगा ही, फिर वह लम्बाई चाहे बहुत ज्यादा हो या अपेक्षाकृत कम हो। ऋषियोंने उसी कालकी कल्पना करके उसके विभाग वैसे ही किये जैसे हमने यहाँ कर रखे है — जैसे यहाँ पाये जाते हैं। इस विभागके बाद जब ज्यादा लम्बा काल आ गया तो उसे हमारी अपनी तराजूसे नाप-जोख और बटवारा न करके दिव्य या देवताओंको तराजूसे ही बँटवारा किया। आखिर हमारी नन्ही तराजूसे कबतक बाँटते रहते? यही रहस्य है दैवी या दिव्य वर्ष माननेका जिसमें हमारे छे महीनेका दिन और उतनेकी ही रात मानी गई। यह तो मामूली दिव्यतराजू हुई। मगर इससे भी लम्बी है आखिरी तराजू, जिसे हिरण्यगर्भ या ब्रह्माकी तराजू कहते है। इसमें हमारे हजार युगोंके दिनरात माने जाते हैं। यही बात गीताने इस उत्तरायण-दक्षिणायन-विवेचनके पहले उसी अध्यायमें ''सहस्रयुगपर्यन्तं'' (८।१७-१९) श्लोकोंमे लिखी है। उसका भी इसीसे ताल्लुक सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उसीके बाद उत्तरायण आदिको बात पाई जाती है।

भीष्मकी उत्तरायणवाली प्रतीक्षा भी इसी बातको पुष्ट करती है। जब उपासना या कर्मके परिपक्व होनेमें समय सहायक है तो उत्तरायणकाल क्यों न होगा? वह तो थे उपासक। इसलिये उन्हे जाना था उसी मार्गसे। उसमें जो परिपाक होनेमे देर होती और इस तरह उनका वह उपासना रूप ज्ञान देरसे पकता, उसीकी आसानीके लिये उनने उत्तरायणकी प्रतीक्षा की। यह आमतौरसे देखा जाता है कि लोग रातमे ही मरते है। आम लोग वैसे ही होते है। उन्हें ज्ञानसे ताल्लुक होता ही नहीं। इसीलिये उनका रास्ता अँधेरेका ही होता है। दक्षिणायन कुछ ऐसा ही है भी। वहाँ धूम, रात वगैरह सभी वैसे ही है। यह ठीक है कि बड़े-बड़े कर्मी लोगोंके बारेमे ही दक्षिणायन मार्ग लिखा है। जो ऐसे उपासक, ज्ञानी या कर्मी नहीं हैं उनके बारेमें छान्दोग्यके ''अथैतयोः पथोर्न'' (५।१०।८) में यह मार्ग नहीं लिखा है। लेकिन इसका इतना ही अर्थ है कि ऐसे लोग स्वर्ग या दिव्यलोकमें नहीं जाके बीचसे ही अपना दूसरा मार्ग पकड़ लेते हैं। क्योंकि मरनेपर आखिर ये भी तो दूसरे शरीर धारण करेंगे ही और उन शरीरमें इन्हें पहुँचानेका रास्ता तो वही है। दूसरा तो संभव नहीं। यह ठीक है कि उत्तरायण और दक्षिणायन शुरूमें ही अलग होनेपर भी सम्वत्सरमें

जाके फिर मिल जाते है। मगर तीसरे दलवाले जनसाधारणके मार्गको वहाँ मिलने नही दिया जाता। साथ ही दक्षिणायनवाले सम्वत्सर या सालके छे महीनोके बाद पितृलोकमे सीधे जाते है और इस प्रकार ऊपर जाके दो रास्ते साफ हो जाते है जैसा कि छान्दोग्य (५।१०।३) से स्पष्ट है। वैसे ही कर्मी लोगोके रास्तेमे भी कुछी दूर जाके जनसाधारण अपना दूसरा रास्ता पकड लेते है। उत्तरायणवाले ब्रह्मलोक जाते है। दक्षिणायनवाले स्वर्ग जाते है। शेष लोग दोनोमे कही न जाके मरत-जीते रहते है। यही तो वहाँ साफ लिखा है। स्वर्गमे लौटते हुये चन्द्रलोकमे आके आकाशमे आते और वायु आदिके जरिये मेघमे प्रविष्ट होके उन अन्नोमे जा पहुँचते है जिन्हे उनके भावी माता-पिता खायेगे। पानीसे तो अन्न होता ही है। गीताने भी यह कही दिया है। इसीलिये वृष्टिके द्वारा अन्नमे जाते है। यही बात छान्दोग्य (५।१०।५-६) मे पाई जाती है। पाँच आहुतियोके रूपमे इसीका विस्तार इसीसे पहलेके ४से ९तकके खंडोमे किया गया है। मगर साधारण लोग आकाशके बाद चन्द्रमा होते स्वर्गमे नही जाते, किन्तु वहीमे वायुमे हाके वृष्टिके क्रमसे अन्नमे आ जाते है। बस, यही फर्क है।

अतः कुछ इस तरहका सम्बन्ध इस रातको मौतमे मालूम होता है कि वह साधारणतः दक्षिणायन मार्ग और उस अँधेरे रास्तेसे ही जुटी है—रात्रिकी मौतका दक्षिणायन या अर्द्ध दक्षिणायनवाले अँधेरे रास्तेमे ही सम्बन्ध आमतौरसे है। इसमे केवल अपवाद ही होता है—हो सकता है। यह बात अस्वाभाविक या आकस्मिक मृत्यु वगैरहमे ही पाई जाती है जो दिनमे होती है। कमसे कम यही खयाल उस समयके दार्शनिको और विवेकियोंका था। इसीलिये भीष्मने दिन और उत्तरायणकी मौतको ही पसन्द किया। इसीलिये उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते रहे। उनने और दूसरे लोगोने माना कि इस तरह उनके ब्रह्मलोक पहुँचने या उपासनाके परिपक्व होनेमे आसानी होगी। हमारे जानते यही तात्पर्य इस समस्त वृत्तान्त और वर्णनका है। इससे सबका समावेश भी हो जाता है। मार्ग या रास्ता कहनेमे तो कोई अन्तर आता नही है। मार्ग तो वह हई। आखिर जमीनका रास्ता तो वहाँ है नही। वह तो दिशा तथा समयका ही है। ऊँचे, नीचे, पूर्व, पश्चिम कही भी जाना हो उसका कालसे सम्बन्ध हई और पूर्व आदि दिशाको कालसे जुदा मानते भी नही यह कही चुके है।

उत्तरायण प्रकाशमय है और दक्षिणायन अँधेरा। इसीलिये पथदर्शकोके नाम भी दोनोमे ऐसे ही है। मालूम होता है, जैसे चावलके परमाणु निकलनेके रास्ते और साधन है जिन्हे हम देख न सकनेपर भी मानते है, नहीं तो

व्यवस्था न होके गड़बड़ी हो जाती; वैसे ही शरीरदाहके बाद उत्तरायण मार्गमें चिताग्निकी ज्योति और दक्षिणायनमें उसका धुआँ मृतात्माकी सूक्ष्म देहको ले चलनेका श्रीगणेश करते हैं। कमसे कम प्राचीनोंने यही कल्पना की थी कि सूक्ष्म शरीरको यही दोनों यहाँसे उठाते और ले चलते हैं। आगे दिन और रातको सौंप देते हैं। वह शुक्ल और कृष्ण पक्षको। यही क्रम चलता है। ज्योति, धूम आदिको देवता तो इसीलिये कहा कि इनमे वह अलौकिक—दिव्य—ताकत है जो हम औरोंमें नही पाते। सूक्ष्म शरीरको ले जाना और पहुँचाना असाधारण या अलौकिक काम तो हई। वैदिक यज्ञयागादि कर्मोका ज्ञान या विवेकसे ताल्लुक है नहीं यह तो गीताने "यामिमां" (२।४२-४६) आदिमे कहा ही है और उन्हीका फल है यह दक्षिणायन। इसीलिये यहाँ प्रकाश नहीं है। जैमेका तैसा फल है। उधर उपासना कहते है अपूर्ण ज्ञानकी अवस्थाको ही। इमलिये उसमें प्रकाश तो हुई। यही बात उत्तरायणमें भी है। ज्ञानके अपूर्ण होनेके कारण ही मृतात्माकी, ब्रह्मलोकमें पहुँचनेके उपरान्त समय पाके ज्ञान पूर्ण होनेपर, ब्रह्माके साथ ही मुक्ति मानो गई है। इसीको क्रम मुक्ति भी कहते है। जैसे जनसाधारणके लिये इन दोनोंको अपेक्षा जीने-मरनेका एक तीसरा ही रास्ता कहा गया है; उमी तरह अद्वैततत्त्वके ज्ञानवालेका चौथा है। वह तो कही जाता है न आता है। उसके प्राण यहीं विलीन हो जाते और वह यही मुक्त हो जाता है।

गीताने एक ओर तो यह चोज कही है। दूसरी ओर "त्रैविद्या मां" (९।२०—२१) में अस्थायी स्वर्ग मुखका भी वर्णन किया है। उमे भी कर्म-फल ही बताया है। वह यही दक्षिणायनवाली ही चीज है। यों तो ब्रह्मज्ञान और आत्मानन्दका गीतामें सारा वर्णन ही है। स्थित प्रज्ञ, भक्त और गुणातीतकी दशा उमी आत्मज्ञान और ब्रह्मानन्दकी ही तो है। सवाल होता है कि स्वर्ग और ब्रह्मानन्दके अलावे उत्तरायण-दक्षिणायनके पृथक् वर्णनकी क्या जरूरत थी? इससे व्यावहारिक लाभ है क्या? गीता तो अत्यन्त व्यावहारिक (Practical) है। इसीलिये यह प्रश्न होता है।

असलमे कर्मोके सिलसिलेमे कर्मवादकी बात आते-आते यह भी आनी जरूरी थी। इससे साधारण कर्मोकी तुच्छता, अपूर्ण ज्ञानकी त्रुटि एवं पूर्ण तत्त्वज्ञानकी महत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वर्गके वर्णनमें केवल स्वर्गकी बात और उसकी अस्थिरता आती है। मगर ब्रह्मलोककी तो आती नहीं। एक बात और है। उपनिषदोंमें दक्षिणायनके वर्णनमें कहा गया है कि चन्द्रलोकमे जाके जीवगण देवताओंके अन्न या भोग्य बन जाते हैं। देवता उन्हे भोगते है। देवताका अर्थ है दिव्यशक्तियाँ। वहाँ भी गुलामी ही रहती है। दिव्यशक्तियाँ जीवसे ऊपर

रहती हैं। फिर वह वहाँसे नीचे गिरता है। इसीलिये उसे यह खयाल स्वभावतः होगा कि हम ऐसा क्यों न करें कि कमसे कम ब्रह्मलोक जायें, जहाँ कोई देवता हमपर न रहेगा; या आत्मज्ञान ही क्यों न प्राप्त कर लें कि सभी आने-जानेके झमेलोंसे बचे और खुद देवता बन जायें। क्योंकि नौ, दस, ग्यारह अध्यायोंमें तो सभी देवताओंको परमात्माका अंश या उसकी विभूति ही कहा हैं और ज्ञानी स्वयं परमात्मा बन जाता ही है—वह खुद परमात्मा है। बस, इससे अधिक लिखनेका यहाँ मौका नहीं है।

गीताकी अध्याय-संगति

गीताका अर्थ समझनेमें एक जरूरी बात यह है कि हम उसमें प्रतिपादित विषयोंको ठीक-ठीक समझें और उनका क्रम जानें। इसीका सम्बन्ध ज्ञान और विज्ञानसे है जिसका उल्लेख गीता (७।२-९।१) में दो बार स्पष्ट आया है। इस दृष्टिसे हम गीताके अध्यायोंको देखें तो ठीक हो।

पहला अध्याय तो भूमिका या उपोद्घात ही है। वह गीतोपदेशका प्रसंग तैयार करता है जो अर्जुनके विषादके ही रूपमें है। यही सबसे उत्तम भूमिका है भी। इसके करते जितना सुन्दर प्रसंग तैयार हुआ है उतना और तरहसे शायद ही होता।

दूसरे अध्यायका विषय है ज्ञान या सांख्य। इसमें उसीकी मुख्यता है।

तीसरेमें कर्मका सवाल उठाके उसीपर विचार और उसीका विवेचन होनेके कारण वही उसका विषय है।

चौथेमें ज्ञानका कर्मके संन्याससे क्या ताल्लुक है यही बात आई है। इसी-लिये उसका विषय ज्ञान और कर्म-संन्यास है।

स्वभावतः, जैसे दूसरे अध्यायमें ज्ञानके प्रसंगसे कर्मके आ जानेके कारण ही तीसरेमें उसका विवेचन हुआ है, उसी तरह चौथेमें संन्यासके आ जानेसे पाँचवेंमें उसीका विवेचन है वही उसका मुख्य विषय है।

छठेमें अभ्यास या ध्यानका विवरण है। यह ज्ञानके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। इसे ही पातंजल योग भी कहते हैं। चौथेके ज्ञान और कर्म-संन्यासके मेलको ही ब्रह्मयज्ञ भी कहा है और वही उसका मुख्य अर्थ शंकरने लिखा है। ठीक ही है। पाँचवेंके मुख्य विषय—संन्यास—को उनने प्रकृतिगर्भ नाम दिया है। बाहरी झमेलोंसे पिंड छुड़ाके किस प्रकार प्राकृतिक रूपमें ब्रह्मानन्दमें मस्त हो जाते हैं यही बात उसमें सुन्दर ढंगसे लिखी है। संन्यासीके सम्बन्धमें प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखा भी है कि वह जैसे माताके गर्भसे बाहर आनेके

समय था वैसा ही रहे—"यथाजातरूपधरः।" इसलिये इस संन्यासको प्रकृतिगर्भ कहना सर्वथा युक्त है।

इस प्रकार छठे अध्यायतक जो बाते लिखी गई है उनके अलावे और कोई नवीन विषय तो रह जाता ही नही। यही बाते आवश्यक थी। इन्हीसे काम भी चल जाता है। शेष बात तो कोई ऐसी आवश्यक बच जाती है नही, जो गीता-धर्मके लिये जरूरी हो और इसीलिये जिसका स्वतंत्र रूपसे विवेचन आवश्यक हो जाय। हाँ, यह हो सकता है कि जिन विषयोंका निरूपण अबतक हो चुका है उनकी गंभीरता और अहमियतका खयाल करके उन्हींपर प्रकारान्तरसे प्रकाश डाला जाय। उन्हें इस प्रकार बताया जाय, दिखाया जाय कि वे हृदयंगम हो जायँ। इस जरूरतसे इनकार किया जा सकता नहीं। गीताने भी ऐसा ही समझके शेष १२ अध्यायोंमें यही काम किया है। अठारहवेंमें इसके सिवाय सभी बातोंका उपसंहार भी कर दिया है। इसीलिये सातवें अध्यायमें कोई नया विषय न देके ज्ञान और विज्ञानकी ही बातें कही गई है। मगर कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि यह बात केवल सातवें अध्यायका ही प्रतिपाद्य विषय है, इसीलिये नवेंके शुरूमे ही पुनरपि उसीका उल्लेख कर दिया है।

यहाँ पर ज्ञान और विज्ञानका मतलब समझ लेनेपर आगे बढ़नेमें आसानी होगी। पढ़-सुनके या देखके किसी बातकी साधारण जानकारीको ही ज्ञान कहते है। विज्ञान उसी बातकी विशेष जानकारीका नाम है। इसके दो भाग किये जा सकते है। एक तो यह कि किसी बातके सामान्य (General) निरूपण, जिससे सामान्य ज्ञान हो जाय, के बाद उसका पुनरपि ब्योरेवार (detailed) निरूपण हो जाय। इससे पहलेकी अपेक्षा ज्यादा जानकारी उसी चीजकी जरूर होती है। दूसरा यह कि जिस ब्योरेका निरूपण किया गया हो उसीको प्रयोग (experiment) करके साफ-साफ दिखा-सुना दिया जाय। इस प्रकार अपनी आँखों देख लेने, छू लेने या सुन लेनेपर पूरी-पूरी जानकारी हो जाती है, जिससे वह बात दिल-दिमागमें अच्छी तरह बैठ जाती है। हमने किसीको कह दिया, उसने सुन लिया या कहीं पढ लिया कि सूतसे कपड़ा तैयार होता है। इस तरह जो उसे जानकारी हुई वही ज्ञान है। उसके बाद सामने कपड़ा रखके उसके सूतोंको दिखला दिया, तो उसको विज्ञान हुआ—विशेष जानकारी हुई। मगर सूतका तानाबाना करके उसके सामने ही यदि कपड़ा बुन दिया तो यह भी विज्ञान हुआ और इसके चलते उसके दिल-दिमागमें यही बात पक्की तौरसे जम जाती है।

गीतामें भी शुरूके छे अध्यायोंमें जिन बातोंका निरूपण हुआ है वह तो ज्ञान

हुआ। मगर उन बातोंके प्रकारान्तरमे निरूपण करनेके साथ ही सातवेंमें सृष्टिके कारणों आदिका विशेष विवरण दिया है।

आठवेंमे अधिभूत आदिके निरूपणके साथ ही उत्तरायण आदिका विशेष वर्णन किया है।

नवेमें फिर प्रकृतिसे सृष्टि और प्रलयके निरूपणके साथ क्रतु, यज्ञ, मंत्र आदिके रूपमे इस सृष्टिको भगवानका ही रूप कहा है।

दसवेमे इसी बातका विशेष ब्योरा दिया है कि सृष्टिकी कौन-कौनसी चीजें खासतौरसे भगवानके स्वरूपमे आ जाती है।

इस तरह जिस तत्त्वज्ञानकी बात दूसरे अध्यायसे शुरू हुई उसीको पुष्ट करनेके लिये इन चारो अध्यायोंमे विभिन्न ढंगसे बातें कही गई है। सृष्टिके महत्त्वपूर्ण पदार्थोंकी ओर तो लोगोका ध्यान खामखा ज्यादा आकृष्ट होता है खुद-बखुद। अब यदि उन पदार्थोंको भगवानका ही रूप या उन्हीसे साक्षात् बने हुए बताया जाय तो और भी ज्यादा ध्यान उधर जाता है। हम तो कही चुके है कि आत्मा, परमात्मा और पिंड, ब्रह्मांड इन चारोमे एक ही बुद्धि—सम बुद्धि ही—तत्त्वज्ञान है। इस निरूपणसे उसी ज्ञानमे मदद मिलती है। इस प्रकार ब्योरेवार निरूपणके द्वारा विज्ञानमे ही ये चारो अध्याय मदद करते है। ७वेंका विषय जो ज्ञान-विज्ञान कहा है वह तो कोई नई चीज है नही। इसमे ज्ञान या विज्ञानका स्वरूप बताया गया है नही कि वही इसका विषय हो। सिर्फ पहलेके ही ज्ञानकी पुष्टि की गई है। इसी प्रकार नवेका विषय राजविद्या-राजगुह्य लिखा है। मगर उसके दूसरे ही श्लोकमे ज्ञान-विज्ञानका ही नाम राजविद्या-राजगुह्य कहा गया है। इसलिये यह भी कोई नई चीज है नही। आठवेंका विषय जो तारक ब्रह्म या अक्षरब्रह्म है वह भी कोई नई चीज नही है। अविनाशी ब्रह्म या आत्माके ही ज्ञानसे लोग तर जाते है—मुक्त होते है और उसका प्रतिपादन पहले होई चुका है। ओंकारको भी इसीलिये अक्षर या तारक कहते है कि ब्रह्मका ही वह प्रतीक है, प्रतिपादक है। दसवेंको तो विभूतिका अध्याय कहा ही है और विभूति है वही भगवानका विस्तार। इसलिये यह भी कोई स्वतंत्र विषय नही है।

इस प्रकार ब्योरेके प्रतिपादनके बाद पूरी तौरसे दिमागमे बैठानेके लिये प्रत्यक्ष ही उसी चीजको दिखाना जरूरी होता है और ग्यारहवें अध्यायमें यही बात की गई है। भगवानने अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी है और उसने देखा है कि भगवानसे ही सारी सृष्टि कैसे बनती और उसीमें फिर लीन हो जाती है। यदि

प्रयोगशालामें कोई अजनबी भी जाय तो यंत्रों तथा विज्ञानके बलसे उसे अजीब चीजें दीखती हैं जो दिमागमें पहले नहीं आती थीं। कहना चाहिये कि उसे भी दिव्य-दृष्टि ही मिली है। दिव्य-दृष्टि के सींग पूछें तो होती नहीं। जिससे आश्चर्यजनक चीजें दीखें और बातें मालूम हों वही दिव्य-दृष्टि है। इसलिये ११वेंमें विज्ञानकी ही प्रक्रिया है।

ग्यारहवेंके अन्तमें जिस साकार भगवानकी बात आ गई है उसकी और उसीके साथ निराकारकी भी जानकारीका मुकाबिला ही बारहवेंमें है। यदि उससे अन्तवाले भक्तनिरूपणको १४वेंके अन्तके गुणातीत तथा दूसरेके अन्तके स्थितप्रज्ञके निरूपणसे मिलायें तो पता चलेगा कि तीनों एक ही हैं। इसीसे मालूम होता है कि बारहवेंकी भक्ति तत्त्वज्ञान ही है जो पहले ही आ गया है। यहाँ सिर्फ ब्योरा है उसीकी प्राप्तिके उपायका।

१३वेंमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञका निरूपण भी वही विज्ञानकी बात है।

१४वेंका गुणनिरूपण सृष्टिके खास पहलूका ही दार्शनिक ब्योरा है।

पन्द्रहमें पुरुषोत्तम या भगवान और जन्ममरणादिकी बातें, १६वेंमें आसुर सम्पत्तिकी बात और १७वेंकी श्रद्धा विज्ञानसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

इसमें तथा १८वेंमें गुणोंके हिसाबसे पदार्थोंका विवेचन गुण-विभागमें ही आ जाता है। अन्तमें और शुरूमें भी १८वेंमें कर्म, त्याग आदिका ही उपसंहार एवं संन्यासकी बात है जो पहले आ चुकी है। ध्यानयोग भी पहले आया ही है। उसीका यहाँ उपसंहार है।

योग और योगशास्त्र

गीताके योग शब्दको लेके कुछ लोगोंने जानें क्या-क्या उड़ानें मारी हैं और गीताका अर्थ ही संन्यास-विरोधी योग उसीके बलपर कर लिया है। इतना ही नहीं। ज्ञानमार्गके टीकाकारों और शंकर वगैरहपर उनने काफी ताने-तिश्ने भी कसे हैं और खंडन-मंडन भी किया है। उनने इस योग, हर अध्यायके अन्तके समाप्ति सूचक "इतिश्री" आदि वचनोंमें "योगशास्त्रे" तथा "भगवद्गीतासु" शब्दोंको बार-बार देखके यही निश्चय किया है कि एक तो गीतामें केवल प्रवृत्ति रूप योग या संन्यास-विरोधी कर्मका ही निरूपण है—यह उसीका शास्त्र है; दूसरे यह योग भागवत या महाभारतवाला भागवतधर्म या नारायणीय धर्म ही है। उन्होंने उसे ही गीताका प्रतिपाद्य विषय माना है। इसीलिये जरूरत हो जाती है कि इन बातोंपर भी चलते-चलाते थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय।

हम कुछ भी कहनेके पहले साफ कह देना चाहते है कि गीताका विषय न तो भागवतधर्म है और न कुछ दूसरा ही। उसका तो अपना ही गीताधर्म है जो और कहीं नही पाया जाता है। यही तो गीताकी खूबी है और इसीलिये उसकी सर्वमान्यता है। दूसरोंकी नकल करनेसे उसकी इतनी कद्र, इतनी प्रतिष्ठा कभी हो नही सकती थी। तब उसकी अपनी विशेषता होती ही क्या कि लोग उसपर टूट पड़ते ? यह बात तो हमने अबतक अच्छी तरह सिद्ध कर दी है। यह भी तो कही चुके है कि गीताने यदि प्रसंगवश या जरूरत समझके दूसरोंकी बाते भी ली है तो उनपर अपना ही रंग चढा दिया है। मगर भागवत धर्मपर कोनसा अपना रंग उसने चढाया है यह तो किसीने नही कहा। अगर रंग चढे भी तो जब गीताका मुख्य विषय दूसरोंका ही ठहरा, न कि अपना खास, तब तो उसकी विशेषता जाती ही रही। शास्त्रो और ग्रन्थोंकी विशेषता होती है मौलिकतामे। उनकी जरूरत होती है किसी नये विषयके प्रतिपादनमे। यही दुनियाका नियम एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन और भी सुनिये।

सबसे पहले सभी अध्यायोके अन्तमे लिखे "योगशास्त्रे" और "भगवद्-गीतासु" को ही ले। जब इस बार-बार लिखे योग शब्दसे कोई खास अभिप्राय लेने या इसे खास मानी पिन्हानेका यत्न किया जाता है तो हमे आश्चर्य होता है। गीताका योग शब्द तो इतने अर्थोंमे आया है कि कुछ कहिये मत। अमर-कोषके "योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु" (३।३।२२) मे जितने अर्थ इस शब्दके लिखे गये है और उनके विवरणके रूपमे जो बीसियो प्रकारके अर्थ पातं-जलदर्शन, महाभारत या ज्योतिष ग्रन्थोमे आते है प्राय सभी अर्थोंमे गीताने योगशब्दको लिखके ऊपरसे कुछ नये मानी भी जोडे है। उसने अपना खास अर्थ भी इस शब्दको पिन्हाया है। यदि गीताके १८वे अध्यायके अन्तके ७४-७६ श्लोकोको गौरसे देखा जाय तो पता चलेगा कि गीताके समूचे संवादको भी योग ही कहा है। यह तो हम पहले बता चुके है कि गीताका अपना योग क्या है। और भी देखिये कि पहले अध्यायमे जिस अर्जुनके विषादकी ही बात मानी जाती है उसे भी 'विषादयोगोनाम प्रथमोऽध्याय.'' शब्दोंमे साफ ही योग कह दिया है। भला इसका क्या सम्बन्ध है भागवत धर्मके साथ ? अध्यायोंके अन्तमे जो योग शब्द आये हैं वह तो अलग-अलग प्रत्येक अध्यायमे प्रतिपादित बातोंके ही मानीमे है। जबतक यह सिद्ध न हो जाय कि सभी प्रतिपादित बाते भागवत-धर्म ही है तबतक उन योग शब्दोंसे यह कैसे माना जाय कि वे भागवतधर्मके ही प्रतिपादक है ? ऐसा माननेमें तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। यही कारण है कि हर अध्यायमें लिखी बातोंको ही अन्तमे लिखके आगे योग शब्द जोड़

दिया गया है। इसलिये उन शब्दोंसे ऐसा अर्थ निकालना सिर्फ बालकी खाल खींचना है।

रह गई बात "भगवद्गीतासु" या "श्रीमद्भगवद्गीतासु" शब्दकी। हम तो इसमें भी कोई खास बात नहीं देखते। इससे यदि भागवतधर्मको सिद्ध करनेकी कोशिश की जाती है तो फिर वही बालकी खालवाली बात आ जाती है। यह तो सभी मानते है कि गीता तो उपनिषदोंका ही रूपान्तर है—उपनिषद् ही है। फर्क सिर्फ यही है कि उपनिषदोंको भगवानने खुद अपने शब्दोंमें जब पुनरपि कह दिया तभी उसका नाम भगवद्गीतोपनिषद् पड गया। गीता शब्द जिस गै धातुसे बनता है तथा उसका अर्थ जो गान लिखा है उसके मानी वर्णन या कथन है। फिर वह कथन चाहे तान-स्वरके साथ हो या साधारण शब्दोंमें ही हो। गान भी तो केवल सामवेदमें ही होता है। मगर "वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायंति यं सामगाः"में तो सभी वेदोंमें और उपनिषदोंमें भी गानकी बात ही लिखी है। यहाँतक कि वेदके अंग व्याकरणादिमे भी गान ही कहा गया है। मगर वहाँ तो गान—ताल-स्वरके साथ—असंभव है। हम आपका गुण गाते रहते है, ऐसा कहनेका अर्थ केवल बयान ही होता है, न कि राग और तालके साथ गाना। यही बात गीता या भगवद्गीतामें भी है। उपनिषद् स्त्रीलिंग तथा अनेक है। इसीलिये 'गीतासु'में स्त्रीलिंग और बहुवचन प्रयोग है, जैसा कि बहुवचन 'उपनिषत्सु'में है। आमतौरसे गीता शब्द भी इसीलिये स्त्रीलिंग हो गया। नहीं तो 'गीत' होता। यदि गौरसे देखा जाय तो गीतामें मौके-मौकेसे कुल २८ बार "श्रीभगवानुवाच" शब्द आये हैं। इनमें केवल ग्यारहवें अध्यायमें चार बार, दूसरे और छठेमे तीन-तीन बार, तीसरे, चौथे, दसवें और चौदहवेंमें दो-दो बार तथा शेष अध्यायोंमें एक-एक बार आये है। इनका अर्थ है कि "श्रीभगवान् बोले।" चाहे श्रीभगवान कहें या श्रीमद्भगवान् कहें, दोनोंका अर्थ एक ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीतामें जो कुछ उपदेश दिया है या वर्णन किया है वह श्रीमद्भगवान्ने ही। बस, इसीलिये इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता हो गया; न कि किसी और कारणसे। इतनेसे ही जानें कहाँसे नारायणीयधर्मको यहाँ उठा लाना और गीताके माथे उसे पटकना बहुत दूरकी कौड़ी लाना है।

योग शब्दके बारेमे जरा और भी कुछ जान लेना अच्छा होगा। गीता में केवल योग शब्द प्रायः १३५ बार आया है। प्रायः उसीके मानीमें उसी युज् धातुसे बने युञ्जन्, युक्त्वा, युक्त आदि शब्द भी कई बार आये हैं। मगर उन्हें छोड़के सीधे योग शब्द हर अध्यायके अन्तके समाप्ति-सूचक संकल्प वाक्यमें दो-दो बार आये हैं। इस प्रकार यदि इन ३६ को निकाल बाहर करें तो प्रायः सौ

बार गीताके भीतरके श्लोकोंमें यह शब्द पाया जायगा। इनमें चोथे, पाँचवें, छठें तथा आठवें आदिमे कुछ बार पातंजल योगके अर्थमें ही यह शब्द आया है, या ऐसे अर्थमे ही जिसमे पातंजल योग भी समाविष्ट है। तीसरे अध्यायके "कर्मयोग" (३।१) मे और "योगिनः कर्म" (५।११) में भी योग शब्द साधारण कर्मके ही मानीमे आया है। इसीलिये वहाँ कर्मयोग शब्दका वह विशेष अर्थ नहीं है जो उसपर कर्मयोग-शास्त्रके नामसे लादा जाता है। इसी तरह "यत्रकाले त्वनावृत्तिम्' आदि (८।१३-२७) श्लोकोंमे कई बार योग और योगी शब्द साधारण कर्म करनेवालोंके भी अर्थ—व्यापक अर्थ—मे आया है। "योगक्षेमं" (९।२२) और योगमाया समावृतः" (७।२५) का योग शब्द भी अप्राप्तकी प्राप्ति आदि दूसरे ही अर्थोंमे है। दसवे अध्यायमे कई बार योग शब्द विभूति शब्दके साथ आया है और वह भगवानकी शक्तिका ही वाचक है। बारहवेंमें भी कितनी ही बार यह शब्द अभ्यास वगैरह दूसरे अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। तेरहवेंके "अन्ये साङ्ख्येन योगेन" (१३।२४) मे तो साफ ही योगका अर्थ ज्ञान है।

इस प्रकार यदि ध्यानसे देखा जाय तो दस ही बीस बार योग शब्द उस अर्थमे मुश्किलसे आया है, जिसका निरूपण "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (२।४७-४८) मे किया गया है, हालाँकि उस योगका भी जो निरूपण हमने किया है और जिसे गीताधर्म माना है वह ऐसा है कि उसके भीतर कर्मका करना और उसका संन्यास दोनों ही आ जाते हैं। मगर यदि यह भी न मानें और योगका अर्थ वहाँ वही माने जो गीतारहस्यमें माना गया है, तो भी आखिर इससे क्या मतलब निकलता है? गीताके श्लोकोंमे जो सैकड़ों बारसे ज्यादा योग शब्द आया है उसमे यदि दस या बीस ही बार असंदिग्ध रूपसे उस अर्थमें आया है और बाकी दूसरे-दूसरे अर्थोंमे, तो योग शब्दके बारेमे यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह प्रधानतया गीतामे उसी भागवतधर्मका ही प्रतिपादक है? चाहे आवेशमें आके औरोंको भले ही कह दिया जाय कि वे तो शब्दोंका अर्थ जबर्दस्ती करके अपने सम्प्रदायकी पुष्टि करना चाहते हैं। मगर यह इलजाम तो उलटे इलजाम लगानेवालोंपर ही पड़ जाता है। यों तो चाहे जो भी दूसरोंपर दोष मढ़ दे सकता है। मगर हम तो ईमानदारीकी बात चाहते हैं, न कि खींचतान।

सिद्धि और संसिद्धि

योग शब्द जैसो तो नहीं, लेकिन सिद्धि और संसिद्धि शब्दों या इसी अर्थमें प्रयुक्त सिद्ध एवं संसिद्ध शब्दोंको लेकर भी गीताके श्लोकोंके अर्थोंमे और इसीलिये कभी-कभी सैद्धान्तिक बातोंतकमे कुछ न कुछ गड़बड़ हो जाया करती है।

आमतौरसे ये शब्द जिस मानीमें आया करते है वह न होके गोतामें इन शब्दोंके कुछ खास मानी प्रसंगवश हो जाते हैं, खासकर संसिद्धि शब्दके। मगर लोग साधारणतया पुराने ढंगसे ही अर्थ लगाके या तो खुद घपलेमें पड़ जाते हैं, या अपना मतलब निकालनेमें कामयाब हो जा ते है। इसीलिये इनके अर्थका भी थोडासा विचार कर लेना जरूरी है।

सिद्धि और सिद्ध शब्द अलौकिक चमत्कार और करिश्मोंके ही सम्बन्धमें आमतौरसे बोले जाते है। साधु-फकीरोंको या मंत्रतंत्रका अनुष्ठान करके जो लोग कामयाबी हासिल करते एवं चमत्कारकी बातें करते है उन्हीको सिद्ध और उनकी शक्तिको सिद्धि कहते है। इसी सिद्धिकी अणिमा, महिमा आदि आठ किस्मे पुराने ग्रंथोमे पाई जाती है। अणिमाके मानी है छोटेसे छोटा बन जाना और महिमाके मानी बडेसे बडा। लंकाप्रवेशके समय हनुमानकी इन दोनों सिद्धियोंका बयान मिलता है जब वे लंकाराक्षसीको चकमा देके भीतर घुस रहे थे। पातजल योग-सूत्रोंके "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" (३।३७) में इसी सिद्धिका जिक्र है जिसके चलते योगी भूत भविष्यकी बाते जान लेता, दूसरोंके दिलकी बाते समझ लेता और पक्षि-पशुओंके शब्दोंका भी अर्थ जानता है। इसी तरहकी और भी बाते है। इसी प्रकार "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (२।३५), "सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्" (२।३६) आदि योगसूत्रोंमें जो लिखा गया है कि पूरे अहिसकको सॉप-बिच्छू और सिंह-बाघ आदि भी नही छूते और पूरा सत्यवादी जो भी कह देता है वह जरूर हो जाता है, उसे भी ऐसे आदमीकी सिद्धि या शक्ति ही उन सूत्रोके व्यासभाष्यमें यों कहा गया है, "तदा तत्कृतमैश्वर्य योगिनः सिद्धिसूचकं भवति।' इसी प्रकार किसी कामके पूरा हो जानेको भी सिद्धि बोलते है और कहते है कि हमारा कार्य सिद्ध हो गया। "सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा" (२।४८) मे गीताने भी इसी मानीमें सिद्धि शब्दका प्रयोग किया है। "गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः" (११।२२) तथा "सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः" (११।३६) मे जो सिद्ध शब्द है वह पूर्वोक्त योगसिद्धि जैसे ही अर्थमे आये है। देवताओके एक ऐसे ही दलको सिद्ध कहते हैं। गीतामे इनका केवल नाम आ गया है, न कि गीताके प्रतिपादित विषयमे ये आते है। क्योंकि गीताका विषय तो ऐसा है जिसका उपयोग हम दैनिक जीवनमें कर सकते है और ये सिद्ध है अलौकिक दुनियाके पदार्थ। इसलिये ऐसे स्थानोंमें तो कोई गडबड होती ही नही। यहाँ तो ठीक ही काम चलता है।

मगर दिक्कत होती है और-और श्लोकोंमे। "न च संन्यसनादेवसिद्धिं समधिगच्छति" (३।४), कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (३।२०),

"कांक्षन्त: कर्मणां सिद्धि यजन्त इह देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति-कर्मजा" (४।१२), "तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" (४।३८), "अप्राप्य योगसंसिद्धिका गतिं कृष्ण गच्छति" (६।३७), "यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन" (६।४३), "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परागतिम्" (६।४५), "नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमांगताः" (८।१५), "मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि" (१२।१०), "यज्ज्ञात्वामुनयः सर्वे परामिद्धिमितो गता." (१४।१), "स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः मसिद्धि लभते नरः । स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथाविन्दति तच्छृणु" (१८।४५), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव" (१८।४६), "नैष्कर्म्यसिद्धि परमा संन्यासेनाधिगच्छति" (१८।४९) और "सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे" (१८।५०) श्लोकोमे ही यह दिक्कत होती है ।

इनपर कुछ भी विचार करनेके पूर्व यह जान लेना होगा कि कर्मोके अनेक नतीजोंमे एक यह भी है कि उनसे हृदय, मन या अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११) मे आत्मशुद्धिका मनकी शुद्धि ही अर्थ है । इसीलिये वहां योगी शब्दका अर्थ है साधारण कर्मी, न कि गीताका योगी । क्योकि उसका तो मन पहले ही शुद्ध हो जाता है । वह मनकी शुद्धिके लिये कर्म क्यों करेगा ? बिना मन शुद्धिके वह योगी होई नही सकता । इसीलिये योगी हो जानेपर मनःशुद्धिका प्रश्न उठना ही नहीं । फलतः यदि पूर्वा-परका विचार किया जाय तो "मदर्थमपि" (१२।१०) मे भी सिद्धिका अर्थ है मनःशुद्धि ही । इसी प्रकार (१८।४५-४६) मे भी सिद्धि और संसिद्धिका अर्थ मनकी शुद्धि ही है और वह है उसकी चंचलताकी निवृत्ति या रागद्वेषमे छुटकारा । "तत्स्वयं योगसंसिद्धः' (४।३८) मे भी यही अर्थ है ।

इसके सिवाय (८।१५), (१४।१) और (१८।४९) इन तीन श्लोकोंमे सिद्धि तथा संसिद्धि शब्दमें एक विशेषण लगा है जो दो जगह 'परमा' है और एक जगह 'परा' । मगर दोनोंका अर्थ एक ही है और है वह 'ऊँचे दर्जेकी या सर्वश्रेष्ठ' यही । इनमे जो (१४।१) का सिद्धि शब्द है उसीका विशेषण 'परा' है । फलतः परासिद्धिका अर्थ है परम कल्याण या मुक्ति ही । परके साथ जुटनेमे सिद्धि शब्द उस प्रसंगमे सिवाय मुक्ति या चरमलक्ष्यसिद्धिके अन्य अर्थका वाचक होई नही सकता है । रह गये शेष दो श्लोकोंवाले सिद्धि शब्द । सो यदि उनके भी इधर-उधरके श्लोकोंके अर्थोपर पूरा गौर करें तो उनका अर्थ होता है पूर्ण रीतिसे कर्मत्याग । परम विशेषण कर्मत्यागकी रही-सही भी त्रुटियों एवं कमियोंको पूरा करके पूर्ण रीतिसे कर्मोंसे छुटकारेकी बात ही कहता है । केवल संसिद्धि कहनेसे भी संभवतः

सफलता अर्थ होके कर्मोंसे छुटकारा अर्थ तो होता, मगर उसमें शायद खामीकी गुंजाइश रह जाती। १८वें अध्यायके उस श्लोकके बादवालेमें जो सिद्धि शब्द है वह तो परमसंसिद्धिका ही अनुवादमात्र है। इसलिये उसका भी वही अर्थ है।

यदि 'संन्यासस्तु' (५।६), 'नियतस्य तु' (१८।७) तथा ''भवत्यत्यागिनांम्'' (१८।१२) मे देखे कि ब्रह्म और संन्यास शब्दोंके अर्थ किस तरह पूर्व और उत्तरके वाक्योंके मिलानेसे निश्चित होते हैं और वही रीति (३।४) श्लोकमे लगायें तो वहाँ सिद्धिका अर्थ होगा नैष्कर्म्य, संन्यासकी सिद्धि या उसकी पूर्णता। इसी प्रकार (४।१२) में भी सिद्धिका अर्थ है फलप्राप्ति या लक्ष्यसिद्धि। छठें अध्यायमें तो योगका प्रकरण है। इसलिये उसके ३५, ४३ और ४५ श्लोकोमे संसिद्धिका व्यापक अर्थ है, जिसमे मनकी शुद्धिरूप योगसिद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति भी आ जाती है। इस प्रकार हमने देखा कि आख मूँदके या बिना सोचे-विचारे अर्थ करनेसे इन शब्दोके अर्थोंकी जानकारीमे गड़बड़ हो सकती है।

गीतामें पुनरुक्ति

गीताके पढनेवालोंको प्राय: अनेक बातोंकी पुनरुक्ति मिलती है और कभी-कभी तो तबीअत ऊब जाती है कि यह क्या पिष्टपेषण हो रहा। मगर कई कारणोंसे यह बात अनिवार्य थी। एक तो गहन विषयोंका विवेचन ठहरा। यदि एक ही बार कहके छोड दिया जाय तो क्या यह संभव है कि सुननेवालेके दिमागमे वह बातें बैठ जायँगी? हमने तो ताजीसे ताजी अंग्रेजीकी किताबोंमें देखा है कि कठिन बातोंको लेकर उन्हे बीसियों बार दुहराते हैं। यह दूसरी बात है कि अनेक ढंगसे वही बातें कहके ही दुहराते है। गीतामे भी एक ही बात प्रकारान्तर और शब्दान्तरमें ही कही गई है, यह तो निर्विवाद है। अतएव गीताके उपदेश—गीताधर्म—की गहनताका खयाल करके पुनरावृत्ति उचित ही मानी जानी चाहिये।

गीताकी शैली पौराणिक

दूसरी बात यह है कि गीताका विषय और उसके तर्क वगैरह जरूर दार्शनिक है; मगर विषय प्रतिपादनकी शैली पौराणिक है और गीताकी यह एक खास खूबी है। दार्शनिक रीति रूखी और सख्त होती है, नीरस होती है। फलतः सर्वसाधारणके दिमागमें यह बात जँचती नहीं, जिससे लोग ऊब जाते हैं। फिर भी दार्शनिक इसकी पर्वा करते नहीं। उन्हें तो सत्यका प्रतिपादन करना होता

है। वे उपदेशक और प्रचारक तो होते नही कि लोगोंके दिल-दिमागको देखते फिरे। मगर गीता तो उपदेशकका काम करती है। इसका तो काम ही है सार्वजनिक जीवनमे सम्बन्ध रखनेवाले कामोंका विवेचन करना और उनके रहस्यको लोगोके दिल-दिमागम पहुँचाना। इसीलिये उसने पौराणिक शैली अख्तियार की है। इसकी विशेषता यही है कि संवाद, प्रश्नोत्तर या कथनोपकथनके रूपमे यह बाते इसमे रखी गई है। इससे प्रसंग रुचिकर हो जाता है, उसमे सरसता आ जाती है। बच्चोके लिये यह संवादकी ही प्रणाली ज्यादा हितकर मानी जाती है। हितोपदेशमे यही बात पाई जाती है और पुराणोमे भी। इसके चलते कठिनसे कठिन विषय भी आलंकारिक ढगसे प्रतिपादित हाके सहज बन जाते है। चौदहवे अध्यायमे गर्भधारणके रूपमे सृष्टिका निरूपण कितना सुन्दर है! अर्जुनको दूसरे अध्यायमे जो डाटा गया है कि मुँह कैसे दिखाओगे वह कितना अनूठा है! पन्द्रहवेमे, मरणके समयजीव सभी संस्कारोको लेके साथ ही जाता है, इसका कितना सुन्दर वर्णन वायुके द्वारा फूलोकी गन्ध ले जानेकी बातमे किया गया है!

गीतोपदेश ऐतिहासिक

हमे एक ही बात और कहके उपसंहार करना है। गीताके प्राचीन टीकाकारोम किसी-किसीने गीताके वर्णनको केवल आलंकारिक मानके अर्जुन, कृष्ण आदिको ऐतिहासिक पुरुषोंकी जगह कुछ और ही माना है। उपदेश और उपदेश्य—गुरु तथा शिष्य—आदिको ही कृष्ण, अर्जुन आदिका रूप उनने दिया है और इस तरह अपनी कल्पनाका महल उसी नींवपर खडा किया है। मगर हमे उससे यह पता नही चल सका था कि ऐसा करके वे लोग सचमच महाभारत, गीता, उस युद्ध और कौरव-पाडव आदिको ऐतिहासिक पदार्थ नही मानते। क्योकि इस बातकी झलक उनकी टीकाओमे पाई नही जाती।

परन्तु कुछ आधुनिक लोगोंने यह कहके गीताको ही ऐतिहासिकतासे हटाना चाहा है कि प्राय बीस लाख फोजो—क्योकि १८ अक्षौहिणियाँ वहाँ मानी जाती है और एक अक्षौहिणीमे प्राय एक लाख आदमी अलावे घोडे, हाथी, तोप आदिके होते थे—के बीचमे, जब वह प्रहार करने हीको थो, यह गीतोपदेश असभव था। इसके लिये समय कहाँ था? इसीलिये कविने पीछेसे कृष्ण और अर्जुनके नामपर उसे रचके महाभारतमे घुसेड दिया है।

मगर यदि वह जरा भी सोचे तो पता चले कि इस गीतोपदेशके लिये दो-चार घंटेकी जरूरत न थी। सात सौ श्लोकोका पाठ तेजीसे एक घटेमे पूरा हो जाता है। किन्तु वहाँ श्लोक बोले गये, सो भी ठहर-ठहरके, यह बात तो है

नहीं। कृष्णने अर्जुनको प्रचलित भाषामें उपदेश किया। एक घंटेके लेक्चरको लिखनेमें पोथा बन जाता है। गीतोपदेशमें तो कुछ ही मिनटोंकी या ज्यादेसे ज्यादा आधे घंटेकी जरूरत थी। विश्वरूपका लेक्चर तो हुआ भी नहीं। वह तो दिखा दिया गया। अर्जुन ऐसा कुन्द थोड़े ही था कि समझता न था और बार-बार रगड़-रगड़के पूछता था। अतः उस मौकेपर भी दस-बीस मिनटका समय निकाल लेना कुछ कठिन न था।

फिर भी हमारे ही देशके कुछ महापुरुषोंने जब यह कह दिया कि महाभारतकी बातें ऐतिहासिक नहीं, किन्तु कविकल्पित हैं, इसलिये गीताका संवाद भी वैसा ही है, तो हमे मर्मान्तिक वेदना हुई। केवल हमींको नहीं। हमारे जैसे कितनोंको यह कष्ट हुआ। उसी समय कइयोंने हमसे अनुरोध किया कि आप इसका प्रतिपादन समुचित रूपसे करें। वे हमारे गीता-प्रेमको जानते थे। इसीसे उनने ऐसा कहा। यदि गीतामें किसीका अपना सिद्धान्त और उसकी हिंसा-अहिंसा न मिले तो इसमें गीताका क्या दोष? वह तो रत्नाकार सागर है। गोते लगाइये तो कुछ मोती मूँगे कभी न कभी उसमेसे ऊपर लाइयेगा ही। मगर आप जो चाहें सोई उसमेसे लायें यह असम्भव है, और ऐसा न होनेपर रत्नाकारके मूलमें आघात करना उचित नहीं। गीताके अपने सिद्धान्त हैं—गीताधर्म एक खास चीज है जो उसीका है, न कि किसी औरका।

ऐतिहासिकताकी बात यों है। आजसे हजारों साल पूर्व कुमारिल भट्टने मोमांसादर्शनकी टीका, तन्त्रवार्त्तिकमें, सदाचारके प्रसंगसे अर्जुनादि पांडवों और कृष्णके कामोंपर आक्षेप करके पुनः उसका समर्थन किया है। दूसरेकी दृष्टिमें हमारे सत्पुरुषोंका काम खटका था। इसलिये वे उन्हे सत्पुरुष नहीं मानते थे। कुमारिलने खटका हटाके सत्पुरुष करार दिया और कृष्णका नानिहाल पाडवोंके यहाँ माना।

ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदो—खासकर छान्दोग्य वृहदारण्यक आदि—में बीसियों बार कुरुक्षेत्र और कुरुदेशका जिक्र आया है और वहाँ अकाल एवं पालापत्थरकी बात लिखी गई है। कुरुक्षेत्रका कुरु तो पाडवों तथा कौरवोंका पूर्वज ही था। हस्ती भी उनका पूर्वज था। इसीसे हस्तिनापुर नाम और स्थान पाये जाते हैं। कुरुक्षेत्रके युद्धकी स्मृति अभीतक वहाँ पाई जाती है और स्थान याद किये जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्के चौथे अध्यायके १७वें खंडमे देवकीपुत्र कृष्णका उल्लेख है और ये थे पाडवोंके नातेदार यह अभी कहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि भीष्मके मरणके समय माघमें कृत्तिका नक्षत्रका सूर्य लिखा मानके और

तैत्तिरीय आदि संहिताओंमें भी यही देखके महाभारतके युद्धका समय ईसासे पूर्व १४०० से लेकर २५०० सालके बीचमें गणितके आधारपर ठीक किया गया है। तिलकने ओरायनमें इसका बड़ा प्रामाणिक विवेचन किया है। इसके सिवाय बीसियों भारतीय तथा पाश्चात्य देशीय पुरातत्त्वज्ञोंने भी यह बात मानी है। तिलकने गीतारहस्यमें साफ ही लिखा है कि "सभी लोग मानते हैं कि "श्रीकृष्ण तथा पाडवोंके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें कोई सन्देह नहीं है", "चिन्तामणिराव वैद्यने प्रतिपादन किया है कि श्रीकृष्ण, यादव, पांडव तथा भारतीय युद्धका एक-ही काल है।" फिर निराधार बात क्यों कही जाय? तब तो रामायण आदि हमारा सभी इतिहास इसी तरह खतम होगा। महाभारत पुस्तकको पुराण न कहके इतिहास कहते हैं और पंचमवेद भी। उपनिषद्‌में भी ऐसा ही कहा है। तो क्या अब उसे निरा उपन्यास माना जाय?

गीताधर्मका निष्कर्ष

जो कुछ कहना था कहा जा चुका। गीतार्थ और गीताधर्मको समझनेके लिये, हमारे जानते, इससे ज्यादा कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे कमसे भी शायद ही काम चलता। इसीलिये इच्छा रहते हुए भी हम इस विवेचनको संक्षिप्त कर न सके। उसमें हमें खतरा नजर आया। मगर अब हमें आशा है कि हमने जो कुछ लिखा है उसीकी कसौटीपर कसने पर गीताधर्मका हीरा शानदार और खरा निकलेगा। हम जानते हैं कि उसके लिये सैकड़ों तराजू और कसौटियाँ अब-तक बन चुकी हैं जो एकसे एक जबर्दस्त हैं। मगर हमारा अपना विश्वास है कि उनमें कहीं न कहीं कोई खामी है, त्रुटि है। जब सभीको अपने विश्वासकी स्व-तन्त्रता है तो हमें भी अपने विचारके ही अनुसार कहने और लिखनेमें किसीको उज्र नहीं होना चाहिये। हम दूसरेके विचारोंको उनसे छीनने तो जाते नहीं कि कलह हो। हम तो कही चुके हैं कि गीता तो इसी बातको मानती है कि हर आदमी ईमानदारीसे अपने ही विचारोंके अनुसार बोले और काम करे। इसीलिये हमनें पुराना कसौटियोंकी त्रुटियोंका खयाल करके ही यह कसौटी तैयार की है। हमें इसमें सफलता मिली है या विफलता, यह तो कहना हमारे वशके बाहरकी बात है। मगर "कर्मण्येवाधिकारस्ते" के अनुसार हम इसकी पर्वा करते ही नहीं। हमारी इस कसौटीमें भी त्रुटियाँ होंगी, इसे कौन इन्कार कर सकता है? लेकिन गीतार्थ हृदयंगम करनेमें यदि इससे कुछ भी सहायता मिली तो यह व्यर्थ न होगी।

महाभारतकी उस बड़ी पोथीमें जनकपुरके धर्मव्याधका वर्णन मिलता है, जो

कसाईका काम करके ही अपनी जीविका करता था। उसीके सिलसिलेकी एक सुन्दर कहानी भी है जो गीताधर्मको आईनेकी तरह झलका देती है। कोई महात्मा किसी निर्जन प्रदेशमे जाके घोर तप और योगाभ्यास करते थे। दीर्घ कालके निरन्तर प्रयत्नसे उन्हे सफलता मिली और योगसिद्धि प्राप्त हो गई। फिर क्या था ? उनने वह काम बन्द कर दिया और गाँवकी ओर चल पडे। लेकिन जानें क्यो योगसिद्धिकी प्राप्तिके बाद भी उन्हे सन्तोष न था, भीतरसे तुष्टि मालूम न होती थी। खैर, रास्तेमे एक वृक्षके नीचे विश्राम करी रहे थे कि ऊपरसे किसी बगुलेने उनके ऊपर विष्ठा गिरा दिया। उन्हे बड़ा गुस्सा आया और आँखें लाल करके जो बगुलेको देखा तो वह जलके खाक हो गया ! अब महात्माको विश्वास हो गया कि उन्हे अवश्य योगसिद्धि प्राप्त हो चुकी है।

फिर वह आगे चले। उनने भोजनका समय होनेसे गाँवमें एक गृहस्थके द्वारपर पहुँचके "भिक्षां देहि" की आवाज लगाई। देखा कि एक स्त्री भीतर है, जिसने उन्हे देखा भी और उनकी आवाज भी सुनी। मगर वह अपने काममे मस्त थी। इधर महात्माको द्वारपर खडे घंटों हो गये ! उस स्त्रीकी धृष्टतापूर्ण नादानी-पर उन्हें क्रोध आया। ठीक भी था। सिद्ध पुरुषका यह घोर तिरस्कार एक मामूली गृहस्थकी स्त्री करे ! मगर करते क्या ? आँखोंसे खून उगलते खडे रहे और दाँत पीसते रहे कि संहार ही कर दूँ। इतनेमें भोजन लेके जो स्त्री आई तो आते ही उसने बेलाग सुना दिया कि आँखे क्या लाल किये खडे हैं ? मै वृक्षवाला बगुला थोडे ही हूँ कि जला दीजियेगा ! अब तो उन्हे चीरो तो खून नहीं। सारी गर्मी ठंडी हो गई यह देखके कि इसे यह बात कैसे मालूम हो गई जो यहाँसे बहुत दूर जगलमे हुई थी ! फिर तो उन्हे अपनी तपःसिद्धि फीकी लगने लगी। खाना छोड़के उनने उस मातासे पूछा कि तुझे यह कैसे पता चला ? उसने कहा कि लीजिये भोजन कीजिये और जनकपुरमें धर्मव्याधके पास जाइये। वही सब कुछ बता देगा !

महात्मा वहाँसे सीधे जनकपुर रवाना हो गये। परीशान थे, हैरतमें थे। जनकपुर पहुँचके धर्मव्याधको पूछना शुरू किया कि कहाँ रहता है। समझते थे, वह तो कहीं तपोभूमिमे पडा बड़ा महात्मा होगा। मगर पूछते-पूछते एक हाटमें एक ओर एक आदमीको देखा कि मांस काटता और बेचता है और यही धर्मव्याध है ! सोचने लगे, उफ, यह क्या ? यही धर्मव्याध मुझे धर्म-कर्मका रहस्य बतायेगा ? मगर कौतुकवश खड़े रहे। धर्मव्याधने एक बार उन्हे देखके मुस्कुरा दिया सही; मगर वह अपने काममें घंटों व्यस्त रहा। जब कामसे छुट्टी हो गई और दूकान समेट चुका तो उसने उनसे पूछा कि महात्मन्, कैसे चले ? क्या आपको उस स्त्रीने

भेजा है ? सिद्ध महात्मा तो और भी हैरान थे कि यह क्या ? स्त्री तो भला गृहस्थीका काम करती थी। मगर यह तो निरा कसाई है। फिर भी उसकी भी नाक काटना है! खैर, हाँ कहके उसके साथ उसके घर गये! उन्हे बैठाके पहले घण्टों वह अपने वृद्ध माँ-बापकी सेवा करता रहा, जैसे वह स्त्री अपने पतिकी सेवा कर रही थी! माँ-बापसे फुर्सत पाके उसने उन्हे भी खिलाया-पिलाया! पीछे उसने वार्त्तालाप शुरू करके कहा कि मैंने पहले हजार कोशिश की थी कि इस हिंसासे बचूँ और दूसरी जीविका करूँ। मगर विफल रहा। तब समझ लिया कि चलो जब यही भगवानकी मर्जी है तो रहे। बस, केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे यह काम करता हूँ। सफलता-विफलता और हानि लाभकी जरा भी पर्वा नही करता। उसके बाद जो साग-सत्तू मिलता है उसीसे पहले अपने प्रत्यक्ष भगवान—माँ-बाप—की सेवा-शुश्रूषा करके उन्हे तृप्त करता हूँ। फिर यदि कोई अतिथि हो तो उसका सत्कार करके खुद भी खाता-पीता हूँ। यही मेरी दिनचर्या है, यही योगाभ्यास है, यही तपश्चर्या और यही भगवानकी पूजा है। वह स्त्री भी पतिके सिवाय किसी और को जानती ही नही। उसके लिये भगवान और सब कुछ वही एक पति ही है। यही उसकी योगसाधना है और यही न सिर्फ हम दोनोके बल्कि सारे संसारके कर्मोंका रहस्य है, उनकी कुंजी है और वास्तविक सिद्धिका असली मार्ग है।

इस आख्यानमे गीताधर्मका निचोड पाया जाता है। जबतक हम भगवानको, स्वर्ग, वैकुंठ, नर्क और मुक्तिको अपनेसे अलग समझ उन्हे पानेके लिये कर्म-धर्म करेंगे और उनमे भी बुरे-भलेका भेद करेंगे कि यह कर्म भला और यह बुरा है तबतक हम भटकते ही रहेंगे। तबतक कल्याण हमसे लाख कोस दूर रहेगा—दूर होता जायगा। हमे तो अपनी आत्माको ही, अपने आपकोही, सबमे वैसे ही देखना है जैसे नमक के टुकडे मे नीचे-ऊपर चारों ओर एक ही चीज होती है—नमक ही नमक होता है। यही बात गीता कहती है, यही उसका और उपनिषदोंका अद्वैत-तत्त्व है। नमकका ही दृष्टान्त देकर आरुणिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको यही बात छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायके तेरहवे खंडके तीसरे मंत्रमे इस तरह कही है, "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" यह अत्यन्त कठिन होते हुए भी निहायत आसान है, यदि हममें इसकी आग हो, लगन हो। यही बात सूफियोने यों कही है कि "दिलके आईनेमे है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली" और "बहुत ढूँढा उसे हमने न पाया। अगर पाया पता अपना न पाया"। इसीके हासिल होनेपर यह उद्गार निकली है कि "हासिल हुई तमन्ना जो दिलमे थी मगर। दिलका आरजू है कोई आरजू न हो।" उपनिषदोंमे इसी उद्गारको "येन त्यजसि तत्त्यज" कहा है।

यही गीताधर्म है और यही उसका योग है। यही वेदान्तका रहस्य है, जिसके फलस्वरूप लोकसंग्रह और मानव-समाजके कल्याणोंके लिये छोटे-बड़े सभी कामोंके करनेका रास्ता न सिर्फ साफ हो जाता है, बल्कि सुन्दर, रमणीय और रुचिकर हो जाता है, अत्यन्त आकर्षक बन जाता है। इसीके करते लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेसे तबीअत ऊबनेके बजाय उसमें और भी तेजीसे लगती जाती है। कितना भी कीजिये, फिर भी सन्तोष होनेके बजाय और करें, और करें यही इच्छा होती रहती है। साथ ही, यदि दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण प्रयत्नके बाद भी किसी कारणसे कोई काम पूरा न हो, छूट जाय या और कुछ हो जाय, तो जरा भी बेचैनी या परीशानी नहीं होती। मस्ती हमेशा बनी रहती है। यही स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतकी दशा है। इसके चलते ही यदि कर्म सोलहों आने छूट जाय, जैसे पेड़से पका फल गिर जाय, तो भी मस्ती ज्योंकी त्यों रहती है। इसी मस्तीको हासिल करनेके लिए पहले धर्मोंका संन्यास आवश्यक होता है, ऐसी गीताकी मान्यता है।



दूसरा
गीता भाग

पूर्वापर सम्बन्ध

गीताहृदयका अन्तरंग भाग या पूर्व भाग लिख चुकनेके बाद, जैसा कि उसके शुरूमे ही कहा जा चुका है, उसके मध्यके गीताभागका लिखा जाना जरूरी हो जाता है। जिस जानकारीकी सहायताके ही लिये वह भाग लिखा गया है और इसीलिये अन्तरंग भाग कहा जाता भी है, उसके बाद उसी बातका लिखना अर्थ-सिद्ध हो जाता है। अन्तरंग भागके पढ़ लेनेपर गीताहृदयके इस दूसरे भागके पढ़नेकी आकाक्षा खुदबखुद हो जायगी। लोग खामखा चाहेंगे कि उसके सहारे गीतासागरमें गोता लगायें। उसके पढनेमे इसके समझनेमे—गीताका अर्थ और अभिप्राय हृदयंगम करनेमें—आसानी हो जायगी। इसीलिये इसे पूरा किया जाना जरूरी हो गया।

हमने कोशिश की है कि जहाँतक हो सके श्लोकोंके सरल अर्थ ही लिखे जायँ जो शब्दोंसे सीधे निकलते हैं। बेशक, गीता अत्यन्त गहन विषयका प्रतिपादन करती है, सो भी अपने ढंगसे। साथ ही, इसकी युक्ति दार्शनिक है, यद्यपि प्रतिपादनकी शैली है पौराणिक। इसलिये शब्दोंके अर्थोंके समझनेमे कुछ दिक्कत जरूर होती है, जबतक अच्छी तरह प्रसंग और पूर्वापरके ऊपर ध्यान न दिया जाय। हमने इस दिक्कतको बहुत कुछ अन्तरंग भागमे दूर भी कर दिया है। फिर भी उसका आना अनिवार्य है। अतः ऐसे ही स्थानोंमे श्लोकोंके अर्थ लिखनेके बाद छोटी या बड़ी टिप्पणी दे दी गई जिससे उलझन सुलझ जाये और आशय झलक पड़े।

आशा है, यह भाग पूर्व भागके साथ मिलके लोगोंको—गीता-प्रेमियोको—सन्तुष्ट कर सकेगा। गीतार्थ-अवगाहनके लिये उनका मार्ग तो कमसे कम साफ करी देगा।

प्रवेशिका

जिनने ज्यादा गौर नही किया है, या जो ध्यानसे गीता नहीं पढते, लेकिन इतना जानते है कि गीता महाभारतमे ही लिखी है और उसी बडी पोथीमेंसे अलग करके इसका पठन-पाठन तथा प्रचार होता है, वह आमतौरसे ऐसा ही समझते है कि महाभारतके युद्धके आरभ होनेके पहले ही उसका प्रसंग आनेके कारण वह महाभारतकी पोथीमे भी उद्योग पर्वके बाद ही या भीष्मपर्वके शुरू होनेके पहले ही लिखी गई होगी। यदि ओर नही तो इतना तो खयाल उन्हें अवश्य होता होगा कि गीतोपदेशको सुननेके बाद ही लडाईकी बात धृतराष्ट्रको मालूम हुई होगी और भीष्म आदिकी मृत्युकी भी।

मगर दरअसल बात ऐसी है नही। यह सही है कि युद्धारम्भके पहले ही कृष्ण और अर्जुनके बीच गीतावाला सम्वाद हुआ, जिसे आजकी भाषामे एक तरहका चखचुख भी कह सकते है। यदि देखा जाय तो गीताके दूसरे अध्यायके शुरूमे, गीताके असली उपदेशके पहले, जो बाते कृष्ण एवं अर्जुनके बीच हो गई है वह चखचुख जैसी ही है। कृष्ण कहते है कि भई, ऐन लडाईके समयपर ही यह बडी बुरी कमजोरी तुममे कहासे आ गई? राम, राम, इसे दूर करो ओर फौरन कमर बाँधके तैयार हो जाओ। नामर्दकी तरह कमर तोडके यह बैठ क्या गये हो? इसपर अर्जुन अपने इस कामके, इस मनोवृत्तिके समर्थनके लिये दलीलें करता और कहता हे कि पूजनीय गुरुजनोंके चरणोंपर चन्दन, पुष्पादि चढानेके बदले उनके कलेजेमे तीर बेधूँ? यह नही होनेका। इन्हे मारके इन्हीके खूनमे रँगे राजपाट जहन्नुम जाये। मै इन्हे हर्गिज नही मारनेका। यही न होगा कि न लडनेपर राजपाट न मिलेगा? तो इसमे हर्ज ही क्या है? इन्हे न मारनेपर तो भीख माँगके गुजर करना भी कही अच्छा है। यह राजपाट ठीक है या वह भिक्षावृत्ति, इसका भी निर्णय तो हो पाता नही। मै तो घपलेमे पडा हूँ। यह भी तो निश्चय नही कि हमी लोग खामखा जीतेगे ही। ऐसी दशामे मुझे तो भिक्षावाला पक्ष ही अच्छा मालूम होता है।

यह प्रश्नोत्तर चखचुख ही तो है। असली चखचुख तो ऐसे संकटके ही समय हुआ करती है। फर्क यही है कि अर्जुन और कृष्णकी बातोंका तरीका अत्यन्त परिमार्जित था, गभीर था, जैसा कि गीताके शुरूके श्लोकोंसे पता चल जाता है। हाँ, इसके बाद अर्जुनने यह जरूर किया कि अपनी ही बातपर अडे न रहे। किन्तु कृष्णसे माफ हो कबूल किया कि मेरी अक्ल इस समय काम नही कर रही है।

इसीलिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ठीक-ठीक फैसला कर पाता हूँ नहीं। आप कृपा करके मेरी भलाईके लिये जो बात उचित हो वही कहिये। मैं आपकी शरण आया हूँ। नही तो मेरे हृदयमें जो महाभारत इस समय हो रहा है और जिसके करते सारी इन्द्रियाँ शिथिल होती जा रही है, वह मुझे मार डालेगा। उसकी शान्ति भूमंडलके चक्रवर्त्ती राज्यकी तो क्या स्वर्गकी भी गद्दी मिलनेसे नही हो सकती है। इतना कहनेके बाद, मैं तो लड़ूँगा हर्गिज नही, ऐसा बोलके अर्जुन चुप्प हो गये। उसीके बाद कुछ मुस्कराते हुए कृष्णने दूसरे अध्यायके ग्यारहवे श्लोकमे गीतोपदेश शुरू किया।

बात यह है कि भीष्मके आहत हो जाने, किन्तु मरनेके पूर्व, वीर क्षत्रियोचित शरशय्यापर उनके पडजानेकी खबर जब धृतराष्ट्रको संजयने दी, तो धृतराष्ट्रके कान खडे हुए। उसने समझा कि रंग बदरंग है। तभी उसने संजयसे घबराके पूछा कि बोलो, बोलो, क्या हो गया? यह हालत कैसे हो गई लडाईका श्रीगणेश कैसे हुआ; पहले किसने क्या किया और यह नौबत आनेतक दूसरी बाते क्या-क्या हो गई? शुरूमे बात यों हुई कि लडाईकी सारी तयारी देखके और अवश्यम्भावी संहारका खयाल करके व्यास धृतराष्ट्रके पास आये। यह तो मालूम ही है कि धृतराष्ट्र उनके पुत्र थे। इसलिये भी और सान्त्वना देनेके साथ ही आगाह कर देनेके लिये भी उनका आना जरूरी था। वही तो अब पथप्रदर्शक बच गये थे। बाकी लोग तो लडाईके मैदानमे हो डटे थे। उनने समझा कि शायद अन्धे धृतराष्ट्रको यह देखनेकी इच्छा हो कि अन्तिम समय तो भला पुत्रो और सम्बन्धियोको देख लूँ। भीष्मपर्वके पहले अध्यायमे लडाईकी तैयारी देखने और संहारका लक्षण जाननेकी बात कहके दूसरेमे धृतराष्ट्रके साथ व्यासका सम्वाद लिखा गया है। वहाँ व्यासके यह कहनेपर कि चाहो तो आँखे ठीक कर दूँ और सब कुछ देख लो, धृतराष्ट्रने यही उत्तर दिया कि जिन्दगी भर तो कुछ देख न सका। तो अब आँख लेके भला यह वंशसंहार देखूँ? इसकी जरूरत नही है। हाँ, कृपया ऐसा प्रबन्ध कर दे कि पूरा वृत्तान्त अक्षरशः जान सकूँ।

इसपर व्यासने धृतराष्ट्रके मन्त्री संजयको बताके कहा कि अच्छा, तो इस संजयकी ही आँखोंमे ऐसी शक्ति दिये देता हूँ कि यह रत्ती-रत्ती समाचार तुम्हें सुनायेगा। इसे हरेक बातकी जानकारी बैठे-बैठे ही हो जाया करेगी। दिनमे या रातमे, प्रत्यक्ष परोक्ष जो कुछ भी होगा, यहाँतक कि लडनेवाले लोग मनमे भी जिस बातका खयाल करेंगे, सभीकी पूरी जानकारी इसे हो जाया करेगी। लेकिन इसीके साथ व्यासने एक बार और भी धृतराष्ट्रको समझानेकी कोशिश की कि वह दुर्योधनको समझाके अब भी रोक दे, अभी कुछ बिगडा नही है। व्यासको

तो पता था ही कि धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी एक ही राय है। मगर धृतराष्ट्र पर तो इसका असर होने जानेका था नहीं। यही बातें दो और तीन अध्यायोंमें आई हैं। जब उनने देखा कि धृतराष्ट्रके मनमें उनकी बात घुस नहीं रही है, प्रत्युत अभीतक उसे दुर्योधन आदि अपने ही पुत्रोंकी जीतकी आशा लगी है, तब उनने उसका यह भ्रम मिटानेके लिये इतना ही बता दिया कि जो जीतता या हारता है उसकी हालत पहलेसे ही कैसी होती है। इसे ही शुभ-अशुभ लक्षण भी कहते हैं। फिर व्यास चले गये। इसके बाद धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि आखिर यह भूमि कितनी बड़ी है जिसे जीतनेके लिये यह मारकाट होनेवाली है। भीष्म-पर्वके चौथेसे लेकर बारहवें अध्यायतक उसी भूमंडलके सभी विभागोंका वर्णन किया गया है। इसके बाद संजय कुतूहलवश कुरुक्षेत्रकी ओर चले गये। फिर वहाँसे लौटके धृतराष्ट्रको सुनाया कि लो, अब तो भीष्म आहत होके पड़े हैं। यह बात तेरहवें अध्यायसे शुरू होती है और यहींसे गीतापर्वका श्रीगणेश होता है।

उसके बाद धृतराष्ट्रका रोना-गाना शुरू हुआ। फिर तो उसने भीष्मके आहत होनेके सारे वृत्तान्तके साथ ही युद्धकी सारी बातें पूछीं और संजयने बताईं। दोनों पक्षोंकी तैयारीकी भी बात संजयने कही। जिस प्रकार आज भी फौजोंकी नाकेबंदी होती है और अनुकूल जगहपर लडनेवाले आदमियों, घुड़सवारों या तोपखाने आदिको रखा जाता है। ठीक उसी प्रकार पहले भी रखा जाता था। इसीको व्यूह-रचना कहते थे। आजकी ही तरह यह रचना कई तरहकी होती थी। मगर उस समयकी परिस्थिति तथा अस्त्र-शस्त्रकी प्रगतिके अनुसार गाड़ीके गोल चक्केकी सूरतमें जब लोगोंको खडा करते थे तो उसे चक्रव्यूह कहते थे। इसमें दुश्मन चारों ओरसे घिर जाता था। इसे ही आज घेरना (encirclement) कहते हैं। जब कछुवेकी सूरतमें रखते जहाँ बीचमें तोप आदि ऊँची जगहपर रहें तो उसे कूर्मव्यूह कहते थे। गीताके पहले अध्यायमें इन्हीं व्यूहोंका जिक्र है। ज्यादा फौज कम फौजोंके अगल-बगल (flank) में भी खड़ी हो जाती और आसानीसे विजय पाती थी। इसीलिये धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि हमारी फौज तो ग्यारह अक्षौहिणी—प्रायः ११-१२ लाख—है, उसे उनकी सात ही अक्षौहिणी कैसे घेरेगी, या उसका सामना करेगी? संजयने इसीके उत्तरमें कहा कि कौन, कहाँ, कैसे खड़े हैं और किसे कैसे खड़ा किया गया था। पश्चिम ओर पूर्व रुख पांडवोंकी और पूर्व ओर पश्चिम रुख कौरवोंकी सेना खड़ी थी। सारी तैयारी कैसे पूरी हुई, यह बात भी उसने कही। अन्तमें कह दिया कि दोनों फौजें इस प्रकार आके आमने-सामने डँट गईं। शुरूमें दुर्योधन पक्षके सेनापति भीष्म और पांडव पक्षके भीम थे, यह भी बताया।

इस प्रकार तेरहवेंसे शुरू करके चौबीसतकके अध्यायमें ये बातें कहके गीता-पर्वकी एक तरहकी भूमिका पूरीकी गई है। फिर पचीसवेंसे लेकर बत्तीसवेंतकमें गीताके कुल अठारह अध्याय पूरे हुए हैं। पूरी तैयारी और आमने-सामने डँट जानेकी बात सुनके ही गीताके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रने पूछा कि उसके बाद फौरन मारकाट ही शुरू हो गई या कुछ और भी बात हुई ? उसके उत्तरमें ही समूची गीता आ गई। इसी सिलसिलेमें एक और भी मजेदार बात हो गई थी।

गीतोपदेशके बाद जब अर्जुन लडनेको तैयार हो गये तो एकाएक देखते हैं कि युधिष्ठिर कवच वगैरह उतारके नंगे पाँव कौरवोंकी सेनाकी ओर तेजीसे बढे जा रहे हैं। देखते ही अर्जुन आदि सभी घबरा गये। हालत यह हो गई कि ये पाँचों भाई कृष्णके साथ उनके पीछे-पीछे दौड़े जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं कि राम, राम, यह क्या कर रहे हैं ? ऐन वक्तपर आप यह कहाँ चले ? जब युधिष्ठिर न रुके, तो कृष्णने ताड लिया और लोगोको समझा दिया कि भीष्म आदि गुरुजनोसे लडनेके पहले आज्ञा लेने जा रहे हैं। यही शिष्टाचार है। उधर कौरव सेना वालोको बडी खुशी हुई कि लो, बिना मारे ही दुश्मन मरा। सचमुच युधिष्ठिर नामर्द हैं। नहो तो ऐसे वीरबाँकुडे भाइयो और कृष्णकी मददके होते हुए भी क्यो दुर्योधनके पाँव पडने आता ?

इसी बीच युधिष्ठिर सबोके साथ ही पहले भीष्मके पास और पीछे क्रमशः द्रोण, कृप और शल्यके पास गये और चारोंको प्रणाम करके लडनेकी आज्ञा तथा सफलताकी शुभेच्छा चाही। पहलेके तीन तो हर तरहसे माननीय थे। शल्य भी था माद्रीका भाई और भीम आदिका मामा। वह मद्रदेशका राजा था। उसने युधिष्ठिरको आज्ञा दी और शुभेच्छा भी जाहिर की। मगर सबोने एक बात ऐसी कही जो विचारणीय है और जिसका जिक्र हम पूर्व भागमे कर चुके हैं। चारोंके मुखसे एक ही श्लोक निकला, जो इस प्रकार है, 'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज, बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।'' यही श्लोक भीष्मपर्वके ४३वे अध्यायका ४१वाँ, ५६वाँ, ७१वाँ तथा ८२वाँ है। इसका सीधा अर्थ यही है कि ''महाराज, अन्नधनका गुलाम आदमी होता है, न कि आदमीका गुलाम पैसा, यह पक्की बात है। इसीलिये कौरवोंने हमे गुलाम बना लिया है।''

जिन्हे मौतपर भी कब्जा हो और जो अपनी मर्जीके खिलाफ न तो हार सकें और न मर सकें उन लोगोंने जब संसारका पक्का नियम ऐसा बता दिया और हिम्मतके साथ तदनुकूल ही अपनी स्थिति कबूल कर ली, तो मानना ही

पड़ेगा कि यह बड़ी बात है। इसीलिये इस अप्रिय सत्यपर पूरा ध्यान न देके जो लोग कोरे अध्यात्मकी राग अलापते रहते हैं वे कितने गहरे पानीमें हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य तो ऐसा कहें और हम अध्यात्मसे जरा भी नीचे न आयें यह विचित्र बात है! लेकिन जैसा कि हम दिखला चुके है, गीता इस कठोर सत्यको खूब मानती है। वह इसे स्वीकार करके ही आगे बढ़ी है। शायद कोई ऐसा समझ ले कि उन महानुभावोंने योंही ऐसा कह दिया है। इसलिये उसीके बाद जो श्लोक चारों जगह आये हैं वे सोलहों आने एकसे न होनेपर भी अभिप्रायमें एकसे ही है। वह इस बातको और भी खोल देते हैं। हम द्रोणके कहे श्लोकको लिखके उसीका अर्थ बता देना काफी समझते हैं। एक श्लोक यों है, "ब्रवीम्येनत्क्लीबवत्त्वा युद्धादन्यत किमिच्छसि। योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्योजया मया" (५७)। इसका भावार्थ यह है कि "यही कारण है कि आज मैं तुम्हारे सामने दब्बूकी तरह बातें करता हूँ। लड़ूंगा तो दुर्योधनके ही पक्षमें। मगर विजय तुम्हारी ही चाहूँगा।" उनने साफ मान लिया कि युधिष्ठिरके सामने अन्नधनके ही लिये दबना पड़ा।

उसके बाद युधिष्ठिर मदल वापस आ गये और कुछ अन्य राजनीतिक चालोंके बाद महाभारतकी भिड़न्त शुरू हुई जिसका वर्णन ४४वें अध्यायसे शुरू हुआ है। इस प्रकार अबतक जो कुछ कहा गया है उससे गीताके उपदेशकी परिस्थितिका पूरा पता लग जानेसे उसका तात्पर्य सुगम हो जाता है। इसीलिये गीताके प्रतिपादित विषयमें प्रवेशके लिये और कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

हाँ, कुछ नाम शुरूमें आये हैं उन्हें यहीं जान लेना अच्छा है। धृतराष्ट्र दुर्योधनका पिता था और सजय धृतराष्ट्रका मत्री यह तो कही चुके हैं। भीष्म, द्रोण और कृपको भी लोग जानते ही है। भीष्म बड़े बूढ़े और सबके पितामह थे। इसीलिये उन्हें भीष्मपितामह भी कहते हैं। शेष दो व्यक्ति आचार्य थे। उनने शिक्षा दी थी। अश्वत्थामा द्रोणका पुत्र था और विकर्ण था दुर्योधनका भाई। युयुधान एव सात्यकि एक ही व्यक्तिके नाम है। भूरिश्रवाको ही सौमदत्ति (सोमदत्तका पुत्र) कहते थे। धृष्टद्युम्न द्रुपदका बेटा था और द्रुपद था द्रौपदी-का पिता तथा पचाल देशका राजा। विराट मत्स्यदेशका राजा था। धृष्टकेतु शिशुपालके लड़केका नाम था। चेकितान यदुवंशियोंमें एक योद्धा था। वसुदेव यदुवंशी ही थे, जिनके पुत्र कृष्ण थे। युधामन्यु और उत्तमौजा भी पंचालदेशके ही निवासी थे। शिबिदेशके राजाको ही शैब्य लिखा है। कुन्ती जिस राजाको गोदमें दी गई थी उसके वंशका नाम ही कुन्तिभोज था। उसी राजाका पुत्र

पुरुजित् नामवाला था। इसीलिये पुरुजित् और कुन्तिभोज ये दो नाम न होके एक ही हैं। पुरुजित्के ही वंशका नाम कुन्तिभोज है। सुभद्रा कृष्णकी बहन थी। उसकी शादी अर्जुनसे हुई थी। इसीलिये सुभद्राके पुत्र अभिमन्युको ही सौभद्र कहा है। द्रौपदेय कहा है द्रौपदीके प्रतिबिन्ध्य आदि पाँचों बेटोंको। काश्य और काशिराज एक ही आदमी—काशीके राजा—को कहा गया है। शिखंडीको तो सभी जानते हैं। वह नपुंसक था और उसीकी ओटमे भीष्म मारे गये। क्योंकि नपुंसकपर वार वह करते न थे। हृषीकेश एवं गोविन्द कृष्णका ही नाम है। गुडाकेश, पार्थ, सव्यसाची अर्जुनको ही कहते है। भारत अर्जुनको भी कहा है और धृतराष्ट्रको भी। कृष्णके ही कुलको वृष्णिकुल और इसीलिये कृष्णको वार्ष्णेय भी कहते है। गोविन्द, अरिसूदन, मधुसूदन, माधव नाम भी उनका है और भगवान या श्रीभगवान् भी। अर्जुनको परन्तप भी कहा है और पार्थ भी। पार्थका अर्थ पृथा (कुन्ती) का पुत्र। कुन्तीके पुत्र होनेसे ही अर्जुन कौन्तेय कहे गये है।

गीताके शुरूमे ही जो व्यूढ शब्द आया है उसका अर्थ है व्यूहके आकारमे बनी या खडी फौज। व्यूहका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है। वही महारथ शब्द भी आया है। यह भी फौजी शब्द है। जैसे जो दस या ज्यादा शत्रुके हवाई जहाजोंको खत्म कर दे उसे फ्रेंच या अंग्रेजी भाषामे एस (ace) कहते है। उसी तरह ये महारथ आदि शब्द भी पहले बोले जाते थे। योद्धा लोगोंकी ही यह संज्ञाये थीं और थी ये चार—अर्द्धरथ, रथ, महारथ और अतिरथ। जो एकसे भी अच्छी तरह न लड सके वह अर्द्धरथ, जो एकसे लड सके वह रथ, जो अकेले दस हजार योद्धाओसे भिडे वह महारथ और जो असंख्य लोगोसे भिड जाये वह अतिरथ कहा जाता था—"एको दस सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्र-शास्त्रप्रवीणश्च स वै प्रोक्तो महारथः। अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः। रथस्त्वेकेन योद्धा स्यात्तन्न्यूनोऽर्द्धरथः स्मृतः।"

अब एक ही बात जाननेके लिये रह जाती है और है वह कुरुक्षेत्रकी बात। छान्दोग्य और वृहदारण्यक जैसे प्राचीनतम उपनिषदोंमें बार-बार कुरुदेश और कुरुक्षेत्रका नाम आता है। मनुस्मृतिमे भी ब्रह्मर्षिदेशको बताते हुये दूसरे अध्यायमें उसके अन्तर्गत कई प्रदेशोंका नाम गिनाके कहा है कि "कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाचाल, और शूरसेन इन्ही चार देशोंको मिलाके ब्रह्मर्षिदेश कहा जाता है—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाचालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः।" उसी ब्रह्मर्षिदेशका नाम पीछे कान्यकुब्ज हो गया। वर्त्तमान गुडगाँव, रोहतक आदि जिले कुरुक्षेत्रके ही भीतर है। उनसे पश्चिम बहुत दूरतकका प्रदेश ब्रह्मावर्त्त

कहा जाता था। जाबाल्योपनिषद्‌के पहले ही मंत्रमे कुरुक्षेत्रका नाम आया है। परशुरामके बारेमे यही माना जाता है कि उसी मैदानमे उनने बार-बार क्षत्रियों-का संहार किया। दिल्लीके पासका पानीपतका मैदान इधर भी कितनी ही लडाइयोका केन्द्र रहा है। वह कुरुक्षेत्रका ही मैदान है। उसीमे महाभारतका महायुद्ध भी हुआ था। भारतके लिये यह कत्लगाह है।

महाभारतके शल्यपर्वके कुल छब्बीस श्लोकोमे इस कुरुक्षेत्रकी चौहद्दी, इसके मुख्य स्थान आदि दिये गये हैं जो पुराने जमानेके नाम है। वही यह भी लिखा है प्रजापतियोकी यह पुरानी यज्ञशाला है। यहीपर देवताओने भी बडे-बडे यज्ञ किये थे। इसीलिये इसकी धूलतक पापनाशक मानी गई है। कुरुक्षेत्रका शब्दार्थ है कुरुका क्षेत्र या खेत। कुरु था कौरव-पाडवोका मूरिस या पूर्वज। वही लिखा है कि इस जमीनको वह बराबर जोतता रहता था। इन्द्रने उसे बार-बार रोका। पर उसने न माना। जोतनेका मतलब कुछ साफ नही है सिवाय इसके कि कहा गया है कि भविष्यमे जो यहा मरे उन्हे स्वर्ग मिले इसीलिये जोतना जारी था। अन्तमे इन्द्रने जब यह वरदान दिया कि जाइये यहाँ तप करने या लडनेमे जो मरेगे वह जरूर स्वर्गी होंगे, तब उसने जोतना छोडा। इसीलिये कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र या धर्मभूमि कहते हैं।

आगे श्लोकोके अर्थमे आवश्यकतानुसार बाहरसे जोडे गये शब्द कोष्ठकमे दिये है, यह याद रहे।

इसके अलावे कही-कहो श्लोकार्थके बाद छोटी-बडी टिप्पणियाँ भी दी गई है। वे साफ है।

पुराने समयमे हाथसे पकडके जिन तलवार आदि हथियारोसे हमला करते थे उन्हे शस्त्र कहते थे और जिन तीर आदिको फेकते थे उन्हे अस्त्र कहते थे। उस समय फौजको भी बल कहते थे।

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय, धर्मकी भूमि कुरुक्षेत्रमें जमा मेरे और पांडु-पक्षके युद्धेच्छुक लोगोंने क्या किया ? १ ।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयने कहा—उस समय पाडवोंकी सेना व्यूहके आकारमें (सजी) देखके राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाके बात बोला (कि)— २ ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

आचार्य, पाडुके बेटोकी इस बडी सेनाको (तो) देखिये । इसकी व्यूह रचना आपके चतुर चेले द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है ।३।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इसमें शूर, बडे धनुर्धारी (और) युद्धमे भीम एवं अर्जुन सरीखे सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद—४।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, कुन्तिभोज पुरुजित्, नरश्रेष्ठ शैब्य—५।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके बेटे—ये सबके सब महारथी है ।६।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

द्विजवर, हमारे जो चुने-चुनाये लोग हैं उन्हें भी (अब) गौरसे सुनिये। मेरी फौजके जो संचालक हैं उन्हें आपकी जानकारीके लिये बताता हूँ।७।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

(वे हैं), आप, भीष्म, कर्ण, युद्धविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा।८।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

दूसरे भी बहुतसे वीर हैं जिनने मेरे लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी है, जो अनेक तरहके शस्त्र चलानेमें कुशल हैं और सभी युद्धविद्यामें निपुण हैं।९।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

भीष्मके द्वारा रक्षित (संचालित) हमारी वह सेना काफी नहीं है। (लेकिन) इन (पांडवों)की यह भीमके द्वारा संचालित सेना तो काफी है।

इस श्लोकके अर्थके सम्बन्धमें विशेष विचार पहले ही के पृष्ठोंमें किया जा चुका है।१०।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

(इसलिये) जिसको जो जगह ठीक हुई है उसीके अनुसार आप सभी लोग नाकोंपर डँटे रहके केवल भीष्मको ही रक्षा करें।११।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

(इतने हीमें) दुर्योधनको खुश करनेके लिये सभी कौरवोंमें बड़े बूढ़े और प्रतापशाली भीष्मपितामहने सिंहको तरह जोरसे गर्जकर (अपना) शंख फूँका (शंख फूँकना युद्धारम्भकी सूचना है)।१२।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

उसके बाद एक-एक शंख, नफीरी (शहनाई), छोटे-बडे नगाडे और गोमुखी (ये सभी बाजे) बज उठे (और) वह आवाज गूँज उठी ।१३।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

उसके बाद सफेद घोडे जुते बडे रथमे बैठे हुए कृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य—अलौकिक या असाधारण—शंख (प्रतिपक्षियोंके उत्तरमें) फूँके ।१४।

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

कृष्णने पाचजन्य, अर्जुनने देवदत्त और भयंकर काम कर डालनेवाले भीमसेनने पौड्र नामक बडा शंख फूँका ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, और नकुल एवं सहदेवने (क्रमशः) सुघोष तथा मणिपुष्पक (नामके शंख बजाये) ।१६।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि—१७ ।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

द्रुपद, द्रौपदीके सभी बेटे और लम्बी बाहोंवाले अभिमन्यु इन सबने हे पृथिवीराज (धृतराष्ट्र), अलग-अलग शंख फूँके ।१८।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

आकाश और जमीनको बार-बार गुंजा देनेवाले उस घोर शब्दने दुर्योधनके पक्षवालोंका हृदय चीर दिया ।१९।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥

उसके बाद दुर्योधनके पक्षवालों को बाकायदा तैयार देखके (और यह जानके कि अब) अस्त्र-शस्त्र छूटने ही वाले हैं, महावीरकी चिह्नयुक्त ध्वजावाले अर्जुनने,—२०।

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे महीपति, कृष्णसे यह बात कही कि अच्युत, दोनो फौजोंके (ठीक) बीचमें मेरा रथ खडा कर दीजिये ।२१।

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

ताकि लडाईके मंसूबेवाले इन तैयार खडे लोगोंको देखूँ (तो कि आखिर) इस लड़ाईकी दौरान्मे मुझे किन-किनके साथ लडना है ।२२।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

ये जो युद्धमें नालायक दुर्योधनके खैरखाह बनके यहाँ आये हैं और लड़ेंगे उन्हे (जरा मैं) देखूँगा (कि आखिर ये हैं कौन लोग) ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

संजयने कहा कि हे धृतराष्ट्र, अर्जुनके ऐसा कहनेपर कृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें सर्वश्रेष्ठ रथ खड़ा करके—।२४।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओंके सामने ही कहा कि अर्जुन, जमा हुए इन कुरुके वंशजोंको देख ले ।२५।

यहाँ कुरुवंशियोंसे तात्पर्य दोनों पक्षके सभी लोगोंसे है। इसीलिये आगे "सेनयोरुभयोः" लिखा है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

वहाँ अर्जुनने देखा (कि ये तो अपने) पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पोते, मित्र, ससुर और स्नेही (लोग ही) दोनों ही सेनाओंमे खड़े है ।२६-२७।

तन्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन अपने ही सगे-सम्बन्धियोंको खड़े देख अर्जुनको परले दर्जेकी दयाने घेर लिया (और) विषादयुक्त होके वह ऐसा बोला ।२७-२८।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण, इन अपने ही लोगोंको युद्धकी इच्छासे यहाँ जमा देखके मेरे अंग शिथिल हो रहे है, मुँह बहुत सूख रहा है, मेरे शरीरमे कँपकँपी हो रही है और रोये खड़े हो रहे है ।२८-२९।

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गांडीव धनुष हाथसे गिरा जा रहा है, त्वचा (समस्त शरीर) मे आगसी ... खड़ा रह सकता हूँ नही और मेरा मन चक्करसा काट रहा है ।३०।

...नि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
...नुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

... देख रहा हूँ । अपने ही लोगोको युद्धमे मारके खैरि-

...म च राज्यं सुखानि च ।
...किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

... (भी) ...

...क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
...स्थिता युद्धे प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च ...

...राज्य, भोग और सुखोंकी चाह थी ...
...माया-ममता) को छोड़के युद्धमें डँटे है ! ...

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।

आचार्य, बड़े बूढ़े, लड़के, दादे, मामू, ससुर, पोते, साले और सम्बन्धी (लोग)—।३४।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

(यदि) हमे मारते भी हों (तो भी) हे मधूसूदन, मैं इन्हें त्रैलोक्य (संसार) के राज्यके लिये भी मारना नहीं चाहता; (फिर इस) पृथ्वीकी (तो) बात ही क्या ? ।३५।

निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दन, धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोको मारके हमे क्या खुशी होगी ? (उलटे) इन आततायियोंको मारके हमे पाप ही लगेगा ।।३६।।

स्मृतियोंमें छे तरहके लोगोंको आततायी कहा गया है । "जो आग लगायें, जहर दें, हाथमें हथियार लिये डॅटे हों, किसीकी धन-सम्पत्ति छीनते हों, जमीन (खेत) छीनते हों और दूसरोंकी स्त्रीको हरे—यही छे—आततायी कहे जाते हैं"—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः" (वसिष्ठस्मृति ३।१६) ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

इसलिये हमे अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवोंको मारना ठीक नही है । हे माधव, भला अपने ही लोगोंको मारके हम सुखी कैसे होंगे ? ।३७।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लाभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।

[illegible] धन वगैरह) कुलके संहारके
[illegible] है ।३८।

[illegible] म् ।
[illegible] ।।३९।।

[illegible]

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

कुलके क्षय होनेसे सनातन—चिरन्तन या पुराने—कुलधर्म चौपट हो जाते हैं और धर्मोंके नष्ट हो जानेपर समूचे कुलको अधर्म दबा लेता है ।४०।

यहाँ धर्म और अधर्म शब्द संकुचित धर्मशास्त्रीय अर्थमें नहीं आये हैं । इसीलिये कुलधर्म कहनेसे ऐसी अनेक बातें, अनेक कलायें और बहुतेरी हिकमतें भी ली जाती हैं जिनके बारेमें कहीं कोई लेख नहीं मिलता । किन्तु जो परम्परासे व्यवहारमें आती हैं । क्योंकि पूजा-पाठ आदि बातें तो पोथियोंमें लिखी रहती हैं । फलतः उनके नष्ट होनेका सवाल तो उठता ही नहीं । वह कायम रही जाती है और किसी न किसी प्रकार उनका अमल होई सकता है । मगर जिनके बारेमें कुछ भी कहीं लिखा-पढ़ा नहीं है उनका तो कोई उपाय नहीं रह जाता । जब उन्हें जानने और उनपर अमल करनेवाले ही नहीं रहे तो वे बचे कैसे ? हमने साँपके जहर उतार देने और मृतप्राय आदमीको भी चंगा करनेका ऐसा तरीका देखा है जो न लिखा गया है और न लिखा जा सकता है । वह तो अजीब चीज है जो समझमें भी नहीं आती है । मगर उसपर अमल होते खूब ही देखा है । इसी तरहकी हजारों बातें होती हैं । इस श्लोकमें जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जब किसी वंशका वंश ही खत्म हो जाता है और केवल नन्हे-नन्हे या गर्भके बच्चे एवं स्त्रियाँ ही बच रहती हैं तो नादानी और अज्ञानके गहरे गढ़ेमें वह वंश डूब जाता है । फलतः बचे बचाये प्राणी जान पाते ही नहीं कि क्या करें । इसीलिये अधर्म शब्द उसी अन्धकारके मानीमें आया है ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।। ४१ ।।

हे कृष्ण, अधर्मके दबानेपर कुलीन स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं (और) स्त्रियोंके बिगड़ जानेपर, हे वार्ष्णेय, वर्णसंकर हो जाता है ।४१।

इसपर विशेष विचार पहले २२३-२३१ पृष्ठोंमें हो चुका है ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ।। ४२ ।।

(और यह) वर्णसंकर कुलघातियोंको और (समूचे) कुलको (भी) जरूर ही नरक ले जाता है । क्योंकि इनके पितर या बड़े बूढ़े पिंड और तर्पणकी क्रियाओंके लुप्त हो जानेसे पतित हो जाते हैं—नीचे जा गिरते हैं (और जब बड़े बूढ़े ही पतित हो गये तब तो अधोगति एवं अवनतिका रास्ता ही साफ हो गया) ।४२।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धमे जो 'हि' आया है— हि ऐषा (ह्येषा)—यह कारणका सूचक है। साधारणतया यह शब्द कारण सूचक ही होता है। इसका मतलब यह है कि पूर्वार्द्धमे जो नरक और पतनकी बात कही गई है उसीकी पुष्टिमे हेतुस्वरूप आगे बाते लिखी गई है। यही कारण है कि 'पितर.' शब्दको व्यापक अर्थमे लेके हमने बड़े बूढे अर्थ कर लिया है। पहले भी ३४वे श्लोकमे 'पितर.' का यही अर्थ है। इसीलिये सिर्फ किसी स्थान या लोक विशेषमे, जिसे स्वर्ग या पितृलोक कहते है, रहनेवालो के ही अर्थमे हमने उस शब्दको नही लिया है। हमारे अर्थमे वे भी आ जाते है। इसीलिये पिड और उदक क्रियाका भी व्यापक ही अर्थ है। फलतः अन्न जल आदि से आदर सत्कार एवं अतिथि पूजा वगैरह भी इसमे आ जाती है। साधारणत समझा जानेवाला पिडदान एव तर्पण तो आता ही है।

दोषैरेतैः कुलघ्नाना वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्मा· कुलधर्माश्च शाश्वता· ॥ ४३ ॥

वर्णसकर पैदा करनेवाले कुलघातियोके इन दोषोके करते सनातन जातिधर्मों और कुलधर्मोंका नाश हो जाता है। ४३।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन हम ऐसा सुनते है कि जिन लोगोके कुलधर्म (आदि) निर्मूल हो जाते है उन्हे जरूर ही नरकमे जाना पडता है। ४४।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५ ॥

ओह, अफसोस, हम बहुत बडा पाप करने चले है। क्योंकि राज्य और सुखके लोभसे अपने ही लोगोंको मारनेके लिये तैयार हो गये है! ।४५।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

(विपरीत इसके) अगर मै शस्त्र-रहित होके अपने बचनेका भी कोई उपाय न करूँ (और ये) शस्त्रधारी दुर्योधनके आदमी मुझे मार (भी) डालें तो भी मेरा भला ही होगा। ४६।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोला—चिन्ता और अफसोससे उद्विग्न चित्त अर्जुन ऐसा कहके (और) धनुष बाणको छोड़के युद्धके मैदानमे ही रथमे बैठ गया। ४७।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्रमे जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका अर्जुन-विषादयोग नामक पहला अध्याय यही है।

अर्जुनका विषाद, युद्धकी हानियाँ और फलस्वरूप लडनेमे अर्जुनका जो विराग इस अध्यायमे दिखाया गया है वह सभी युद्धोंकी समाजघातकताको बताके उनकी निन्दा करता है। जिनने बीसवी शताब्दीके साम्राज्यवादी युद्धोंका देखा और जाना है वह बखूबी समझ सकते है कि इनसे कुल, जाति, देश और उनके धर्मोका जितना भयंकर संहार होता है और सभी प्रकारके पतनका सामान वे किस कद्र जमा कर देते है। उनके चलते समूचे देशके देशकी हर तरहकी प्रगति किस प्रकार रुक जाती और समाज अवनतिके अतलगर्त्तमे जा गिरता है यह बात उन्हे साफ विदित है। इसीलिये अर्जुनकी बाते वे आसानीसे समझ सकते है। फलतः इनमे उन्हे कोई अलौकिकता मालूम न होगी।



दूसरा अध्याय

पहले अध्यायमें जो कुछ कहा गया है वह अर्जुनके अपने विचार थे जो बेरोक बाहर आये थे। उनसे उसकी मनोवृत्तिपर पूरा प्रकाश पडता है। कृष्णने देखा कि यह तो अजीब बात है। लडाईके मैदानमे ऐन मौकेपर यह ज्ञान-वैराग्यकी बात और तन्मूलक कर्त्तव्यविमूढ़ता, या यों कहिये कि निठल्ले बैठ जाना तो निराली चीज है। सो भी युद्धमें सबके अग्रणी और नेता—पेशवा—का ही बैठ जाना। अतएव वह कुछ घबराये सही। मगर फिर खयाल किया कि आखिर अर्जुन भी तो आदमी ही ठहरा और आदमियोको ऐसे मौकोंपर मानवसुलभ कमजोरियाँ दबाती ही है। मालूम होता है, यही बात अर्जुनकी भी है। वह कुछ दयार्द्र हो जानेके कारण ही कमजोरी दिखा रहा है। हिंसाका भीषण रूप यहाँ आँखोंके सामने नाच रहा है। इसीलिये यह कमजोरी स्वाभाविक है। उनने यह भी खयाल किया कि इसी भावोद्रेक और प्रेमप्रवाहके करते वह अपने आपको शायद भूल गया है कि उसे वहां क्या करना है—वह इस युद्ध-क्षेत्रमें क्या लक्ष्य और कौन मिशन (mission) लेके आया है। वह यह भी इसीलिये नहीं सोच रहा है कि इसमे उसकी बदनामी है। इसलिये यदि यह बात उसे याद दिला दी जाय और इसके चलते होनेवाली हानि सुझा दी जाय तो शायद फिर तैयार हो जाय। आखिर ऐन लड़ाईके समयका यह आगा-पीछा अबतक सब किये-करायेपर पानी जो फेर देगा। इसीलिये दूसरे अध्यायका श्रीगणेश कृष्णकी इन्ही बातोंसे ही हुआ। इसीलिये संजयने यही बात धृतराष्ट्रसे कही भी। फलतः इस अध्यायके शुरूमें ही—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजयने कहा—इस तरह कृपासे ओतप्रोत, आंसूभरी बेचैन आँखोंवाले और विषादयुक्त उस अर्जुनसे मधुसूदनने आगेवाली बात कही।१।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान बोले—अर्जुन, ऐसे संकटके समयमें—लड़ाईके मैदानमें—तुममें यह गन्दगी कहाँसे आ गई ? गन्दगी भी ऐसी कि जिसे भले लोग कभी अपनाते नहीं, जो उन्नतिकी ओर तो ले जानेवाली नहीं। (हाँ,) बदनामी फैलानेवाली (जरूर) है।२।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

पार्थ, नामर्दी मत दिखाओ। यह तुम्हें शोभा नहीं देती। ओ दुश्मनोंको तपानेवाले, हृदयकी (इस) नाचीज कमजोरीको छोड़के खड़ा हो जाओ।३।

अब अर्जुनने देखा कि कृष्णको मेरे दिलकी बातोंका ठीक-ठीक पता नहीं है। वह समझते हैं कि मैं केवल माया-ममताकी कमजोरीसे ऐसा कर रहा हूँ। इसलिये जरूरत इस बातकी है कि सारी बातें खोलके उनके सामने रख दी जायँ, ताकि परिस्थितिका पूरा पता उन्हें लग जाय। इससे यह भी होगा कि यदि सम्भव होगा और उचित समझेंगे तो कोई रास्ता भी सुझायेंगे। नहीं तो युद्धमें तो अब पड़ना हई नहीं। इसीलिये—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन कहने लगा—हे मधुसूदन—मधुदैत्यके नाशक—, हे अरिसूदन—शत्रु-नाशक—, (चन्दन, पुष्पादिसे) पूजा करने योग्य भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ इस युद्धमें वाणोंसे लड़ूँ कैसे ?४।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

गुरुजनों—बड़े बूढ़ों—को न मारके इस दुनियामें भीखसे भी गुजर करना कहीं अच्छा है। अर्थलोलुप गुरुजनोंको मारकर तो यहींपर (उन्हींके) खूनसे रँगे पदार्थोंको भोगना होगा।५।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

यह भी तो नहीं मालूम कि हमारे लिये (दोनोंमें) कौनसी चीज अच्छी है (और यह भी नहीं जानते कि) हम (उन्हें) जीतेंगे या वे लोग ही हमें जीतेंगे। जिन्हींको मारके हम जीना नहीं चाहते वही धृतराष्ट्रके बेटे सामने ही डटे हैं।६।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धके बारेमें तो कोई विवाद नहीं। उसका अर्थ तो सभी लोग एक ही समझते हैं। मगर पूर्वार्द्धमें गडबड है और कुछ लोग भटकके दूसरा ही अर्थ कर डालते हैं। असलमें यदि इससे पूर्वके श्लोकसे इसे जोड़के उसी प्रसंगमें इसे भी मान लें तो यह दिक्कत न हो। इसीके साथ एक बात और भी करनी होगी। हमें इस श्लोकके 'कतरत्' और 'गरीयस्' शब्दोंका भी खयाल करना होगा। हमारे जानते तो इसका सीधा अर्थ इस तरह है। पहले श्लोकमें जो कहा गया है कि गुरुजनोंको न मारके भिक्षावृत्तिसे गुजर करना कहीं अच्छा है; क्योंकि उन्हें मारनेपर तो परलोककी कौन कहे यहींपर खूनसे सने पदार्थोंको ही भोगना होगा, उससे दो पक्ष सिद्ध होते है। एक तो है युद्ध न करके भिक्षा-वृत्ति तकके लिये तैयारी और दूसरा है लड़करके इसी शरीरसे खूनी पदार्थोंका भोग। इनमें पहले पक्षको यद्यपि अर्जुनने अच्छा ठहरा दिया है। फिर भी इस बातकी पूरी जानकारी तो उन्हें है नहीं। इसीलिये अगले श्लोकमे इसी जानकारी-की बात जाननेके लिये "विद्मः" शब्द बोलते हैं। जिस विद धातुसे यह शब्द बना है उसीसे वेद, वेत्ता, विद्वान् आदि शब्द बनते है। उसका अर्थ है पूरी जानकारी और वही हमे नहीं है यही बात "न चैतद्विद्मः"—"यही तो नहीं जानते"—शब्दोंमे कहते हैं। इसीलिये आगेके भी सातवें श्लोकमें पाँचवें जैसा ही "श्रेयः" शब्द कहके कहते हैं कि जो मेरे लिये अच्छा हो सो कहिये।

एक बात और भी है। पाँचवेमें सिर्फ इतना ही कहा है कि गुरुजनोंको न मारके भीख माँगना भी अच्छा है और यह सर्वसाधारण बात है। इसका यह मत-लब तो हर्गिज नहीं होता कि यह चीज सभीके लिये अच्छी है। हो सकता है क्षत्रियके लिये ठीक न होके भी औरोंके ही लिये ठीक हो। यह चीज अच्छी है यह आम लोगोंकी धारणा ही तो उनने कही है, न कि अपने लिये भी उसे खामखा अच्छा कह दिया है। इसीलिये सातवें श्लोकमें 'मे' शब्द देकर साफ कहते है कि मेरे लिये जो बात 'श्रेय' हो, ठीक हो वही कहिये। यही वजह है कि पाँचवेंके उत्तरार्द्धमे जो दलील देते है कि रोटी-पैसेके ही लिए दुर्योधनके यहाँ फँसे गुरुजनोंको मारके उन्हींके खूनसे रँगे पदार्थ यहाँ भोगने होंगे, उससे यह झलकता है कि यदि मरनेके बाद नर्क आदिकी बात होती तो एक बात भी थी। तब देखा जाता। तब सोचते कि चलो, यहाँ तो आराम कर लें, आगे देखा जायगा। मगर यह तो कुछ ऐसी चीज हो जाती है कि उन्हींके खूनसे रँगे पदार्थ ही हमे यहाँ मिलते हैं। उसमे एक बात और भी हो जाती है कि ये बेचारे हमारे बड़े बूढ़े जिन्हीं चीजोंको लेके एक प्रकारसे पथभ्रष्ट हुए वही चीजें आखिर उनसे हम छीन ही लें, सो भी उनका खून करके, यह कैसा तो लगता है। यह तो कुछ

ऐसा मालूम होता है कि वे लोग तो पथभ्रष्ट हुए ही थे। मर अब हम भी ऐसा करके वैसे ही हो जायंगे और यह ठीक नही लगता। गुरुजनोंको 'अर्थकाम' कहनेका यही मतलब है। इमी अर्थमें "कामकामो" (२।७०) शब्द आया है।

इस प्रकार अर्जुनका मन कुछ अजीब पशोपेश और घपलेमें पड़ा है। क्या वह इन बातोंको करते हुए भी यह नहीं जानता कि आखिर क्षत्रियका ही धर्म तो लडना है, दूसरेका नही? फिर वह यों हो निश्चय कैसे कर लेता कि भीख माँगना ही अच्छा? मगर इतनेपर भी उसके पशोपेशकी गुंजाइश सिर्फ इसलिये रह जाती कि आखिर युद्धमें सीधे अपने हो लोगों एवं गुरुजनोंको हो मारना पडे यह तो कोई जरूरी नही है। लडाई तो ऐसी भी हो सकती है जिसमें यह कुछ भी न करना पडे। ऐसी दशामे वैसी ही लडाई क्षत्रियका धर्म क्यो न माना जाय, न कि ऐमी? यह शंका तो स्वाभाविक थी। उधर कृष्ण इसीमे प्रोत्साहित कर रहे थे। रोकने तो थे नहीं। इसलिये यह भी खयाल होता था कि यदि यह बुरी होती तो वह ऐसा कदापि नही करते। यही था पूरा घपला। अर्जुन इसीकी सफाईके लिये कहता है कि हमे यह भी तो पता नही कि इन दोनो पक्षोमे कौनसा हमारे लिये उत्तम है, अच्छा है।

'गरीयम्' और 'कनरत्' शब्द भी यही अर्थ ठीक है ऐसा सूचित करते है। पहले 'गरीयस्' शब्दको ही ले। यह शब्द, गुरु शब्दसे बना है और गुरु शब्दका अर्थ है भारी, वजनी, बडा श्रेष्ठ, अच्छा। इसलिये 'गरीयम्' शब्दका अर्थ हो जाता है ज्यादा अच्छा, ज्यादा वजनदार, और भी अच्छा, और भी श्रेष्ठ। अर्जुनके कहनेका यही आशय है कि यो तो दोनो ही पक्ष अच्छे है, वजनी है, श्रेष्ठ है। क्योकि तर्क-दलीले दोनो ही पक्षोमे है जिन्हे मै दे भी चुका हूं। मगर दोनोमे भी ज्यादा वजनदार, ज्यादा अच्छा, ज्यादा श्रेष्ठ कौन है इसका पता मुझे नही लगता। मेरे लिये यही तो बडी दिक्कत है। मेरी हालत तो "दोलाचलचित्तवृत्ति" है, मेरा दिमाग तो झूलेकी तरह दोनों ही ओर बराबर जा रहा है—कभी इधर और कभी उधर। फलत. निर्णय नही कर सकता है।

अब इसीके साथ 'कनरत्' शब्दको भी मिलाके देखे। ये दोनो ही शब्द यहांपर नपुंसक-लिंगी ही है। पुल्लिग होनेपर 'कतरः' और 'गरीयान्' होते। 'कतर' शब्द दोमेसे एकको चुन लेने, अलग कर लेनेके मानीमे आता है। इसका अर्थ है दोमे कोनसा? दोसे ज्यादासे चुनना हो तो 'कतम' शब्द बोलते है। इसी तरह 'नः' शब्दका अर्थ है हमारा या हमारे लिये। सब मिलाके अर्थ हो जाता है कि हमारे लिये इन दोनों पक्षोमे कौनसा पक्ष ज्यादा अच्छा है। जहाँ कोई निश्चित लिंग न हो वहाँ नपुंसक ही बोला जाता है। यहाँ भी वही बात

है। दो पक्ष, दो बातें, दो चीजें हैं और इनके लिंगका कोई ठिकाना है नहीं। मगर जब 'नः'का अर्थ करते है 'हम लोगोंमें' या 'हम लोगोंमेंसे', तो वह साफ ही पुंलिग हो जाता है। तब तो साफ ही पता चलता है कि अर्जुन अपना और दुर्योधनका खयाल करके ही कहता है कि हम दोनोंमे कौन वजनी है, कौन जीतेगा, यह मालूम नहीं। मगर उस दशामें उसे "कतरो नो गरीयान्" ऐसा ही कहना उचित था। श्लोक भी ठीक ही रह जाता है। इसलिये मानना पडता है कि यह बात नही है। साफ ही पुंलिगकी जगह नपुंसक देनेसे निस्सन्देह वही अर्थ ठीक है जो हमने माना है।

जो लोग इस नपुंसकवाली बातको मानके भी आगेके "यद्वा जयेम" आदिको इसीके साथ मिलाते हुए यह अर्थ करते है कि "हम जीते या हमे वे लोग जीत ले—इन दोनोंमे श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नही पडता", उनका भी कहना ठीक नही है। पहलेकी सारी दलील ऐसे अर्थके विरुद्ध जाती है। शायद 'जयेम' और 'जयेसुः' का विधिलिङ् देखके वे लोग इस भ्रममे पड गये है। मगर यहाँ तो चाहे विधिलिङ् हो या भविष्यकी क्रिया हो हर हालतमे भविष्य ही अर्थ होगा 'जीतेंगे'। पहलेके श्लोकमे 'भुंजीय' क्रिया भी तो ऐसी ही है। मगर वहाँ उनने भी भविष्य ही अर्थ किया है। फिर यहाँ भी वही क्यों न किया जाय? विधि-लिङ् और आशीर्लिङ्का भविष्य भी अर्थ होता है यह तो "भविष्यति लिङ्लौटौ" (३।३।१७३) सूत्रमे पाणिनिने खुद माना है। अर्जुनका तो यही कहना है कि हम यह भी तो नही जानते कि हम जीतेंगे या वे लोग। इस पूर्वार्द्धमे अर्जुनने एक तो यही कहा है। इसके पहले दूसरा यह कि इन दोनो बातोमे कौन ज्यादा अच्छी है यह भी नही जानते।

इन दोनोको एक साथ घोलमट्ठा करके ऐसा कहना कि हम जीते या वह जीते इन दोनोंमे हमारे लिये कौन बात अच्छी है यह मालूम ही नही है, कुछ अच्छा जँचता भी नही। भविष्यकी अनिश्चित बातको अभी तौलना ठीक नहीं लगता। मारना और मरना तो निश्चित है, चाहे जीते कोई। इसलिये उसके बारेमे अच्छे-बुरेका खोद-विनोद ठीक हो सकता है। मगर जो चीज अनिश्चित है उसके भले-बुरेका क्या विचार? उसीमेंसे किसी एकको पहले ही चुन लेनेका क्या प्रसंग? और जीतहारमे किसी एकको चुननेका तो यों भी प्रश्न नही उठता। हार तो कोई भी नहीं चाहता। फिर अर्जुन क्यों चाहने लगा? यह तो परले दर्जेकी नादानी ही होगी। हाँ, उस सिलसिलेमे मरने-मारनेका प्रश्न और उसे चुनने या पसन्द करने न करनेकी बात जरूर उठती है। हमने उसे माना भी है। अर्जुनने वही बात "यानेव हत्वा"मे कही भी है। श्लोकमे 'यद्वा' और 'यदिवा'

शब्द भी जीतकी संदिग्धता हीको सूचित करते हैं। उनका ऐसा ही अर्थ होता है। 'यदि' शब्द तो खामखा शककी सूचना करता है। उसीका साथी 'यद्वा' शब्द भी यहाँ यही काम करता है।

इस श्लोकमें तो अर्जुन साफ-साफ कहता है कि एक तो यही पता नहीं कि भिक्षावृत्ति ही हमारे लिये ठीक है, या मारकाटके बाद मिलनेवाला राजपाट। दूसरे; अगर हम राजपाटकी ही बात ठीक मान भी ले तो यह भी तो पता नहीं कि हमीं जीतेंगे या वही लोग। इसलिये यह तो "गुनाह बेलज्जत" सी ही बात लगती है। मारकाट भी करें और राजपाट भी न हाथ लगे, यह तो और भी बुरा होगा। यह भी नहीं कि लड़नेमें अपने लोगोंको मारकाट न होगी। यहाँ तो साफ ही देखते है कि जिन्हे मारनेसे हटना चाहते है वही दुर्योधनादि ही सामने डँटे है। यह अर्थ इतना स्वाभाविक और मौजूँ है कि इसमें ननु नच करनेकी जगह रही नहीं जाती।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कुछ भी निश्चय न कर सकनेके फलस्वरूप मुझे कुछ सूझता ही नहीं और धर्मके निर्णयके बारेमे मेरी बुद्धि घपलेमें पड गई है। (इसीलिये) आपसे पूछता हूँ। मेरे लिये जो ठीक हो वही पक्का-पक्की कहिये। मै आपका शिष्य हूं। मुझ शरणमें आयेको—शरणागतको—सिखाइये—रास्ता बताइये।७।

यहाँ धर्मका अर्थ है कर्त्तव्य और वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य दोनोंका ही वाचक हैं। अर्जुनका कहना यही है कि मै कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय कर सकता नहीं। मेरी अक्ल काम करती ही नही। वह चकरा उठी है। इसका कारण वह बताता है कार्पण्यरूपी दोष। कृपण शब्दसे कार्पण्य बनता है और इसका अर्थ है कृपणता। उसके जानते कृपणता ही वह दोष वा बुराई है जिसने बुद्धिको घपलेमें डाल दिया है। शराब या भाँगके नशेमें जैसे दिमाग चकराता है वैसे ही यहाँ कृपणताके नशेसे बुद्धि चकरा गई ह। कहाँ नशा और दोष एक ही चीज है। कृपणा और कृपणता किसे कहते है इसके सम्बन्धमे बृहदारण्यक उपनिषद्के तीसरे अध्यायके आठवे ब्राह्मणका दसवाँ मंत्र इस तरह है—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गिविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।" इसका आशय यही है कि "गार्गि; इस अविनाशी आत्माको जाने बिना हो जो मर जाता है वही कृपण है, और जो इसे जानके मरता है वही ब्राह्मण है।"

गीताको जब उपनिषद्का ही रूप मानते है तब तो कृपण और कृपणताके अर्थके सम्बन्धमें उपनिषद्के उक्त वचनका सहारा लेना ही होगा। आमतौरसे

कंजूसके अर्थमें कृपण शब्द बोला है। मगर वह मतलब तो यहाँ है नहीं। अर्जुनकी कंजूसीका यहाँ सवाल ही है क्या? उसे कुछ खर्चना तो है नहीं। यह भी नहीं कि युद्धमें शक्ति खर्चनेसे डरता हो। उसके सामने तो मरने-मारनेवाला सवाल चट्टानकी तरह खड़ा है। उसीको लेके स्वर्ग, नर्क और धर्मनाश, कुलनाशादिकी समस्याएँ उठ पड़ी हैं। फिर खर्चकी कंजूसीकी क्या बात? वह यह खुदबखुद कहता भी कैसे कि मैं कंजूसी कर रहा हूँ? और अगर कंजूसी होती तो फिर कृष्णका जवाब दूसरे ढंगका क्यों होता? वह तो आत्माकी अजरता, अमरता और अविनाशितासे ही शुरू करते हैं। इससे भी पता चलता है कि आत्माके यथार्थ स्वरूपके न जाननेको जो बृहदारण्यकमें कृपणताके नामसे पुकारा है उसीसे यहाँ अभिप्राय है। नहीं तो प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ दूसरा ही हो जायगा न? मर्ज दूसरा और दवा निरालीवाली बात जो हो जायगी। इसलिये कृपण शब्दका वास्तविक अर्थ तो यही है। कंजूसके अर्थमें तो वह इसीलिये बोला जाता है कि वैसा आदमी भी अज्ञानी होता है। वह अपनी चीजका ठीक उपयोग या खर्च जानता नहीं। इसीलिये तो मुनासिब मौकेपर ही उलटा खिंच जाता और काम बिगाड़ देता है जिसके फलस्वरूप दूसरे ढंगसे कहीं ज्यादा खर्च हो जाता है। आत्माको ठीक-ठीक न जाननेवाले भी उलटा ही काम करते रहते हैं। इसीलिये अर्जुन जानना चाहता है कि आत्मतत्त्व क्या है, आत्माका असली रूप क्या है, बुरे-भले कर्मोंका क्या रहस्य है, आदि बातें उसे अच्छी तरह समझा दी जायँ। ताकि उसके दिमागका अँधेरा दूर होके कर्त्तव्यपथ प्रशस्त हो सके। इसीलिये "उपहतस्वभाव"में जो स्वभाव शब्द है और जिसका अर्थ पहले ही आत्मा का असली रूप या हस्ती किया जा चुका है वह भी ठीक ही है। अज्ञानके चलते आत्माके स्वरूपका उपहत, विकृत या मरने-मारनेवाला मालूम होना ठीक ही है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

क्योंकि भूमंडलका निष्कंटक समृद्ध राजपाट देवताओंका आधिपत्य—इन्द्रका पद—मिल जानेपर भी मुझे तो (ऐसी चीज) नजर नहीं आ रही है जो इन्द्रियों (तक) को सुखा डालनेवाले मेरे इस शोकको दूर कर सके।८।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय कहने लगा—शत्रुको तपानेवाला अर्जुन हृषीकेश—कृष्ण—से इस तरह कहके और (उन्हीं) गोविन्दसे (यह भी) कहके कि (हर्गिज) न लडूँगा, चुप हो गया।९।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

(इसपर), दोनों फौजोंके बीच (खडे) शोकाकुल अर्जुनसे कृष्ण (उसका) कुछ उपहास करते हुएसे कहने लगे।१०।

यहाँ यह जान लेना होगा कि अर्जुनकी इन आखिरी बातोंसे कृष्णको पता चल गया कि यह मर्ज बहुत गहरा है। उनने बखूबी समझ लिया कि उनका पहला खयाल कि अर्जुन सिर्फ माया ममतामें पडके ही मानव स्वभाव सुलभ कमजोरियोंके करते आगा पीछा कर रहा है, गलत है। यदि यह बात होती तो पहली ही ललकारमें काम चल गया होता। मगर यहाँ तो बात ही दूसरी मालूम हुई। अर्जुन तो बहुत गहराईमें घुस चुका था। आमतौरसे धर्मशास्त्रोंके आदेशों और धर्मके अनुशासनोंका अब उसपर तबतक असर नहीं हो सकता था जबतक उसकी असली कमजोरी दूर न कर दी जाय। जबतक उसे यह पता न लग जाय कि आत्मा अविनाशी है, वह किसीको मारती नहीं और न खुद मरती है, तबतक उसमें युद्धकी मुस्तदी आ नहीं सकती।

असलमें जो साधारण समझके या बिना समझवाले लोग होते हैं उन्हें तो पशुओंकी तरह नीति एवं धर्मशास्त्रोंके वचनोंकी लाठीसे ही हाँक ले जाते हैं और जहाँ चाहें भिडा दे सकते हैं। उनके लिये यही बात काफी होती है। मगर जो आगे बढ गया और भले-बुरेका विचार स्वतंत्र रूपमें खुद ही कर सकता है उसके सामने ये आदेश और वचन बेकार होते हैं। इतना ही नहीं। गुरुजनोंकी आज्ञा भी उसपर कोई असर डाल नहीं सकती जबतक उसके दिमागमें वह बात जँच न जाय। यही कारण है कि कृष्ण जैसे महापुरुषकी भी बातका प्रभाव अर्जुन पर जरा भी न पड सका और वह टससे मस न हो सका।

इसीलिये कृष्णको भी गहराईमें जाना पडा। इस प्रकार जिस सूक्ष्म एवं दार्शनिक दिमागसे वह दलीलें कर रहा था उसीका आश्रय लेके उसे निरुत्तर करना और मनाना पडा। वह बारबार भीष्म, द्रोण आदिके मरने और अपने मारनेकी बात करता था। इसलिये लाचार होके कृष्णको सबसे पहले इस मरने-मारनेका रहस्य बताना एवं भंडाफोड करना ही पडा। उनने साफ ही देखा कि इसे तो आत्माके ककहरेका भी ज्ञान नहीं है—यह जानता ही नहीं कि वह क्या

चीज है। यह तो समझता है कि सचमुच वह मरने-मारनेवाली कोई चीज है। यही कारण है कि वह धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा; पुण्य-पाप और स्वर्ग-नर्कका ताल्लुक आत्मासे ही जोड़के हिचकता है। क्योंकि युद्धमे जब आत्माने हिंसाकी तो पापभागी होके खामखा नर्क जायगी ही। इसीलिये वह हिंसासे बचना चाहता है। फलतः कुलसंहारके भयंकर दोषोंसे उसकी आत्मा काँपती है। क्योंकि वह उसमें अपनी और दूसरोंकी भी—सबोंकी—अधोगति देखता है।

इस प्रकार आत्माके वास्तविक स्वरूपका जाने बिना ही यह सारी बला है, यह कृष्णको साफ नजर आया। उनने देख लिया कि उस स्वरूपके जानते ही यह सारा पर्दा कुहासेकी तरह फट जायगा। इसीलिये उनने आत्माके ही स्वरूपको लेके गीतोपदेश आरंभ किया। यदि आत्मा अकर्त्ता और अविनाशी सिद्ध हो जाय तो फिर स्वर्ग-नर्क और पाप-पुण्यका सवाल उठता ही कहाँ है? इसलिये पहले जड़को ही साफ करना उनने उचित समझा और जरूरी भी। क्योंकि आगे चलके जो कर्मों और कर्मयोगका विवेचन उनने किया है वह भी आत्मज्ञानके बिना नहीं समझा जा सकता और न वह योग ही हासिल हो सकता है। यह बात पहले विस्तारके साथ बताई जा चुकी है। कर्मयोगका भी मूलाधार आत्मविवेक ही माना गया है। इसीलिये आत्मविवेक पहले और कर्मका विवेक पीछे इसी दूसरे ही अध्यायमें आया है। शेष अध्यायोंमें तो उसीका प्रकारान्तरसे स्वतन्त्र रूपसे स्पष्टी-करण किया जाकर एक-एक चीजपर काफी प्रकाश डाला गया है।

यहाँ जो प्रहास या उपहासकी बात कही गई है उसका भी मतलब समझ लेना होगा। 'इव' शब्द देकर पूरा प्रहास रोका गया है। कहनेका मतलब यह हो जाता है कि ऐसा मालूम पड़ता था कि कृष्ण अर्जुनका उपहास कर रहे हैं—उसकी मखौल उड़ा रहे हैं। अगले श्लोकमे उनके कहनेका जो तरीका है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। वह कहते है कि बातें तो बड़ी अक्लकी करते हो। मगर अफसोस ऐसे पदार्थोंका करते हो जिनका करना चाहिये ही नहीं। यह एक तरहका परिहास ही तो है। यदि किसी विपक्षीसे बातें करनी हों तो यही बात परिहास हो जायगी। मगर अर्जुन तो शिष्य बनके शरणमें आ चुका है। वह इहलोक तथा परलोकके सुखोंसे पूरा विरागी भी हो चुका है, जिससे साफ हो जाता है कि वह आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी बन चुका है। भला ऐसे आदमीका उपहास कृष्ण जैसा विवेकी महापुरुष कैसे कर सकता है? यह तो उनकी महत्ताके विपरीत अत्यन्त छोटी बात और विवेकशून्यता हो जायगी। उपहास तो प्रतिवादी, प्रति-पक्षी या शत्रुका करते हैं, या उसका जो समानताका दावा करे। जो शरणागत हो, शिष्य हो, संसार और स्वर्गादिके सुखोंसे विरागी हो, उन्हें कुछ न समझता हो और

ज्ञानप्राप्तिकी ही जिसे भूख हो उसका उपहास कैसा ? इसीलिये कह दिया है कि कृष्ण अर्जुनका उपहास करते जैसे मालूम हुए। जिस तरह उनने उपदेश देना शुरू किया उसे बाहरसे देखके सारी बातोंको न जाननेवाला कोई भी आदमी उपहास ही मान सकता है। यही वैसा कहनेका आशय है।

असल बात यह है कि उस समयकी कृष्णकी भावभंगी अजीब और मनोवृत्ति निराली थी। उनकी विलक्षण दशा थी। वैसे संकटके समय एकाएक अर्जुनकी वैसी हालत देखके, जिसका उन्हे या किसीको जरासा आभास भी पहले न मिला था, उन्हे आश्चर्यमे दंग हो जाना पड़ा कि यह क्या हो गया! इस लड़ाईको लेके वह काफी दौड़े-धूपे। परीशान भी पूरे हो चुके थे। इसीके करते उनके सगे भाई बलराम एक तरहसे विरागी भी हो गये थे। दुर्योधनके साथ न सिर्फ उनकी, बल्कि औरोंकी भी, काफी तनातनी हो चुकी थी और मामला बहुत दूरतक पहुँच चुका था। ऐसी दशामे जिस चीजकी जरा भी आशा-आशंका न थी वही हो जानेसे एक तो उन्हे लड़कपन जैसी जँची भी। आखिर वह बच्चा तो था नही। उसकी तर्क-दलीलोसे ही साफ झलकता है कि काफी समझदार और दूरंदेश था। फिर उसने मैदानेजंगमे आनेके जरा भी पहले इसका क्यों न इशारा तक किया? आखिर जो बाते वह वहाँ कह गया वह कोई नई तो थीं नही। उन्हीके लिये तो वर्षोसे सारी तैयारी हो रही थी। इसीलिये अर्जुनका लड़कपन समझके उन्हे कुछ क्रोध भी आया। हँसी भी आई! साथ ही, उन्हे एकाएक भारी अन्देशा भी हो गया कि कही सचमुच सारा गुड़ गोबर ही न हो जाय। क्योंकि ऐसी आकस्मिक घटनाओंके चलते जो न हो जाय उसीमे आश्चर्य हो सकता है। अर्जुनका वह बच्चों जैसा रोना-धोना, उसकी वह परीशानी और बेचैनी, उसकी वह निराली मनोवृत्ति वगैरह देखके उन्हे दया भी हो आई। उनका बहुत पुराना प्रेमी तो था ही और उसीकी यह दशा! इसके सिवाय जब इतनी गम्भीर बातोंका उपदेश करना था और बारीकियोंकी तहमें अच्छी तरह घुसना एवं उसे भी घुसाना था, तो गम्भीरताका होना भी जरूरी था।

इस प्रकार उनमें आश्चर्य, क्रोध, हँसी, दया; अन्देशा और गम्भीरता आदि अनेक बातों तथा भावनाओका एकही साथ जमघट हो गया। उन्हीके साथ आगे-पीछेकी जानें कितनी ही घटनाओंकी स्मृति भी आ धमकी। ऐसे मौकेपर तो स्वभावत. हजारो बाते याद आई जाती हैं। ऐसी दशामे कृष्णका उस समयका, जब उन्होंने गीतोपदेश शुरू किया, स्वरूप, चेहरा और भावभंगी—ये सभी—निराले ढंगके थे, अजीब थे, अलौकिक थे। आधे दर्जनसे ज्यादा खयालों और भावनाओंका, जो प्रायः एक साथ कभी पाई जाती ही नहीं और परस्पर विरोधी

सी है, एक साथ सम्मिलित एक अलौकिक चीज थी, जिसका ठीक-ठीक वर्णन किया जा सकता नहीं। इसीलिये यहाँ यद्यपि "परिहास करते हुएकी तरह" कहके ही खत्म किया। तथापि अन्तमें अठारहवें अध्यायके ७७वें श्लोकमें तो उस रूपको——कृष्णकी उस दशा और भावभंगीको——अत्यन्त अद्भुत, अत्यन्त निराला, न भूतो न भविष्यति, कह दिया है। वहाँ संजय साफ ही कहता है कि "कृष्णके उस अद्भुत रूपको बार-बार बखूबी याद करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है—— मैं आश्चर्यमें डूब रहा हूँ और रह-रहके मुझमे आनन्दका प्रवाह भी बह रहा है—— "तच्च संस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयोमे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुन." । सचमुच ही वह अकथनीय, अनिर्वचनीय आकृति थी।

कुछ लोगोंने 'इव' देखकर ही प्रहासका अर्थ मुस्कुराहट करके सन्तोष किया मगर यह तो प्रहास शब्दके साथ ज्यादती है। प्रहास, परिहास और अवहास ये शब्द प्रायः एक ही मानीमें आते हैं। अवहासमें कुछ अपमानकी बात भी साफ मालूम होती है जो शेष दोमें पाई नहीं जाती। किन्तु अर्थात् आती है। केवल मुस्कुरानेका सवाल तो वहाँ था नहीं। वहाँ तो पेचीदा पहेली खड़ी थी जिसे सुलझाना था। इसीलिये तो सारी दलीलें दी गई हैं। केवल मुस्कुराहटकी बात कहनेपर सारी परिस्थितिका अनादर करना हो जायगा।

अब रही एक ही बात। आत्माको अविनाशी, अजन्मा अकर्त्ता सिद्ध करने के पूर्व यह प्रश्न हो सकता है कि जब भीष्मादिका मरना-मारना सामने है तो देखना चाहिये कि भीष्मादि कहनेसे कौनसी चीज समझी जाती है। भीष्म शब्दसे दोई वस्तुओंका बोध हो सकता है——या तो शरीरका या उसमें रहनेवाली आत्माका। इन दोनोंको ही मानके कृष्णने उत्तर देना उचित समझा और दिया भी है। मगर पहले आत्माको ही बात उठाके पीछे देहकी इसीलिये उठाई है कि आमतौरसे लोग भीष्म आदि शब्दोंसे आत्माको ही समझते हैं, न कि देहको। अर्जुनने भी स्वर्ग, नर्क आदिकी बातें उठाके खुद मान लिया है कि भीष्मका अर्थ है आत्मा। क्योंकि शरीर तो यहीं रह जाता, सड़-गल या जल जाता है। वह तो स्वर्ग या नर्कमें जाता है नहीं। वहाँ जानेवाली चीज तो शरीरसे जुदा आत्मा ही है। इसीलिये उसी आत्माकी बात लेके पहले कृष्णने कहना शुरू किया। मगर जो लोग भीष्मादि कहनेमे उनके भौतिक शरीरों या इन्द्रियादिको ही समझते हैं उन्हे भी मुँहतोड़ उत्तर देना ही चाहिये, इसीलिये आगे "मात्रा-स्पर्शा:" (२।१४) "अन्तवन्त इमे" (२।१८) तथा "अथ चैन" (२।२६) में उनकी बात भी आई है। इसीलिये पहले——

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवानने कहा—(यह अजीब बात है कि एक ओर तो) तू उन्हींकी चिन्ता करता है जिनकी करना न चाहिये और (दूसरी ओर) अक्लकी बातें बोलता है ! (क्योंकि) पंडित लोग (तो) मरे-जियोंकी चिन्ता करते ही नहीं । (शोक या चिन्ताके मानी हैं यहाँ पर्वा करना) ।११।

न त्वेवाहं जातु नास न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

ऐसा तो हो सकता नही कि हम पहले कभी न भी थे, तुम्ही न थे (या) ये राजे ही न थे और यह भी नहीं कि इसके बाद भी हम सभी न होंगे ।१२।

आत्माको अविनाशी सिद्ध करनेमे कृष्णको जो दलील यहाँ है उसका आशय यही है कि सभी आत्माओंके तीन विभाग हो सकते है—कहनेवाली (कृष्णकी), सुननेवाली (अर्जुनकी) और शेष उन सबोंकी जो या तो वहाँ लडनेको मौजूद थे या और जगह थे । लेकिन मरने-मारनेका प्रसंग होनेके कारण ही और जगह वालोंका नाम न लेके सिर्फ रणक्षेत्रमे मौजूद तीन तरहके लोगोंकी ओर इशारा किया है । इसीलिये 'ये राजे'—'इमे जनाधिपाः'—कहनेका अभिप्राय केवल राजा लोगोंसे ही न होके जो वहाँ मौजूद थे सभीसे है । यह ठीक है कि कुछको छोड सभी राजे या क्षत्रिय ही थे—उन्हीकी प्रधानता थी । इसीलिये सबोंको राजे—"जनाधिपाः" कह दिया । जैसे जहाँ ब्राह्मण अधिक हों उस गाँवको ब्राह्मणोका गाँव कह देते है । क्योंकि आखिर कुछ और लोग तो गाँवमे खासा होंगे । नही तो काम कैसे चलेगा ?

जो कुछ तर्क युक्ति दी है उससे यह साफ हो जाता है कि जब सभी आत्माये मौजूद ही हैं तो वर्त्तमानके लिये तो कोई बात हई नही । रह गई भूत और भविष्यकी बात । सो तो साफ ही कह दिया है कि न तो पहले ही ऐसा कोई समय था जब हम सभी मौजूद न थे और न आगे ही ऐसा वक्त होगा जब हम न रहे । नतीजा यह हुआ कि जो पदार्थ सभी समयोंमें रहे वह तो नित्य एवं अविनाशी ही हुआ । नित्य या अविनाशीका लक्षण ही यही है कि जो तीनों कालोंमे—सदा—रहे । फिर आत्माके मरनेका सवाल आता ही कहाँसे है ? मरनेका अर्थ ही है न रहना, और आत्माको तो आगे भी सदा रहना ही है ।

यदि किसीका खयाल हो कि पहलेवाली आत्मा दूसरी थी, वर्त्तमानवाली और ही है और आगे तीसरी ही होगी। भूत, वर्त्तमान, भविष्यमे एक ही कैसे रहेगी? भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी शरीरे तो निश्चय ही तीन है। फिर उनमे रहनेवाली आत्माये भी तीन क्यो न हो? तो उसका उत्तर यह है कि—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस तरह आत्मा या जीवके इस शरीरकी लडकपन, जवानी, बुढापा (ये तीन दशाये होती है), ठीक उसी तरह दूसरी देहो—जन्मो की प्राप्ति भी है। (इसलिये) उस बातमे समझदार (कभी) धोखेमे नही पडता है ॥१३॥

इसके सम्बन्धमे ज्यादा बाते पहले ही कही जा चुकी है और यह बात खूब साफ की जा चुकी है। कहनेका निचोड यही है कि जिस प्रकार इस जन्ममे बालपन, बुढापा और जवानीके तीन विभिन्न एवं भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य कालवर्त्ती शरीरोमे एक ही आत्मा सभी मानते है, जरा भी शक नही करते और न धोखेमे पडते है। ठीक उसी प्रकार तीन या ज्यादा जन्मोकी भूत, वर्त्तमान और भावी देहोमे भी एक ही आत्मा क्यो न मानी जाय? तर्क-युक्ति तो दोनो जगह एक ही है। एक शरीरकी तीनो अवस्थाये भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी तो हुई। बाल्यावस्थाकी अपेक्षा यद्यपि जवानी एवं बुढापा भविष्यकी चीजे है। फिर भी बाल्यके गुजरने पर जवानी ही वर्त्तमान होती है, बालपन भूत और बुढापा भावी। श्लोकमे तीन अवस्थाय जो शरीरकी दिखाई गई है वह एक दूसरेसे बिल्कुल ही जुदी है और उन्हीमे सारा शरीर गुजर जाता है। इन तीन अवस्थाओसे यहाँ कोई खास मतलब यह नही है कि कितने वर्ष तक कौनसी रहती है। यहाँ बालकी खाल खीचना है नही।

इस प्रकार तर्क दलीलोसे आत्माकी अमरता सिद्ध हो गई। मगर ससारका काम सिर्फ तर्क दलीलोसे ही तो नही चलता। यहाँ तो कुछ ठोस बाते है जिनसे इनकार किया जा सकता है नही, और उन्हीके अनुसार यह बराबर देखा जाता है कि प्रियजनोके सयोग-वियोगसे सुख-दुःख होते ही है। चाहे आत्मा अमर हो या उससे भी बढके हो। मगर शरीरान्त होनेपर सगे-सम्बन्धियोंका अपार कष्ट होना ही है, और यही बात इस युद्धके चलते विस्तृत रूपमे होनेवाली है। फिर क्यो न इससे किनाराकशी की जाय? भीष्मादि कहनेसे शरीर भी तो लिये ही जाते है और उनका नाश होता ही है। इसी बातका उत्तर यों देते है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौन्तेय, भौतिक पदार्थोंके सम्बन्ध सर्दी-गर्मीकी तरह कभी सुख और कभी दुःख देते रहते हैं (जरूर)। मगर यह ठहरे तो आने जानेवाले ही और इसीलिये चन्दरोजा ही। (अतएव) इन्हें तो बर्दाश्त करना ही होगा हे भारत! ।१४।

मात्रा स्पर्श ही गीता (५।२१-२२) में बाह्य स्पर्श कहा है। स्पर्श नाम है सम्बन्धका। बाह्य कहते हैं भौतिकको। वहीं देखनेसे यह साफ हो जाता है।

> यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
> समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।१५।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ, सुख-दुःखमें एक रस रहनेवाले जिस पुरुषको ये पदार्थ उद्विग्न नहीं कर पाते वही अमृतत्व—मुक्ति—प्राप्त करता है ।१५।

'सम दुःख-सुख'का यह मतलब नहीं कि दोनोंको एक बना दें। ऐसा तो होना असंभव है। दोनों दो चीजें हैं। फिर एक कैसे होंगी? यह भी न कि दुःख या सुख जरा भी मालूम ही न हों। चेतन पुरुषके लिये यह भी अनहोनी चीज है। किन्तु जैसे पानीको लकीर बनते ही मिट जाती है ठीक वैसे ही दिल-दिमाग पर जब ये दोनों नाम मात्रका ही असर करें तभी मनुष्य सम दुःख-सुख कहा जाता है। सारांश यह कि दिल-दिमागकी गंभीरता (serenity or balance) को ये बिगाड़ न सकें। यही गीताका साम्यवाद है जो अभी पहली बार आया है।

इस प्रकार आत्माको अविनाशी या नित्य और शरीरादिको अनित्य तो बता दिया। इससे काम भी चल गया। मगर कौन-सा पदार्थ नित्य और कौन-सा अनित्य है इसे कौन जानें? हरेक पदार्थको गिन-गिनके देखना और समझना तो असंभव है। क्योंकि पदार्थ ठहरे अनन्त। फिर सबोंको जाना कैसे जाय? और अगर किसीको न जान सके तो उसीको लेकर भ्रम और गड़बड़ हो सकती है कि यही आत्मा तो नहीं है? इस तरह अनिश्चयका वायुमण्डल बना रह सकता है। फलतः पूर्वके प्रतिपादनसे पूरा काम चलता दीखता नहीं। इसीलिये एक तो नित्य और अनित्य या सत्य और मिथ्याके बारेमें कोई दार्शनिक नियम, लक्षण तथा परिभाषा चाहिये। ताकि बेखटके पहचान हो सके। दूसरे, आत्मा की पहचान भी पक्की होनी चाहिये कि वह कौन है। नहीं तो शायद घपला हो जाय। ऐसे मामलेमें जितनी सफाई हो जाय उतना ही अच्छा।

एक बात और भी है। ऐसी शंका कर सकते हैं कि यह क्यों न माना जाय कि इस शरीरमें जो आत्मा है उसका अस्तित्व इससे पहले न था? वह अस्तित्व तो पहले-पहल इसी शरीरमें ही आया है, हुआ है। इसी तरह यह भी क्यों न मान लिया जाय कि इसी शरीरके अन्तके साथ आत्माका भी अन्त हो जाता है

और आगे उसे पा नही सकते ? यह भी प्रश्न हो सकता है। अतएव इसका पूरा-पूरा समाधान हो जाना जरूरी है। आगेके १६वेंसे लेकर २५वें श्लोक तक यही बात समझाई गई है। उसमे भी पहले शुरू किया है इस आखिरी शंकाको ही लेकर कि इस शरीरमे जो आत्मा है वह पहले न थी।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो पदार्थ पहले न हो उसका अस्तित्व होई नहीं सकता—वह बनी नही सकता, (और) जो मौजूद है—सत्तावाला है—उसका नाश या खात्मा भी नहीं हो सकता। इन दोनों बातोंका निर्णय तत्त्वदर्शी लोगोंने (ही) कर दिया है।१६।

यहाँ अन्त शब्द तत्त्वदर्शी शब्दके साथ होनेसे निश्चय या निर्णयके ही अर्थमें आया है। क्योंकि तत्त्वदर्शी तो दार्शनिक होते हैं। जिस बातका आखिरी फैसला वाद-विवादके बाद कर लेते हैं उसे ही सिद्धान्त, राद्धान्त तथा कृतान्त भी कहते है। इन तीनों शब्दोका एक ही अर्थ है। वह यह है कि जिन पदार्थोंके बारेमें अन्त या अन्तिम बात हो चुकी, फैसला हो चुका वही सिद्धान्त हैं। "सांख्ये कृतान्ते" (१८।१३) मे कृतान्त शब्द और उसके अन्त शब्दका यही अर्थ है।

इस तरह सिद्ध हो जाता है कि यदि आत्मा नामका कोई पदार्थ पहले न होता तो उसका अस्तित्व इस शरीरमें होता ही नहीं। इसी तरह जब यहाँ वह है तो आगे भी रहेगा। क्योंकि जो चीज है वह खत्म हो नही सकती। इसलिये आत्मा अनित्य है। उसकी पहचान यों है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशी तो वही वस्तु—आत्मवस्तु—जानो जो इस समूचे जगत्‌को फैलाती, बनाती है और जो इसमें व्याप्त है—इसकी रगरगमे घुसी है। इस अविनाशी—निर्विकार—का नाश कोई भी कर नही सकता।१७।

जो सभी पदार्थोंका स्व है, निजी रूप है, अपना रूप है, स्वरूप है वही तो उसकी आत्मा है, सबकी आत्मा है। यह स्व कहाँ नही है ? यह तो सभी जगह है, सबोंमे है। आखिर अपना तो सबों का कुछ न कुछ होता ही है। इसीलिये वह आत्मा अविनाशी है। क्योंकि स्व तो रहेगा ही। और नहीं, तो जो पदार्थ नष्ट होगा उसके नाशकी हस्ती, सत्ता तो रहेगी ही और वह भी तो स्व है। कभी पदार्थके रूपमें वह स्व, वह आत्मा नजर आती है तो कभी पदार्थके नाशके रूपमें। कभी विधि रूपमें (positively) तो कभी निषेध रूपमें (negatively)।

इसीलिये तो उसे अविनाशी और नित्य मानना ही होगा। ऐसा तो होई नही सकता कि कभी यह स्व, यह आत्मा रहेई न। क्योंकि जब कुछ न होगा, तो और नही तो न होनेका स्व या अस्तित्व तो रहेगा ही। कमसे कम उसे तो उस समय मानना ही होगा। नही तो यह कहेंगे कैसे कि कुछ नही रह गया है? इसीलिये उसे नाशकी आत्मा मानके नित्य और अविनाशी मानत है। जब विधि और निषेध उसीके रूप है और सभी पदार्थ भी उसीके हैं तो यह भी ठीक ही है कि उसीने सबका प्रसार किया है, जगत्का यह ताना बाना फैलाया है।

मगर शरीर, घडा, कपडा, रोटी, जमीन वगैरहकी क्या हालत है? य तो सर्वत्र फैले है नही। शरीरमे कपडेका, कपडेमे शरीरका पता कहाँ है? दानोमे घडेका और घडेमे भी दोनोकी सत्ता ह कहाँ? इसी प्रकार सभी पदार्थोका एक एक करके देख सकते है। यहाँ तो अपनी अपनी डफली बज रही है। किसीका किसीसे ताल्लुक नही है, नाता-रिश्ता हई नही। सभी अपने हो तक सीमित है। यह तो घोर विभिन्नता है, अजाब जुदाई है, निराली फूट है। यह अनोखा गृहयुद्ध (Civil war) है, भयंकर गृहकलह ह। यही तो वास्तविक कौरव-पाडवका महाभारत है। यहा कोई किसीको पूछता नही। फलत सभी आपसमे एक दूसरेसे टकराके खत्म हा जाते है। कभी घडेसे टकराके शरीर खत्म होता ह, तो कभी शरीरसे टकराके घडा और दानासे टकराके कपडा। यहा हालत सभी पदार्थोकी है। ठीक ही है। मेलमे, ऐक्यमे जीवन ह, जिन्दगी है, सृष्टि है। परमाणुओका परस्पर या प्रकृतिका पुरुषसे सयाग होनेमे ही, मेल होनेसे हो तो सृष्टि होती है। विपरीत इसके उनकी जुदाई या पार्थक्य होनेसे ही प्रलय होती ह, विनाश होता ह। जब गुण आपसमे मिलते है तभी सृष्टि होती है और ज्योही तन गये कि प्रलय आ धमकी। यही बात जगत्के सभी पदार्थोको है। मगर इन सबोके भीतर मालिक बनके स्व बैठा है, आत्मा मौजूद है और इन बच्चोके घरौंदोके बननबिगडनेका तमाशा देख रही है। वह निरन्तर न रहे तो आखिर यह तमाशा देखे कौन? यही बात इस तरह कहते है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

इन शरीरोके मालिक अविनाशी तथा अचिन्त्य (आत्मा) के ये शरीर तो विनाशी ही कहे गये है—माने गय है—। इसलिये युद्ध करो ह अर्जुन! १८।

जब इन शरीरोका नाश होना ही है तो फिर युद्धमे आनाकानी क्यो? ये शरीर अगर लडाईमे खत्म न हुए तो कही और ही जगह दूसरी ही चोट खाके या बीमारीसे हो खत्म होगे ही। और नही तो बिजली गिरने, पानीमे डूबने या

हिंसक जानवरोंके आक्रमणसे ही खत्म होंगे। तब हर्ज ही क्या कि यहीं रणांगणमें खत्म हों? फर्क इतना ही है कि यहाँ "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। राम काज क्षणभंग शरीरा।" है। यहाँ मरनेसे यश है, शान है, कर्त्तव्य पालनका सन्तोष है, मनस्तुष्टि है, और अन्तमें सद्गति है। मगर और जगह दूसरी तरह मरनेमें यह बात नहीं होनेसे जबर्दस्त घाटा है। इसलिये जरूर लड़ो।

आत्माको जो अप्रमेय कहा है और जिसका अर्थ है कि बुद्धि या दिमाग भी जिसे पकड नहीं सकता, जो उसकी भी पहुँचके बाहरकी चीज है, उसका मतलब साफ है। यदि वह किसीकी पकड या कब्जेमें आ जाय तो एक तो उसका स्वातंत्र्य जाता रहे। दूसरे पराधीन होने पर वह जिसके अधीन होगी उसके हाथों उसका सब कुछ किया जा सकता है, यहाँ तक कि खात्मा भी। दिमाग या बुद्धि आदि भी तो शरीर आदिकी तरह भौतिक पदार्थ ही ठहरे, जिनकी अपनी अपनी खिचडी अलग पकती रहती है। इसीलिये उनका खात्मा भी होता है। और अगर आत्मा भी उनकी मातहतीमें आ जाय तो वह कैसे बच पायेगी? तब तो उसकी खैरियत न होगी। लेकिन यहाँ तो बात ही दूसरी है। बुद्धि भले ही चली जाय, खत्म हो जाय। मगर उसके स्वको निषेध रूपमें रहना ही है और वही स्व है आत्मा। फिर आत्मा बुद्धिके पंजेमें कैसे रहे? वह तो साफ ही उसकी पहुँचसे बाहर है। यही कारण है कि उसके बारेमें तरह-तरहके खयाल होते हैं। कोई उसे मरणशील मानता है, तो कोई उसे मारनेवाली ही कहता है। कोई नित्य मानता है, तो कोई अनित्य। जब बुद्धि ठोकरें खाके वहाँ तक पहुँची नहीं सकती, तो आखिर और होई क्या सकता है? जब वहाँ तक बुद्धि पहुँचती ही नहीं तो उसे मारने मरनेवाली कहना केवल नादानी है, उलटी बात है। क्योंकि इससे तो ऐसा हो जाता है कि बुद्धिने उसे पहचान लिया है, उसकी हकीकत जान ली है, वह उस तक पहुँच चुकी है। मारने मरनेकी बात तो शरीरादिमें ही है और यह है आपसी टक्कर, जैसा कि अभी कहा है। आत्मामें यह बातें मानना कोरा अज्ञान है, मूर्खता है। यही बात आगे यों लिखी है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

(इसलिये) जो इस आत्माको मारनेवाली मानता है और जो इसे मरनेवाली समझता है उन दोनों ही को असलियत मालूम नहीं है। क्योंकि यह तो न मारनेवाली है (और) न मरनेवाली।१९।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

(क्योंकि) यह (आत्म वस्तु) न तो कभी जनमती है और न मरती है (और यह भी इसीलिये कि) यह पहले न रहके पीछे होती जो नहीं और होके उसके बाद नहीं रहती भी नहीं। इसीलिये यह जन्मरहित, नित्य—कालमे जो घिरी न हो—, हमेशा रहनेवाली और प्राचीन (से भी प्राचीन) चीज है (जो) शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नही होती।२०।

इसमे एकाध बातें कुछ समझनेकी है, हालांकि वह नई नही है। जो बात "नासतो विद्यते" मे कही जा चुकी है वही यहाँ दूसरे शब्दोंमे कही गई है। श्लोकके पूर्वार्द्धके आधेमे आत्माके जनमने-मरनेका निषेध है। शेष आधेमे उसका कारण दिया गया है। जन्म लेने का मतलब ही है पहले न रहके पीछे होना या अस्तित्वमें आना। परन्तु आत्मामे यह बात नही है। वह तो पहले भी थी ही। फिर उसका जन्म हो कैसे? इसी तरह मरनेके मानी है कभी रहके बादमे न रहना। मगर आत्मामें तो यह भी बात नहीं है। उसके कभी भी न रहनेका तो सवाल ही नही है। तब उसका मरना कैसे संभव है?

आत्माको बुद्धि पकड तो सकती नही। फिर भी उधर जानेकी कोशिश करती रहती है। उसके लिये आत्मा तक पहुँचनेकी सीढी यही है कि जो चीजें उसकी पकडमें आती जायँ उन्हे छाँटती चली जाय। इसीको उपनिषदोंमे 'नेति-नेति' की रीति या निषेध प्रक्रिया कहा है। इस तरह सब भौतिक पदार्थोंको छाँटते-छाँटते जो सबोंका मूलाधार बच रहेगा आत्मा वही पदार्थ होगा। क्योकि निराधार तो कोई चीज होती नही। इस श्लोकके उत्तरार्द्धमे यही निषेधवाली रीतिका अनुसरण है। इसीलिये अजका अर्थ है जन्मरहित या जन्म लेनेवालोंसे निराला। नित्यका अर्थ है जो समयसे बँधा न हो। अनित्य पदार्थोंको समय घेरे रहता है, वह समयके ही पेटमे, उसके भीतर रहते हैं। मगर आत्माके बारेमें यह बात नही है। नित्य शब्द यद्यपि निषेध रूपमें मालूम नहो होता, तथापि ऐसा ही अर्थ करना ही होगा। शाश्वतका भी यही अर्थ है। जब समयसे घिरा नही है तब उसे हमेशा रहनेवाला कहनेके मानी क्या है? इसका सीधा अर्थ है कि वह समूचे समयसे घिरा है। मगर यह बात पहले कथनके विरुद्ध हो जाती है। जो समयसे घिरा न हो वही समूचे समयसे घिरा हो, यह कुछ अजीब-सी बात हो जाती है। बात दरअसल यह है कि हरेक भौतिक पदार्थ कुछ न कुछ समयमे घिरे रहते हैं—किसी वक्त जनमके कभी खत्म हो जाते है। यह भी बात है कि समय तो उनके जन्मके पहले भी था और खत्म होनेके बाद भी रहता ही है। इसीलिये प्रत्येक भौतिक पदार्थोंकी यही बात है कि किसी न किसी समयके ही भीतर रहते है। समूचे समयके भीतर कोई भी नही रहता है। मगर आत्मा तो उनसे भिन्न है। क्योंकि निषेधकी बात कह चुके हैं। इसीलिये उसे समूचे समयसे घिरी वस्तु

या हमेशा रहनेवाली कह देते हैं। नकि सचमुच समयका अधिकार उस पर है। इसीलिये शाश्वत शब्द भो निषेधात्मक ही है। यही हालत पुराणकी भी समझिये। पीछे जितने पदार्थ मिलते जाते हैं सबोंका निषेध करते है कि यह आत्मा नहीं है यह आत्मा नहीं है। इस तरह पीछे बढ़ते जाने पर जो पुरानीसे भी पुरानी चीजें मिलें उनका भी निषेध करनेके बाद अर्थतः यह दिया जाता है कि वह तो पुरानों से भी पुरानी है। जब जन्म होता ही नहीं तो खामखा उसे पुरानेसे भी पुरानी कहना हो पड़ता है ?

इस तरह अज और पुराण शब्द पीछेकी तरफ जाके आत्माको ढूंढते और उसकी ओर इशारा करते हैं। उत्तरार्द्धका 'न हन्यते' आगेकी तरफ जाके ढूंढ़ता और इशारा करता है ओर नित्य एवं शाश्वत शब्द बीचमें रहके वही काम करते हैं। जैसे आवश्यकता पड़ने पर यदि कोई चूहा किसीको बिल्लीका परिचय कराना चाहे तो बिल्लीके निकट तो वह जा सकता नहीं; किन्तु दूरसे ही इशारा करता है कि देखा वह है, वह, या जैसे उल्लूपक्षी सूर्यकी ओर इशारा करे; ठीक उसी तरह बुद्धि आत्माकी ओर सिर्फ इशारा करती है कि देखो वह है, वह। वह उसे ठीक-ठीक बता नहीं सकती।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

(इसलिये) हे पार्थ, जो पुरुष—मर्दाना—इस आत्माको जन्मरहित, विकार शून्य, अविनाशी और कालके घेरेसे बाहर जानता है—मानता है, समझता है, अनुभव करता है—वह (भला) किसे मरवाता (और) किसे मारता है ?२१।

अब यह प्रश्न होता है कि तो मरना, मारना आखिर कहते हैं किस चीज को ? दुनियामें मरने मारने जैसी चीज नहीं है, यह तो कही नहीं सकते है। यह तो आये दिनकी चीज है, हमारे रोजके व्यवहारकी बात है। हम हमेशा ही यह मरा, वह मरा, इसने मारा, उसने मारा, फलाँने मरवाया, की बातें करते ही रहते हैं। सभी लोग ऐसी ही बाते करते हैं। यह तो कहीं नहीं सकते कि सबके सब पागल हैं। इसलिये इतना तो मानना ही होगा कि यह कोई चीज है। अब रही बात कि वह क्या चीज है ? और अगर यह कुछ भी है तो फिर उसके लिये चिन्ता-फिक्र करना मुनासिब ही है। फिर भी इसकी चिन्ता न करके खुशीकी चीज इसे कैसे माने ? इसका उत्तर इस तरह देते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जिस तरह पुराने कपड़ोंको (खुशी-खुशी) छोड़के (कोई भी कपड़ा पहने) आदमी दूसरे नये कपडे पहनता है। ठीक उसी तरह देह धारण करनेवाली—देही—आत्मा पुराने शरीरोंको छोड़के दूसरे नये शरीरोंमें पहुँचती है—उन्हें स्वीकार करती है।२२।

यहाँ कई बातोंका खयाल करना होगा। पहली बात तो यह कि जन्म-मरण नये-पुराने कपडे बदलने जैसी ही बातें हैं। जब ताजेसे ताजे कपड़ोंको भी खुशी-खुशी छोड़के एकदम नये कपडे पहननेमे लोग आनन्द मनाते हैं तो मरनेमें गम क्यों मनाया जाय? यह तो उलटी बात होगी। इस श्लोकमें 'जीर्ण' शब्दका फटा-पुराना अर्थ नही है। नये शरीरोंका भी तो त्याग होता ही है और नये कपडोंका भी। महाभारतमें अभिमन्यु जैसा कोरा जवान भी तो मारा गया था। तो क्या उसके बारेमे कोई और सिद्धान्त लागू होगा? या कि उसके सम्बन्धमें गम मनाना ही ठीक था? यह बाते तो ठीक नहीं। इसलिये जीर्ण शब्दका अर्थ है त्यागनेके योग्य या जिसके त्यागनेका समय आ गया हो। 'जॄ' धातु, जिससे यह शब्द बना है, का अर्थ भी वयकी हानि ही है, यानी अवस्था—उम्र—का पूरा हो जाना। जिसे छोडेंगे उसकी अवस्था तो छोड़नेवालेके लिहाजसे पूरी होई जाती है। या नही तो, यो समझें कि अधिकांश लोग तो पुराने ही थे। इसीलिये जीर्ण शब्द प्रयुक्त हुआ है। मगर पहली ही बात ज्यादा युक्तिसंगत लगती है।

दूसरी बात है नये शरीरके ग्रहण करने या जन्म लेनेकी। कोई ऐसा मान सकता है कि पुरानेके छोडने और नये कपडेके पहननेमे तो देर नहीं लगती। किन्तु छोडनेके बाद फौरन ही नया पहन लेते हैं। बीचमे समय गुजरने पाता ही नही। जब यही उदाहरण दिया गया है मरने और जनमनेका, तब तो नया जन्म भी फौरन ही होना चाहिये। बीचमे जरा भी समय नही लगना चाहिये। लेकिन यह समझ गलत होगी। कपडेका दृष्टान्त केवल इसी मानीमे दिया है कि एक तो कपडेवालेकी ही तरह शरीरवाला—देही—जीव शरीरसे जुदा है। दूसरे वह पुराने शरीरको छोडके नयेको खुशीसे स्वीकार करता है। बस। इससे आगे दृष्टान्तका कोई भी मतलब नहीं है। नही तो हमें यह भी माना पड़ जायगा कि जैसे धोती वगैरहके बदलनेमे ऐसा होता है कि नई धोतीको पहले ऊपरसे पहन लेते और पीछे पुरानीको हटाते है, शायद उसी तरह जीव भी नये शरीरोंको धारण करके ही पीछे पुराने शरीरोको छोडता हो। और अगर इतनी दूर जानेकी या तो जरूरत नहीं है; या जानेमें अड़चन है; क्योंकि यह बात सरासर असंभव है, तो फौरन ही शरीर ग्रहण करनेकी बाततक जानेमें भी वही अड़चन है। इसीलिये वहाँतक जानेकी जरूरत नहीं है।

हमने जो यह कहा है कि नये शरीरोंको धारण करनेके बाद ही पुरानोंके छोड़नेकी भी कल्पना की जा सकती है, वह केवल कल्पना ही नहीं है और न गीताके इस श्लोकसे ही उसकी संभावना मानी जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद्के चौथे अध्यायके चौथे ब्राह्मणके तीसरे मंत्रमें जोंक या कीडेका दृष्टान्त देकर कहा गया है कि जिस प्रकार एक तृणपर रेंगनेवाला कीडा जब उसके आखिरी सिरेपर पहुँचता है तो जबतक दूसरे तृणका सहारा उसे न मिल जाये पहले तृणसे अपने शरीरको कभी नहीं समेटता है, हटाता है। ठीक उसी तरह इस शरीरके त्यागके बारेमें भी आत्माकी हालत है। मगर यह बात कोई अक्षरशः लागू न कर ले, इसीलिये आगे फौरन कह दिया है कि इस शरीरको छोड़नेके बाद अविद्या—सूक्ष्म और कारण-शरीर—का आश्रय लेके आत्मा दूसरे शरीरमें जाती है—"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।"

इसी कथनसे समाधान भी हो जाता है। इस स्थूल शरीरके छोडनेपर भी अविद्या नामक अज्ञान तो रहता ही है। वही तो जन्म-मरणका कारण है। उसी अविद्यासे बना सूक्ष्म शरीर भी तो रहता ही है। उसीके आधारसे आत्मा इस स्थूल शरीरसे बाहर जाती है और समय पाके दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करती है। गीताके पन्द्रहवें अध्यायके "ममैवांशो जीवलोके" (१५।७-८) आदि दो श्लोकोंमें साफ ही यह बात कही भी गई है कि चक्षु आदि इन्द्रियों और मन आदिको ही लेके वह जीव शरीर छोडता और नये शरीरमें जाता है। यही उसकी सवारी है। अपने लक्ष्य स्थान दूर देशमें पहुँचनेके लिये। हम भी यह चीज पहले ही अच्छी तरह समझा चुके हैं। असलमें फौरन ही दूसरे शरीरका मिलना असंभव भी तो है। कोई बने-बनाये शरीरमें घुसा तो देते नहीं, जैसे बनी-बनाई कोटमें शरीर घुसाते हैं। शरीर तो गर्भमें बनता है। सो भी पूरे दस महीने तक लग जाते हैं। मगर इस दस महीनोंके पहले भी तो यह मानना ही होगा कि यह जीव माता और पिता दोनोंके ही रज-वीर्यमें रहता है। तभी तो दोनोंके संयोगमें बच्चेके शरीरका श्रीगणेश होता है।

फिर भी इतनेमें ही काम चलता नहीं। रज और वीर्य तो अन्नसे बनता है। इसलिये यह भी मानना ही होगा कि रज-वीर्यमें जानेके पहले वह जीव अन्नमें था जिसे स्त्री-पुरुष दोनोंने खाया था। अब प्रश्न है कि अन्नमें कहाँसे कैसे आया? इसका उत्तर छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकि उपनिषदोंमें लिखी पंचाग्निविद्याके प्रकरणमें मिलेगा। वहीं लिखा गया है कि जीव मेघमें होके वृष्टिके द्वारा अन्न या फलादिमें आता है। मेघमें भी क्रमशः चन्द्रलोक, आकाश, वायु

और धूममें होता हुआ आता है। यह बात भी पहले कर्मवादके प्रकरणमे विस्तार से लिखी जा चुकी है कि वह चन्द्रलोकमे कैसे पहुँचता है। गीतामे भी उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गोंका जो वर्णन (८।२४-२५) आया है उसमे लिखा है कि अग्नि, धूम आदिके जरिये ही वहाँ पहुँचता है। यह तो बडी ही गंभीर और अलौकिक बात है। मगर है यह सही। इसी प्रकार कर्मोंके चलते एक जगह शरीर छोडनेके बाद वही जीव हजारो कोसपर जाके जन्म लेता है। तब फौरन कैसे शरीर ग्रहण करेगा? बीचमे तो काफी समय जरूर ही लगेगा।

प्रश्न हो सकता है कि आत्माका भी अन्त क्यो न हो जाय? जब और चीजें खत्म होती है तो वह भी खत्म हो जाय, नष्ट हो जाय। पानीमे डूबके, सडके, आगमे जलके, हवासे सूखके या अस्त्र-शस्त्रादिकी चोटसे सभी पदार्थ नष्ट होते ही है। तब यह क्या बात है कि आत्मा भी इसी तरह नष्ट नही हो जाती? इसका उत्तर देते है कि ऐसा नही हो सकता। क्योकि—,

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

इसे शस्त्र काटते ही नही, न अग्नि जलाती है। पानी भी भिगोता नही और न हवा सुखाती है। २३। (क्यो? इसीलिये कि,—)

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

यह काटा जा सकता नही, जलाया भी नही जा सकता। यह न (तो) भिगोया ही जा सकता है और न सुखाया जा सकता ही है। (इसीलिये) यह (आत्मा रूप पदार्थ) समयके घेरेसे बाहर, सर्वत्र मौजूद, सबोका आधार, अचल और हमेशा रहनेवाला है। २४।

यहाँ सनातन शब्दका वही अर्थ है जो पहले शाश्वतका कह चुके है। इसी प्रकार जो "येन सर्वमिद ततम्" (२।१७)मे आत्माका सब पदार्थोंमे घुसा रहना कहा गया है वही सर्वगतके मानी है। सबोके आधारकी बात जो पहले आई है वही स्थाणुका अर्थ है। सिर्फ अचल शब्द नया है। मगर अव्यय शब्द पहले आ चुका है। उसके ही मानीमे अचल आया है। विकार या गडबड होनेके लिये पूरी वस्तुको या उसके कुछ हिस्सेको ही हिलाना-डुलाना जरूरी हो जाता है। जबतक उसमे चाल या क्रिया (action) न हो, किसी तरहकी भी गडबड या खराबी—विकार—का होना असंभव है। परन्तु जो सर्वत्र मौजूद है उसमे क्रिया होगी कैसे? क्रियाका अर्थ ही है एक स्थानसे दूसरेमे पहुँचना या जाना।

श्लोकमे जो अच्छेद्य आदि शब्द आये हैं उनका अर्थ हमने किया है काटा जा सकता नही, आदि। इन शब्दोंके बननेमे व्याकरणका जो 'ण्य' प्रत्यय लगा है उसे कृत्य प्रत्यय कहते हैं और पाणिनिके "शकि लिङ् च" (३।३।१७२) सूत्रके अनुसार कृत्य और लिङ् प्रत्यय 'सकने' अर्थमे भी आते हैं। यहा यही अर्थ ठीक बैठ जाता है भी। जब हथियार वगैरह काट सकते ही नही, जब उनकी ताकत ही नही कि आत्माको काट सके, तो फिर काटे कैसे? इस तरह पहले श्लोकमे नही काटने आदिकी जो बात कही गई है उसका कारण इस श्लोकमे स्पष्ट कर दिया है। आखिर ये शस्त्रादि काट या जला भी सके तो कैसे? जब यह आत्मा ही है तो जैसे हमारी और आपकी, अर्जुन और कृष्णकी आत्मा है, वैसे ही अस्त्र, शस्त्र, आग, पानी, हवा वगैरहकी भी। यह तो सबोंकी स्व है, सबोंका स्व-भाव है, सबोंका अस्तित्व है, सत्ता है। तब यह कैसे हो कि अग्नि अपने आपको ही जलाये? क्योंकि तब तो खुद अग्नि ही खत्म हो जायगी न? फिर औरोंको जलायेगी कैसे? जब वह रही ही नही, जब उसका अस्तित्व रही नही गया तो वह जलाये किसे? यही बात पानी, हवा आदिकी भी है। भला अपने आपको ही ये खत्म करे! यह हिम्मत किसे होगी? यह तो सोचना भी भूल है।

पहलेके ६ और ७ श्लोकोमे जो 'भुंजीय', 'जयेम' आदिमे लिङ् आया है उसका भविष्यके अलाव यह 'सकना' भी अर्थ हो सकता है। उसका तब यह मतलब होगा कि इन गुरुजनोंको मारके ज्यादेसे ज्यादा खूनसे रंगे पदार्थोंको भोग ही तो सकते हैं। और कौन कहे कि कौन जीत सकता है? हम जीत सकते हैं या वही लोग, अभीसे यह कौन बताये?

हाँ, तो इस श्लोकमे जो आत्माको अचल कहा उसकी तो वजह साफ ही है। जब वह स्थूल, या व्यक्त पदार्थ नही है जो इन्द्रियोंके कब्जेमे आ सके तो उसे हिलाये-डुलायेगे कैसे? और जब वह बुद्धिकी भी पकडके बाहर है तो यह बात और भी असंभव है। इसलिये उसे निर्विकार—विकारशून्य—ही मानना पडेगा। यही बात आगे इस तरह कहते हैं,—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा व्यक्त (स्थूल पदार्थ—दृष्टिमे आनेवाली—तो) है नही और न बुद्धिकी ही पकडमे आ सकती है। (इसीलिये) यह निर्विकार कही जाती है। अतएव इसे इस तरह जान लेनेपर तुम्हारा बार-बार रोना-धोना ठीक नही है।२५।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

और अगर तुम इसे बराबर जनमने और मरनेवाली ही मानते हो, तो भी ओ बहादुर--शक्तिशाली भुजावाले—तुम्हारा इस तरह अफसोस करना अच्छा नही है ।२६।

पहले श्लोकमे अनुशोचितुम्मे जो अनु शब्द आया है उसीकी जगह यहाँ उत्तरार्द्धमे एवं आया है । उसका भी वही अर्थ है कि बार-बार शोक करना या रोना-धोना ठीक नहीं है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

क्योंकि पैदा होनेवालेकी मौत ध्रुव—अवश्यंभावी—है । मरे हुएका जन्म भी ध्रुव है । इसलिये जिन बातोमे किसीका वश हई नही उन्हीके बारेमें तुम्हारी यह चिन्ता फिक्र कभी मनासिब नही हो सकती है ।२७।

जब जन्म और मरणको कोई भी शक्ति रोक नही सकती—जब ये दोनों बातें अनिवार्य है—तो इनके बारेमे हाय-हाय कैसी ? यदि आसमानके तारे टूटे और इससे हम लोगोका भारी नुकसान हो जाय, या अगर भूकम्पमे चारों ओर हडकम्प पड जाय तो भी कोई समझदार हाय-हाय क्यो करेगा, कि उफ, हम ये बातें रोक न सके ?

इतना ही नही । जिन शरीरोके मरने या नष्ट होनेका ख्याल करके हाय-तोबाका यह पँवारा फैला रहे हो आखिर उनकी हकीकत भी तो देखो और विचारो । ये चीजे तो सिर्फ "चार दिनोंकी चाँदनी" है, सपनेकी सम्पत्ति है, जादूगरके तमाशे है । क्या यह नही होता कि सपनेमे भी हम बन्धु-बान्धवोसे मिलते-जुलते, बाते करते और मौज करते है ? हम हजार कोस दूर कही पडे है, या जेलके भीतर बन्द है । फिर भी सपनेमे स्वजनोंके साथ हमारा मधुर मिलन तो होई जाता है और उससे आनन्द भी होता ही है । मगर एकाएक नीद खुली और सब मजा किरकिरा ! सभी प्रेमी, स्वजन और गुरुजन गायब ! ऐसी बेमुरव्वती कि कुछ पूछिये मत ! लेकिन क्या इसके लिए हम माथा पटकते, छाती पीटते या हाय-हाय करते है ? क्यो ? इसीलिए न, कि यह मिलन कुछी देर पहले लापता था, सपनेमे मिलनेवाले ये स्वजन लापता थे, नजरके ओझल थे, दीखते न थे । फिर बीचमे कुछी देरके लिए आ गए, दिख गए, मिल गए ! और फिर ? फिर थोडी ही देर बाद एकाएक गायब हो गए, लापता हो गए, कही दीखते ही

नहीं, हजार ढूँढ़ो सही. मगर मिलते ही नहीं ! मालूम पड़ता है, जिस अदर्शनसे अव्यक्त दशासे व्यक्त हुए थे, आये थे, दीखने लगे थे, पुनरपि उसी हालतमें चले गए, उसी अव्यक्त और अदर्शनमें जा मिले !

इसीलिए महाभारतके अन्तके स्त्रीपर्वमें अव्यक्त न कहके अदर्शन शब्द ही आया है—"अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः । न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना" (२।१३) । इसका आशय यह है कि ये सभी अदर्शनसे ही आए थे और पुनरपि वहीं चले गए । न तो वाकईमें ये तुम्हारे हैं और न तुम इनके । फिर इसमें अफसोस क्या ? इसी श्लोकका "तत्रकापरिदेवना" गीताके अगले श्लोकमें भी है । हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) नामक पश्चिमी दार्शनिकने अपनी पुस्तक "मूल सिद्धान्त" (First Principles) मे यही बात यों लिखी है कि यदि किसी पदार्थका पूरा परिचय प्राप्त किया जाय तो पता लगेगा कि वह किसी अदृश्य दशासे निकलके कुछ दिनों बाद फिर उसी दशामें चला जाता है—"An entire history of anything must include its appearance out of the imperceptible and its disappearance into the imperceptible" (page 253) यही बात स्वयं कृष्ण इस तरह कहते हैं,—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत, सभी भौतिक पदार्थ आरम्भमें—पहले—अव्यक्त ही होते है, अदृश्य ही रहते है, बीचमे व्यक्त और दृश्य होते है और अन्तमे फिर खामखा अदृश्य होई जाते है । तब इसमें चिन्ता क्या ? २८।

इसपर अब एक ही बात उठती है और वह यह है कि—कहना-सुनना और तर्क-युक्ति तो यह सब कुछ ठीक है और बात भी दरहकीकत यही है । मगर दिक्कत यही है कि हमे ऐसी मालूम होती नहीं । अगर हमारे नित्यके अनुभवमे यह चीज आ जाय तभी न हम समझें कि दुरुस्त है ? नहीं तो जंगलमे पका फल हमारे किस कामका ? उसतक हमारी पहुँच हो तभी न हमारी भूख बुझे ? ये सभी बातें तो सपनेके साम्राज्य या बच्चोंके खिलवाड़की मिठाई जैसी ही है । इसीलिए इनसे असली काम तो होना नहीं, पेट तो भरता नहीं और यही है ठोस चीज । निरी बातोंसे तो कुछ होता जाता नहीं ।

और नहीं तो कमसे कम पढ़े-लिखोंको तो इन बातोंका अनुभव हो । नहीं तो कैसे जानें कि यह चीजें सही है, सत्य हैं ? बड़े बूढ़े बतायें तो भी मान सकते हैं । मगर सो भी तो नहीं है । और यह बात भी क्या है कि ऐसी खाँटी और पक्की

चीज जनसाधारणकी समझमें न आये ? वह सौदा ही कैसा जो आम लोगोंकी पहुँचके बाहर हो ? वह उनके किस कामका, यों चाहे वह सोना ही क्यों न हो ? लाख अच्छा-भला क्यों न हो ? आखिर किसी वस्तुकी सचाई-झुठाईकी तराजू भी तो यह जनसाधारणका अनुभव ही है और इस आत्माके बारेमें वही अनुभव लापता ठहरा ! और हमें समझाना भी तो जनसाधारणको ही है न ? तब इसे क्योंकर माना जाय ? इसीका उत्तर आगे देते हुए कहते हैं कि यह कुँजड़ेकी साग-भाजी नहीं है कि दर-दर मारी फिरे। यह तो जौहरीका अमूल्य रत्न है जिसे बिरले ही परख पाते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

इस (आत्मा) को जाननेवाला कोई बिरला ही होता है। (जानकर भी दूसरोंको इसे) बतानेवाला तो (और भी) बिरला होता है। (यदि कोई बतानेवाला हुआ भी तो) इसके सम्बन्धमें बात सुननेवाला (तो उससे भी) बिरला होता है। (खूबी तो यह है कि) इसे पढ़-सुनके भी कोई जानता ही नहीं—शायद ही कोई मुश्किलसे जाने।२९।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

(इसलिये जब) हे भारत, सबोंके देहकी मालिक यह (आत्मा) कभी भी मारी जा सकती है नहो, तो (नाहक) किसी भी भौतिक पदार्थके बारेमें तुम्हारा अफसोस करना अच्छा नहीं है।३०।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अपने धर्मका खयाल करके भी तुम्हारा (युद्धसे) डिगना उचित नहीं है। क्योंकि क्षत्रियके लिये (तो) धर्म-युद्धसे बढ़के कोई चीज होई नहीं सकती।३१।

धर्मशास्त्रकी बात पहले तो चला सकते न थे। क्योंकि अर्जुन स्मृतियोंके कोरे विधानों और आदेशोंको आँख मूँदके माननेको तैयार न था। वह तो कोई अनाड़ी या साधारण आदमी था नहीं कि स्मृतियाँ अपनी लाठीसे उसे हाँक सकें। वह तर्क-दलीलकी कसौटीपर कसके ही किसी चीजको भली-बुरी माननेको तैयार था। इसीलिये कृष्णने पहले यही किया और दार्शनिक युक्तियोंसे उसे माकूल किया। उसके बाद स्मृतियोंके आदेश भी मजबूतीके साथ काम कर सकते थे। इसीलिये पीछे उनकी चर्चा भी दो श्लोकोंमें आ गई है। मगर यह योंही है। इसका कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। इसीलिये गीताधर्म या गीताकी अपनी

चीजोंके भीतर इसकी गिनती नहीं । यह वैसी ही बात है जैसी अपयश और मान-अपमानवाली ३३-३७ श्लोकोमे कही बाते । वह तो गीताधर्ममे आती हुई नही, यह निर्विवाद है । वे कही गई है व्यावहारिकताकी दृष्टिसे ही अर्जुनमे केवल गर्मी लानेके लिये । गीता व्यावहारिक मार्गको ही पकडके अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती है और यश-अपयशकी बात सबसे ज्यादा चुभनेके कारण ही व्यावहारिक है ।

धर्म-युद्ध कहनेका मतलब यह है कि युद्धके समय क्या किया जाय क्या न किया जाय आदि बातोके लिये कुछ सर्वसम्मत नियम-कायदे हमेशासे माने जाते रहे । हेगकी परम्परा (Hague Convention) के नामसे वर्त्तमान समयमे भी ऐसी अनेक बाते सर्वमान्य समझी जाती है । इन्हीमे घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा, युद्धबन्दियोके साथ सलूक, जो स्थान खुले (open) घोषित कर दिये गये उनपर आक्रमण न करना, आम जनता (Civil population) पर प्रहार न करना, जहरीली गैसका प्रयोग न करना आदि बाते आ जाती है । हालाँकि अपनी-अपनी गर्जसे आज कभी इन नियमोंमे किसीको कोई तोडता है, तो किसीको दूसरा ही । फलत नात्सी जर्मनीके इस युद्धमे उसके पक्षके सबोंने ही इन्हे तोड-ताडके खत्म कर दिया है । महाभारतके भीष्मपर्वके देखनेसे पता चलता है कि युद्धारम्भके पहले ऐसे सभी नियम दोनो पक्षोंने साफ साफ स्वीकार कर लिये थे । अतएव इन्ही नियमोके अनुसार होनेवाले युद्धको धर्मयुद्ध और इन्हे तोड-ताडके होनेवालेको अधर्मयुद्ध कहा है । यहाँ धर्म शब्दका दूसरा अर्थ असंभव है । धर्मशास्त्रमे लिखा युद्ध ही धर्मयुद्ध है यह भी मतलब यहाँ नही है । सभी युद्ध तो धर्मशास्त्रमे ही लिखे रहते है । इसलिये जबतक उनके सम्बन्धमे लागू पूर्वोक्त नियमोका नही कहते तबतक धर्मयुद्ध कहना बेकार है । ओर जब स्वधर्म कही चुके है, तो फिर दुहरानेका क्या प्रयोजन ?

जो लोग यहाँ स्वधर्मकी बात लिखी देखके इसकी मिलान आगेके "कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७) मे करते है वह भी भूलते है । यह प्रकरण ज्ञानका ही है । "एषा तेऽभिहिता" (२।३९) मे ही कर्मयोगका प्रकरण शुरू होता है । इसलिये बीचमे ही उसकी बात यहाँ कैसे आ सकती है ? इसी प्रकार "श्रेयान् स्वधर्म" (३।३५ तथा १८।४७) मे भी स्वधर्म शब्द स्मृतियोके धर्मोंके लिये ही नही आया है । वह तो व्यापक अर्थमे कर्ममात्रका ही वाचक है । यह बात हम पहले ही अच्छी तरह लिख चुके है । इन नियमोके साथ लडी जानेवाली लडाई भी धर्मशास्त्र-सम्मत होनी चाहिये, यही आशय यहाँ है । 'श्रेयस्' शब्दके बारेमें भी जान लेना चाहिए कि मोक्षके अर्थमें उसका खासतौरसे प्रयोग गीतामें कहीं

शायद ही हुआ हो, जैसा कि कठोपनिषद्के "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव" तथा "श्रेयश्च प्रेयश्च" (१।२।१-२) मे आया है। तीसरे अध्यायके शुरूके दूसरे श्लोकके 'श्रेयः' शब्दको कल्याण या मोक्षके अर्थमे ले सकते है और इसका कारण भी आगे लिखा है कि कहाँ ऐसा अर्थ होता है। मगर यहाँ कल्याण ही अर्थ उचित लगता है। इसीलिए आगे "श्रेय परमवाप्स्यथ" (३।११) मे श्रेयका विशेषण परं हो जानेसे परमश्रेय या परमकल्याणका अर्थ मोक्ष ठीक लगता है। क्योकि वही तो आखिरी कल्याण है। असलमे प्रशस्य शब्दसे ही यह श्रेयस् शब्द "प्रशस्यस्य श्र." (५।३।६०) पाणिनिसूत्रकी सहायतासे बनता है। इससे प्रशस्यका अर्थ है प्रशंसनीय या प्रशंसाके योग्य अर्थात् अच्छा। उसीसे बने श्रेयस् शब्दका प्रयोग करते है ऐसी ही जगह जहाँ कइयोमे एकको अच्छा समझके चुन लेना हो। इससे स्वभावतः ज्यादा अच्छा सबोसे अच्छा इसी मानीमे श्रेयस् शब्द आता है और हमने यही लिखा है। जब दोमे एकको अच्छा लिखते है तो उतने ही से यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि वह बहुत अच्छा है। दूसरेकी अपेक्षा कहनेका यही अर्थ होता है। गीतामे आमतौरसे ऐसा ही पाया जाता है भी। इसीके अर्थमे 'विशिष्यते' शब्द आया है। दोनोका ठीक-ठाक एक ही अर्थ है। हाँ, जहाँ किसीका मुकाबिला न हो, या दोमे एकको चुनना न हो वहीपर मोक्ष आदि अर्थ आते है, जैसा कठोपनिषद्का दृष्टान्त दिया गया है। वहाँ श्रेयस् शब्दका स्वतत्र प्रयोग है।

यदृच्छया चापपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ, अकस्मात् या आप ही आप खुले स्वर्गके द्वारके रूपमे हाजिर इस तरहका युद्ध तो खुशकिस्मत क्षत्रियोको ही मुयस्सर होता है।३२।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

ओर अगर तुम यह धर्मयुद्ध न करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति दोनोंको गँवाके (केवल) पाप बटोरोगे।३३।

अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

(इतना ही नहीं), लोग तुम्हारे अखड अपयश—हमेशा रहनेवाली बदनामी—की चर्चा भी करते रहेगे। और प्रतिष्ठित (पुरुष) के लिये (यह) अपयश तो मौतसे भी बढ़कर (बुरा) है।३४।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

(यही नहीं), महारथी लोग भी समझेंगे कि तू डरके मारे ही युद्धसे भाग गया है। (फलतः) जो लोग (आज) तुझे ऊँची नजरसे देखते हैं उन्हीकी नजरों-में तू गिर जायगा।३५।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

(इसी प्रकार) तेरे दुश्मन भी तुझे बहुतसी गालियाँ देंगे (और) तेरी ताकतकी भी शिकायत करेंगे। भला, उससे बढ़के बुरा और क्या हो सकता है?।३६।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

(यह भी तो देख कि) यदि युद्धमें मर जायगा तो स्वर्ग जायगा और अगर जीतेगा तो राजपाट मिलेगा। (इस प्रकार तेरे दोनों ही हाथोमे लड्डू है।) इसलिये ओ कौन्तेय, लडनेका निश्चय करके खडा हो जा—डंट जा।३७।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दुःखमे एक रस रहके युद्धमे डंट जा। ऐसा होनेपर तुझे पाप छूएगा भी नही।३८।

इसी श्लोकके साथ ही अध्यात्म विवेकके प्रकरणका इस अध्यायमे अन्त होके आगे कर्मयोगका प्रसग शुरू होता है। उसके शुरूके आठ श्लोक भूमिकाकी तरह है। नवे या गीताके ४७वे श्लोकमे कर्मयोगका निरूपण शुरू हुआ है। इस श्लोकमे भी समत्व या समताकी बात कही गई है जिसे समदर्शन भी कहते है। यह दूसरी बार समदर्शनकी बात आई है। पहली बार, जैसा कि कह चुके है, १५वे श्लोकके "समदुःखसुखं" मे आ चुकी है। इसलिए इस श्लोकका अर्थ समझनेमे उसे भी दृष्टिके सामने रखना पडेगा, खासकर उसके पूर्वार्द्ध "यंहि न व्यथयन्त्येते" आदिको। नही, तो बहुत गडबड-घोटाला हो सकता है।

बात यह है कि जब कम पानीवाले तालाब या गढेमे मछुए मछली मारना चाहते है, तो उसके पानीको नीचे-ऊपर इतना ज्यादा हिला, डुला चला और मथ देते है कि पानी और कीचड मिलके एक हो जाते है। इससे मछलियाँ घबराके ऊपर आ जाती या थक-थकाके ढीली पड़ जाती है। फलतः पहलेकी तरह तेजीसे इधर-उधर भाग-फिर सकती है नही। इस तरह उनके पकड़नेमें

आसानी हो जाती है और बातकी बातमें वे मछुओंके कब्जेमें आ जाती हैं। नहीं तो उन्हें पकड़नेमें मछुओंको बहुत परीशानी होती है। इसी तरह दहीको भी मथानीसे ऐसा मथ देते हैं कि पानी और दही एक हो जाते हैं। बन्दर जब किसी पेड़पर पहले-पहल चढ़ता है तो अकसर उसकी डालोंको पकड़-पकड़के झकझोर देता है और सारे पेड़को कँपा देता है, बेचैन कर देता है। जब छोटा-सा शिकार जबर्दस्त शिकारी कुत्तेके हाथ लगता है तो उसे पकड़के शुरूमें ही वह ऐसा झकझोरता है कि शिकारके होश ही गायब हो जाते हैं और कुत्ता उसे आसानीसे खा जाता है।

यही दशा मनकी है। वह आत्माको अपनी मर्जीके मुताबिक नचानेके पहले उसे अपने कब्जेमे सोलहों आना करना चाहता है और उसीकी तरकीब करता रहता है। मात्रास्पर्श या भौतिक पदार्थोंके सम्बन्धकी जो बात पहले कही जा चुकी है वह उसी तरकीबका एक भाग है। मन इन्द्रियोंकी पीठ ठोंकता है और वह भले-बुरे सभी पदार्थोंके साथ जुट जाती हैं। यही तो है मात्रास्पर्श। गुरुजनों, इष्ट-मित्रों, बन्धु-बान्धवों एवं पुत्र-कलत्र आदिका ताल्लुक और है क्या यदि मात्रास्पर्श नहीं है? जो सहृदय न हो, जड़-पत्थर हो या पत्थर जैसा हो, पागल हो उसमे या तो इन्द्रियाँ होती ही नहीं, या वह काम करती ही नहीं। इसीलिए वैसोंका क्या सुख-दुःख होगा?

इस प्रकार मात्रास्पर्श होनेके बाद ही बुरी-भली चीजोंका अनुभव होता है, उनकी जानकारी होती है, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, अपने-पराये आदिकी जानकारी होती है। जैसा कि आगको छूते ही गर्मीका अनुभव हुआ करता है और बर्फको छूते ही सर्दीका। उसीके बाद हाथ-पाँव जलते या ठिठुरते हैं और फौरन तकलीफ या आरामका, दुःख और सुखका अनुभव होता है। फिर तो इन्सान या तो आनन्दमे विभोर हो जाता है, या कलेजा पीटके बेहोश। यदि सुख-दुःख हलके रहे तो यह बात कम हुई। मगर अगर काफी हुए तो यह हालत भी परले दर्जेकी हो गई! मनके जालकी बातको लेकर हम आनन्द-विभोरता या तकलीफवाली बेसुधीको ही यहाँ ले रहे हैं। इस तरह जब यही बात बार-बार होने लगी तो मनने समझ लिया कि आत्मारामपर हमारा पूरा कब्जा हो गया। वह ताड़ जाता है कि अब तो बन्दर अच्छी तरह फँस गया, इसलिये इसे जैसे चाहें नचा सकते। युद्धमे भी पहले जय-पराजय, बादमे लाभ-हानि और अन्तमे सुख-दुःख होता है जिसका जिक्र श्लोकमें आया है।

मगर ऐसा भी होता है कि किन्हीं मस्तराम फकीरके पास चाहे आप अच्छी-से अच्छी या बुरीसे बुरी चीजें लायें, उनपर उनका कोई असर होता ही नहीं!

क्यों ? असलमें वहाँ उलटी बात जो है। कहाँ तो दूसरोंके मनीराम—मन—आत्मारामको नचाने और फँसानेकी कोशिशमें रहते तथा सफल भी होते हैं और कहाँ मस्तरामके आत्मारामने ही उलटके मनीरामपर मुसक चढ़ा दी है। यहाँ तो मन ही मस्तरामके कब्जेमें पड़ा रो रहा है। उसकी आई-बाई ही हजम है। इसीलिये उसके सभीके-सभी चेले-चाटी और दूत—मनहूस हैं, बेकारसी पड़ी हैं। तब मात्रास्पर्श कैसे हो और आगेकी लीला भी कैसे खड़ी हो ? यहाँ तो सारा नाटक ही बन्द है। यह भी नहीं कि मस्तराम पत्थर है या मुर्दा, जिससे सुख-दुःख आदि जानते ही नहीं। वह तो सब कुछ जानते ही हैं। मगर जान लेना दूसरी चीज है और उसमें चिपक जाना निराली बात है। स्त्रीको विरागी भी देखता है और लम्पट भी। मगर दोनोंके देखनेमें फर्क है—बहुत बड़ा बुनियादी फर्क है। यही बात सुख-दुःखादिके मुतल्लिक भी है।

पन्द्रहवें श्लोकमें जो 'व्यथयन्ति' लिखा है वही इस फर्कको ठीक-ठीक बताता है। उसका अर्थ गढ़ेके पानी या दहीके मथने और बन्दर या कुत्तेके झकझोरनेके दृष्टान्तमें बताया जा चुका है। भौतिक पदार्थोंके संसर्ग जिसे व्यग्र, उद्विग्न, परीशान या बेचैन नहीं कर सकते, नहीं कर पाते वही सुख-दुःखमें सम है, एकरस है। समदुःख-सुख है, समदर्शी है। उसके दिल-दिमागकी गंभीरता, स्थिरता और एकरसता बिगड़ पाती नहीं। वह इन अन्धड़-तूफानोंके हजार आनेपर भी पर्वतकी तरह अचल, अटल रहता है, न कि घास-पात या पेड़-पल्लवकी तरह काँपता और बेचैन हो जाता है। उसके दिल-दिमागकी समता और गंभीरता (Serenity and balance) कभी बिगड़ती (upset) नहीं। फिर पाप पुण्यका क्या सवाल ? ये तो बहुत नीचे दर्जेकी चीजें हैं और वह इतना ऊँचा उठा है कि जैसे चाँदको कोई छू नहीं सकता चाहे हजार कोशिश करे, वैसे ही उसे पुण्य-पाप छू नहीं सकते, उसके निकट फटक नहीं सकते। वह तो मस्त है। बेशक, दुनियाकी बेचैनी देख-देखके मुस्कुरा उठता है, कभी-कभी हँस देता है। इस चीजका ज्यादा विचार पहले ही हो चुका है। यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमा शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

यहाँतक (तो) आत्मतत्त्वकी जानकारी—अध्यात्मज्ञानकी खूबी और बारीकी—तुम्हें बताई जा चुकी। अब योगकी भी जानकारी—कर्मकी पूरी जानकारी और उसकी बारीकी—वाली वह बात भी सुन लो जिसके करते कर्मोंके बन्धनसे अपना पिंड छुड़ा लोगे।३९।

इसपर बहुत अधिक बातें लिखी जा चुकी हैं। इसका स्पष्टीकरण भी बखूबी किया जा चुका है। इसलिये यहाँ या आगे कुछ भी लिखना बेमानी है। फिर

भी जिस कर्मयोग का निरूपण आगे चलके ४७वें श्लोकमें शुरू करेंगे वह सचमुच निराली चीज है, गीताकी अपनी खास देन है। इसीलिये और कहीं वह पाई जाती नहीं। अधूरीसी कही मिले भी तो क्या ? सर्वांगपूर्ण कही भी नहीं मिलती। इसीलिये उसके पूर्व अर्जुनका दिमाग उसके अनुकूल कर लेना जरूरी था। सर्व-साधारण परम्पराके अनुसार वह वैसी बात एकाएक सुनके चौंक उठता कि यह क्या चीज है ? यह तो अजीब बात है जो न देखी न सुनी गई ऐसा खयाल करके वह उस बातसे हट सकता था। कमसे कम यह तो जरूर हो जाता कि उसका दिल-दिमाग उसमे पूरी तौरसे लगता नही। उसमें उसे चस्का तो आता नहीं, मजा तो मिलता नही। फिर तो वैसे गंभीर विषयको हृदयंगम करना असंभव ही हो जाता। इसीलिए उससे पहलेके सात श्लोकोमें उसीका रास्ता साफ कर रहे है।

कर्मकाड एवं धर्माधर्मके निर्णय तथा अनुष्ठानकी सारा दार-मदार सिर्फ मीमासाशास्त्र और मीमासकोंपर ही है। उनका अपना यही खास विषय है। इसीलिए उनने इस सम्बन्धको बहुतसी बाते लिखते हुए लिखा और माना है कि कर्मोके करनेमे कौन-कौनमे विघ्न होते हैं, कैसा हो जानेपर सारा किया कराया चौपट हो जाता है, क्या हो जानेपर पुण्यके बदले पाप ही पाप हो जाता है और सागोपाग कर्म पूरा न हो जानेपर उसका फल नही मिलता। इस तरहकी हजारों बातें और बाधाये कर्ममार्गमे बताई गई है, खतरे खडे किये गए हैं। यदि इनसे बचनेका कोई भी रास्ता हो तो कितना अच्छा हो ? तब तो लोग आसानीसे मीमासकोंका मार्ग छोडके वही मार्ग पसन्द करे। गीताने लोगोकी इस मनो-वृत्तिका खयाल करके पहले तो यही किया है कि कर्मयोगमे इन खतरोंका रास्ता ही बन्द कर दिया है। वहाँ थोड़ा बहुत या अधूरा काम होनेपर भी न तो पापका डर है, न विफलताकी परोशानी और न दूसरी ही दिक्कत।

मीमांसकोंके मार्गमे दूसरी दिक्कत यह होती है कि उन्हे परोशानी बड़ी होती है। पहले तो हजारो तरहके उद्देश्योंको लेके कर्म किये जाते है। फिर एक-एक उद्देश्यकी शाखा-प्रशाखाये होती है और शाखा-प्रशाखाओकी भी शाखा-प्रशाखाये। लोभ-लालचका कोई ठिकाना भी तो होता नही। ज्योंही सफलता हुई या उसकी आशा नजर आई कि नई-नई कामनाये पैदा होने लगती है। यह भी होता है कि शक-शुभेमे कभी मन इधर जाता है और कभी उधर—कभी आगे बढनेकी मुस्तैद होता है, तो कभी पीछे खिसक पड़ता है। इस तरह हजारों तरहकी आशा-आकांक्षाओं, कल्पनाओं एवं उमंग-मनहूसियोंके घोर जंगलमे भटकता रहता है और कभी भी चैन मिलता नहीं। गीताने इस सारी बलासे

भी बचनेका रास्ता कर्मयोगको ही माना है। उसने साफ कह दिया है। फिर तो लोग उधर उत्सुक होंगे ही।

मीमासकोंकी एक तीसरी चीज यह है कि वह स्वर्ग, धन, राज्य आदि सुख साधनोंकी गारंटी करते है। वे कहते है कि विविध कर्मोंके अलावे दूसरा उपाय हई नही कि ये सभी चीजे हासिल की जा सके। यह भी नही कि इन्हे कोई चाहता न हो। ये सभी लोगोकी अभिलषित है इसमे कोई भी शक नही। परन्तु हजार युद्धादिके संकटोको पार करने पर भी इन सबोंकी गारंटी है नहीं। स्वर्गादि तो युद्धमे शायद ही मिल सके। यह तो कर्म मार्ग ही ऐसा है कि इन सभी पदार्थोको प्राप्त करवा देता है। उससे आसान रास्ता, सभी बातों पर गौर करनेके बाद दूसरा रही नही जाता।

बेशक उनकी यह बात काफी मोहनी रखती है। मगर गीताने कह दिया है कि ये पदार्थ बड़ी दिक्कतसे यदि मिले भी तो इनके लिये, और इनके परिणाम स्वरूप भी, जन्म-मरणका सिलसिला निरन्तर लगा ही रह जाता है। जन्म-मरणके कष्ट किसे पसन्द है? यह भी बात है कि मनोरथोंमे जब इस तरह मनुष्य फँस जाता है तो उसे कोई और बात सूझती ही नही। स्वर्गादिकी हाय-हायके पीछे एक तरहसे वह अन्धा हो जाता है। उसे चैन तो कभी मिलता नही। यह करो, वह करो, यह क्रिया बिगड़ी, उस कर्ममे विघ्न, इसकी तैयारी, उसकी पूर्तिकी हाय तोबा दिनरात लगी ही तो रहती है। अगर इतनी बेचैनीके बाद यदि ये चीजे मिली भी तो किस काम की? यह भी बात है कि मिलने पर चस्का लग जानेसे फिर जन्म, पुनरपि क्रिया, फिर मरण, यह ताँता टूटता ही नही। मनुष्य विषयासक्त होके विवेक मार्गसे जाने कितनी दूर जा पड़ता है और कोई निश्चय कर पाता नही। मगर कर्मयोग इन सभी झंझटोसे पाक साफ है।

चौथी बात उनकी यह है कि वेदोकी आज्ञा जब यही है तो किया क्या जाय? उनके आदेशोंको कौन टाले? हिम्मत भी ऐसी किसकी हो सकती है? इसलिये चाहे हजार दिक्कत मालूम हो, फिर भी इसमे आना ही पड़ेगा। इसका उत्तर गीता साफ ही देती है कि ये तो सासारिक झमेले है, दुनियाकी झंझटें हैं जिनमे ये कर्म हमे फँसाते है। हमे चैन लेने तो ये देते नही। वेदोंका काम भी तो यह आफत ही है न? वह भी तो इस त्रिगुणात्मक ससारमे ही हमे फँसाते है। आखिर वह भी तो त्रिगुणके भीतर ही है। इसीलिये तो "मियाँका दौड़ मस्जिद तक" ही है। लेकिन जिसे दुनियाकी, सासारिक पदार्थोकी पर्वा न हो वह क्या करे? वह इन वेदोके झमेलेमे क्यों पड़े? वेदोसे अभिप्राय है उसके कर्मकाड भागसे ही। क्योकि वही वेदोंका प्रधान भाग है—प्रायः सब कुछ है।

ज्ञान कांड तो बहुत ही थोड़ा है—एक लाखमें सिर्फ चार हजार ! वेदोंके एक लाख मंत्रोंमें पूरे छ्यानबे हजार कर्मकांडके और केवल चार हजार ज्ञानकांडके माने जाते हैं। "लक्षं तु वेदाश्चत्वारः" कहा है। गृहस्थोंके यज्ञोपवीतके छयानबे चतुरंगुलोंका अभिप्राय उन्हीं छयानबे हजारसे है। संन्यासीको यज्ञोपवीत नहीं है। उसका ताल्लुक चार ही हजारसे जो है और है वह छयानबेके बाहर! बस, गीताने कह दिया कि—"रहे बाँस न बाजे बाँसुरी"। संसारकी त्रैगुण्यकी पर्वा छोड़ दो और वेदोंके दायरेसे बाहर आ जाओ। फिर तो कर्मयोगका रास्ता साफ है।

ऐसी दशामें आखिरी और पाँचवाँ सवाल यही हो सकता है कि इस प्रकार संसारके भौतिक पदार्थोंसे लापर्वाह होनेसे काम कैसे चलेगा ? वेदोंका आश्रय लेते हैं क्या उन पर रहम करके, या किसीकी मुरव्वतसे ? उनके बिना हमारा काम चलता जो नहीं। वेदोंमें तो छोटे-बड़े सभी कर्म आते हैं और उनके बिना हमारी रोज की जरूरते भी पूरी हो पातीं नहीं। जब हम संसारसे बिरागी हो जायँगे तो वेदोंकी पर्वाह नहीं करेंगे, यह कहना जितना आसान है इस पर अमल करना उतना सहज नहीं है। क्योंकि तब हमारी जरूरतें कौन पूरा करेगा ? हमारी चीज-वस्तुकी रक्षा भी कौन करेगा ? एक यह बात भी है कि वैदिक कर्मकांडके संकटोंसे तो हम जरूर बच जायँगे। मगर उनके चलते जो आनन्द मिलता है उसकी कमी कैसे पूरी होगी ? वह तो रही जायगी न ? कर्मयोगके आनन्दमें स्वर्णका आनन्द कैसे मिलेगा ? यह तो असंभव है।

इसका सीधा उत्तर गीता यही देती है कि इसमें सभी चीजें आ जाती हैं। कुएँ, तालाब नदी वगैरह सबोंका काम एक अकेला समुद्र जैसा लम्बा चौड़ा जलाशय ही दे सकता है। फिर इन चीजोंको अलग जरूरत नहीं रह जाती। उसी प्रकार जिसने कर्मयोगका रहस्य जान लिया उसे सभी वैदिक कर्मोंके फलों की—आनन्द की प्राप्ति होई जाती है। उसके भीतर अमृत-समुद्रकी जैसी गंभी-रता होती है, मस्ती रहती है। फिर और चीजोंकी जरूरत ही क्यों हो ? जरूरत की चीजोंकी प्राप्ति और रक्षा—योग-क्षेम—भी होता ही रहता है। यह तो आगे "योगक्षेमं वहाम्यहम्" (९।२२) में कहा ही है।

यही पाँच बात, या यों कहिये कि मीमांसकोंकी पाँच मुख्य दलीलोंके उत्तर क्रमशः ४० से ४६ तकके सात श्लोकोंमें दिये जाके कर्मयोगकी पूरी भूमिका तैयार कर दी गई है। इनमें पहले दो (४०, ४१) श्लोकोंमें क्रमशः पहली दो बातें आती हैं। फिर बादके तीन (४२-४४) श्लोकोंमें तीसरी आती है। अनन्तर ४५वें चौथी और ४६वेंमें पाँचवी आ जाती है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस (योग)में (किसी भी) कदम—काम—का नाश तो होता नहीं—कोई भी कदम बेकार नहीं जाता, इसमें पाप (का सवाल) हई नहीं और इस (महान्) धर्मका थोड़ा भी (अनुष्ठान) (इसके करनेवालेको) महान् भयसे बचा लेता है। अर्थात् इसमें कोई खतरा भी नहीं है कि कहीं अधूरा रह जानेमें उलटा ही परिणाम हो जाय। इसका परिणाम सदा ही सुन्दर होता है।४०।

यहाँ अभिक्रमका अर्थ हमने कदम किया है और यही अर्थ उस शब्दका दरअसल है भी। कोई भी काम शुरू करनेके मानीमें कदम उठाना या बढ़ाना बोलते हैं। अंग्रेजीमें इसीको स्टेप (Step) कहते है। कहनेका आशय यहाँ यही है कि इस कर्मयोगके सिलसिलेमें उठाया गया कोई भी कदम बेकार नहीं जाता। इसी प्रकार महान् भयसे रक्षाका भी यही अभिप्राय है कि जैसे और कामोंमें खतरे हुआ करते हैं और अगर किसी आफतसे बचनेके लिए कोई उपाय किया जाय तो जब तक वह पूरा न हो जाय उस आफतसे छुटकारा नहीं होता, सो बात यहाँ नहीं है। न तो यहाँ कोई खतरा है और न यही बात कि काम पूरा न हुआ तो आफतसे पिंड न छूटेगा। यहाँ तक कि आवागमन जैसे बड़ीसे बड़ी बलासे भी छुड़ा लेता है इस चीजका थोडा भी अनुष्ठान। फिर तो निर्वाणमुक्ति ध्रुव हो जाती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन (अर्जुन), इसमें तो एक ही (तरह) की बुद्धि रहती है (सो भी) निश्चयात्मक। (विपरीत इसके और मार्गमें) अनिश्चयात्मक बुद्धिवालोंकी बुद्धियाँ (एक तो) असंख्य होती हैं। (दूसरे उनमें भी हरेककी) अनेक शाखा प्रशाखायें होती हैं।४१।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया पहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे पार्थ, वेदके कर्म-प्रशंसक वचनोंको ही सब कुछ मानके उनके अलावे अमल चीज दूसरी हई नहीं ऐसा कहनेवाले, वासनाओंमें डूबे हुए मनवाले और स्वर्गको ही अन्तिम ध्येय माननेवाले नासमझ लोग इस तरहके जिन लुभावने (वैदिक) वाक्योंको दुहराते रहते हैं उन (वचनोंका तो सिर्फ यही काम है कि) भोग और

शासनकी प्राप्तिके लिए ही अनेक तरहके बहुतसे कर्मोंको बतायें। (इस तरह) उनका नतीजा यही है कि लोग बारबार जनमते तथा कर्म करते रहें। जिन भोग एवं शासनके लोलुप लोगोंकी बुद्धि वैसे ही वचनोंमें फँस चुकी है। उनके दिमाग-में तो (कभी) निश्चयात्मक बुद्धि पैदा ही नहीं होती।४२।४३।४४।

इन तीन श्लोकोंमे जिन लोगों का सुन्दर चित्र खींचा गया है वही कर्मकांडी मीमांसक लोग है। उन्हें नासमझ कहके फटकार सुनाई गई है। "अपाम सोमम-मृता अभूम"—'सोमयागमें सोमका रस पीके हम लोग अमर बन गये," स्वर्गमें देवताओंकी इस तरहकी गोष्ठी और बात-चीतका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथोंमें पाया जाता है। कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीके शुरूके पाँच मन्त्रोंमें कल्याण या मोक्षके मकाबिलेमें स्वर्गादि पदार्थों तथा उनके इच्छुकोंकी घोर निन्दाकी गई है। इसी प्रकार मुंडकोपनिषद्के प्रथम मुंडकके दूसरे खंडके शुरूके दस मन्त्रोंमें विस्तारके साथ लिखा गया है कि कर्मकांडी लोग किन-किन कर्मोंको कैसे करते और उन्हे कौन-कौनसे फल कैसे मिलते है। वहीं दसवें मंत्र "इष्टा-पूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठाः"मे 'प्रमूढा" शब्द आया है जो गीताके इन श्लोकोंके "अविपश्चितः"के ही अर्थमे बोला गया है। उस मंत्रमें जो बातें लिखी है उनका उल्लेख भी कुछ-कुछ इन तीन श्लोकोमे पाया जाता है। इनके सिवाय "दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत", "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत", तथा "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत्" आदि ब्राह्मण वचनोंमे कर्मठोंके कर्मो एवं उनके फलोंका पूरा वर्णन मिलता है। वहा इनकी प्रशंसाके पुल बाधे गये है। इन्ही प्रशंसक वचनोंको वेदवाद और अर्थवाद कहते है। इन्हे पढके लोग कर्मोमें फँस जाते है। इसीका निर्देश इन श्लोकोंमें है। पूर्वोक्त मुंडकके वचनोमे एकने "प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (१।२।७) के द्वारा इन यज्ञयागोंको कमजोर नाव करार दिया है, जिस पर चढनेवाले अन्तमें डूबते है। गीताने भी इसीलिये इनकी निन्दा की है।

इनमें चसक जाने पर मनुष्यको दूसरी बात सूझती ही नहीं। एक बार इन्हें करके जब इनके रमणीय फलोंको भोगता है, या ऐश्वर्य—शासन और इन्द्र आदिकी गद्दी—प्राप्त कर लेता है तो फिर बार-बार इन्होंके करनेपर उतारू होता है। यही चस्का है। इसका नतीजा यही होता है कि जन्म लेके इन्हें करना, मरके फल भोगता और चसकके स्वर्गादि फल भोगनेके बाद पुनरपि जनमता और कर्म करता है। यही चक्कर चलता रहता है। एक कोढी और गन्दे स्वभावके आदमीकी कहानी है कि वह साल भरमें कभी शायद ही नहाता हो। जाडोंमे तो हर्गिज नही। मगर घोर जाड़ेमे मकरकी संक्रान्तिके दिन तडके ही

जरूर नहा लेता था। क्यों ? क्योंकि उसने सुना था कि माघके महीनेमें सूर्योदय-के ठीक पहले पानी बहुत तेज चिल्लाता है कि यदि महापापी भी हममें एक गोता लगा ले तो उसे फौरन पवित्र कर दे—"माघमासि रटन्त्यापः किञ्चिदभ्युदिते रवौ। महापातकिनं वापि कं पतन्तं पुनीमहे।" यही है वेदवादों और अर्थवादोंकी मोहनीशक्ति जिसका उल्लेख यहाँ है।

इस श्लोकमें समाधि शब्दका अर्थ दिमाग या अन्तःकरण लिखा गया है। अनेक माननीय भाष्यकारोंने यही अर्थ किया है और यह घटता भी है अच्छी तरह। मगर समाधिका अर्थ योग करना भी ठीक ही है। "समाधिस्थस्य" (२।५४) के व्याख्यानमें हमने इस ओर भी इशारा किया है। यहाँ "समाधिके लिये" यही अर्थ "समाधौ" का है जैसा कि "यतते च ततो भूयः संसिद्धौ" (६।४३) मे 'संसिद्धौ'का अर्थ है "संसिद्धिके लिये"। यहाँ अभिप्राय यही है कि आगे जिस योगका निरूपण है उसके लिये जो मूल-भूत जरूरी बुद्धि है वह ऐसे लोगोंको होती ही नहा।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

हे अर्जुन, वेद तो (प्रधाननया) त्रैगुण्य या सांसारिक बातोंके ही प्रतिपादक है। तुम इन बातोंको छोड़ो, राग द्वेषादि द्वन्द्व—जोड़े—दो दो—से रहित हो, हमेशा सत्त्वगुणकी ही शरण लो, योग-क्षेमकी पर्वा छोड दो, मनको वशमें करो और आत्मतत्त्वमें रम जाओ।४५।

यहा कुछ बात जान लेनेकी है। साधारणतया ख्याल हो सकता है कि जब त्रैगुण्य शब्द यहाँ आया है जिसका अर्थ है तीनों गुणोंमे बनाया त्रिगुणात्मक, तो यहाँ तीनो ही गुण बुरे बताये गये है। मगर सत्त्वगुण तो प्रकाशमय होनेसे ज्ञान-वर्द्धक है। इसलिये उसे क्यों बुरा कहा। इतना ही नहीं। आगे उत्तरार्द्धमें लिखते है कि बराबर सत्त्वगुणकी शरण लो—"नित्यसत्त्वस्थः"। यदि बुरा होता तो सत्त्वकी शरण जानेकी बात कहते क्यों ? तब तो परस्पर विरोध हो जाता न ? इसलिये सत्त्वको बुरा कहना ठीक नहीं। हा, रज और तम तो बुरे जरूर ही है। उनके बारेमे कोई शक नही।

असलमें तीनों गुणोका क्या स्वरूप है, काम है और यह करते क्या है, इसका पूरा विवरण गीताके चौदहवें अध्यायमे मिलता है। वहा देखनेसे पता चलता है कि जीवात्माको बाँधने और फँसानेका काम तीनो ही करते है। इसमे जरा भी कसर नहीं होती। सत्त्व यदि ज्ञान और सुखमे फँसा देता है तो बाकी और और चीजोंमे। मगर फँसाते सभी है। इसलिये 'बध्नाति', 'निबध्नन्ति' आदि बन्धन

वाचक पद वहाँ बारबार सबोंके बारेमे समानरूपसे आये है। इसीलिये जो मनुष्य इनके पंजेसे छूट जाता है उसे उसी अध्यायके अन्तमे गुणातीत—तीनों गुणोंसे रहित उनके पंजेमे बाहर—कहा गया है। इन तीनोमे अपना पल्ला कैसे छुडाया जाय, यह प्रश्न करके उत्तर भी लिखा गया है। इसी तरह "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः" (७।१३-१४) आदि दो श्लोकोंमे, बल्कि इनके पूर्वके १२वेंमे भी यही लिखा ह कि त्रिगुणात्मक पदार्थ ही लोगोको मोहमे, भ्रममे, घपलेमे डालते है।

तब सवाल यह जरूर होता है कि आगे इसी श्लोकमे सत्त्वकी शरणकी बात क्यो कही गई? बात असल यह है कि आखिर इन तीनोसे पिंड छूटनेका उपाय भी तो होना चाहिये, और जैसा कि चौदहवें अध्यायके अन्तमे कहा है, "विषस्य विषमौषधम्" के अनुसार जैसे जहरको जहरसे ही मिटाते है, और "कण्टकेनैव कंटकम्"के अनुसार काँटेसे ही काटेको हटाते है, ठीक उसी तरह गुणकी ही मदद-से गुणोसे पिंड छुडाना होगा। दूसरा उपाय है नही। गुणोमे भी दो तो चौपट ही ठहरे। हाँ, सत्त्वका काम है ज्ञान, प्रकाश, सुझाव, आलस्य त्याग, फुर्ती और मुस्तैदी। इसीलिये कहा गया है कि सत्त्वका हो आश्रय बराबर लेके उक्त विशेषताये हासिल करो ओर अन्तमे तीनोंसे ही छुटकारा लो। बराबर, निरन्तर, नित्य सत्त्वगुणका आश्रय लेनेको कहनेका आशय यही है। जब जब रज और तम दबाके आलस्य आदिमे फँसाना चाहे तब तब मस्तैद होके सत्वगुणकी मददसे लडना और उन्हे भगाना होगा। तभी काम चलेगा। यही बात शान्तिपर्वके धर्मानुशासनके ११०वे अध्यायके "ये च संशान्तरजस सशान्ततमसश्च ये। सत्त्वे स्थिता महात्मनो दुर्गाण्यतितरन्ति ते" (१५), मे भी "सत्त्वे स्थित" शब्दसे बताई गई है। पहले यह कहा है कि उनके रज और तम एकबारगी दब गये है। फिर सत्त्वके कायम रहनेकी बात आई है। इससे साफ हो जाता है कि सत्त्व नित्य रहता है, बराबर रहता है। क्योंकि दोनो शत्रु शान्त जो हो गये! खत्म जो हो गये!

शान्तिपर्वके इसी श्लोकका "महात्मान." शब्द गीताके 'आत्मवान'के ही अर्थ को कहता है। महात्मा लोगोंकी आत्मा महान् होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उनका मन छोटी-छोटी, संसारकी क्षुद्र बातोमे न पडके बहुत ऊपर चला जाता है, बडा बन जाता है, आत्मतत्त्वमे लग जाता है। यही वजह है कि वह द्वन्द्व या राग-द्वेष, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख आदिमे अलग हो जाता है। उसे इस बातकी भी फिक्र नहीं होती कि अमुक चीज नहीं है, उसे कैसे लाऊँ और मिली हुईकी रक्षा कैसे हो आदि आदि। इसे ही योग—जोडना या प्राप्त करना और क्षेम—रक्षा करना—कहते है। वह इससे भी मुक्त हो जाता है। हमने यही लिखा भी है।

शान्तिपर्वके ५२वें तथा १५८वें अध्यायोंमें जो कुछ भीष्मको आशीर्वाद तथा अर्जुनको उपदेश दिया गया है वहाँ भी बार-बार यह 'सत्त्वस्थ' पद आया है। "ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ। नच ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति॥ सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति। रजस्तमोऽभ्यां रहितं घनैर्मुक्तइवोडुराट् (५२।१७-१८), "ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च। निर्ममा निरहंकाराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः॥ लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च। समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्त्वपथे स्थितानाम। धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान्दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्च्चयेथाः (१५८।३३-३५)। इन श्लोकोंमें अक्षरशः गीताके इस श्लोककी ही बात है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

(जिस तरह) जितना काम छोटे बड़े जलाशयोंमे निकलता है वह सभी केवल एक ही विस्तृत जलराशिवाले समुद्र या जलाशयसे चल जाता है; (उसी तरह) वेदोंमे जितना काम चलता है आत्मज्ञानी विद्वानका वह सबका सब (योंही) चल जाता है—पूरा हो जाता है।।४६।

इस श्लोकमें जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यही है कि छोटे जलाशयका काम बडेसे, दोनोंका उससे भी बड़ेसे और अन्तमें सबोंका काम सबसे बड़ेसे—बडेसे बडेसे—चल जाता है। अतः उसके मिलने पर बाकियोंकी पर्वा नही की जाती। आत्मज्ञान हो जाने पर सासारिक सुखों और भौतिक पदार्थोकी पर्वा नही रह जाती है। क्योंकि आत्मा तो आनन्द सागर ही ठहरी बृहदारण्यकके चौथे अध्यायके तृतीय ब्राह्मणके ३२वें मंत्रके "एषोऽस्य परः आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" से शुरूकरके समूचे लम्बे ३३वे मत्रमे लोक परलोकके सभी सुखों एवं आनन्दोंका तारतम्य दिखाते हुए आखिरमे आत्मानन्दको ही सबके ऊपर माना है। कहा है भी कि उसीके भीतर शेष सभी समा जाते है। अन्य उपनिषदोंमे भी यही बात आती है। यहां इसीकी ओर इशारा है।

इस श्लोकमें ब्राह्मण शब्दका अर्थ ब्राह्मण जाति न होके आत्मज्ञानी ही है, यह बात पहले ही कृपण शब्दकी व्याख्याके सिलसिलेमें कही जा चुकी है। इसीलिए 'ब्राह्मणस्य'के आगे "विजानतः" शब्द आया है जो विज्ञ या विद्वानका वाचक है।

इस श्लोकका अर्थ करनेमें किसी किसीने उस अर्थ पर तानाजनी की है और उसे खींचतानवाला बताया है जो हमने किया है। ऐसे लोगोंका कहना है कि

"सर्वतः संप्लुतोदके" का अर्थ समुद्र या समुद्र जैसा महान् जलाशय न करके बाढ़ या जल-प्लावन कर लेना ही ठीक है। इससे श्लोकका यह अर्थ हो जायगा कि जैसे जल-प्लावन होने पर जितना प्रयोजन ताल-तलैयाका रह जाता है, अर्थात् कुछ भी प्रयोजन रह जाता नहीं, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वानके लिए भी उतना ही प्रयोजन वेदोंमे रह जाता है—अर्थात् कुछ भी नहीं रह जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञानीके लिए वेदोंकी निष्प्रयोजनताका प्रतिपादन खुले शब्दोंमें वे लोग इस श्लोकमें मानते हैं।

बेशक, इस अर्थमें वैसी खींचतान नहीं है जैसी हमारे अर्थमें है। हालाँकि, उनके अर्थमे भी द्रविड़ प्राणायाम जरूर है। क्योंकि कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता यह बात श्लोकके शब्दोंसे सिद्ध न होके अर्थात् सिद्ध होती है। लेकिन ऐसा अर्थ माननेमे एक बड़ी अड़चन है। असलमें साफ साफ वेदोंको निष्प्रयोजन या बेकार कह देनेकी हिम्मत किसी भी सनातनी ग्रंथ या महापुरुषको नहीं होती। वेदोंका स्थान हिन्दू-समाजमें इतना ऊँचा है कि उनके बारेमे स्पष्ट निन्दासूचक शब्द बोला और लिखा जा सकता नहीं। ऐसी बात अब तक तो पाई गई है नहीं। ऐसी दशामे गीता जैसा सर्वप्रिय ग्रन्थ यह बात कहे, सो भी स्वयं मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके ही मुखसे, यह बात ठीक जँचती नही। इसीलिए तो इससे पहलेके "त्रैगुण्यविषया" श्लोकमें जहाँ मनासिब था यह कह देना कि तुम तीनों वेदोंकी पर्वा छोड़ो—"निस्त्रिवेदो भवार्जुन" या "निस्त्रैविद्यो भवार्जुन", वहाँ यही कहा कि तुम त्रैगुण्य-रहित या संसारके पदार्थोंसे अलग हो जाओ—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। यदि श्लोकका आरम्भ पढ़ा जाय और उसका आशय देखा जाय तो वह यही है कि वेदोंके इस जालसे बच जाओ। मगर ऐसा न कहके यही बात घुमाके कही कि सांसारिक बातोंका लालसा छोड़ दो। इससे भी अर्थात् वैदिक कर्मकांड छूट ही जायगे। फिर भी स्पष्टतः ऐसा नहीं कहा। ठीक इसी तरह यहाँ भी कह दिया है कि वेदोंका काम आत्मज्ञानसे भी चल जाता है। मगर उस सीधे अर्थमे तो कुछ न कुछ छींटा वेदों पर आई जाता है यदि गौरसे देखा जाय। इसीसे शंकरने वह अर्थ नहीं किया है। हमने भी उन्हीका अनुसरण किया है।

एक बात और भी है। यदि "सर्वतः संप्लुतोदके" शब्दोंका सर्वत्र जल-प्लावन अर्थ होता है, तो "संप्लुतोदके" की जगह "संप्लुते दके" लिखना कहीं अच्छा होता। दक और उदक शब्दोंका अर्थ एक ही है पानी। मगर उदक शब्द रखने पर संप्लुतके साथ उसका समास करना पड़ता है, जिसकी जरूरत उन लोगोंके अर्थमे कतई रह जाती नही। वह तो तब होती है जब समुद्र अर्थ करना

हो। इसीलिए बहुव्रीहि समास करना पड़ता है। 'संप्लुतोदके' लिखने पर समासकी गुंजाइश रह जानेसे लोग वैसा कर डालते है। मगर यदि वैसा अर्थ इष्ट न होता तो साफ-साफ 'संप्लुते दके' लिख देते। फिर तो झमेला ही मिट जाता। इससे भी पता चलता है कि ऐसा अभिप्राय हुई नहीं।

शान्तिपर्वके मोक्षधर्मके २४१वें अध्यायवाला 'ये स्म बुद्धि परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः। न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्या पिबन्निव'' (१०) श्लोक देखनेसे पता लगता है कि वह भी परमज्ञान या आत्मज्ञानकी ही बात कहता है। उसमें साफ ही कहा है कि इस परा या सर्वोच्च बुद्धि—ब्रह्म-विद्या—क्योंकि उपनिषदोंमे ब्रह्मविद्याको ही परा विद्या कहा है—को जिनने हासिल कर लिया है वे कर्मोकी बडाई नही करते, उनकी ओर रुजू नहीं होते। इसमे दृष्टांत देते है कि पीने आदिके लिए जो मनुष्य नदीमें पानी पा लेता है वह कूपकी पर्वा नहीं करता। इसमे भी पता लगता है कि जल-प्लावनमे यहाँ अभिप्राय न होके क्रमशः छोटे बडे और उनसे भी बड़े जलाशयोंसे ही मतलब है। इसी मानीमें नदी और कूपका नाम लेना ठीक हो सकता है।

इस प्रकार यहाँतक कर्मयोगकी भूमिका पूरी करके अगले दो श्लोकोंमें उसी योगका स्वरूप बताया गया है। कर्मके सम्बन्धकी हिकमत, तरकीब, चातुरी या उपाय होनेके कारण ही इसे कर्मयोग कहते है। इसका बहुत ज्यादा बिवेचन और विश्लेषण पहले किया जा चका है। शान्तिपर्वके राजधर्मानुशासनके ११२वे अध्यायमें भी योग शब्द उपाय या हिकमतके मानीमें यों आया है, "त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः। वर्त्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत्'' (१७)। यहां 'योगेन' शब्दका अर्थ नीलकंठने अपनी टीकामें 'उपायेन' ऐसा ही किया है। शान्तिपर्वके १३०वे अध्यायमें भी "अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते। विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकर परं'' (१२) श्लोकमें नीलकण्ठ लिखता है कि 'अयोग उपायाभावः''—"अयोग शब्दका अर्थ है उपायका न होना।'' इससे भी योग शब्द उपायवाचक सिद्ध होता है। योगका स्वरूप दो श्लोकोंको मिलाके पूरा हुआ है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

तुम्हारा अधिकार केवल कर्ममें है; (कर्मोके) फलोंमें हर्गिज नहीं। कर्मोंके फलोंका खयाल (भी) न करो। कर्मके त्यागमे तुम्हारा हठ न रहे। हे धनंजय, योग में ही कायम रहके, आसक्ति या करनेका हठ छोड़के तथा वे खामखा पूरे

हों यह पर्वा छोडके कर्मोको करो। इसी समता या लापर्वाही—बेफिक्री और मस्तागी—को ही योग कहते हैं ।४७।४८।

पहले दो बार कहे गये ममत्वमे और इसमे क्या अन्तर है और इसका मतलब क्या है ये सारी बाते पहले ही अत्यन्त विस्तारके साथ लिखी जा चुकी है। यह तीसरा ममत्व कुछ और ही है यह भी वही लिखा गया है।

कर्मयोगमे असल चीज योग ही है, जिसका रूप अभी बताया गया है। वह विवेक या ज्ञानस्वरूप ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। ४६वें श्लोकमे इसी योगके सम्बन्धकी भूमिकास्वरूप जो "विजानतः ब्राह्मणस्य" कहा है उससे यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि इस योगके मूलमे आत्मतत्त्वका पूर्ण विवेक ही काम करता है। उसके बिना इस योग—कर्मयोग—का स्वरूप तैयार होई नही सकता। इसीलिये जो लोग ऐसा समझते है कि कर्मयोगमे भी वास्तविक चीज एवं मूलाधार कर्म ही है और योग या बुद्धि—हिकमत, तरकीब—के रूपमे जो ऊंची मनोवृत्ति काम करती है वह सिर्फ सहायक है, उसके स्वरूपको मार्जित और शुद्ध होनेमे केवल मदद करती है, वह भूलते है। यहा तो उलटी गंगा बहती है। कर्म तो उसका एक नायक्षेत्र जैसा है। असल चीज तो वह बुद्धि ही है। उसके मुकाबिलेमे कर्मको ऊँचा दर्जा देनेका सवाल हुई नही। किन्तु—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय, विवेक-बुद्धिरूपी योगकी अपेक्षा कर्म कही छोटी चीज है। (इसलिये) उसी विवेक बुद्धिकी ही शरण जा। क्योकि जो लोग उस विवेक बुद्धिसे रहित होते हैं वही तो फलकी आकाक्षा करते (और इसलिये कर्म करते हैं) ।४९।

यहा भी कृपण शब्दका वही अर्थ है जो पहले कहा गया है, अर्थात् विवेक-बुद्धि या आत्मतत्त्वके ज्ञानसे रहित।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

इस संसारमे (उस) विवेकबुद्धिवाला (मनुष्य ही तो) पुण्य-पाप दोनोसे पिंड छुडा लेता है। इसलिये (उस) बुद्ध्यात्मक योग (की ही प्राप्ति) के लिये यत्न करो। वह योग ही तो कर्मो (के करने) की चातुरी या विशेषज्ञता है, कुशलता है ।५०।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योकि बुद्धियुक्त मनीषी—पहुँचे हुए—लोग ही कर्मोंसे होनेवाले (सभी) फलोंसे नाता तोड़के जन्म (मरण)के बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते (तथा) निरुपद्रव पद—निर्वाणमुक्ति—प्राप्त कर लेते है ।५१।

अब सवाल यह होता है कि तो यह बुद्धि प्राप्त होती है कब और इसकी प्राप्ति की पहचान क्या है ? यह तो कोई विचित्रसी चीज है, अलौकिकसा पदार्थ है, नायाब वस्तु है, और जैसाकि पहले दिखलाया जा चुका है, जीते ही मौतके समान असंभवसी है । इसलिये इसको प्राप्ति आसान तो हो सकती नही । यह भी नही कि यह कोई स्थूल या साधारण भौतिक पदार्थ हो । यह तो असाधारण चीज है । बाहरी नजरोंसे देखी भी नही जा सकती । तब हम कैसे जानेंगे कि अब यह हासिल हो गई ? इसका उत्तर यह है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी अक्ल इस बुद्धिभ्रमके कीचड़से पार हो जायगी (तो) उस समय तुझे सभी बातोंसे विराग हो जायगा, (फिर चाहे वह) जानी-सुनी हों या जानने योग्य हों ।५२।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

(इस प्रकार वेदशास्त्रोंकी सभी बातोंसे मनके विरागी हो जानेपर) उनके करते घपले तथा दुबिधेमे पड़ी तेरी अक्ल जब अन्तःकरण या दिमागके भीतर ही रुकके वही सदाके लिये जम जायगी तभी (समझना कि) बुद्धिरूपी योग प्राप्त हो गया ।५३।

इन दोनों श्लोकोमे जो बातें कही गई है उनका जरासा स्पष्टीकरण जरूरी है । यह तो पहले ही कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विवेचनमे बता चुके है कि वेदशास्त्रोंके अनेक वचनों और ऋषि-मुनियाके बहुतेरे उपदेशोंके करते लोगोंकी अक्ल कर्त्तव्या-कर्त्तव्यका निश्चय कर पानेके बदले और भी दुबिधेमे पड जाती है । उसकी हालत ठीक वही हो जाती है जैसी अँधेरी गुफामे पडी कोई चीज अन्दाजसे ही टटोलनेवालेकी । वह कोई निश्चय कर पाता नही और भीतर ही भीतर ऊब जाता है । निश्चयकी जितनी ज्यादा कोशिश वह करता है उतना ही ज्यादा दुबिधा और पचडा बढ़ जाता है । ठीक ''ज्यों-ज्यो भीगै कामरी त्यों-त्यों भारी होय'' या ''मर्ज बढता गया ज्यों-ज्यों दवा की''की हालत हो जाती है । मगर करे क्या ? वेदशास्त्रोंको छोड़ते भी तो नही बनता । जितना पढ़-सुन चुका होता है उसका भी बार-बार खोद-विनोद करता ही जाता है । नये-नये जो भी वचन पढ़ने-सुनने योग्य होते हैं उन्हें भी पढ़ता जाता है । समझदारीकी यही तो

दिक्कत है। यदि अपढ़-अजान होता तो यह कुछ नहीं होता। तब तो गलत-सही किसी बातको पकड़के बैठ रहता कि यही ठीक है। इसीलिए तो नादानीको बहुत हद्‌दतक दिक्कतोंकी ढाल माना है। मगर हो क्या? यह बेचारा तो समझदार ठहरा।

इसीलिये पहले श्लोकमें कहा है कि जब योगरूपी विवेकबुद्धि मिल जायगी तो यह सभी पढ़ने-पढ़ाने एवं विचार-विमर्शकी परीशानी एकाएक जाती रहेगी। तब दिल चाहेगा ही नही कि एक भी पन्ना उलटे या एक बातका भी खोद-विनोद करें। जैसे पका फल डालसे अकस्मात् अलग हो जाता है, वैसे ही ये सभी बातें दिल से हट जाती है या दिल ही इनसे अलग हो जाता है। वह इन्हें पूछता भी नही। इसीको निर्वेद या वैराग्य कहा है।

जब मन या दिल विरागी बन गया तो फिर वेदशास्त्रके हजार तरहके वचनोंके करते जो बुद्धिकी परेशानी थी, बेकली और बेचैनी थी उसपर भी पर्दा पड़ जाता है, वह भी आप ही आप जाती रहती है—मिट जाती है। जैसे कोई आदमी बड़ी परीशानीमे चारो ओर दौड़-धूप करता-कराता तबाह हो, मगर अन्देशे या परीशानीके मिटते ही शान्त हो जायँ और सुखकी साँस ले। ठीक वही हालत बुद्धिकी हो जाती है। उसकी सारी दौड़-धूप बन्द हो जाती है। हमेशाके लिए वह निश्चल एवं निश्चिन्त बन जाती है। यही बात दूसरे श्लोकमे कही गई है। यह भी बात योगके प्रतापसे ही होती है। इसलिये इसे भी योग प्राप्तिको पहचान बताया है।

यहाँपर अचला और निश्चला ये दो शब्द आये है जिनका अर्थ एक ही है। इसीलिये खयाल हो सकता है कि दोमे एक बेकार है। मगर बात यह है कि बुद्धिमे जो स्थिरता आ गई वह दो तरहकी हो सकती है। एक तो तात्कालिक या कुछ समयके ही लिये। दूसरी हमेशाके लिये। कहीं ऐसा न समझ ले कि तात्कालिक शान्ति और स्थिरतामे ही काम चल जाता है। इसीलिये लिखा है कि निश्चल बुद्धि जब अचल हो जाती है। निश्चलको अचल कह देनेसे ही उसकी शान्ति एव स्थिरतामे स्थायित्वका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। निश्चलका अक्षरार्थ भी है चलनेसे बरी और अचलका अर्थ है जो कभी न चले। बरी तो थोड़े समयके लिये भी रहा जा सकता है।

समाधि शब्दका भी मनमाना अर्थ किया जाता है। अभीतक केवल दोई बार यह शब्द आया है। एक बार इस श्लोकमे। दूसरी बार इससे पूर्व "समाधौ न विधीयते" (४४)मे। हमने दोनों जगह एक ही अर्थ अन्तःकरण या दिमाग किया है। समाधिका अर्थ है जिस दशामे या जहाँ मन स्थिर हो, बुद्धि स्थिर हो, और

दिमाग या अन्तःकरण ही ऐसी चीज है जहाँसे मन या बुद्धिकी दौड़ बार-बार हुआ करती है। मगर ज्योंही यह दौड़ रुकी कि वहीं वे दोनों शान्त हो जाते हैं। एकाग्रताकी दशामें यही होता है। इसीलिये हमने यही अर्थ मुनासिब समझा है। जहाँके है वहीं रुक गये, यही तो शान्ति, स्थिरता या निश्चलता है और यही निश्चयात्मकता भी है। क्योंकि निश्चय न रहनेपर बीस चीजोंमें उनकी दौड़ जारी ही रहती है।

इतना कह देनेसे यह तो हो गया कि योगीकी पहचान मालूम हो गई। मगर इतनेसे ही तो काम चलता नहीं दीखता। पहले जब गोलमटोल बात थी तो अर्जुन भी चुप्प थे। कृष्णने भी अपने ही मनसे शंका उठाके जवाब दे दिया। मगर कर्मयोगीकी पहचान सुननेके बाद स्वभावतः अर्जुनको नई जिज्ञासायें पैदा हुई और उसे पूछना पड़ा। उसे यह सुनते ही एकाएक खयाल आया कि जो कुछ भी पहचान योगीकी बताई गई है वह तो भीतरी है, बाहरी नहीं। बुद्धिकी स्थिरता या पढ़ने-लिखनेसे वैराग्य यह तो मनोवृत्ति ही है न? फिर यह बाहर कैसे हो और दूसरोकी पहचानमें कैसे आये? अपना काम तो शायद इससे चल जाय। क्योंकि हर आदमी अपनी मनोवृत्तिको बखूबी समझ सकता है। मगर बाहरके लोग कैसे जाने कि कौन योगी है? यह नहीं कि दूसरोंके जाननेको जरूरत ही न हो। यदि दूसरे न जाने तो उन्हे उपदेशक कैसे मिलेगा? क्योंकि जो खुद योगी न हो वह तो उपदेश कर सकता नहीं। फलतः यदि हमें योगका रहस्य जानना है तो योगीके पास ही जाना होगा। मगर बिना पहचाने जायँगे कैसे? इसीलिये पहचानकी जरूरत है, और इसके लिये बाहरी लक्षण, जो उठने-बैठने, बोलने आदिसे ही जाना जा सके, मालूम होना चाहिये।

इसके सिवाय जो लक्षण, जो पहचान बताई गई है वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसमे एक ही बात है, या ज्यादेसे ज्यादे दो बाते है। मगर ज्यादा बातें पहचानके रूपमें मालूम हो जायँ तो आसानी हो। इन ज्यादा लक्षणों और बाहरी पहचानोंसे यह भी लाभ होगा कि जो खुद योगी होगा वह भी अपने आपको समय-समयपर तौलता रहेगा। आखिर योगकी पूर्णता एकाएक तो हो जाती नहीं। इसमे तो समय लगता ही है। इस दर्म्यानमे त्रुटियों एवं कमजोरियोंका पता लगा-लगाके उन्हें दूर करना जरूरी हो जाता है। इन्हीं त्रुटियों और कमजोरियोंका आसानीसे पता लगता है बाहरी लक्षणोंसे ही। क्योकि अपनी कमजोरी अपने आपको जल्द मालूम न होनेपर भी दूसरे चटपट जान जाते है। फलतः उनकी बातोंसे सजग होके योगी खुद अपनी मनोवृत्तिपर कड़ी नजर रखता और उसे ठीक करता है। यही सब खयाल करके—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने पूछा—हे केशव, जिसकी बुद्धि स्थिर तथा समाधिमें अचल हो गई है—जो योगी बन चुका है—उसकी परिभाषा—लक्षण—क्या है ? वह किस तरह बोलता, कैसे बैठता और कैसे चलता है ? ।५४।

यहाँ "समाधिस्थ" शब्दका वही अर्थ है जो "योगस्थः कुरु कर्माणि" मे 'योगस्थ'का है । यदि गौरसे देखा जाय, और हम पहले विस्तारके साथ लिख भी चुके हैं, तो इस योगीको भी वैसी ही समाधि होती है जैसी पतंजलिके योगीकी । यह प्राणायाम भले ही नही करे । फिर भी कर्मसे बालभर भी इधर-उधर इसकी दृष्टि, इसकी बुद्धि जाने पाती ही नही । वहीं जम जाती है, रम जाती है । इसीलिए यह समाधिस्थ और योगस्थ कहा जाता है ।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवानने कहा, हे पार्थ, जब मनके भीतर घुसी सभी कामनाओंको जड-मूलसे खत्म कर देता और आतमामे ही—अपने आपमे ही—अपनेसे ही—खुदब-खुद सन्तुष्ट रहता है तभी उसे स्थितप्रज्ञ या अचलबुद्धिवाला कहते हैं ।५५।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखोंमे जिनका मन उद्विग्न न हो सके, सुखों (की प्राप्ति) के लिये जो परीशान न हो और राग, भय एवं द्वेष—क्रोध—ये तीनों ही—जिसके बीत गये या खत्म हो चुके हो वही मननशील—मुनि—स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।५६।

इन दो श्लोकोमे योगी या स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया गया है । इस प्रकार अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है । बादके ५७वेंमे "किस तरह बोलता है" का और ५८वेंमे 'कैसे बैठता है' का उत्तर दिया गया है । उसके बादके (५९-७०) बारह श्लोकोंमे उसी उत्तरके प्रसंगमे आई बातोंपर विचार करके ७१वेंमे 'कैसे चलता है' का उत्तर दिया गया है । इस तरह सभी प्रश्नोंके उत्तरके रूपमे कर्म-योगीका पूर्ण परिचय देके उसकी वास्तविक दशाका चित्र खींचा गया है । उसी दशाको ब्रह्मनिष्ठा या ब्राह्मीस्थिति भी कहते है, यही बात अन्तिम श्लोकमे कहके समूचे प्रकरण एवं अध्यायका भी उपसंहार कर दिया गया है ।

यहा जो दो श्लोकोमें दो लक्षण कहे गये है उनमें पहला तो नितान्त भीतरी पदार्थ है जिसका पता बाहरसे लगना प्रायः असंभव है। किसे पता लग सकता है कि दूसरे आदमीकी सभी वासनायें खत्म हो गई ? अपने ही भीतर वह मस्त है यह भी जानना क्या संभव है ? आसान है ? इसीलिए दूसरे श्लोकवाली बातें कही गई है। इन बातोंके जाननेमे आसानी जरूर है। तकलीफोंमे मर और छाती पीटना, हाय-हाय करना आसानीसे जाना जा सकता है। इसी तरह आराम पानेके लिए जो बेचैनी होती है उसका भी पता लगे बिना रहता नही। सबसे बडी बात यह है कि राग, भय और क्रोध तो छिपनेवाली चीजे है नहीं। खासकर भय और उससे भी बढके क्रोध हर्गिज छिप सकता नही। इस प्रकार इन लक्षणोमे योगीको आसानीसे पहचान सकते है। सभी तरहके लोग इन लक्षणोंसे फायदा उठा सकते है, यही इनकी खूबी है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५ ॥

जो किसी भी पदार्थमे ममता नही रखता—चिपका नही होता; इसीलिए जो बुरे-भले (पदार्थों)के मिल जानेपर न तो उनका अभिनन्दन ही करता है और न उन्हे कोसता ही है, उसीकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है।५७।

इसके उत्तरार्द्धमे योगीके बोलनेकी बात अभिनन्दन न करने और न कोसनेकी बातके रूपमें साफ ही आई है। योगीके बोलनेकी यही खास बात है कि वह न तो किसीकी स्तुति करता है और न निन्दा।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जब यह (योगी) अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे एकबारगी ठीक उसी तरह समेट लेता है जैसे (संकटके समय) कछुवा अपने सभी अगोंको, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है।५८।

कछुवेके चलने-फिरनेसे एकाएक रुक जाने और सभी गर्दन, पाँव आदिको खीच लेनेकी बात कहके 'योगी कैसे बैठता है' का उत्तर दिया गया है। वह अपनी सभी इन्द्रियोका दर्वाजा ही बन्द कर देता है। फिर न तो किसी मनोरंजन पदार्थके लिए कही आना होता है और न जाना। यो शरीर-यात्रार्थ नित्य क्रियादिके करनमे आने-जानेपर कोई भी रोक नही होती। ६१वे श्लोकमे भी इन्द्रियोके ही रोकनेकी बात दुहराई गई है और कहा गया है कि इन्द्रियाँ जिसके वशमे हो वही स्थिर बुद्धिवाला है।

इन्द्रियोंको विषयोसे रोक देनेकी बात सुनके सवाल होता है कि यदि योगीकी यही बात है तो हठयोगी तपस्वीको भी क्या कभी गीताका कर्मयोगी कह

सकते है ? वह भी तो आखिर विषयोसे किनाराकशी करी लेता है। अपनी इन्द्रियोंपर वह इतनी सख्तीके साथ लगाम चढ़ाता है कि वे टससे मस होने पाती है नही। सर्दी-गर्मी और भूख-प्यासपर उसका कब्जा साफ ही नजर आता है। मगर ऐसे हठी तपस्वियों और योगियोंमे तो जमीन-आसमानका अन्तर है। यह कैसे होगा कि गीताका योगी तपस्वीके साथ मिल जाय—उसी तपस्वीसे जिसका वर्णन स्मृतिग्रंथोमे पाया जाता है ? तब तो यह योगी और योग गीताकी अपनी चीज रह जायगी नही। वह एक प्रकारसे बहुत ही आमान चीज हो जायगी। इसीलिये इसका स्पष्टीकरण आगेके बारह श्लोकोंमे करना जरूरी हो गया। क्योंकि यह विषय जरा गहन है। यह भी बात है कि क्या केवल विषयोके रोकनेमात्रकी ही जरूरत होती है, या और कुछ भी जरूरी होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। नही तो धोका हो सकता है, होता है।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिन·।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

आहार छोड़ देनेवाले मनुष्यके विषय तो (स्वयं) हट जाते है। (मगर उनके प्रति) रागद्वेष बने रह जाते है। ये भी निवृत्त हो जाते है (सही, लेकिन) ब्रह्म-रूपी आत्माको देखनेपर ही, आत्मतत्त्वके ज्ञानके बाद ही।५९।

यहा आहार शब्द विचित्र है। सर्वसाधारणमे प्रचलित आहार शब्दका अर्थ है भोजन। यह भी माना जाता है कि केवल खाना-पीना—अन्न—छोड देनेसे ही सभी इन्द्रियां अपने आप शिथिल होके पस्त और अकर्मण्य हो जाती है। फलत. विषयोतक पहुँच नही सकती है। हालत यहाँतक हो जाती है कि निराहार या अनशन करनेवालेके कानमे हारमोनियम बजाइये तो भी उसे कुछ पता ही नही चलता है। नासिकाके पास इतर-गुलाब लाइये तो भी उसे गन्धका पता नही चलता। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद्के सातवें प्रपाठक—अध्याय—के नवें खंडमे लिखा भी है कि यदि दस दिन भोजन न करे तो उसके प्राण भले ही न जाये, फिर भी सुनना, सोचना, विचारना वगैरह तो खत्म ही हो जाता है—"यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युहजीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवति" (९।१)।

दूसरी ओर यह माननेवाले भी बहुतसे लोग है कि आहारका अर्थ केवल अन्न न होके इन्द्रियोंके पदार्थ या विषयको ही आहार कहना उचित है। आहार शब्दका अर्थ भी यही होता है कि जो अपनी ओर खीचे। विषय तो खामखा इन्द्रियोको खीचते ही हैं। पहले श्लोकमे सिर्फ भोजनकी बात न आके विषयोकी ही बात आई है। बादवाले श्लोकमे भी इन्द्रियोके विषयोंकी ओर ही खिच जाने

और मनको खीच ले जानेकी बात कही गई है। छान्दोग्योपनिषद्के सातवें प्रपाठकके अन्तमे यह भी लिखा गया है कि आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि और सत्त्वकी शुद्धिसे पक्की एवं चिरस्थायी स्मृति, जिसे स्मरण या तत्त्वज्ञान कहते हैं, होती है, जिससे सारे बन्धन कटके मुक्ति होती है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः" (७।२६।२)। यदि इस वचनसे पहलेवाले इसी २६वें खंडके ही वाक्य पढ़े जायँ या सारा प्रकरण देखा जाय तो साफ पता चलता है कि यहाँ आहार शब्दका अर्थ इन्द्रियोंके विषय ही उचित है, न कि भोजन। यही ठीक भी है। केवल भोजन तो ठीक हो और बाकी काम ठीक न रहे तो सत्त्वगुण या उस गुणवाले अन्तःकरणकी शुद्धि कैसे होगी और उसकी मैल कैसे दूर होगी ? तब तो खामखा रज और तमका धावा होता ही रहेगा। फलतः वे सत्त्व या सत्त्व-प्रधान अन्तःकरणको रह-रहके दबाते ही रहेंगे। इसीलिये चौदहवे अध्यायके अन्तमे गीतामे भी गुणोंसे पिंड छूटनेके लिये ऐसी चीजें बताई गई हैं जो भोजनसे निराली और विभिन्न विषय रूप ही है।

यह ठीक है कि जब अनशन करनेवाले लोग कहे कि इन्द्रियोंको वशमे करनेके लिये आत्मतत्त्व विवेककी जरूरत है नही; केवल निराहार होनेसे ही काम चल जायगा, तो उनके उत्तरमे इस श्लोकमे यह कहनेका सुन्दर मौका है कि हाँ, इन्द्रियाँ तो रुक जाती हैं जरूर। मगर रस या चस्का तो बना ही रहता है, जिसे राग और द्वेषके नामसे पुकारते हैं। इसीलिये तत्त्वज्ञानकी जरूरत है। क्योंकि वह रस तो उसीसे खतम होता है। इस प्रकार श्लोककी संगति भी बैठ जाती है। मगर यह संगति तो विषयोकी बात मान लेनेपर भी बैठ जाती ही है। क्योंकि हठी तपस्वी लोग एकदम निराहार तो नहीं हो जाते। शरीररक्षार्थ कुछ तो खाते-पीते हई। हाँ, कामचलाऊ मात्र ही स्वीकार करते और शीत-उष्णकी सख्तीके साथ सहके इन्द्रियोको बलपूर्वक रोक रखते है। आखिर उनका भी तो जवाब चाहिये। ऐसे ही लोग ज्यादा होते है भी। इसीलिये गीताने उनका और दूसरोंका भी उत्तर इसी श्लोकमें दिया है। राग और द्वेषको ही यहाँ रस कहा गया है। इन्हीका दूसरा नाम काम एवं क्रोध और भय तथा प्रीति भी है। इसे गीताने खासतौरसे संग कहा है।

इसीके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जरूरी माना गया है। वही योगका मूलाधार है। उसीके लिये सबसे पहले महान् यत्न करना जरूरी है। मगर कुछ लोग ऐसा गुमान कर सकते है कि आत्मज्ञान जैसी दुर्लभ चीजके लिये परीशान होने और मरनेकी क्या जरूरत है ? इन्द्रियोंके रोकनेका ही ज्यादेसे ज्यादा यत्न और अभ्यास करके यह काम हो सकता है कि वे आगे चलके कभी

भी विषयोंकी ओर न ताके। आखिर राग-द्वेष लाठीसे तो मारते नहीं। होता है यही कि उनके रहते इन्द्रियोंके लिये खतरा बना रहता है कि कभी विषयोंमें जा फसेंगी। यही बात न होनेका उपाय अभ्यास है। अभ्यास करते-करते ऐसी आदत पड जायगी कि अन्तमें विषय भूल जायँगे। मगर ऐसे गुमानवाले न तो इन्द्रियोंकी ही ताकत जानते हैं और न राग-द्वेषकी मोहनी और महिमा ही। यह राग-द्वेष ही ऐसी रस्सी है जो विषयोंको इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोंको मनसे जोडती है। जबतक यह रस्सी जल न जाये कोई उपाय नहीं। तबतक इन्द्रिय, खुद तो विषयोंमें जायँगी ही। मनको भी घसीट लेंगी। यही बात आगे यों कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय, पूरा समझदार पुरुषके (हजार) यत्न करते रहनेपर भी (ये) बेचैन कर देनेवाली इन्द्रियाँ मनको (अपनी ओर) बलात् खींच लेती है।६०।

इस श्लोकमें "पुरुषस्य विपश्चितः" कहनेका प्रयोजन यही है कि ऐरे-गैरेकी तो बात ही मत पूछिये। विवेकी और मुस्तद—मर्दाने—लोगोंकी भी दुर्गति ये बदजात इन्द्रियाँ कर डालती है। इसी तरह 'हरन्ति' शब्दका आशय यह है कि हमें पता नहीं लगने पाता और चुपकेसे मन उधर खिंच जाता है। हम हजार चाहें कि ऐसा न हो। मगर इन्द्रियाँ तो ललकार के ऐसा करती हैं और हमें पता तब चलता है जब एकाएक देखते हैं कि मनीराम गायब है!

इस बातका बहुत ही सुन्दर आलंकारिक वर्णन कठोपनिषद्के प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीमें इस तरह किया गया है। जब कोई भला आदमी घोडागाडीपर चढके पक्की सडकके रास्ते कहीं जाय तो उसे सजग रहके चलना तो होता ही है। नहीं तो घोडे कहीं बहक जायें और गाडी नीचे जा गिरे। उसकी यात्रामें वह खुद होता है। कोचवान, लगाम, घोडे, गाडी ये भी होते ही है। सडक भी होती है और उसके किनारे दोनों ओर अकसर नीचे और गहरे गढे भी होते हैं। यदि उस नीची जगहमें हरी घास लहलहाती हो तो क्या कहना! घोडे तो घासकी ओर जरूर ही जोर मारते हैं। उन्हें लक्ष्य स्थानपर पहुँचनेमें क्या मतलब? वह यह भी जरा समझने गये कि यदि नीचे उतरें तो गाडी और गाडीके मालिक वगैरहके साथ खुद भी उन्हें जख्मी होना या मरना होगा? उन्हें तो हरी घासकी चाट होती है, उसका चस्का होता है। बस, बाकी बात भूल जाती है। ऐसी दशामें यदि कोचवान जरा भी लापर्वा हुआ या ऊँघा और लगाम जरा भी ढीला हुई तो सारा गुड गोबर हुआ। रथ या गाडी के मालिकको भी पूरा सतर्क रहना होता है।

उपनिषद्मे आत्माको रथी या गाडीका मालिक और सवार करार देके बुद्धिको कोचवान—सारथी,—मनको लगाम—प्रग्रह—और इन्द्रियोको घोडेकी जगह माना है। शरीर ही रथ—गाडी— और संयतजीवन ही पक्की सडक मानी है। इस संयमसे हटना खंदकमे जाना है जहा इन्द्रियाके विषय लहलहाती घास है। लक्ष्य स्थान है निर्वाणमुक्ति या ब्रह्मनिष्ठा। जीवनकी लम्बी यात्रा तय करनी है। फलतः आत्मा यदि सतर्क न रहे, बुद्धिको ताकीद न करे कि लगामको कसके पकडो तो घोडे जरूर ही गढेमे जायँ और सबको चौपट करे। कितना सरस, पर कितना कामका, यह वर्णन है! इसीलिये वहाँ कह दिया है कि जिसकी बुद्धि चुस्त और मन कब्जेमे है वही जीवनयात्रा सकुशल पूरी करके विष्णुके परम पद—मोक्ष—तक पहुँच जाता है—

आत्मान रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचि।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायत ॥८॥
विज्ञान-सारथिर्यस्तु मनः-प्रग्रहवान्नर।
सोऽध्वन. पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

इसलिये इस विषयकी विषमताको समझके हमेशा सजग रहना ही होगा। तभी काम चल सकता है। इसीलिये आत्मज्ञानकी भी जरूरत है। यदि रथका मालिक ही जगा न हो तो खुदा ही खैर करे। तब तो सारा मामला ही चौपट। इसलिये—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सबो—इन्द्रियो—को रोक—कब्जेमे कर—के आत्मामे ही मनको रमाये हुए डँटा रहे। क्योकि (इस प्रकार) जिसके वशमे इन्द्रियाँ हो वही स्थितप्रज्ञ है।६१।

यहाँ 'मत्परः' में "मत्' का अर्थ साकार कृष्ण नहीं है। इसका तो प्रसंग हई नहीं। यहाँ तो आत्मज्ञानका ही प्रसंग है। इसीलिये ब्रह्म या परमात्मा रूपी आत्मासे ही यहाँ तात्पर्य है। कहते हैं कि, जिस प्रकार अत्यन्त चञ्चल और क्रियाशील भूतको शान्त करनेके लिये कभी किसी चतुर व्यक्तिने बहुत लम्बे बाँसपर लगातार चढने-उतरनेका काम उसे दिया था—क्योंकि वह उससे काम माँगता ही रहता था और इस तरह बेचैन कर डालता था, यहाँ तक कि झपकी मारने भी न देता था,—ठीक उसी तरह आत्मामें ही जब मन रम जाय—जब अन्तःकरणसे आत्मातक ही आने-जानेकी उसे इजाजत हो, न कि जरा भी इधर-उधर-तभी वह शान्त होता है। तभी इन्द्रियाँ भी कब्जेमें रहती हैं। इस मामलेमें कितना सतर्क रहनेकी जरूरत है, किस तरह लोग धोखा खा जाते हैं और नीचे जा गिरते हैं, पद-पदपर इसमें कितना खतरा है और अनजानमें भी जरासी रिआयत करनेसे किस तरह सब किये-करायेपर पानी फिर जाता है, इसका बारीकसे बारीक विवेचन और ब्योरा आगेके दो श्लोक यों करते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

विषयों—इन्द्रियोंके विषयों या भौतिक पदार्थों—का खयाल करते ही मनुष्यके (दिलमें उनके प्रति) राग या आसक्ति पैदा हो जाती है। रागसे (उनकी प्राप्तिकी) इच्छा होती है। इच्छासे क्रोध होता है। क्रोधसे जबर्दस्त अन्धकार जैसा मोह पैदा हो जाता है। उस संमोहका फल होता है हर तरहकी स्मृति—स्मरण या याद—का खात्मा। स्मृतिके खत्म हो जानेसे विवेक शक्ति जाती रहती है। विवेकशक्तिके चौपट हो जानेपर वह खुद चौपट हो जाता है।६२, ६३।

यहाँ जितनी बातें एकके बाद दीगरे कही गई हैं उनका क्रम क्या है और प्रक्रिया कैसी है, इसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। यह ठीक है कि जबतक किसी चीज का खयाल न हो उससे मन चिपकता नहीं, उसमें सटता नहीं। देखते हैं कि फोटोग्राफके प्लेट या पटरीपर उस हर पदार्थका बहुत बारीक असर (impression) पड जाता है जो उसके सामनेसे गुजरता है। इसीको संस्कार कहते हैं। यदि किसी सुगन्धित वस्तुको कहीं रख दें तो उसके हट जाने-पर भी उसका कुछ न कुछ असर रही जाता है। इसी तरह दिमागके सामने जो चीज आती है उसका भी असर उसपर पडता ही है। दिमाग तो भीतर है। इसलिये उसके सामने बाहरी चीजें इन्द्रियोंकी खिडकियोंसे ही होकर पहुँचती हैं।

सो भी वे खुद नही; किन्तु अन्तःकरण या मन हूबहू उन्हींके आकारका बनके भीतर लौटता है। इसी तरह वे दिमागके सामने आती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन्द्रियोंकी खिडकियाँ बन्द रहनेपर भी चीजोके आकारको मन दिमागके सामने खडा कर देता है। यह इसीलिये होता है कि पहले इन्द्रियोंके रास्ते कभी वे भीतर आई थी और अपना असर छोड़ गई थी। बस उसी असरके आधारपर मन उनका स्वरूप तैयार कर लेता है। इसीको खयाल, स्मरण, या ध्यान कहते है, चिन्तन कहते है। इन श्लोकोंमे पहली बात यही कही गई है।

उसका नतीजा यह होता है कि उन चीजोसे मनीराम लिपट जाते हैं, उनमें आसक्त हो जाते है, फिदा हो जाते है। यह ठीक है कि यह आसक्ति योंही नहीं हो जाती। कितनी हो चीजें रोज दिमागके सामने गुजरा करती हैं। मगर सबोंके साथ संग या आसक्ति कहाँ देखते है? हाँ, जो चीजे बार-बार सामने आ जायँ, जिनका बार-बार खयाल हो उनमे आसक्ति होती है। या ऐसा भी होता है कि यदि चीजमे कोई विलक्षणता हो तो पहली बार सामने आनेपर ही मनीराम उसपर लट्टू हो जाते है। यह बात वस्तुकी अपनी विशेषता और सामने आनेकी परिस्थितिपर ही अवलम्बित है। यही है दुनियाका तरीका। यही दूसरी बात यहाँ कही गई है।

आसक्ति होनेपर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा, आकाक्षा या तमन्ना होती ही है। उसीके लिये रास्ता साफ करना आसक्तिका काम है। इच्छाको ही काम भी कहते है। इसका दर्जा तीसरा है। यह असंभव है कि इच्छा होई न और आसक्ति योंही रह जाये।

कामके बाद क्रोधका दर्जा आता है—उसीका चौथा नम्बर है। जिसे काम या इच्छा न हो उसे क्रोधसे क्या ताल्लुक? उससे तो क्रोधका दर्शन भी न होगा। इच्छासे क्रोध योंही नही होता। किन्तु उसके मौके आते रहते है। इच्छित वस्तु न प्राप्त हुई, उसकी प्राप्तिमे देर हुई या बीचमे कोई जरा भी अडंगा आ गया, तो चट क्रोध उमड पडता है। इच्छा जितनी ही तेज होगी, क्रोध भी उतना ही तेज होगा और शीघ्र होगा भी। क्योंकि तब तो जरा भी बाधा या विलम्ब बर्दाश्त हो सकेगी नही। यह भी होता है कि मिली हुई चीज किसी वजहसे दूर हो जाती है, हट जाती है और क्रोध भड़क उठता है। तात्पर्य यह है कि बलवती इच्छाके बाद इच्छित पदार्थकी जुदाई, उसका पार्थक्य या अलग होना ही इच्छाको क्रोधमे परिणत कर देता है। जैसी इच्छा होगी वैसा ही क्रोध भी होगा।

यहाँ एक बात याद रखनेकी है। बहुत लोग गीताके "कामात्क्रोधोऽभिजा-

यते''का सीधा अर्थ ''कामसे क्रोध होता है'', करनेके बजाय बीचमें अपनी ओरसे पुछल्ला लगा देते हैं कि काम—इच्छा—की पूर्तिमें बाधा पड़नेसे क्रोध होता है। वे यह भी समझते हैं कि उनने अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया। मगर ऐसा करनेमें वह भूल जाते हैं कि गीताका असली अभिप्राय ही चौपट हो जाता है। गीताके काममे क्रोधकी उत्पत्ति सीधे ही कहनेका मतलब यही है कि क्रोधकी असल बुनियाद और अनर्थका मूल कामना ही है। इसलिये उसीको दूर करना होगा। उन लोगोंके अर्थमें यह बात—कामनाको ही अनर्थ बतानेकी बात—नहीं रह जाती है। क्योंकि ज्योंही उनने बाधाका नाम लिया कि सबने समझ लिया कि असली बला कामना नहीं है। क्योंकि कामना होनेपर भी तो खामखा क्रोध होता ही नहीं। वह होता तो है जब कामनाकी पूर्त्तिमें बाधा आ जाये। और अगर बाधा न आये तो? तब क्रोध क्यों होगा? इस तरह जो महत्व कामनाको मिलना चाहिये वही मिल जाता है बाधाको। फलतः कामनासे ध्यान हट जाता है—जैसा चाहिये वैसा खयाल कामनाके मुतल्लिक रहता नहीं। पीछे चाहे हजार कहें कि बाधा तो होती ही है, ऐसा तो संभव नहीं कि सदा हर हालतमें कामनायें पूरी हों, आदि आदि। मगर वह बात रह जाती नहीं—वह मजा और स्वारस्य रह जाता नहीं। और जब बाधायें अवश्यमेव आती ही हैं, तब उनके जिक्रकी जरूरत ही क्या है? गीताके तीसरे अध्यायके अन्तमें ''काम एष क्रोध एष'' में तो साफ ही काम और क्रोधको एक ही कहा भी है।

पाँचवीं श्रेणीमें मोह या संमोह आता है जो क्रोधसे पैदा होता है। मोह तो एक तरहका पर्दा है जो दिमागपर, विवेकशक्तिपर पड़ जाता है। जब वही पर्दा खूब जबर्दस्त और गाढ़ा हो तो उसे संमोह कहते हैं। हमारी आँखोंके सामने हजारों चीजें पड़ी हों और बीचमें पर्दा न हो तो हम सबको ठीक ठीक देखते, जिन्हें चाहते उन्हें चुन लेते, उनके बारेमें कुछ दूसरा खयाल करते और सोचते-विचारते हैं। मगर अगर बीचमें कोई पर्दा आ जाये तो यह सारी बात रुक जाती है। यही हालत दिमागकी भी है। युगयुगांतरकी देखी, सुनी और जानी हुई बातें संस्कारके रूपमें उसमें पड़ी रहती हैं। उनका एक तरहका सूक्ष्म चित्र पड़ा रहता है। समय-समयपर दिमाग उन्हें देखता, विचारता, चुनता और उनसे काम लेता रहता है। उन चीजों और उसके बीच कोई पर्दा नहीं होता। हाँ, नींद, नशा, बीमारी आदिके करते मोटा या महीन पर्दा कभी-कभी आ जाया करता है और ऐसा हो जाता है कि वे ओझल गईं। यही बात क्रोधके समय भी होती है। कहते हैं कि क्रोधमें आदमी अन्धा हो जाता है—उसे सूझता ही नहीं। इसका यही मतलब है। क्रोधका पर्दा बड़ा खतरनाक होता है। वह

बुरी तरह भटकाता और गुमराह करता है जिससे महान •अनर्थ हो जाता है। यह बात नींद वगैरहमें नहीं होती है। क्रोधमें तो इन्सान क्यासे क्या कर बैठता है। इसीलिए उसे संमोह कहा है। इसीलिए गीताके तीसरे अध्यायके अन्तके (३६-४३) आठ श्लोकोंमें इसी क्रोधको सभी पापोंका मूल कारण, महापाप, आवरण, कुंभकर्ण जैसा पेटवाला, असली शत्रु, आग और कभी पूरा न होनेवाला बताया है। उससे सुन्दर चित्रण हो सकता है नहीं। क्रोध होते ही दिमागमें भादोंकी घोर अँधेरी छा जाती है। "त्रिविधं नरकस्येदं" (१६।२१-२२) आदि दो श्लोकोंमें काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार तथा आत्माके नाशक कह दिया है।

संमोहसे स्मृतिका खात्मा हो जाता है और यही छठीं बात है। घोर अँधियालीमें सूझने क्यों लगा? अँधियालीका तो काम ही है कि किसी चीजका पता लगने न दे। स्मृति या स्मरणके भ्रंशका अर्थ इतना ही है कि स्मृति हमेशाके लिए खत्म न होके तत्काल जाती रहती है। यह तो कही चुके हैं कि दिमागमें सारी बातोंके सूक्ष्म चित्र हैं। वह भौतिक या बाहरी कान, आँख आदि तो है नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष अनुभव तो उन बातोंका होता नहीं। किन्तु वह स्मरण हो आती हैं। यही दिमागका देखना है और क्रोधके चलते यही हो पाता नहीं; रुक जाता है। जितनी बातें पहले देखी-सुनी, पढ़ी-लिखी या जानी थीं एककी भी याद नहीं हो पाती। सब चौपट!

इसका परिणाम यह होता है कि भले-बुरे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, आत्मा-अनात्मा आदिका विवेक हो पाता नहीं—यह विवेक-शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है और अपना काम कर पाती नहीं। यही सातवीं चीज होती है। विवेक या विचार है क्या चीज यदि जानी-सुनी बातोंका जोड़-बटोर और मिलान नहीं है? समय समयपर सभी तरहकी बातें हम जानते रहते हैं और उनका संस्कार दिमागमें पड़ा रहता है। कभी कुछ जानते तो कभी कुछ। एक बार एक चीज जानते; तो दूसरी बार दूसरी और कभी-कभी पहलेकी विरोधी। एक लम्बी बातका एक अंश आज, एक कल, दो परसों इस तरह भी जानते रहते हैं। एक दिन जिसे सही जानते हैं, दूसरे दिन उसीको अंशतः या पूरा-पूरा गलत जानते हैं। ये सारी जानकारियाँ—सारी बातें—फोटोकी तख्तीपर के चित्रकी तरह दिमागमें पड़ी रहती हैं। दिमागका यही काम है कि समय-समयपर इन्हें जोड़-बटोरकर—इन्हें स्मरण करके—एकत्र करके—और काट-छाँटके एक नई बात, नई चीज, नया निश्चय तैयार करे। इसे ही विवेक कहते हैं। विवेकका अर्थ है काट-छाँट, जोड़-बटोर करना, चावलको भूसे से जुदा करके राशि बनाना। मगर

जब जानी-सुनी बातें याद ही नहीं, उनकी स्मृति ही नही, तो विवेक कैसे होगा? तब अकल और बुद्धि कैसे होगी—समझ क्योंकर होगी? इस तरह भौतिक पदार्थोंका ही विवेक जब नही हो पाता, तो फिर आत्माका विवेक और उसका तत्त्वज्ञान कैसे होगा? वह तो गहन विषय है। इसलिये उसके सम्बन्धकी बातों-का जाना सुना जाना तो और भी लापता हो जायगा, उड जायगा, खत्म हो जायगा।

और जब बुद्धि ही नही तो मनुष्य को चौपट ही समझिये। यही आठवीं और अन्तिम बात है। अब बाकी रही क्या गया, जब चौपट ही हो गये? पत्थर, वृक्ष और पशु-पक्षियोंसे मनुष्यमें यही तो फर्क है कि यह बुद्धि रखता है, समझदार है—rational being—है और भले-बुरेका विचार करता है, कर सकता है। मगर जब इसमें यही बात न रह गई तो मनुष्य क्या खाक रहा? तब तो चौपट होई गया।

अब सवाल यह होता है कि तो आखिर किया क्या जाय? अगर किसी चीजका खयाल न करे तो क्या पत्थर बन जाये? यों तो खयाल करनेपर पीछे देरसे पत्थर बननेकी नौबत आती है, जैसा अभी कहा है। बल्कि खामखा पत्थर बन जानेकी भी नौबत नही आती है। हाँ, मनुष्यता जरूर चली जाती है। मगर यदि खयाल करे ही न, तब तो सोलहों आना पत्थर बनी चुके। और अगर ऐसा नही करते तो शरीर-रक्षा एवं जीवन-यात्रा करते हुए मनुष्यताकी भी रक्षा करनेका कोई बीचका रास्ता नजर आता नही। आखिर विवेकीके लिये भी तो शरीर, इन्द्रियादिकी रक्षा जरूरी है। नहीं तो विवेक-विचार वह करेगा क्या खाक? मगर इसके लिए तो पदार्थोंका खयाल जरूरी हो जाता है। आखिर भूख लगनेपर ही तो खायेगा और प्यास लगनेपर पानी पियेगा। मल-मूत्रादिका त्याग भी बिना खयालके होगा नहीं। उधर खयालमें आसक्तिका खतरा ही ठहरा। तो फिर किया क्या जाय? इसीका उत्तर—इसी पहेलीका समाधान—आगेके दो श्लोक इस तरह करते है—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

राग और द्वेषसे शून्य तथा अपने कब्जेमें रहनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा (आवश्यक) विषयोंको भोगनेवाले पुरुषका तो मन अपने अधीन रहनेके कारण (चित्तकी) प्रसन्नता (ही) प्राप्त होती है। प्रसन्नता होनेपर इस (मनुष्य) की सारी तक-

लोपसे खत्म हो जाती है। क्योंकि प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही सर्वथा स्थिर हो जाती है। ६४।६५।

यहाँपर कई बाते जानने योग्य है। पदार्थोके खयाल या संसर्ग मात्रसे ही कुछ होता जाता नहीं। विरागी पुरुष भी तो आखिर खाता-पीता और जीवन-यात्रा करता ही है। उसके दिमागके सामने भी पदार्थ आते ही रहते हैं। मगर वह तो चौपट होता नहीं ? क्यों ? इसीलिए न, कि पूर्व कथनके अनुसार उसके भीतर पदार्थोके लिए रस नही है, संग और आसक्ति नही है, राग द्वेष नहीं है ? वह तो पदार्थोसे उदासीन रहता है। केवल अनिवार्य आवश्यकतासे ही उनसे काम लेता है। मलमूत्र त्यागका ही दृष्टान्त लें। हर आदमीके लिए यह प्रतिदिन जरूरी बात है। मगर क्या कभी ऐसा भी देखा-सुना गया कि कोई आदमी मलमूत्र त्यागमे आसक्ति रखता हो ? ऐसा तो कभी होता नही। क्यों ? इसीलिए न कि मजबूरन लोगोंको यह काम करना ही पडता है। नही तो शरीर रहेई न ? अनिवार्य आवश्यकताके अतिरिक्त इस काममे और कोई वजह होती ही नही। इसीलिए उसमे फँसनेका सवाल उठता ही नही। वैराग्ययुक्त विवेकी पुरुष ठीक इसी तरह खानपान वगैरह भी करता है। उसकी नजरमे मलमूत्र त्याग और खानपान आदिमे जरा भी अन्तर नही है—दोनों ही शरीर-रक्षाके लिये अनिवार्य है। उसे न तो मलमूत्रमे राग-द्वेष है, आसक्ति है, चस्का है और न खानपान आदिमे ही। फिर वह फँसेगा क्यो ? बस, यही बात हमे करनी होगी यदि हम भी कल्याण चाहते है, चौपट होना नही चाहते और सभी अनर्थोंसे बचना चाहते है। "रागद्वेषवियुक्तैः" मे जो वियुक्त शब्द है वह यही बात बताता है कि हम इन बातोमे जरा भी चसके न लिपटे न, जैसा कि मलमूत्र त्यागमे नही लिपटते।

पहलेके ६०वे श्लोकमे "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि" आदि उत्तरार्द्धमे यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ पुरुषको बेचैन कर देती है, मथ देती है जैसे मथानीसे दही मथा जाय और मनको जबर्दस्ती खीच ले जाती है। मथनेकी बात हम "व्यथयन्ति"की व्याख्यामे बखूबी बता चुके है। उसका उलटा यहाँ कह दिया है कि "आत्मवश्यैः"—अर्थात् इन्द्रियाँ अपने काबूमे हो जाती है, अपने मनके अधीन रहती है। आत्माका अर्थ स्वयं और मन दोनो ही है। जब चस्का और रागद्वेष नही है, तो इन्द्रियोंको यह शक्ति होती ही नही कि मनको खीच सकें। क्योंकि वही तो रस्सी है जिनके द्वारा उनके साथ मन जुटा है। इसीलिये जब चाहती है उसे अपनी ओर खीच लेती है। मगर वह रस्सी ही अब गई है टूट। फिर हो क्या ? मगर मनीराम कौनसे भले है ? यह हजरत तो खुद इन्द्रियोंकी

पीठ ठोंकते और ललकारते फिरते हैं कि वाहवाह, खूब किया। ऐसी दशामें यदि इन्द्रियाँ इनके हाथ आ गई तो इन्हे तो मजा ही हुआ। अब पीठ ठोंकनेमें और भी आसानी जो होगी। इसीलिये कह दिया है कि "विधेयात्मा"। असल मे मनोराम यह काम जरूर करते। मगर वे तो खुद परीशान हैं। वे आत्माके सोलह आने कब्जेमे जो है। इसीलिये कुछ कर नही सकते। कहाँ तो "आ फंसे" वाली हालत है। असलमे राग-द्वेषके खत्म होते ही सारी परिस्थिति ही उलट जाती है। कहते हैं कि किसी ऊँटनीका बच्चा उसके साथ चलते-चलते जब थक गया तो माँसे गिडगिडाके बोला कि माँ, जरा ठहर जा। बहुत थक गया हूँ। थोडी दम तो मार लूँ। इसपर ऊँटनीने उत्तर दिया कि बेटे, मै भी क्या कम थकी हूं? मै भी तो दम मारना चाहती हूं। मगर मेरी नकेल दूसरेके हाथ जो है और वह दाढोजार रुकना नही चाहता। इसलिये बेबसी है। बस, ठीक यही हालत मन और इन्द्रियोकी है। जब ये मनसे पूछती है कि क्यो भई, हुक्म दो तो जरा मजा ले, तो मनोराम चट कह बैठते है कि बोलो मत बहनो, बडी बेबसी है, सारा मजा किरकिरा है। वह और भी बिगड जायगा।

इस तरह पहले श्लोकके स्पष्टीकरणके बाद इसके तथा दूसरेके 'प्रसाद' और सब दुःखोकी हानिकी बात रह जाती है। दुनिया का नियम यही है कि कोई भी अच्छेसे अच्छा और बडेसे बडा काम करनेके बाद यदि मनस्तुष्टि या चित्तकी प्रसन्नता न हो तो वह काम बेकार माना जाता है और सारा परिश्रम व्यर्थ ही समझा जाता है। विपरीत इसके अगर उसके बाद प्रसन्नता हो गई, तबीयत खुश हो गई तो सब किया दिया सफल माना जाता है। उससे निष्कर्ष निकलता है कि असली चीज भला-बुरा काम नही है, किन्तु उसके अन्तमे होनेवाली मनस्तुष्टि ही, जिसे यहाँ प्रसाद कहा है और "प्रसन्नचेतस" मे प्रसन्नता भी कहा है। दोनोका अर्थ एक ही है।

बात यों है कि वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार हृदयमे या अन्तःकरणमे आत्माका लहलहाता प्रतिबिम्ब मानते है। जैसे साफ-सुथरे दर्पणमे मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है और उसे देखके हम खुश या रंज होते है जैसा मुख प्रतीत हो। ठीक उसी तरह सत्त्वप्रधान अन्तःकरणका दर्पण भी चमकदार है। उसीमे आत्माका प्रतिबिम्ब मानते है। आत्माको आनन्द स्वरूप भी मानते हैं। वह आनन्दका महान् स्रोत है। इसीलिये आत्माके प्रतिबिम्बका अर्थ है उसके आनन्दसागरका प्रतिबिम्ब। जो लोग उसका अनुभव करते है वह आनन्दमे मस्त रहते है—उसीमे गोते लगाते रहते है। वेदान्ती यह भी मानते है कि आनन्द या सुख तो केवल आत्मामे ही है। केवल वही आनन्दरूप है। भौतिक पदार्थोमें सुखका लेश भी नहीं है, "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दोग्य० ७।२३।१)।

लेकिन जिस तरह जलमे पडा प्रतिबिम्ब तभी दीखता है जब जल निश्चल एवं निर्मल हो; जरा भी हिलता डोलता न हो। वैसे ही आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब तभी अनभवमे आता है जब अन्त करण निर्मल और निश्चल हो। आईना मैला और बराबर नाचता हो तो प्रतिबिम्ब दिखेगा कैसे ? इसीलिये योगी और आत्म-दर्शी लोग बराबर ही चित्तकी शान्ति और निर्मलताकी कोशिश करते है। गीताने भी इस बातपर सबसे ज्यादा जोर दिया है। रागद्वेष आदि ही चित्तकी मैल हे। उसकी चचलता तो सभीको विदित है। क्षण भरमे दिल्लीमे कलकत्ता और वहाँसे तीसरी जगह जा पहुँचता है। कही भी टिकना तो वह जानता ही नही। बन्दर या पारेसे भी ज्यादा चंचल उसे कहा गया है। बिजलीसे भी ज्यादा तेज वह दौडता है।

अब रही विषय सुख या भौतिक पदार्थोसे मिलनेवाले सुखकी बात। वेदा-न्तियोका इसमे कहना यही हे कि जब मनुष्यको किसी चीजकी सबसे ज्यादा चाह होती है तो वह दिन-रात उसीका खयाल करता रहता है। इस प्रकार उसका मन एकाग्र हो जाता हे। फलतः अन्त.करणकी चंचलता दूर हो जानेके कारण उसमे आत्मानन्दका लहलहाता प्रतिबिम्ब नजर आता है। मगर मन निश्चल एव एक ही जगह बँधा होनेपर भी बाहरकी उसी चीजमे लगा है जिसकी चाह या प्रचण्ड अभिलाषा हे। इसीलिये उस आत्मानन्दको अनुभव कर नही सकता, उसे देख या जान नही सकता। वह बाहर जो टँगा है। भीतर आ जो नहीं सकता। मगर ज्योही वह चीज मिली कि चट भीतर लौटा और उस आत्मानन्दका अनुभव करके मग्न हो जाता है। इस तरह उसे जिस आनन्दका अनुभव होता है वह तो आत्मानन्द ही है। फिर भी अभिलषित पदार्थके मिलने-पर ही उसका अनुभव होनेके कारण ऐसा भ्रम हो जाता है, ऐसा माना जाने लगता है कि उस पदार्थमे ही आनन्द है। उस पदार्थके ही चलते मन—अन्तः-करण—का एकाग्रता हुई है जरूर। इसीलिये आत्मानन्दका अनुभव भी हुआ है। इसीलिये उस विषयको आनन्दके अनुभवका सहकारी कारण भले ही माना जाय। मगर उसमे आनन्द तो हर्गिज नही है। ऐसा मानना तो सरासर भ्रम है। आनन्द तो केवल भूमामे है—महान्मे भी महान् पदार्थ रूपी आत्मामे ही है।

यही कारण हे कि एक ही चीजमे एक आदमीको आनन्द मिलता है और दूसरेको नही। यदि आनन्द उस वस्तुका स्वभाव होता, उस वस्तुमे ही रहता तो अग्निकी गर्मीकी तरह सबोको समान रूपसे ही उसका अनुभव होता। परन्तु ऐसा होता नही। खूब भूखे आदमीको भरपेट सत्तू या सूखी रोटी खिलाइये तो वह आनन्द-विह्वल हो उठता है। लेकिन अमीरको तो वही चीजें देखके भी

कष्ट होता है, खानेकी तो बात ही जाने दीजिये। यदि भौतिक पदार्थमें ही आनन्द होता तो ऐसा कदापि न होता। इसी तरह वही हलवा-पूड़ी भूखेको खिलाइये और पेटभरोको भी। भूखे तो खाके आनन्दसे लोटपोट हो जायँगे। मगर पेटभरे लोग आनन्द मनाने या खुश होनेके बदले उसमें हजार ऐब ही निकालेंगे कि पूडी जरा नर्म मिली, खर न थी, घी अच्छा न था, सूजी खराब थी, कुछ अच्छी गन्ध आती न थी, मालूम होता है चीनी खाँटी न थी, घी शुद्ध न था, आदि आदि। क्यों? इसीलिये न, कि भूखेका मन और अन्तःकरण उस अन्नकी रट लगाये एकाग्र था, निश्चल था; फलतः उसे पाते ही उसने आत्मानन्दका उक्त रीतिसे पूर्ण अनुभव किया? मगर पेटभरोंका मन तो एकाग्र था नही। क्योंकि हलवा-पूड़ीकी रट थी नही। उनका पेट जो भरा था। इसीलिये वह चीज मिलनेपर भी उनमें कोई फर्क न हुआ। इसीलिये उनका मन आत्मानन्दका अनुभव कर न सका। वह तो बन्दरकी तरह पहले भी दौडता रहा और खानेके समय एवं उसके बाद भी। फिर आत्मानुभव हो तो कैसे? वह आनन्द मिले तो कैसे?

देखा जाता है कि सूखी हड्डीको कुत्ता चबाता है। उसमे कुछ रस तो होता नही। केवल हड्डीकी महकसे कुत्तेको खयाल होता है कि जिस तरह ताजी और रसीली हड्डीमे खूनका रस मिलता है उसी तरह इसमे भी मिलेगा। इसीलिये खूब जोरसे उसे चबाता है। जब कुछ नही मिलता तो और भी जोर लगाता है। नतीजा यह होता है कि हड्डीकी नोकोमे उसके जबडे छिल जाते है और उनका खून हड्डीमे टपक पड़ता है। कुत्ता उसीको चाटके खुश होता है। फिर तो पहलेसे भी ज्यादा जोर लगाता है। फलतः और भी जख्म होते है जो ज्यादा खून टपकाते हैं। यही बात देरतक चलती है जबतक वह थकके छोड नही देता। कुत्ता अपने ही खूनको मिथ्या हा हड्डीका समझके खुश होता है। क्योकि अपने खूनका स्वाद उसे उस हड्डीके ही बहाने मिल पाता है। इसीसे उसे भ्रम होता है कि हड्डीमे ही खून है। ठीक इसी तरह हरेक आदमी हमेशा मौका पडनेपर अपने ही आत्मानन्दका अनुभव करता है। मगर स्वतंत्र रूपसे ध्यान और समाधिके द्वारा वह आनन्द लूटनेका शऊर तो उसे होता नही। वह तो विषयोंके बहाने ही उसे कभी-कभी लूटता है, उसका अनुभव करता है। इसीलिये उसे भ्रम हो जाता है कि विषयों—भौतिक पदार्थो—मे ही सुख है। उसे अनुभव भी उस आत्मानन्दके एक तुच्छ कणका ही हो पाता है क्योंकि जरासी देरके बाद ही उसका मन फिर चंचल जो हो जाता है। वह उसमें डूब तो सकता नही। इसीलिये वृहदारण्यकके चौथे अध्यायमे लिखा है कि इसी परमानन्दके एक छींटेसे

सारे संसारका काम चलता है—"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (४।५।३२)।

इस लम्बे विवेचनसे यह साफ हो गया कि चित्तकी प्रसन्नता ही असल चीज है। उसके होते ही परमानन्दका अनुभव होने लगता है। फिर तो संसारके सारे कष्ट भाग जाते हैं। मन तो एक ही होता है न? और जब वही आत्मानन्दमें डूब चुका तो दुःखोंका अनुभव कौन करे? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम संग कौन भजै जगदीस"? और जब अनुभव होता ही नहीं, तो दुःख रही क्या चीज? वह अन्न-वस्त्रादि की तरह कोई स्थायी या ठोस चीज तो है नहीं? वह एक विलक्षण प्रकारकी मानसिक वृत्ति ही तो है, जिसका अस्तित्व उसके अनुभवके साथ ही रहता है। अनुभवके बिना वह लापता रहता है, लापता हो जाता है। इस तरह जब मन आत्मानन्दमे डूबा है तो दुःखरूपी उसकी वृत्ति भी हो इसका मौका ही कहाँ रहा? इसकी फुर्सत ही कहाँ रही? जब आत्मज्ञानी या योगी रागद्वेषमें बधता नहीं तो उसके मनकी एकाग्रता हमेशा ही बनी रहती है। उसमें बाधा तो कभी पड़ती नहीं। वह निरन्तर अविच्छिन्न रहती है। इसीलिये आत्मानन्दका अनुभव भी निरन्तर अविच्छिन्न रहता है। मन वशमें है यह तो 'विधेयात्मा'से स्पष्ट ही है इसीलिये कह दिया है कि सभी तकलीफोंका खात्मा हो जाता है। न तो मानसपटलकी गंभीरता कभी भंग होती है और न यह बला आती है। इसी अविच्छिन्न गंभीरताका ही नाम प्रसाद है।

जिनने गौरसे "ध्यायतो विषयान्" आदि दो श्लोकोंको पढ़के उसी तरह बादके "रागद्वेषवियुक्तैस्तु" आदि दो श्लोकोंको भी पढ़ा होगा उन्हें साफ पता लगा होगा कि पहले दो श्लोकोंमें जो बात शुरू की गई थी कि रागद्वेषादिके वशीभूत होनेसे कैसी दुर्गति होती है, उसीके बीचमें ही बादवाले दो श्लोकोंके जरिये सिर्फ एक शंकाको दूर किया गया है जो उठ खड़ी हुई थी और जिसका स्वरूप हम अच्छी तरह बता चुके हैं। वह शंका एकाएक उठ गई और मौजूं भी थी। इसीलिये अपनी बात पूरी न करके पहले उसीका उत्तर देना जरूरी हो गया। तभी तो श्रोता आगेकी उस प्रधान विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें अच्छी तरह सुन सकेगा। इसीलिये बादवाले श्लोकोंके शुरूवाले शब्दके साथ ही 'तु' जुटा हुआ है। इसका अर्थ 'तो' होता है। यह वहीं आता है जहाँ बीचमें ही कोई दूसरी या उलटी बात प्रासंगिक रूपमें खड़ी हो जाय और जिसका उत्तर देना जरूरी हो जाय। ऐसी बात आगे भी गीतामें "यस्त्वात्मरतिरेव" (३।१७) आदि श्लोकोंमें आई है। इसीलिये असली प्रसंग अभी पूरा नहीं हुआ है यह तो मानना ही पड़ेगा।

जो लोग ऐसा समझते हों कि वह प्रसंग तो पहलेके उन दोई श्लोकोंमें पूरा हो गया उन्हें जरा भी सोचनेपर अपनी भूल मालूम हो जायगी। देखिये न? उन दोनोंके अन्तमें यही तो कहा जाता है—"बुद्धिनाशात्प्रणश्यति"। मगर क्या अर्थ है? अगर पत्थरमे बुद्धि नहीं है तो क्या वह चौपट हो गया? ऐसा कौन मानता है? विपरीत इसके बुद्धि न होनेसे ही तो उसे तकलीफ-आराम किसी बातका अनुभव नही होना। यह तो मानते ही है कि यह अनुभव ही तो संसार है, आफत है, बला है, बुरी चीज है। आनन्दका अनुभव तो होता भी शायद ही है। होता तो है अधिकतर कष्टका ही। इसलिये इस दृष्टिसे तो पत्थर अच्छा ही ठहरा। और आत्मा तो सर्वत्र है, सबोंकी है यह कही चुके है। फिर पत्थर उससे जुदा कैसे माना जायगा? इसलिये चौपट होनेका मतलब क्या?

और क्या पागलोंमें मस्ती नहीं होती? उनकी समझ चली गई और वे सभी आफतोंसे अलग हो गये! मौजमें विचरते फिरते है! नंगे है तो भी फिक्र नहीं है! गालियाँ पड रही है या आशीर्वाद मिल रहा है। मगर लापर्वाह और बेगम है! फिर यह कैसे कहा जाय कि बुद्धि या समझके चले जानेसे ही मनुष्य नष्ट हो जाता है? यह भी नहीं कि पागल लोग फौरन मर जायें। वे तो बहुत दिनों तक पड़े रहते है, जैसे दूसरे लोग। हाँ, यह जरूर होना है कि सभी रोग-बीमारियाँ लापता हो जाती है। लेकिन यह तो मनमाँगा वरदान ही समझिये।

एक बात और भी है। माना कि रागद्वेष छोडके और उनके फंदेमें हर्गिज न पड़के ही शरीरोपयोगी पदार्थोका सेवन करना चाहिये। मगर क्या इतनेसे ही सब आफतें खत्म हो जायँगी? जन्म-जन्मान्तरके संस्कार और रागद्वेषोंके बीज तो अन्तःकरणमे पडे ही रहते है। वह एकाएक तो चले जाते नहीं। इस शरीरमे भी अभी-अभी हमने आसक्ति छोड़के पदार्थोका सेवन शुरू किया है। मगर इससे पहले तो यह बात थी नहीं। तब तो आसक्ति थी ही। उसीके करते दिमागमे पहलेके पदार्थ बैठे है जो खामख्वा उमड पड़ेगे और दिक करेंगे। आखिर सपनेकी तकलीफें ऐसी ही तो होती है। दिमागमें बीजरूपमें पडे पदार्थ ही तो सपनेमें उभड़के जाने कौन कौनसी आफते ढाते रहते है। रागद्वेष रहित होके खानपान करनेवालेके भी ये सपने कायम ही रहते है। वे एकाएक तो मिट जाते नहीं। फिर क्या हो? यह गन्दगी धुले कैसे? मिटे कैसे? किस साबुनसे अच्छी तरह रगड़के धोई जाय? यह तो हजारों जन्मोंकी पुरानी मैल है न? इसीलिये इसे हटानेमे बहुत ज्यादा मिहनत, बारबारकी लगातार रगड़ दरकार होगी। सो क्या है यह तो मालूम है नही।

और जो यह कह दिया कि स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता है—

"स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः", इसके क्या मानी है ? क्या सचमुच ज्ञान रही नहीं जाता और आदमी पत्थर हो जाता है ? यह बात तो ठीक नही । क्रोधके बाद भी आदमी तो आदमी ही रहता है । रोज ही यह बात देखी जाती है । फिर पत्थर होनेकी कौनसी बात ? और अगर यह नही है तो बुद्धिके नाशके मानी भी क्या है ? किस क्रोधीकी बुद्धि खत्म हो जाती है ? थोडी देरतक खास ढगका कोई पर्दासा पडा रहता है । मगर पीछे तो पीछे, उस समय भी समझदारीके दूसरे काम तो वह करता ही रहता है । आखिर उस समय भी उसके सभी काम पागलो जसे ही होते नही । यह ठीक है कि वह कुछ काम उस समय बेविचारके—विवेकशून्य—कर डालता है जिससे मुसीबते बढ जाती है । इसी तरह बढती रहती है भो । मगर इसे बुद्धिनाश तो कभी नही कह सकते । उसकी बेचैनी और परीशानी जरूर बढ जाती है, इसमे कोई शक नही है । इसके करते यह भी संभव है, उसे आराम न मिले । ऐसा ही प्रायः होता भी है । बेचैनी और परीशानीकी आग बढ जानेपर चैन कहा ? आराम कहा ? मगर वह चौपट नही होता । उसे बुद्धि भी रहती ही है ।

इस तरहकी अनेक बातोके रहते ही, और सुननेवालेके मनमे इस प्रकारकी शंकाओके बनी रहनेपर भी यह कह देना कि मूल प्रसंग पहले दो श्लोकोंमे ही पूरा हो गया, कोई मानी नही रखता । इसीलिए आगेके श्लोक उसी बातको पकडके यही बाते खुद पेश करते और इनसे बचनेके उपाय सुझाते है । हमे यहीपर यह जान लेना होगा कि जो कुछ अभी कहा गया है अगले श्लोक उसे मानते है । बुद्धिनाशका वही मतलब है जो अभी कहा गया है । उस समय विवेकसे काम लिया जा सकता नही । इस तरह बेचैनी और मुसीबते बढती जाती है । और जो आदमी मुसीबतोमे घिरा है वह तो मरनेसे भी बदतर है । उससे तो मरा कही अच्छा । अशान्त जीवन तो जहर ही समझिये, चौपट ही मानिए । आखिर शान्ति ही तो असल चीज है न ?

आगेके श्लोकोने जन्मजन्मान्तरके पुराने संस्कारो और रागद्वेषके बीजोको जलानेके लिए—इस गहरीसे गहरी गन्दगीको मिटानेके लिए—जिस नये साबुन-का नाम लिया है, जिस लगातार चिरकालीन रगडका आविष्कार किया है उसे भावना कहते है । यही नाम उसे दिया भी है । जैसे रंगको गाढा करके कपडेपर चढानेमे कपडेका रह-रहके रंगमे डुबोते और सुखाते है । सोनेको भी रह-रहके गर्म करके पानीमे डुबाते और इस तरह उसे टंक बनाते है । मामूली लोहेको भी बार-बार आँच देके पीटते और पानीमे डुबाते है ताकि इस्पात हो जाय । -ठीक यही बात रागद्वेषादि मैलोंको धो बहानेके लिए भी की जाती है, करनी

पड़ती है। बार-बार सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करके मनको रोकते और आत्मतत्त्व-में ही लगाते हैं। हर मौकेपर सजग रहके यही करते हैं। इसे ही पातंजल योगमें ध्यान, धारणा और समाधि कहा है। इन तीनोंको मिलाके संयम नाम दिया है—"त्रयमेकत्र संयमः" (३।४)। गीताने भी आगे "संयमी" (२।६९) में यही कहा है। इनमें ध्यान नीचे दर्जेकी चीज है। उसके बाद धारणा आती है। ध्यान करते-करते मजबूती आनेपर धारणा और उसकी मजबूती होनेपर समाधिका समय आता है। इन तीनोंके पूरा होनेपर—संयमकी पूर्णता हो जानेपर—अन्तःकरणकी, बुद्धिकी सारीकी सारी युगयुगान्तरकी मैल जल धुल जाती है। फिर तो वह निर्मल हीरेकी ही तरह धप्-धप् हो जाती है। इसके बाद अखंड विज्ञानका व्यापक एवं सनातन—अचल—प्रकाश होता है। इसीलिए पतंजलिने भी कहा है कि—"तज्जयात् प्रज्ञालोकः" (३।५)। उस प्रचण्ड प्रकाश—उस द्वादश आदित्य के सामने अज्ञान और अन्धकारका पता कहाँ ?

इसी संयम, इसी भावनाके करते मन आत्माके ही रंगमे रंग जाता है—कभी भी इधर-उधर टससे मस नही होता। उसमें अब ऐसा करनेकी योग्यता एवं शक्ति ही नहीं रह जाती है। इसीलिये निर्वात समुद्रके जलकी तरह एकरस, गंभीर ओर शान्त रहता हे। उसकी यह निश्चलता, निष्क्रियता, शान्ति अखंड हो जाती है। फलतः योगी उसमे लहलहाते आत्मानन्दका अनुभव दिनरात सोने-जागते करता ही रहता है। एक क्षणके लिये भी उसके सामनेसे वह आनन्द—वह मजा—ओझल हो पाता नही, हो सकता नही। मगर जो यह नही कर सकता है; जिसे भावनाका अवसर नहीं मिला वह हमेशा बेचैन और परीशान रहता है, अत्यन्त अशान्त रहता है। फिर उसे सुख कहाँ ? उसे सुख मयस्सर क्यों हो ?

हमे यह भी जान लेना होगा कि इस भावनाके लिये विवेककी तो जरूरत हुई। वही तो इसके मूलमे है। जबतक हमें बखूबी आत्मतत्त्वका और रागद्वेषा-दिका पता न चल जाय और यह न मालूम हो जाय कि इनमे कैसे फंसते है तब-तक हम मनको रँगेगे कैसे ? तबतक उसे सब आफतोंसे खीचके आत्मा या कर्ममें ही लगायेगे कैसे ? सभी बाते जान लेनेपर ही तो आगे कदम बढायेंगे। इसीलिये भावनाके पहले बुद्धि या विवेक जरूरी है। रँगरेज रँगनेकी सारी प्रक्रिया अच्छी तरह जबतक न. जाने सुन्दर रंग चढ़ायेगा कैसे ?

मगर यही बुद्धि चौपट होती है जिस रीतिसे उसीका वर्णन पहले "ध्यायतो विषयान्"में किया गया है। इसलिये वहाँ कहे गये विषयोंके खयालसे लेकर स्मृति-विभ्रमतककी सारी बातें, जिनका परिणाम बुद्धि नाश है, एक ही जगह मिलाके योगभ्रष्टता कहते है। छठे अध्यायमे जिस योगभ्रष्ट और योगभ्रष्टताको

बात कही गई है वह भी कुछ इसी तरहकी चीज है। इसमें पातंजल योग भी भले ही आ जाय। मगर यह तो हुई, यह बात पक्की है। यदि हम गौरसे उन सभी बातोंको देखें जो इन दो श्लोकोंमें लिखी हैं तो हमें मानना ही होगा कि जो लोग गीतोक्त योगी नहीं होते हैं, मुक्त नहीं होते हैं, किन्तु उस स्थानसे गिर पडते और पतित हो जाते हैं—च्युत और अयुक्त हो जाते हैं, उन्हींमें ये बातें अक्षरशः पाई जाती हैं। फलतः उन्हें बुद्धि होती ही नहीं। फिर भावना कैसी? भावनाके अभावमें शान्ति भी कहाँ? और जब शान्ति ही नहीं, तो सुख कैसा? आनन्द कहाँ? यही बात आगेके ६६वें श्लोकमें कहनेके उपरान्त बादवाले दो श्लोकोंमें इसीका विवरण देके उपसंहार किया है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अयुक्तको बुद्धि ही नहीं होती। जिसे बुधि ही न हो उसे भावना भी नहीं होती। जिसे भावना न हो उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसे शान्ति ही नहीं उसे सुख कहाँ? ६६।

यहाँ एक जरासी बात सोचनेकी है। श्लोकके देखनेसे पता चलता है कि यहाँ कोई शृंखला है जिसकी लड़ें एकके बाद दीगरे आई हैं। यदि नीचेसे ही शुरू करें तो सुखके पहले शान्ति तथा उसके पहले भावनाकी तीन लड़ें मिल जाती हैं। शुरूमें भी योगके बाद बुद्धिके आनेमें योग और बुद्धिकी भी लड़ें जुटती हैं। मगर बीचमें "न चाबुद्धस्य भावना" कहनेके बजाय "न चायुक्तस्य भावना" कह दिया है, जिससे बुद्धिके साथ भावनाकी लड़ी जुट जानेसे आगे भावनासे शान्तिकी जुटान आदि को लेके पूरी शृंखला तैयार हो जानेके बजाय टूटसी जाती है, प्रसंग विशृंखल हो जाता है। यह कुछ ठीक जचता भी नहीं कि योगका बुद्धिसे और बुद्धिका ही भावनासे सीधा सम्बन्ध जोड़नेके बजाय योगका ही सीधा सम्बन्ध दोनोंसे जुटे। यह असंभवसा भी लगता है। क्योंकि यदि योग जुट चुका है बुद्धिके साथ, तो फिर भावनासे कैसे जुटेगा? और अगर ऐसा मानें भी तो फिर शान्ति और सुखके साथ भी उसीको सीधे क्यों न जोड़ा जाय? इसीलिये हमने दूसरे अयुक्त शब्दका अबुद्ध ही अर्थ किया है और कहा है कि बिना बुद्धिके भावना होती ही नहीं। असलमें, जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, योगमें भी बुद्धि ही वास्तविक चीज है। इसीलिये "बुद्धियोगाद्धनंजय" (२।४९) में बुद्धिको ही योग कहा भी है। इसीलिये जान पड़ता है, यहाँ भी 'अबुद्धस्य' की जगह 'अयुक्तस्य' कह दिया है। ताकि बुद्धिपर ही जोर दिया जा सके।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि (विषयोंमें) रमनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जब मन लग जाता—चल जाता—है तो (अपने साथ ही) बुद्धिको भी (विवश करके) वैसे ही खींच लेता है जैसे मझधारमे पड़ी नावको वायु (विवश करके इधर उधर खीचता और अन्तमें डुबो देता है) ।६७।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसीलिये हे महाबाहो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ (अपने अपने सभी) विषयोंसे पूरी तरह खींच ली गई है उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ।६८।

इन दो श्लोकोंमे दो बाते हैं, जिनपर दो शब्द कह देना है। जिस तरह हवाके झकोरेमे पडी नाव विवश होके इधर-उधर भटकती और अन्तमे डूबती या छिन्न-भिन्न होती है; फिर भी नाववाले कुछ कर नहीं सकते। ठीक उसी तरह इन्द्रियोंका साथी मन हो जानेपर हालत होती है। बुद्धिरूपी नावके लिये इन्द्रियोंका वेग हवाके झकोरेका काम करता है। उसकी सफलताके लिये जिस मझधारकी जरूरत है उसका काम वही मन पूरा कर देता है। मझधार न होनेपर हवाके तेजसे भी तेज झोंके नावका खाक नही बिगाड सकते। इन्द्रिया भी मनुष्य का कुछ कर नही सकती है यदि उनका साथी मन न मिल जाय। मनके मिलनेका अर्थ ही है रागद्वेष-पूर्वक पदार्थोंका भोगा जाना। फिर तो सब ज्ञान-ध्यान खत्म। बुद्धिका भी होश फाख्ता ही समझिये। असल चीज यह मनीराम ही है। यही जिधर चलते है उधर ही सब कुछ होता है। जब ये इन्द्रियोंकी ओर चले तो बुद्धिपर भी वारंट जारी हुआ और जबर्दस्ती बाँध-छानके उधर ही घसीटी गई! और अगर ये हजरत बुद्धिकी तरफ आ गये तो इन्द्रियाँ बेकारसी हो गइ। वे हाथ जोडे बुद्धिकी ही मातहती करती और हुक्म बजाती है। इन्हे तो खीचनेकी भी जरूरत नही होती। खुद हाथ जोड़े हाजिर रहती है और बुद्धिके काममे मदद करती हैं। वह तो अपना काम निर्बाध करती ही रहती है।

इसीलिये विषयोंसे इन्द्रियोंको बखूबी रोक रखनेका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि खाना-पीना, देखना-सुनना, पढ़ना-लिखना सब कुछ बन्द हो जाय। तब तो आफत ही आ जायगी और कोई भी काम होई न सकेगा। आखिर भावनाके लिये भी तो शरीरोपयोगी काम करना जरूरी होता ही है। मर जानेमे तो कुछ होगा नही। जबर्दस्ती करनेमे तो मरनेमे भी फजीती होगी। श्लोकमे 'निगृहीत' शब्द हैं। निग्रह कहते है दंडको। जिस तरह दंडित आदमी, बन्दी या कैदी काम-धाम तो सब कुछ करता है; मगर उसकी आजादी जाती रहती है, वह

तकुवेकी तरह सीधा बनके शैतानियत छोड देता है। ठीक यही हालत इन्द्रियोंकी होती है। ये भी कैदीकी तरह हुक्म बजाती है, सब कुछ करती है, और तकुवा बन जाती है।

परन्तु यह बात असंभव जैसी मालूम होती है और साधारण आदमीके दिमागमे घुसती ही नही। विषयोंको जरूरत भर काममे इन्ही इन्द्रियोंके द्वारा लायेंगे भी और हमे कुछ पता भी न चलेगा कि इनमे क्या मजा है, यह कुछ अजीब बात है। जिन्ही इन्द्रियोसे विषयोको भोगेगे उनका अनुभव करेगे वही तो उसीके साथ उनका मजा भी बताई देगी। इसके लिये उन्हे दूसरा काम, दूसरा यत्न तो करना होगा नही। यह काम एक ही साथ होगा। असलमे भोगका अर्थ ही है मजा लेना, सुख-दुखका अनुभव करना। भोग इसीको कहते ही हैं—"सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः"। फिर यह क्या बात कि मजा न आये, हम चसके नही, या मनमे ये बात न आये?

इसका उत्तर भी सुन्दर है। जिसे फाँसीकी सजा हो, फाँसी दी जानेवाली ही हो उसे आप चाहे सुन्दरसे भी सुन्दर पदार्थ खिलाइये और कोमलसे भी कोमल शय्यापर सुलाइये। मगर जरा पूछिये तो सही कि उसे कुछ भी मजा आता है? उसे तो पता ही नही चलता कि वह क्या खा-पी रहा है और कहाँ सो रहा है। उसका मन मौतमे जाके अटक जो गया है। उसके सामने तो मौत बराबर खड़ी है। जरा भी हटती नही। फिर मजा आये तो कैसे? यहाँ तो मौत आई हुई है और हटती ही नही, दूसरोंको जगह देती ही नही। इसी तरह नृत्यकलामे कुशल नटीको खड़ा कीजिये और उसकी कलाकी जाच कीजिये तो देखिये क्या होता है। उसके सरपर पानीसे भरा एक पात्र रखके बिना उसे हाथसे पकडे नाचनेको कहिये। वह बराबर बाजे-गाजेके ताल-सुरमे ही ठीक-ठीक नाचेगा, जरा भी फर्क न पडेगा। मगर उसका मन निरन्तर उस जलपूर्ण पात्रमे ही लगा होगा। नही तो जरा भी चूकते ही वह नीचे जा गिरेगा और नटी नृत्यकलाकी परीक्षामे अनुत्तीर्ण हो जायगी।

ठीक यही हालत योगी, समदर्शी और आत्मतत्त्वज्ञ मस्तरामकी भी समझिये। इनके मनीराम तो उधर ही टंगे रहते हैं, पूरे जोरसे लटके रहते हैं। दूसर कामको इन्हे फुर्सत हई नही। फिर चसका लगे तो कैसे? मजा आये तो कैसे? नटीके ताल-सुरवाले नृत्यकी तरह मस्तराम भी खाना-पीना सब कुछ करते ही हैं। मगर मजा नही रहता, रस नही मिलता। उनके लिये सारा दुनिया जैसे अंधेरेकी चीज हो, भादोकी घोर अँधियालीकी बात हो। इसीलिये जिन चीजोंमे दूसरोको मजा आता है उनका उन्हे पता ही नही चलता। अँधियालीकी चीजोका पता

किसे चले, सिवाय उल्लूके ? मगर जिस तरफ मस्तराम लगे हैं, जिधर वे जगते हैं, जिधर उन्हे प्रखर प्रकाश और उजियाली है, जहाँ उनके लिये बिना लैम्प, चाँद, सूरज और आगके ही खुदबखुद अखंड प्रकाश है—"आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति", "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" (बृहदा० ४।३।६-८), वहाँ बाकी लोगोंके लिए काली अँधियाली है, भादोकी रात है। फलतः वे लोग कुछ भी जान पाते नही। आखिर दोनों मजा मारेंगे कैसे ? एकको तो छोड़ना ही होगा। यही बात आगेका श्लोक कहता है। "पश्यतो मुनेः" का अर्थ ही यह है कि उसकी भीतरी आँखे बराबर खुली है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सब लोगोंके लिये जो रात है उसमें संयमी—योगी—जागता है (और) जिसमे लोग जगते है निरन्तर भीतरी आँखें खुली रखनेवाले उस मुनि—मननशील—के लिये वही रात है।६९।

इस तरह पदार्थोंके भोगकी बात जो कही गई है उसका निचोड कह देना जरूरी है। क्योंकि सभी तो इतने गहरे पानीमे उतर सकते नहीं कि इन लम्बी-चौडी बातोंको समझ सकें। साथ ही, ऐसे आदमीकी क्या हालत रहती है जो औरोंको भी साफ-साफ मालूम हो जाती है, यह बता देना भी जरूरी है। ताकि योगी भी अपने आपको लोकमतकी तराजूपर बराबर तौलता रहे। दूसरे लोग भी उसको पहचान करके उससे फायदा उठा सकें, कुछ सीख सकें। इसीलिये नर्तकी या फाँसीवालेकी अपेक्षा एक तीसरा दृष्टान्त, जो सब दृष्टियोंसे अनुकूल हो, पेश करके 'कैसे बैठना है' प्रश्नके उत्तरका और इस प्रसंगकी सारी बातोंका एक तरहका उपसंहार अगले श्लोकमें करते है। बचे-बचाये आखिरी प्रश्न "कैसे चलना है" का उत्तर तो उसके बादवाले श्लोकमे दिया गया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

सभी तरफसे निरन्तर पानीके आते रहनेपर भी जिसका पानी जरा भी बढता नजर नही आता और ज्योंका त्यों बना रहता है—जिसमे जरा भी उफान नही आता, ऐसे समुद्रमे घुसके उसीका रूप बन जानेवाले पानीकी ही तरह सभी भौतिक पदार्थ जिस (पुरुष) के पास आते है (और उसकी गंभीरतामें जरा भी फर्क डाल नही सकते), वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि पदार्थोंके लिये हाय-हाय मचानेवाला।७०।

इस श्लोकमे जो खूबी है वह यही कि इससे योगी और आत्मज्ञानीके बाहरी लक्षणका पता लगनेके साथ ही इसमे कही गई बात बहुत मार्केकी है। यहाँ

"समुद्रमापः" और "यं प्रविशन्ति" में द्वितीयान्त शब्द आये है 'समुद्रं' तथा 'यं'। हालांकि—समुद्रमें पानी जाता है, इस मानीमे 'समुद्रे' जैसी सप्तमी विभक्ति चाहिए और 'यं'की जगह भी 'यस्मिन्' चाहिए। किन्तु वैसा कहनेपर कुछ ऐसा मालूम होने लगता है कि चाहे जो हो, फिर भी पानी समुद्रमें निराली ही चीज है। क्योंकि वह पानीके पात्रकी तरह आधार बन जाता है। पात्रमें रहनेवाले पानीकी ही तरह वहाँ जानेवाला भी उससे जुदा आधेय बनता है। मगर द्वितीय विभक्तिमे यह बात नही रह जाती है। उससे तो साफ ही मालूम होता है कि पानी समुद्रका ही रूप बन गया—उसीमे विलीन होके तद्रूप बन गया। या यों कहिए कि पानी अपने आपमे ही जा मिला। इसी तरह पदार्थ भी जब योगीके पास जाये तो ऐसा हो जाय कि अपने आपके ही पास आये हैं। क्योंकि आत्मा तो सभीकी है और योगी सभीकी आत्मा बन चुका है, वह "सर्वभूतात्मभूतात्मा" (५।७) बन चुका है। फिर अपने आपसे ही अपनी लड़ाई या अपने ही करते अपनेमे तूफान और बेचैनी कैसी? वहाँ तो भेद रही न गया। फिर बेचैनीका क्या सवाल? वहाँ तो मालूम पड़ता है, न कोई आया न गया! जैसी दशा पदार्थोंके मिलनेके पूर्व थी वैसी ही मिलनेपर और बादमे भी रह गई! जरा भी फर्क नही आया।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

(इसलिये) सभी पदार्थोंको छोड़के—उनकी जरा भी पर्वा न करके—जो पुरुष निःस्पृह विचरता है और जिसमे माया-ममता—अहन्ता ममता—जरा भी नही होती, वही शान्ति प्राप्त करता है—उसीको शान्ति मिलती है।७१।

अहन्ता और ममता ही तो सारी खुराफातोंकी जड़ है। मैं और मेरा यही तो है अहन्ता और ममता। अहम् और मैं, मेरा और मम एक ही अर्थमे आते हैं और यही है जहर जिससे सभी मरते हैं। यह खयाल ही है कालानाग जिसके डसते ही सभी मर जाते है। योगीमे यही नही होता। फिर पदार्थोंकी उसे क्या पर्वा? किसी दण्डी महात्मासे जब एकने, जो बड़ा मगरूर मालदार था, पूछा कि महाराज, सन्यासी किसे कहते है? तो उनने चट उत्तर दिया कि तुमसे लेके ब्रह्मातकको जो तृणके बराबर भी न समझे वही सन्यासी है। यही लापर्वाही और बेफिक्री मस्तीकी असली निशानी है। इसीलिये ऐसा आदमी मस्त होके सर्वत्र विचरता है और शान्ति उसके चरण चूमती रहती है। उसका तो मन जहाँ जाता है वही समाधि है—"यत्रयत्रमनोयाति तत्रतत्रसमाधयः"। निर्ममके बारेमें पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति (कही जाती) है। इसे हासिल कर लेनेपर फिर मोह नजदीक फटक सकता नहीं। अन्त समयमें भी इस दशामें आ जानेवाला (मनुष्य) निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।७२।

यह श्लोक आत्मविवेक और योगके समूचे निरूपणका और इसीलिये दूसरे अध्यायका भी उपसंहार है। जिस मस्तीवाली हालतका वर्णन अभी-अभी किया है उसीका नाम यहाँ ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। चाहे उसे योगीकी दशा कहिये, स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धिकी हालत कहिये, युक्त और मस्तकी मौज कहिये, साम्यावस्था या समदर्शन कहिये। सब एक ही बात है—एक ही चीजके अनेक नाम हैं। इस मस्तीमें आनेपर प्रियतम, सर्वप्रिय आत्मा या माशूकसे सपनेमें भी जुदाई होती ही नहीं। फिर मोह या भूलभुलैयाँ कैसी? इसीलिये मस्तराम सदा मुक्त ही हैं। उसे कहीं आना-जाना है नहीं—न वैकुंठ, न ब्रह्मलोक। उसका तो शरीर ही उससे अलग होता है, न कि वह किसीसे भी अलग हो सकता है। यह मस्ती यदि पहलेसे हो तो सोनेमें सुगन्ध ही समझिये। नहीं तो शरीरान्तसे पहले भी आ जानेपर निर्वाण मक्ति धरीधराई है। निर्वाणका अर्थ है जाने-आनेसे रहित। उसकी तो आत्मा ब्रह्म रूप हुई। फिर आना-जाना कहाँ और कैसा?

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे सांख्ययोगोनामद्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें (जो) उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र (है उस) में जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका सांख्य-योग नामक दूसरा अध्याय यही है।

तीसरा अध्याय

तीमरे अध्यायका श्रीगणेश अर्जुनके प्रश्नमे ही होता है । वह प्रश्न भी कर्मके ही बारेमें किया गया है । इससे साफ हो जाना है कि दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकमें जिम योग या कर्मयोगके निरूपणका सूत्रपात किया गया था, वही उस अध्यायके अन्ततक होता रहा है । क्योंकि बीचमें यदि कोई दूसरी बात खामतौरसे आनेको होती तो अर्जुनका यह प्रश्न यहाँ न होके वहीं हो जाता । जब कर्मके ही सम्बन्धमें यह सवाल है तब तो उसका पूरा निरूपण हो जाने और उसके मुत-ल्लिक सारी बाते मुन लेनेके बाद ही फौरन इसे आना चाहिये । नही तो योंही हवाई बात होनेके कारण प्रधान विषयसे इसका ताल्लुक रही न जायगा । इसी-लिये और बातोंके निरूपणका प्रसग आते ही अर्जुन फौरन खामखा यही प्रश्न पहले ही पूछ बैठता और इस प्रकार कृष्णको मौका ही न देता कि दूसरा विषय छेड दे । क्योंकि तब तो कर्मकी बात नीचे पड़ जाती और वह नया विषय ही ऊपर आ जाता । इसीलिये यह तो निर्विवाद है कि कर्मयोग वाली बात ही इसके पहले या यों कहिये कि दूसरे अध्यायके अन्त तक आई है ।

यह भी तो विदित होई चुका है कि इस कर्मयोगके निरूपणके सूत्रपातसे लेकर अन्ततक जो बातें कही गई हैं उनपर अध्यात्मज्ञान, तत्त्वविवेक, मनोनिरोध और मस्तीकी मुहर कदम-कदमपर लगी हुई है । मालूम होता है कि ये सभी बातें कर्मयोगके प्राणकी तरह, जीवन बिन्दुकी तरह है । फलतः इनके अलग करते ही कर्मयोग कुछ रही नही जायगा—वह निरा कर्म रह जायगा । क्योकि इन बातोंको कर्मयोगसे अलग करनेका सीधा अर्थ हो जायगा कर्मयोगसे योगको ही निकालके कर्मको उसी रूपमे छोड देना और अकेले रहने देना जिस रूपमे आमतौरसे हमेशासे पाया जाता है । कर्मके उस रूपको ही लेके गीताने अपने निराले करिश्मे और अलौकिक मंतर-यंतरके रूपमे उसे परिमार्जित एवं शुद्ध करनेका उपाय निकाला है । गीताके इस उपायके पहलेका कर्म खाटी लोहे या पारेके ढंगका है जिसका जरा भी प्रयोग मारक बन जाता है, अनेक व्याधियोंको पैदा करता है—जन्म-मरणके चक्र एवं उससे उत्पन्न संकटोंका अनवरत प्रवाह जारी रखता है । गीताका उपाय उस लोहे या पारेको भस्म करके—मारके—अमृत बना देता है, रस बना देता है, जिसके सेवनसे न सिर्फ व्याधियाँ दूर होती है, किन्तु अपार शक्ति मिल जाती है । इसीलिये कृष्णने इस उपायकी, इस तरकीबकी, इस हिकमत और बुद्धिकी—अक्ल और युक्तिकी—खूब ही प्रशसा की है कि इस

बुद्धिरूप योगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त तुच्छ है—"दूरेणह्यवरंकर्म" (२।४९।) उसी श्लोकमे इस योग, उपाय या हिकमतको बुद्धि ही कहा भी है। उसके पहलेके "यावानर्थ उदपाने" (२।४६) मे भी इस ज्ञान या बुद्धिकी प्रशंसा की है और कहा है कि इसीमे सब काम चल जाता है।

इसीके साथ "एषातेऽभिहिता" (२।३९) मे यह साफ ही कह दिया है कि दो मार्ग स्वतंत्र रूपसे पाये जाते है—एक है साख्य या सांख्ययोगका मार्ग और दूसरा है योग या कर्मयोगका मार्ग। संक्षेपमे इन्हे साख्य और योग या ज्ञान और कर्मके मार्ग भी कहते है तथा ज्ञानयोग एवं कर्मयोग भी। यह भी साफ ही है कि कर्मयोगके मार्गमे भी यह ज्ञान लगा ही है। अर्जुन बहुत ज्यादा बारीकी समझ सका भी नही। उसने सीधे और साफ देख लिया कि ज्ञान या बुद्धिवाला साख्य मार्ग हर तरहसे उत्तम बताया गया है। उसके मुकाबिलेमे दूसरे या कर्मके मार्गकी कोई गिनती नही है। यदि कर्म कर्मयोग बन जाता भी है तो इस अध्यात्मज्ञानके करते ही। फिर तो निस्सन्देह यही सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ है, उसने यही निष्कर्ष निकाला। मगर इसीके साथ उसने यह भी देखा कि "तस्माद्युध्यस्व" (२।१८), "उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय" (२।३७) तथा "युद्धाय युज्यस्व" (२।३८) मे साफ ही उसे युद्ध करनेकी आज्ञा देके इस युद्धात्मक घोर कर्ममे ही लगाया जा रहा है और बार-बार कहा जा रहा है कि सोच फिक्र न कर, चिन्ता मत कर, आदि आदि। वह कृष्णको अपना सबसे बडा हितेच्छु मानता था। इसीलिये वह आगा-पीछामे पड गया कि यह क्या बात है? एक ओर तो ज्ञान मार्ग सर्वोत्तम बताया जा रहा है। दूसरी ओर मेरे लिये हिंसामय युद्ध ही कर्त्तव्य कहा जा रहा है। वह घबरा गया और इसी पशोपेशमे पडके कुछ भी निश्चय न कर सकनेके कारण कृष्णसे—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुनने पूछा—हे जनार्दन, हे केशव, यदि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि—ज्ञान—को ही श्रेष्ठ मानते है तो फिर (हिंसात्मक युद्ध जैसे) घोर कर्ममे मुझे क्यो लगाते है? (असलमे) आपके बीच-बीचमे मिले-जुले वचनोंसे ऐसा मालूम पडता है कि जैसे मुझे घपलेमे डाल रहे हो। इसलिये पक्कापक्की निश्चय करके दोनोमे एकको ही मुझे बताइये, जिससे मै कल्याण प्राप्त कर सकूँ।१।२।

यहाँ कृष्णपर दो इल्जाम लगे मालूम होते हैं। पहला यह कि साफ-साफ नहीं बोलके कभी ज्ञानकी बात और बड़ाई करते हैं तो कभी कर्मकी, और कभी फिर उलटके कर्मकी, तब ज्ञानकी। इससे सफाई तो हो पाती नहीं। किन्तु उलटे सुननेवाला घपलेमें पड जाता है। इसीलिये दूसरा इल्जाम यही है कि बुद्धिको पशोपेश और घपलेमें डालते हैं। मगर असलमे तो ये इल्जाम हैं नही। भला, अर्जुन जैसे शरणागतके साथ कृष्ण ऐसा क्यों करने लगे? वह तो किसीके भी साथ ऐसा नहीं कर सकते थे। फिर अर्जुनकी तो बात ही जाने दीजिये। इसीलिये—और अर्जुन उनपर यह इल्जाम लगाता भी कैसे? यह तो बड़ी भारी गुस्ताखी और छोटे मुँह बड़ी बात हो जाती—इसलिये भी दूसरे श्लोकमें दो बार 'इव' आया है, जिसका अर्थ यही है कि मुझे मालूम होता है कि आप ऐसा कर रहे हैं। हो सकता है, इसमें मेरी समझका ही दोष हो। अर्जुन वह दोष अपने माथेपर ही लेनेको तैयार भी था। क्योंकि वह तो शरणागत शिष्य बन चुका था। फिर दूसरी हिम्मत करता तो कैसे? इसीलिये वह अब ऐसी सफाई चाहता है जिससे बखूबी समझ जाय और सन्देह की गुञ्जाइश रही न जाय।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—हे पापरहित (अर्जुन), इस संसारमें दो प्रकारके मार्ग हमने पहले ही—पूर्व समयमें—ही बताये हैं (एक तो) ज्ञानियोंका ज्ञानयोग और दूसरा योगियोंका कर्मयोग।३।

यहाँ 'पुरा' शब्दका कुछ लोग 'पहले' अर्थ करके दूसरे अध्यायमें कही गई दो निष्ठाओं या बताए गए दो मार्गोको ही पुरा शब्दसे लेते हैं; क्योंकि तीसरे अध्यायके पहले वह बात आ चुकी है। मगर यह बात ठीक नहीं है। पुराका अर्थ है असलमें पूर्व समयमें। यही अर्थ गीतामे इसी पुरा शब्दका आगे दो बार माना भी गया है। वहाँ किसीने भी इसका दूसरा अर्थ स्वीकार नही किया है। एक तो तीसरे ही अध्यायमें "सहयज्ञाः प्रजास्सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" (३।१०) में और दूसरा "यज्ञाश्च विहिताः पुरा" (१७।२३)में। गीतामें तीन ही बार यह शब्द आया है। इसमें दो बार तो सबोंने 'पूर्व समयमें' यही अर्थ करके "सृष्टिके आदि या युगोंके आरम्भमे" यही मानी लगाया है। यही ठीक भी है। फिर दूसरा अर्थ हो गया कैसे? दूसरे अर्थमें तो यह भी दिक्कत है कि पुराका अर्थ होगा पूर्व स्थानमे। तभी तो "दूसरे अध्यायमे" यह अर्थ हो सकेगा। मगर 'पूर्व स्थानमे' यह इस शब्दका अर्थ आजतक कहीं किसीने माना

ही नही है। यह भी दिक्कत है कि ऐसी दशामें 'लोकेऽस्मिन्' शब्दोंका कोई मेल खा सकेगा नही। क्योंकि दूसरे अध्यायने तो साफ ही "एषातेऽभिहिता" मे 'तुझे कहा' ऐसा लिखा गया है। नही तो फिर वहाँ 'ते' की क्या जरूरत थी? वहाँ भी 'लोके' कह देते, ताकि यहाँ बेखटके वही मान लिया जाता। 'लोक एषोदिता साख्ये बुद्धिर्योगे त्विमाशृणु' ऐसा सुन्दर श्लोक भी अनायास बन सकता था। और अगर आगे लिखी कर्मयोगकी परम्परा पुराने समयवाली ही मानी गई है, तो कर्मयोगका उपदेश भी पुराने समयका ही क्यो न माना जाय? क्योकि बिना ऐसा हुए उसकी परम्परा पुराने समयवाली कैसे होगी? फिर उसीका स्मरण यहाँ भी पुरा शब्दसे क्यों न माना जाय? गीतामे जहाँ पहले कही बातको ही याद कर लेना हो वहाँ तो 'पुरा' जैसा कोई शब्द न कहके केवल इतना ही कह देते है कि यह बात कह चुके है। जैसे "दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु" (१६।६)। यदि ऐसी ही बात होती तो यहाँ भी वैसा ही कहते। उसी (१६।६) श्लोकमे पुराने जमानेकी बात है उसे "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्" (१६।६) कहा है और वही "लोकेऽस्मिन्" यहाँ भी है। फिर वैसा ही अर्थ यहा भी क्यो न हो?

यहाँ निष्ठाका अर्थ है मार्ग या रास्ता, जिसे अंग्रेजीमें कोर्स (Course) या प्रोसेस (Process) कहते है। स्कूल्स आफ थाट्स (Schools of thoughts) भी उसीको कहा जाता है। निष्ठाका शब्दार्थ है किसी बातमे अपनेको लगा देना, अर्पित कर देना, उसीमें जीवन गुजार देना। ये दोनों मार्ग और दोनों विचारधारायें ऐसी है जिनमे एक एकमे जाने कितने सहस्र, कितने लक्ष महापुरुषोंने अपने जीवन लगा दिये है, अपनेको मिटा दिया है। इसका जिक्र आगे चौथे अध्यायमें है। महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थो एवं उपनिषदोंमे भी इसका वर्णन बहुत ज्यादा आया है। कृष्ण अपनी आत्माको सभी ऋषि-मुनियोकी आत्माके रूपमे ही अनुभव करते हुए बोलते हैं कि मैंने ऐसा कहा है। फलतः कृष्णका उपदेश उन सबोंका ही उपदेश है। कृष्णकी इस मनोवृत्तिपर हम काफी प्रकाश पहले ही डाल चुके है। साख्य और योगका भी अर्थ बता चुके है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

(लेकिन कोई भी) आदमी कर्मोको शुरू न करके कर्मत्याग या संन्यास प्राप्त कर सकता नही। (और खामखा) कर्मोके त्यागसे ही सिद्धि नहीं मिलती—इष्ट या कल्याणकी—मोक्षकी—प्राप्ति नहीं हो जाती।४।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

(यह भी तो है कि) कोई भी क्षणभर भी बिना कर्म किये रही नहीं सकता। क्योंकि प्रकृतिके गुणोंसे मजबूर होके सभीको कर्म करना ही होता है।५।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

(इसलिये) जो (हाथ, पाँव आदि) कर्म करनेवाली इन्द्रियोंको (जबर्दस्ती) रोकके मनसे इन्द्रियोंके विषयोंको याद करता रहता है वह ढोंगी कहा जाता है।६।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

(विपरीत इसके) हे अर्जुन, जो तो इन्द्रियोंको मनके अधीन करके कर्मेन्द्रियों से काम करना शुरू कर देता है (और फलादिके लिये) हाय हाय करता नहीं रहता वही अच्छा है।७।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

(इसलिये) तुम अपने लिए निश्चित कर्म (जरूर) करो। क्योंकि न करनेसे करना कहीं अच्छा है। (आखिर) कर्म सर्वथा छोड़ देनेपर तुम्हारी शरीर-यात्रा भी तो न चल सकेगी।८।

यहाँपर ४से ८तकके श्लोकोंके बारेमें कुछ जरूरी बातें जान लेनेकी हैं। चौथेका आशय यही है कि बिना कर्म किये कर्मका त्याग या संन्यास असंभव है और खामखा कर्म छोड़ देनेसे ही कुछ होता जाता नही। इसमें दो बातें है। एक यह कि जब कर्म करने ही नही तो उसे छोड़नेके मानी क्या होंगे? जो चीज हमारे पास हुई नही उसे त्यागना क्या? यह तो प्रवंचना मात्र है, महज झूठी बात है। इसीको "अशक्तः परमः साधुः" या "वृद्धवेश्या तपस्विनी" कहते हैं। असलमें जबतक वर्णमाला पढ़ न लें उससे पिंड छूटता ही नहीं। जब कभी ग्रन्थोंके पढ़नेका प्रश्न उठता है तो वह वर्णमाला पहाड़ की तरह सामने खड़ी हो जाती है कि हमें पूरा करो—पार करो। बड़े ग्रन्थोंके पढ़नेका अर्थ है वर्णमालाके पढ़नेका त्याग। मगर वह त्याग हो पाता नहीं जबतक वर्णमाला पढ़ ली न जाय। ठीक यही बात संन्यास या कर्म-त्यागकी है। निदिध्यासन और समाधि, जो आत्मविज्ञानके लिये ही नहीं, बल्कि सभी विज्ञानों के लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं, बिना कर्मोंके त्यागके होई नहीं सकते।

कर्मोंका तो पँवारा ऐसा है कि चौबीस घंटे उनसे फुर्सत होती ही नहीं। अगर यही रहे तो निदिध्यासन और समाधि कैसी? उनका मौका ही कहाँ होगा? इसलिये उनके करनेका अर्थ ही है कर्मोंका त्याग। मगर जबतक कर्म न करें निदिध्यासन आदिकी योग्यता होगी ही नही। फिर कर्मोंके त्यागका प्रश्न ही कहाँ उठता है? इसको जरूरत होती है कहाँ? और अगर इतनेपर भी खामखा त्याग किया जाय तो साफ ही कह देते हैं कि इससे कुछ भी होता जाता नही। यह तो ठगी और प्रवचना है। यह तो अपने आपको और संसारको भी ठगना है। इसीलिए जभी कभी वास्तविक कर्मत्याग या संन्यासकी बात उठे तो उसी समय स्पष्ट हो जाता है कि पहले कर्म करें। पीछे त्यागकी जरूरत होगी और अवश्य होगी। मगर अभी नही।

दूसरी बात यह है कि खामखा योंही कर्म छोड़ देनेसे काम बननेके बजाय बिगडता ही है। श्लोकमे जो सिद्धि शब्द है उसका यही अभिप्राय है कि कोई काम नही बनेगा, वह लक्ष्य सिद्ध नही होगा जिसके लिए कर्मत्याग करते है। बल्कि उलटे बिगडेगा। जब खेत जोत-गोड़के तैयार किया ही नही गया है और पानी-वानी देके बीज उगने योग्य बनाया गया ही नही है तो दूसरा होगा ही क्या, सिवाय इसके कि बीज और परिश्रम दोनो ही बेकार जायें? यह तो निरी बच्चोवाली बात हो जायगी, या पागलोंकीसी ही। इसीलिए इस बातपर जोर दिया गया है कि पहले तो हरेक आदमीको कर्म करना ही होगा। कर्मसे ही दरअसल प्रगतिका श्रीगणेश होता है, और सन्यास तो प्रगतिके इसी सिल-सिलेकी एक आवश्यक (unavoidable) सीढी (step) है। इसीलिए इस श्लोक के पूर्वार्द्धकी उत्तरार्द्धसे मिलान करनेपर "नैष्कर्म्य"का अर्थ संन्यास ही है, न कि और कुछ। अर्जुनके दिमागकी सफाई करनी थी। इसीलिये शुरूसे ही क्या कर्त्तव्य है, यही बात उठाके अन्ततक जाना जरूरी हो गया है। नही तो वह फिर भी धपलेमें पड जाता, यदि चनी-चनाई बाते ही कही जाती।

इसके बाद पाँचवे श्लोकमे तो यह बात भी खत्म कर दी गई है कि खामखा योंही कर्मोका त्याग संभव है। चौथे उत्तरार्द्धमे यह बात मानकर ही, कि कर्मोका त्याग संभव है, उत्तर दिया है कि उसमे सारा गुड़ गोबर होनेके अलावे कोई मतलब पूरा नही होता। मगर अब तो जड़को ही उडा देते है यह कहके कि कर्मोका त्याग ही असंभव है। प्रकृतिके तीन गुण माने जाते हैं। इस बातका विस्तृत विवेचन पहले कर चुके हैं। ये परस्पर-मिथुन कहे जाते है, जिसका मतलब यही है कि तीनों ही सर्वत्र मिले-जुले रहते है। इन तीनोंमें रजका तो काम ही है क्रिया या कर्म। उसका तो स्वरूप ही है कर्म या हलचल (action

and motion)। फिर यह कैसे संभव है कि कोई भी पदार्थ एक क्षण भी निष्क्रिय रहे। तीनो गुणोंके अलावे तो कोई भी भौतिक पदार्थ है नहीं। ऐसी दशामे शरीर या इन्द्रियादि यदि क्षणभर भी निष्क्रिय रहे तो इसके साफ मानी है कि उनमे गुण हुई नही। मगर यह तो बात है नही। संसार ही त्रैगुण्य माना गया है। तब अपना स्वभाव कोई कैसे छोडेगा? शरीरादि का तो स्वभाव ही है हिलना-डोलना या हलचल। जब हमारी आँखे इसका पता नही भी पाती हैं तब भी प्रयोगशालामे जाने या यंत्रोके प्रयोगसे पता लगता है कि क्रिया बराबर चालू है। उसे विराम नही। इसीलिये कह दिया है कि कर्म या क्रियाकी तो मजबूरी है। इससे पिंड छूट सकता ही नही। संसारका अर्थ ही है क्रियाशील या चलनेवाला।

इसीलिये जो लोग जबर्दस्ती कर्म करनेवाली इन्द्रियोको रोकते है, रोकना चाहते हैं, उनका काम अप्राकृतिक है, प्रकृतिके नियमोके विरुद्ध है। क्योकि जबर्दस्ती तो कर्म करनेके लिये खुद प्रकृति कर रही है, पदार्थोंका स्वभाव ही कर रहा है, और हम चले है उसे ही रोकने। फलत. हमारा यह हठ, हमारी यह जबर्दस्ती अप्राकृतिक—अस्वाभाविक—नही है, तो और है क्या? और अस्वाभाविक चीज तो चलनेवाली नही, वह तो कभी होनेकी नही। इसीलिये दंभ और पाखंड चलता है, ठगी होती है। ऊपरसे तो देखनेके लिये कर्मेन्द्रियाँ रुकी है। मगर भीतर ही भीतर उनका काम जारी है। क्योकि ऐसे लोग मनको तो रोक सकते है नही। वह तो ऐसे पामरोके कब्जेके बाहर रहता ही है। उलटे यही लोग मनके कब्जेमे रहते है। उधर मनीरामने सभी इन्द्रियोंको पीठ ठोंक दी है। इसलिये भीतर ही भीतर—छिपे रुस्तम—उनका काम जारी है। इसे ही कहते है "डूबके पानी पीना", या "खुदामियाँसे चोरी"। ज्ञानेन्द्रियोको तो यों भी ऐसे लोग नही रोकते। वे रोक सकते भी नही। उन्हीके साथ आँख दबाके कर्मेन्द्रियाँ भी मौज करती है। हमने काशीमे ग्रहणके समय एक बार घाटके ऊपर छोटेसे मन्दिरके पास एक संन्यासी बाबाको देखा कि आसन मारे मूँडी नीचे किये आँखे मूँदे बैठे है। बगलमे एक कपडा फैला पडा है कि लोग उसपर पैसे चढ़ायेंगे! हमने गौर किया तो पता लगा कि वह नीचे-नीचे रह रहके कपड़े और पैसोको देखा करते है। इसे ही कहते है, "ऊपर ऊपर राम राम, नीचे-नीचे सिद्ध काम!" इसका पता तो सपनेमे लगता है जब यह चोरी खुल जाती और जाने क्या क्या अनर्थ होते है, कौन कौनसा प्रपंच फैलता है। सपनेमे तो यह चोरी छिप सकती है नहीं। इसीलिये ऐसोको पाखंडी और मिथ्याचार कहके छठे श्लोकमे दुतकारा है।

यही कारण है कि सातवें श्लोकमें सबका निचोड़ निकालके कह दिया है कि जो लोग मिथ्याचारी और पाखंडी नहीं बनना चाहते वह उनके विपरीत काम करे। वह यह कि सबसे पहले सभी इन्द्रियोंपर और खासकर ज्ञानेन्द्रियोंपर तो जरूर ही, मनका नियंत्रण एवं अंकुश रखें। असलमें मनका इन्द्रियोंपर नियंत्रण न रहनेसे जहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंमें फँसानेके साथ ही कर्त्तव्य कर्मोंसे विमुख करके वाहियात कामोंमे लगा देती है, तहाँ कर्मेन्द्रियाँ भी ज्यादती कर बैठती हैं। फलतः किसी भी कामकी सीमा लाँघके उसे भी खराब कर देती हैं। इस तरह सब कियेकरायेपर पानी फिर जाता है। इसीलिये सभीपर मनका नियंत्रण जरूरी कहा गया है।

उसके बाद कर्मेन्द्रियोसे सभी कर्मोंको शुरू कर दें। जरा भी आगा पीछा न करे। यहाँ जो 'कर्मयोगमारभते' कहा है उसका सीधा अर्थ यही है कि काम करना शुरू कर दे। यहाँ दूसरे अध्यायवाले कर्मयोगसे मतलब नहीं है। उसका तो प्रसंग हुई नहीं। यहाँ तो ऐसे लोगोंकी बात है जो सबसे नीचे पड़े हुए हैं। इस श्लोकमे 'यस्तु' मे जो 'तु' है वह भी यही सूचित करता है कि इससे पहले जो कुछ कहा है उसके ही मुकाबिलेमे दूसरी बात यहाँ कही जा रही है। और पहले तो पतित या मिथ्याचारीकी ही बात आई है जो दरअसल कर्म नहीं करता है। हठी नालायक जो ठहरा और विषय लम्पट भी। उसीके मुकाबिलेमे इस श्लोकमे यह कहना जरूरी हो गया कि उन नहीं करनेवाले पाखंडियोंकी अपेक्षा वे कहीं अच्छे हैं जो कुछ कर्म करते हैं और इन्द्रियोंपर मनका अंकुश भी रखते हैं। इसीलिये ऐसे आदमीको "स विशिष्यते"—"वह कहीं अच्छा है" कहा है। इस "विशिष्यते" क्रियाका दूसरा अर्थ हो भी नहीं सकता है। नहीं करनेसे करना अच्छा है—"अकरणात्करणं श्रेयः" (something is better than nothing) यही बात यहाँ कही गई है। न कि पहले कहे गये पतित-पाखंडोंके साथ इस कर्मीकी तुलना है। ऐसा करना तो इसका भी अपमान करना हो जायगा। इसीलिये उस तुलनाका सूचक कोई 'ततः' या 'तस्मात्' आदि पंचमी विभक्तिवाला पद यहाँ है भी नहीं। आगे यह बात और भी साफ हो जाती है जब खुलके कह देते हैं कि नहीं करनेसे करना अच्छा है, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (३।८)।

ऐसी दशामें ऐसा आदमी गीताका वह महान् कर्मयोग कैसे जानने गया कि उसे करेगा? यह तो गधेको शासनकी गद्दीपर बिठाने जैसी ही बात हो जायगी। यह भी तो जानना चाहिये कि यहाँ जो 'आरभते' क्रिया है और जिसका अर्थ है 'शुरू करता है', वह कर्मयोगमे लागू होती भी नहीं। वह तो केवल कर्ममे लागू होती है। कर्म ही या कर्मका करना ही शुरू होता है, न कि कर्मयोग। योग तो बुद्धि है यह

सभी मानते हैं। तब उसको शुरू कैसे किया जायगा ? सो भी कर्मेन्द्रियोंसे ? वह तो मार्ग है, निष्ठा है, विचारधारा है। उसका आरंभ हर आदमी कर सकता नहीं। उसका आरंभ बहुत पहले उसके प्रवर्त्तक आचार्यने किया था। अब आरंभ कैसा ? यदि मान भी ले, तो हाथ-पाव आदि कर्मेन्द्रियोसे उसका आरम्भ कैसे होगा ? यदि आरंभका अर्थ है उस मार्गमे प्रवेश, तो भी वह कर्मेन्द्रियोंमे होता नही। वह तो मन और बुद्धिसे या अधिकसे अधिक ज्ञानेन्द्रियोंसे ही हो सकता है। इसीलिये कर्मयोगका यहा अर्थ है कर्मोका योग, जोडना या करना; और इसका श्रीगणेश कर्मेन्द्रिया ही करती है। इसीलिये आत्मा या मनकी शुद्धिके लिए जो कर्म किया जाता है वह भी गीताके कर्मयोगमे आता नही। क्योंकि उसमें तो शुद्धि रूप फलकी इच्छा हुई। फिर भी उसे कर्म कहके उसके करनेवालेको भी योगी कह दिया है—"योगिन. कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।२५)। "दैवमेवापरे यज्ञं योगिन." (४।२५) मे भी योगीका अर्थ आत्मज्ञानीसे भिन्न ही है। इसका विचार वही किया है।

इसीलिये यहाँ जो 'असक्त:' शब्द आया है उसका अर्थ उस कर्मयोगीकी ही तरह कर्मासक्ति एव फलासक्तिका त्याग, ऐसा जो लोग करते हैं वह भूलते हैं। "भूखे बंगालीके भात भात" की तरह सर्वत्र एक ही बात देखना उचित नही। पूर्वापर और प्रसंग भी देखना होगा, और है वह मामूली कर्म करनेवालोंका ही। फिर एकाएक वह परले दर्जेकी अनासक्ति यहाँ आ धमकी कैसे ? उसकी तो यहाँ गुंजाइश हुई नहीं। यहाँ तो असक्त कहनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि, जैसे इससे पूर्ववाला आदमी कर्मका सोलह आना विरोधी होता है और उसे देखना नहीं चाहता ठीक उसके विपरीत होनेसे कही यह ऐसा न हो जाय कि दिनरात कर्मों या फलोंके लिये हाय-हाय ही करता रहे। क्योकि तब तो यह कुछ करी न सकेगा। यह तो उसी हाय-हायमे इतना व्यस्त रहेगा कि उसके हाथ-पाँव ठीक-ठीक काम करी न सकेंगे। इसीलिये कह दिया कि ऐसा न हो—ऐसी हाय तोबा न रहे। साधारणत: फल वगैरहकी इच्छा तो रहेगी ही। क्योंकि यह तो साधारणत: कर्मी ही ठहरा। मगर गीताके कर्मीकी गिनतीमे उसे आनेके लिये इस इच्छा-आकाक्षाको बेलगाम नही छोड देना होगा, बेहद परीशान होना न होगा। यही अभिप्राय है और यही युक्तिसंगत भी है। गीताकी गिनती मे आनेका प्रयोजन भी है। क्योंकि आगे ऐसे ही आदमीके लिये १९वे श्लोकमें परमात्माकी प्राप्ति लिखी है। वहाँ भी यही 'असक्त:' शब्द कर्मके साथ ही आया है। तात्पर्य यह है कि हाय-हाय छोड देनेसे अन्त:करणकी स्थिरता और शान्तिके रूपमें शुद्धि होके परमात्माकी प्राप्तिका रास्तामात्र खुल जाता है। कुछ यह नही होता कि कर्मोसे ही ठेठ परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

आगे बढ़ने के पहले यहीपर उनने आठवें श्लोकमें स्पष्ट ही कह दिया है कि कुछ न करने और निठल्ले बैठ रहनेसे तो कुछ करना कहीं अच्छा है। इसीलिये तुम अपने लिये पक्का-पक्की ठहराये गये कर्मोंको जरूर ही करो। ऐसे ही कर्मोंको नियत (assigned) नाम गीतामें बार-बार दिया गया है। "नियतस्य तु संन्यास' (१८।७), "नियतं क्रियतेऽर्जुन" (१८।९), "नियतं संगरहितं" (१८।२३) आदिमें यह बात पाई जाती है। नियत या निश्चित कहनेका यह मतलब है कि यों तो खानपान आदि कर्म सभी लोग करते ही हैं। इनमें तो सबोंकी मजबूरी है। मगर इनके सिवाय कुछ ऐसे कर्म हैं जिनमे ऐसी मजबूरी न होनेपर भी उनका करना सामाजहितकी दृष्टिसे और अपने अन्तिम कल्याण या उदात्त स्वार्थ (enlightened self-interest) के खयालसे भी जरूरी हो जाता है। ऐसे कर्म या तो समाजके द्वारा ही हरेकके लिये तय कर दिये गये हैं, या ऋषि-मुनियों, औलिया-पैगम्बरों तथा बडे-बूढोंने उन्हें बताया है और समाजने या खुद व्यक्तियोंने भी उन्हें अपनाया है। इसीलिये वे नियत और नित्य (assigned and fixed) माने जाते हैं। आश्रितोंकी रक्षा, देश या घरबारके लिये लडना, पीडितोंकी सेवा, सन्ध्या, पूजा, नमाज, प्रार्थना (Prayer) आदि ऐसे कर्मोंमें आते हैं। जब कर्मोंके करने न करनेकी बात कहीं भी आती है तो इन्हीं से मतलब होता है न कि सामान्य कर्मोंसे। मलमूत्र त्याग, खानपान आदि तो बिना कहे ही मजबूरन करने ही होते हैं। उनके बारे मे करनेका विधान या उसकी ताकीद बेकार है। मगर नियत कर्मोंमे आलस्य आदिके चलते लापर्वाही हो सकती है, हो जाती है। इसीलिये इनपर जोर देना और इनके लिये ही नियम-कायदे बनाना जरूरी हो जाता है। जब संन्यास और कर्मत्यागका सवाल आता है तो इन्हीं कर्मोंके त्यागसे मतलब होता है।

एक बात और भी जान ले तो अच्छा हो। जहाँतक कर्मोंके त्याग या संन्याससे ताल्लुक है, गीताने चार सूरत मानी है। (१) मनकी शुद्धि हो जानेपर तत्त्वज्ञानके साधन-स्वरूप निदिध्यासन और समाधिकी सिद्धिके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग। (२) तत्त्वज्ञानके बाद मस्ती आ जानेपर खुदबखुद कर्मोंकी ओर मानसिक प्रवृत्ति न होनेसे अलंबुद्धया स्वरूपतः कर्मोंका वैसे ही छूट जाना जैसे पके फलका डालसे। (३) मोह और भ्रममें पड़के प्रवंचना बुद्धिसे या शरीर, इन्द्रियादिके कष्टके खयालसे ही कर्मोंको स्वरूपतः छोड देना। (४) फलेच्छा, अभिनिवेश, कर्म करनेकी आसक्ति और हठ आदिका ही त्याग न कि स्वरूपतः कर्मोंका त्याग। इनमें चौथेको तो कर्मका त्याग वस्तुतः कही नही सकते। इस दशामें तो कर्म बने ही रहते हैं। गीताने भी "नियत संगरहितं" (१८।२३) मे इसे सात्त्विक कर्म ही

गिनाया है। इसलिये इसे तो छोड ही देना चाहिये। ईसपर विचार करनेका प्रश्न आता ही नही।

रह गये तीन। बेशक इन तीनोको कर्मत्याग या संन्यास शब्दसे समझ सकते है जरूर। इनमे जो तीसरा है उसकी बात इसी अध्यायके शुरूमे ही और आगे भी आई है। इसलिये शेष दो या पहले तथा दूसरेको ही पहले देखना चाहिये। "योगसंन्यस्तकर्माणं" (४।४१), "संन्यासस्तु महाबाहो" (५।६) और "योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" (६।३) श्लोकोंमे पहलेको यानी समाधि आदिके लिये कर्मोंके त्यागको आवश्यक और उचित बताया है। "सर्वधर्मान्परित्यज्य" (१८।६६) मे इसीका उपसंहार भी किया है। इसी तरह "यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्" (३।१७) से स्पष्ट है कि दूसरा संन्यास या स्वयमेव कर्मोका छूट जाना भी गीताको मान्य है। इसकी आवश्यकता एवं महत्ता भी वह समझती है। द्विविध निष्ठाओंका जो वर्णन दूसरे, पाँचवें और छठे अध्यायोमे खासतौरसे आया है और दोनोको जो वहा परम कल्याण या मोक्षके देनवाले माना है, उससे भी इसकी कर्त्तव्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इस बातका अधिक विवेचन पहले ही किया गया है।

अब रहा तीसरा या मोह और कष्टके डरसे कर्मोका त्याग। इसीकी बहुत ज्यादा निन्दा तीसरे अध्यायके इन्ही श्लोकोंमे बार-बार की गई है। इसका विवेचन हमने अभी किया है। "नियतस्य तु" (१८।७) और "दुःखमित्येव" (१८।८) मे भी तामस और राजस कहके इस सन्यासको निन्दित बताया है। "न बुद्धिभेदं जनयेत्" (३।२६) मे भी इसी बातपर पूरा जोर दिया गया है कि सर्वसाधारण लोग हर्गिज कर्म न छोडे। इस प्रकार इस विवेचनने संन्यासका मार्ग अर्जुनके दिमागमे साफ कर दिया है और कर्म करनेका भी।

अब आगे जो कुछ विवेचन इस कर्मका किया जा रहा है वह इसी दृष्टिसे कि समाजका काम चलाने उसे कायम रखने और उसकी प्रगतिके लिये कर्म अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। इनके बिना एक क्षण भी समाजका काम चल नही सकता है। यज्ञचक्रके रूपमे इन कर्मोका जो वर्णन किया गया है उसका रहस्य तो पहले ही बताया जा चुका है। यज्ञोका संकुचित अर्थ यहा अभिप्रेत नही है, यह बात १०से १३तकके श्लोकोंमे ही, जो यज्ञचक्रके निरूपणके ठीक पहले आये है, सिद्ध हो जाती है। दसवे श्लोकमे जो "प्रसविष्यध्वम्" तथा "कामधुक्" शब्द आये हैं उनका अर्थ है फलना, फूलना और विस्तार प्राप्त करना। इनके भीतर तो समाजके सारे काम आ जाते है। कोई भी बचने नही पाता। यह बात सर्व-साधारणके द्वारा आमतौरसे माने गये घृत आदिकी आहुति रूपी यज्ञोंसे तो

होनेकी नहीं। यह दावा तो इन यज्ञोंके समर्थक भी नहीं करते कि इन्हींसे सब काम हो जायगा। फलतः खेती, गिरस्ती आदिकी जरूरत हुई नही। कामधेनु कहनेसे भी यही बात सिद्ध होती है कि यह सब कुछ देने वाली चीज है। "इष्टान् भोगान्" (३।१२) मे यही कह भी दिया है। इसीलिये देव शब्दका अर्थ भी रूढ़ नही है। यहाँ खास ढंगके देवताओंसे मतलब न होके दिव्य या अलौकिक शक्ति, प्रतिभा आदि सम्पन्न सभी पदार्थको देव कहते हैं। इसीलिये गीताने यज्ञोंका अनेक विस्तृत रूप स्वयं बताया है। हमने भी इसपर पूरा प्रकाश डाला है। यज्ञके रूपमें ही कर्मोंपर जोर देनेके लिये ही आगेके श्लोक लिखे गये हैं।

कुछ अर्द्धदग्ध एवं अक्षरकट्ट लोग अपनी असली मनोवृत्तिको छिपाके केवल इस दलीलके आधारपर ही कर्मोंसे पिंड छुड़ाना चाहते हैं कि ये तो जन्म, मरणादि बन्धनके कारण हैं। फिर इन्हें क्यों करें? उनका उत्तर यह है कि—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥९॥

हे कौन्तेय, (जब कि) यज्ञके लिये किये गये कर्मोंके अलावे बाकी कर्मोंमें ही लोग बंधनमें फँसते हैं, तो तुम आसक्ति या हाय-हाय छोडके यज्ञार्थ कर्मोंको ही ठीक-ठीक करो।९।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

पूर्व समय—सृष्टिके आरंभ काल—में ब्रह्माने लोगों—प्रजा—को यज्ञके साथ ही पैदा करके कह दिया कि इस (यज्ञ) के जरिये खूब फलो फूलो और तरक्की करो (और) यह तुम्हारे लिये कामधेनुका काम दे।१०।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंको सन्तुष्ट करो, पुष्ट और समुन्नत करो और वे देवता तुम्हें भी वैसा ही करें। (इस तरह) परस्पर एक दूसरेको सुखी-सम्पन्न बनाते हुए परम कल्याण—मोक्ष—प्राप्त करो।११।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥१२॥

क्योंकि यज्ञोंके द्वारा तृप्त और प्रसन्न किये गये देवता तुम्हें सभी अभिलषित पदार्थ देंगे। इसीलिये उन्हींके दिये इन पदार्थोंको उन्हें भेंट न करके जो (स्वयंमेव) हड़प लेता है वह अवश्यमेव चोर है।१२।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।

यज्ञके बाद बचे-बचाये पदार्थोंको भोगनेवाले मनुष्य सभी पापों और बुराइयोंसे छुटकारा पा जाते है । (लेकिन) वे पापी लोग तो पापको ही भोगते हैं जो केवल अपने ही लिये (पदार्थ) पकाते है—तैयार करते हैं ।१३।

इस श्लोकके "यज्ञशिष्टाशिनः" मे अश् धातु भोजनार्थक है। मगर जिस भुज् धातुसे भोजन शब्द बनता है उसीसे भोग भी बनता है। इसीलिए भोजन या अशनका अर्थ केवल पेटमे डालना ही नही है। मार खाने, धोका खानेमे भी तो खाना आता है। मगर ये तो पेटमे रखनेकी चीजे है नही। उसी प्रकार यहाँ भी समझना होगा। यज्ञके बाद जो शेष रहे उसी पदार्थको खाना पहनना या अपने निजी काममे लाना यही 'यज्ञशिष्टाशन' का अर्थ है। उसी तरह 'पचन्ति' मे पच् धातुका अर्थ पकाना है और भात रोटी आदिके पकानेको ही आमतौरसे पकाना कहते है। मगर फसल पक गई, घड़ा पक गया, आम पक गया फोड़ा पक गयामे तो तैयार होना ही अर्थ है। महाराष्ट्रमे फसलको ही पाक कहते हैं। यहाँ भी तयार करना ही अर्थ उचित है। सभी प्रकारके पदार्थोको तयार करके पहले उन्हे यज्ञार्थ अर्पण करना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि उनके कुछ अंश यथाशक्ति समाजहित या परोपकारके कामोंमे लगाके शेषको ही निजी काममे लाना उचित है। अन्न पकाके भगवान या देव-पितरोको अर्पण करना भी इसीमे आ जाता है।

ऐसा करनेके बाद जो पदार्थोंको भोगता है वही महापुरुष यज्ञशिष्टाशी है। विपरीत इसके जो सब कुछ निजी कामोमे ही खर्च करता है वही पापी है। उसके पदार्थको दरअसल पाप ही कहा है, यद्यपि देखनेमे वह स्थूल पदार्थ प्रतीत होता है। असलमे ऐसा स्वार्थी बननेपर समाज एक मिनट भी टिक सकता नही। जब हरेकको अपनी अपनी ही सूझी तो समाज रहेगा कैसे? वह तो उसी क्षण खत्म हो गया। ऐसे स्वार्थी होनेपर कोई भी कायम नही रह सकता। जबतक एक दूसरेकी फिक्र और पर्वा कमवेश न करें तभीतक मिलेगे। किसीका भी काम चल सकेगा ही नही। इसीलिए हम इसे पाप कह रहे है। मनुने यज्ञशिष्ट पदार्थको अमृत कहा है। उनके यहाँ तो अग्निहोत्र ही था। केवल देवपितरोके लिए जो कर्म है वे उन्हींको जाने यज्ञ माना था। इसीलिए यज्ञके सिवाय दूसरे परोपकारी कामोमे जो चीजे लगे उसको उन्होने विघस नाम दिया था। "यज्ञशिष्टामृतभुजः" (४।३१) मे गीताने भी यज्ञशिष्टको अमृत ही कहा है। जो बात गीताके १३वे श्लोकमे लिखी है वही मनुस्मृतिमे भी यों

लिखी है कि "अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते" (३।११८)। इस श्लोकमें गीताके ही अधिकांशको अक्षरशः दे दिया है। पूर्वार्द्ध तो प्राय जैसेका तैसा ही गीताके श्लोकका उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्धमे भी गीताके उत्तरार्द्धका आधा प्रायः ज्योंका त्यों और उसके 'सन्त' की जगहपर ही 'सता' दे दिया है। पुराने समयमें इस यज्ञका इतना ज्यादा महत्त्व था कि ऋग्वेदमे भी गीताके "भुंजतेतेत्वघं पापाः' की ही तरह लिख दिया है कि "नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (१०।११७।६)। मंत्रके देखनेसे यह भी पता चलता है कि ऋग्वेदके समय यज्ञका व्यापक अर्थ गीताकी ही तरह माना जाता था। इसीलिये अर्यमा और सखाकी पुष्टिकी बात इसमे आई है। अर्यमा मेघ सरीखे देवताको और सखा बन्धुबान्धवको कहते है।

आगे जिस यज्ञचक्रका वर्णन है उसका संक्षिप्त रूप प्राय इसी तरहका मनुस्मृतिमे यो पाया जाता है, "अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा" (३।७६)। महाभारतके शान्तिपर्व (२४०।३८-९२) मे भी इस यज्ञकी बात विस्तृत रूपमे आई है। मगर गीताके यज्ञचक्रकी खूबी कही है नही। हमने इसका पूर्ण विवरण पहले ही लिखा है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्नसे प्राणी और सत्ताधारी पदार्थ बनते है—उत्पन्न होते हैं। वृष्टिसे अन्न पैदा होता है। यज्ञसे वृष्टि होती है। कर्मोंसे यज्ञ बनता है—यज्ञका स्वरूप तैयार होता है। कर्म वेद (जैसे ज्ञानभंडार) से ही मालूम होते है—जाने जाते है और वेद जैसा ज्ञानभंडार अविनाशी (समष्टि महाभूत परमात्मा) से पैदा होता है। इसीलिए सभी बातोंको अवगत कराने—जनाने—वाले वेदरूपी ज्ञानभंडारका तात्पर्य यज्ञ करनेमे ही है। यज्ञ ही उसका आधार भी है।१४।१५।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

(इसलिये) हे पार्थ, इस प्रकार जारी किये गये (यज्ञ) चक्रको इस दुनियामें जो (आदमी) कायम नहीं रखता (उसका) जीवन पापमय है, वह केवल इन्द्रियोंको ही तृप्त करनेवाला है। (इसीलिये) उसका जीना बेकार है।१६।

यहाँ यज्ञचक्रके सिलसिलेमें इतनी सख्तीके साथ इसके चालू रखनेकी बात कही गई है कि सन्देह होने लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि गीताके मतसे कर्मोंका त्याग कभी होई नही सकता। जब कर्म ही संसारकी स्थिति, वृद्धि और प्रगतिके लिए कामधेनु है, जब इन्हीके द्वारा सब कुछ हो सकता है, जब यज्ञचक्र-के रूपमें कर्मोंका सिलसिला जारी नहीं रखनेवालेकी जिन्दगी व्यर्थ है, वह पाप-मय जीवन ही गुजारता है एवं पामर विषयलोलुपोंकी तरह एकमात्र इन्द्रियोंका ही पोषक है, ऐसा स्वयं गीताका आदेश है, तब तो यह खयाल होना स्वाभाविक ही है कि किसी भी दशामे कर्मोंसे जिसका ताल्लुक टूटा वह पापी और बदमाश ही माना जायगा। कमसे कम गीताका तो यही सिद्धान्त होगा—वह तो इसीपर मुहर लगायेगी। ऐसी दशामे शुकदेव, वामदेव जडभरत आदिकी तरह जिनके कर्म खुदबखुद पके फलकी तरह छूट गये है, गिर गए है और जो मस्तीकी लापर्वाही—बेफिक्री—जिन्दगी गुजारते है, उनका क्या होगा ? वे भी वही "अघायु-रिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति" वाले घोर अभिशापके शिकार होंगे ? होना तो चाहिए। मगर यह तो असंभव, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक तथा केवल हास्यजनक बात मालूम पड़ती है। वह तो इतने ऊँचे है कि उनतक यह अभिशाप कभी पहुँची नही सकता। यह अजीब पहेली है! यह निराली समस्या है! जो अपनी आत्मामे ही—आत्मानन्दमें ही—रम गये है, उसीमे तृप्त है और उसीमें सन्तुष्ट है; जिनकी अपनी तृप्तिसे ऐसा हो गया है कि फिर कभी दूसरी ओर जाई नही सकते—जो सदाके लिये संतुष्ट हो चुके है, उनके सम्बन्धमें सचमुच यह पेचीदा पहेली ही है जिसका सुलझाना असंभव लगता है। मगर गीता इसको—बीचमे ही एकाएक पेश इस समस्याको—आगेके दो श्लोकोंमे आसानीसे सुलझाके पुनरपि इस कर्मके यज्ञचक्रकी बातको ही पकड़ती और आगे बढती है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

(लेकिन) जो मनुष्य तो आत्मामें ही रम गया है, आत्मा हीमें तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है उसका कुछ भी कर्त्तव्य रही नही जाता है। न तो उसके करनेसे कुछ बनता ही है और न नही करनेमे बिगड़ता ही। सभी भौतिक पदार्थोंमे कोई भी ऐसा हई नही जिसका आश्रय वह किसी भी कामके लिये ले।१७।१८।

यहाँ अर्थ शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमे आया है जैसा कि बातचीतमें ऐसे मौकेपर आया करता है। आमतौरसे काम, चीज या बात शब्द जिस मानीमें बोले जाते है, ठीक उसी मानीमे यह अर्थ शब्द आया है। यहाँके सभी अर्थ शब्दोंका यही मतलब है। इसीलिये सीधा अर्थ यही हो जाता है कि उसके करने-न करनेमे न तो कुछ बनना-बिगडना है और न दुनियाकी कोई भी ऐसी चीज रही जाती है जिसकी प्राप्तिकी कोशिश करनेकी उसे जरूरत हो। फिर उसके लिये कर्म करना जरूरी होगा क्यों? आखिर कर्मोंकी जरूरत होती है अपने या दूसरेके किसी मतलबके ही लिये न? मगर जिसके कर्मोंसे किसीका कोई भी मतलब सिद्ध होनेवाला होई न, वह क्योंकर उन्हे करे? हाँ, यदि न करनेमे कुछ भी बिगडने वाला हो, किसीका भी बिगडनेवाला हो, तो भी एक बात है। मगर यहाँ तो वह बात भी नही है। सबसे बडी बात, सब बातोंकी एक बात यह है कि राईसे लेकर पर्वततक या चींटीसे लेकर भगवानतकमे कोई न कोई काम निकालनेके ही लिये क्रिया या कर्मकी जरूरत पडती है। मगर मस्तरामके लिये तो यह भी बात नहा है। उनके कर्मोंके फलस्वरूप किसीसे भी कोई काम सधने-बननेका हई नही।

श्लोकमें "कश्चिदर्थ व्यपाश्रय" आया है। उसका खास महत्त्व और मतलब है। किसी भी कामके लिये हमे तो किसी न किसी छोटे-बडे पदार्थका आश्रय—सहारा—लेना ही होता है। मगर मस्तरामके लिये ऐसा कोई पदार्थ रही नही जाता। उसके लिये तो सभी अपनी आत्मा ही है—आत्मासे जुदा कोई हई नही। कही चुके है कि वह "सर्वभूतात्मभूतात्मा" हो जाता है। तब किसका सहारा ले? किसकी ओर नजर दौडाये? किधर बढे, चले? कोई दूसरा हो तब न? यहा तो सब कुछ वही है—"आत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति" (बृहदा० ४।४।२३), "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं जिघ्रेत् ......केनकं विजानीयात्" (बृह० ४।५।१५)। वह तो अपने आपको ही सर्वत्र देखता है, सुनता है, पढता है, समझता है। क्योंकि उसकी नजरोंमे दूसरा कोई हई नही, द्वैत मिट गया, 'दुई' जाती रही, "दुई रा चं बगर करदम यकी दीदम दो आलम रा। यकी जूयम यकी बीनम यकी ख्वानम यकी दानम।" फिर तो बिना कुछ किये ही सब कुछ हाजिर है! शाहंशाह जो ठहरा! प्रकृतिकी हिम्मत कि उसकी दरबारदारी न करे? इसीलिये हर चीज उसीका आश्रय लेती है, अनायास अधीन हो जाती है। महाभारतके 'यदा च नाहमिच्छामि गन्धान्घ्राणगतानपि। तदा मे सर्वदा भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा" आदि कई श्लोकोमे यही दिखाया है कि सभी चीजे उसके चाहे बिना ही हाजिर रहती है! जो लोग उसे खिलाते-पिलाते या शरीर-

सेवा करते हैं उनका मनोरथ और उनकी सभी जरूरतें अकस्मात् पूरी होती रहती हैं। तब और चाहिये ही क्या?

कुछ लोगोंने यह कोशिश की है कि 'तस्य कार्यं' आदिमें षष्ठी विभक्तिका सम्बन्ध अर्थ लगाके यहाँ यह अभिप्राय बतायें कि उसे अपने लिये कोई कर्त्तव्य नही रह जाता है। इसीलिये जो कुछ करता है वह परोपकार और लोकसंग्रहके ही लिये। मगर वह भूल जाते हैं कि "कृत्यानां कर्त्तरि वा" (२।३।७१) और "कर्तृकर्मणो कृति" (२।३।६५) इन पाणिनीय सूत्रोंके रहते उनका यह मतलब पूरा होनेका नहीं। यह तो कर्त्ताके ही अर्थमें षष्ठी बताते हैं, न कि सम्बन्धमें। एक बात और भी तो देखें कि पहले तो साधारण कर्मियोंकी ही बात कही गई है, जैसा कि बता चुके हैं। इसके बाद भी वही बात है। तो फिर बीचमें यह कर्मयोगीकी बात कैसे आगई? और उसका प्रसंग भी कौनसा आ गया? लोक-संग्रहकी बात तो "कर्मणैव हि" (३।२०) श्लोकमें फौरन ही आगे कही गई है। फिर एक श्लोक पहले भी उसे कहनेका क्या मौका? यही नहीं २० से २६ तकके श्लोकोंमें इस लोकसंग्रह और परोपकारकी बात बहुत विस्तारसे लिखी गई है। फिर यहां कैसे बेमौके आ गई? सो भी अधूरी? किसी-किसीको बारह महीने हरियाली ही सूझनेकी बात ठीक नहीं। सर्वत्र एक ही चीज को देखने और बतानेकी कोशिश उचित नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिये आसक्ति छोड़के—पूर्व बताये ढंगकी हायहाय छोड़के—अपना कर्त्तव्य कर्म ठीक-ठीक करते रहो। क्योंकि आसक्ति छोड़के कर्मोंको करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है।१९।

लेकिन यदि परमात्माको प्राप्त करना न हो तो? जो लोग आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त हैं उन्हें न तो कोई सांसारिक-पदार्थ ही प्राप्त करने योग्य रहते हैं और न परमात्मा ही। वह तो खुद ही परमात्मा—निर्वाण-ब्रह्म—हो जाते हैं। फिर वह क्यों कर्म करेंगे? वह तो नहीं ही करेंगे न? नहीं नहीं, वह भी करेंगे, यदि पूरे मस्तराम परमहंस न हो गये हों। यदि पूछें कि क्यों? तो सुनिये—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥२०॥

आखिर संसिद्धि—ब्रह्मनिर्वाण—को प्राप्त हुए जनक आदि भी (तो) कर्म करते ही रहे—उनने कर्मको ही अपना साथी बराबर बनाये रखा। इसलिये

लोकसंग्रह—संसारका पथप्रदर्शन – करनेका ही खयाल करके भी (तो) तुम्हें कर्म करना ही होगा—करना ही चाहिये ।२०।

यहाँ जो लोग यह मानते हैं कि जनकादिको कर्मसे ही मोक्ष मिला, वह एक तो यह भूल जाते है कि मोक्ष ज्ञानसे ही मिलता है। यह बात हम बहुत ही खूबीके साथ बता चुके है। उनने भी दूसरी जगह यही माना है। यदि मान भी लें कि कर्मसे भी मुक्ति होती हैं, तो भी यह तो वे भी नहीं मानते कि निरे कर्मसे मुक्ति होती है। वे तो ज्यादेसे ज्यादा यही मानते है कि ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयसे—दोनोंकी सम्मिलित शक्तिसे—ही मोक्ष मिलता है। मगर यहाँ तो 'कर्मणा एव' लिखा है, जिसका अर्थ है सिर्फ कर्मसे। यह कैसे होगा? इसीलिये यहाँ कर्मणा इस तृतीयाको "कर्त्तृकरणयोस्तृतीया" (पा०२।३।१८) के अनुसार साधन वाचक न मानके 'विनाऽपि तद्योगं तृतीया'के अनुसार 'सह' शब्दके न रहनेपर भी उसका अर्थ प्रतीत होनेपर ही तृतीया हो जाती है, यही मानना उचित है। हम इसीलिये, कर्मके साथ ही रहे, बराबर कर्म करते ही रहे, उसे कभी न छोड़ा यही अर्थ किया भी है।

सबसे मार्केकी बात यहाँ, यह है कि इससे पहले के श्लोकमें 'तस्मात्' कहके एक बातका उपसंहार कर लिया है, ऐसा स्पष्ट है। इसलिये इस श्लोकमें कोई दूसरी नई बात शुरू होके आगे चल रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये इस श्लोकके पूर्वार्द्धका मिलान उत्तरार्द्धके साथ करनेसे और उसीके अनुसार आगे बढ़नेसे सब बात ठीक हो जायगी। नहीं तो यह पूर्वार्द्ध योंही बीचमें ही लटका रह जायगा। क्योंकि उत्तरार्द्धका तो साफ ही आगेसे सम्बन्ध मानना होगा। जिस लोकसंग्रहका इसमें उल्लेख सूत्र रूपसे है उसीका भाष्य आगेके पूरे छै श्लोक करते है। जनकको लोकसंग्रह करनेवाला और पथदर्शक कर्मयोगी मानते भी हैं। इसलिये उत्तरार्द्धके साथ मिलाके हमने जो अर्थ किया है वही यहाँपर उचित और ठीक है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

बड़े लोग जो जो करते हैं वही वही काम जनसाधारण भी करते हैं। बड़े जितना करते और जिसे सही मानते लोग भी उतना ही करते और उसीको सही मानते हैं ।२१।

यहाँ 'प्रमाणं' का अर्थ प्रमाण या सही भी है और नापजोख भी। 'यत्प्रमाणं' शब्द जब समस्त माना जाय तब तो इसका अर्थ है 'जितना'। और अगर यत्

तथा प्रमाणं अलग-अलग दो शब्द स्वतंत्र माने जायं •तब 'जिसे सही' यह मानी है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ, तीनों लोक—सारे संसारमे—मेरा कुछ भी कर्त्तव्य रह नही गया है। ऐसा भी नही कि कोई वस्तु मुझे हासिल न हो (और) उसे प्राप्त करना हो। फिर भी (देखो न) कर्ममे लगा ही रहता हूँ।२२।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योकि हे पार्थ, अगर मै (खुद) कभी भी आलस्यरहित होके कर्म करनेमे हिचकूँ तो सभी लोग मेरा ही रास्ता (चट) अखतियार कर लेगे।२३।

इस सम्बन्धमे यह याद रखना होगा कि श्रीकृष्णकी रासलीला का इस कथन से स्पष्ट विरोध होने के कारण वह प्रक्षिप्त तथा पीछे जोडी गई चीज है। शिशुपालसे बढकर कृष्णका शत्रु कोई न था जो खुले आम गालीगलौज करता और उनके सच्चे-झूठे ऐबोके बारेमे लेक्चर देता फिरता था। युधिष्ठिरके यज्ञमे जब कृष्णकी पूजाकी गई तो उसे बर्दाश्त न हो सकी। फलतः उसने बहुत कुछ अंटसंट बक डाला। उन्हे नीचा दिखानेके लिये यहाँ तक किया कि उनके मुरारि, मधुसूदन आदि नामोके अर्थ तक उसने बदल दिये, उन्हे खान्दानी भगोड़ा बताया, वगैरह वगैरह। मगर यह हिम्मत तो उसे भी न हुई कि कह डाले कि कृष्ण व्यभिचारी था, उसने गोपियोके साथ शरारत की, बदमाशीकी। यदि उसे जरा भी गन्ध इस बातकी मालूम होती तो ऐसा करनेसे वह हर्गिज न चूकता। फिर तो तिलका ताड़ बना छोडता। इससे स्पष्ट है कि कृष्णका चरित्र इतना ऊँचा था कि उनके कट्टरसे भी कट्टर दुश्मन तकको यह हिम्मत न थी कि इस बारेमे जबान भी खोले। यदि गोपियोकी रासलीलाकी गन्ध भी उस समय होती तो शिशुपाल क्या क्या न कर डालता, कह डालता ? इसलिये मानना होगा कि उस समय इसका नाम भी न था, चर्चा भी न थी। यह बात पीछे जुटी है, जोडी गई है।

श्री कुमारिलकी लिखी तन्त्रवार्तिक नामकी मीमासाकी पोथीकी एक महत्त्वपूर्ण चर्चा भी इस मामलेमे प्रकाश डालती है। मीमासादर्शनके सूत्रो पर जो शबर भाष्य है उसीकी टीकाका नाम तंत्रवार्तिक है। दरअसल भट्टपाद कुमारिलकी समूची टीका तीन भागोमे बँटी है। पहले अध्यायके प्रथम पादकी टीकाका नाम

है श्लोकवार्त्तिक। उस अध्यायके शेषको लेकर तीसरे अध्यायके अन्त तककी टीकाको ही तंत्रवार्त्तिक कहते हैं। शेषांशकी टीका कही जाती है टुप्टीका। उसी तंत्रवार्त्तिकमें प्रथमाध्यायके तीसरे पादके सातवें सूत्र 'अपिवा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्निति'' के व्याख्यानमें एक स्थानपर नास्तिककी शंकाके रूपमें लिखा है कि हिन्दू लोग जिस कृष्णको महान पुरुष मानते हैं उनकी हालत यह थी कि शराब पीते थे। उनने मामाकी लड़कीसे शादी भी की थी। दरअसल रुक्मिणी उनके मामूकी ही तो पुत्री थी। इस प्रकार धर्माचार्यों और अवतारों पर एकके बाद दीगर दोषारोपण करके सनातन धर्मकी निन्दा की गई है। किन्तु जहाँ ब्रह्मा, व्यास आदिके बारेमें उसने व्यभिचार आदिकी बातें लिखी हैं तहाँ कृष्णके बारेमें उसे सिर्फ पूर्वोक्त दोष ही नजर आये हैं। लेकिन यदि भट्टपादके समयमें रासलीलाकी बात प्रसिद्ध होती तो वह नास्तिकके मुँहसे जरूर ही वही बात कहलवाते। वह साधारण लोगोंके समझमें आनेकी बात भी थी। मगर शराब पीने या मामूकी कन्यासे शादी करनेकी बात तो कुछ ऐसी ही है। फलतः मानना होगा कि नवीं शताब्दी तक, जब कि भट्टपाद हुए, रासलीलाका पता कहीं न था। यह तो उसके बाद ही पोथियोंमें घुसेड़ी गयी मालूम पड़ती है। खूबी तो यह है कि कुमारिलने समाधान करते हुए जहाँ लिखा है कि रुक्मिणी सचमुच मामूकी लड़की न थी, वहीं यह भी लिखा है कि जो कृष्ण संसारके लिये आदर्श-स्थापक थे वह ऐसा विरुद्ध काम भला कैसे कर सकते थे? फिर उनने गीताके उन्हीं श्लोकोंको उद्धृत भी कर दिया है कि 'मम वर्त्मानुवर्त्तरन्मनुष्याः पार्थ सर्वशः। यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्त-दनुवर्त्तते'' (३।२३।२१)। उनका यह उद्धरण बड़े कामका है और वस्तुस्थितिको बताता है।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

(नतीजा यह होगा कि) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सभी लोग—सारी दुनिया—ही चौपट हो जायँ। (इस तरह) मैं ही वर्णसंकर करनेका जिम्मेदार बन जाऊँ (और) इस सारी प्रजाका नाशक हो जाऊँ।२४।

ख्याल हो सकता है कि जब सबोंको एक ही लाठीसे हाँका जाता है, जब कर्मोंका करना विद्वान-अविद्वान् या ज्ञानी अज्ञानीके लिये समान रूपसे ही जरूरी है, तो फिर दोनोंमें फर्क रही क्या जाता है? ज्ञानीको विद्वत्ताने उसे क्या किया? यह तो कुछ उलटीसी बात हो गई। अविद्वान्को आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ये तीन ही कष्ट होते हैं। मगर विद्वान् होनेपर बड़े-बड़े पोथोंके अभ्यास करनेका कष्ट, यदि कुछ भूले तो उसका, अगर कहीं विवादमें हारे तो

उसका और न हारनेपर जबर्दस्त साँड़की तरह गर्वका, इस तरह कुल सात कष्ट हो जाते हैं। कहाँ चले थे तीनोंसे पिंड छुड़ाने और कहाँ चार और जुट गये ! "चौबे गये दूबे बनने तो छब्बे होके लौटे" वाली बात हो गई ! इसीलिये नारदने सनत्कुमारसे कहा था कि महाराज, कोई रास्ता बताइये, नहीं तो यह तो बला हो गई और लेनेके देने पड़ गये ! जितना ही पढ़ा और पोथी-पुराण उलटा उतनी ही आफत बढ़ती गई, जैसा कि (छान्दोग्य ७।१।१-३) तथा "वेदाभ्यासात्पुराता-पत्रयमात्रेण दुःखिता। पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता" (पंचदशी ११।१९) में लिखा है। जब दोनों ही गधेकी तरह दिनरात कर्मोंमें खटते-मरते ही रहेंगे, तो सचमुच ही दोनोंमें फर्क होगा क्या ? इसका उत्तर यह है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, कर्मोंमें लिपटे-चिपटे अनजान लोग जिस तरह उन्हें (पूरा दिल लगाके) करते हैं विद्वान् भी वैसा ही दिल लगाके करे। (मगर फर्क यही रहे कि एक तो वह) उनकी तरह लिपटा-चिपटा न रहे या हाय तोबा न करे। दूसरे उसका लक्ष्य लोकसंग्रह ही रहे।२५।

जो लोग खयाल करते हैं कि निजी स्वार्थ न रहने और आसक्ति खत्म हो जानेपर कर्म उतनी खूबी और लगनके साथ नहीं किये जा सकते, उनका उत्तर भी इसीमें आ गया है। विद्वान्का अपना तो समस्त संसार ही हो जाता है—उसका परिवार तो बहुत विस्तृत एवं व्यापक हो गया। इसीलिये उसकी लगन कर्मोंमें और भी तेज हो जाती है। यह हाय-तोबा न रहनेके कारण उसकी सारी दृष्टि इधर-उधर न बँटके कर्मपर ही रहनेसे कर्म और भी खूबी तथा सुन्दरताके साथ पूरा होता है। यही तो है कर्मके ऊपर समस्त शक्तिका केन्द्रीभूत (Concentration) होना। हाय-तोबा खत्म हो जानेसे बेचैनी—परीशानी—भी नहीं रहती। वह बराबर मस्त भी रहता है।

जिनका विचार हो कि विद्वान् स्वयं तो कर्म लगनके साथ जरूर करे। मगर अज्ञानियोंको कुछ समझाता-बुझाता भी रहे कि वे कर्ममें आसक्ति छोड़ें और अपनी प्रगतिका रास्ता साफ करें, उन्हींके लिये आगेके चार (२६-२९) श्लोकोंकी बातें हैं। दरअसल अविद्वान् और अज्ञानी जनोंको दो दलोंमें बाँट सकते हैं। एक तो ऐसे लोगोंका, जो कुछ न कुछ समझते हैं सही। फिर भी विद्वानोंके समान या उनके समाजके लायक नहीं होते। उन्हें अक्षरकट्टू कहिये, टुटपुँजिये समझदार कहिये, या अर्द्ध-दग्ध कहिये। मगर उनमें इतनी ही विशेषता होती है कि वे

बातें समझते हैं, समझानेसे कम-बेश समझ सकते हैं। इसीलिये वे गीताकी गिनतीमें और गीताधर्मकी ओर अग्रसर होनेवालोंमें भी आ सकते हैं, यद्यपि उनका दर्जा सबसे नीचे होता है। ऐसे ही लोगोंके बारेमें "असक्तः स विशिष्यते" (३।७) कहा गया है। उन्हें समझाना-बुझाना ठीक ही होता है—उसका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, फिर चाहे जल्द हो या देरसे हो।

मगर दूसरा दल ऐसोंका होता है जो चींटेकी तरह कर्मोंसे लिपटते हैं, ऊँटकी पकड़ पकड़ते हैं। वे जिस चीजको पकड़ते हैं उसे छोड़ना जानते ही नहीं। वे इतने सीधे और भोले होते हैं कि विवेक और अक्लसे उन्हें ताल्लुक होता ही नहीं। वे तो सिर्फ देखा-देखी करते हैं। उन्हें समझाइयेगा तो शायद ही समझें। इसीलिये सीधे कह दीजिये कि यह काम करो और वे उसमें तन-मनसे लिपट पड़ेंगे। सच पूछिये तो उन्हींके लिये कह सुनानेकी अपेक्षा कर दिखानेकी जरूरत कहीं ज्यादा होती है। पहले जो कृष्णने अपना दृष्टान्त देकर लोकसंग्रहका विवरण बताया है वह ऐसों हीके लिये है। लोकसंग्रहके लोक या लोग ऐसेही सीधे जन हैं। उन्हींका संग्रह या सन्मार्गपर लाना, यही लोकसंग्रह है। उन्हें इधर-उधर भटकने न देके एक रास्तेमें बाँध रखा जाता है।

ऐसे ही लोगोंके बारेमें एक पण्डितजीके श्राद्ध करवानेकी बात कही जाती है। पंडितजीका यजमान इतना सीधा था कि ठीक ही आँख मूँदके चलता था। पिण्डदानके समय पहले ही पंडितजीने उससे कह दिया कि मैं जो बोलूँ वही तुम भी बोलना। उनका आशय तो था मंत्रोंसे, कि मैं जो मंत्र जैसे पढ़ूँ तुम भी वैसे ही पढ़ते जाना। मगर वह था इतना सीधा कि उसने ऊँटकी पकड़ पकड़ ली। जब पंडितने श्रीगणेश करते हुए उससे कहा कि तैयार हो जाओ, तो वह भी चट बोल बैठा कि तैयार हो जाओ। इसपर पंडितजीने रंज होके कहा कि मैं तुमको पिंडदानके लिये तैयार हो जानेको कहता हूँ। फिर तो वह भी बोल उठा कि मैं तुमको पिंडदानके लिये तैयार हो जानेको कहता हूँ! अजीब बात थी! पंडितजी जो बोलते थे वह भी वही दुहराता जाता था। उनने लाख कोशिश की कि उसे समझाके ठीक करें। मगर घंटों इस हुज्जतमें लगनेपर भी कुछ नतीजा न हुआ। उसने तो उनकी शुरूवाली बात पकड़ ली थी। बस, ऐसे ही लोगोंसे यहाँ मतलब है। उन्हें समझानेकी कोशिश करना बला मोल लेना है, जैसी कि पंडितजीकी हालत हुई, परीशानी हुई, और अन्तमें क्रोधमें पटका-पटकी तक हो गई, जिसमें उसने पंडितजीको धर दबोचा। मजबूत तो था ही। खूबी तो यह कि इतनेपर भी वह समझता था कि मैं श्राद्ध ही कर रहा हूँ और यही श्राद्ध है! ऐसे लोगोंको समझानेकी कोशिश करनेपर वह कहींके नहीं रह जाते। वह तो

ऊँटकी पकड़वाली एक ही अक्ल जानते है, जैसा कि हितोपदेशका मेढक केवल भागनेकी एक अक्ल—एक बुद्धि जानता था। उपदेश देनेमे वह बुद्धि भिन्न हो जाती है, टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, बँट जाती है और वह आदमी कहींका रह जाता नही।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

कर्मोमे लिपटे-चिपटे भोले अज्ञानी जनोकी (उस ऊँटकी पकड़वाली एक) अक्लको छिन्न-भिन्न (हर्गिज) न करे। किन्तु योगी विद्वान स्वयं सभी कर्मोको करता हुआ (देखा-देखी) उनसे भी करवाये।२६।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥२७॥

(क्योकि यद्यपि) प्रकृतिके गुणोके द्वारा ही सभी कर्म किये जाते है (न कि आत्मा करती है। तो भी) जिनकी आत्मा अहन्ता-ममता—मै और मेरके खयाल—के करते बिल्कुल ही मोहमे—घोर अँधेरेमे—फँसी है; फलत जिन्हे (कुछ भी नही सूझता) वह अपने आपको ही करनेवाले माने बैठे होते है।२७।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

हे महाबाहो, (इसके विपरीत) जो लोग गुणो और कर्मोके हिसाब-किताब और ब्योरेको पूर्ण रूपमे जानते है—उसकी असलियतको देखते है—(कि किस गुणके साथ किस कर्मका कैसा ताल्लुक है) वह ना, यही जानकर कि गुणोंसे बनी कर्मेन्द्रियाँ ही उन्हीसे बने कर्मोमे लगी है, उन कर्मोमे लिपटते नही।२८।

प्रकृतेर्गुणसमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

(लेकिन) जो प्रकृतिके गुणोकी इन सभी बातोको कतई जानते ही नही, वे गुणोके कर्मोमे खुद फँस जाते है। (इसीलिए) सारी बातोको पूर्ण रूपमे न जान सकनेवाले उन नादानोंको सभी बातोका जानकार आदमी (हर्गिज) घपलेमें न डाले।२९।

हमने पहले गुणवादके प्रकरणमे इन तीनो गुणोके सभी पहलुवोंपर पूर्ण प्रकाश डाला है। वही बताया है कि किस तरह गुण आपसमे मिलके चलते और सभी कर्म करते-कराते है। इन्द्रियोका भी विवरण अच्छी तरह दिखाया गया है

कि कौनसी इन्द्रियाँ किस गुणसे बनी है। इन्द्रियोंको और समूचे संसारको भी—इसीलिये कर्मोको भो—गुण क्यो कहते है यह भी बताया गया है। ऊपरके तीन (२७-२९) श्लोकोमे यही बाते कही गई है। इसीलिए कर्मों और इन्द्रियोंको भी गुण कहा है और गुणो तथा कर्मोंके बँटवारे या विभागकी भी बात इसीलिए कही गई है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

(इसलिये तुम) आत्मज्ञानके बलसे सभी कर्मोको मुझमे—भगवानमें—अर्पण करके (और) सभी तरहकी आसक्तियो एवं ममताओसे रहित होके मस्तीके साथ लड़ो।३०।

यहाँ जो 'अध्यात्मचेतसा' दिया है, ठीक इसी तरहकी बात "चेतसा सर्वकर्माणि" (१८।५७) मे आई है। गौरसे देखनेसे मालूम होता है कि दोनो जगह एक ही बात कही गई है। मगर अठारहवे अध्यायवाले श्लोकके उत्तरार्द्धमे "बुद्धियोगमुपाश्रित्य" शब्द भी आया है। उससे पूर्वके (५०-५६) श्लोकोमे ज्ञाननिष्ठाकी ही बात आई है। सो भी सबसे ऊँचे दर्जेकी—परा—ज्ञाननिष्ठाको बात। उसीके सिलसिलेमे छठे अध्यायके ध्यानयोगकी ही तरह वहाँ भी ध्यानयोगकी और उसके साधन-स्वरूप नियमित भोजन आदिका वर्णन आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है समाधि वगैरहके द्वारा पूर्ण आत्म-साक्षात्कार और आत्मानुभवकी बात वहाँ कही गई है। यही वजह है कि उसी समाधिकी सिद्धिके लिये कर्मोका स्वरूपत त्याग भी जरूरी हो जाता है। यह बात वहाँ भी आई है। मगर आत्मज्ञान होनेके बाद भी शायद कर्मोके त्यागपर हठ होने लगे, इसीलिए यह कहनेकी जरूरत हुई है कि पीछे तो कर्मोके स्वरूपत. सन्यासकी जरूरत नहीं होती। या स्वयमेव छूट जायँ यह बात दूसरी है। तो फिर होता है क्या? होता है यही कि तत्त्वज्ञानके फलस्वरूप कर्मोको अपनेमे, आत्मामे तो सटने देते नही—कर्म आत्मामे तो रहने पाते नही। वहाँसे तो निकाल बाहर कर दिये गये! फिर वे रहे कहा यह सवाल होनेपर उत्तर मिलता है कि जहाँ सारी दुनिया रहती है। यह दुनिया तो भगवानमे ही रहती है यह बात "मयि सर्वमिदं प्रोत" (७।७), 'यो मा पश्यति सर्वत्र" (६।३०), "वासुदेवः सर्वमिति" (७।१९), 'यस्यान्त स्थानि भूतानि" (८।२२), "मत्स्थानि सर्वभूतानि" (९।४) आदिमे साफ ही कही गई है। इसीलिए "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि" (५।१०) मे भी कर्मोंको ब्रह्ममे ही स्थापित कर देनेकी बात कही गई है। वही बात यहाँ भी है। ज्ञानी यही समझता है कि मै तो कुछ कर्त्ता-धर्त्ता नही। सृष्टिका काम

चलता है तो चले । इसमें अड़ंगा डालनेवाला मैं कौन ? मैं ऐसा करूँ भी क्यों ? जिसकी यह सृष्टि है वह जाने और उसका काम जाने । मुझे इसकी फिक्र कि ये मेरे कर्म कहाँ रहेंगे और क्या करेंगे ? इन सभी वाहियात खुराफातोंका भार मेरे ऊपर तो है नहीं । यही है तत्त्वज्ञानपूर्वक कर्मोंका भगवानमें अर्पण, निक्षेप, स्थापना या संन्यास ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

जो मनुष्य हमारे इस सिद्धान्तके अनुसार काम करनेकी बराबर कोशिश करेंगे और मेरी बातोंमें श्रद्धा रखनेके साथ ही निन्दाकी जरा भी भावना न रखेंगे उनका भी कर्मोंसे छुटकारा होगा ।३१।

इस श्लोकमें यद्यपि 'अनुतिष्ठन्ति' शब्द है, जिसका अर्थ होता है कि मेरे मतके अनुसार अनुष्ठान या काम करते हैं । फिर भी यह ठीक नहीं है । क्योंकि उत्तरार्द्धमें जो 'वे भी—तेऽपि' लिखा है उससे पता चलता है कि तत्त्वज्ञानियोंके अलावे ये कोई दूसरे ही हैं । तत्त्वज्ञानियोंके कर्मोंसे छुटकारेकी बात तो पहले कही चुके । अब उसका कोई मौका हुई नहीं । अब तो नई बात कहनी है । तत्त्वज्ञानियोंके लिये श्रद्धा और निन्दा न करनेकी बात भी नहीं आती । वे तो इन सभी बातोंसे बहुत दूर और ऊपर होते हैं । उनके नजदीक भी कर्म नहीं फटक पाता । फिर उससे छुटकारेका क्या सवाल ? इसीलिए अनुष्ठान या काम करनेकी कोशिश करते है, यही अर्थ हमने किया है । यही उचित भी है । इसलिए नित्य या बराबर कहना भी ठीक होता है । क्योंकि बराबर कोशिश किये विना सफलता नहीं मिलती है । ज्ञानीके लिए तो बराबरकी बात हुई नहीं । उसके लिए यह कहना बेकार है । उस कोशिशमें ही श्रद्धाका होना और निन्दा-बुद्धिका न होना भी सहायक होता है । इसीलिए जरूरी है । श्रद्धा एवं अनसूया का इतना ही अर्थ है कि ईमानदारी के साथ दिलोजान से यत्न किया जाय ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

विपरीत इसके जो लोग मेरे इस सिद्धान्तकी निन्दा करते हुए इसके अनुष्ठानका यत्न नहीं करते, समझ लो कि उन्हें किसी बातकी जरा भी जानकारी नहीं है । हैं वे निर्बुद्धि और चौपटानन्द ही ।३२।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

ज्ञानी भी (तो) अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलता है। (क्योंकि) सबोंको प्रकृतिके अनुकूल ही चलना होता है। इसमें रोक-थाम क्या करेगी ?३३।

इस श्लोक और इसके बादके दो श्लोकोंको समझनेके लिए एक तो इसके स्थान और प्रसंगको ठीक-ठीक जानना होगा। दूसरे पूर्वके पाँच (२६-३०) श्लोकोंके अर्थपर दृष्टि देना पड़ेगा। यह जाननेमें कुछ दिक्कत नहीं है कि इस श्लोकका असली स्थान "मयि सर्वाणि" (३।३०) के बाद ही है। क्योंकि बीचके दो श्लोक योंही प्रासंगिक है। कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि कृष्ण किसी प्रकार अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके ही लिए सारा प्रपंच रच रहे और आडम्बर फैला रहे हैं, इसीलिये "ये मे मतमिदं" आदि दो (३१,३२) श्लोकोंमें यह कह दिया गया है कि यह सर्वोपयोगी ध्रुवसिद्धान्त है जो सबोंके लिये समान रूपसे लागू है। अतः जोई इसके अनुसार चलें या चलनेकी कोशिश ईमानदारीसे करें उन्हीं-का कल्याण हो जायगा। विपरीत इसके जो ऐसा न करेंगे वे चौपट भी जरूर हो जायँगे। फलतः इन दो श्लोकोंका कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है। ये योंही उठी शंका या खामखयालीको दूर कर देते हैं। इसीलिए बीचमें इनके आ जाने-पर भी इनके बादके ३३वें श्लोकका सम्बन्ध इनके पहलेके ३०वेंके साथ ही रहता है।

अब जरा पीछेवाले उन पाँचोंके अर्थोंपर गौर करें। उनमें यही कहा गया है कि नासमझ एवं सीधे-सादे लोगोंके सामने ज्ञान कथना न सिर्फ बेकार है, बल्कि खतरनाक भी है। क्योंकि वे दुबिधेमें पड जाते हैं। उनकी बुद्धि ऐसे घपलेमें आ जाती है कि वे न तो घरके रहते और न घाटके। इतना ही नहीं। यदि समझदार और बड़े-बूढ़े लोग कर्म न करें तो वह देखा-देखी वैसा ही करते है। फलतः चौपट हो जाते है। ज्ञानियों और बड़े-बूढ़ोंकी भीतरी बातें वे क्या जानने गये ? वे तो ऊपरसे कर्मोका त्याग देखके खुद भी वैसा हो कर बैठ—कर बैठते है। इसीलिये ज्ञानियोंके कर्मत्यागमें यह बड़ा खतरा है। इसीसे कृष्णने इसे रोका है और कहा है कि परमात्मामें ही कर्मोको छोड़के ज्ञानी लोग उन्हे करते चले। वे तो यह समझते ही है कि कर्म तो गुणोंमे हैं, प्रकृतिके भीतर हैं, हममे तो है नहीं, हम तो उनसे बेलाग है।

ज्ञानी जनोंके इसी खयालके साथ कि, हममें तो कर्म हैं नहीं, किन्तु गुणोंमें ही है, यदि यह खयाल भी आ मिले, जो पीछेके सत्रहवें श्लोकमें आ गया है, कि मस्तरामको कुछ भी करना-वरना रह नहीं जाता; फलस्वरूप वे लोग—आमतौरसे यदि यही मान बैठें कि जब कर्मोका ताल्लुक हमसे हई नहीं तो फिर

हम करें ही क्यों ? जब "गुणागुणेषु वर्तन्ते" ही है तो फिर हम नाहक माथा-पच्ची क्यो करें ? परीशानी क्यो उठाये ? तो क्या होगा ? नासमझ लोग तो प्रकृतिके गुणोंके बारेमे निरे कोरे है, कुछ भी नही जानते। इसलिये वे भले ही कर्मोमे चिपटे। उनके लिये कर्म ठीक भी है। मगर हम ज्ञानीजन उनमे क्यों मरे-पिचे ? हमें तो अपनी बात पहले देखनी है, पीछे दूसरोंकी, यदि यह खयाल पक्का हो जाय तो कर्म छूटी जायेंगे। कमसे कम कर्मोंके लिये एक भारी खतरा तो खड़ा होई जायगा और सारा उपदेश बेकार जायगा। बस, इसीका उत्तर आगेके श्लोक देते है।

ये श्लोक तीन बाते कहते है। श्लोक भी तीन ही है। इसीलिये क्रमशः तीनोंकी एक एक बाते है। पहला—३३वाँ—तो इतना ही कहता है कि मस्त-रामको देखके दूसरे ज्ञानी कैसे हाथ-पाँव रोक देंगे, यदि वे चाहे भी ? प्रकृतिके गुणोंकी जो बात उनके बारेमे कही जाती है उसकी आधी ही बात क्यो ली जाय और पूरी क्यो नही ? एक तो मस्तरामकी प्रकृति निराली और शेष ज्ञानी जनोंकी दूसरी ठहरी। प्रकृतिके मानी तो यहा शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि होंगे न ? प्रकृतिका कोई दूसरा रूप तो होगा नही जब हर आदमीके प्रति उसका विचार किया जायगा। ऐसी दशामे मस्तरामके मन आदि दूसरे और शेष जनोंके निराले ही ठहरे। और अगर मस्तरामके मन आदि कर्मोसे हट भी जायँ या कर्म ही पके फलकी तरह उनसे हट जायँ, तो इसका दूसरेके मन, इन्द्रियादिसे क्या सम्बन्ध ? दूसरेके मन, इन्द्रिय आदि क्यो हटेंगे ? वे तो दूसरे है और अपनी-अपनी प्रकृतिके ही अनुसार सभी चलते है। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृतिके गुणोंकी जैसी यह बात है कि कर्मोका ताल्लुक उन्हींसे है, न कि आत्मासे; ठीक वैसी यह बात भी तो है कि गुण कर्मोको कभी छोड नही सकते, मजबूरन कर्म करना ही पड़ता है—"कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" (३।५) ? फिर यदि कोई भी ज्ञानी जन जबर्दस्ती हाथ-पाव रोकके कर्मसे हटना चाहेंगे तो यह कैसे होगा उनकी यह रोक-थाम क्या कुछ भी कर सकेगी ? वह तो महज बेकार साबित होगी।

तब फौरन यह प्रश्न उठता है कि यदि हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोकी रोक-थाम होई नही सकती, जब रोक-थाम बेकार है, क्योंकि वह कुछ भी कर सकती ही नही, तो ज्ञानेन्द्रियोकी रोक-थाम भी कैसे संभव है ? आखिर सभी इन्द्रियाँ तो गुणोंसे ही बनी है न ? और जब प्रकृति या उसके गुणोपर ही कब्जा नही है, तो फिर इन्द्रियोपर कैसे होगा, चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हो या कर्मेन्द्रियाँ ? ऐसी हालतमें इन्द्रियोंके निग्रह, रोक-थाम या नियमनका सवाल ही बेकार हो जाता है। और

अगर यही बात मान लें, तो "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः" (२।५८), "तानि सर्वाणि संयम्य" (२।६१) तथा "तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि" (२।६८) में इन्द्रियोंके निग्रहपर जो सबसे ज्यादा जोर दिया गया है और जो स्थितप्रज्ञ और योगीके लिये बुनियादी एवं मौलिक वस्तु माना गया है वह कैसे ठीक होगा ? यही नहीं। इन्द्रियनिग्रह तो अध्यात्मशास्त्र और योगकी सबसे मुख्य बात मानी जाती है और वही अब झूठी साबित होती है।

इसका उत्तर बादवाला श्लोक यों देता है। आखिर शरीरयात्राके लिए इन्द्रियोकी क्रिया जरूरी है और ज्ञान या विवेकके भी लिये। हाँ, इनके विषयोंके साथ जो रागद्वेष है उनपर जरूर ही नियंत्रण चाहिये—राग और द्वेषको ही खत्म करना चाहिये। यह बात बराबर संभव भी है। प्रकृतिके ही गुणोंमें सत्त्व ऐसा है कि यदि उसकी प्रगति हो, पूर्ण विकास हो तो रागद्वेषको मिटा दे और हमें उनके चंगुलमें कभी फँसने न दे। वह खतरेमें पहले ही आगाह जो कर देता है।

इसीलिये अर्जुनने शुरूमें ही जो कहा था कि मुझे यदि कर्ममें भी लगाते हो, तो लगाओ, मगर हिंसात्मक युद्धमें क्यों खामख्वा धकेलते हो, उसका भी उत्तर हो जाता है। बादका ३५वाँ श्लोक यही उत्तर देता है कि यद्यपि युद्ध हिंसात्मक है, तो भी क्षत्रियके लिये और खासकर अर्जुनके लिये तो वह स्वधर्म है, उसका निजी कर्त्तव्य है। अठारहवें अध्यायमें तो साफ ही कहा है कि युद्ध क्षत्रियका स्वाभाविक धर्म है, "क्षात्रं कर्म स्वभावजम्" (१८।४३)। इसीलिये "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः" (१८।४५) तथा "स्वभावनियतं कर्म" (१८।४७) में स्पष्ट कह दिया है कि ऐसे स्वधर्मों एवं स्वाभाविक कर्मोंके करनेमें पाप और बुराईका तो सवाल ही नहीं। प्रत्युत इन्हीसे कल्याण होना है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं" (४।१३) का भी यही आशय है। प्रकृति कहिये, या स्वभाव कहिये। बात तो एक ही है। अर्जुनको यही कहा गया है कि स्वधर्मको छोड़ परधर्ममें जाना खतरनाक है। वह तो "देशी मुर्गी बिलायती बोल" वाली बात हो जायगी। फिर तो ऐसा करनेवाले कहींके न रह जायँगे।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रियके विषयके साथ राग और द्वेष नियमित रूपमें लगे हैं। इसलिये उनके वशमें कभी न जाये। क्योंकि इस आत्माके बटमार और लुटेरे यही दोनो हैं।३४।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।।

दूसरेके बहुत अच्छी तरह पूरे किये गये धर्मकी अपेक्षा अपना धर्म (देखनेमे) खराब या अधूरा रहनेपर भी वही अच्छा है । (इसलिये) अपने धर्मके पीछे मर मिटना ही अच्छा है । दूसरेका धर्म तो खतरनाक है ।३५।

लेकिन यह तो आमतौरसे देखा जाता है कि लोग गलत रास्तेपर जाते हैं और अपना कर्त्तव्य पालन नही करते । युद्धकी निन्दा करना और इसे बुरा ठहराना यह आम बात है । लोग इसमे हिचकते और भागते भी है—वही लोग जिनका यह स्वधर्म है । सभी बातोमे यही देखा जाता है कि आमतौरसे लोग पाप या कुकर्मकी ही ओर झुकते है । ऐसा मालूम पडता है कि नाहककी मार-काट, निर्दयता, दुराचार-व्यभिचार मिथ्या भाषण आदि ही स्वाभाविक तथा प्राकृतिक चीजे है । जैसे चटाईके किनारेको पकडके मोडनेमे ऐसा होता है कि जबतक दबाव रहता है तभीतक मुडी रहती है और ज्योंही दबाव हटा कि ज्योंकी त्यो हुई । ठीक वैसे ही मन और इन्द्रियोपर जबतक दबाव है, कुकर्मसे बचती हैं । मगर ज्योही दबाव हटा कि फिर वही पाप और कुकर्म । कुत्तेकी पूंछकीसी हालत है । जबतक दबाओ तभीतक सीधी रहती है, नहीं तो फिर टेढीकी टेढी । जैसा उसका टेढापन या चटाईका सीधापन स्वाभाविक है, वैसे ही, मालूम पडता है, बुराई ही इन्द्रियोंका स्वभाव है । इसीसे देखते है कि युग-युगान्तरमे ऋषि-मुनि अवतार, पीर-पैगम्बर और औलिया हजारों और लाखों हुए । उनने उपदेश भी दिया । मगर संसारमे तो असत्य उसी व्यभिचार, उसी निर्दयता आदिका ही बोलबाला है । मानो कुछ हुआ ही नही ! गोया यही असली एवं अकृत्रिम बाते है और सत्य आदि ही कृत्रिम है ! यही नही, बडे-बडे ऋषि-मुनि भी कभी न कभी इनमे फंसी गये है । जब समाजके लिये सत्य आदि ही आवश्यक है और ठीक भी है और जब प्राकृतिक धर्मोंका ही करना जरूरी है, उन्हीको करना ही चाहिये, तो यह उलटी बात क्यों होती ? यही बडीसी पहेली अर्जुनके सामने खडी है । इसीलिये—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अर्जुनने पूछा—हे वार्ष्णेय, भला (बताइये तो सही कि) हजार न चाहनेपर

भी यह मनुष्य बुरा कर्म किसके दबावसे—क्यों—कर डालता है ? मालूम पड़ता है, जैसे किसीने जबर्दस्ती करवाया हो ! ३६ ।

इसीलिये दुर्योधनके बारेमे कहा जाता है कि उसने कहा था कि, यह जानते हुए भी कि पाडवोंका हक देना उचित है, मैं दे नही सकता । साथ ही, द्रौपदी आदिके साथवाले दुर्व्यवहारको बरा समझते हुए भी मै उससे बाज नहीं आ सकता । मालूम पड़ता है, कोई बडो भारी शक्ति भीतर बैठी जबर्दस्ती करवा रही है—"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" । क्या चोर नहीं समझता कि चोरी बुरी है ? क्या व्यभिचारी नही समझता कि यह काम खराब है ? फिर भी सभी वही करते ही है ! प्रश्न होता है कि नही चाहते हुए भी करनेका रहस्य क्या है ?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

श्रीभगवानने उत्तर दिया—यह काम—राग—है और यही क्रोध—द्वेष—भी है । इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है । इसका पेट कभी भरता हो नहो । यह पुराना पापी है । इस दुनियामे उसीको वैरी समझो । ३७ ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।३८।।

जैसे धूएँसे आग छिपी रहती है, जिस तरह मैलसे आईना छिपा होता है, (या) जिस प्रकार गर्भकी झिल्लीमे बच्चा छिपा रहता है, उसी तरह उस कामने इस (ज्ञान) को छिपा दिया है ।३८।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

ज्ञानियोंके सदाके इस शत्रुने, जिसे काम कहते है, जो कभी पूरा होता ही नही और जिसका अन्त भी नही होता या जो आगकी तरह भीतर ही भीतर जलाता रहता है, ज्ञानको छिपा रखा है ।३९।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४०।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि (यही तीन) इसके अड्डे है । इन्हीके द्वारा ज्ञान

या भले-बुरेके विवेकपर पर्दा डालके यह काम आत्माको भटका देता है—किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देता है ।४०।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

इसलिये हे भरतश्रेष्ठ, पहले तुम इन्द्रियोंको ही नियंत्रणमें लाके ज्ञान और विज्ञानको चौपट करनेवाले इस बदमाशको जड़से जरूर खत्म करो ।४१।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

(और पदार्थोंकी अपेक्षा) इन्द्रियाँ ऊँची या बड़ी हैं, इन्द्रियोंसे भी बड़ा मन है, मनसे ऊपर बुद्धि है और जो बुद्धिके भी ऊपर है वही वह (आत्मा है) ।४२।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

हे महाबाहो, बुद्धिके भी ऊपर रहनेवाली आत्माको इस प्रकार जानकर और स्वयमेव मनको रोकके, वशमें करके बड़ी दिक्कतसे पकड़े जानेवाले कामरूपी इस शत्रुको खत्म करो ।४३।

यहाँ दो एक जरूरी बातें जाने बिना अन्तके चार-पाँच श्लोकोंके अर्थ समझनेमें दिक्कत होगी । इसीलिये वे बातें कह देना जरूरी है । यह तो दूसरे अध्यायमें ही कह चुके हैं कि काम और क्रोध एक ही चीजें हैं । उसीकी सफाई यहाँ की गई है । सोलहवें अध्यायके अन्तमें इन्हीं दोके साथ लोभ भी जुट गया है "कामः क्रोधस्तथा लोभः" (१६।२१) । जिस तरह काम और क्रोध एक है, उसी तरह लोभ भी कामसे भिन्न नहीं है । असलमें इस काम, कामना, वासना या इच्छाके ही ये क्रोध और लोभ दो रूप हैं, जो परिस्थितिवश बन जाते हैं—कामको ही क्रोधके रूपमें और लोभके रूपमें परिणत हो जाना पड़ता है । जिसे कामना नहीं उसे क्रोध और लोभसे भी कोई ताल्लुक नहीं है । क्रोध से कैसे भीतर अन्धकार हो जाता है यह "क्रोधाद्भवति संमोहः" के अर्थमें स्पष्ट दिखा चुके हैं । उसीको आवरण या पर्देके रूपमें यहाँ कहा है ।

यह काम ही विवेकी जनोंका असल शत्रु है । इसका नाश इसीलिये जरूरी है । मगर इसके अड्डेका पता चले तब न इसपर धावा बोलें ? इसलिये इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन तीनोंको ही इसका अड्डा बता दिया है । यह रहता तो है दरअसल अन्तःकरणमें और उसीके रूप हैं मन और बुद्धि । मगर इन्द्रियोंके बिना बाहर तो मन या बुद्धि जा नहीं सकती और बाहरी पदार्थोंमें ही रागद्वेष होते हैं । बाहरीसे तात्पर्य है भौतिक पदार्थोंसे । इसीलिये इन्द्रियोंको भी अड्डा

करार दिया है। बुद्धि यदि ठीक हो, विवेकयुक्त हो तो भी काम रहेई न? इसीलिये उसे भी इसका डेरा कहा है। यों तो असली डेरा मन ही है। इस प्रकार तीन अड्डे हो गये। लिखा है भी कि इन तीनोकी मददसे ही देहके मालिक—देही—आत्माको यह काम भटका देता है।

अब रहा इसे खत्म करनेका उपाय। असली बला तो इन्द्रियाँ ही हैं। न वे बाहर सनागामको जाने देगा और न कामना होगी। इसलिए यह तो आसानीसे जाना जा सकता है कि इस तरफ पहला कदम जो बढ़ेगा वह इन्द्रियोंपर नियंत्रण, अंकुश या कब्जा रखनेमे ही शुरू होगा। इसीलिए कह दिया है कि इन्द्रियोंको सबसे पहले बिना सोचे-विचारे ही आँख मूंदके कब्जेमे करो। उसके बाद आगेका उपाय सोचो। ऐसा कहनेका यह अर्थ कभी नही है कि सिर्फ इन्द्रियोको रोक कर ही इसे खत्म करेंगे। तब तो आगेके श्लोकोमे कही बाते बेकार हो जायेगी। केवल इन्द्रियोके रोकनेमे यह मर भी नही सकता। इसके दूसरे भी तो अड्डे हैं और वही असली है—बुनियादी है। बिना मन और बुद्धिको वशमे किए इन्द्रियाँ सोलह आने वशमे हो भी नहा सकती है। इसीलिए हमने कहा है कि उनका रोकना नीव या श्रीगणेशायनमः हा समझिय।

असली उपाय यह बताया है कि इन्द्रिया शरीर और अन्य पदार्थोंसे बड़ी या उनके ऊपर है। वही शरीरको दौड़ाती रहती है। सिनेमा, गान, भोजमें खीच ले जाती है। यद्यपि विषय इन्द्रियोंको भी खीचते है। तथापि उन्हे यहाँ छोड़ दिया है। क्योंकि अड्डोको ही पकड़ना था। इन्द्रियोके ऊपर है मन और मनके ऊपर बुद्धि। आत्मा तो सभीका मालिक है। देहमे ही ये सब है और देही वही है। यह बात पहले अच्छी तरह समझाई जा चुकी है। अब काम यों होता है कि पहले आत्माका तत्वज्ञान प्राप्त करते है। फिर बुद्धिमे उसके आनन्दका अनुभव करते है। इस तरह बुद्धिको उसमे फँसा देनेपर—क्योंकि वह आनन्द हई ऐसा कि एक बार मजा आनेपर बुद्धि वहासे हट सकती ही नही—मन भी उधर ही खिचेगा। कोचवानके ही हाथमे लगाम होती है न? और मन है लगाम और बुद्धि कोचवान। फिर तो इन्द्रिया भी खिच गई और बाहरी पदार्थोमे न जाके आत्मामें ही लग गई। तब काम महाराज रहेंगे कहाँ? कुछ समय इन्तजार करके हमेशाके लिए उन्हे आत्महत्या करनी पड़ती है जब पूर्ण निराश हो जाते है। फलतः ज्ञान और विज्ञानका ही बोलबाला रहता है। इन दोनोंका अर्थ बताया जा चुका है।

इन्द्रिय और मन आदिको जो एक दूसरेके ऊपर कहा है यही बात जरा विषय, महान् और अव्यक्तको जोड़के कठोपनिषद्में भी दो बार यों आई है,

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।१०। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः" ११।(१।३), तथा "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्व-मुत्तमम्। सत्त्वादधिमहानात्मामहतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।७। अव्यक्तात्तु पर. पुरुषो व्यापकोऽलिंगएव! यज्ज्ञात्वामुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति" ।८। (२।६)। यहाँ सत्त्वका अर्थ है बुद्धि और महान आत्माका अर्थ है महत् या महत्तत्त्व। अव्यक्त नाम है प्रकृतिका। क्रम तो यही है। मगर गीताको इस विस्तारसे कोई काम नही है। वह तो बुद्धिको ही आत्मामें लगाके मन और इन्द्रियोंको अपनी ही ओर खींच लेना और इस तरह काम, राग या अभिलाषाको मार डालना चाहती है। उसने यही बताया भी है।

आखिरी श्लोकमें जो दुरासद शब्द है उसका अर्थ है बडी कठिनाईसे पकड़ा जानेवाला। असलमें इस राग या कामके इतने स्थूल, सूक्ष्म और विभिन्न रूप हैं कि जल्द उनका पता लगना असंभव है। कामकी हालत भी यह है कि धोखा देके फँसा लेता है और पता ही नहीं चलता है कि फँस गए है। भक्ति और उपासनाके नामपर जानें कितने ही प्रपंच रचे जाते हैं जो पतनके ही मार्ग है। मगर पता ही नहीं लगता और लोग उनमें फँस जाते हैं; इसीलिए इसे दुरासद कहा है ताकि लोग सजग रहें।

इस अध्यायमें साधारणसे साधारण कर्मोंसे ही शुरू किया है और अन्ततक उसीकी बात कहते आये हैं। मामूलीसे मामूली कर्मोंसे लेकर ऊँचेसे ऊँचे या कर्मयोगतकका वर्णन इसमें आ गया है। "मयि सर्वाणि" (३।३०)में आखिर है क्या यदि कर्मयोग नहीं है? इसलिए समूचे अध्यायपर कर्मकी ही छाप लगी है। यही कारण है कि ज्ञानकी जो बात आई है वह गौण या अप्रधान है। वह या तो उसीका साधन है या मस्तीका ही; जैसा कि "यस्त्वात्मरतिः" (३।१७)में कहा है। फलतः कर्मकी प्रधानताके कारण इस अध्यायका विषय कर्म ही है। जैसे दूसरे अध्यायका विषय सांख्य या ज्ञान है। ज्ञानसे ही शुरू करके बीचमें और अन्तमें भी उसीका वर्णन है। कर्म तो बीचमे ही आया है सो भी अप्रधान रूपसे ही।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्रमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय यही है।

चौथा अध्याय

अबतक कृष्णने जो उपदेश अर्जुनको दिया है उससे उसकी आँखोंका पर्दा हट गया और उसे नई दुनिया दीख पडी। उसने तो कुछ दूसरा ही समझ रखा था। लेकिन इन दो अध्यायोंके उपदेशोंके बाद पाया कुछ और ही। दूसरे अध्यायके उपदेशोके उपरान्त अर्जुनके दिमागकी सफाई हो पाई न थी। क्योंकि उसके सामने तो असली मसला था युद्धका। यो तो सारे कर्मोंकी ही समस्या उसे सुलझानी थी। कारण, उसकी तर्क-दलीलने इनके पुराने आधारो और दुर्गोंको ही ध्वंस कर दिया था। धर्मशास्त्रीय विधान उसके सामने लापता थे—पस्त थे। तो भी उसका असली संकट था मरने-मारनेवाला यह जघन्य कृत्य जिसे युद्ध कहते है। सामने तत्काल वही था भी। उसीको लेके उसे इतना बडा विराग भी हुआ था और स्वतंत्र बुद्धिसे उसने सारे विधानोंको तौलके उन्हे कच्चा तथा नाकाफी ठहराया था। इसीलिये तीसरे अध्यायके शुरूमे ही उसने अपना मनोभाव साफ व्यक्त कर दिया था कि, खैर एक तो कर्म ही बुरे और तुच्छ है। फिर उनमे भी यह घोर कर्म! मुझे इसमे फँसानेका क्या काम है यदि ज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह उसने साफ कह दिया था। अबतक ज्ञान मार्गकी खूबियाँ वह जान सका था जरूर। मगर कर्मोंकी पेचीदगी उसे विदित हो सकी न थी। यह समस्या अभी उलझी हुई थी।

मगर कृष्णने तीसरे अध्यायमे जो कुछ भी कहा उससे सारी बाते आईनेकी तरह झलक उठी। अब उसके मनमे शक-शुभेकी जरा भी गुंजाइश रही नही गई थी। अगर कहे तो कह सकते है कि एक प्रकारसे गीताका काम इतनेसे ही पूरा हो जाता है। असली और मुख्य जो दो बाते गीताकी है वे इन्ही दोनोमे आ गई है। यह ठीक है कि इनके कुछ पहलू छूटे है और उन्हीका निरूपण आगेके ४, ५, ६ अध्यायमे हो जानेपर शेष गीतामे इन्ही बातोका स्पष्टीकरण करके १८वे मे उपसहार किया है। इस दृष्टिसे तीसरे अध्यायके अन्तमे ज्ञान-विज्ञान का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि जिस ज्ञान और विज्ञानकी बात आगे पुनरपि सातवे अध्यायमे शुरू होती है और नवेमे फिर जिसका जिक्र करते है वही गीताकी असल चीज है। उसके वर्णन दूसरे और तीसरे अध्यायोमे मुख्यतया आ भी चुके है। हाँ, जो कुछ उनके खास पहलू बचे थे उन्हीका आगे छठे अध्याय तक निरूपण है, विवेचन है।

हाँ, तो पिछले अध्यायोंके उपदेशोंसे अर्जुनको कुछ खास बातें भी मालूम हो गईं जिनका उसे स्वप्नमे भी खयाल न था। आत्माकी अजरता, अमरता और अविनाशिताका जो सुन्दर से सुन्दर वर्णन हुआ है और मरण-जीवनको जिस अपूर्व ढंगसे बताया गया है कि दरअसल ये क्या है, उनने उसकी आँखें खोल दीं। उसने एक नई दुनिया ही सचमुच देखी जिसकी कभी आशा भी न थी। मगर इससे भी निरालापन तीसरे अध्यायमे और दूसरेके मध्यमे भी उसने कर्मके बारेमे पाया। जाने कहाँकी अलौकिक बातें और खूबियाँ मालूम हुईं। खासकर कर्मका जो सर्वांग रहस्य उसके सामने पूरे ब्योरेके साथ आ गया उसका तो उसे सारे पोथीपुराणों और वैदिक ग्रथोंके मंथनसे भी आभास तक न मिल सका था। इस मामूलीसे कर्मके भीतर इतनी बारीकियाँ छिपी है यह जानके स्वभावतः वह आश्चर्य चकितसा हो रहा है यह बात कृष्ण भी ताड गये थे। वह सोचता था कि इसमे अभी जाने और कितने बाते होंगी। मगर उसे ताज्जब था कि इतनी महत्त्वपूर्ण बाते लोगोको अबतक मालूम क्यो न थी? यदि किसी एकको भी मालूम होती तो वह जरूर ही कह-सुन गया होता, लिख-पढ गया होता। हो न हो, यह एकदम नई बाते कृष्णके ही अलौकिक मस्तिष्ककी उपज है—बिल्कुल ही ताजी और नई है!

इससे जहाँ एक ओर उसे गर्व और फख्र हो सकता था कि भगवानने मेरे ऊपर बडी ही कृपा की जो सारा रहस्य समझाया, अतः मै धन्य हूँ। तहाँ दूसरी ओर इस बातकी भी गुंजाइश थी कि कही ऐसा तो नही है कि केवल युद्धमे जुझानेके ही लिए नई-नई युक्तियाँ, जो आजतक देखी-सुनी भी न गई, पेश की जा रही है। जब इस तरहकी बाते कहिये-सुनिये तो आमतौरसे ऐसे खयाल अक-सर हुआ करते हैं कि देखो न, कितना गुरुघटाल है कि युक्तियोंके नये जालमे फाँसके अपना काम निकाल लेना चाहता है! यह भी बात है कि यदि धर्मकर्मके मामलेमे लोगोको यह पता लग जाय कि एकदम नई बात कही जाती है जो पहले कभी आई न थी और प्रचलित धरणा या रीति-रिवाजके खिलाफ है, तो लोग एकाएक भडक उठते है। यह चीज हमेशा ही देखी गई है। इसलिये कृष्णके इस अनूठे उपदेशमे भी इसकी संभावना था और काफी थी। कृष्ण जैसे विज्ञ महा-पुरुषको इसे ताडते देर भी नही लग सकती थी। यदि इससे बचनेके लिये यह कहा जाता कि नही नही, यह तो पुरानी ही बात है, प्राचीनतम है, जिसे कृष्णने फिर दुहराया है, तो शंका हो सकती थी कि उन्हे यह मालूम कैसे हो सकी? जब साधारणतः इसका उपदेश होता-जाता ही नही और न चर्चा ही सुनी जाती है—जब यह लापता है, तो एकाएक कृष्णको मालूम कैसे हो गई? यह भी तो दिमागमे आ सकनेवाली बात नही है कि उन्हे योंही विदित हो गई।

पूर्ण व्यवहारकुशल होनेके नाते, और अर्जुनकी भावभंगीको देखकर भी, कृष्णके मनमे स्वयमेव ये सारे खयाल आ जाने जरूरी थे। आ गये भी। इसी-लिये उनने अर्जुनको प्रश्न करनेका मौका तक नही देकर स्वयमेव चौथे अध्यायके आरंभके दस श्लोकोमे इस बातका पूरा खुलासा कर दिया। असलमे प्रश्नके उत्तर देनेपर वह मजा नही आता जो बिना पूछे ही अपने मनमे ही ताड़के उत्तर देनेमे आता है। इससे एक तो सुननेवाला बाग-बाग हो जाता है। उसकी खुशी का ठिकाना नही रहता कि जो विचार उसे खटक रहे थे उनकी पूरी सफाई हो गई। इसीके साथ इससे उपदेशककी पहुँच और पूर्ण योग्यतापर भी उसे विश्वास हो जाता है। यह भी होता है कि सुननेवालेके मनमे खयाल न भी उठे। ऐसी दशामे इनका उत्तर तत्काल न दिया जानेपर आगे चलके यही प्रश्न उठ सकते और विषयका कमसे कम किरकिरा तो जरूर बना दे सकते है। क्योंकि बहुत संभव है कि उस उपदेशकके न रहनेपर दूसरे लोग सारी बातोका रहस्य पूर्णतया हृदयंगम न कर सकनेके कारण उन खयालो और प्रश्नोके यथार्थ और दिलमे बैठ जानेवाले उत्तर न दे सके। इसीलिये बिना कहे सुने ही—

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवान्ने कहा—मैने (खुद) विवस्वान्—सूर्य—को (सृष्टिके आरंभ कालमे ही) इस चिरस्थायी योगका उपदेश दिया था। (उसके बाद कालान्तरमे) विवस्वान्ने मनुको (इसे) बताया था और मनुने इक्ष्वाकुको।१।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

हे परन्तप, इस प्रकार परम्परा—गुरुशिष्यप्रणाली—से चले आनेवाले इस योगको राजर्षि लोग (जरूर) जानते थे। (मगर) वही योग दर्म्यानवाले लम्बे समयके चलते यहाँ लापता हो गया था।२।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यह वही प्राचीन योग है जिसे आज मैने तुमसे कहा है। (क्योकि) तुम मेरे साथी और भक्त (दोनों ही) हो (और) यह भी अत्यन्त गोपनीय चीज है।३।

यहाँ दो एक जरूरी बाते जानके आगे बढ़े तो ठीक हो। आज तो कुछ इतना साफ पता चलता नही कि बात क्या है। मगर स्मृति-ग्रंथों एवं इतिहास-

पुराणोंको देखनेसे यही पता लगता है कि भगवानने जो भी सृष्टि की वह आदित्य, सूर्य या विवस्वान्से ही शुरू हुई। उनने विवस्वान्को बनाया, उत्पन्न किया। विवस्वान्ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको। उसके बाद आगेका विस्तार चला। इतना तो सही है, जिसे पहलेके लोग भी मानते थे और आजका विज्ञान भी मानता है, कि सूर्य अपार शक्तियोंका केन्द्र है। वैदिक मन्त्रोंमें इसका बहुत कीर्त्तन आता है। गायत्रीमंत्र, जो हिन्दुओंका प्रतिदिन जपनेका सर्वप्रधान मंत्र है, सविता या सृष्टिके विस्तार करनेवालेके रूपमें ही सूर्यका ध्यान करनेकी बात कहता है। सूर्यसे कैसे जीवसृष्टिका विकास हुआ यह बात यहाँ कहनेकी है नहीं। हमें तो गीताकी परम्परासे ही मतलब है।

यह भी रिवाज पहले था कि अपने पुत्रोंको पिता ही आवश्यक एवं गोपनीय बातें बता दिया करता था। इसीलिये पिता-पुत्रका ही नाता गुरु-शिष्यका भी हो जाता था। हाँ, जब किसी कारणसे पिता उपदेश न कर सके, या वह ऐसी बातें न जानता हो जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं तभी दूसरे गुरुसे वह सीखी जाती थीं। बस, यही गुरुशिष्यकी प्रणाली पहले थी जिसे परम्परा शब्द-से यहाँ याद किया है। इसे परम्परा ही कहते भी हैं। इस प्रकार अपने-अपने पुत्रोंको ही जब लोग उपदेश करते थे तो इसी नियमके अनुसार भगवानने अपने पुत्र विवस्वान्को, विवस्वान्ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको उपदेश किया था। इस प्रकार अन्यान्य उपदेशोंके साथ ही गीतोक्त इस गीताधर्म या योगका भी उपदेश सृष्टिके आरम्भमें ही हुआ था। महाभारतके शान्तिपर्वके ३४६, ३४७, ३४८ आदि अध्यायोंमें इस बातका विशेष वर्णन पाया जाता है कि प्रत्येक सृष्टिके शुरूमें किस तरह ऐसी बातोंकी परम्परा चलती है। वहीं लिखा है कि सत्ययुगमें भगवानने विवस्वान्को इसे बताया था। "उनने उसके बाद त्रेतायुगके शुरूमें ही मनुको बताया, मनुने लोगोंके कल्याण तथा फलने-फूलनेके ही उद्देश्यसे अपने पुत्र इक्ष्वाकुको और इक्ष्वाकुने बहुत लोगोंको बताया। इस तरह सभी लोगोंकी जानकारीमें आ जानेके कारण यह धर्म कायम रहा। मगर प्रलय होनेपर फिर यह चीज नारायणके ही पास वापस चली जायगी"—"त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ। मनुश्चलं कभृत्यथ सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।५१। इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः। गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप।५२।" यह जान लेना होगा कि यह बात किसी एक ही या खास धर्मके ही लिये नहीं है। प्रसंगवश किसी एकके कहनेपर भी प्राचीन ग्रंथोंमें यही सिद्ध होता है कि सभी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण बातें इसी परम्पराके अनुसार प्रचलित हुईं। उन्हींमें यह गीताका योग भी एक है। हिन्दुओंके दार्शनिक ग्रंथों तकमें यह मिलता है कि

समाजोपयोगी सभी कलाओंका—यहाँ तक कि बर्त्तन, वस्त्रादि बनानेका भी—इसी प्रकार उपदेश किया गया। इसीलिये पतंजलिने योगदर्शनमे लिखा है कि भगवान ही सबोका गुरु है—गुरुओंका भी गुरु है—"पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्" (१।२६)।

दूसरे श्लोकमे जो लिखा है कि राजर्षि लोग इसे जानते थे—"इमं राजर्षयो विदु:" यह भी एक निराली चीज है। गीतामे लोकसंग्रहके दृष्टान्तके रूपमें कृष्णने अपना और जनकका नाम कहा है। खुद तो क्षत्रिय कुलमे जनमे थे ही। जनक भी ऐसे ही थे। उपनिषदोमे भी जानश्रुति पौत्रायण, प्रवाहण, प्रतर्दन आदि क्षत्रियोका ही विशेष उल्लेख ऐसे मामलोमे पाया जाता है। प्रवाहणको तो साफ ही राजन्यबन्धु लिखा है। यहाँ तक कि पंचाग्निविद्याके प्रकरणमे छान्दोग्य (५।३।७) तथा बृहदारण्यक (६।२।८) दोनो ही उपनिषदोमे साफ ही लिखा है कि जब आरुणिने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे साफ ही कह दिया कि प्रवाहणके पंचाग्निविद्या-सम्बन्धी प्रश्नोका उत्तर मै भी नही दे सकता, क्योकि मै भी यह जानता ही नही, और इसके बाद जब दोनो बाप-बेटोने प्रवाहणके पास जाके साफ ही कह दिया कि हम तो क्या हमारे बापदादे तक भी इसे नही जानते थे इसलिए आप ही बताइये, तो उसे पहले तो बड़ा ताज्जुब और सकोच हुआ। फिर उसने कहा कि यदि ऐसा है तब क्या करूँगा, बताऊँगा जरूर ही, "यथा मात्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्त्वत्त: पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति" (छा० ५।३।७), "सहोवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येत: पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास" (बृह० ६।२।८)। इतना ही नही, वहा तो यह भी लिखा है कि कोई भी ब्राह्मण यह विद्या तब तक जानता ही न था। छान्दोग्यमें यह भी लिख दिया है कि शासनकार्य क्षत्रिय ही करते थे और उन्हीको इसकी खास जरूरत भी होती थी। इसीलिये ही शायद दूसरे जान न सके। किन्तु वही लोग जानते थे—"तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रियस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मैहोवाच" (५।३।७) जो भी हो, बात बडी मजेदार है। यह ब्राह्मणोके इस दावेपर आघात भी करती है कि विद्या उन्हीकी चीज है और वही दूसरोको सिखाते है सिखा सकते है। परन्तु हमे यहाँ केवल इतना ही कहना है कि विद्वान क्षत्रिय राजे ही राजर्षि कहे जाते थे। वही इस योगको भी जानते थे। जनकके बारेमे तो आख्यायिका ही है कि शुकदेव आदि महापुरुष उन्हीसे ब्रह्मविद्या सीखने गये थे।

कृष्णके कहनेका तात्पर्य यही है कि इस लम्बी मुद्दतमे, जिसमे कि त्रेतायुगका अधिकाश और प्राय सारा द्वापर गुजरा, कोई इस योगका सिखाने-पढानेवाला रही नही गया। इसीलिए धीरे-धीरे लोग इसे भूल गये। जब पर-

म्परा या पठन-पाठन की प्रणाली चालू रहे तभी ऐसी बातें प्रचलित रहती हैं। जब वही न रही तो इनका मिट जाना या लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। महाभारतवाले युद्धका समय तो द्वापरका अन्त या द्वापर और कलिका संधिकाल ही माना जाता है और इक्ष्वाकुसे लेकर तब तककी मुद्दत बहुत बड़ी थी इसमें कोई शक हुई नहीं। फलतः यह विद्या भूल गई। यह आम लोगोंके समझकी तो चीज हुई नहीं। इसे तो विशेषज्ञ और पूरे जानकार ही बता सकते हैं और वे होते ज्यादा हैं नहीं। फिर कौन किसे बतायें? इसीलिए कृष्णने अर्जुनको साथी, श्रद्धालु तथा प्रेमी समझके ही बताया है। यही कह भी दिया है। गोपनीय और दुर्बोध चीज यदि योंही सबोंको बताई जाय तो एक तो लोग समझेंगे उसे खाक नहीं। दूसरे उसकी कीमत भी जाती रहेगी। समझदार लोग भी मान बैठेंगे कि कोई ऐसी ही वैसी चीज है। फलतः उस तरह भी खत्म होई जायगी।

पहले तो नहीं। मगर कृष्णकी यह बात सुनके अर्जुनको चट खयाल आया कि एँ, यह क्या कह रहे हैं कि मैंने सृष्टिके शुरूमें विवस्वानको यही बात सिखाई थी? यह तो असंभव है, गैरमुमकिन है। कृष्णका तो जन्म-कर्म सब कुछ मैं जानता ही हूँ। मेरे वो मामूके पुत्र ही ठहरे। फिर यह कैसे कह दिया कि मैंने विवस्वानको इसका उपदेश दिया? यह कैसे मानूँ? इसी बातको इस तरह—

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुनने पूछा—आपका जन्म तो इधर हालमें ही हुआ है और विवस्वान तो बहुत पहले पैदा हुए थे। (तब) कैसे मानूँ कि आपने ही शुरूमें (उन्हें यह चीज) बताई थी? ।४।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

श्री भगवानने उत्तर दिया—हे अर्जुन, हे परन्तप, मेरे और तुम्हारे भी बहुतेरे जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबोंको ही जानता हूँ। (हाँ) तुम नहीं जानते ।५।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६।।

बेशक, मैं जन्म-रहित हूँ मेरी आत्मा निर्विकार है और मैं सभी सत्ताधारियोंका शासन करनेवाला भी हूँ। (ताहम) अपनी प्रकृतिके नियमोंके अनुसार ही मैं अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ।६।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८।।

हे भारत, जभी-जभी धर्मका ह्रास या खात्मा होता है और अधर्मकी वृद्धि हो जाती है तभी-तभी मैं अपना शरीर बनाता हूँ। (इसीलिए) भले लोगोंकी रक्षा, बुरे लोगोके नाश और धर्मकी जडको मजबूत करनेके लिये मुझे समय-समयपर जन्म लेना ही होना है।७।८।

इस अवतारके सिद्धान्तका क्या दार्शनिक रहस्य है और उसपर "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय" (४।६), मे दिव्य।(४।९) मे "दिव्यं" तथा 'आत्ममायया" कहनेसे क्या प्रकाश पडता है, आदि बातोंका विस्तृत विवेचन कर्मवाद और अवतारवादके प्रकरणमें पहले ही किया जा चुका है। इन श्लोकोंका अभिप्राय समझनेके लिए उसे पढ लेना जरूरी है। हाँ, यह बात जुदी है कि अर्जुनके प्रश्न और कृष्णके उत्तरमे यह प्रश्न पैदा हो जाता है कि क्या उस समय तक पुनर्जन्म तथा अवतारवादका सिद्धान्त प्रचलित या सर्वमान्य नही हुआ था? क्योकि यदि होता तो अर्जुन भी जानता ही रहता। फिर पूछना क्यो? और कृष्ण भी अवतार कहके ही आगे बढ जाते। दलीलें न देते। मगर यह विषय बडा है और गीता हृदयके तीसरे भागके लिये ही इसे छोडना ठीक है। यहाँ यही कहना है कि "बहूनि मे व्यतीतानि" श्लोकमे कृष्णने अर्जुनको ऐसा ही मुँहतोड उत्तर दिया है जैसा उसका प्रश्न था। उनने साफ ही कह दिया है कि तुम्हे मेरे इस कथनसे बेशक आश्चर्य हुआ होगा। यह बात तुम्हारे माथेमें आई ही न होगी। मगर इसमे आश्चर्य क्या है? ऐसी हजारो बाते है जो तुम्हारे माथेमे आ न सकी है। तुम्हे क्या पता कि हमारे और तुम्हारे हजारो जन्म हो चुके? खूबी तो यह कि तुम्हे उनकी जरा भी, यहाँ तक कि अपने जन्मोकी भी, जानकारी तक नहीं है। फिर मेरे जन्मोको कैसे जानोगे? मगर मै तो सब कुछ जनता हूँ न? मै तो अपना भी और तुम्हारा भी शुरूसे आज तक का कच्चा चिट्ठा जानता हूँ। तुम कितनी बार

कहाँ कैसे जनमे, तुमने क्या-क्या किया, मैं भी कब-कब कहाँ कैसे जन्म लेके क्या-क्या करता रहा, यह सब कुछ बखूबी जानता हूँ, जैसे आँखोंके सामने ही यह बातें नाच रही हों।

जाननेका यह मतलब नहीं है कि लोगोंसे सुनके या किताबें पढ़के जानकारी हासिल कर ली जाय। ऐसी जानकारी तो अर्जुनको भी हो सकती थी। इतिहास पढ़-सुनके तो सभी लोग जानें कितनी ही बातें जान जाते हैं। फिर अर्जुनमें ही क्या कमी थी कि इतना भी नहीं जान पाता? और वैसे समझदार आदमीके लिये, जिसने स्मृतिकारोंकी भी धज्जियाँ शुरूमें ही उड़ाई थीं और उनके तर्कोंको अमान्य कर दिया था, कृष्णका यह कहना कि तुम कुछ नहीं जानते हो कहाँ तक ठीक हो सकता है, यदि उस जानकारीका यही अभिप्राय हो? इसीलिये पाँचवे श्लोकमें जो 'वेद' क्रिया लिखी है, उसका अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही है। इसीलिये आगे के ९वें श्लोकमें इसी जानकारीके मानीमें इसी विद धातुसे बने और वेदके ही अर्थमें प्रयुक्त वेत्ति क्रियाका 'तत्त्वतः' विशेषण दिया गया है। इससे तत्त्वज्ञान ही उसका अभिप्राय सिद्ध होता है और तत्त्वज्ञानका अर्थ हमेशा साक्षात्कार ही माना जाता है। वह ऐसा ज्ञात हो जैसे कि आँखोंके सामने कोई चीज खड़ी हो। कृष्णको पूर्ण आत्म-साक्षात्कार रहनेके कारण ऐसा ही ज्ञान था। मगर अर्जुनको न था। उसे अगर कुछ भी थी तो केवल धुँधली स्मृति या पढ़ी-सुनी बातोंकी याद मात्र। इसीलिये उसे धीरेसे कृष्णने हँसते-हँसते इन्हीं शब्दोंमें एक कनेठी दे दी कि तुम्हें क्या मालूम कि मैंने कब कहाँ जन्म लिया था, मैं कब कहाँ मौजूद था! वेद शब्द उपनिषदोंमें ऐसे ही देखनेके मानीमें बराबर आया है।

इसीलिये कृष्णने आगे यह भी कह दिया है कि जिस तरह मैं यहीं बैठा अपने तमाम अवतारों और तुम्हारे तथा दूसरोंके अनेक जन्मोंकी सारी बातें जैसे आँखों देख रहा हूँ, वैसा ही अनुभव जिसे हो वही जीवन्मुक्त है। मुझमें और उसमें जरा भी भेद नहीं रह जाता। अपने भीतर जो कुछ होता हो जैसे उसका करारा और ताजा प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसा ही अनुभव जब सारे संसारके सम्बन्धमें होने लगे, जिसे "आत्मौपम्येन सर्वत्र" (६।३२) में कहा है, तभी "सर्वभूतात्मभूतात्मा" (५।७) कहना चरितार्थ होगा। यों ही बातें करने और पढ़ी-सुनी बातें दुहरानेसे ही नहीं। अतएव इसी दर्शन एवं अनुभवकी कोशिश होनी चाहिए।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन, हमारे इस अलौकिक जन्म और कर्मको जो इसी तरह—मेरी ही तरह—ठीक-ठीक साक्षात् अनुभव करता है वह शरीरको छोड़के—मरनेपर—फिर जन्म नही लेता (और) मुझीमे मिल जाता है—मेरा ही रूप बन जाता है ।९।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।

(यह कोई नई बात नहीं है । पहले भी) जिनके राग, भय एवं क्रोध निर्मूल हो गये थे, जो मुझ आत्माके सिवाय औरकी पर्वा न करके आत्मामे ही रम चुके थे (और इस तरह) जो ज्ञानरूपी तप के प्रभावसे पवित्र हो चुके थे ऐसे बहुतसे लोग मेरा स्वरूप—परमात्मा या ब्रह्म—बन चुके है ।१०।

दसवे श्लोकके पूर्वार्द्धके देखनेसे तो और भी साफ हो जाता है कि पूर्व जो जानकारी की बात कही गई है वह आत्मसाक्षात्कार रूप ही, जिसके होते ही वामदेव एकाएक बोल बैठे कि मै ही तो मनु, सूर्य आदि सब कुछ बना था—तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहमनुरभवं सूर्यश्च" (बृहदा० १।४।१०) । इसीलिये इसी मंत्रमे आगे साफ ही कह दिया है कि आज भी जिसे ऐसी दृष्टि मिल जाय वह भी समस्त संसारका रूप बन जाता है—समस्त जगत् को अपना स्वरूप ही देखने लग जाता है—"तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ।" यह भी देखा जाता है कि इसी मत्रमे 'वेद' शब्द आया है और देखने या दृष्टिके मानीमे ही 'पश्यन्' आया है इसीलिये हमने जो पहले कहा है वही अर्थ वेदका है । ९वे श्लोकमे दिव्य कहनेका यह भी अभिप्राय है कि अवतारोंके जन्म और कर्म असाधारण होते है, नकि हम लोगो जैसे । उनकी दृष्टि और शक्ति दबी न होके व्यापक होती है । पूर्वके ६,७ श्लोकोमे जो आत्मा शब्द बार-बार आया है उसका भी यही अभिप्राय है कि आखिर मै तो आत्मा ही ठहरा । इसीलिये जो मुझे आत्मा माने-जानेगा वह तो मेरा रूप हुई, होई जायगा ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।११।।

हे पार्थ, जो लोग जिस दृष्टिसे मेरे निकट आते है—मुझे जानते-मानते—है मैं (भी) उन्हे वैसा ही मानता-जानता हूँ । (यह समझ लो कि) सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते हैं ।११।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।

इस संसारमे जो कर्मोंकी सिद्धि चाहते है वह (सभी प्रकारके) देवताओंका यज्ञपूजन करते है। क्योंकि इस मनुष्य लोकमे कर्मोंके फलोंकी प्राप्ति जल्दी ही होती है।१२।

(इन दो श्लोकोंमे जो बात कही गई है वह है तो गीताकी अपनी खास चीज ही। इसका बहुत विस्तृत निरूपण भी हमने श्रद्धापूर्वक कर्मोंके विचारके समय किया है। मगर इसका ताल्लुक पहलेके श्लोकसे भी है। गीताका यह एक मुख्य मन्तव्य है कि जोई दिल-दिमागमे आये ईमानदारीके साथ वही जबानसे बोलें और हाथ-पाँवसे करे तो कल्याण ही कल्याण समझिये। यही स्वधर्म-पालनका वास्तविक अर्थ है और यही बात इन दो श्लोकोंमे भी कही गई है। पहले श्लोकसे मिलान करनेपर यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि जिनको वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसे आत्मसाक्षात्कार कहते है, वह तो ब्रह्मरूप ही होते, ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाते है "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृहदा० ४।४।६)। लेकिन जिनकी वह दृष्टि न हो वह अनेक प्रकारके होते है। कोई तो ईश्वरको आराध्यदेव मानके पूजा-यज्ञ करते, कोई इन्द्र-उपेन्द्रादिके रूपमे उसे पूजते मानते कोई और भी देवी-देवताकी ही सूरतमे उसे याद करते और संतुष्ट करना चाहते, कोई पितरोके रूपमे ही उसको तृप्त करते और कोई भूत प्रेतादि मानकर ही मंत्रतंत्रादिसे उसे अनुकूल करना चाहते है। इसी दृष्टिकी विभिन्नताके अनुकूल उनके उद्देश्य भी अलग-अलग होते हैं। यही बात 'कामैस्तैस्तैः" आदि (७।२०-२३) और 'यजन्तेसात्त्विका" (१७।४। मे भी कही गई है।

इस प्रकार भगवानको आत्मा समझनेपर जब मनुष्य भगवानका रूप बन जाता है तो अन्य देवता, देवी आदि जिस किसी रूपमे भगवानको मनुष्य समझेमानेगा वह वही होगा, इसमे शककी जगह हुई कहा? बेशक ईमानदारीका सवाल है। दिलमे ऐसा ही मानके काम करनेवालोंकी ही बात है। श्रद्धाका यही मतलब है। आमतौरमे ऐसी पूजा करनेवाले सचमुच श्रद्धा और विश्वासके साथ ही ऐसा करते है। जो लोग मनमे समझें कुछ और करें कुछ वे ऐसे शायद ही होते है। वे लोग न पूजापाटके झमेलोमे पडते भी नही। इसीलिये यह कहना भी ठीक ही है कि सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते है। क्योकि नियम यही है। अपवादमे ही शायद कोई ऐसा न करते हो। भगवान तो सभीकी आत्मा ठहरे। वैसा ही अनुभव वह करते भी थे जब बोल रहे थे। इसीलिये जब मनुष्य किसी भी देव दानवकी पूजा करेगा तो जरूर ही भगवानकी ही ओर जायेगा। उसका रास्ता वही होगा जो भगवानका है—जो उसकी ओर ले जाता है। यह ठीक है कि वह सीधा राजमार्ग न होके पगडंडी और टेढ़ा-मेढा रास्ता है, जो चक्कर काटके

जाता है। इसीलिये तो महिम्नस्तोत्रमें पुष्पदन्तने साफ ही कह दिया है कि चाहे किसीकी पूजा करे या किसीको जाने-माने, मगर घूम-फिरके सभी भगवानकी ही तरफ जाते हैं। जैसे वर्षा या बर्फका सभी पानी घूम फिरके समुद्रमें ही जाता है,—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम्, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

मनुष्य-लोकमें सिद्धि, कर्मोंके फलोंकी प्राप्ति या कर्मोंमें सफलता जल्दी होती है, यह भी ठीक ही है। जो सुविधायें, जो अनुकूलताएँ मनुष्यको हासिल है वह पशुपक्षी या देवदानव किसीको भी नहीं मिली हैं, नहीं मिल सकती हैं। यहींकी कमाईसे तो उन शरीरोंमें जाया जाता है। इसीलिये उन्हें भोग-योनि या भोगने-वाले शरीर और मानव देहको कर्म-योनि माना है। भला पढ़ने-लिखने, सोचने-विचारनेसे, समाधि आदि करनेकी सुविधायें और किसे प्राप्त हैं, सिवाय मनुष्योंके? यहाँ तक कि वह अपने यत्नसे भगवान हो जाता है। मगर दूसरे ऐसा कर नहीं सकते। देवता लोगोंका तो ज्यादेसे ज्यादा यही होता है कि अपनी जगहसे फिर इसी मनुष्य लोकमें आते हैं। वे यहीं यत्न करके सब कुछ प्राप्त करते भी हैं—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (९।२१)। इसीलिये इसी शरीरमें अलभ्य अवसर मिलता है कि दिव्य दृष्टि तथा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर ले।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि क्यों लोग सीधे भगवानमें न लगके देवी-देवताओंमें फँसते हैं? वे गलत या चक्करवाले रास्तेमें क्यों पड़ते हैं? सीधा रास्ता क्यों नहीं पकड़ते? यदि कहा जाय कि प्रकृति या स्वभावके अनुसार ही ऐसा होता है और प्रकृति तो हरेक की भिन्न-भिन्न होती ही है, तो प्रश्न होता है कि जुदा-जुदा प्रकृति या विभिन्न स्वभावके शरीर बने ही क्यों? इनकी जरूरत ही क्या थी? और इन्हें बनाया किसने? यदि कहें कि भगवानने बनाया तो उसने ऐसा क्यों किया? विभिन्नता लानेमें उसका प्रयोजन क्या था? और अगर उसने ही यह सब कुछ किया तो समूचे करने-धरनेकी जवाबदेही उसी पर आनी चाहिये, न कि किसी और पर। इतना ही नहीं। इतना बड़ा पँवारा फैलाने, असंख्य प्रकारके शरीरों एवं पदार्थोंके बनानेका संकट और इस कामका बुरा-भला नतीजा क्या उसे न भोगना पड़ेगा? अगर नहीं, तो दूसरे लोग अपने कर्मोंका फल क्यों भोगें और वह न भोगे? नियम-कायदा तो एक ही ढंग का होगा न? होना चाहिये न?

इन्हीं बातोंका उत्तर आगे लिखा है। उसका मतलब यही है कि सृष्टिमें अनेक प्रकारके कामोंका बँटवारा गुणोंके ही अनुसार बने स्वभावके ही अनुकूल

हुआ है। जिसके दिल-दिमाग, शरीर और इन्द्रियोंमें जिस गुणकी प्रधानता है उसीके अनुसार उसके कर्म होते हैं। ऐसी गुण विभिन्नता होने ही क्यों पाई इसका उत्तर भी यही है कि पहले जन्मके कर्मोंके अनुसार ही सभी बातें होती हैं। जो जिस चीजका अभ्यास करेगा उसे वही याद आयेगी और उधर ही वह झुकेगा। इसीलिये कहा गया है कि मरनेके समय उससे पहलेके अभ्यासके अनुसार जो बात, जो चीज याद आयेगी उसी शरीरमें उसीके अनुकूलवाली परिस्थितिमें जन्म लेगा। इस तरह आगे बढ़ते जायेंगे। शुरूमें क्यों ऐसा हुआ यह प्रश्न तो होता ही नहीं; क्योंकि संसारका शुरू न मानके इसे अनादि मानते हैं। यह ठीक है कि कर्मों और गुणोंकी सारी व्यवस्था भगवानके बिना नहीं हो सकती है। इसीलिये वही यह सब कुछ करते हैं। मगर न तो इसका फल ही वे भोगते और न इनसे परीशानी ही उठाते ! क्योंकि उन्हें तो आत्मज्ञान है न ? वह तो अपनेको अकर्त्ता और अभोक्ता बेलाग—देखते हैं न ? श्लोकमें जो चातुर्वर्ण्य या चारों वर्णोंकी बात है वह दृष्टान्तके रूपमें भारतमें उस समय प्रचलित चीजको ही खयाल करके है। असलमें कर्मोंके अनेक विभागों और उनकी व्यवस्थासे ही मतलब है। श्लोकमें कर्म शब्द पूर्वके या प्रारब्ध कर्म और आगे होनेवाले कर्म—इन दोनों—का ही वाचक है। इसका पूरा विवरण कर्मवादमें मिलेगा।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

चारों वर्णोंको मैंने ही गुणों और कर्मोंके बँटवारेके अनुकूल ही बनाया है। (लेकिन) इनका बनानेवाला होता हुआ भी मैं निर्विकार और अकर्त्ता हूँ, ऐसा जान लो।१३।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

(क्योंकि) न तो मुझमें कर्म चिपकते ही हैं और न मुझे उन कर्मोंके फलोंकी आकांक्षा ही है। (फिर मुझे इनसे ताल्लुक ही क्या ? यही नहीं;) जो कोई दूसरा भी मुझे इसी तरह साक्षात्कार कर लेता है वह भी कर्मोंमें (हर्गिज) बँध नहीं सकता।१४।

यहाँ उत्तरार्द्धमें जो 'अभिजानाति' क्रिया है उसका पहलेकी ही तरह साक्षात्कार ही अर्थ है। इसीलिये तत्त्वकी जगह 'अभि' शब्द उसमें जुटा है, जिससे उसका अर्थ होता है अच्छी तरह जानना। इसीको विज्ञान भी कहते हैं। अभिजानातिके ही अर्थमें अभिज्ञान बनता है, जिसका अर्थ है पहचान या परिचय करा देनेवाला। शकुन्तलावाली अँगूठी देखते ही दुष्यन्तकी आँखों के सामने

उसकी मूर्त्ति नाच उठी"। इसीलिये अभिज्ञान शाकुंतलमें उसी अँगूठीको अभिज्ञान माना गया है। जो लोग ईश्वरके अकर्तृत्व और निःस्पृहत्वका अपने ही भीतर साक्षात्कार करने लगे अनुभव करने लगे, वह तो स्वयं ईश्वर ही हो गये। फिर उन्हे कर्मोंका बन्धन कैसा ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

(यही कारण है कि) मुक्ति चाहनेवाले पुराने लोगोने भी ऐसा ही समझके कर्म किया था। इसीलिये तुम भी पुराने लोगोंके द्वारा किये गये इस अत्यन्त प्राचीन कर्मको ही करो।१५।

इस श्लोकमे 'मुमुक्षुभिः' के साथ 'अपि' को जोडके यह अर्थ किया है कि मुमुक्षु या मुक्ति चाहनेवाले लोगोने भी कर्म किया था। इसका आशय यह है कि जो लोग पूर्ण आत्म ज्ञानवाले जीवन्मुक्त थे उनने तो किया ही था। मगर इस दशाकी प्राप्तिकी इच्छा या मोक्षकी कामनावालोंने भी किया था। इसलिये तुम्हे भी हर हालतमे यही करना होगा, चाहे मुक्त हो, या मुमुक्षु—मोक्ष चाहनेवाले। अब इसमे एक ही दिक्कत रह जाती है 'कि ऐसा ही समझके'—'एवं ज्ञात्वा'—का मेल दोनो अर्थोसे कैसे खायगा। ऐसा समझनेके तो मानी है यही समझना कि न तो मझमे कर्म लिपट सकते और न मुझे उनके फलोसे कोई काम है। और मुक्त या आत्मज्ञानी भले ही ऐसा समझे और उसका समझना ठीक ही है। फिर भी जो मोक्षकी इच्छावाला है वह ऐसा साक्षात्कार कैसे कर सकता है ? यह तो उसके लिये असभव है। इसीलिये उसके सम्बन्धमे इसका यही आशय है कि ऐसे साक्षात्कारको उद्देश्य करके ही उसने भी कर्म किया। ऐसा उद्देश्य तो ठीक ही है। उसमे बन्धन तो हर हालतमे होगा ही नही।

अब यहाँ पर एक नई बात उठ खडी होती है। कृष्णके दिलमे यह खयाल आ सकता था कि कही ऐसा तो नही कि कर्म करो, कर्म करो यही बात रहरहके कहनेसे अर्जुन समझ बैठे कि कृष्णको कोई गर्ज है, तभी तो बारबार ऐसा कहते रहते है, यहाँ तक कि जब तक जो बात पूछना भी नही हूँ तभी तक वह बात भी इस अभागे कर्मके बारेमे कह डालने और चट कह बैठते है कि कर्म करो ही। यह समझना कोई अस्वाभाविक भी नही। खूबी ता यह थी कि कृष्ण एक तो बहुत बाते यो ही बोल गये। दूसरे बाते ही कह जाते तो भी एक बात थी। मगर वह तो कर्म करो, करोका तूफानसा मचाये हुए थे। इसलिये शक-शुभे और ऐसे खयालोंकी गुंजाइश जरूर थी और पूरी थी।

इसीके साथ यह बात भी थी कि अब तक कर्म और, उसके त्याग या संन्यासकी बात आई जरूर थी और उसे कब मानना और कैसे मानना, कब नहीं मानना वगैरह बातें भी कही गई थीं जरूर। मगर कर्म और कर्म त्याग या उल्टाकर्म—विकर्म—किस सूरतमें कैसे होता है और क्यों. यह चीज अब तक कही गई न थी। यह बड़ी बात है। किन-किन हालतोंमें कैसे कर्म ही कर्मका त्याग या विकर्म बन जायगा—क्योंकि अकर्म शब्द जो आगे आया है उसका कर्म त्याग और विकर्म—विपरीत कर्म—भी अर्थ है, इसीलिये १७वें श्लोकमें विकर्म शब्द आया भी है—और किस दशामें कैसे अकर्म ही कर्म बन जायगा, इसका जानना निहायत जरूरी था। नहीं तो कर्मका एक महत्त्वपूर्ण पहलू छूट ही जाता। इसलिये भी कृष्णको आगेकी बातें कहनी पड़ी हैं।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि आगेके श्लोकोंमें कर्म और अकर्मकी परिभाषा या उनके लक्षण लिखे हैं वह भूलते हैं। यदि यह बात होती तो बारबार इन्हीं शब्दोंका प्रयोग न करके कुछ और शब्द बोलते। तभी तो पता चलता कि कर्म यह है और अकर्म यह है। मगर कृष्णने तो ऐसा नहीं किया है। इसलिये यही मानना पड़ेगा कि उन्हें परिभाषा नहीं करनी है। किन्तु यही बतलाना है कि जिसे आमतौरसे लोग कर्म मानते हैं वही कर्म त्याग और विकर्म भी कैसे बन जाता है और जिन्हें अकर्म—कर्म त्याग या विकर्म—मानते हैं वही कर्म कैसे बन जाते हैं। यही वजह है कि पहले (१६वें) श्लोकमें प्रथमान्त और द्वितीयान्त कर्म तथा अकर्म बोलनेके बाद और १८वेंमें ये बातें बतानेके पूर्व १७वेंमें 'कर्मणः' 'अकर्मणः' और 'विकर्मणः' इन तीनोंको षष्ठ्यन्त रखते हैं। इससे एक तो पहले या आगेके अकर्म शब्दसे विकर्म भी लेना होगा यह अभिप्राय निकलता है। दूसरा यह कि इन तीनोंके स्वरूप या लक्षणको न जानके इनके सम्बन्धमें ही कुछ जानना जरूरी है।

श्लोकमें कवि शब्दका अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म और भूत-भविष्यको भी देख सकने वाला। उसकी भीतरी आँखें ऐसी हैं कि गहनसे गहन और बारीकसे भी बारीक बातें देख सकें। वेदोंमें "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" शब्दोंमें परमात्माको कवि कहा है।

असलमें चौथे अध्यायका निजी विषय यहींसे शुरू होता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है (और) अकर्म क्या है इस सम्बन्धमें अलौकिक विद्वानोंको भी

चपलेमें पड़ जाना पड़ा है। इसीलिये तुम्हें कर्म (की सारी बातें और बारीकियाँ) बता दूँगा जिन्हें जानकर गलती और बुराईसे बच सकोगे।१६।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्मके सम्बन्धमें भी बहुत कुछ जानना जरूरी है और विकर्मके सम्बन्धमें भी। (इसी तरह) अकर्म—कर्म त्याग—के सम्बन्धमें भी अनेक बातें जाननेकी हैं। क्योंकि कर्मकी बात बड़ी पेचीदा है।१७।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

जो आदमी कर्ममें ही अकर्म—कर्म त्याग और विकर्म—(भी) देखता है और अकर्म—कर्म त्याग एवं विकर्म—में ही कर्म (भी), वही सब लोगोंमें बुद्धिमान है और योगी है और वही सब कुछ कर सकता है।१८।

यहाँ कई बातें विचारणीय हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि सीधे ढंगसे यह हर्गिज नहीं मान लेना चाहिए कर्मके बराबर अकर्म ही देखना चाहिए या अकर्ममें कर्म ही। आपाततः देखनेमें तो यही प्रतीत होता है कि यहाँ आलंकारिक विरोधाभासके रूपमें ही गीताके सिद्धान्तका वर्णन है। इसलिए विरुद्ध या उल्टी ही बातें देखनेका सिद्धान्त इसमें होना चाहिए ऐसा ही मालूम होता है। मगर गीता तो अलंकारका ग्रन्थ है नहीं। यह तो हमारे प्रतिदिनके व्यवहारों, हलचलों, संघर्षों एवं कर्मोंके करने-न करनेके दार्शनिक सिद्धान्त बताके तत्सम्बन्धी कायदे कानूनका संग्रह (Manual) जैसा ग्रंथ है। इसीलिए जो बातें बराबर होती हैं और जिन्हें व्यावहारिक या असली बातें कहते हैं उन्हें मिटा देने या भुला देनेसे तो गीताका काम चल सकता नहीं। तब तो यह कीचड़में ही जा फँसेगी और इसका मूल्य भी न रह जायगा। तब गीता वह चमकता हीरा न रह जायगी जैसा मानी जाती है।

इस दृष्टिसे देखने पर इस श्लोका अर्थ ऐसा हो जाता है कि जो आदमी कर्ममें कर्म तो देखता ही है, या यों कहिये कि कर्मको कर्म तो जानता-मानता हई; लेकिन उसमें अकर्म यानी कर्मका त्याग और विकर्म भी समझता है। इसी तरह जो अकर्म यानी कर्मके त्यागमें भी कर्मका त्याग तो समझता ही है; मगर कर्म और विकर्म या विरोधी कर्म-निन्दित कर्म—भी देखता है। ऐसे ही जो अकर्म यानी विकर्म या निषिद्ध कर्मको भी विकर्म तो मानता ही है; मगर उसे कर्म-त्याग और कर्म भी जानता है। वह सबोंमें बुद्धिमान है, वही युक्त या योगी है

और वह बेधड़क कोई भी—सभी—कर्म कर सकता है, करता है। उसे कोई काम करनेमें खतरा तो नजर आता नहीं। फिर हिचक क्यों होगी? इस तरह आत्मज्ञानी या योगीकी दृष्टि या नजरको कर्मके बारेमें बहुत ही व्यापक बन जानेकी बात इस श्लोकमें कही गई है। निचोड़ यही है कि वह हमेशा यही मानता है कि कोई भी कर्म, जिसे व्यवहार, समाज या शास्त्रने अनुमोदित किया है, कर्म भी हो सकता है, कर्म-त्याग भी और विकर्म, दुष्कर्म, या पाप भी। इसी तरह वह यह भी मानता है कि शास्त्रीय या समाज-अनुमोदित कर्मोंका त्याग भी त्याग तो रहता ही है। साथ ही साथ वह कर्म और विकर्म भी बन सकता है और विकर्म भी विकर्म होनेके साथ ही कर्म या कर्म-त्याग हो जाता है, हो जा सकता है। मालूम होता है, कोई जादूमंतर या करामात है जो इनके रूपोंको बदल देती है अगर उसका प्रयोग किया जाय और अगर न किया जाय तो ये ज्योंके त्यों रह जाते हैं। कोई ऐसी जड़ी-बूटी, ऐसी औषधि है जिसे गीताने बताया है।

अब इन तीनोंका दृष्टान्त ले सकते हैं। हल जोतनेकी बात लीजिए। एक हलवाहा ईमानदारीसे हल चलाता है। यही उसका कर्म है। यह कर्म बना रहेगा जब तक वह मजदूरी या खेती-गृहस्थीके सफल होनेके खयालसे ही यह काम करता रहेगा। मगर ज्योंही इन नतीजों या परिणामों—फलों—की पर्वा उससे जाती रही; फलतः कर्मासक्ति या फलासक्ति छोड़के वह हल चलाने लगा; जैसा कि किसीने पकड़के जड़भरतसे हल चलवाया था। बस वही कर्म अकर्म बन गया। क्योंकि पहली—कर्मकी—हालतमें जो उसे डर-भय रहता था या काम बिगड़नेका खतरा रहता था वही तो इसे कर्म बनाये हुए था और वही अब जाता रहा। जिससे वह उस कर्ममें बेलाग हो गया। लेकिन ऐसा भी होता है कि हमारे पड़ोसीसे हमारी कटाकटी चल रही है। पद-पद-पर हम उसे चिढ़ाना और दिक करना चाहते हैं। ऐसी ही हालतमें उसकी खेती का ऐन मौका बिगड़ रहा है। हजार कोशिश करके भी वह न तो हल ही पा सकता है और न चलाई सकता है। फलतः तिलमिलाया हुआ है। ठीक उसी समय हमने अपना हल उठाया और उसे दिखाके बिना जरूरत ही हम किसी खेतमें चलाने लगे। ऐसा भी हो सकता है कि पड़ोसीकी जैसी ही अपनी जरूरतको पूरा करनेके बजाय हमने उसके किसी प्रचण्ड शत्रुको ही जान-बूझके अपना हल उसके सामने ही दिया। बस, यह हमारा विकर्म या दुष्कर्म हुआ। क्योंकि नाहक दूसरेका दिल दुखाना ही उसका लक्ष्य जो है।

इसी तरह कर्मके त्यागको भी लें। यदि हमारे सामने किसी गरीब या

निर्दोषको कोई जालिम पीटता हो तो उसकी रक्षा करनेके लिए दौड़ पडना हमारा कर्त्तव्य है। मगर हम उसे नही करते है। यही कर्मका त्याग हुआ। मगर इसकी तीन हालतें होनेसे इसके भी तीन रूप हो जाते हैं। यदि हम जान-बूझके उसकी मददको न जाये तो यही कर्म त्याग होगा या विकर्म या पाप। यदि चाहते हुए और भरसक यत्न करने पर भी न जा सके; क्योंकि किसीने हमें कसके पकड लिया या बाँध दिया हो, तो कर्मका त्याग या अकर्म होते हुए भी यही हो गया हमारा कर्म, जिसे अच्छा काम, सत्कर्म या पुण्य कहिये। मगर ऐसा भी हो सकता है कि हम ऐन मौके पर इधर समाधिस्थ हो गये और उधर वह पीटपाट शुरू हुई। हमने सारी तैयारी पहलेसे ऐसी कर ली थी कि रुकना कथमपि सभव न था। या ऐसा भी हो सकता है कि हममे आत्मानन्दकी ऐसी मस्ती हो कि सुध-बुध होई न। ऐसी दशामे उसकी मददके लिये हमारा न जाना सचमुच कर्म-त्याग है।

अब रही विकर्मकी बात। साधारणत हिंसा बुरी है, विकर्म है। फिर भी लोग इसे बराबर करते ही रहते हैं। इसीलिए वह विकर्मका विकर्म ही रहेगी जब तक हम रोजी-रोजगार, पेट या महज वैरविरोध आदिके खयालसे यह चीज करते रहेंगे। मगर आखिर धर्म-व्याध भी तो कसाईका ही काम करता था। हालत यह थी कि एक तो कोशिश करके थक चुका था, फिर भी उससे उसका पिड छूट न सका। दूसरे उसके करने या न करनेमे—होने या न होनेमे—और उसके परिणाम स्वरूप पैसे मिले या न मिले, या और कुछ हो या न हो, उसे किसी बात की जरा भी पर्वा न थी—उसे अव्वल दर्जकी बेफिक्री थी, मस्ती थी। इसीलिए यह विकर्म उसके लिए अकर्म या कर्मोका सच्चा त्याग था। ऐसा हर समझदार, हर आत्मज्ञानी कर सकता है, करता है। लेकिन मान ले कि वही धर्म-व्याध या दूसरे ही इतनी दूर तक न पहुँचे हो। जीविकार्थ उन्हे कुछ न कुछ खामखा करना भी पडे। इसीके साथ कसाईका काम उनका खान्दानी पेशा होनेके कारण—जैसी कि धर्म-व्याधकी बात थी—उन्हे सुलभ होनेपर भी इससे बचनेकी सारी कोशिश उनने कर ली। मगर मजबूर हो गये और दूसरी जीविका मिली ही नही। ऐसी दशामे केवल जीविकाके खयालसे ही वही विकर्म या हिंसाका काम करनेपर भी वही उनके लिए कर्म या सत्कर्म हो जायगा। मनुस्मृतिके १२वे अध्यायमे लिखा है कि विश्वामित्रादि ऋषियोने कुत्ते आदिका मास खा-खिलाके घोर दुष्कालमे प्राण तथा धर्म बचाये। छान्दोग्य उपनिषद् (१।१०।१-७)मे लिखा है कि हाथीके जूठ उड़द खाके उषस्ति ऋषिने प्राणों और धर्म दोनोंकी ही रक्षा की! इसलिये ऐसा तो होता ही रहता है।

हमने जो कुछ लिखा है वह अक्लमें आनेवाली चीज है। व्यवहारमें भी ऐसा होता आया है, होता है और होता रहेगा भी। इसीलिये गीताके इस श्लोकका भी अर्थ ऐसा ही करना उचित है जो व्यवहारके अनुकूल हो। यह मान लेना कि कर्मको हमेशा अकर्म ही समझते और देखते रहे, निरी नादानी है। वैसी मनोवृत्ति जबतक न हो यह कैसे हो सकता है और यह मनोवृत्ति केवल योगीके वशकी नही है। माना कि उसने खुद ऐसी ही मनोवृत्ति की और वह असंग भी हैं। मगर कर्मोंका ताल्लुक तो आखिर दूसरोंसे भी होता है न ? और अगर वे ऐसा न समझें तो भी क्या उनके लिए भी वह अकर्म ही हो जायगा ? यह उलटी बात होगी। एक ही कर्म किसीके लिये सत्कर्म, किसीके लिये दुष्कर्म और किसीके लिये अकर्म या कर्मत्याग हो सकता है अपनी अपनी भावनाके अनुसार। यही बात हरेक कर्ममे निरपवाद लागू है। पूजा-पाठ, समाधि तकमें हिंसा तो होती ही है। और नही तो साँस लेने या शरीरकी रगडसे ही जानें लक्ष-लक्ष कीटाणु खत्म हो जाते हैं। इसीलिये अष्टावक्रने अपनी गीतामे कहा है कि नादानकी निवृत्ति या कर्मत्याग भी प्रवृत्ति या कर्म बन जाता है और विवेकीकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति बन जाती है; "निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी" (१८।६१)। इसमे 'भी'के अर्थमे जो 'अपि' शब्द है वही हमारे आशयको व्यक्त कर देता है। २०वें श्लोकके 'प्रवृत्तोऽपि' वगैरह भी यही बात व्यक्त करते है।

हमने पहले ही कहा है कि चौथे अध्यायका अपना विषय इसी श्लोकसे शुरू होता है। इसके पहले तो दूसरे तीसरे अध्यायके ही प्रसंगकी बाते आई है। यदि कोई भी विवेकी गौर करे तो यह जरूर मानेगा कि कर्म करने और उसके त्याग या संन्यासकी यह बारीकी निहायत जरूरी चीज है जो छूटी थी। इसीलिये गीताके चौथे अध्यायने इसे पूरा किया है। इसमें भी असल चीज है कर्मत्याग या संन्यास ही। इसीके बारेमे तो उलझनें पैदा होती है और लोग अंट-संट कर बैठते है, मान बैठते है। लोगोंको धोके और भ्रम भी तो संन्यास या कर्मत्यागको ही लेके होते हैं। इसीलिये उसका खासतौरसे स्पष्टीकरण यहाँ जरूरी था। यह संन्यास ज्ञानका साधन है और ज्ञानके बलसे ही यह होता भी है। इस प्रकार एक तरहसे इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध है—ये दोनों अन्योन्याश्रयवाले हैं यह बात भी आगे स्पष्ट की जायगी। इस तरह यही चीजें इस अध्यायके मुख्य विषय है। इसीलिये इसे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगके नामसे ही अन्तमें कहेंगे भी।

इस बातका निरूपण इस १८वें श्लोकसे ही शुरू होके ३७वें तक चला जाता है। बीच-बीचमें एकाध बार ज्ञानकी बात प्रसंगसे आई है। अन्यथा आगे—

के १९ श्लोक इसी एक ही श्लोकके व्याख्यान स्वरूप हैं। अनेक प्रकारसे उनमें यही बात—इसी श्लोकका अभिप्राय—व्यक्त किया गया है। यह बात उन श्लोकोंके अर्थ लिख चुकनेपर ही हम बतायेंगे। तभी समझमें आसानी होगी भी।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९॥

जिस (आदमी) के सभी काम कामना तथा फल आदिकी आसक्तिके बिना ही होते हैं, (इसीलिये) जिसने ज्ञानरूपी आगमें सभी कर्म जला दिये हैं, विद्वान लोग उसीको पंडित कहते हैं।१९।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

(क्योंकि) ऐसा आदमी कर्मों और उनके फलोंकी आसक्तिको मिटाके बेपर्वाह और हमेशा मस्त रहता है। (इसीलिये) वह कर्मोंको करता हुआ भी (दरअसल) कुछ भी नहीं करता है।२०।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो सभी इच्छा-आकांक्षाओंको लात मार चुका है, जिसने मन और बुद्धिको अपने काबूमें कर लिया है (और) जिसने सभी डल्ले-पल्लेसे नाता तोड़ लिया है, (ऐसा आदमी) केवल देह या इन्द्रियोंसे ही कर्मोंको करता हुआ भी पाप और बुराईके पास जातातक नहीं।२१।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

योंही जो कुछ भी मिल जाये उसीसे जो सन्तुष्ट हो, रागद्वेष—हर्षविषाद—काम-क्रोधादि द्वन्द्वोंसे जो बहुत दूर हो गया हो, जिसमें वैरविरोध या दूसरोंकी सफलतासे होनेवाली जलन न हो और जिसके दिलपर कामके पूरा होने या न होनेका कोई प्रभाव न पड़े वह आदमी सभी कर्मोंको करके भी बन्धनमें हर्गिज नहीं पड़ता।२२।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिशून्य है, जो सभी बन्धनोंसे रहित है, (इसीलिये) जिसकी बुद्धि आत्मज्ञानमें ही डूबी है—जो स्थितप्रज्ञ है—और जो (केवल) यज्ञके ही लिये कर्म करता है उसके कर्म जड़मूलसे खत्म हो जाते हैं।२३।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(जिस यज्ञमें ऐसी भावना है कि) आहुति आदिके साधन स्त्रुव आदि ब्रह्म ही हैं, घृतादि हवनके पदार्थ भी ब्रह्म हैं, ब्रह्मरूपी अग्निमें ब्रह्मरूपी यजमान ब्रह्मरूपी हवनक्रिया करता है, उस समूची यज्ञात्मक क्रियाको ब्रह्मका रूप मिल जानेसे वह पूर्ण समाधि ही हो गई। इसलिये उससे ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है ।२४।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दूसरे योगी इन्द्र आदि देवताओंके ही यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। कुछ और लोग ब्रह्मरूपी अग्निमें ही देहधारी आत्माका हवन ज्योंका त्यों कर देते हैं ।२५।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

(चौथे प्रकारके) कुछ लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका हवन संयमरूपी आगमें करते हैं। (पाँचवें) दलवाले शब्द आदि विषयोंका हवन ज्ञान-इन्द्रियरूपी अग्निमें ही करते हैं ।२६।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

(छठें प्रकारके) लोग सभी इन्द्रियोंकी तथा प्राणकी भी सभी क्रियाओंका हवन मनके संयमरूपी अग्निमे, जो ज्ञानके द्वारा खूब धौंकी जा चुकी है, करते हैं ।२७।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योग यज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे भी कल्याणार्थ यत्न करनेवाले लोग हैं जिनके व्रत या यज्ञोंके नियम बड़े ही सख्त हैं। (ये पाँच दलोंमें विभक्त हैं और वे हैं) अन्नादि पदार्थोंसे यज्ञ करनेवाले, तपरूपी यज्ञके करनेवाले, अष्टांग योगरूपी यज्ञ करनेवाले, सद्ग्रन्थोंके पाठरूपी यज्ञके कर्त्ता और ज्ञान यज्ञके करनेवाले ।२८।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

(तीन तरहके और भी लोग हैं जो यज्ञ करते हैं और उनमें) एक तो

अपानमें प्राणका ही हवन यानी पूरक करते हैं। दूसरे प्राणमें ही अपानका हवन यानी रेचक करते है। तीसरे प्राण और अपान दोनोंकी क्रिया रोकके कुम्भकमें ही लगे रहते हैं।२९।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकाऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

(पन्द्रहवें प्रकारके) कुछ और भी हैं जो खानपान आदिपर सख्त संयम करके इन्द्रियोंकी क्रियाओंको प्राणकी क्रियाओंमे ही हवन कर देते हैं। (इस तरह) ये सभी यज्ञ करनेवाले इन्ही यज्ञोंके द्वारा (अपने दिल-दिमागकी सभी) गन्दगियोंको धो डालते है (और) यज्ञशिष्ट—यज्ञके बाद बचे हुए—अमृतको ही भोगते हुए सनातन—नित्य—ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। हे कुरुसत्तम,—कुरुवंशके दीपक,—जो यज्ञ नहीं करता उसका तो काम यही नहीं चल सकता। परलोकका तो कहना ही क्या? ३०।३१।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस प्रकार अनेक तरहके यज्ञ वेदमें प्रमुख रूपसे कहे गये है। कर्मोंसे ही वे सभी तैयार होते है ऐसा जान लो; (क्योंकि) ऐसा जाननेसे ही मुक्त होगे।३२।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप, घृतादि भौतिक पदार्थोंसे किये जानेवाले यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ कही अच्छा है। (क्योंकि) हे पार्थ, (आखिर) सभी कर्मोंका अन्तिम ध्येय ज्ञान ही तो है और ज्ञानसे ही कर्मोका खात्मा भी होता है।३३।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तो यह याद रखो, नम्रतापूर्वक शरणमें जाने, (यथाशक्ति) सेवा करने (और अवसर पाके) पूछनेपर ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी जन तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे।३४।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

हे पांडव, जिस ज्ञानको हासिल कर लेनेसे तुम्हें ऐसा मोह न होगा (और) जिसके चलते सभी पदार्थोंको अपने आपमें देखोगे और मुझमें भी ।३५।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।३६।।

अगर तुम सभी पापियोंसे कहीं बढ़-चढ़के भी पापी हो (तो भी) सभी पापों—पाप-समुद्र—को इस ज्ञानकी नावसे ही पार कर जाओगे ।३६।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।३७।।

हे अर्जुन, जिस तरह धक्‌धक् जलनेवाली आग समूचा ईंधन (बातकी बातमें ही) भस्म कर डालती है । उसी तरह ज्ञानरूपी आग भी सभी कर्मोंको भस्म कर देती है ।३७।

अब आगे ज्ञानकी प्राप्तिके अन्य साधनोंका विचार तीन श्लोकोंमें करके ४१वेंमे पुनरपि इसी कर्म-अकर्मका उपसंहार करेंगे । फिर अन्तिम श्लोकमें अध्यायके उपदेशका निचोड़ कहके अर्जुनको तैयार हो जानेकी बात कहेंगे । इसलिये उचित है कि यहींपर पीछेके १९ (१९-३७) श्लोकोंका सिंहावलोकन करके देखें कि उनसे कहाँतक १८वेंके कर्म-अकर्मवाले सिद्धान्तका स्पष्टीकरण होता है और संक्षेपमें उनमें कहा भी क्या गया है ।

सबसे पहले शुरूके पाँच (१९–२३) श्लोकोंको ही लें । इनमे २१वेंको छोड़ शेष चारोंमे कर्मोके करते रहने पर भी मनुष्य कर्मरहित, अकर्म या कर्मत्यागी कैसे हो जाता है यही बात कही गई है । बेशक, चारोंमे कुछ न कुछ नई बातें भी हैं । फिर भी इन सबोंको मिला लेनेपर ही हम इस निश्चयपर पहुँच पाते हैं कि किस दशामें—कैसी मनोवृत्ति रहनेपर—मनुष्यके कर्म अकर्म बन जाते हैं और कर्मोंके करते रहनेपर भी कर्मत्याग या संन्यासका काम पूरा हो जाता है । संन्यासका भी तो प्रयोजन यही है कि कर्मोके बन्धनोंसे छुटकारा हो जाय और वही बात यों भी हो जाती है । इसलिये यहाँ अर्थतः संन्यास है, न कि स्वरूपतः । क्योंकि स्वरूपतः तो कर्म करते ही रहते हैं ।

तो अब यह देखें कि इन श्लोकोंमें क्या-क्या बाते है जो कर्मको अकर्म बनाती है । तत्त्वज्ञान तो चारोंमें ही स्पष्टतया और अर्थात भी आया ही है । मगर उसके फलस्वरूप जो मनोवृत्ति होती है उसीसे हमारा मतलब है । पहले श्लोकमें काम और फलादिकी कल्पना या उनकी आसक्ति, इन दोनोंका पूर्ण त्याग आया है । मगर इसे वे संकल्पके रूपमें कहा है । दूसरे—२०वें—मे कर्म और

फलकी आसक्तिके त्यागके साथ बेपर्वाही और सदा रहनेवाली मस्ती आई है। २२वेंमें कर्मके पूरे होने-न होनेमे बेपर्वाही—समत्व—के साथ शरीरयात्राके लिये बेफिक्री, जोई मिले उसीसे संतोष, हर्ष-विषाद आदिके लेशका भी न होना और दूसरोंकी सफलता देखके जलनका न होना यही बातें कही गई हैं। २३वेंमें हर तरहकी असंगता, सभी बन्धनोंसे छुटकारा और बुद्धिके तत्त्वज्ञानमें डूब जानेके अलावे यह भावना होना कि ये कर्म यज्ञार्थ हो रहे हैं, यही बातें कही गई हैं। इन सबोंके मिलानेसे ऐसा हो जाता है कि आत्मसाक्षात्कारसे ही कर्मोंसे छुटकारा होता है—वे जल जाते हैं। मगर इसको—साक्षात्कारको—पहचान क्या है, यही देखना है और यही असल चीज है। इस दृष्टिसे पता लगता है कि पहली चीज है बुद्धिका आत्माकी ही ओर टँग जाना और मनका उसीमें रम जाना। मगर इसका पता लगता है तब जब कामना, संकल्प, कर्म तथा फलकी आसक्ति, ये सभी छूट जाते हैं और हमेशा तृप्ति बनी रहती है। लेकिन ये सभी भीतरी बातें हैं। इसीलिये इनका पता कैसे लगे ? यही कारण है कि यह कह दिया है कि न तो किसी आदमी या देवता वगैरह की पर्वा हो, न खाने-पीने आदिके लिये हाय-हाय, न किसीसे भी वैर-विरोध, न हर्ष-द्वेष और राग और न किसीसे चिपकना। इसीके साथ यह भी रहे कि काम पूरा हुआ तो क्या, न पूरा हुआ तो क्या ? फलत. निश्चिन्त रहे। ये बाहरी पहचान हैं। अन्तमें इनके साथ यह भी जोड दिया कि यज्ञके लिये ही कर्म कर रहे हैं, कर्म हो रहे हैं यदि यह भावना हो जाय तो सुन्दर हो। जरूरी नहीं हैं कि यह भावना होई। मगर हो तो सुन्दर।

अब रहा बीचका २१वाँ श्लोक। इसमें विकर्मको ही अकर्म या कर्म-त्याग बन जानेकी बात कही गई है। क्योंकि किल्बिष या पापका प्रश्न तो वहीं पैदा होता है न ? इसका भी रास्ता साधारणतः वही है जो कर्मको अकर्म बनानेका। मगर श्लोकमे कुछ खास बातें कही गई हैं। यही इसकी विशेषता है। जो कुछ कहा गया है उसका निचोड यही है कि कोई भी काम करनेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके एक साथ होनेपर ही वह पूरा होता है और उसकी पूर्ण जवाबदेही होती है। लेकिन यदि मन और बुद्धिको उधरसे खींच ले और केवल शरीर या इन्द्रियोंको ही—क्योंकि बाहरी इन्द्रियाँ या हाथ-पाँव आदि शरीरमें ही आ जाते हैं; इसीलिये श्लोकमें 'शारीरं' कहा है—उसे करने दें, तो जवाबदेही छूट जाती है। यही बात श्लोकमें "यतचित्तात्मा" और "केवलं शारीरं" से कही गई है। केवल शरीरसे' यह तो 'यतचित्तात्मा' होने या मन और बुद्धिको काबूमें कर लेनेका परिणाम ही है। इसकी पहचानके लिये 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' कहा है। सब लवाजिम और झल्ले-पल्लेसे नाता तोड़ लेना—न कोई आगे हो न

पीछे, न घरबार हो और न दूसरी ही कोई जरा भी सम्पत्ति । तभी तो पक्की पहचान होती है कि सचमुच इस आदमीका मन किधर है । कुछ भी घर-गिरस्ती या कपड़ा-लत्ता होनेपर मन उसीमे जाता ही है ।

यहाँ यह भी जान लेना होगा कि यद्यपि संकल्प और आसक्तिको आमतौर-से एक ही मानते है, तथापि दोनोंमे कुछ न कुछ फर्क है । संकल्प भी आसक्तिका ही एक रूप है । मगर कोई भी काम शुरू होनेके पहले जो आसक्ति होती है, चाहे उस कामके पूरे होनेकी या फलकी, या दोनोंकी ही, उसके फलस्वरूप जो मनमे उसके बारेमे तरह-तरहकी कल्पनायें होती है कि यों करेंगे, त्यों करेंगे वही संकल्प है । काम शुरू होनेपर उसके खत्म होने-न होनेके बादतक जो कर्म और फलसे मनका चिपकना है वही आसक्ति है । इसीलिये मौलिक भेद न होनेपर भी कुछ न कुछ भेद हुई । इसीलिये दोनोंको जुदा-जुदा कहा गया है । गीतामे कई बार ऐसा मौका आया है । यही यह भी जान लेना चाहिये कि यह "सम सिद्धावसिद्धौ" तीसरे अध्यायमे तो आया नही । यहीपर इस अध्यायमें एक बार और तीन बार द्वितीय अध्यायमे आया है । मगर पहले दो बार ज्ञानके सम्बन्धमे और बादमे एक बार कर्मके सम्बन्धमे । यहाँ भी कर्मके ही सम्बन्धमे है । इसमे और "सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा"मे पूर्ण समानता है । ज्ञान और कर्मके समत्वका भेद पहले ही बताया जा चुका है ।

तेईसवे श्लोकमे यज्ञार्थकर्म—यज्ञायकर्म—की बात आ जानेसे २४वेंसे लेकर ३१वेंतक ८ श्लोकोंमे यज्ञोंकी ही बात आ गई है । इनमे भी ३०वेंके पूर्वार्द्धतक साढे छे श्लोकोंमे कुल पन्द्रह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन है । शेष डेढमे उनकी महत्ता बताई गई । यज्ञ सब पापों और बुराइयोंको धो देते है, और यज्ञके बाद ही बचे-बचाये पदार्थोंको अमृत समझ उन्हे भोगनेवालोंको ब्रह्मकी प्राप्ति भी होती है, यही दो बाते कही गई हैं । मगर ३१वेंके उत्तरार्द्धमे जो यह कहा है कि यज्ञ न करनेवालेका तो काम यही नही चल सकता, परलोककी बात तो दूर रहे, वह यह सूचित करता है कि गीताका यज्ञ बहुत ही व्यापक है । फलतः इसके भीतर समाजोपयोगी कार्य भी एक-एक करके आ जाते है । असलमे जिन पन्द्रह यज्ञोंको गिनाया है उनके भीतर दुनियाके सभी काम आ जाते है । खूबी तो यह है कि पन्द्रह तरहके यज्ञोंको गिनाके अन्तमे यह कह दिया है कि इस तरहके बहुतेरे यज्ञ वेदोंमे आते है—"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे" । इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि नमूनेके रूपमे या दल और किस्मके रूपमे ही ये पन्द्रह गिनाये गये है । दरअसल हरेकके पेटमे सैकडो-हजारो तरहके यज्ञ आ सकते है ।

यज्ञोंके बारेमे थोड़ा और भी विचारे तो अच्छा हो । तीसरे अध्यायमें

भी "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" (३।९) में यज्ञार्थ कर्मकी बात आई है। वही यहाँ भी है। गौरसे देखनेसे यह भी पता चलता है कि दोनों श्लोकोमें एक ही बात है। इसीलिये संग या आसक्तिका त्याग वगैरह भी दोनोंमे ही आये हैं। अगर वहाँ 'कर्मबन्धन' से छूटनेकी बात है तो यहाँ कर्मोंके समग्र या जड़मूलसे खत्म हो जानेकी बात है। मगर दोनोंका आशय एक ही है। हाँ, एक अन्तर जरूर है और है वह महत्त्वपूर्ण। यहाँ "ज्ञानावस्थितचेतसः" कहनेसे बुद्धिका ज्ञानमें या आत्मचिन्तनमे डूबना लिखा है। उसके आगे जो "ब्रह्मार्पणं" (४।२४) श्लोक है उससे भी यही सिद्ध होता है। इसमें तो कर्मको समाधिका रूपान्तर बना दिया है और कह भी दिया है। जब ब्रह्मके सिवाय और कोई खयाल हई नही तो समाधि तो पूरी होई गई। मगर जैसा कि वही कह चुके है, तीसरे अध्यायमें यह बात नही है। वहाँ जनसाधारणकी बात ही आई है, हाय-हाय छोड़के कर्म करनेकी जरूरत उन्हे बताई गई है और उन्ही कर्मोंसे यज्ञके स्वरूपका निर्माण कहा गया है। इस तरह एक पहेलीसी खडी हो जाती है। मगर इसका समाधान भी है।

असलमे तीसरे अध्यायकी स्थितिसे आगेतककी स्थितिको ही दृष्टिमे रखके चौथे अध्यायमे कर्म, अकर्म और यज्ञका निरूपण आया है। यह तो ठीक ही है कि पूर्ण ज्ञानीके कर्मोंकी बात यहाँ बार-बार आई है। मगर ३० वेंके 'यज्ञक्षपितकल्मषाः" और पूरे ३१वे श्लोकसे ही सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण ज्ञानीसे नीचे दर्जेके लोगोके लिये भी यज्ञकी बात यहा कही गई है। क्योंकि ज्ञानीको पापसे ताल्लुक ही क्या? उसका पाप तो ज्ञान ही जला देता है। वही कर्मका भी जलाता है। साथ ही, यज्ञ शेष अमृतका भोग करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते है, इस कथनसे भी पता चलता है कि ऐसा करते-करते जब उनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तभी पूर्ण ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। क्योंकि ज्ञानी तो ब्रह्मरूप हई। फिर खा-पीके ब्रह्मको क्या खाक प्राप्त करेगा? मुमुक्षुओंके भी कर्म करनेकी बात इसी अध्यायमे पहले कही गई भी है। "तत्स्वयं योगसंसिद्धः" (४।३८) से भी पता लगता है कि कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूपी संसिद्धि मिलनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है। क्योकि वहाँ 'योगसंसिद्धः' शब्दका सिवाय इसके दूसरा अर्थ संभव नही कि "कर्मोंके करनेसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है"। उसके आगे "योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्" (४।४१) से भी स्पष्ट है कि कर्म करते-करते अन्तःकरणकी पवित्रता हो जानेपर ही कर्मोंका स्वरूपतः संन्यास करना जरूरी हो जाता है, ताकि निदिध्यासन और समाधि यथोचित रीतिसे हो सके और पूर्ण आत्मसाक्षात्कार हो

जाये। जबतक कर्म न करे तबतक उसका संन्यास असंभव है, यह तो "नकर्मणामनारम्भात्" (३।४) में कही चुके हैं। इसलिये यहाँ यह कहना कि "योग यानी कर्म करके ही जिसने कर्मोंका संन्यास किया है" ठीक ही है। इसीलिये यही बात "आरुरुक्षोर्मुनेः" (६।३) में तथा "संन्यासस्तु महाबाहो" (५।६) में भी कही गई है। हम इसपर विशेष प्रकाश भी डाल चुके हैं। यही कारण है कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" (४।३७) और "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं" (४।१९) के साथ इस "तत्स्वयं योगसंसिद्धः" को मिला देनेपर "सर्व कर्माखिलं पार्थ" (४।३३) में "परिसमाप्यते"के पर्यवसानके दोनों ही अर्थ करने जरूरी हो जाते हैं। एक तो यह कि सभी कर्मोंका फल दरअसल ज्ञान ही है। दूसरा यह कि ज्ञानके बाद सभी कर्म जडमूलसे खत्म हो जाते हैं। "समग्रं प्रविलीयते" और "सर्वं कर्माखिलं परिसमाप्यते" का बहुत सुन्दर मेल भी है, यदि शब्दोंके अर्थोंपर गौर करें।

इतना ही नहीं। यदि यज्ञोंके स्वरूपोंको भी देखें तो पता चलता है कि आत्मज्ञानीके सिवाय दूसरोंके भी यज्ञ उनमें आये हैं। "ब्रह्मार्पणं" आदि श्लोकमें ठीक आत्मज्ञानीका ही यज्ञ है। मगर उसके बाद जो देवयज्ञ आदिका वर्णन है वह तो निश्चय ही आत्मज्ञानियोंके यज्ञका नहीं है। वह भला देवताओंका यज्ञ क्यों करने लगे ? उनकी नजरोंमें देवदानव वगैरह तो हुई नहीं। यज्ञ भी स्वतंत्र कोई चीज नहीं है। शेष चौदह यज्ञोंका भी यही हाल है। "ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं" में भी ब्रह्मरूपसे वही आत्माका चिन्तन चलता है। इसीलिये वह यज्ञ भी आत्मज्ञानके पहलेकी चीज है। इसी प्रकार ज्ञानयज्ञ भी बड़ा व्यापक है। इसीलिये गीताके अन्त (१८।७०) में गीताके पढ़ने-पढ़ानेको भी ज्ञानयज्ञ कह दिया है। फलतः ज्ञानयज्ञ आत्मज्ञानको ही कहते हैं यह तो माना जा सकता नहीं। जब "ब्रह्मार्पणं" आदि आत्मज्ञानरूपी यज्ञसे पृथक् ही ज्ञानयज्ञ गिनाया है तो वह जरूर ही दूसरे ही प्रकारका है।

बात असल यह है कि यज्ञमें किसी न किसी पदार्थकी आहुति अग्नि आदिमें दी जाती है। इसी समानताके खयालसे जहाँ एक पदार्थको दूसरेके पास लाके खत्म किया वहीं यज्ञ नाम दे दिया गया है। आहुतिके बाद उसके पदार्थ खत्म तो होई जाते हैं। विषयोंमें जानेपर इन्द्रियोंकी परीशानी जाती रहती है। मालूम पड़ता है कि वह खत्म हो गई। इन्द्रियोंके पास आके विषय तो खत्म होते ही हैं। ब्रह्मके रूपमें आत्माका चिन्तन करनेसे उसका देहयुक्त रूप तो खत्म होई जाता है। मनके रोकनेसे इन्द्रियोंकी और प्राणकी भी क्रियायें खत्म होई जाती हैं। पूरकमें प्राणकी क्रिया होती नहीं। क्योंकि वायु बाहर जाये तब न ?

वहाँ तो भीतर ही खींचा जाता है और वही है अपानकी क्रिया। रेचकमे वायु बाहर ही निकालते है। इसीलिये वहाँ अपानकी ही क्रिया गायब है। कुम्भकमें दोनोंकी ही क्रिया रुक जाती है। यद्यपि प्राणायाम तीनोको ही मिलाके या अलग-अलग भी कहते है। मगर पूरक-रेचकको जुदा गिना देनेके बाद प्राणायामके मानी है केवल कुम्भक। इसी प्रकार सभी यज्ञोके बारेमे जानना होगा। "सर्वेऽप्येते यज्ञविद:" (४।३०) मे विदका अर्थ ज्ञान नही, किन्तु लाभ है। अत: यज्ञविद: का अर्थ है यज्ञ करनेवाले।

यहाँ आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे यज्ञोंके वर्णन करनेका आशय यही है कि जिनकी मनोवृत्ति बहुत ऊँची नही उठ सकी है वह भी धीरे-धीरे उस दशामे पहुँच जाये। इसीलिये सभी क्रियाओंमे यज्ञकी भावनाका उपदेश है। "यत्करोषि" (९।२७-२८) मे जिस प्रकार सभी क्रियाओमे भगवानकी पूजा या भेटकी भावनाका उपदेश किया गया है; ठीक वही बात यहाँ है। भगवानकी भेटकी ओर स्वभावत लोगोंका खयाल जा सकता है। इसलिये वह एक आसान उपाय है। मगर जो लोग भगवानको नही मानते या उतनी दूर नही जा सकते—क्योंकि यह भावना आसान नही है—उन्हे यज्ञकी भावनाके द्वारा तयार करनेका यह रास्ता है। आखिर यज्ञ, सैक्रिफाइस (Sacrifice) या कुर्बानी तो सभी धर्म-मजहबोंकी चीज है। समाजहितकी दृष्टिसे तो धर्म न माननेवालोंके लिये भी मान्य है। इसीलिये इस सुगम और व्यापक मार्गका उपदेश यहा किया है। इसका परिणाम यह होगा कि पदार्थोंका भोगते हुए भी अलग-अलग खाना, सोना आदि बुद्धि या भावना न करके सर्वत्र यज्ञकी ही बुद्धि करते रहनेसे मनकी एकाग्रता हो जायगी। फिर तो उसे यज्ञसे मोडके आत्मामे लगाना अगला ही कदम होगा। 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (योग० १।३९) मे पतंजलिने यही माना है। यही सबसे आसान मार्ग है भी।

इसीलिये "कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे" मे जो कहा है कि इन यज्ञोको कर्मोंसे ही होनेवाले माननेसे ही मुक्ति या कर्मोंसे छुटकारा होगा, उसका भी अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। यज्ञोंको कर्मजन्य जाननेसे छुटकारेका मतलब यही है कि अलग-अलग कर्मोंकी भावना तो रही ही नही। अब तो सभी कर्म यज्ञ बन गये। फिर ना करनेवालेका यह खयाल होगा हा नही कि हम खाते-पीते है, खेती करते है आदि-आदि। किन्तु वह तो बराबर यही समझता रहेगा कि यज्ञ हो रहा है। इस तरह कर्मकी स्वतंत्रता खत्म हो गई। वे बन गये यज्ञ और यज्ञ बननेका फल अभी बताई गई एकाग्रता ही है। हमने जब यह जान लिया कि कोई और काम तो होता नही कि उसके भले-बुरे फल होगे।

यहाँ तो केवल यज्ञ हो रहा है। तो फिर कर्मोके फल हमे मिलेंगे कैसे ? हाँ, यदि ऐसी भावना न रहती तो भिन्न-भिन्न कर्मोंकी कल्पना करके हम उनके फलोमे फँसते। मगर अब तो यज्ञका ही फल मिलेगा और वह होगी मनकी एकाग्रता। इसीलिये इन कर्मोसे यज्ञ हो रहा है या इन कर्मोके रूपमे ही यज्ञ हो रहा है यह ज्ञान कर्मोसे छुटकारेके लिये आवश्यक है।

एक ही बात और रह जाती है जो इस श्लोकमे आई है। जब यज्ञोके भीतर आत्मज्ञान या ब्रह्मसमाधि भी आ गई, जिसका वर्णन "ब्रह्मार्पणं" मे किया है, तो उसे कर्मजन्य कैसे कहा जायगा, यह प्रश्न हो सकता है। परन्तु यहाँ तो साफ ही उस समाधिको उसी श्लोकमे "कर्मसमाधि" कह दिया है। वहाँ तो क्रियामे ही ब्रह्मकी भावना अथसे इतितक है, और अगर कर्म होगा ही नही—क्रिया होगी ही नही—तो यह भावना होगी कैसे ? इसीलिये वह भी कर्मजन्य ही है, इसमे कोई शक नही। इसीसे उसे सभी यज्ञोसे श्रेष्ठ कहा है। २८वे श्लोकवाला ज्ञानयज्ञ यद्यपि व्यापक है और आत्मज्ञानके अलावे बाकियोको ही यहाँ ज्ञानयज्ञ मानना उचित प्रतीत होता है, फिर भी ३३वे श्लोकमे ज्ञानयज्ञ कहने, प्रसंगको देखने तथा उत्तरार्द्धमे सिर्फ ज्ञान शब्द होनेसे भी "श्रेयान्द्रव्य-मयात्", (४।३३) मे ज्ञान यज्ञशब्दसे केवल आत्मज्ञानका समझा जाना रुक नही सकता। यद्यपि यज्ञोको "यज्ञक्षपितकल्मषा." के द्वारा पवित्र करनेवाले कहा है; तथापि "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (४।३८) मे ज्ञानको जो सबसे बढ़के पवित्र करनेवाला कहा है उससे भी उसकी यज्ञरूपता सिद्ध हो जाती है। यह ज्ञान अद्वैत आत्माका ज्ञान ही है यह बात "ये न भूतान्यशेषेण' (४।३५) श्लोकसे स्पष्ट हो जाती है। क्योकि जब आत्मा और ब्रह्म एक हो होंगे तभी तो सभी पदार्थ आत्मामे और ब्रह्ममे भी नजर आयेंगे।

इस प्रकार ३५वें श्लोक तक कर्मको अकर्म कर देनेकी बात कह दी गई और विकर्मको ही अकर्म बन जानेकी भी। ३६वेमे भी विकर्मको ही अकर्म बना दिया है। क्योंकि वृजिन या पापका प्रश्न तो विकर्ममे ही होता है, सुकर्म या कर्म-त्यागमे नहीं। यह ठीक है कि यहा समस्त वृजिन कहनेमे जब पापका समझ लेंगे—सभी पाप लेगे—तो संचित और पुराने पाप भी आई जायेंगे। मगर इसमे क्या ? यह तो और भी सुन्दर हुआ कि भूत और भविष्य कालके विकर्म भी अकर्म बन गये और सिद्धान्तकी व्यापकता हो गई। इसी तरह ३७वे श्लोकमे इंधनोका दृष्टान्त देकर कर्म समूहके जला देनेकी जो बात कही गई है उसमे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानसे न सिर्फ वर्त्तमान कर्म अकर्म बन जाते है। किन्तु

भूत और भावी कर्म भी, और इस तरह कर्मके अकर्म बन जानेका भी सिद्धान्त व्यापक बन जाता है।

रह गई अकर्म या विकर्मके कर्म बन जानेकी बात। सो तो बडी मोटी है। इसमे ज्यादा कहनेकी जरूरत नही। "कर्मेन्द्रियाणि सयम्य" (३।६-७) आदि श्लोकोंमे ही यह बात साफ-साफ कह भी दी गई है। उससे बढके सफाईके साथ और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार कर्ममें विकर्म या विकर्ममे कर्मकी भी बात है। वह धर्मशास्त्रोमे भी पाई जाती है और ज्ञानकी अपेक्षा नही करती। असलमे आत्मज्ञानके फलस्वरूप जो परिवर्त्तन कर्म या अकर्ममे होता है, उसीका निरूपण यहाँ है, न कि और कोई। जो चीजे परिस्थितिके ही करते बदल जाती है, न कि ज्ञानके करते, उनका ताल्लुक दरअसल गीतामे है नही। इसीलिये गीताने या तो तीसरे अध्यायकी तरह प्रसगवश उनके बारेमे कुछ कह दिया है या छोड दिया है। क्योकि उनकी बखूबी जानकारी स्मृतियोमे और अन्यग्रन्थोमे भी हो सकती है। कर्मयोगका मलाधार आत्मज्ञान होनेके कारण और इस अध्यायमे ज्ञानका प्रसंग होनेके कारण भी ज्ञानसे होनेवाली कर्म-अकर्मकी बाते ही यहाँ कही गई है।

सिर्फ ३४वे श्लोककी एक बात रह जाती है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तत्त्व-दर्शी गुरुके पास जाके पहले तो उसके सामने नम्रतापूर्वक आत्मसमर्पण करना होगा। उसके बाद यथाशक्ति सेवा करना जरूरी है। जब नम्रता और सेवासे गुरु महाराज सतुष्ट दीखे तभी मौका पाके आत्मा-परमात्माके बारेमे प्रश्न करना उचित है। यही गीताने माना है। अर्जुनने यही किया भी था। ऐसा नही कि चट पहुँचे और पट प्रश्न ही कर दिया। फिर सूखे काठकी तरह तने पडे रहे। जो आत्मज्ञानी और मस्त होगा वह इस पर कभी आँख भी न फेरेगा। प्रश्नका उत्तर देना और समझाना-बुझाना तो दूर रहा। किसी मस्तसे, जो बडे-बडे मिट्टीके ढेलोके बीच पडा रहता था, जब किसी महाराजाने तर्स खाके पूछा कि कहिये कैसी कटती है तो उसने चट उत्तर दिया कि कुछ देर तो तेरी जैसी और कुछ देर तुझसे अच्छी! राजाने समझा था कि ढेलोमे कष्ट होता होगा। मगर यहाँ तो उल्टी बात सुननेको मिली! असलमे नींदके समय तो ढेला, काँटा या पलंगका पता नही रहता। इसीलिए सभीकी बराबर कटती है। हाँ, जगने पर मस्त तो मस्त ही झूमते है। मगर राजे-महराजे हजार चिन्तामे मरते हैं। यही वजह है कि मस्तरामकी उस समय अच्छी कटती है। फिर वे किसीकी पर्वा क्यो करने लगे?

"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं" (४।३५) श्लोक महत्त्वपूर्ण है। आत्मज्ञानकी बात यों तो पहले भी बारबार २,३,४ अध्यायोंमें आई है। उसके प्राप्त होनेपर आत्म-ज्ञानी योगी या मस्तरामकी क्या दशा होती है यह बात भी कितनी ही बार कितने ही ढंगसे कही गई है। मगर अभी तक यह कहीं नहीं बताया गया कि उस ज्ञानका रूप कैसा होता है। यह एक बुनियादी और मौलिक बात है जो अब तक छूटी है। ज्ञानका एक यह जबर्दस्त पहलू है जिसपर प्रकाश पड़ना जरूरी था। यह बात इसी श्लोकमें पहले-पहल आई है। यही कारण है कि इस अध्यायके अन्तमें जो समाप्तिसूचक वाक्य "इतिश्री" आदि है उसमें इस अध्यायको, इसमें प्रतिपादित मुख्य विषयके कारण ही, "ज्ञान-कर्म-संन्यास योग" नाम दिया गया है। कर्म-संन्यासकी बात भी इस अध्यायमें आई है यह तो पहले ही कहा है मगर आगे "योगसंन्यस्तकर्माणं" (४।४१) में साफ ही कर्म-संन्यास आया है न कि अकर्म शब्दके अर्थके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे आया है। अध्यायके अन्तमें यह संन्यास और इसीके बाद ४२वेंमें "योगमातिष्ठ"के द्वारा कर्मका करना कहके अध्यायको खतम किया है। इसीलिये आगे अर्जुनको शंका करनेका मौका फौरन ही मिल गया है। यह भी कितना अच्छा है कि पहले ज्ञान और पीछे कर्म संन्यास आया है। फलतः "ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग" नाम देना उचित हो गया!

हाँ, तो उस ज्ञानको जरा देखा जाय। यह तो पहले ही कह चुके हैं कि इस श्लोकमें अद्वैत ज्ञानका ही प्रतिपादन है। मगर अद्वैतके मानी केवल यही नहीं है कि जीव और ईश्वर या आत्मा और परमात्माकी एकता है, जैसा कि कह चुके हैं। यह एकता तो हई। इसके बिना तो यह संभव होई नहीं सकता कि सभी भूतों या सत्ताधारी पदार्थोंको—सारे संसारको—आत्मामें और परमात्मामें—दोनोंमें ही—देखा जा सके। अगर दोनों दो होते तो यह कैसे संभव था कि जो चीजें आत्मामें दीखतीं वही एक एक करके परमात्मामें भी नजर आतीं? दो पृथक् पदार्थोंमें ऐसा होना, ऐसा देखा जाना असंभव है। असलमें दोनों एक ही हैं। मगर मोह, भ्रम या अज्ञानकी भूलभुलैयाँ के चलते अलग-अलग—भिन्न-भिन्न—माने जाते हैं। किन्तु आत्माका साक्षात्कार होते ही यह ज्ञानी मस्त होके भीतर ही भीतर अपनी पुरानी नादानी पर और दुनियाँकी भी मूर्खता पर हँसता है कि देखिये न, हम इन्हें दो मानते थे! हालाँकि दोनों एकही है! उफ, ऐसी अन्धेर कि एकको दो कर दिया! सो भी ऐसे दो, कि एक दूसरेमें जमीन आस-मानका फर्क! क्या गजब है! इसीके साथ वह सारे संसारके पदार्थोंको अपने ही भीतर—अपनी आत्मामें—अपने आपमें—एक एक करके सिनेमाके चित्रोंकी तरह साफ साफ चलते फिरते और काम करते देखता है! उन्हें परमात्मामें भी

देखता है ! वह तो प्रत्यक्ष ही देखता और मानता है कि मैं ही परमात्मा हूँ और मुझीमें यह सारी दुनिया है ! संसारके पदार्थोंके रगरगमें अपने परमात्माको—अपने आपको—ओत प्रोत एवं बिधा हुआ देखके वह आश्चर्य एवं आनन्दमें मस्त हो जाता है। यही दशा होने पर ही तो वामदेव बोल उठे कि मैं ही, मनु, सूर्य, और सभी कुछ हूँ ! यह श्लोक अर्जुनसे कहता है कि ज्ञान होने पर तुम्हारी भी यही हालत हो जायगी, याद रखो ! फलतः जब तक ऐसी मस्तीकी दशा न आ जाये उसके लिये निरन्तर यत्न करना ही होगा।

लेकिन यह अद्वैत तो तभी पूर्ण और सच्चा होगा जब आत्मा-परमात्माकी एकताके अनुभवके साथ ही यह भी दीखने लगे कि यह जगत्, इस जगत्के सभी पदार्थ हमसे—आत्मासे—पृथक नहीं हैं। तभी वास्तविक अद्वैत ज्ञान होगा। यह बात भी इस श्लोकमें है। 'अशेषेण भूतानि' कहनेसे सत्ताधारी हरेक भौतिक पदार्थके बारेमें ऐसा देखनेकी बात साफ हो जाती है। मगर यह कैसे संभव है जब तक आत्माके अलावे अन्य पदार्थोंकी स्वतंत्र, जुदी सत्ताका अभाव न माना जाय—उनके पृथक् अस्तित्वका अभाव न माना जाय ? सोनेके कड़े कंगन आदिको देखके कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें सर्वत्र सोना ही सोना है, ये चीजें सोनेमें ही हैं, सोनेसे अलग नहीं हैं। इसी प्रकार मिट्टीके अनेक बर्तनोंके बारेमें भी मिट्टी ही मिट्टीका अनुभव करके कह सकता है कि ये सभी पात्र मिट्टीमें ही हैं, मिट्टीमय हैं, मिट्टीसे जुदे नहीं हैं। लेकिन यह कभी नहीं हो सकता कि इन बर्तनोंके बारेमें कहा जाय कि ये सोनेमें ही हैं, सोनेसे अलग नहीं हैं। या कंगन, कड़े आदिके बारेमें कहा जाय कि ये मिट्टी ही हैं, मिट्टीसे अलग नहीं हैं। क्योंकि इन दोनोंमें—सोने और मिट्टीमें—कोई मेल है नहीं। दोनोंकी मौलिक विभिन्नता है। मगर श्लोकमें जो अनुभव बताया गया है वह तो ठीक इसी तरहका है, इसी प्रकारका होना चाहिये कि ये सभी पदार्थ आत्मामें ही हैं, आत्मासे अलग नहीं हैं।

यहाँ दिक्कत यह पड़ती है कि संसारमें असंख्य आत्मायें हैं और उनकी चैतन्य शक्तिकी समानताको देखते हुए यदि किसी प्रकार कहा जा सके भी कि ये सभी आत्मायें मुझमें ही हैं, मुझसे जुदी नहीं हैं; या जब आत्मा-परमात्माकी एकता है तो आत्मा-आत्माकी एकता भी अर्थ सिद्ध है; इसलिए एकताके खयालसे अगर ठीक हो कह सके कि सभी आत्मायें मुझसे जुदी नहीं हैं। तो भी जो अनन्त भौतिक पदार्थ हैं उन्हें कैसे कहें कि ये मेरी आत्मासे—मुझसे—अलग नहीं हैं ? किन्तु "भूतानि अशेषेण" कहनेसे तो वे भी आते ही हैं। भूत कहनेसे ही आत्माके सिवाय शरीरादि सभी आ जाते हैं। जब अशेषेण कह दिया तब तो

कोई छूटी नही सकता। इसलिये उनकी भी तन्मयताका ज्ञान आत्माको, हमें होना ही चाहिए। हाँ, एक ही बात हो सकती है। जैसे सपनेमें देखे पदार्थोंके बारेमें जगनेपर अनुभव होता है कि मुझसे अलग या मेरे अलावे और कोई चीज जो दीखती थी, कहाँ थी? वहाँ सपनेमें भी सब कुछ मैं ही था, मेरे अलावे और तो कुछ था नहीं। या जैसे रस्सीमें भ्रमसे माने गये साँप के बारेमें उजालेमें यही अनुभव होता है कि यह तो रस्सी ही है; यही साँप मालूम पड़ती थी; इसके अलावे कोई साँपवाँप तो है नहीं। ठीक यही बात संसारके बारेमें भी हो कि मुझसे अलग कहाँ कोई चीज है? मैं ही तो सर्वत्र हूँ, सबमें हूँ। मेरे अलावे तो और कुछ हई नहीं। तभी श्लोकका अर्थ ठीक-ठीक जँचेगा। तभी वास्तविक अद्वैतवाद भी सिद्ध होगा।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

क्योंकि (वस्तुतः) इस दुनियामें ज्ञानसे बढ़के पवित्र—शुद्ध करनेवाली—चीज दूसरी हई नहीं। कर्मोंके फलस्वरूप जिसका अन्तःकरण—मन—शुद्ध हो गया है वही इसे समय पाके अपनेमें ही हासिल कर लेता है। (बाहर जाने या ढूँढ़नेकी जरूरत नहीं होती)।३८।

जो समझते है कि मनकी शुद्धि और स्थिरताके बाद फौरन ही ज्ञान हो जायगा, उन्हींके लिये यहाँ 'कालेन'—समय पाके—कहा गया है। इसे प्राप्त करनेमें समय लगता है, देर होती है। क्योंकि भावना, निदिध्यासन और समाधिकी जरूरत तो होती है और उसमें काफी समय लगता है। इसी बातका स्पष्टीकरण अगले दो श्लोक करते है। 'आत्मनि'—आत्मामें—कहनेका अभिप्राय यही है कि आत्माका ही तो ज्ञान होना है और उसीमें तो जगत्को देखना है, भीतर ही ढूँढ़ना है। तीर्थमें या कही और तो जाना-वाना है नहीं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जो श्रद्धावाला है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको बखूबी काबूमें कर लिया है और जो इस बातमें दिन-रात मुस्तैद है, उसीको ज्ञान होता है। ज्ञा. पर अखंड शांतिका अनुभव फौरन ही होने लगता है।३९।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

(विपरीत इसके) जो कुछ जानता हो नहीं, जिसे श्रद्धा भी नही है और जिसके मनमे सशयने घर कर लिया है वह चौपट ही हो जाता है। (क्योंकि) हर बातमे शक करनेवालेका न तो यहीं काम चल सकता और न परलोकमें ही। उसे चैन तो कभी मिलता ही नही।४०।

यहाँ अज्ञ कहनेका अभिप्राय यही है कि आत्मज्ञानके उपायोके बारेमे भी कुछ न जानता हो ; इसीलिये न तो उसका इन्द्रियों पर काबू ही हो और न मुस्तैदी ही। पहले श्लोककी यही बाते ज्ञानके लिये मूल रूपेण आवश्यक है और यही उसमे है नही। वह कोरा ही है, यही तात्पर्य है। श्रद्धा हृदयकी चीज है। केवल तर्क-दलीलो पर ही निर्भर न करके विश्वास करना ही पडता है। तभी ज्ञान होता है। मगर जो श्रद्धालु नही है, उनका हृदय नीरस होता है। फलतः केवल दिमागी तर्कोसे ही वे निश्चय करना चाहते है। परिणाम यह होता है कि बात-बातमे शक करते रहते है। क्योकि "तर्कोऽप्रतिष्ठ" के अनुसार तर्क तो कही जाके स्थिर हो नही सकता। वह तो पहरेदार सिपाही है और वह पहरेदार सिपाही क्या जो बराबर चलता न रहे और स्थिर या खडा हो जाय? और जब कही किसी बात पर स्थिरता नही, निश्चय नहो, तो सर्वत्र सशयका एकच्छत्र राज्य समझिये। फिर तो मौन ही मौन है। क्योकि खान-पान आदिमे भी संशय हो सकता है कि पाचकने जहर तो नही दे दिया है बाजारसे मँगाई चीजोमे ही किसी शत्रुने विष तो नही मिला दिया है, आदि-आदि। इसीलिये इस दुनियाका काम ही जब नही चल पाता तो ऐसे लोगोका परलोक क्या बनेगा खाक ?

योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

हे धनंजय, जिसने कर्म करते-करते अन्तमे उसके सन्यासकी दशा प्राप्त कर ली है, जिसने आत्मज्ञानके बलसे सशय को खत्म कर दिया है (और इसीलिये) जिसने आत्माको पा लिया है कर्म उसे बन्धनमे डाल नही सकते।४१।

यहा 'आत्मवन्त' कहनेका अभिप्राय यही है कि वह आत्मावाला हो गया है, यानी जो आत्मा खोई थी उसे प्राप्त कर लिया है। उसका प्राप्त करना तो उसे जान लेना ही है। इसीलिये इसके पहले 'ज्ञानसछिन्नसंशयं' कहा है। संशयकी अँधियालीमे ही तो आत्मा लापता थी और यह संशय पैदा हुआ था अज्ञानसे, जैसा कि आगे लिखा है। अब ज्ञानके दीपकने उसीको मिटा दिया। मगर ज्ञानको पक्का और दृढ होनेके लिये समाधिकी जरूरत है। उसके बिना वह मजबूत होई नही सकता। किन्तु कर्मोको करते रहने पर समाधिके लिये फुर्सत कहा ? इसीलिये कर्मोका सन्यास भी बता दिया है। किन्तु यह सन्यास मिथ्या-

चार और दंभ न हो, नकली न हो, इसीलिये कह दिया कि कर्मोंके करते-करते अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर जब संन्यासकी योग्यता हो जाय और उसका अवसर आ जाय तभी संन्यास करना ठीक है। यहाँ और आगे योगका अर्थ है कर्म।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसीलिये हे भारत, अज्ञानसे पैदा होनेवाले (और) हृदय में ही घर बनाके जमनेवाले इस संशय (रूपी प्रचंड शत्रु) को आत्माके ज्ञानरूपी तलवारसे कत्ल करके उठ खडे हो (और युद्धात्मक) कर्म करो।४२।

यहाँ ज्ञानको तलवार कहनेका आशय यही है कि जैसे तीखी तलवारसे ही जबर्दस्त शत्रुको मार सकते हैं; कमजोर या भोथी तलवारसे कोशिश करने पर उलटे खतरा रहता है। वैसे ही ज्ञान खूब दृढ और शक-शुभेसे बिल्कुल ही अछूता जब तक न हो जाय इस अज्ञानका और तन्मूलक संशयका भी खात्मा होना ही नहीं। इसीलिये दीर्घकाल तक यत्न करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना निहायत जरूरी है। उपनिषदोंकी आख्यायिकायें इस बातके प्रबल प्रमाण हैं कि कच्चे ज्ञानवालेका संशय उसे कैसे परीशान करता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानकर्मसन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीता के रूपमें उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्रमें जो श्री कृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका ज्ञान-कर्म-सन्यास-योग नामक चौथा अध्याय यही है।



पाँचवाँ अध्याय

चौथे अध्यायमे जो कुछ भी कहा गया है वह अर्जुनके और दूसरोंके भी बड़े ही कामका है। इसमें शककी जगह नहीं है। अर्जुन चुपचाप ध्यानपूर्वक इसीलिये सुनता भी रहा। कर्म-अकर्मके विशद निरूपण और ज्ञानके स्वरूपके प्रतिपादनने उसे मुग्ध कर दिया था। अन्तमे जो यह कहा गया है कि कर्मोके करते-करते संन्यास प्राप्त कर लेने पर ही ज्ञान होता, आत्माकी प्राप्ति होती और कर्मोके बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है, उससे भी उसे पूरा संतोष हुआ। फलतः भीतर ही भीतर अपने तात्कालिक कर्त्तव्यकी उधेडबुन वह करने ही लगा था कि एकाएक निराली बात अध्यायके आखिरी श्लोकमे कह दी गई! उसे तो यह देखना था कि मै किस दशामे हूँ। आया मुझे अभी कर्म ही करना चाहिये, या अब मेरी योग्यता ऐसी हो गई है कि संन्यास ले लूँ। क्योंकि उपदेश सुननेके बाद उसे सोचना-विचारना और परिस्थितिके अनुसार ही काम करना था। वह इसी उधेडबुनमे लगा भी था। तब तक चटपट आज्ञा हुई कि खडे हो जाओ और युद्धात्मक कर्ममे जुट जाओ।

इससे उसके मनमे खलबली मचना और सन्देह होना जरूरी था। क्योंकि कृष्ण को क्या पता कि वह किस दशामे है, उसकी योग्यता क्या है? उसका पता तो आत्मनिरीक्षणके बाद अर्जुनको ही लग सकता था। निरीक्षणकी कसौटी भी उसे चौथे अध्यायमे मिली ही थी। फिर कृष्णको यह कहनेकी क्या जरूरत थी कि तुम्हे तो कर्म ही करना है, न कि संन्यास लेना? तब तो उपदेशकी कोई जरूरत थी ही नहीं। किन्तु सीधे आज्ञा देनी थी, फौजी फर्मान जारी कर देना था कि लडना होगा। मगर जब उपदेश हो रहा है और तर्क-दलीलके साथ बारबार कहा जा रहा है कि जानो, समझो, सोचो, विचारो 'बोद्धव्यम्, विद्धि', तब यह क्यों हुआ? तब यह आज्ञा कैसी कि लडो? तब तो यह उपदेशका नाटक ही माना जायगा न? कमसे कम इस प्रकारका खयाल उसके दिमागमें बिजलीकी तरह एकाएक दौड जाना स्वाभाविक था। फलतः कृष्णसे उसका चटपट प्रश्न करना जरूरी हो गया कि एक ही साँसमें दोनों बाते क्यो कहते हैं? या तो कर्म ही कहिये और बात खत्म कीजिये; या संन्यासकी ही बात कहिये और सोचने दीजिये कि आया मै उसका अभी अधिकारी हो पाया हूँ या नहीं। यह झमेला ठीक नहीं। साफसाफ बोलिये। इसीलिये—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुनने पूछा—हे कृष्ण, आप (पहिले तो) कर्मोंके संन्यासकी बात कहते हैं और फौरन ही) उन्हें करनेको कहते हैं ! (यह क्या ?) इन दोनोंमें जो अच्छा हो वही मुझे पक्का-पक्की बताइये ।१।

यहाँ 'कर्मणां' इस षष्ठी विभक्तिके बाद 'संन्यास' और 'योगं' लिखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास कहते हैं कर्मोंके त्यागको और योग कहते हैं उनके करनेको । इसीलिये हमने 'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं' (३।७) आदिमें 'करना' यही अर्थ किया है । यही वहाँ जँचता भी है । ऐसी दशामें यहाँ, चौथे अध्यायके अन्तमें या ऐसी ही और जगहोंमें भी योगका दूसरे अध्यायवाला कर्मयोग अर्थ जो लोग कर डालते हैं, फिर भी अपने अर्थमें खींचातानी देख पाते नहीं, उनसे हमें इतना ही अर्ज करना है कि खींचतान किसीकी मौरूसी नहीं है । इसलिये वे खुद अपने बारेमें ही सोचनेका कष्ट करें ।

अर्जुनके पूछनेका यह भी अभिप्राय है कि यदि ज्ञानके लिये संन्यास जरूरी न हो और कर्मसे ही काम चलता हो, तो साफ-साफ कहते क्यों नहीं ? आखिर आत्मज्ञान तो आवश्यक है । उसके बिना तो काम चलनेका नहीं । अब अगर उसके लिये खामख्वा संन्यास जरूरी न हो, तो यही बात साफ-साफ कह दीजिये । क्योंकि अबतकके कथनसे तो पता चलता है कि दोनोंकी जरूरत है । मैंने समझी है भी दोनोंकी जरूरत समानरूपसे ही । इसीलिये किसीको भी अपने मौके पर छोड़ा नहीं जा सकता । दोनोंके ही अलग-अलग मौके आते भी हैं । लेकिन अगर आप ऐसा मानते हों कि मेरी समझ गलत है और दोनोंकी जरूरत समान नहीं है; किन्तु कर्मकी ही आवश्यकता अनिवार्य है; इसलिये वही हर हालतमें अच्छा है—कर्तव्य है, तो यही बात निश्चित रूपसे साफ-साफ कह दीजिये । या अगर आप यह मानते हों कि जरूरत तो दोनोंकी एक सी ही है; दोनोंके ही अपने अपने अवसर भी आते हैं, फिर भी कर्मको विशेषता इसलिये है कि वह पहली सीढ़ी है; फलतः उसपर पाँव दिये बिना संन्यासकी दूसरी सीढ़ी पर या तो पहुँची नहीं सकते या पहुँचनेमें खतरा है; साथ ही, कर्मोंके करनेमें दिक्कतें और परीशानियाँ जो होती हैं, उन्हींके करते लोग जी चुराके उनसे भागना चाहते हैं; यही कारण है कि कर्म पर जितना जोर देना जरूरी हो जाता है उतना संन्यास पर नहीं; यही नहीं, कर्म पर ही जोर देने और उसीको अच्छा बताने पर जब

लोग उसमें पड़ जायँगे तो संन्यासका मौका तो स्वयं आई जायगा और उसे लोग करी लेंगे; तो यही बात स्पष्टतया कह दीजिये ।

कृष्ण खासतौरसे इसी आखिरी अभिप्रायसे ही बातें कर रहे थे । उनके कहनेका आशय भी यही था । इसीलिये उसीको स्पष्ट करनेके लिये पुनरपि—

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवानने उत्तर दिया—(बेशक), कर्मोंका संन्यास और उनका करना (ये दोनों ही) परम कल्याण—मोक्ष—के देनेवाले हैं । लेकिन इनमें संन्याससे योग—कर्मोंका करना—ही अच्छा है ।२।

ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

हे महाबाहु, उसीको सदा संन्यासी मानना चाहिये जिसे न राग है, न द्वेष—जो न कुछ हटाना चाहता है, न कुछ लेना । क्योंकि जो (इस प्रकार) राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित है वही आसानीसे बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ।३।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य—संन्यास (और) योगको—दोनोंको—दो चीजें ना समझ लोग (ही) मानते हैं । (क्योंकि) यदि एक पर भी अच्छी तरह कायम रहे तो दोनोंका फल मिली जाता है ।४।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान संन्याससे मिलता है वही योगसे भी । (इसलिये इस तरह) संन्यास तथा योगको जो एक ही समझता है (दरअसल) वही समझदार है ।५।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहु, बिना योगके संन्यासकी सिद्धि—प्राप्ति—असंभव है । (विपरीत इसके) जो योगयुक्त है अर्थात् कर्म करता है उसे संन्यासकी प्राप्ति शीघ्र ही होती है ।६।

आगे बढ़नेके पहले इन पाँच श्लोकोंके सम्बन्धमें कुछ बातें कह देना जरूरी है । एक तो यह कि दूसरे श्लोकमें जो कुछ कहा गया है उसका आशय वही

है जो उससे पहले हमने अर्जुनके प्रश्नके अभिप्रायके विवेचनके सिलसिलेमें आखिर में कह दिया है। कर्मके खतरोंको ध्यानमें रखके ही उस पर जोर देना कृष्ण जरूरी समझते हैं। उनके जानते वास्तविक संन्यासमें कोई खतरा है नहीं और कच्चे संन्यासको रोकनेके लिय कर्मों पर ही जोर देना जरूरी हो जाता है। मगर सर्व साधारणके सामने हर बात इतनी सफाईके साथ कही तो जा सकती नहीं। क्योंकि सब लोग इसे समझ पाते नहीं और भटक जाते है। इसीलिये यही बाते दूसरे तरीकेसे कही जानी है, जिन्हे वेदवाद या अर्थवादका तरीका गीताने भी माना है और पुराने लोगोने भी। कृष्णने भी यही तरीका यहाँ अपनाया है।

असलमे संन्यासकी सीढी कर्मोंके बाद आनेके कारण ऊँची तो हुई। उसकी जवाबदेही भी बडी है। इसीलिये शास्त्रोंने उसकी प्रशंसा काफी की है। मगर दिक्कत यह होती है कि जन-साधारण प्रशंसाके कारणों और रहस्योंको न समझ सकनेके कारण उसके बाहरी रूप पर ही लट्टू होके उसी ओर झुक पडते हैं। फलतः कर्मोंसे हटनेका खतरा बराबर रहता है। इसीलिये तीसरे श्लोकमे यह दिखाया गया है कि असली संन्यासी वही है जो रागद्वेष एवं काम-क्रोधसे शून्य हो, जिसमे वैर-विरोध आदि होई नही। उसे ही मुक्ति मिलती भी है। अब यदि यही काम-क्रोधादिका त्याग कर्म करनेवालेमे आ जाय तो उसके दोनों ही हाथमे लड्डू हैं। वह योगीका योगी—कर्मी—तो ठहरा ही। साथ ही, यदि देखा जाय तो संन्यासी भी हो गया और इस तरह उसने मक्तिका रास्ता साफ कर लिया। इसमे फायदा यह होता है कि एक तो पाखण्ड और मिथ्याचारके रूपमे संन्यासको प्रश्रय नही मिलता। दूसरे जन-साधारण उससे हिचक जाते और सोचने लगते है कि तब तो कर्म ही अच्छा है। क्योंकि हम कामक्रोधादिसे शून्य तो हो सकते नही और इसमे ऐसा होना जरूरी भी नही है, जबकि संन्यासमे नितान्त आवश्यक है। इसलिये आइये, कर्म ही करे और यथासंभव कामक्रोधादिको भी रोकें, ताकि आगेका भी रास्ता धीरे-धीरे साफ होता चले।

एक बात और भी है। यदि यह निश्चय हो कि सन्यास और योगके फल-स्वरूप जो स्थान या पद मिलते है, या मुक्ति होती है वह दो चीज है, तो स्वभावतः खयाल होगा कि संन्यासके ऊँचे दर्जेकी चीज होनेके कारण उसके फल-स्वरूप जिस वस्तुकी प्राप्ति होगी वह अवश्य ही श्रेष्ठ होगी, और श्रेष्ठ पदार्थ कौन नही चाहता? इसलिये उसीकी आतुरता और लोभके चलते बहुत लोग फिर भी संन्यास पर जोर मार सकते हैं और असमय ही उस ओर पाँव बढ़ा दे सकते हैं। अतएव यह बतानेकी जरूरत है कि दोनोंके दो फल न होके दोनोंका सम्मिलित फल एक ही है। चाहे संन्यासी हों या कर्मी हों, या आगे-पीछे दोनों

ही हों, जायँगे हरहालतमें एक ही स्थान पर। एक ही स्थानके रास्तेके ये दो विभाग हैं, न कि और कुछ। ऐसी दशामें एक तो बेचैनी और लोभ जाता रहेगा। दूसरे यह खयाल होगा कि जब रास्तेको पूरा ही करना है और पहले भागके पूरा करने पर ही दूसरा आयेगा तो जल्दबाजी क्यों करे? ऐसा करनेसे मिलेगा भी क्या? यही बात आगेके दो—४,५—श्लोकोंमें स्पष्ट की गई है।

कुछ लोगोंका भ्रम हो सकता है और हो भी गया है कि श्लोकोंके अनुसार यद्यपि फल है एक ही, तथापि दोनों मार्ग उसकी प्राप्तिके लिए स्वतंत्र हैं; न कि एक ही लम्बे मार्गके ये दो पड़ाव हैं। मगर बात ऐसी नहीं है। चौथे श्लोकके पूर्वार्द्धके देखनेसे यह खयाल जरूर हो जाता है कि दोनो—सन्यास और योग—को जो एक कहा है वह इसीलिए कि इन दोनो स्वतंत्र मार्गोंसे एक ही जगह पहुँचते हैं। मगर जब उसीके उत्तरार्द्ध पर गौर करते हैं तो यह खयाल मिट जाता है और दोनो मिलाके एक ही रास्ता पूरा होता दीखता है। उत्तरार्द्धका अर्थ यह है कि "यदि एक रास्ते पर भी ठीक-ठाक चले तो भी दोनोंके फल मिल जाते हैं।" इसमें दो बातें हैं। पहली है दोनोंके फलके मिलनेकी। यदि दोनोका फल स्वतंत्र रूपसे एक ही होता तो इतना ही कहना काफी था कि "वही फल मिलेगा"—"तदेव विन्दते फलम्।" यह कहनेकी क्या जरूरत थी कि एक पर चलने पर भी दोनोंका फल मिलता है? दोनों कहनेसे तो दोनोंका सम्मिलित फल मिलता है, यही अर्थ निकलता है। एकै कहनेके बाद दोनोंका—उभयो—कहने पर दूसरा अर्थ होई नहीं सकता। नहीं तो इतना ही कहना पर्याप्त था कि चाहे किसी रास्ते पर चलिए नतीजा एक ही होगा।

लेकिन "एक पर भी ठीक-ठीक चले"—"एकमप्यास्थित- सम्यक्" यह भाग तो और भी सफाई कर देता है। इसमें जो 'ठीक-ठीक' विशेषण लगा है वह यही बताता है कि रास्तेकी पाबन्दी अच्छी तरह होना जरूरी है जल्दबाजीमें एक रास्तेको छोड़के दूसरे पर जानेमें खतरा है। यह तो संभव नहीं कि तीसरा भी रास्ता हो जिसमें भटक जाय और दोमें एक पर भी चल न सके। क्योंकि जब दोईका नाम लेते हैं और तीसरेकी चर्चा भी नहीं करते तब उसका प्रश्न आता ही कहाँ है? और जब तीसरा यहाँ उपस्थित हुई नहीं तब तो इतना ही कहना काफी है कि एक पर या किसी पर भी चलने पर वहीं पहुँचेंगे। भटकनेकी बात हुई नहीं। हो भी क्यो? जो लोग मोक्षमार्गी हैं उनके भटकनेकी बात गीता क्यों कहे? वह तो सारी बातें जानते हैं। उनने तो जान लिया है कि दो रास्ते हैं। जानना शेष यही है कि आया ये दोनो ही एक दूसरेसे स्वतंत्र हैं, या एक ही रास्तेके दो पड़ाव और विभाग हैं। अगर पड़ावकी बात नहीं है तो इतना ही

कहना काफी था कि चाहे किसी पर भी चलिए वहीं पहुँचिएगा। ठीक ठीक चलना तो हुई। गलत जानेकी तो बात हुई नहीं है।

मगर जब 'ठीक-ठीक' या 'सम्यक्' कहा है तो इससे कृष्णका यही आशय जाहिर होता है कि हरेक पड़ावको पूरा कर लेना होगा। नहीं तो जल्दबाजी करनेमें रास्ता पूरा न होगा। लक्ष्य स्थान पर पहुँच भी न सकेंगे। अनजान या आतुरतामें कोई जल्दी ही संन्यासी बन जानेकी कोशिश न करे, इसीलिए यह चेतावनी है। क्योंकि ऐसा करने पर रास्ते पर ठीक-ठीक चलना नहीं हो सकेगा। पाँचवें श्लोकमें स्पष्ट भी कर दिया है कि संन्यास और योगसे जब एक ही जगह पहुँचना है तब घबराहटकी क्या बात? योगमें भी तो रास्ता तय करी रहे हैं। उसके पूरा होते ही संन्यास वाला पड़ाव या वह स्थिति भी अपने आप आयेगी ही। तब अधीर क्यों हों?

अब आखिरी बात यही रह जाती है कि एक ही मार्गके दो पड़ाव होनेपर भी पहले संन्यास आता है, या योग, कौन कहे? पहले संन्यास ही क्यों न माना जाय? ऐसा सोचना असंभव नहीं। असलमें आलस्य और अकर्मण्यताके करते स्वभावतः लोग सोचते रहते हैं कि मुक्ति भी मिल जाय और विशेष कुछ करना न पड़े तो अच्छा हो। यह भी खयाल होता है कि जभीतक कर्मोंके फन्देसे बचें तभीतक सही। पीछे देखा जायगा। इसीलिए ऐसा खयाल होना जरूरी है कि पहले संन्यास ही क्यों न हो। तीसरे अध्यायके शुरूमें ही यह खयाल दिखाया भी गया है। इसीका उत्तर छठें श्लोकमें दिया है कि संन्यास बादकी चीज है पहले तो योग ही आता है। इसीलिए योगके बिना संन्यासका होना असंभव है। यदि सच्चा संन्यास चाहते हैं तो पहले योग या कर्म करना आवश्यक है। इसपर तीसरे अध्यायके शुरूमें ही हमने काफी प्रकाश डाला है।

छठे श्लोकमें ब्रह्मका अर्थ संन्यास है यह पता गौरसे पूरे श्लोकके पढ़नेसे ही लग जाता है। हमने यह बात बहुत पहले बखूबी सिद्ध भी की है। इसलिए जो लोग ब्रह्मका परब्रह्म या परमात्मा अर्थ करते हैं वह भूलते हैं। जब पूर्वार्द्धमें संन्यासकी बात है तो उत्तरार्द्धमें एकाएक परब्रह्म कैसे और कहाँसे आ गया? शुरूमें तो उसका प्रसंग भी नहीं आया है। इसी प्रकार पूर्वार्द्धमें जो "दुःखमाप्तुम्" शब्द है उसका भी अर्थ है कि मिलना या प्राप्त करना असंभव है। जो लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि कष्टसे मिलता है वह अक्षरोंका अर्थ भले ही ठीक करते हों; मगर तात्पर्य गलत बताते हैं। ऐसा महावरा है कि असंभवकी जगह कह या लिख दें कि कष्टसाध्य है। जैसे अंग्रेजीसे इसका कोई काम नहीं है, के

मानीमें 'इट् हैज लिटिल यूज' (It has little use) बोलते हैं; मगर लिटिलका थोड़ा अर्थ नही करते। वैसे ही संस्कृतमें भी ऐसा लिखने-बोलनेकी रीति है।

योग या कर्म करते-करते कैसे मन और इन्द्रियोंपर काबू रखके पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इस प्रकार कर्मोसे छुटकारा प्राप्त किया जाता है, या यों कहिए कि कर्मोके करते रहनेपर भी आत्मज्ञानके बाद वे आत्मामें कैसे नहीं लिपटते या आत्मा उनमे नही चिपकती, यही बात आगे दूरतक कही गई है। कर्मोसे कैसे अन्तःकरणकी, मनकी शुद्धि होती है इत्यादि बातें आगेके बीस (७-२६) श्लोकोंमें पूरी हुई हैं बल्कि यों कहिए कि कुल अध्याय ही इसीमे पूरा हो गया है। क्योकि २६वेंके बाद दोई श्लोकोंमे पातंजल योग और समाधिकी बात, ज्ञानकी पूर्ण प्राप्तिके लिये, कहके २९वेंमे अध्यायको ही पूरा कर दिया है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

कर्म करते-करते जिसका मन या अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल और इसीलिये अपने काबूमे हो गया है (और उसके फलस्वरूप) इन्द्रियाँ भी काबूमे हैं वह खुद सभी सत्ताधारी पदार्थोंकी आत्मा ही हो जाता है। (इसीलिये) कर्म करते हुए भी वह उसमे सटता नही।७।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

(इस प्रकार) पूर्ण अवस्थाको प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानी हो जानेपर देखता सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, साँस लेता, बोलता, मलमूत्र त्यागता, पकड़ता और पलकें मारता हुआ भी यही धारणा रखता है कि यह तो इन्द्रियाँ ही अपने कामोंमे लगी हैं; मै तो कुछ भी करता-कराता हूँ नही।८।९।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥

(लेकिन जो इस तरह पहुँचा हुआ न भी हो ऐसा भी) जो कोई भगवानको समर्पण करके और हाय-हाय तथा आसक्ति छोड़के कर्मोको करता है वह (भी) पापसे वैसे ही नहीं सटता जैसे कमलका पत्ता पानीमे रहके भी पानीसे नही सटता।१०।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

(क्योंकि) कर्म करनेवाले समझदारीसे काम लेके और आसक्ति एवं हाय-तोबाको छोडके मनकी शुद्धिके लिये केवल शरीरसे, केवल इन्द्रियोंसे और केवल मनसे कर्म करते रहते हैं ।११।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

(इस तरह) समझदार और मनपर काबू रखनेवाले कर्मोंके फलोंसे नाता तोड़के ब्रह्मनिष्ठा—जीवन्मुक्ति—की शान्ति हासिल कर लेते हैं। (विपरीत उनके) जो लोग समझदार और मनको दबानेवाले नही है वे फलोंमें लिपटके जन्ममरण आदिके बन्धनोंमें फँसते है ।१२।

ऊपरके तीन—१०-१२—श्लोकोंको देखने और एक साथ मिलानेसे स्पष्ट हो जाता है कि इनमें जो बातें कही गई है वह आत्मज्ञानीको नही है। किन्तु साधारण कर्मियोकी ही है, जिन्हे योगी भी कहा है और युक्त भी। यह ठीक है कि वह गीताकी गिनतीमे आनेवाले है, न कि लम्पट। लम्पटोकी तो उलटे १२वें श्लोकके उत्तरार्द्धमे निन्दा की है, उनकी दुर्दशा लिखी है। इसीलिये १०वें श्लोकवाले "ब्रह्मण्याधाय"—"ब्रह्ममे स्थापित करके" का अर्थ हमने "यत्करोषि" (९।२७-२८) के अनुसार भगवानको समर्पण रूप पूजा ही किया है। ज्ञानियोंको तो पहले ही कह दिया कि वह कर्मसे अपना ताल्लुक मानते ही नही है। फिर वे क्या उन्हे ब्रह्ममे रखेंगे ? उन्हे कर्मोसे लिपटनेका सवाल भी कहाँ आता है ? अमलमे ये तो वही लोग है जो या तो भगवानकी पूजाकी ही भावनासे कर्म करके मनकी शुद्धि प्राप्त करते है, या सीधे इसी खयालसे कि कर्मसे मनः शुद्धि हो। मगर यों तो निराधार कर्म होगा नही। मनःशुद्धिके लिये करनेके भी तो कोई मानी नही जबतक कर्मोको कही एक जगह बाँधा या एक ही लक्ष्यमे लगाया न जाय। फिर चाहे वह ईश्वर-पूजा हो, यज्ञ हो या ऐसी ही और कोई चीज। इसीलिये पहले—१०वे—से मिलाकर ही ११वे का अर्थ करना जरूरी हो गया है। बारहवेमे भी जो कर्मके फलके त्यागमे ब्रह्मनिष्ठावाली शान्तिकी प्राप्ति कही गई है वह भी क्रमशः मनकी शुद्धि आदिके द्वारा ही होती है, न कि सीधे कर्मोसे ही। क्योंकि केवल फलके त्यागनेपर भी कर्म तो रही जाता है, और जबतक दोनों न छूटे वह शान्ति मिलेगी कैसे ? मगर वह तो छूटेंगे ज्ञानके बाद ही और वह प्राप्त होगा मनकी शुद्धि आदिके द्वारा ही। जब अध्यायके शुरूमे ही सभी प्रकारके कर्मोकी बात आई है तब तो ऐसे मन शुद्ध्यर्थ कर्मोका यहाँ निरूपण ठीक ही है।

अब रह जाती है ११वें श्लोकके उत्तरार्द्धकी एकाध बात। एक तो बुद्धिसे कर्म होते नहीं हैं। वे तो होते हैं सिर्फ शरीर या इन्द्रियोंसे ही और दोनोंका मददगार होनेके कारण मन भी उसी दलमे आ सकता है। मगर अगर बुद्धि या अक्ल ठीक हो, समझदारीसे काम लेके कर्मो या उनके फलोकी हाय-हायको छोड़ दें और फलोमें भी आसक्ति छोड़ दें, तो उन कर्मोंसे यज्ञकी पूर्ति या भगवानकी पूजाकी भावनाके द्वारा मनकी शुद्धि हो जाती है। फिर तो वे कर्म केवल शरीर, मन या इन्द्रियोंके ही रह जाते हैं। अर्थात् मन उनके करनेमे मददगार होनेपर भी फलमें नही सटता। बुद्धि भी नहीं चिपकती। ऐसी दशामे सबोकी सम्मिलित चीज वे रहे तो कैसे? सम्मिलित होनेके लिये तो आसक्ति और हाय-तोबा जरूरी है। 'केवलैः'' कहनेका यही मतलब है। यह "केवलैः" विशेषण "कायेन मनसा" का भी है। हमने ऐसा ही अर्थ लिखा भी है।

अब आगे अध्यायके अन्ततक जो कुछ कहा गया है वह आत्मज्ञानियोके ही कर्मोंके सम्बन्धमें है। उनकी क्या भावना होती है, किस प्रकार सर्वत्र उनकी समदृष्टि होती है, इत्यादि बाते अत्यन्त विशद रूपमे आई हैं।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

मन और इन्द्रियोंको अपने अधीन रखनेवाला देहका मालिक जीव मनके द्वारा विवेकसे सभी कर्मोका सन्यास करके नौ दरवाजेवाले पुरमे आराममें रहता है (और) न कुछ करता है, न करवाता है।१३।

जैसे कोई महाराजा या बडा आदमी किसी गढमे रहता है जिसके दरवाजे होते हैं; वही दशा यहां रूपकके रूपमे बताई गई है। शरीर ही वह गढ है। चक्षु, श्रोत्र, नासिकाके छे छिद्र, मुख और मल-मूत्र त्यागके छिद्र यही तो दरवाजे है। जीवात्मा गढ़का मालिक है और मन उसका मंत्री है। इन्द्रियाँ नौकर-चाकर है। वशी कहनेके मानी यही है कि वह सभी नौकर, मंत्री आदिपर अंकुश रखता और सतर्क रहता है। इसीलिये विवेकसे काम लेके मनमे ही कर्मोका सन्यास कर डालता है। क्योंकि इन्द्रियाँ ही तो दरअसल कर्म करती हैं। विवेक न होनेसे सभी कर्मोको अपने आपमे मानता था। अब विवेक होनेसे मनने उन कर्मोंको आत्मासे अलग करके जहा वे वस्तुतः है वही मान लिया। यही हुआ सन्यास। देही कहनेके मानी है कि जीते जी यह काम करना पडता है। नही तो मरनेपर छुटकारा हो न सकेगा। पुर या गावमे रहनेकी बातका मतलब यह है कि जब शरीरादिके कर्मोको अपनेमे मानता था तो शरीरके साथ अपने-आपको एक करके कहता और समझता था कि घरमे हूँ, पलंगपर हूँ, गाड़ीमें हूँ, आदि-आदि। अब

जब शरीरादिसे अपनेको जुदा समझ गया तो कहता और समझता है कि शरीर भले ही घरमें, बाहर या सवारीमे बैठे; लेकिन मैं तो शरीरमें ही बैठा हूँ ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥

(ऐसी दशामें) वह जीव सबका मालिक बन जानेपर न तो अपने आपमें कर्म करनेकी भावना लाता है, न लोगोंसे ही कर्म करवाता या करवानेका खयाल करता है और न कर्मोंके फलोंसे सम्बन्ध या ताल्लुक ही पैदा करता है । (किन्तु) यह सब कुछ प्रकृतिके गुणोंका ही पसारा है ।१४।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव. ॥१५॥

(इसलिये) सर्वत्र फैला हुआ वह जीव न तो किसीके पुण्यका साथी या भागीदार है और न पापका । (दरअसल बात यह है कि) अज्ञानने ज्ञानको छिपा दिया है (जिससे लोग बात समझ सकते नहीं । फलतः सभी) जीव भ्रममें पड़के ही ऐसा मानते हैं कि (हम पुण्य-पापके भागी हैं) ।१५।

इन दो श्लोकोंमें कुछ लोग प्रभु और विभु शब्दोंका अर्थ परमात्मा कर डालते हैं । मगर उसका तो कोई भी प्रसंग यहाँ हुई नही । जब जीवत्माको वशी कह दिया तब तो "एकोवशी" (श्वेता० ६।१२) के अनुसार उसीको प्रभु और विभु मानना ही होगा । श्वेताश्वतरमे यह लिखा भी है साफ ही । प्रभुका अर्थ भी मालिक या शासक और विभुका सर्वत्र रहनेवाला है, और आत्मा ऐसा ही पदार्थ है । "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर." (१५।८) तथा "परमात्मेति चाप्युक्तः" (१३।२२) मे भी यह बात साफ लिखी है ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

(लेकिन) जिनकी आत्माका वह अज्ञान ज्ञानने मिटा दिया है उन्हे तो वही ज्ञान उसी शुद्ध आत्माको सूर्यकी तरह प्रकाशित कर देता है । (फलत वे अपनेको पुण्य-पापके भागी नही मानते) ।१६।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनकी बुद्धि उसी आत्मामें लग चुकी है, मन भी वही लगा है, उसीमे जो खुद रम गये है और उससे अन्य किसीकी पर्वा नही करते, ऐसे ही लोग ज्ञानसे समस्त पापोंको बखूबी धोके जन्म-मरण-रहित पद—मुक्ति—प्राप्त कर लेते हैं ।१७।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

पण्डित लोग विद्या एवं सदाचरणसे युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और कुत्ता खा जानेवाले प्राणीमें (केवल) सम नामक वस्तुको ही देखते हैं—समदर्शी होते हैं। (इस तरह) जिनका मन इस साम्यावस्थामें डँट गया—जम गया—वह तो जीते ही जी सृष्टि—जन्म-मरण—पर विजय पा जाते हैं—इससे छुटकारा पा जाते हैं। क्योंकि निर्विकार एकरस ब्रह्म ही सम है। इसलिये वे ब्रह्मनिष्ठ हो जाते हैं।१८।१९।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

(इसीलिये) स्थिर बुद्धिवाला, हर तरहके मोहसे रहित (जो) ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी है (वह) न तो प्रिय पदार्थ मिलनेसे खुशीके मारे लोट-पोट होना है और न अप्रिय मिलनेसे घबराता है—सर पीटता है।२०।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

भौतिक पदार्थोंमें (इस तरह) मन न रमनेपर ब्रह्ममें हो जिसका मन जम जाता है वह पुरुष जब आत्मामें ही सुखका अनुभव करने लगता है (तो) अक्षय सुखको प्राप्त कर लेता है।२१।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

क्योकि भौतिक पदार्थोंमे जो आनन्द मिलता है वह (तो) आने-जानेवाला—अस्थायी—होनेसे (अन्तमें) दुःखका ही कारण बन जाता है। इसीलिये समझदार लोग उसमें कभी नहीं फँसते हे कौन्तेय।२२।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य मरनेके पहले ही इसी शरीरमें काम और क्रोधके वेगको दबा देता है वही योगी है, वही सुखी है।२३।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिस योगीको अपनेमें ही आनन्द मिले तथा अपनेमें ही प्रकाश मिले (और) जिसका मन अपने हीमें रम जाय वही ब्रह्मरूप होके निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त करता है ।२४।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके मन काबूमें है, जिनकी दुबिधायें मिट चुकी हैं, जिनके सभी मैल धुल चुके हैं (और) जो सभी पदार्थोंके हितमें निमग्न हैं ऐसे ही विवेकी निर्वाण ब्रह्मको हासिल करते हैं ।२५।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जिनने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जिनके मन काबूमे है (और इसीलिये) जो काम-क्रोधसे शून्य हैं, ऐसे यतियों—संन्यासियो—को दोनों दशामें—जीते जी और मरनेपर भी—निर्वाण ब्रह्म प्राप्त ही प्राप्त है ।२६।

यहाँ यति शब्दका अर्थ यत्न करनेवाला न होके संन्यासी ही है । क्योंकि आत्मज्ञान हो जानेपर यत्न करनेवाला कहना कुछ जँचना नही । आगे २८वेंमें मुनिका भी संन्यासी ही अर्थ उचित है । इसीलिये यहाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि संन्यासियोंकी यह दशा कब और कैसे होती है ? इसका उत्तर यों है—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चेवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाहरी विषयोको बाहर ही राकके, दोनो दृष्टियोंको भौंके बीचमें ही टिकाके और नासिकाके रास्ते बाहर-भीतर जाने-आनेवाले प्राण-अपानको मिलाके—कुम्भक करके—एकमात्र मोक्ष यानो आत्मामे ही खयाल जमाये हुए जो मननशील संन्यासी अपने मन ओर बुद्धिको बखूबी काबूमें रखता तथा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा नाना तोड लेता है वह हमेशा ही मुक्त है ।२७।२८।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

सब यज्ञों और तपस्याओंके भोगनेवाले, सब लोगोंके बडेसे बडे शासक और सबोंके कल्याण चाहनेवाले मुझ परमात्माको जानकर ही (वह) शान्ति प्राप्त करता है ।२९।

इससे पूर्वके दो श्लोकोंमें ध्यान, समाधि या पातंजल योगका संक्षिप्त वर्णन किया है। उसके फलस्वरूप जो ज्ञान होता है और जिससे मुक्ति होती है उसीका जिक्र इस श्लोकमें है। इस श्लोकका आशय यही है कि आत्मा और परमात्माको एक ही देखना यही आत्मज्ञान है। समाधिस्थ संन्यासी यही अनुभव करता है कि मैं ही खुद सब चीजोंका करने-धरनेवाला हूँ, सारे संसारके कार-बारका चलानेवाला हूँ। असलमें "अहं हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च" (९।२४) आदिमें जो कुछ कहा गया है उसीका यहाँ उल्लेख है। जिन कर्मोंका वर्णन इस अध्यायमें आया है वह तो नीचेसे लेकर ऊँचेके दर्जेतकके सभी हैं। नवें अध्यायमे स्पष्ट ही कहा है कि लोग भगवानको ठीक-ठीक न जानके औरोंकी पूजा आदि करनेके कारण ही पतित हो जाते है; -हालाकि सब पूजा, यज्ञादिका फल भगवान ही देते हैं, फिर चाहे वह देवी-देवता आदि किसीके निमित्त ही क्यों न किये जायँ। उसी श्लोकमें प्रभु भी भगवानको कहा है। वही बातें इस श्लोकमे लिखी गई हैं। लिखनेका आशय यही है कि वास्तविक संन्यासी इधर-उधर न भटकके वस्तुतः भगवानके ही खयालसे सब कुछ करना है, न कि देवी-देवताओंके लिये। यह भी नही कि भगवान तानाशाह है। वह तो सबका सुहृद है, कल्याणकामी है। इसीलिये उसे अपनी आत्माका स्वरूप जान लेनेकी पहचान यही होगी कि हम भी सबसे सुहृद बन जायें, हम भी "सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु" का अमली पाठ करने लगें। भागवतमें भी कहा है कि हम सभी भगवानके आदेशोंमें, अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा, इस तरह बँधे हैं जैसे बनियेके लादनेका बैल। इसीलिये जो कुछ भी हम करते हैं वह भगवानकी भेंटके ही रूपमे, 'यद्वाचि तन्त्यागुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः। सर्वे वहामो बलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः" (५।१।१४)।

पूर्वके दो श्लोकोंमे जो ध्यान और प्राणायाम है वह योगदर्शनके ही अनुसार है। योगी लोग भी मानते है कि दोनो भौं और नासिकाकी जड़की सन्धिमे नजर टिकानेसे मन एकाग्र होता है। प्राणायाम उसीमें सहायक होता है। यह भी माना जाता है कि प्राणायामसे जैसे मन एकाग्र होता है उसी तरह मनकी एकाग्रतामे प्राणोंकी क्रिया भी स्वयं बन्द हो जाती है। यहाँ दोनोको मिला दिया है।

पचीसवें श्लोकमे जो "सर्वभूतहितेरताः" कहा है उसका कुछ विवरण प्रकारान्तरसे पहले आ गया है। विशेष विवेचन आगे मिलेगा। इस अध्यायमें चार बार 'सम' आया है। उनमे आखिरी बार २७वे श्लोकमे मिलानेके अर्थमें है। शेष तीन बार १८-१९ मे समदर्शनके मानीमे है, जिसे आत्मज्ञान कहते हैं।

इस अध्यायमे संन्यासकी ही बात शुरू करके अन्ततक उसीका विवेचन होनेसे

यही इसका विषय माना गया है। शंकरने इस अध्यायका विषय 'प्रकृतिगर्भ' लिखा है। इसका अभिप्राय बता चुके हैं और कह चुके हैं कि इसका भी अर्थ संन्यास ही है। हमने पहले जो उल्लेख अमेरिकाके रक्त आदिवासियोंका किया है उससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक दशा (back to the nature) में माया-ममताका स्वतः त्याग रहता है, और संन्यासमे यही चाहिये।

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे संन्यास योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद्रूपी ब्रह्मविद्या प्रतिपादक योग शास्त्रमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्वाद है उसका संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय यही है।



छठाँ अध्याय

पाँचवें अध्यायमें जिस संन्यासका विशेष निरूपण आया है और सच्चे संन्यासीकी मनोवृत्तियोंका जो विशेष विवरण दिया गया है उसीको कुछ आचार्योंने प्रकृतिगर्भ या प्राकृतिक अवस्था भी कहा है। काम-क्रोध, राग-द्वेषादिका सर्वथा त्याग, भीतर ही मस्तीका अनुभव, सबकेहितकी कामना आदि बहुतसे लक्षण पूर्ण संन्यासीके बताये गये हैं। माया-ममताका तो उनमे नाम भी नही होता है। मिट्टीमे लेकर हीरेतक एवं कुत्तेमे लेकर विद्या-सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मणतकमें उन्हें कोई विभेद नजर नही आके सर्वत्र एकरस आत्मा और ब्रह्मका ही दर्शन होता है, यही नजारा दीखता है। यह तो आसान बात है नहीं, ऐसा खयाल किसीको भी हो सकता है जिसने गौरसे सारी बातें सुनी हों। इसीलिए उसके मनमे स्वभावतः यह जिज्ञासा पैदा हो सकती है कि ऐसा आदर्श संन्यास कैसे प्राप्त होगा? वह यह बात जरूर ही जानना चाहेगा।

अन्तके २७, २८ श्लोकोमे जो दिग्दर्शनके रूपमे इस संन्यासावस्थाकी प्राप्तिके साधनोका वर्णन आया है उससे यह जिज्ञासा और भी तेज हो सकती है, न कि शान्त होगी। एक तो यह बात अत्यन्त संक्षिप्त रह गई। दूसरे बहुत ही कठिन है। प्राणायाम या दृष्टिको टिकानेकी बात कहनेमे जितनी आसान है समझने और करनेमे उतनी ही कठिन। जबतक इसका पूरा ब्योरा न मालूम हो जाय और यह भी ज्ञान न हो जाय कि इस साधनमें सफलता होनेकी पहचान क्या है, तबतक काम चल सकता भी नही। यह काम कब, कहाँ, कैसे किया जाय और करने-वालोकी रहन-सहन वगैरह कैसी हो, आदि बाते भी जानना निहायत जरूरी है। इन्हीके साथ यह भी जानना आवश्यक है कि आया किसी भी दशामे कर्मोंका स्वरूपतः त्याग या संन्यास भी जरूरी है या नही। यह इसलिये कि छठेंमे सभी साधनोके बतानेके समय यदि उन्हीके साथ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके बन्द कर देने—संन्यास लेने—की बात न आये तो समझेंगे कि यह कोई वैसी जरूरी चीज नही है। कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी जरूरत किस दशामे कैसे है, यह बात ब्योरेके रूपमे पाचवे अध्यायमे आई भी नही है। परन्तु कर्म-अकर्मके इस महान झमेलेमे है यह निहायत जरूरी चीज। इसलिये इसकी भी जिज्ञासाका अर्जुनके मनमे पैदा होना जरूरी था।

किन्तु अर्जुन प्रश्न करे यह मौका खुद कृष्ण देना नहीं चाहते थे। क्योंकि ये बातें कुछ ऐसी-वैसी तो नही है कि ध्यानमे न आये। जिस चीजका उपदेश वह कर रहे थे ये बाते उसके प्राणस्वरूप ही कही जायें तो भी कोई अत्युक्ति

नहीं हो सकती है। जबतक इनपर पूरा प्रकाश न डाला जाय, आत्मब्रह्मदर्शन, आदिका निरूपण अधूरेका अधूरा ही रह जायगा। इसीलिये कृष्णने बिना पूछे ही स्वयमेव इनकी सख्त जरूरत महसूस करके इन्हें उपदेश करना शुरू कर दिया। फलतः यदि छठें अध्यायका विषय ध्यानयोग माना गया है तो ठीक ही है। समूचेका समूची अध्याय हरेक पहलूसे इसी चीजपर प्रकाश डालता है। पातंजल-योग और समाधि भी ध्यानके भीतर ही आ जानेवाली चीजें हैं। लेकिन कृष्ण यह अनुभव भी कर रहे थे कि यदि अथसे इतितक इसी ध्यान और स्वरूपतः कर्मत्यागकी ही बात करेंगे तो लोगोंको धोका हो सकता है। परिणामस्वरूप इसके सामने कर्म करनेकी महत्ता वे भूल सकते हैं। क्योंकि ध्यान-वानके बारेमे लोगों-की कुछ ऐसी ही ऊँची धारणा पाई जाती है कि और बाते इसके सामने तुच्छ मानते हैं। इसीलिये शुरूमे कर्मोंके करनेपर जोर देके ही आगे बढ़ते हैं। इस तरह बहुत बडे धोके तथा खतरेसे जनसाधारणको बचा लेते हैं। इन्ही सब विचारोंसे—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥१॥

श्रीभगवान बोले—जो कोई भी कर्मों और उनके फलोंकी पर्वा न करके (केवल) कर्त्तव्य समझ उन्हे करता रहता है वही संन्यासी भी है और योगी भी। (न कि कर्मोंके साधन) अग्नि (आदि) को और (खुद) कर्मोंको ही छोड़ देने-वाला।१।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

हे पांडव, जिसे संन्यास कहा गया है उसे योग ही जानो। क्योंकि जो कोई सभी संकल्पोंको त्याग न दे वह योगी हो नही सकता है।२।

यहाँ कुछ बातें जान लेनेकी हैं। इन दोनों श्लोकोंमें जो संन्यास और योगको एक कह दिया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इसी अध्यायमे आगे "तं विद्याद्दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्" (६।२३)में वस्तुतः वियोगको योग कहा है। सिर्फ इसीलिये यह बात है कि यद्यपि नाम तो उसका योग ही है, तथापि काम उसका उलटा है, वियोग है। क्योंकि वह दुःखोके सम्बन्धका वियोग कर देता है, दुःखोंको कभी पासमें फटकने नही देता है। यहाँ भी संन्यास और योग हैं तो दो चीजें और हैं परस्पर विपरीत भी। मगर इनका काम मिल जाता है, एक हो

जाता है। इसीलिये नामसे नहीं, किन्तु कामसे ही, दोनोंकी एकता बताई गई है। इसका प्रयोजन कही चुके हैं कि जनसाधारण कहीं कर्मोंसे विमुख न हो जायँ, इसीलिये कह दिया है कि भई, तुम तो कर्म करते हुए भी संन्यासी ही हो। फिर चिन्ता क्या ?

इसीके साथ एक निहायत जरूरी बात भी कर्म करनेवालोंके सामने बड़ी ही कुशलतासे रख दी गई है। जहाँ यह कहा गया है कि तुम तो योगीके योगी और संन्यासीके संन्यासी हो और इस तरह दुहरा फायदा उठाते हुए "आमके आम गुठलीके दाम" को चरितार्थ करते हो। फिर पर्वा नाहक ही किसकी करते हो ? वहाँ उन्हे चढाने-बढानेके साथ ही धीरेसे यह भी कह दिया गया है कि हाँ, योगी बननेके लिये भी इतना तो करना ही होगा कि सभी संकल्पोंको त्याग दिया जाय। इसके बिना तो काम चली नही सकता। इस तरह ठीक-ठीक योगी बननेकी शर्त भी रख दी गई और जल्दबाजीके खतरेसे भी बचा लिया गया। इसीके साथ यह भी ज्ञात हो गया कि सच्चे संन्यासी बननेके लिये संकल्पोंका त्याग आवश्यक है। यह न हो, तो सिर्फ कर्मोंको या उनके साधन अग्नि आदिको ही छोड देनेसे कोई भी संन्यासी नही बन जाता। ऐसे लोग तो वंचक ही होते हैं। यहाँ सब संकल्पोंका त्याग और कर्मफलकी पर्वा न करना ये दोनों एक ही चीज है। दोनोंमे जरा भी फर्क नहीं है। इसीलिये हमने 'कर्मफल' शब्दका कर्म और उनके फल यह दोनों ही अर्थ माना है और लिखा भी है। इसके लिये या तो कर्म और फलको दो जुदे—असमस्त—पद मान ले, या अगर दोनोंका समास माने तो समुच्चय द्वन्द्व मानके काम चलाये, जैसे करपादम् आदिमें होता है। संकल्प कर्मो और उनके फलो—दोनो—का ही होता है, और जबतक दोनोंके बारेमे बेफिक्र न हो जायँ संकल्पत्याग असंभव है।

दूसरे श्लोकमे जो 'असन्यस्तसंकल्पः" शब्द आया है उसमे भी एक खूबी है। संन्यासके बारेमे जब विवाद ही है तो ऐसे मौकेपर 'संन्यस्त' शब्द न देके 'संत्यक्त' शब्द देना ही उचित था। क्योकि संन्यास शब्दके अर्थके बारेमे जब झमेला ही है और यह तय नही हो पाया है कि उसमें किसी चीजका स्वरूपतः त्याग भी आता है या नही, तो ऐसी दशामे उसे लिखनेसे शक तो रही जायगा और अर्थकी सफाई हो न सकेगी। इसीलिये 'संत्यक्त' शब्द देना ही ठीक था। मगर ऐसा न करके सन्यस्त शब्द देनेसे यह आशय टपकता है कि संन्यासके भीतर स्वरूपतः त्याग आता है। क्योंकि संकल्पोंका तो स्वरूपतः त्याग ही विवक्षित है। अब बात रही यह कि वह स्वरूपतः त्याग कर्मोंका है या संकल्पोंका या और चीजोंका। यदि यह माना जाय कि संन्यासका अर्थ केवल संकल्पोंका ही स्वरूपतः

त्याग है, तो 'संन्यस्तसंकल्पः' में संकल्प शब्द देनेकी क्या जरूरत थी ? उसका काम तो संन्यस्त शब्दसे ही हो जाता है। इससे पता चलता है कि संन्यासका अर्थ केवल संकल्पत्याग नहीं है। अब यदि और चीजोंका भी त्याग मानें तो वे चीजें कौन-कौनसी हैं, यह कैसे जाना जाय ? इसलिये मानना ही होगा कि सामान्यतः सभी कर्मों, संकल्पों और रागद्वेषादिके स्वरूपत त्यागको ही संन्यास कहते हैं। इनमें संकल्पत्यागको सबसे जरूरी समझ और उसके बिना कर्मोंका त्याग कोरा ढोंग मानके ही यहाँ 'संन्यस्त संकल्पः' लिखा गया है।

इसी संकल्पत्यागको लेके आगे बढनेमें सबसे पहले यह बताना आवश्यक हो जाता है कि संकल्पत्यागके होते हुए भी कर्मोंके स्वरूपतः त्यागका असली अवसर कब और किसलिये आता है। कर्मकी आवश्यकता कहाँतक है, उसका काम है क्या, तथा उसके त्याग अर्थात् संन्यासकी भी आवश्यकता कब और किसलिये है यही बातें आगे कहते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

(कोई भी) मननशील योग—ज्ञान या समाधि—में जाने एवं उसे प्राप्त करनेकी इच्छावाला बन जाय इसका कारण कर्म है—इसीके लिये कर्म करनेकी जरूरत है। उसीको (आगे चलके) ज्ञान तथा समाधिमें आरूढ़—पक्का—बना देनेके लिये ही कर्मोंके त्यागकी जरूरत है।३।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

क्योंकि जब सभी संकल्पोंका त्याग कर देनेवाला मनुष्य न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें और न कर्मोंमें ही चिपकता है तभी वह योगारूढ माना जाता है।४।

इन श्लोकोंके अर्थोंके बारेमें बहुत कुछ बातें पहले ही लिखी जा चुकी हैं। उन्हें जाने बिना इनका आशय समझना असंभव है। यहाँ इतना ही कहना है कि जो लोग शमका अर्थ मनकी शान्ति मात्र है उन्हें भी अगत्या कर्मोंका स्वरूपतः त्याग मानना ही होगा। क्योंकि आखिर मनकी शान्तिका अर्थ क्या है ? यही न, कि उसकी हलचलें, क्रियायें बन्द हो जायँ, उसकी चंचलता जाती रहे ? उसकी चंचलताका भी यही अर्थ है न, कि बिजलीकी तरह बड़ी तेजीसे एकके बाद दीगरे हजारों पदार्थोंपर पहुँचता है ? और अगर यह चीज बन्द हो जाय तो होगा क्या ? यही न, कि मन किसी एक ही पदार्थमें जम जायगा, वहीं स्थिर हो जायगा ?

एक पदार्थ भी वह कौनसा होगा ? जब योगी और योगारूढ़की बात है तब तो मानना ही होगा कि वह एक पदार्थ आत्मा ही होगी। उसीको परमात्मा कहिये या ब्रह्म कहिये। बात एक ही है। अब जरा सोचें कि जब मनीराम आत्मामें ही रम गये, जम गये, टिक गये तो फिर सन्ध्या-नमाजकी तो बात ही नहीं, क्या कोई भी क्रिया हो सकती है ? क्या पलक भी मार सकते या शरीर भी हिला सकते हैं ? क्या प्राणकी भी क्रिया जारी रह सकती है ? यह तो मनःशास्त्रका नियम ही है कि जबतक मन किसी पदार्थमें न जुटे उसमें कोई क्रिया होई नहीं सकती। यह तो दर्शनोंकी मोटी और पहली बात है। फिर शम माननेवाले क्रिया कैसे करेंगे यह समझसे बाहरकी चीज है। खूबी तो यह कि यह ध्यानका ही अध्याय है और ध्यान-समाधिके साथ नित्यनैमित्तिक क्रियायें भी होंगी यह तो उलटी गंगाका बहना है। यह भी नहीं कि मिनट दो मिनट या घंटे दो घंटेकी समाधिसे ही काम चल जायगा। यहाँ तो लगातार दिनों, हफ्तों, महीनों और बरसों करनेकी नौबत आयेगी। तब कही जाके सफलताकी आशा कर सकते हैं। बीचमें बहुत ही थोड़ा विराम कभी-कभी मिलेगा। आगे जो "अनेकजन्मसंसिद्धः" (६।४५) और "यतचित्तेन्द्रियक्रियः" (६।१२) लिखा है उसका आखिर दूसरा अर्थ है क्या ? इसी छठे अध्यायको पढके भी जो यह कहनेकी हिम्मत करें कि ध्यान और समाधिके साथ ही वर्णाश्रमादिके धर्मोंका पालन भी हो सकता है उन्हें कुछ भी कहना बेकार है।

तीसरे श्लोकके पूर्वार्द्धमें ज्ञानकी इच्छा और कामनाकी बात कही गई है। इसका पता आसान है और सबोंको लगा सकता है। इसीलिये इसके बारेमें ज्यादा कुछ भी कहनेकी जरूरत नहीं। मगर योगारूढ़ होना और उसे पहचानना अत्यन्त कठिन है। बल्कि एक प्रकारसे यह बात असंभव ही समझिये। यही कारण है कि चौथे श्लोकमें योगारूढ़का लक्षण, उसकी पहचान बताई गई है। इसका दूसरे शब्दोंमें मतलब यह है कि जबतक वैसी दशा पूरी तौरसे न हो जाय तबतक ध्यान एवं समाधि करते रहना और तदर्थ सभी कर्मोंका पूर्णतः संन्यास करना ही होगा। दूसरा रास्ता है नही। जबतक आत्मज्ञानकी इच्छा या आत्माकी जिज्ञासा नहीं पैदा होती तभी तक कर्म करना होगा। उसीसे वह जिज्ञासा होगी। मगर ज्योंही यह जिज्ञासा पैदा होके दृढ़ हो गई कि कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करके ध्यान, धारणा, समाधिके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी सिद्धिमें फौरन लग जाना होगा। साक्षात्कार पूरा-पूरा होनेतक यह काम जारी रखना ही होगा, यही दोनों श्लोकोंका तात्पर्य है।

शायद यह खयाल हो कि इस प्रकार जीतेजी मुर्दा बननेकी क्या जरूरत है ?

योगारूढ़ होना और मुर्दा बन जाना तो बराबर ही है। फर्क यही है कि मुर्देको कुछ मालूम नहीं पड़ता, चाहे जो कीजिये। मगर योगारूढ़को तो होश होता है, ज्ञान होता है। फिर भी किसी सुख-दुःखादिको जरा भी अनुभव न करना यह असाधारण बात है जो असंभव जैसी है। इसीलिये तो जीतेजी मुर्दा बन जाना पड़ता है। फलतः दूसरे ढंगसे काम चल जाय तो इस योगारूढ़ होनेके मार्गको दूरसे ही सलाम कर लेना चाहिये। यह तो हो नहीं सकता कि परम कल्याण और मोक्षका कोई दूसरा रास्ता होई न। इसीलिये दूसरे ही मार्गका अवलम्बन क्यों न किया जाय? नाहक ही इन्द्रियों और मनको संकटमे डालके उन्हीके द्वारा अपने आपको—आत्माको—भी विपदामें डालना, संकटके अतल गर्त्तमे डुबाना मुनासिब नही है। इस तरहके विचार जनसाधारणके लिये बहुत संभव है। इसीलिये इस प्रसंगको आगे बढाने और योगारूढकी अवस्थाका पूर्ण विवेचन करनेके पहले दो श्लोकोमे इस खयालको हटाते हुए कहा गया है कि इसके सिवाय मोक्षका और मार्ग हई नही। इसीलिये लाचारी है कि यही मार्ग अपनाया जाय। इससे आत्माको गर्त्तमे गिरानेके बदले उलटे उसका उद्धार है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अपना उद्धार खुदबखुद करना चाहिये। आत्माको—अपने आपको—संकटमें कभी न डालना—कभी नीचे न गिराना—चाहिये। क्योकि अपना मददगार या दुश्मन स्वय हर आदमी ही होता है। जिसने अपने मनको स्वयं जीत लिया वही अपना मददगार है। जिसने मनपर काबू नही किया शत्रुताके मौकेपर (वही) मन (उसके) शत्रुका काम करता है।५।६।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने मनको जीत लिया है (और इसीलिये) जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शान्त है, उसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानकी दशामे (भी) बराबर समाधिमे परमात्माका ही साक्षात्कार होता रहता है—उसकी मस्ती बराबर बनी रहती है, चाहे कुछ हो।७।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्तिसे जिसका मन तृप्त है—मस्त है, जो किसी भी

दशामें विचलित नहीं होता, जिसकी (सभी) इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं (और इसी-लिये) जिसके लिये मिट्टीका ढेला, पत्थर (और) सोना सभी एकसे ही हैं, ऐसा ही योगी युक्त या योगारूढ कहा जाता है ।८।

कूट नाम है लोहारकी निहाईका । हजारों लोहे उसपर आके टेढ़े-सीधे और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । मगर वह ज्योंकी त्यों अचल बनी रहती है । इसीलिये विकार-शून्य और अचलको ही कूटस्थ कहते हैं—अर्थात् जो कूटकी तरह बना रहे । जाल-फरेबको भी कूट कहते हैं । संसार का प्रपंच ही मायाजाल है और उसमें ही आत्माका रहना है । मगर उनमें उसका स्पर्श नहीं है ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, प्रत्यक्ष-अपकारी, सम्बन्धी, साधु और पापी—सबों—में जिसकी समबुद्धि है—इनमें किसीकी ओर जो खिंच जाता नहीं—वही श्रेष्ठ है ।९।

अकारण ही जो सबका हित चाहे वह सुहृद् कहा जाता है, परिचय होनेपर जो हित चाहे वह मित्र, जो बुराई करे वह अरि, जो किसीका पक्ष न ले वह उदासीन, जो दोनोंका पक्ष लेकर कलह मिटाना चाहे वह मध्यस्थ, जिसके प्रति बहुत ज्यादा जलन हो वह द्वेष्य, जो सम्बन्धके करते ही हित चाहे वह बन्धु, जो सबका उपकार करे वह साधु और बुरा काम करनेवाला पापी कहाता है । उदासीन और मध्यस्थका फर्क यही है कि जहाँ मध्यस्थको दोनों पक्षोंकी पर्वा होती है तथा उदासीनको किसीकी भी नहीं होती । अरि और द्वेष्यमें यही अन्तर है कि जहाँ द्वेष्यके प्रति दिलमें प्रचंड जलन होती है तहाँ अरिके प्रति इसका होना जरूरी नहीं है । इसलिये अरि शब्द व्यापक है । मित्र और बन्धुमें यही फर्क है कि जहाँ बन्धुके साथ घनिष्ठता तयशुदा बात है तहाँ मित्रके साथ घनिष्ठता न होते हुए भी परिचय मात्र ही काफी है । सुहृद् स्वभावतः परहित चाहता है, चाहे कर सके या न कर सके । मगर साधुका तो यह काम ही है । वह परहित करता ही है । ये दोनों ही बदलेमें कुछ नहीं चाहते ।

यहाँ तक युक्त, योगारूढ, आत्मज्ञानी या संन्यासीका स्वरूप और लक्षण बताके अप्रत्यक्ष रूपसे यह भी कह दिया कि ऐसा होनेके लिये किस तरहके लोहेके चने चबाने जरूरी हैं । अब अगले आठ श्लोकोंमें उन उपायोंको विस्तारके साथ बताते हैं जिनपर अमल करनेपर ही इन लोहेके चनोंके चबानेकी योग्यता होती है । इनमें भी शुरूके पाँचमें ध्यान और समाधिके उपाय बताके और छठेंमें उसीपर जोर देके शेष दोमें खतरों और नियमोंके बारेमें सावधान किया है । उसके बादके

छे (१८-२३) श्लोकोंमें ध्यान और समाधिमें लगे चित्तकी तौल बताई है कि उसकी क्या हालत समाधिके दर्म्यान रहती है। क्योंकि उसी समय उसे आसानीसे पकड सकते और गलती सुधार सकते हैं। उस समय लोग पूरे तैयार और सतर्क भी रहते है। यह अभ्यास धीरे-धीरे कैसे शुरू किया जाय और यह कमजोरी और गलती कैसे चटपट पकडी जाके दूर की जाय, यह बात उसके बादके तीन (२४-२६) श्लोकोंमे कहके तदनन्तर छे (२७-३२) श्लोकोको योगारूढ पुरुषका पूरा चित्र खीच दिया है और यह बताया है कि उसकी मनोवृत्ति कैसी होती है। उसके आत्मज्ञान या साक्षात्कारका स्वरूप क्या होता है यह बात पुनरपि यहाँ दूसरी बार इन्हीं श्लोकोंमेसे दो (२९-३०) मे कही गई है। पहली बार पाँचवे अध्यायमे आई है, यह वही कहा जा चुका है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

ध्यान करनेवाला संन्यासी निरन्तर एकान्त स्थानमे अकेला ही रहके बुद्धि और मनपर कब्जा रखे हुए, बेफिक्र सारा लवाजिम छोडके ही मनको एकाग्र करनेका यत्न करे।१०।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

जो न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा हो, जिसमे क्रमशः कुश, मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक पड़े हों और जो हिले-डोले न ऐसा निजी आसन (वहाँ) किसी पवित्र स्थानपर बिछाके—।११।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

मन और इन्द्रियोंकी बाहरी क्रियाओंको रोके हुए मनको एकाग्र करके उसे शुद्ध करनेके ही लिये उसी आसनपर बैठ (तथा) ध्यान (एवं) समाधिका अभ्यास करे।१२।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, सर और गर्दन तीनो ही सीधे—तने—और निश्चल रखे हुए घबराहट छोड़के बैठे, अपनी नासिकाके अग्र भागपर ही दृष्टि जमाये रहे और इधर-

उधर न देखे। मनकी बेचैनी बिल्कुल ही न हो, डर-भय जरा भी न हो, (खान-पान आदिमें) ब्रह्मचारीके ही नियमोंका पूरा पालन करे। मुझमें ही मन लगाये तथा मुझको ही सब कुछ समझे हुए मनको भरपूर काबूमे करके समाधिमें बैठे।१३-१४।

यहाँ जो दसवे श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' कहके 'आत्मानं युञ्जीत' भी कहा है इससे दोनोंमें परस्पर विरोध जैसा लगता है। जब मन और बुद्धिको काबूमे कर लिया तो फिर मनके एकाग्र करनेका क्या सवाल? यह या तो पुनरुक्ति जैसी हो जाती है, या यो कहिये कि एकका कहना बेकार है। मगर दरअसल मन-बुद्धिको संयत कहनेका यही अभिप्राय है कि पहले जैसी चंचलता और घबराहट उनमे न रह गई है। वे कुछ ठडे पड गये है। तभी समाधिकी सफलता हो सकती है। या यह कि यतचित्तात्माका अर्थ है मन-बुद्धिकी क्रियाका रोकना मात्र। उसके बाद होनेवाली एकाग्रता "आत्मान युजीत"के द्वारा बताई गई। इसी तरह १२वेमे मनकी एकाग्रता और उसकी तथा इन्द्रियोकी क्रियाके रोकनेकी बात है। प्रश्न होता है कि मनकी एकाग्रताके बाद फिर उसकी क्रियाके रोकनेके क्या मानी? बात असल यह है कि पहले जब मन कही एक चीजमे बँधेगा तभी तो उसकी तथा इन्द्रियोकी क्रिया भी रुकेगी। वस्तुत क्रिया रुकनेसे एकाग्रता और एकाग्रतासे क्रियाका रुकना ये दोनो ही एक दूसरेके आश्रित है, ठीक वैसे ही जैसे प्राणके रोकनेसे मनका रुकना और मनके रुकनेसे प्राणका रुक जाना। आगे ३५वे श्लोकके व्याख्यानमे इसपर और भी लिखा गया है।

अथवा "यतचित्तेन्द्रियक्रिय."मे चित्तका अर्थ बुद्धि ही है, जैसा कि १०वेमे। बुद्धिकी चंचलताका भी रुकना आवश्यक है। इसीलिये जो अन्तमे पुनरपि "युज्याद्योगम्" लिखा है वह यद्यपि व्यर्थसा प्रतीत होता है, तथापि उसका अभिप्राय यही है कि योगकी पूर्णता और स्थायित्व प्राप्त करे। ऐसा न हो कि मनकी एकाग्रता चन्दरोजा ही हो। "आत्मानं युजीत" और "योग युञ्ज्यात्" का यह भी अभिप्राय है कि आत्मामे ही मनको लगाये, न कि और पदार्थमे। इसीलिये आगे जो "मच्चित." और मत्पर." मे (मत्) कहा है उसका भी अर्थ आत्मा ही है। नही तो आत्मासे अलग परमात्माका खयाल हो सकता था। 'मच्चित' और 'मत्पर' कहनेका आशय यही है कि एकमे चित्त लगाके कभी-कभी दूसरेका भी खयाल करनेकी बात यहां नहीं होगी। आत्माके सिवाय और किसीका भी खयाल न रहेगा। इसे ही अनन्य-चिन्तन भी कहते है।

१३वे श्लोकमे एक बार तो धड, गर्दन और सरको अचल और तना हुआ रखना कहा है। फिर स्थिर होना भी बताया है। यह तो पुनरुक्ति ही हुई।

इसीलिये हमने घबराहट और बेचैनी छोडनेकी बात लिखी है। ऐसी भी तो बेचैनी होती है कि शीघ्र ही काम पूरा हो जाय। वह न रहे इसी मानीमें स्थिर शब्द आया है। यों भी इस मानीमे बोला जाता है। इसी प्रकार जहाँ यहाँ नासिकाके अग्र भागमे नजर जमानेको लिखा है तहाँ पाँचवें अध्यायके अन्तमें भौओंके बीचमें जमानेकी बात है। असलमे योगियोंके यहाँ ये दोनो ही बातें पाई जाती है। कोई एक करता है तो कोई दूसरी। इसीलिये दोनों ही लिखी गई है। भौओंकी बात आगे भी "भ्रुवोर्मध्ये" (८।१०)मे आयेगी। जिसकी जब जैसी रुचि, प्रवृत्ति या अनुकूलता हो तब वह वैसा ही करता है। किन्तु परिणाम एक ही होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार निरन्तर आत्मामें मनको जोड़ता हुआ उसे सोलह आने काबूमें कर लेनेवाला योगी उस ब्रह्मनिष्ठा रूपी शान्तिको प्राप्त कर लेता है, जिसका अन्तिम परिणाम आवागमनसे छुटकारा है।१५।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन, निश्चित परिणाममे अधिक खानेवालेकी समाधि हो नही सकती, और न बिल्कुल ही न खानेवालेकी हो। (ऐसी तरह) बहुत ज्यादा सोनेवाले या अधिक जागनेवालेकी भी (नही होती)।१६।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

(किन्तु) उचित मात्रामें जो खान-पान और धूमधाम करता है, दूसरी क्रियायें भी निश्चित परिमाणमें ही करता है और सोता-जागता भी है नियमित रूपसे ही, उसीकी समाधि सब कष्टोंकी नाशक होती है—पूर्ण या सफल होती है।१७।

सोने-जागने वगैरहकी बात तो सभी जानते है। हालाँकि योगी लोगोंने इनमे भी बहुत नियम—कायदे—बनाये है। खानपानका नियम ऐसा ही है कि पेटका आधा अन्नमें और एक चौथाई जलमे भरके शेष चौथाई खाली रखे,— "अन्नेन पूरयेदर्ध चतुर्थं तु जलेन वै। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्"। नहीं तो परिपाक ठीक नही होता और आलस्य रोगादि बढते है। क्या खाना, कब खाना आदिके भी नियम है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब काबूमें बखूबी आया हुआ मन आत्मामें ही जाके टिक जाता (तथा) अन्य सभी पदार्थोंसे निःस्पृह (हो जाता है) तभी कहा जाता है कि (मनुष्य) युक्त या योगारूढ़ हो गया ।१८।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।१९।।

मनको आत्मामें टिकानेका अभ्यास करनेवाले योगीका मन काबूमें आ जानेपर ठीक वैसे ही हिलता-डोलता नहीं जैसे बहनेवाली हवासे रहित स्थानमे दियाकी शिखा नहीं हिलती है ।१९।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।२१।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।२२।।
तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।२३।।

जिस दशामें योगके अभ्यासके फलस्वरूप काबूमें आया हुआ मन शान्त और निश्चल हो जाता है, जिस दशामे अपने भीतर ही स्वयमेव अपनेको देखके पूर्ण सन्तोष हो जाता है, इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर केवल बुद्धिसे अनुभव किया जानेवाला अपार सुख जिस दशामे जाना जाता है, जिस दशामे जम जानेपर मनुष्यकी आपा बिसर जाती है और उस वास्तविक दशासे फिर वह च्युत भी नहीं होता है, जिसे पा जानेके बाद उससे बढके दूसरा कोई भी लाभ माना नहीं जाता और जिस दशामे स्थिर हो जानेपर बड़ेसे बडा भी कष्ट मनुष्यको विचलित नहीं कर सकता, दुःखके सम्बन्धको सदाके लिये मिटा देनेवाली उस दशाको ही योग शब्दसे समझना चाहिए । जो मन कभी ऊबना जानता ही नहीं उसीके द्वारा दृढ निश्चयके साथ उस योगकी सिद्धिका अभ्यास किया जाना चाहिये ।२०।२१।२२।२३।

यहाँ मनके न ऊबनेके बारेमे दृष्टान्त देते हुए गौडपादाचार्यने माण्डूक्योपनिषद्की कारिकाओंमे लिखा है कि एक ही कुशकी नोक डुबो-डुबोके बाहर छिड़कते हुए ही समुद्रको सुखा डालनेकी हिम्मत जिसे हो वही मनको काबूमें कर सकता है, "उत्सेकउदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः"

(३१४१)। टिट्टिभ पक्षीके नर-मादेका अपनी चोंचोंसे ही उलीचते-उलीचते समुद्रको सुखाके अपने अंडे उसमेंसे बाहर निकालनेके, दृढ़ संकल्पका भी दृष्टान्त दिया जाता है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२५॥
शनैः शनैरुपरमेद्‍बुद्‍ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

संकल्पसे पैदा होनेवाली सभी कामनाओंको निर्मूल करके तथा मनसे ही सभी इन्द्रियोंको चारों ओरसे रोकके धैर्य-सहकृत बुद्धिके बलसे धीरे-धीरे हर चीजसे मनको हटाये और आत्मामें टिकाके दूसरा कोई खयाल न करे। चंचल होनेके कारण कहीं भी टिक न सकनेवाला मन जिस-जिस चीजको लेके बाहर भागे उस-उससे उसे हटाते हुए केवल आत्मामें ही लगाके काबूमें करे।२४।२५।२६।

यहाँ धीरे-धीरे सब ओरसे हटाना और फिर भी यदि मन उधर भागे तो वहाँसे बार-बार लौटाना बताया गया है। असलमें समाधिके लिये यही बुनियादी बात है। जो ऊबना जानता ही नहीं वही यह काम कर सकता है, ऐसा कहने-की जरूरत इसीसे स्पष्ट हो जाती है। एकाएक न तो अन्य चीजोंसे यह मनीराम हटी सकते और न हटनेपर भी फिर उनमें जानेसे बाज आई सकते हैं। यह तो नटखट बन्दर हैं। बडी हिम्मत और बड़े भारी दृढ संकल्पसे ही इन्हें काबूमें किया जा सकता है। इसीलिये "स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा" कहा है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि बिल्कुल ही शान्त मनवाले, शान्त या दबे-दबाये रजोगुणवाले, निर्दोष (और इसीलिये) ब्रह्म स्वरूप हो जानेवाले इस योगीके पास सर्वोत्तम सुख—आत्मानन्द—खुद आ जाता है।२७।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

इस प्रकार सदा आत्मामें मनको लगाता हुआ (उसके फलस्वरूप) पापशून्य योगी आसानीसे ही ब्रह्मरूपी अखंड सुख—निरतिशय ब्रह्मानन्द—प्राप्त करता है।२८।

यदि गौरसे देखा जाय तो पूर्वके "शनैः शनैरुपरमेद्" श्लोकका ही एक तरहका व्याख्यान बादके. इन तीन श्लोकोमें है। इसमें भी उसके पूर्वार्द्धका "यतोयतः" मे, उत्तरार्द्धके पहले आधेका "प्रशान्तमनसं" में और शेष चतुर्थांशका "युंजन्नेवं" में स्पष्टीकरण है।

आगेके चार श्लोक उस आत्मसाक्षात्कारके बादकी हालत बताते हैं। खासकर पहले दो तो उस साक्षात्कारका रूप स्पष्ट करते हैं शेष दो ज्ञानीकी व्यावहारिक दशा बताते हैं कि संसारके साथ उसका सलूक कैसा होता है। इन आखिरी दोमें भी पहला है दूसरेको एक तरहकी भूमिका ही। दूसरा—३२वाँ—ही उसका बाहरी व्यवहार चित्रित करता है।

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जिसका मन पूर्ण योगयुक्त हो गया है उसकी सर्वत्र समदृष्टि—ब्रह्म या आत्म दृष्टि—होती है। (इसीलिये वह) सभी पदार्थोंमें अपने आपको और अपनेमें सब पदार्थोंको देखना है। (इसी तरह) जो मुझ परमात्माको (भी) सबोंमें और सबोंको मुझ परमात्मामे देखता है उससे जुदा न तो कभी मै होता हूँ और न वह मुझसे अलग होता है।२९।३०।

ये दोनों ही श्लोक "येनभूतान्यशेषेण" (४।३५)से एकदम मिल जाते। फलतः उसीके विवरण रूप ही है। इन दोनोने अद्वैत या जीव, ब्रह्म और जगत्की एकताका चित्र खींच दिया है।

> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
> सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

सभी पदार्थोमे ओत-प्रोत—मौजूद—मुझ परमात्माको जो योगी इस प्रकारकी एकताकी दृष्टिसे देखता है वह चाहे किसी भी दशामें रहने पर भी बराबर मुझमें ही डूबा रहता है।३१।

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन, चाहे सुख हो या दुःख, (दोनोंको ही) सभी पदार्थोंमें जो अपने जैसा ही अनुभव करता है—जो अपने सुख-दुःख जैसे ही दूसरोंके सुख-दुःखका अनुभव करता रहता है—वही परले दर्जेका योगी माना जाता है।३२।

अब अर्जुनने देखा कि ओ बाबा, यह तो बीहड़ बात है—यह संन्यास तो आसान नहीं है। क्योंकि संन्यासका जो असली प्रयोजन ध्यान और समाधिकी सिद्धि है वह मेरे पहुँचके बाहरकी चीज है। मेरे मनीराम तो ऐसे भयंकर हैं; चंचल हैं कि न तो कहीं टिकना ही जानते और न आत्मामें जुटना ही चाहते। फिर यह साम्यबुद्धि और समदर्शन रूपी समाधि पूर्ण होगी कैसे ? ऊँहूँ। यह नहीं होने की, असंभव है। इसी भावसे वह —

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
एतस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्जुन कहने लगा—हे मधुसूदन, यह जो समदर्शन रूपी योग आपने (अभी अभी) बताया है, मनकी चंचलताके करते इसीकी मजबूतीका होना मैं (संभव) नहीं समझता। क्योंकि हे कृष्ण, यह मन तो चंचल है, बुरी तरह मथ देने, बेचैन कर देने वाला है, बलवान है और बड़ा मजबूत है। (इसीलिये) मैं तो इसे बाँध रखनेको हवाको बाँध रखनेकी ही तरह कतई नामुमकिन मानता हूँ।३३।३४।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान बोले—हे महाबाहु, बेशक मन चंचल (और इसीलिये आमतौर-से) काबूमें नहीं आनेवाला है। फिर भी हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्यके बलसे ही काबूमें आता है।३५।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें जो कुछ लिखा है ठीक वही बात 'अभ्यासवैराग्यां तन्निरोधः" (१।१२) योगसूत्रमें अक्षरशः पाई जाती है। इसका व्याख्यान करते हुए व्यास भाष्यमें लिखा है कि "चित्तनदीनामोभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। यातुकैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसार-प्राग्भाराऽविवेकविषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेक दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतउद्घाट्यतइत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" इसका आशय यह है कि "निरन्तर बहने वाली नदीकी ही तरह मन भी नदी ही है जो कल्याणकी ओर भी बहती है और पापकी ओर भी। इनमें यदि आत्म-ज्ञानके

विषयोंकी ओर झुकाव होके यह नदी बहे तो कैवल्य और मोक्षकी तरफ जाकर बँध जाती है। विपरीत इसके यदि विवेक शून्य विषयभोगकी ओर झुकाव होके बहे तो जन्ममरणादि रूपी संसारकी तरफ जाती और वहीं बँध जाती है। फलतः विवेकका सोता रुक जाता है। इसलिये वैराग्यका यह काम है कि पहले सांसारिक विषयोंका दरवाजा बन्द कर दे—ऐसा बाँध बना दे कि विषयोंकी ओर मन जाने ही न पाये। अनन्तर विवेकका अभ्यास करते-करते विवेकके सोतेको खोदकर जारी करनेका काम कर डाले। फिर तो मन आसानीसे उधर ही चला जायगा।" जब तक पानी का नीचेकी ओरका बहाव पहले रोक दिया न जाय उसे ऊँची जमीन या बन्द सोतेकी ओर ले जायँगे कैसे? वह तो बहके खत्म ही हो जायेगा। इसीलिये संसारसे विरागी बनना पहला काम है, जिससे उधर बहकनेसे यह मन रुके तो सही। फिर जैसे ऊँची जमीनको खोदके नाली बनाते और पानी ले जाते हैं; खोदनेमें भी बारबार कुदाल चलानी होती है; वैसे ही मनको बारबार आत्मामें लगानेका यत्न करना ही मोक्षकी ऊँची भूमिको खोदकर नाली या सोता बनाना है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जब पहले मन रुकता और एकाग्र होता है, तभी आत्मामें लगाया जा सकता है। यही बात पहले आई है। आगे इसीका स्पष्टीकरण यों है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

(बेशक) मैं मानता हूँ कि जिस मन पर काबू नहीं उससे यह योग सिद्ध हो नहीं सकता। (विपरीत इसके) काबूमें आये मनसे कोशिश करने पर (पूर्वोक्त) उपाय और हिकमतसे सिद्ध हो सकता है।३६।

यहाँ उपाय तो कुछ बताये हैं नहीं। इसलिये पहले ही बताये उपाय लेने चाहियें।

हाँ, तो इतना सुनने पर अर्जुनकी निराशा जाती रही जरूर। मगर इसकी कठिनाईका विचार करके उसे खयाल आया कि एक जन्ममें तो यह पूरा होनेका नहीं। यदि दूसरे-तीसरे आदि जन्मोंमें पूरा करनेका खयाल करे तो ठीक नहीं। क्योंकि एक जन्ममें जो कुछ भी किया-दिया और पढ़ा-लिखा होता है वह तो अगले जन्ममें भूली जाता है। आखिर इसके पहले भी तो हमारा जन्म हुआ था। मगर हमें उसकी एक भी बात कहाँ याद है? हमें तो उसका कुछ भी पता नहीं। ऐसी दशामें फिर भी वही असंभव-सी बात आ जाती है। यही ठीक है कि शायद किसी सौभाग्यशाली पुण्यात्माकी समाधि इसी जन्ममें पूर्ण हो जाय। मगर आम-

तौरसे तो लोग अत्यन्त चंचल मनवाले ही होते हैं। फलतः उनके यत्नसे इसी शरीरमें सफलता होगी तो नहीं ही। फिर उनकी क्या गति होगी? वे तो दोनों ओरसे गये। एक तो कर्म-धर्म छोड़ा। इसीलिये उससे जो सद्गति होती सो तो हो पाई नहीं। दूसरे योग भी पूरा हुआ ही नहीं कि इसीका मजा मिलता। इसलिये उनकी तो वही दशा हुई कि "दोनों ओरसे गये पांड़े। न मिला हलवा न मिला मांड़े।" लेकिन फिर मनमें दूसरा खयाल आया कि आखिर यह भी तो एक महान् कार्य ही है। तो क्या इसके पूरा न होने पर भी इसका कुछ न कुछ सुन्दर फल नहीं होना चाहिये? इसी पेशोपेश और दुविधेमें पड़े हुए—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अर्जुनने पूछा—हे कृष्ण, श्रद्धायुक्त होने पर भी पूरा यत्न न कर सकनेके कारण जिसका मन (किसी भी वजहसे) योगसे हट गया वह मनुष्य योग-सिद्धि तो प्राप्त कर सकता नहीं। (तब) उसकी क्या दशा होती है? हे महाबाहु, कहीं ऐसा तो नहीं होता कि बादलके टुकड़ेकी तरह इधर-उधर भटकता हुआ, किंकर्त्तव्यविमूढ़ और ब्रह्म-प्राप्तिके मार्गमें टिक न सकनेवाला वह मनुष्य कहींका नहीं होता (और यों ही) चौपट हो जाता है? हे कृष्ण, इस मेरे संशयको मिटाइये। क्योंकि आपसे बढ़के इस शकको दूर करनेवाला कोई हो सकता नहीं। ३७।३८।३९।

यहाँ यह बात याद रखनेकी है कि यत्नमें पूर्णता और श्रद्धा यही दो चीजें सफलताकी कुंजी हैं। इनमे श्रद्धा तो वशकी चीज है और वह योगभ्रष्टमें भी है। मगर यत्नमें तो हजार बाधायें उठ सकती हैं। इसीसे इसमें पूर्णता कठिन है। ताहम श्रद्धा के रहते कभी न कभी वह होके ही रहेगी। यही "अयतिः श्रद्धयोपेतः" इन दो विशेषणोंका मतलब है।

बादलके छींटे या टुकड़ेकी यह हालत होती है कि उसे हवा इधर-उधर घसीटती और भटकाती रहके गला-पचा देती है। न तो वह बरसी सकता है और न घने बादलोंमें जाके मिली सकता।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते !
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवानने कहा—हे पार्थ, न तो यहाँ और न परलोकमें ही उसकी कोई बुरी गति होती है । क्योंकि, ओ मेरे प्यारे, कल्याणके मार्ग पर चलनेवाले किसीकी भी दुर्गति हो नहीं सकती ।४०।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट—समाधिकी सिद्धि न प्राप्त कर सकनेवाला—(मनुष्य) उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकोंमें जाके (और वहाँ) बहुत वर्ष—मुद्दत तक—रहके पवित्राचरणवाले श्रीमानोंके घर जनमता है ।४१।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

या नहीं तो योगियोंके ही समाजमें जा पहुँचता है । असलमें इस प्रकारका जो जन्म है वह संसारमें अत्यंत दुर्लभ है ।४२।

यहाँ श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेकी बात कहके फिर योगियोंके कुलमें जानेकी बात कही गई है । ऐसे जन्मको बहुत ही दुर्लभ भी कहा है । प्रश्न यह होता है कि श्रीमानके घर और योगीके कुलमें क्या फर्क है ? कुछ लोगोंने उत्तर दिया है कि धनियोंके घर सम्पत्तिके चलते योगाभ्यासमें बाधा होती है । वहाँ आराममें ही फँसनेका मौका ज्यादा रहता है । विपरीत इसके योगी कहनेका अर्थ गरीबके घरमें जन्म लेना है । फलतः वहाँ अभ्यासका मौका पूरा रहता है । इसीलिये यह जन्म पहलेकी अपेक्षा दुर्लभ है । यह बात इस चीज पर निर्भर है कि मरनेसे पूर्व उसकी क्या दशा थी । यदि अभ्यासमें ज्यादा प्रगति कर चुका था; तब तो उसीकी चिन्ता करते-करते ही शरीरान्त होने से "यं यं वापि" (८।६) के अनुसार खामखा योगियोंके ही घर जनमेगा । योगी से मतलब जनकादि जैसे गृहस्थसे ही है । अन्तर यही है कि जनक थे श्रीमान और यहाँ वह बात न होगी । मगर प्रश्न होता है कि मन्दालासा तो राजाकी पत्नी थी । फिर भी उसके बच्चे आत्मज्ञानी ही होते थे । बचपनसे वह यही शिक्षा देती थी । इसलिये ज्ञानी होनेके लिये श्रीहीन या दरिद्र होना तो जरूरी नहीं है, अस्तु । और अगर उसकी प्रगति ऐसी ही वैसी थी, तब तो इस योगकी धुन होगी नहीं । फलतः धनियोंके यहाँ ही जनमेगा ।

अच्छा, अब यदि श्रीमानका अर्थ "समाधि और योगके साधनोंसे सम्पन्न" यही करें तो क्या बुरा होगा? तब श्लोकका सीधा अर्थ यही होगा कि या तो जनक, मन्दालसा आदिके घर जन्म लेके वहीं अपना काम पूरा करता है; या अगर किसी वजहसे वहाँ ऐसा न हो सका तो प्रह्लाद आदिकी तरह वहाँसे भागके योगियोंके समाजमें जा पहुँचता है और वहीं काम पूरा करता है। यहाँ कुल शब्द गुरुकुलके कुल जैसा ही मान लें तो क्या अच्छा हो—गुरुकुल और योगिकुल। क्योंकि तब योगके अभ्यास करनेवालोंका ही समाज होनेसे आसानी भी हो जाती है। इस श्लोकमें 'जायते' न लिखके 'भवति' लिखा है। यहाँ इसका भी अभिप्राय "जा पहुँचना" अच्छी तरह मेल खा जाता है। दो जन्म जुदा-जुदा मानके केवल दूसरेकी बड़ाई करनेकी अपेक्षा एक ही जन्म मानके उसीकी प्रशंसा भी ठीक ही जँचती है। क्योंकि अर्जुनका तो प्रश्न था योगभ्रष्टके ही बारेमें। अगर इसमें दो भाग करें तो पहले भागमें आनेवालेकी दशाका ठीक-ठीक पता कैसे चलेगा? ऐसा होने पर उत्तर भी अधूरा ही रह जायगा। अगर आगेवाले श्लोकोंमे समान तौर पर दोनोंकी ही बात मान लें तो बीचकी यह विभिन्नतावाली बात कुछ यों ही रह जाती है। ठीक जँचती भी नहीं। यदि ४४वें श्लोक पर गौर करें तो यह पता चलता है कि उसका मन पूर्व जन्मके अभ्यासके करते ही खिंचके इस जन्ममें भी योगमे ही जा लगता है। ऐसी दशामें तो श्रीमानोंके यहाँ जनमने पर भी योगमें ही लगेगा। फिर वह अपेक्षाकृत हल्के दर्जेका कैसे माना जाय? बल्कि खिच जानेका मतलब हमारे ही बताये अर्थमें यों मेल भी खा जाता है कि वहाँ गड़बड़ होनेपर वहाँसे भागके योगियोंके समाजमें जा पहुँचता है। समाज भी कोई बड़ा ही यह जरूरी नहीं है, जिससे विघ्न बाधाकी बात उठ खड़ी होगी। वहाँ तो ऐसे ही लोग होंगे जो योगकी धुनवाले हैं और वे होंगे थोड़े ही।

यहीं पर प्रसंगवश एक बात और भी कहे देते हैं। अर्जुनके प्रश्न और उसके उत्तर हमारे ढंगसे तो ठीक मिल जाते हैं। जब वर्णाश्रमके सभी कर्म-धर्म उसने छोड़ रखे हैं तो उसके उभयभ्रष्ट होनेकी बात स्वयं आ जाती है। कारण वे तो छूटे ही थे, अब योग भी छूट गया। परन्तु जो लोग यह बात नहीं मानते और बराबर यही चिल्लाते हैं कि गीताके मतसे धर्म-कर्मोको किसी भी दशामें छोड़ नहीं सकते वे इन प्रश्नोत्तरोंको कैसे ठीक कहेंगे? उनके मतके अनुसार दोनों ओरसे भ्रष्ट होने या गिर जानेका सवाल आता ही कहाँ है? वह जब मानते ही है कि योगके अभ्यासके समय भी नित्य-नैमित्तिक आदि धर्मोको वह योगी करता ही रहता है, तो फिर उनका फल कौन रोकेगा? वह तो अवश्य ही मिलेगा। इसलिये योगका फल न भी मिला तो क्या मुज़ायका? कर्मोंका फल तो मिलेगा ही—एक तो मिलेगा ही। ऐसी दशामें दोनों तरफसे चौपट होने

या भ्रष्ट होनेका प्रश्न उठता ही नहीं। यदि मान भी लें कि अर्जुनने भूलसे ही ऐसा कह दिया था, तो कृष्णको तो भूल सुधार लेना था। उन्हें चटपट पहले यही कहना था कि उभयभ्रष्टताकी बात तो गलत है। पीछे और बातें भी कह सकते थे। मगर ऐसा न कहके उनने भी तो मानो लिया कि यही बात है। इसलिये अगत्या कबूल करना ही होगा कि जो संन्यासी या योगी समाधिका अभ्यास करता है उसे धर्म-कर्म छोड़ना ही पड़ता है। उसके लिये कोई चारा हई नहीं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन, वहाँ उसे पूर्व जन्मवाली बुद्धि ही मिल जाती है। इसीलिये योग-सिद्धिके लिये और भी ज्यादा यत्न करता है।४३।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥

उस पूर्व जन्मके अभ्यासके ही फलस्वरूप वह जबर्दस्ती उधर ही खिंच जाता है। (यही कारण है कि) योगकी जानकारी एवं प्राप्तिकी इच्छावाला भी शास्त्रीय विधि-विधानकी पर्वा नहीं करता।४४।

असलमें पहले श्लोकमें यह कहने पर कि वह इस जन्ममें और भी ज्यादा यत्न योग-सिद्धिके ही लिये करता है, यह प्रश्न स्वयमेव पैदा हो जाता है कि कैसे? दूसरे लोग ऐसा नहीं करते, वही क्यों करता है? इसका उत्तर इस श्लोक के पूर्वार्द्धमें दिया गया है कि पूर्व जन्मका वह प्रबल संस्कार ही उसे योगकी ओर बलात् घसीट ले जाता है। फलतः इच्छा न रहने या परिस्थियोंके विपरीत होनेपर भी उसे उसी काममें लगना ही पड़ता है।

इसपर जो जबर्दस्त प्रश्न पैदा होता है वह यह कि, माना कि संस्कार जबर्दस्त है और उधर घसीटता भी है सही। मगर जब उसने कहीं जन्म लिया तो ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंसे ही होके तो संन्यासी बनेगा और समाधिका अभ्यास करेगा। यह तो संभव नहीं कि एकाएक संन्यासी ही बन जाय। क्योंकि वेद-शास्त्रोंके विधि-विधान इस सम्बन्धमें मौजूद ही रहते हैं, जो इन आश्रमोंको क्रमशः पूरा करने पर ही पूरा जोर देते हैं। ऐसी दशामें जब ये इधर खींचेंगे और पूर्व संस्कार उधर, तो ज्यादेसे ज्यादा यही हो सकता है कि दोनोंकी खींचतानमें वह किसी ओर या तो झुकेही नहीं या थोड़ा-बहुत दोनोंके अनुसार

करे। वह सिर्फ पूर्व जन्मके संस्कारोंके अनुसार योगाभ्यास ही करेगा, यह कैसे होगा ?

इसीका उत्तर इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें है कि जब योग-सिद्धिकी लगन उसमें पैदा हो गई, तो फिर वह शास्त्रीय-विधि-विधानकी पर्वा क्यों करेगा ? कर्मकांड का तो प्रयोजन ही यही है कि लगन, यह उत्सुकता, यह धुन और यह जिज्ञासा पैदा हो जाय। यह तो पहले ही कहा जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि यह शब्द ब्रह्मका अर्थ वेदशास्त्रादि ही है। और जब यह धुन और लगन पैदा हो गई, तो फिर उन कर्मों या कर्मोंके प्रतिपादक वचनों और तन्मूलक आश्रमोंकी पर्वा वह करेगा क्यों ? आत्मज्ञानी तो नहीं ही करता है। वह भी नहीं करता है यह मानी हुई बात है। यही कारण है कि उन वचनों पर अमल करनेके लिये जोर देनेवाले पिता, आचार्य आदि शासकोंकी भी पर्वा वह नहीं करता। प्रह्लाद आदिके बारेमे यही बात पाई जाती है। उस पूर्व-अभ्यास और उससे उत्पन्न संस्कारकी यही तो अपूर्व शक्ति है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

(इस तरह) बहुत मुस्तैदोसे योगकी सिद्धिके लिये यत्न करनेवाला विशुद्धान्तःकरण योगी (लगातार) अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे ही वह सिद्धि (और) उसके फलस्वरूप परमगति प्राप्त कर लेता है।४५।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन, यह योगी तपस्वियोंमे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी बडा माना जाता है और कर्मियोंमे भी ऊँचा स्थान रखता है। इसलिये तुम (जरूर ही) योगी बनो।४६।

यहाँ बहुत गहरे पानीमें उतरनेकी जरूरत नहीं है; हालाँकि कुछ लोगोंने इसकी बड़ी कोशिश की है। यहाँ खींचतानकी अपेक्षा सीधा अर्थ ही ठीक जँच जाता है। सत्रहवें अध्यायके "देवद्विजगुरुप्राज्ञ" आदि (१७।१४-१६) श्लोकोंमें जिन तीन प्रकारके तपोंको गिनाया है उन्हीके करनेवाले तपस्वी हुए। ज्ञान और विज्ञानका विभेद बताते हुए पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ पढ-सुनके जो जानकारी किसी बातकी हो जाती है वही है ज्ञान और उसे जिनने प्राप्त कर लिया वही हुए ज्ञानी। सभी प्रकारके श्रौत-स्मार्त्त या दूसरे ही सत्कर्मोंके करनेवाले हो गये कर्मी। मगर इन तीनोंसे ही तो काम पूरा होता नहीं। आत्माके साक्षात्कारके

लिये, जिसे विज्ञान भी कहते हैं, कुछ और भी विशेष यत्न और उपाय करने होते हैं, जिन्हें निदिध्यासन, ध्यान, योग या समाधि कहते हैं। इन्हें करनेवाले ही योगी कहे गये हैं। इससे साफ है कि योगी का काम है इन तीनोंकी कमियोंको पूरा करना। ये तीनों योगीके लिये मार्ग साफ करते हैं, योगकी तैयारी करते हैं। यह तो योगी हीका काम है कि उस योगको पूरा करे। वही आखिरी सीढ़ी है। उस पर चढ़ना ही होगा। तभी लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकेंगे। इसलिये योगीको सबोंसे श्रेष्ठ कहना सर्वथा युक्ति संगत एवं उचित है।

इस तरह कहनेके लिये तो योगीको सबसे ऊँचा बना दिया। मगर आखिर योगी भी तो सभी प्रकारके होते हैं। पूर्णयोग या योगकी सिद्धिके पहले जानें कितनी ही छोटी-मोटी सीढ़ियोंसे उसी योगकी दशामें ही गुजरना पड़ता है, जैसा कि "शनैः शनैः" और "अनेकजन्मसंसिद्धः" से स्पष्ट है। इसलिये इन सब हालतोंसे सफलतापूर्वक गुजरते हुए यदि ब्रह्मानन्दमें गोते लगाने हैं तो दो बातें अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं। एक तो अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें अटल विश्वास, जिसे श्रद्धा कहते हैं। यह विश्वास जब किसी भी हालतमें जरा भी डिग न सके तभी लक्ष्य-सिद्धि हो सकती है। यही बात पहले "योगोऽनिर्विण्णचेतसा" में कही गई है। दूसरी यह कि वह लक्ष्य अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार ही है, अपनी ही आत्माको सबमें ओत-प्रोत देखना ही है, इसी निश्चयके साथ शुरूसे ही पूरी लगन और धुनके साथ मनको उसीमें लगाया जाय। इसीको भजन कहते हैं। मनको ही अन्तरात्मा भी कहते हैं। जो ऐसा करता है वही योगारूढ़ है, वही योगियोंमें भी सबसे ऊँचे दर्जेका है, वही युक्ततम है। यही बात अन्तिम श्लोक यों कहता है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सभी योगियोंमें भी जो मुझ आत्मारूपी परमात्मामें श्रद्धाके साथ मन को जमाके उसीमें डूबा रहता है मेरे मतसे वही युक्ततम है।४७।

इस अध्यायमें छे बार सम शब्दका प्रयोग आया है और वह है ८,९,१३, २९,३२,३३ श्लोकोंमें। इनमें १३वेंमें तो एक सीधमें या तने रखनेके अर्थमें ही है। शेष पाँचमेंसे ८,९ और २९में अद्वैत-आत्मज्ञानवाला समदर्शन ही इसका अभिप्राय है। उस दर्शनका जो परिणाम व्यवहारमें होना चाहिये वही ३२वेंमें आया है। फलतः उससे भिन्न अर्थवाला यह भी नहीं है। इसीका उल्लेख मात्र ३३वेंमें आया है। इससे स्पष्ट है कि कर्मयोगवाला "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा" इनमें एक भी नहीं है। यह ठीक है कि यह समदर्शन उसका आधार जरूर है। इसके बिना वह होई नहीं सकता।

इस अध्यायका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ध्यान या समाधि है यह तो हम पहले ही अच्छी तरह लिख चुके हैं। इसी समाधिके सिलसिलेमें इस अध्यायमें भी "ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा"में एकबार तीसरे अध्यायकी ही तरह ज्ञान-विज्ञान शब्द भी आ गया है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योग शास्त्रमें
जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका
ध्यान-योग नामक छठाँ अध्याय यही है।



सातवाँ अध्याय

जैसा कि हमने पहले ही गीताके अध्यायोंको संगतिके सिलसिलेमें कहा है और अवसर पाके बोचके गत पाँच अध्यायोंमें लिखा है, गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषयोंका निरूपण यहीं पूरा हो जाता है। इन छे अध्यायोंके बाद कोई भी प्रतिपादनीय मुख्य विषय रह जाता नहीं है। यों तो, जैसा कही चुके हैं, दो और तीन अध्यायोमे हो ज्ञान और कर्म रूप दोनों ही मुख्य विषय आ चुके हैं। मगर उनके कुछ प्रधान पहलू रह जाते हैं और उन्हींका निरूपण शेष तीन अध्यायोंमें किया गया है। इस तरह ज्ञानके स्वरूप, संन्यास और ध्यान या समाधि पर पूरा प्रकाश पड गया है। यही ज्ञान है। इन विषयों और उनके मुख्य पहलुओं पर पूरा प्रकाश डालनेके लिये जो कुछ भी निरूपण अबतक हुआ है उससे इन विषयोंका केवल परोक्ष या दिमागी ज्ञान काफी हो जाता है। इसीसे इस समूचे निरूपण एवं प्रतिपादनको भी ज्ञान कहते है, जैसे तेरहवे अध्यायमे ज्ञानके साधनों और उपायोको ही "एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं" (१३।११) में ज्ञान कहा है।

लेकिन इतनेसे ही काम नही चलता। एक तो ज्ञानको ही और भी मजबूत बनानेके लिये बारबार उसके सम्बन्धमें खोद-विनोद करने और सोचने-विचारनेकी जरूरत होती हैं। इसो चीजको पुराने लोग मनन कहते आये है। पहले पढ़ या सुनके जो ज्ञान होता है उसीकी मजबूती इस मननसे होती है। पढ़ने-सुननेको श्रवण कहते है। श्रवण और मननके बाद जो तीसरी बात की जाती है, जिससे जानी-सुनी चोजकी प्रत्यक्ष जानकारी हो जाय, उसीका नाम निदिध्यासन है। उसका निरूपण छठे अध्यायमे किया गया है। मगर यह निदिध्यासन उन्हीके लिये है जो साक्षात्कार या प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते है। उनके उपदेशक तथा आचार्य तो यह करत नही। क्योंकि उन्हे तो पहलेसे ही साक्षात्कार होता है। लेकिन वह शिष्योंको, जिन्हे उनने श्रवण, मनन कराया है, इतनी मदद दे सकते है जिससे उनका निदिध्यासन आसानीसे हो सके। इसीको आजकी भाषामें प्रयोग (experiment) कहते है। इससे सुनने और विचारनेवालोंको इतनी आसानी हो जाती है कि पीछे यही काम वह खुद भी कर सकते और दूसरोंको सिखा सकते हैं। इस प्रयोगके बिना उन्हे दूसरोंको उपदेश देनेकी पूर्ण योग्यता शायद ही हो सके। जिसे पहले कहा था उसीको पोछे कर दिया—कह सुनायेको कर दिखाया। इसपर पहले भी लिखा गया है।

सातवेसे लेकर दसवें और बारहवेंसे लेकर अठारहवें अध्याय तक मननका हो

काम किया गया है। हाँ, अठारहवेंमें सभी बातोंका उपसंहार भी किया है। अधिकांशमे उसे उपसंहारका ही अध्याय कहना चाहिये। यों तो उपसंहार करनेमें भी पूरा मनन होई जाता है। केवल ग्यारहवें अध्यायमें निदिध्यासनके सहायतार्थ उन्ही बातोंका प्रयोग (experiment) करके अर्जुनको साफ-साफ दिखा दिया गया है। आत्मासे जुदा परमात्मा है नहीं और यह जगत् भी परमात्मासे पृथक् न होके उसीका स्वरूप है, यही बात अर्जुनको उस अध्यायमें प्रत्यक्ष दिखाई गई है। फलतः यह प्रयोग नहीं है तो और है क्या ? मालूम होता है, किसी प्रयोग-शालामे बैठके कोई पक्का जानकार चेलेको प्रयोगके द्वारा चीजें दिखा रहा है। मननकी सबसे ज्यादा जरूरत पड़ती है, सो भी निरन्तर। इसीलिये प्रयोगके बाद भी मनन जारी रखा गया है। यदि मनन न रहे तो सारा प्रयोग बेकार हो जाय और भूल जाय। यह भी भूलना न चाहिये कि श्रवणकी तरह मननके समय भी ज्ञान होता ही है। उसके बिना मनन होगा कैसे ? इसीलिये आगे जो विज्ञानके लिये मननके रूपमे बातें कही गई हैं उन्हें केवल विज्ञान न कहके "ज्ञानं विज्ञान-सहितम्" (९।१) या "ज्ञानं सविज्ञानं" (७।२) में ज्ञानके सहित विज्ञान या ज्ञान-विज्ञान दोनों ही कहा है। विज्ञानमें तो संशयकी गुंजाइश रही नहीं जाती। इसीलिये सातवेंके शुरूमें ही 'असंशयम्' कह दिया है।

छठें अध्यायके अन्तमें जो आत्म-साक्षात्कारके लिये यह कहा है कि मुझ पर-मात्मामें ही मन लगाके मुझीमें डूब जाओ, तभी काम पूरा होगा, उसी बातको लेके सातवें अध्यायका श्रीगणेश होना इसीलिये उचित भी है। जब साक्षात्कारकी आखिरी बात और उसका अन्तिम एवं ध्रुव मार्ग यही बताया गया है तब तो मनन और निदिध्यासन करानेके साधनोंके रूपमे उसी पर विशेष प्रकाश डालना ही होगा। यह बात ऐसी भी नही कि किसीके प्रश्न करने पर कही जाय। यह तो आम बात है। सभी जानकार यही करते हैं। इसके लिये प्रश्न करनेकी कोई जरूरत हुई नही। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नके बिना ही स्वयमेव—

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान बोले—हे पार्थ, मुझ परमात्मामें मनको जोड़के और मुझीको सब कुछ समझके योगका अभ्यास करते हुए मुझे पूरीतौरसे निस्सन्देह जिस तरह जान सकोगे वही बात सुनो ।१।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

(लो,) मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान दोनों पूरा-पूरा अभी बताता हूँ, जिसे जाननेके बाद इस दुनियामें और कुछ भी जानने योग्य रही न जायगा।२।

यहाँ "इदं वक्ष्यामि"का "वक्ष्यामि" पाणिनिके "वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्त-मानवद्वा" (३।३।१३१)के अनुसार फौरन कहनेके ही मानीमें बोला गया है। ऐसे मौके पर 'लो, जाता हूँ' आदिके ही अर्थमें "एष गच्छामि, एष गमिष्यामि, इदं गमिष्यामि" आदि बोलनेकी पुरानी रीति है। और इसके बाद ही चौथे श्लोकसे वही बात फौरन शुरू भी तो हो गई है। बीचमें जो तीसरा श्लोक आया है वह तो इस विज्ञानकी दुर्लभता और कठिनाईको ही बताता है, ताकि उधर पूर्ण रूपसे लोगोंका ध्यान आकृष्ट हो सके और हम गौरसे सारी बातें सुन सकें विचार सकें।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

(एक तो) हजारों आदमियोंमें (शायद ही कोई) योगसिद्धि और ज्ञानप्राप्तिके लिये कोशिश करता है (और) योगकी सिद्धिको प्राप्त हुए इन यत्न करनेवालोंमें भी (शायद ही) कोई मुझ परमात्माको यथार्थतः जानता—मेरा साक्षात्कार करता—है।३।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रधान या मूल प्रकृति—इस प्रकार यह मेरी प्रकृति—माया—हीके आठ विभाग हैं।४।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहु, यह तो अपरा या नीचे दर्जेवाली मेरी प्रकृति है। (लेकिन) इससे निराली जीवरूपी मेरी उस परा या श्रेष्ठ प्रकृतिको भी तो जान लो, जो इस (समूचे) जगत्को कायम रखती है।५।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

इन्हीं (दोनों प्रकृतियों)से ही सभी पदार्थ बनते हैं ऐसा निश्चय कर लो। (अन्ततोगत्वा तो इस तरह) मुझसेही सारा संसार पैदा होता है और मुझीमें समा जाता है।६।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।।

(क्योंकि) हे धनंजय, मुझसे बड़ा (तो) कोई हई नहीं। यह सब कुछ (दृश्य जगत्) मुझमें उसी तरह पिरोया हुआ है जैसे मालाके दाने सूतमें ।७।

यहाँ चौथे श्लोकका अर्थ समझनेके लिये पूर्व का गुणवाद प्रकरण पढ़ लेना जरूरी है। वहीं इसका पूर्ण स्पष्टीकरण मिलेगा। परमात्माके सिवाय इस दृश्य तथा अदृश्य जगत्के मूलमें दो पदार्थ है, जिन्हे जीव और माया या प्रधान कहते है। प्रधानको ही प्रकृति भी कहते है। प्रकृतिका अर्थ है मूल कारण। यहाँ पर जीव और प्रधान दोनोंको ही प्रकृति कहा है, जिनमें प्रधान नीचे दर्जेकी और जीवात्मा ऊँचे दर्जेकी है। इन्हीं दोसे सारे जगत्का पसारा हुआ है। मगर इन दोनोंका भी पसारा अन्तमें ब्रह्म या परमात्मासे ही है। फलतः उसके सिवाय और कोई सत्य पदार्थ हई नहीं। इन दोनोंमें जीवात्मा तो परमात्माका रूप ही है। किन्तु प्रकृति, माया या प्रधान अनिर्वचनीय, अनादि और मिथ्या है। इस तरह ब्रह्म-आत्माके अलावे सत्य वस्तु जब कोई हई नहीं तो द्वैत या विभिन्नताका प्रश्न उठता ही कहाँ है? ये सारी बातें भी गुणवादके ही प्रसंगसे वहीं लिखी है। मालेके दाने और सूतका दृष्टान्त देकर इतना ही कहा है कि जैसे सूतके बिना दाने अलग हो जायँगे और माला रही न जायगी, साथ ही, जैसे हर दानेके भीतर सूत मौजूद है, ठीक उसी तरह परमात्मा या आत्माके बिना सभी पदार्थ बिखर जायेंगे और यह जगत् रही न जायगा। सूतकी तरह परमात्माने ही सब पदार्थोंको पकड रखा है, रोक या धर रखा है। आखिर आत्मा तो सभीकी होती है न? फलतः उसके बिना कोई चीज रहेगी ही कैसे? इसलिये वही सबोंको जरूर ही धारण करनेवाली है। यह बात भी पहले खूब बता चुके है।

आगेके पाँच (८-१२) श्लोकोमे थोडा-सा नमूनेके तौर पर इस बातका विवरण दिया गया है कि परमात्मा या आत्मा सूतकी तरह पदार्थोंमें कैसे व्याप्त है, पदार्थ उनमे पिरोये हुए है। इसका विशेष विवरण कुछ तो नवें (१६-१९) और बहुत अधिक दसवें अध्यायमें दिया गया है। जो भी हो, इस विवरणके पढ़नेसे मालूम पडता है कि या तो कोई विशेषज्ञ और पूरा जानकार आदमी किसी पाठशालेमे बैठके अपने शिष्योंको यह बात समझा रहा है कि किस प्रकार औक्सीजन और हाईड्रोजनके मिलानेसे, संयोगसे ही पानी बनता है; इसीलिये इन दो अदृश्य वायुवोंके अलावे पानीकी कोई स्वतंत्र सत्ता नही है, हस्ती नहीं है, या कोई वेदान्ती जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओंको बता रहा है कि सपनेमें जितनी चीजें

नजर आती हैं, जो भी पदार्थ देखे जाते है, वह देखनेवालेसे वस्तुतः जुदा हैं नहीं; हालाँ कि जुदा तो साफ ही मालूम होते है। इसीलिये जागने पर देखनेवालेके सिवाय और कुछ भी पाया जाता नहीं। सिर्फ नींदके ही करते यह सारा तूफान और प्रपंच बन गया होता है। क्योंकि दर असल नींदके ही चलते उम देखनेवाले को होश नहीं रहता, उसे अपनी सुघबुध नही रहती। इसीलिये दुनिया भरकी अंटसंट चीजें बातकी बातमे यों ही रच-बनाके देखता-सुनता है। ठीक उसी तरह भगवानकी मायाके ही करते उसे भी आपा बिसर जैसा गया है। फलत. सपनेकी तरह सारे जगत्को यों ही बातकी बातमे बनाके देख रहा है। नहीं तो दरअसल उसके अलावे और कुछ है वै नही। इसीलिये जैसे नीदके पहले कोई चीज न रहने पर भी सपनेमें देखनेवालेसे ही सपनेकी सारी चीजें बनके नीद खुलते ही उसीमें जा मिलती है, उसी तरह यह सारा जगत् परमात्मासे ही बनके उसीमे जा मिलता है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौन्तेय, (देखो न,) मै ही तो जलमें (उसका सार) रस हूँ। चन्द्र और सूर्यका सार प्रकाश भी मैं ही हूँ। सब वेदोंमें (उनका सार) प्रणव या ऊँकार भी मैं ही हूँ। आकाशमें शब्द (और) मनुष्योंमें पौरुष—मर्दानगी—भी मैं ही हूँ।८।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वीमे सुगंध, अग्निमें तेज, सभी पदार्थोंमे जीवन (और) तपस्वियोंमें तप मैं ही हूँ।९।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ, सभी पदार्थोंका सनातन मूलकारण मुझीको जानो। बुद्धिमानोंमें बुद्धि तथा तेजस्वियोंमें तेज मैं ही हूँ।१०।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरतर्षभ, बलवानोंमें कामना और रागसे रहित जो बल है वह मै ही हूँ। प्राणियोंमें जो कामना धर्मकी विरोधी नहीं हो वह भी मै ही हूँ।११।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

(इस तरह संक्षेपमें) जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस पदार्थ पाये जाते हैं सबके सब मुझ परमात्मासे ही बने हैं। (लेकिन याद रहे कि) मैं उनमें नहीं हूँ, (किन्तु) वही मुझमें हैं।१२।

ऊपरके इन पाँच श्लोकोंमें इस सृष्टिके मूलकारणका जो उल्लेख आया है वह कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि सृष्टिके कुछी पदार्थोंको चुनके उन्हींके बारेमें चार श्लोकोंमें कह दिया है कि उनको आत्मा, उनका हीर, उनकी असलियत मैं ही हूँ, आत्मा ही है, परमात्मा ही है। किन्तु पाँचवें श्लोकमें तो सात्त्विक, राजस, तामस शब्दोंमें त्रैगुण्य या सभी पदार्थोंको सामान्य रूपसे लेकर वही बात कह दी गई है। कुछ चुनेचुनाये पदार्थोंके बारेमें ऐसा करनेका एक खास प्रयोजन अन्तमें इसी अध्यायमें कहेंगे। यहाँ यही देखना है कि उनमें भी पाँच भूतोंमें पृथ्वी, जल, तेज और आकाश इन चारको ही पृथक्-पृथक् गिनाया है और वायुको इस रूपमें छोड़ दिया है। इन चारोंके जो असली गुण या परिचायक हैं, इनकी जो विशेषतायें (characteristics) हैं, और इसीलिये जिन्हें इनकी आत्मा कह सकते हैं, उन्हींको परमात्माका रूप बना दिया है। सचमुच ही यदि भूमिसे गन्धको, आकाशसे शब्दको, अग्निसे तेजको और जलसे रसको निकाल लें तो उन पदार्थोंका अपना क्या रह जायगा ? उन्हें फिर भी पृथ्वी, जल आदिके नामसे कोई पुकारेगा भी क्या ? तब तो वे लापता ही होंगे। उनके अस्तित्वका कोई भी प्रमाण रही न जायगा। भूमिमें दार्शनिकोंने गन्ध ही सब कुछ माना है। जहाँ वह न भी मालूम हो वहाँ भी रहता हो है। लोहे, पत्थर वगैरहमें मालूम न होने पर भी उनके भस्ममें स्पष्ट ही मालूम होता है।

रह गया वायु। असलमें यदि देखा जाय तो इस भौतिक सृष्टिके मूलमें जो पाँच भूत हैं उनमें वायुका ही महत्त्व सबसे ज्यादा है। अन्य पदार्थोंके बिना तो सभी पदार्थ कुछ देर टिक भी सकते हैं। मगर हवाके बिना एक मिनट भी टिकना असंभव हो जाता है। उसे प्राण भी इसीलिये कहा है कि वह सबोंको कायम रखता है, उनमें हलचल या क्रिया जारी रखता है। असलमें क्रिया ही तो अस्तित्वका लक्षण है और वह है वायुकी ही चीज। इसीलिये छठे अध्यायमें कहा है कि वायुको रोक देना या उसकी क्रिया बन्द कर देना असंभव है। तब तो दुनिया ही खत्म हो जायगी। शरीरके भीतर खूनका संचार क्षण भर भी रुका कि मरे। पदार्थोंके भीतरसे नये-पुराने परमाणुओंका जाना-आना रुका कि वे खत्म हुए। यही कारण है कि वायुके हीरको—सारको—लेनेकी अपेक्षा समूचे वायुको ही "जीवनं सर्व भूतेषु" (७।९) में जीवन शब्दसे ले लिया है। जीवनका सीधा अर्थ है प्राण। मगर दरअसल उसके मानी हैं अस्तित्व जिससे कायम रहे,।

या स्वयं अस्तित्व ही। वायुको जीवन भी कहते हैं। पानी भी तो दो वायुवोंके संमिश्रणसे ही बनता है। इसीलिये उसे भी कहीं-कहीं जीवन कहा गया है। वायुको भूतोंमें न गिननेका एक और भी कारण अन्तमें इसी अध्यायमें हमने दिखाया है।

इस प्रकार जगत्के मूल भूत पंचभूतोंको ही आत्माका रूप बना दिया है। इसके बाद कुछ खास-खास चीजें चुन ली हैं। इनमें सूर्य और चन्द्र भी आये हैं। सचमुच ही ये दोनों जगत्के बड़े कामके हैं। चन्द्रके बारेमें तो पन्द्रवें अध्याय में कह दिया है कि अमृत या रसके रूपमे सभी अन्नादिको पुष्ट करता है जिन्हें खाके सभी पुष्ट और जीवित रह सकते हैं। इसी प्रकार सूर्य समस्त शक्तियोंका भंडार, सभी शक्तियोंका देनेवाला पहले भी माना गया है। आजके विज्ञानने भी ऐसा ही माना है। अब यदि इन दोनोंके प्रकाशको हटा लें तो इनमें रहेगा ही क्या ? असलमें सूर्यको तो "प्रकाशका पुंज ही" कहा है, "तेजसांगोलकः सूर्यः" चन्द्रमामे भी सर्यका ही प्रकाश माना जाता है। उसे प्रकाशका स्वतंत्र पुंज नहीं माना है। यही कारण है कि दोनोंका सार प्रकाश ही बनाया गया है। यदि प्रकाशके अलावे इन दोनोंमें और भी स्थूल पदार्थ मानें, जैसा कि आजके वैज्ञानिक बताते हैं, तो भी क्या ? प्रकाश निकाल लेने पर इन दोनोंको चन्द्र और सूर्य तो कोई भी न कहेगा। बस यहाँ यही आशय है।

हिन्दू लोग वेदोंको सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। उन्हे ज्ञानागार भी मानते हैं। असलमे वेद शब्दका अर्थ ही है ज्ञान या ज्ञान देनेवाला। इसीलिये वेद कहनेसे सभी सद्ग्रन्थों और ज्ञान देनेवाली पोथियोंसे मतलब होता है। फिर चाहे वह किसी धर्मकी हों, या उन्हे धर्मसे कोई वास्ता न भी हो, और केवल औषधियों आदिकी हजारों वैज्ञानिक जानकारियाँ कराये। पुराने लोग प्रणव या ॐकारको ही सब वेदोंका निचोड मानते थे, "ॐकार· सर्ववेदाना सारस्तत्त्वप्रकाशकः। ॐमे भी अ, उ, म् ये तीन अक्षर माने गये हैं, जिनमे प्रधानता अकारकी ही है। अकार ही समस्त व्यंजनोंके उच्चारणका सहायक माना गया है। ऐसा भी लगता है कि सभी स्वर अक्षरोके मूलमें यह अकार ही है। क्योंकि उनके उच्चारणमे पहले अकारका ही आभास होता है। अब तो नई वर्णमालामे इस प्रकारसे ही शेष स्वरोंको बनाने भी लगे हैं। इस प्रकार सभी अक्षरोंके मूलमें अकारके होनेसे और सभी ग्रन्थोंके इन अक्षरोंसे ही बने होनेके कारण सबोंके मूलमे यह अकार आ जाता है, और वही है आत्माका रूप।

पुरुषोंमे पौरुष या मर्दोंमें मर्दानगी, तपस्वियोंमें तप, बलवानोंमें बल, तेजस्वियोमें तेज और बुद्धिमानोंमें बुद्धि यही पाँच चीजें और भी ली गई हैं। असल,

में अर्जुन जैसे तेजस्वो, बली, बुद्धिमान और मर्दका खयाल करके ही ये बातें कही गई हैं। वह तो तप करनेके लिए भी जंगलकी शरण लेनेको तैयार ही था। इसीलिये तप भी आ गया है। इन पाँचोंकी दुनियामें भी बड़ी कद्र है। अर्जुन भी कहीं समझता हो कि मैं भी कुछ हूँ। इसलिए साफ ही कह दिया कि ये सभी चीजें परमात्मा रूपी ही है। फिर तुम्हारी अलग हस्ती हुई क्या? तुम स्वतंत्र करी क्या सकते हो?

इन सभी पदार्थोंके सिलसिलेमें दोई बातें और आई हैं। एक तो पृथ्वीके गन्धको पुण्य या सुन्दर गन्ध कहा है, जिससे पता लगता है कि दुर्गन्ध परमात्मा-का रूप नहीं है। दूसरे काम या कामनाको भी कहा है कि वह धर्म-विरोधी न हो तो भगवानका रूप ही है। फलतः धर्म-विरोधी कामना या अभिलाषा उसका रूप नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि गीताने दुर्गन्धकी स्वतंत्र सत्ता न मानके उसे विकार या खराबी ही माना है, और सृष्टिके प्रसंगमे विकार या खराबोके कहनेके मानी हो जाने है सृष्टिके नाशके। इसीलिये उसे छोड दिया। इसी तरह "धर्मो धारयतेप्रजा." के अनुसार धर्म उसीको कहते है जो सृष्टिको कायम रखनेमे सहायक हो। फलत धर्म-विरोधी चीज सृष्टिका नाशक बन जायगो। यही कारण है कि सृष्टिकी बाते गिनानेमं प्रलयके सामानोंको छोड़ दिया है।

अन्तमें तो "बोजं मां सर्वभूताना"में यह भी कह दिया है कि यह तो नमूनेके रूपमें कुछी पदार्थोंको गिनाया है। असलमें तो सभी पदार्थोंका सनातन बीज परमात्मा ही है। आमका बीज गुठली भले ही हो। मगर वह तो सनातन नहीं है। वह तो खुद भी नष्ट हो जाती और पैदा होती है। फलतः उसका भी बीज कोई न कोई हुई। इस तरह बढ़ते-बढ़ते अन्तमें ऐसी जगह पहुँचना होगा जिस बीजका नाश नही होता, जो सदा रहता है और जिससे सभी पदार्थ क्रमशः बनते हैं, पैदा होते है। वही है मूल कारण या सनातन बीज और वह आत्माके सिवाय और कुछ नहीं है।

आखिरी श्लोकमें जो यह कहा है कि सभी पदार्थ मुझ परमात्मामें ही हैं, न कि मैं ही उनमें हूँ, उसका कुछ मतलब है। अब तक रस, गन्ध आदिके रूपमें सभी पदार्थोंके जिन मूल कारणोंको बताया है उन्हें देखनेसे पता चलता है कि वे उन्हीं पदार्थोंमें रहते है। सप्तमो विभक्ति लगा-लगाके यही कहा भी गया है। मालाके दानेका जो दृष्टान्त दिया है उसमे भी सूत दानोंके भीतर ही है, न कि दाने सूतके भीतर। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि परमात्माके आधार ये भौतिक पदार्थ ही है, इसलिये कहना पडा कि मैं उनमें नहीं हूँ, किन्तु वही मुझमें

है—वे मेरे आधार नही है, किन्तु मैं उनका आधार हूँ। पदार्थोंको आधार माननेसे अन्ततोगत्वा उनका स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही पडता और इस तरह अद्वैतवाद या सर्वभूतात्मभूतात्मावाला गीताधर्म लागू हो पाता नहीं। इसलिये ऐसा कहना जरूरी हो गया। इस कथनका तात्पर्य यही है कि इस प्रकार हर पदार्थोका विश्लेषण करते-करते अन्तमे इनका पता कुछ नही लगता। एक आत्म-रूपी परमात्मा ही सबोके मूलमे रह जाता है। उसीमे इनकी कल्पना सपनेकी तरह हुई है। इसीलिये इन्हे देखके इनके मूलका अन्वेषण करनेसे ही काम चलेगा जो इनमें न होके इनसे स्वतंत्र है। इसका विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायके आठवें खण्डमे आया है। वहाँ बार बार लिखा है कि "अन्नेन शुंगेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुंगेन तेजो मूलमन्विच्छतेजसा सोम्य शुंगेन सन्मूलयन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमा प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः"।

अन्तमे सात्त्विक आदि शब्दोंसे जो भौतिक पदार्थोको याद किया है उसका दूसरा प्रयोजन भी है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसी जानकारी सबोको क्यों नही होती? इसका समाधान जरूरी है। यों तो तीनो गुणोके भीतर जगत् आई जाता है। फिर भी इन त्रिगुणात्मक पदार्थोकी यह खूबी है कि ये अपने भीतर ही लोगोको फंसा लेते हैं। इनके फंसानेके कान-कोनसे तरीके हैं यह बात गुण-वादमे विस्तृत रूपसे कही जा चुकी है। नतीजा यह होता है कि इनसे आगे हम बढने पाते ही नही। इनका फन्दा ऐसा ही जो ठहरा। लोभी बनिये की तरह हम बारह महीने, तीस दिन जीवनभर यही सोचते रह जाते हैं कि बच्चोके लिए थोडा यह कर ले, वह कर ले, तो फिर भगवानको याद करने कही अलग चलेंगे। जरा मन्दिर बना ले, तीर्थ कर ले, दान-पुण्य कर ले कथा-वार्ता सुन ले, तो फिर विरागी बनेंगे। ऐसा ही सोचते-सोचते और करते-करते जीवन खतम हो जाता है और आगे बढ पाते नही। इसीलिए कह दिया है कि इन पदार्थोंमें मै नही हूँ, यही मुझमे है। इन्हे छोडो तो मुझे पाओगे। बिना ऐसा किये आत्मा-परमात्माको पहचानना असंभव है। ये मायाके ही गुण और पदार्थ है और माया तो ठगनेवाली ही ठहरी न? उसने उसी रस्सीमे फाँस लिया है। उसकी हजार चालें हैं। जबतक इनसे हटके परमात्माकी ओर बिल्कुल ही लग न जायें तबतक न तो मायासे—इस बडी नीदसे—पिंड ही छूटेगा, न जगेहीगे और न इन पदार्थोका पूर्वोक्त रहस्य समझ सकेंगे। यही बात आगेके श्लोकोंमें कही गई है। वहाँ इस जगनेका, इस ज्ञानका महत्त्व सुझाया गया है। यह भी बताया गया है कि परमात्माकी ओर मुखातिब होनेवाले भी लोग भटक जाते है। इसलिये सजग रहना होगा।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंमें ही फँसके भूला हुआ यह संसार इनसे निराले और अविनाशी मुझ भगवानको ठीक-ठीक समझ पाता नहीं ।१३।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

(ऐसा इसीलिये होता है कि) विलक्षण चमत्कारवाली, जिससे पार न पाया जा सके ऐसी (तथा) अनेक गुणों—फँसानेके साधनों—वाली मेरी माया ही तो आखिर यह सब कुछ है । (इसीलिए) जो लोग केवल मुझ परमात्मामें ही लग जाते हैं वही इस मायासे पार पाते हैं ।१४।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

(विपरीत इसके) जो मनुष्योंमें अधम, दुष्कर्मी, आसुरी प्रकृतिवाले (और) मूढ़ हैं—विवेकशून्य हैं (और) जिनका ज्ञान मायाने हर लिया है वह तो मुझमें कभी लगते नहीं ।१५।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन, हे भरतर्षभ, (जो) सुकर्मी जन मुझ परमात्मामें लगते हैं वे चार प्रकारके होते हैं—धन चाहनेवाले, कष्टमें पड़े हुए, ज्ञानकी इच्छावाले और ज्ञानी ।१६।

यहाँ यद्यपि श्लोकमें क्रम दूसरा है तथापि असली क्रम इन चारोंका वही है जो हमने लिखा है । श्लोकमें छन्द रचनाके लिए ही उलट फेर करना पड़ा है । दरअसल भगवानकी ओर मुखातिब होनेवाले भी पहले धन-सम्पत्तिमें ही फँस जाते हैं, वहींतक रह जाते हैं । यदि कोई आगे बढ़ा भी तो एकाध भारी संकट आते ही उसीसे त्राण चाहके वहीं फँस जाता है । हाँ, जो इन दो फन्दोंसे पार हो जाते हैं उनमें पहले तो यही भावना होती है कि मुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो । यह ठीक भी है । भटकना तो यह है नहीं । क्योंकि यही असली सीढ़ी है । इसी इच्छासे भगवानकी तरफ जाने और उसमें लग जानेवाले ही पीछे ज्ञानी होते हैं, जो समस्त जगत्को अपना स्वरूप ही देखते हैं । इस तरह यदि देखा जाय तो परमात्माकी ओर जानेवाले सभीके सभी लोग पामरोंसे तो अच्छे ही हैं ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

एक—अद्वैत ब्रह्मात्मा—हीमे लीन ज्ञानी उन (चारों) में (भी) श्रेष्ठ है। क्योंकि मै ज्ञानीका सबसे प्यारा हूँ और वह भी मेरा सबसे प्यारा है।१७।

आखिर आत्मासे—अपने आपसे—बढ़कर अपना प्यारा होगा कौन ? और ये ब्रह्म एवं ज्ञानी तो परस्पर एक दूसरेकी आत्मा होई चुके है। वे एक दूसरे से जुदा नही है, पृथक् नहीं हैं। एककी हस्ती—सत्ता—दूसरेसे जुदा हुई नहीं। ज्ञान के यही मानी है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

(यों तो) सभी अच्छे ही हैं। (लेकिन) ज्ञानी तो मेरी (अपनी) आत्मा ही है। क्योंकि वह मुझीमे मनको जोड़ता तथा मुझसे बढके दूसरा कुछ भी मानता ही नही।१८।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों (मे यत्न करते-करते तब कही सब)के अन्तमे ज्ञान प्राप्त करके 'यह सब कुछ भगवान ही है' इस प्रकार मुझ परमात्मामे जो लग जाता है वही अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है।१९।

लेकिन कोई ऐसा न समझ बैठे कि इस प्रकार चार ही ढंगके लोग भगवान की ओर बढते है, इसीलिये गीताके श्रद्धावाले सिद्धान्तके अनुसार, जिसका पूरा वर्णन पहले ही किया जा चुका है, यह बताना जरूरी हो गया कि और भी लोग है जो घूमघामके भगवानकी ओर जाते है, न कि सीधे। फर्क यही है कि ये चार सीधे जाते है। इसलिये इन्हे वहाँ औरोंकी अपेक्षा शीघ्र पहुँचनेका मौका है। बेशक, इन चारोंकी अपेक्षा शेष लोग भूले हुए जरूर माने जाने चाहिये। क्योंकि वे यह समझते है कि भगवान तो केवल मुक्ति देता है, बाकी पदार्थ तो दूसरे देवता लोग ही दे सकते है, देते हैं। अपनी अनेक प्रकारकी कामनाओंके करते वे अन्धे हो जाते है और सोचने लगते है कि भला ये तुच्छ चीजें भगवान क्या देंगे ! इसीलिये भटकते भी तो है। क्योंकि उन्हे जानना चाहिए था कि जो कुछ भी देना-दिलाना या करना-कराना हो केवल भगवान ही करते है। औरोकी ओर नजर करना ठीक वैसा ही है जैसा कुत्तेका खून-मासके लिए सूखी

हड्डी चबाना। वे बिचारे ऐसा इसीलिए करते हैं कि गुण-कर्मके अनुसार उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक प्रकारकी कामनाओंके चलते समझ खराब हो जानेसे (बहुतेरे लोग) अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विभिन्न देवताओंकी शरणमें उन्हीं-उन्हीके नियमोंके अनुसार जाते हैं।२०।

यहाँ प्रकृतिका स्वभाव अर्थ है। उसमें दो बातें आती हैं। एक तो उसीके अनुसार भगवानको छोड़के सामान्यतः राजस, तामस आदि खयालसे दूसरे देवताओंकी ओर झुकते हैं। दूसरे विशेष रूपसे कौन किस देवताकी ओर झुकेगा इसमें भी प्रकृतिसे पैदा हुई रुचि कारण है। इसपर विशेष प्रकाश पहले ही डाल चुके हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हितान् ॥२२॥

जो-जो भक्त जिस-जिस देवताकी पूजा श्रद्धासे करना चाहता है उस-उसकी उसी श्रद्धाको मैं—परमात्मा—अचल बना देता हूँ (और) वह उसी श्रद्धाके साथ उस (देवता) की आराधना करता भी है। (मगर) उसके बाद अपनी इच्छाके अनुकूल मेरे ही दिये पदार्थोंको पाता है।२१।२२।

इन श्लोकोंके श्रद्धा और भक्त शब्द महत्त्व रखते हैं। इन दोनोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जबतक अपने लक्ष्यमें पूर्ण विश्वासके साथ सच्चे दिल और ईमानदारीसे कोई काम न करे तबतक सफलता नहीं मिलती है और अगर ये बातें हैं तो वह चाहे कुछ भी करे सब ठीक ही है। जो श्रद्धा-भक्ति भगवानके सम्बन्धमें होती है वही यहाँ भी है। फर्क यही है कि लक्ष्य और रास्ता बदल गया है। लेकिन यदि श्रद्धा-भक्तिमें कमी हो गई तो सब चौपट ही समझिये। तब तो कोई भी लक्ष्य सिद्ध होगा नहीं। श्रद्धाके अचल होनेके यही मानी हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

(फर्क यही होता है कि) उन नासमझोंको जो फल मिलता है वह अचिर-स्थायी होता है। (क्योंकि) देवताओंके पूजक (ज्यादेसे ज्यादा) देवताओं तक ही

पहुँच पाते है । (लेकिन) मेरे भक्त तो मुझ तक भी पहुँच जाते हैं—मेरा स्वरूप भी हो जाते है ।२३।

यहाँ 'मामपि'मे जो अपि शब्द है उससे 'मुझे भी' ऐसा अर्थ हो जाता है । अर्थात् भगवानके भक्त भगवान तक तो पहुँचते ही है । लेकिन दूसरे पदार्थो तक भी उनकी पहुँच होती है—उन्हे दूसरे पदार्थ भी प्राप्त होई जाते है । न कि वे भूखे-प्यासे मरते है । इसीलिये कह दिया है कि "योगक्षेमं वहाम्यहम्" (९।२२) । "आर्त्तो जिज्ञासु" (७।१६) मे भी कही दिया है कि भगवानकी भक्ति दूसरे-दूसरे उद्देश्योसे भी होती है । इसीलिये यहाँ यह कह देना जरूरी था कि मेरी भक्तिसे दूसरी चीजे भी मिलती है । मै तो मिलता ही हूँ । मगर "मियाँकी दौड मस्जिद तक" के अनुसार देवताओंके पूजक अधिकसे अधिक उन्ही तक जा सकते है ।

यदि यह प्रश्न हो कि वह लोग ऐसा क्यो करते है ? सभी भगवानको ही क्यों नही भजते ? क्योकि यहाँ तो दोनों हाथोमे लड्डू है, तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके है "हृतज्ञाना" और "प्रकृत्या नियताः स्वया" इन्ही शब्दोंसे । उसीका विवेचन आगेके दो श्लोकोमे है । असलमे ऐसे लोग चाहते तो है कि भगवानकी ओर चले । चलते भी है । लेकिन समझ तो होती नही । इसीलिये भौतिक वायु-मंडलमे पैदा होके उसीमे पले ये लोग उस परिस्थितिको डाँक सकते नही । फलतः इन्ही भौतिक स्थूल पदार्थोका ही देवी-देवताओंके रूपमे भगवान समझके पूजने लगते है । उनका भगवान कोई दूसरा तो होता नही । वैसा निराकार और अविभाशी भगवान तो उनकी नजरोंसे ओझल है । बीचमे वह ठगनवाली एवं अनेक युक्ति फैलानेवाली माया जो आगई है और उसीमे वे फँस गये हैं ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

मेरे निर्विकार, सर्वोत्तम एवं सबसे बढ़े-चढ़े अदृश्य स्वरूपको नासमझ लोग नही जानते (फलतः) मुझे स्थूल या भौतिक रूप ही मान लेते हैं । (क्योंकि) मैं तो अनेक हिक्मतवाली मायासे छिपा होनेके कारण सर्वसाधारणकी नजरमे आता नहीं । (इसीलिये) ये मूढ लोग मुझ अजन्मा (और) अविनाशीको ठीक-ठीक समझ पाते नही ।२४।२५।

इसपर प्रसंगवश फौरन ही यह प्रश्न उठता है कि जब भगवान और जन-साधारणके बीच मायाका बहुरंगा पर्दा है और वही भगवानको छिपाये हुए है,

जिससे लोग उसे देख नहीं सकते, तो वह भी लोगोंको, इस बाहरी दुनियाको कैसे देख सकेगा ? वह पर्दा तो समानरूपसे दोनोंकी ही दृष्टि रोकेगा। प्रत्युत जब भगवान मायासे घिरा है, आवृत है, बल्कि समावृत है, अच्छी तरह घिरा है, तब तो उसकी दृष्टि और भी संकुचित होनी चाहिये। विपरीत उसके जनसाधारण तो उसके सिवाय बाकी सभी पदार्थोंको बखूबी देख सकते हैं। क्योंकि उनके लिये तो केवल भगवान ही पर्देमें है न ? इसका चटपट उत्तर देके ही आगे बढ़ते हैं। उत्तर यों है—

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, मैं तो पुराने गुजरे हुए, वर्त्तमान एवं भविष्य सभी पदार्थोंको देखता हूँ। लेकिन मुझीको कोई नहीं देखता।२६।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

हे भारत, हे परन्तप, रागद्वेषसे पैदा होनेवाले द्वन्द्वके झमेलेके चलते सभी प्राणियोंको जन्मसे ही भूल-भूलैयाँमें पड़ जाना होता है।२७।

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

(लेकिन) जिन पुण्यकर्मा लोगोंके पाप खत्म हो चुके हैं, वे द्वन्द्वोंके झमेलेसे छुटकारा पाके मुझ परमात्माको ही बड़ी मुस्तैदीसे पकड़ लेते हैं।२८।

बीचमें प्रसंगवश जो इन तीन श्लोकोंमें लिखी बातें आ गई हैं उनके बारेमें कुछ और भी जान लेना आवश्यक है। यह ठीक है भगवानपर पर्दा होनेसे उसकी भी दृष्टि संकुचित होनेका प्रश्न पैदा होता है। उसका उत्तर देना भी इसीलिये जरूरी हो जाता है। इसीसे कह भी दिया है कि भगवान तो त्रिकालदर्शी है और सब कुछ जानता है। मगर लोग ही उसे जान नहीं सकते। इसका कारण भी यही है कि इस मायाकी नींदने भगवानको सुलाया तो है नहीं कि उसकी जान-कारी जाती रहे और वह सपने देखने लगे। यह तो जीवों या जनसाधारणकी ही नींद है, जिससे उनकी आँखें बन्द हैं। फलतः वे परमात्माको, जो उन्हींकी आत्मा है, देख नहीं सकते। इसीलिये जरूरत भी इस बातकी है कि भगवानमें लगन लगाके इस नींद एवं मायाको मिटाया जाय, जैसा कि पहले इसी अध्यायमें कह दिया है।

लेकिन इस प्रश्नकी जरूरत ही क्या थी, यह पूछा जा सकता है। यदि भगवानकी दृष्टि भी तंग हो जाय तो हमारा क्या बिगड़ता है ? अर्जुनका क्या

घटता था ? उसका काम तो वैसे ही चलता रहता । आखिर उसकी दृष्टि संकुचित से विस्तृत तो हो गई नहीं । यह बात पहले कही जा चुकी ही है ।

दरअसल अर्जुनकी और दूसरे लोगोंकी भी हानि जरूर ही थी यदि भगवानकी नजर भी तंग हो । क्योंकि तब तो गीताका जो उपदेश है और खासकर सृष्टिके सम्बन्धमे जो बातें कृष्ण कह रहे थे उनपर अविश्वास करनेकी ही नौबत आ जाती । जब साधारण लोगों जैसी ही या उनसे भी गई गुजरी समझ उपदेशकके पास हो तो उसकी बातका क्या ठिकाना ? उसमे विश्वास करेगा ही कौन ? इसलिये ही यह कहना पड़ा ।

लोगोंकी दृष्टि ऐसी क्यों होती है और भगवानकी नहीं यह बात २७वाँ श्लोक बताता है । यह ठीक है कि जीव और परमात्मा एक ही हैं । दोनोंमें वस्तुगत्या कोई भी फर्क नहीं है । फिर भी जीवोंके साथ अनादिकालसे काम-क्रोध तथा रागद्वेषका भारी पचड़ा लगा है और यही सब गुड़गोबर करता है । यह बात बार-बार कही गई है । तीसरे अध्यायके अन्तमें तो इसपर बहुत ज्यादा प्रकाश भी डाला गया है कि इन रागद्वेषोंके चलते क्या-क्या अनर्थ होते हैं और खत्म कैसे किया जा सकता है । किन्तु ये दोनों भगवानमे है नही । इसलिये वहाँ कोई गडबड़ हो पाती नही । इन रागद्वेषोंके चलते अपने-पराये, सुखदुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वोंके बखेड़े उठ खड़े होते हैं । फिर तो मनुष्यका मानस पटल पक्का अखाड़ा ही बन जाता है, उसकी गर्द उड़ जाती है, धज्जियाँ उड़ जाती है और चारों ओर अँधेरा जैसा छा जाता है । यही है द्वन्द्वसे होनेवाला मोह । इसीको दूसरे अध्यायमें क्रोधके भीतर ही शामिल कर दिया है । उसके बादवाले संमोहको ही यहाँ मोह कह दिया है । यही है किंकर्त्तव्य विमूढ़ता या भ्रम या अज्ञान । यह बात जन्मके साथ ही होती है । फिर तो ये रागद्वेष जरा भी मौका नहीं देते कि हम सँभल सकें । यही बात 'सर्गे यांति' (७।२७) में कही गई है । इसीलिये शुरूसे ही इससे पिंड छूटनेपर मन भगवानमें जा सकता है यह बात २८वें श्लोकमें आई है । ताकि इन्हे खत्म करनेमे हम जनमते ही लग पड़े ।

अब फिर पुराने प्रसंग यानी २५वें श्लोककी बातको पकड़के आगे बढ़ते हैं । क्योंकि बीचके तीन श्लोक प्रसंगवश ही आये थे । हाँ, तो यह समस्त संसार ब्रह्मरूप ही है यही बात चलती थी । अगर शुरूके चार (८-११) श्लोकोंपर, जिनमें खास पदार्थोंका वर्णन आया है, गौर करें तो पता चलेगा कि उन्हें तीन दलोंमे बाँट सकते हैं, जिन्हें पुराने लोगोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कहा है । पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश तो भूत हैं । इसीलिये इनके गन्ध, रस आदिका वर्णन आधिभौतिक हुआ । क्योंकि गन्ध, रसादि भूतोंमें ही

रहते हैं। अतः अधिभूत हो गये। इसीप्रकार चन्द्र और सूर्यकी बात आधिदैविक हो गई और बुद्धि, बल, तेज, तप, जीवन और काम ये छे हो गये आध्यात्मिक। शरीरके भीतर ही तो ये पाये जाते हैं। यह भी एक कारण कि वायुको भूतमें न रखके जीवनके रूपमें यहीं रख दिया है। नहीं तो दो बार कहना पड़ता। क्योंकि अध्यात्ममें प्राण जैसी प्रसिद्ध चीजको छोड़ नहीं सकते थे। उपनिषदोंमें भी उसे कहीं नहीं छोड़ा है। चन्द्र-सूर्यमें चमक और दिव्यतेज होनेसे उनका दल आधिदैविक हुई। इन आध्यात्मिक आदि चीजोंपर विशेष प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। वहीं यह भी बताया गया है कि अधियज्ञ नामकी चौथी चीज क्यों और कैसे आई है। यह भी बता चुके हैं कि किस प्रकार सुख-दुःख, बल, बुद्धिसे बढ़ते-बढ़ते आत्माको ही अन्तमें अध्यात्म मानने लगे। ब्रह्मकी बात तो बार-बार सर्वत्र आई ही है और कर्मकी भी। "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहनेसे भी इस कर्मकी तरफ इशारा होता है। क्योंकि "ब्रह्मणोमुखे" कहके वेदोंमें कर्मोंकी ही प्रधानता मानी है।

इस प्रकार अधिभूत, अध्यात्म, अवियज्ञ, अधिदैव आदिके रूपमें जो लोग ब्रह्मका निरन्तर मनन करते हैं वही विज्ञानके अधिकारी होते हैं। इसीलिये इस सातवें अध्यायमें संक्षेपसे अध्यात्म आदिका उल्लेख नमूनेके तौरपर ही हुआ है। मनन करनेवाले इसी नमूनेको बढ़ाके हजारों पदार्थोंमें इस बातका मनन-चिन्तन कर सकते हैं और अन्तमें अद्वैत आत्माका साक्षात्कार भी कर सकते हैं। यों कहिये कि उन्हींको पूर्ण ब्रह्मका ज्ञान या ब्रह्मका पूर्ण साक्षात्कार होता है। जिनने ऐसा कर लिया है उनकी बुद्धि चक्कर या भ्रममें—संमोहमें—पड़ नहीं सकती। यहाँतक कि मरणकालकी अपार वेदनाके समय भी वह विचलित नहीं हो पाती। क्योंकि वह जिधर ही जाती है अध्यात्मादिके रूपमें आत्मा ही आत्मा पाती है। यही है बहुत बड़ी विशेषता इस विवेचनकी। संक्षेपमें यही बातें कहते हुए दो श्लोकोंमें अध्यायका उपसंहार इस प्रकार करते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः ॥३०॥

(फलतः) जन्म और मरणसे छुटकारेके लिये जो मुझमें ही मन लगाके यत्न करते हैं वही उस पूर्ण ब्रह्मको, अध्यात्मको और समस्त कर्मोंको जानते हैं। (इसी तरह) अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञके रूपमें भी जो मुझ परमात्माको साक्षात् अनुभव करते हैं, पूर्ण समाधिमें मन लगानेवाले वही लोग मरणके समय भी मुझ परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं।२९।३०।

यहाँ जरासे जन्म समझना ही ठीक है। वही मरणको साथिनी है और सर्वत्र आया करती है। असलमे जन्मके कष्टका तो अनुभव रहता नही। इसीलिये कष्ट दिखानेके लिये जरा लिखा है। मरणका कष्ट खुद देखने ही है। जन्मका कष्ट माँ अनुभव करती है, न कि बच्चा। जन्म कहनेसे जीवनभरके कष्ट आ जाते हैं। इसी प्रकार कर्मका अर्थ केवल यज्ञयागादि न होके सृष्टिका सारा व्यापार ही है, जैसा कि आठवे अध्यायमे लिखा है। आत्मज्ञानीको सृष्टिके समस्त व्यापार नजर आने लगते है कि कैसे क्या बनता है, जमीन आदि कैसे बनती है, बनी है। तभी तो उसे निस्सन्देह अद्वैत ज्ञान होता है।

इस अध्यायका विषय ज्ञान-विज्ञान है यह तो कही चुके है।

इति श्री० श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका ज्ञान-विज्ञान योग नामक सातवाँ अध्याय यही है।



आठवाँ अध्याय

सातवें अध्यायके अन्तमें जो बातें दो श्लोकोंमें कही गई हैं उनके ही करते अर्जुनको प्रश्न करनेका मौका लग गया और आठवेंका श्रीगणेश उसी प्रश्नसे होता है। अर्जुनने क्यों प्रश्न किया और उसका आशय क्या है, आदि बातोंपर पूरा प्रकाश, इन श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या एवं उत्तरका पूर्ण विवेचन पहले ही किया जा चुका है। सारी बातें ठीक-ठीक समझनेके लिये वह विवेचन समझ लेना निहायत जरूरी है। यहाँ इतना ही कह देना है कि अन्तके दो श्लोकोंमें जो बातें कही गई है वह शास्त्रप्रसिद्ध हैं। पुराने दार्शनिक इन्हें बखूबी जानते थे। इतना ही नहीं। जैसा कि सातवें अध्यायके अन्तमें हमने इन श्लोकोंके ही प्रसंगमें कह दिया है, ये बातें स्वयं सातवें अध्यायमें भी आई हैं। यह भी ठीक है कि वह उनके प्रसंगमें अध्यात्म, अधिभूत आदि शब्द नहीं आये है। इसीलिये अर्जुनको यह खयाल होना जरूरी था कि यह कौनसी भाषा बोलते और क्या बातें कह रहे हैं। उसके लिये जैसे यह एकदम निराली चीज थी। इसीके साथ कर्मकी बात भी कुछ खटकी। क्योंकि कर्म-अकर्मकी बात बहुत बार बड़ी सफाईसे कहके चौथे अध्यायमें ही यह भी कह दिया है कि कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म देखनेवाला ही योगी है और वह सभी कर्म करता है, कर सकता है "स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्" (४।१८)। फिर यह क्या बला आई कि जरामरणसे छुटकारेके लिये जो लोग यत्न करते हैं और अधिभूतादिको जानते हैं वही सभी कर्मोंको जानते हैं? उसे यह कुछ अजीबसी बात लगी। इसीलिये खटकी भी।

ब्रह्मकी बात यद्यपि कोई नई न थी, तथापि ब्राह्मी स्थितिकी जो बात दूसरे अध्यायमें कही जा चुकी है और "लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं" (५।२५) तथा "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श" (६।२८) में जो ब्रह्म या ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कही गई है; उसकी अपेक्षा यह कोई नई चीज ब्रह्म शब्दसे तो नहीं कही जा रही है, यह शंका उसे हो सकती थी। क्योंकि समाधिके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी बात कहनेके बाद यहाँ एकाएक यह कह देना कि पूर्ण या कृत्स्न ब्रह्मको ऐसे ही लोग जानते हैं, जरूर घपलेमें डालनेवाला प्रतीत होता है। यह कृत्स्न रूपसे जानने योग्य कोई और ही ब्रह्म है क्या, यह खयाल इसीलिये हो आया। ब्रह्म है भी अनेक यह कह चुके हैं। इसलिये भी ऐसा खयाल अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

मरणकालके बारेमें भी शंकाका होना जरूरी था। भला उस अपार वेदनाके समय किसीका चित्त एकदम एकाग्र कभी रह सकता है? यह तो निराली बात होगी।

जबतक वह मनुष्य दुनियासे न्यारा कोई अलौकिक पदार्थ न माना जाय तबतक यह नहीं हो सकता। ऐसा होना तो ठीक वैसा ही है जैसा लपटके बीचमें बर्फकी ठंडकका अनुभव! इसीलिये खासतौरसे जोर देके पूछना पड़ा कि प्रयाणके समय कैसे यह बात होगी? कैसे मन काबूमें रहेगा? अधियज्ञ सम्बन्धी प्रश्नपर तो विशेष प्रकाश पहले ही डाला गया है कि इसका क्या आशय है। इन्हीं सब बातों-को मनमें रखके—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुनने पूछा—हे पुरुषोत्तम, हे मधुसूदन, वह ब्रह्म क्या (चीज) है? कर्म क्या है? अधिभूत भी कौन कहा गया है? अधिदैव किसे कहा जाता है? इस शरीरमें अधियज्ञ कौन है और क्यों है? मरणकालमें भी मनको काबू रखके लोग आपको कैसे देखते हैं? ।१।२।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

श्रीभगवान बोले—हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ, जो किसी भी दशामें नष्ट नहीं होता वही ब्रह्म है, पदार्थोंका जो अपना रूप है वही अध्यात्म कहा जाता है, पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति (आदि) जिससे हो उसी त्याग या क्रियाको कर्म नाम दिया गया है, पदार्थोंको विनाशिता ही अधिभूत है और व्यापक परमात्मा ही अधिदैवत है। इस शरीरमें अधियज्ञ तो मैं ही हूँ ।३।४।

प्रश्नोंके जो उत्तर दिये गये हैं उनपर भी पहले ही प्रकाश डाला गया है जरूर। मगर एक चीज स्पष्ट नहीं हुई है। इसीलिये उसीके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। प्रश्नोंके देखनेसे पता चलता है कि कुल आठ प्रश्न किये गये हैं। यद्यपि सातवें अध्यायके अन्तमें कही गई जिन बातोंको लेके ये प्रश्न हुए हैं वह सात ही हैं, तथापि अधियज्ञके बारेमें दो प्रश्न होनेके कारण ही इनकी

संख्या आठ हो जाती है। अधियज्ञके बारेमें औरोंकी ही तरह सीधे ही यह समान्य प्रश्न करनेके बजाय कि अधियज्ञ क्या है या कौन है; उसने एक तो यह पूछ दिया कि इस शरीरके भीतर अधियज्ञ कौन है? दूसरे यह कि यदि है तो कैसे है, क्योंकर है? इसके बाद ही प्रयाणकालवाली बात आनेके कारण अर्जुन सोचता था कि शरीरमें ही अधियज्ञका जानना जरूरी है। क्योंकि यज्ञचक्रका सम्बन्ध सृष्टिसे होनेके कारण उसका अनुष्ठान हर हालतमें अनिवार्य होनेसे मरणके समय वह बाहर तो हो सकता नहीं। इसलिये शरीरमे ही यदि उसका पता लग जाय तो यह बड़ा लाभ हो जाय कि मरणकालमें भी यज्ञक्रिया निर्विघ्न होती रहे। इसीलिये उसने यह भी प्रश्न कर दिया कि यदि ऐसा कोई अधियज्ञ है तो कैसे? इसका अभिप्राय इतना ही है कि पूरा इत्मीनान हो जाय। कभी शक-शुभा न हो सके।

अभीतक दो श्लोकोंमें जो उत्तर दिये गये है वह तो सिर्फ छे प्रश्नोंके ही है। जो अधियज्ञ शरीरमें है वह कैसे है, का उत्तर अभी बाकी ही है और प्रयाणकालमें परमात्माके साक्षात्कारका उपाय भी अभीतक नहीं बनाया गया है। इनमें प्रयाणकालवाले प्रश्नका उत्तर आगेके आठवें श्लोकसे शुरू होके तेरहवें श्लोकमें पूरा हुआ है। बात बहुत बडी है। वह केवल जाननेकी ही खोज न होके करने या अनुष्ठानकी वस्तु है। इसीलिये उसकी रीति बतानेमें कुछ विस्तार करना ही पड़ा है। रह गये बीचके ५ से ७ तकके तीन श्लोक। बस, इन्हींमें कथं या कैसेका उत्तर आया है। अर्जुनने तर्क-दलील पूछी थी। इसीलिये कृष्णको युक्तियाँ देनी पड़ी। फिर तो उत्तर लम्बा होना ही था। उत्तरका निचोड़ यही है कि मनुष्य जब अन्त समयमें मुझीको स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है तभी मुक्ति पाता है, तो फिर अधियज्ञ इस देहमें नहीं तो और कहाँ है? अन्तकालमें बाहर तो जाना-आना हो सकता नहीं। अन्तमे जिस चीजमें मन टिकता है मरनेके बाद वही बनना पड़ता है यह भी नियम है। इसलिये मरणके समय मुझमें ही मनको टिकाना जरूरी हो जाता है। नही तो सब किये-करायेपर पानी जो फिर जायगा। परन्तु यह तो हो सकता नही, यदि यज्ञपुरुष या परमात्मा कही बाहर हो। इसलिये मानना पडता है कि शरीरके भीतर ही यज्ञपुरुष या अधियज्ञके रूपमें परमात्मा मौजूद है, जिससे उसमे मन आसानीसे जोडा जा सकता है। जो लोग यह माननेको तैयार न हों उन्हे तो यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मज्ञानी मरनेके समय यज्ञचक्रको छोड़ देनेसे पापी और इन्द्रियोंका पोषक हो गया। इसीलिये उसका जीवन व्यर्थ गया, "अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति" (३।१६)। हमारा मतलब उन लोगोसे ही यहाँ है जिनके आत्मज्ञानका पूर्ण परि-

पाक मरणके पूर्व नहीं हो सका है, जिनमें मस्ती नहीं आई। क्योंकि वैसे मस्तोंके लिये तो कोई कर्त्तव्य रही नहीं जाता है।

यह भी बात है कि व्यष्टि और समष्टि या पिंड और ब्रह्मांड दोनोंमें ही हर चीजको देखते तथा मानते हैं। "द्वाविमौ पुरुषौ" (१५।१६)के अनुसार पुरुष तो शरीरमें हई तथा अध्यात्म और अधिभूत भी। सिर्फ अधियज्ञका पता लगना बाकी है। और वही पूछा भी गया है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

हे कौन्तेय, अन्तकालमें—मरनेके समय—शरीर त्यागते हुए मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको छोड़के जो प्रयाण करता है—मर जाता है—वह मेरा ही स्वरूप हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। (क्योंकि) शरीरान्तके समय जिसी-जिसी पदार्थको स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है—कारण हमेशा उसी पदार्थकी भावना उसके भीतर रही है—उसी-उसीका रूप बन जाता है।५।६।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

• इसलिये हर समय मुझीको लगातार याद करो और लड़ते भी रहो। (इस तरह) मुझमे ही मन और बुद्धिको लिपटा देनेपर निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होंगे।७।

इन तीन श्लोकोंमे जो सिद्धान्त बताया गया है कि अन्त समयमे मन जिसमें जम जाता है, फलतः जिसकी स्मृति प्रबल हो उठती है, मरनेके बाद आत्माको वैसा ही शरीर मिलता है, यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त है। लेकिन यह बात योंही अकस्मात् नही हो जाती। मरनेके समय कथावार्त्ता सुन-सुनाके ही जो लोग काम निकालना चाहते है वह भूलते है। इसीलिये तो गीताने 'सदा तद्भावभावितः" और "मय्यर्पितमनोबुद्धिः" कह दिया है। जिस बातका निरन्तर अभ्यास किया है, जिसकी भावना प्रबल है, जिसमे मन और बुद्धि दोनों हीको लगा दिया है, या यों कहिये कि इन दोनोंको जिसके हवाले कर दिया है, उसीकी प्रबल स्मृति अन्तकालमे होगी और मरनेपर वही पदार्थ, स्थान या शरीर प्राप्त होगा। आगेके (८-१३) श्लोकोंमे भी यही बात विस्तारके साथ कही गई है। 'प्रयाणकाले' प्रश्नका उत्तर भी इन्हीमें है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ, (इसीलिये) अभ्यास रूपी उपायसे एकाग्र तथा अन्य किसी भी पदार्थमें जा नहीं सकनेवाले मनसे दिव्य परमपुरुष—पुरुषोत्तम परमात्मा—का निरन्तर चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) उसीको प्राप्त करता है ।८।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

जो (आदमी) प्रयाण—मरण—कालमें योगके बलसे भौओंके मध्यमें प्राणको दृढ़तासे टिकाके भक्तियुक्त एकाग्र मनसे दूरदर्शी—सर्वज्ञ—पुरातन, अनुशासन करनेवाले, परमाणुसे भी परमाणु—अत्यन्त सूक्ष्म—सब पदार्थोंके आधार, अचिन्तनीय स्वरूपवाले, सूर्य सदृश प्रकाशमान और अज्ञानसे दूर रहनेवाले दिव्य परम पुरुषको निरन्तर याद करता है वह उसीको प्राप्त होता है ।९।१०।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेदोंके ज्ञाता जिसे अक्षर—अविनाशी—कहते है, रागद्वेषादिसे रहित संन्यासी जिस रूपमें मिल जाते हैं (और) जिसकी (प्राप्तिकी) इच्छावाले (आजन्म) ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उसी पद (की प्राप्ति कैसे होती है यह बात) तुम्हें संक्षेपमें अभी बताता हूँ ।११।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहारन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सभी (इन्द्रियोंके) छिद्रोंको रोकके, मनको हृदयमें ही अँटकाके और अपने प्राणोंको मस्तकमें ले जाके योगकी धारणामें लगा हुआ जो (आदमी) ओंकार रूपी एकाक्षर ब्रह्मका (मनसे ही) उच्चारण करता और मुझ परमात्माको ही निरन्तर याद करता हुआ शरीर छोड़के प्रयाण करता है वही परमगति—मुक्ति—प्राप्त करता है ।१२।१३।

यहाँ इन चार श्लोकोंके बारेमें कुछ . बातें जानने योग्य हैं । पहली बात यह है कि यहाँ योगबलका अर्थ पातंजल योग ही है, जिसमें प्रधानरूपसे प्राणायाम

आ जाता है। इसीलिये योगधारणाका भी उल्लेख है। योगके आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधिमें सातवाँ अंग धारणा है, जैसाकि "यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधयोऽष्टावंगानि" (पातं० २।२९) से स्पष्ट है। इसके बिना मरणकालमें यह बात असंभव है।

दूसरी बात यह है कि १०वें श्लोकमें जो भौओंके बीचमें प्राणको टिकानेकी बात कही गई है वह आगे १२वें श्लोकमें लिखी धारणाकी पहली सीढ़ी है। योगियोंने प्राणके टिकानेके कई अड्डे माने हैं जिनसे घूमता हुआ वह अन्तमें मस्तकमें पहुँचके वहीं रुक जाता है। इस तरह समाधि पूर्ण हो जाती है। इन्हीं अड्डोंको वे लोग चक्र कहते हैं। नाभिसे ही प्राणको ऊपर ले चलते हैं। प्राणका सनातन अड्डा नाभिको ही मानते हैं। इसीसे इसे मूलाधार चक्र भी कहते हैं। यहाँसे आखिरी स्थान मस्तक या ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचनेके पहले और भी चार स्थानोंसे उसे गुजरना होता है। इन चारोंमें आखिरी स्थान भौओंके बीच है। अभ्यासकी पुष्टिके ही लिये यह एक तरहकी कसरत ही समझिये। यहींसे ब्रह्मरंध्रमें जाके काम पूरा होता है। यही कारण है कि भौओंकी बात कहके आगेकी बात कहनेसे पूर्व ११वें श्लोकमें सजग कर दिया है कि लो, उसे भी सुनाये देता हूँ। असलमें वह सूक्ष्म और कठिन बात है। इसीलिये सजग कर दिया है। यहाँ 'प्रवक्ष्ये'का भी वही अर्थ है जो सातवें अध्यायमें कहा है। यानी अभी कहे देता हूँ। न कि भविष्यकाल इसके मानी हैं।

जो लोग दसवें श्लोककी बातसे बारहवेंवालेको स्वतंत्र मानते हैं वह दरअसल यह चीज जानते ही नहीं। ये दोनों ही एक दूसरेसे मिली-जुली आगे-पीछेकी सीढ़ियाँ हैं। इसीलिये ११वेंमें पदका अर्थ ॐकार अक्षर या पद करना भी ठीक नहीं है। अक्षर ब्रह्म तो इस अध्यायके शुरूमें ही आया है। आगे जो ॐकारके उच्चारणकी बात कही गई है उससे लोगोंको कुछ भ्रम हो जाता है जरूर। मगर वहाँ भी समझनेकी बात है। एक तो यही बात बुद्धिमें नहीं समाती कि प्रयाणकालमें ॐकार का जबानसे उच्चारण कैसे होगा। उस समय यह शक्ति रहती ही है कहाँ? यदि शक्ति रहे भी तो दूसरी बात यह है कि जब प्राणको भौओंके बीच दृढ़तासे टिकानेके बाद ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचा देते हैं, धारणा या समाधिकी दशामें मनको भी वहीं टिकाये अचल रखते हैं और इसीके लिये इन्द्रियोंके सभी द्वार बन्द कर दिये जाते हैं, तो फिर जबान हिलेगी कैसे? इसीलिये वहाँ बात ही दूसरी है।

दरअसल बात यों है कि योगियोंका यह कहना है कि मूर्द्धा या ब्रह्मरंध्रमें निरन्तर ओं ओंकी गंभीर ध्वनि होती रहती ही है। किन्तु हमलोग उसे सुन

पाते नहीं। कान मूँदने पर घर्र-घर्रकी जो आवाज मालूम होती है वह उसीका विकृतरूप माना जाता है। हाँ, प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमे पहुँचाके समाधि करने पर वह अखंड ॐकारनाद सुनाई पड़ता रहता है। यही उसका उच्चारण है। उच्चारण तीन प्रकारका माना भी जाता है—बोलके, केवल जबान हिलाके और केवल मनसे। सो वहाँ मानसिक ही है। मन वहीं एकाग्र है और वह नाद उसीको सुनाई देता है। इतनेसे ही उसे मानसिक उच्चारण कहते हैं। योगी यह भी मानते है कि वह नाद इतना मधुर है कि मन और प्राण दोनों ही उसीमें भूल जाते है, लुब्ध हो जाते, रम जाते है। उस ॐकारको ब्रह्मका प्रतीक या सूचक मानके उसे तथा ब्रह्मको एक भी कह देते हैं, जैसा कि विष्णुके प्रतीक शालग्रामको ही विष्णु कह देते है।

लेकिन ये सारे काम उन्हींके लिये है जिनके ज्ञानका परिपाक नहीं हुआ है। फलतः जिन्हे मस्ती नहीं आई है। क्योंकि जब तक कोर-कसर न रहे यह प्रपंच करनेकी जरूरत ही क्या है? इसीलिये पूर्ण ज्ञान और आत्म-साक्षात्कारवालेको यह सब नहीं करना होता है। यही बात आगेके श्लोकमें यों लिखी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ, अनन्य चित्तसे—मनको अन्य पदार्थोंमें जाने न देकर—जो मुझ परमात्माको नित्य ही याद करता है उस सदा योगारूढ़ योगीके लिये तो मैं सुलभ ही हूँ।१४।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

परम संसिद्धि—जीवन्मुक्ति—की दशावाले महात्मा जन मुझ परमात्माका ही रूप होके दुःखके घर (और) बारबार होनेवाले (इस) पुनर्जन्मसे रहित हो जाते है।१५।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन, हे कौन्तेय, ब्रह्मलोक तकके सभी स्थानोंमे पुनः लौटना—जन्म लेना—पडता ही है। केवल मुझे प्राप्त होने पर ही पुनर्जन्म नहीं होता।१६।

यहाँ यह न भूलना चाहिये कि गीतामे जो बारबार स्मरण या याद करनेकी बात आती रहती है और भक्तिकी भी, वह माला जपने और नाचने-कूदनेवाली नही है। ज्ञानीको भी भक्त ही कहा है और वही सर्वोत्तम है। मगर वह तो

नाचता-कूदता नहीं। भक्तिका तो अर्थ ही है समाधि या मनको आत्मामें ही डुबो देना, टिका देना। इसीलिये स्मरणका भी अर्थ है तदाकार वृत्ति या मनके सामने आत्माके अलावे और किसीका न होना ही।

यहाँ जो कह दिया कि ब्रह्मलोक तक भी जाके वापिस आना और जन्म लेना पड़ता है वह कुछ नई-सी बात हो गई। क्योंकि साधारणतया यही माना जाता है कि ब्रह्मलोक जानेवाले मुक्त हो जाते हैं। इसीलिये अब जरूरत पड़ गई कि जरा विस्तारसे यह बात समझा दी जाय। फलतः खुद ब्रह्माकी भी आयुकी ओर इशारा करते हुए इस बातका स्पष्टीकरण आगेके तीन श्लोक करते हैं। ब्रह्माको ही हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं। यहाँ अव्यक्त शब्द आया है, जो ब्रह्माको ही नींदकी अवस्थाके अर्थमें है—अर्थात् जब ब्रह्मा कुछ करते दीखते नहीं। जो लोग अव्यक्तका यहाँ प्रकृति या प्रधान अर्थ करते हैं वह भूल जाते हैं कि रोज-रोजके प्रलयमें आकाशादि महाभूत, महान् तथा अहंकार तो रहते ही है। महान् इसी ब्रह्माका ही दूसरा नाम है। अव्यक्तका अर्थ है जो दीखे नहीं। इसी तरह अदृश्य ब्रह्माकी वह निद्रावस्था, प्रधान या प्रकृति और स्वयं अविनाशी ब्रह्म तीनों ही अव्यक्त कहे जाते हैं। आगेके श्लोक यह बात स्पष्ट दिखाते हैं कि ब्रह्माका तो यह टकसाल ही है दिन भर कुम्हारके बर्त्तनोंकी तरह सृष्टि बनाना और रातमें उसका खात्मा हो जाने पर पुनः प्रातः वही काम करना। ब्रह्माके दिनरात बड़े हैं यह भी बताया है। यह ठीक है कि यहाँ ब्रह्माकी मृत्युकी बात नहीं कही गई है और न ब्रह्मलोकमें लौटनेकी ही। मगर जब उनकी भी दिनरात है तो इसका अभिप्राय अर्थतः यही है। आखिर दिनरात तो काम ही है आयुका हिसाब लगाना-बताना, और जब आयु पूरी होगी तो ब्रह्मलोकसे हटना तो होगा ही। यह हटना ही है वहाँसे लौटना। क्योंकि ब्रह्माको फिर शरीर नहीं मिलता। आयुके अन्तमें ज्ञानके द्वारा वह मुक्त हो जाते हैं और उन्हींके साथ दूसरे भी, जो वहाँ रहते हैं। यह बात आगे "यत्रकालेत्वनावृत्तिं" (८।२३-२६) आदि चार श्लोकोंमें लिखी है। फिर नये ब्रह्मा आते और नया कारबार चलता है। ब्रह्माकी आयु पूरा होनेको महाप्रलय और रोज रोज रातमें उनके सोनेको खंड प्रलय कहते हैं। कहा जाता है, इस तरह पूरे सौ साल तक ब्रह्मा भी कायम रहते हैं। तब कहीं जाके मुक्त होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मलोकमें जाने पर तत्काल मुक्ति न होके देरमें होती है। इस देरके करते ही उसे लौटना मानते है। लौटनेमें भी तो आखिर देर ही होती है न?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्माकी दिनरात (का हिसाब) जाननेवाले जानते हैं कि (सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन चार) युगोंके हजार बार गुजरने पर ब्रह्माका एक दिन और उतने ही की रात होती है ।१७।

यहाँ "तेऽहोरात्रविदः" में 'ते' का 'वे' अर्थ नहीं है । यह तो यों ही आ गया है । जब किसी खास व्यक्तिको न कहके अनिश्चित रूपसे कहते हैं तभी ऐसा बोलते है । अंग्रेजीमें भी 'दे से' (they say) बोलते है "ऐसा कहते है" इसी अर्थमें ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

दिन आते ही—शुरू होते ही—अव्यक्त—ब्रह्माकी निद्रावस्था—से ही सारे व्यक्त पदार्थ पैदा होते है । रात आने पर फिर उसी अव्यक्त नामक दशामें विलीन हो जाते है । हे पार्थ, भौतिक पदार्थोंका यह वही समूह बारबार पैदा होके रात आते ही मजबूरन नष्ट हो जाता और दिन आते ही फिर बन जाता है ।१८।१९।

पहले भी "अव्यक्तादीनि" (२।२८) में यही बात कही जा चुकी है । यहाँ भी वही आशय है ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

उस अव्यक्त या स्वापावस्थावाले ब्रह्मासे भी परे—बढ़कर—जो अव्यक्त है वही सभी पदार्थोंके नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता है ।२०।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

इसी (दूसरे) अव्यक्तको ही अक्षर या अविनाशी कहा गया है । वही परम-गति (भी) है, जिसके प्राप्त हो जाने पर लौटना नही होता । वही मेरा परम धाम (भी) है ।२१।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, जिसके ही भीतर ये सभी पदार्थ मौजूद है और जो इन सबोंमें व्याप्त है वह परम पुरुष केवल अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त हो सकता है ।२२।

यहाँ पर हम यदि गौरसे देखें तो पता चलेगा कि ब्रह्मलोकसे लौटनेकी जो बात चली थी उसीके प्रसंग मे पुनरपि निर्वाणमुक्तिकी बात तीन (२०-२२) श्लोकोंमें कह दी गई है। ताकि लोग दोनोंका आमने-सामने मुकाबिला करके देखें कि कौनसी चीज अच्छी है—आया ब्रह्मलोकका मार्ग पकड़के वहाँ जाना और लम्बी प्रतीक्षाके बाद ब्रह्माके साथ मुक्त होना, जो वस्तुगत्या पुनर्जन्मके बाद मुक्त होनेके समान ही है, या आत्मसाक्षात्कारके द्वारा तत्काल मुक्त होना, जिसमें यह आनाजाना और लम्बी प्रतीक्षाकी गुंजाइश नहीं है।

इसलिये फिर उसी ब्रह्मलोकवाली बात पर ही आके उसके सम्बन्धकी शेष बातें आगेके श्लोकोंमें बताते और अध्यायका उपसंहार करते है। यहाँ पर अब तक जो कुछ गीताके श्लोकोंमें कहा गया है उससे तो यही पता चलता है कि ब्रह्मलोकमें भी जाके लोग वापिस ही आते है, जन्म लेते है। मगर परम्परासे जो बात मानी जाती है उसके साथ इस कथनका कुछ विरोध हो जाता है। माना तो यही जाता है कि स्वर्गादि लोकोंमे जाके वहाँसे वापिस आना और जन्म लेना पड़ता है। गीतामे भी "त्रैविद्या मां सोमपाः" (९।२०-२१) आदि दो श्लोकोंमें यही माना गया है। विपरीत इसके ब्रह्मलोकके बारेमे कुछ और ही धारणा पाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि वहाँ बड़े-बड़े तपस्वी, उपासक आदि ही जाते है, जिनका ज्ञान पूर्णतया परिपक्व नहीं हुआ रहता है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक प्रभृति उपनिषदोंमे जो पंचाग्नि विद्याका प्रकरण है, जिसका विचार हम पहले कर भी चुके है, उसमे भी यही लिखा है कि ऐसे लोगोंको कोई मानस या अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमे ले जाता है, जहाँसे वे फिर वापिस नहीं आते, "पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषा न पुनरावृत्तिः" (बृह० ६।२।१५)। इस प्रकार पुरानी परम्परा एवं उपनिषदोके साथ गीताका साफ ही विरोध हो जाता है।

इसीलिये पूर्व कथनका स्पष्टीकरण करते हुए यही बात आगेके श्लोक स्वीकार करते है। वे मानते है कि ब्रह्मलोक जाके मुक्त होनेमें देर होती है और लम्बा रास्ता तय करना पड़ता है। इसीलिये उसे साक्षात् मुक्ति न मानके क्रम-मुक्ति कहते है। क्रमशः अर्थात् देरमे मुक्ति होती जो है। यही आशय है वहाँसे लौटनेकी बात कहनेका भी। आगे जो उत्तरायण-दक्षिणायन या शुक्ल कृष्ण मार्ग कहे गये है उनका पूरा विवरण कर्मवादके विवेचनमें दिया जा चुका है। श्लोकोंका अर्थ भी वही समझाया गया है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतर्षभ, योगीजन जिस कालमें मरने पर—प्रयाण करने पर—नहीं लौटते और लौटते भी हैं वह काल अभी बताये देता हूँ ।२३।

यहाँ भी वक्ष्यामिका अर्थ पहले जैसा ही है, न कि भविष्यकाल ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छे महीने, इनमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मके उपासक जन (क्रमशः) ब्रह्मको प्राप्त करते हैं ।२४।

यहाँ 'ब्रह्मविदः' का अर्थ ब्रह्मज्ञानी न होके ब्रह्मके उपासक और अपूर्ण ज्ञानी ही है । इसीलिये ब्रह्मकी प्राप्तिमें क्रमशः लिख दिया है ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छे महीने, इनमें प्रयाण करनेवाला योगी चन्द्रमाकी ज्योति तक पहुँचके वापिस आता है ।२५।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥

इस प्रकार जगत्के ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग चिरन्तन माने जाते है । (इनमें) एकसे (जानेपर) आना जाना पुनः नहीं होता है । (मगर) दूसरेसे होता है ।२६।

इन श्लोकोंमें योगी उसे कहते हैं जो पूर्ण तत्त्वज्ञानी न हो और या तो कर्ममार्गमें ही दत्तचित्त हो या उससे आगे बढ़के ज्ञानकी ओर झुका हो एवं तदनुकूल ही उपाय करता हो । ये दोनों रास्ते चिरन्तन हैं । सृष्टिके साथ ही इनका ताल्लुक है यह बात बखूबी बता चुके हैं ।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

हे पार्थ, जो कोई भी योगी इन मार्गोंको भीतरी दृष्टिसे देख लेता है वह (कभी फिर) मोहमें नहीं फँसता । इसीलिये हे अर्जुन, तुम हमेशा ही योगयुक्त हो जाओ । (क्योंकि) वेदों (के पढ़ने), यज्ञों (के करने), तपस्याओं और दानोंके जितने उत्तम फल कहे गये हैं, उन सबोंसे बढ़कर फल इस बातके पूर्ण जानकार योगीको मिलता है । (वह तो) मूल—लक्ष्य—स्थान पर ही पहुँच जाता है ।२७।२८।

इन श्लोकोंके योगयुक्त, विदित्वा, जानन् आदि शब्दोंके अर्थोंपर गौर करनेसे योगीका अर्थ है पूर्ण आत्मज्ञानी और आत्मसाक्षात्कारवाला मस्तराम। जिसे ऐसा ज्ञान हो जाता है वही तो हस्तामलककी तरह इन सभी मार्गोंको रत्ती-रत्ती देखता है। उसकी दृष्टिके सामने ये सारी चीजे झलक जाती है। भीतर ही भीतर हँसता हुआ वह यह भी सोचता है कि हमने यह क्या पँवारा फैला दिया है। हम तो मकडी या रेशमके कीडेकी ही तरह अपने ही बनाये तारमे खुद बखुद अबतक फँसे छटपटा रहे थे !

पोथी-पत्रा पढके या दूसरोसे सुनके जो भी जानकारी इन मार्गोंकी होती है उससे यहाँ तात्पर्य हुई नही। क्योकि उस जानकारीसे मूल स्थान या परब्रह्मकी प्राप्ति कैसे होगी ? ऐसा जाननेवाला मोहसे छुटकारा कैसे पा जायेगा ? अगर क्रममुक्ति ही इसका भी मतलब माना जाय तो वह तो कही जा चुकी ही है। फिर दुहरानेका क्या प्रयोजन ? उसमे मोहकी निवृत्तिका भी क्या सवाल ? जब पहले मोहसे छुटकारेकी बात नही कही गई जब कि उसका पूरा निरूपण किया गया है, तो यहाँ कहनेका क्या अवसर ? इसके अलावे हमेशा योगयुक्त होनेका भी तो उपदेश यहाँ दिया गया है। ठीक इसी प्रकार "तस्मात्सर्वेषु कालेषु" (८।७) मे भी आया है और वहाँ तो निर्विवाद रूपसे मनको आत्मामे ही लीन करनेकी बात है, जिसका अर्थ आत्मसाक्षात्कार ही है। इसीलिये यहाँ भी वही अर्थ उचित है।

अन्तिम श्लोकमे वेदेषु प्रभृति शब्दोका अर्थ वेदोंका पढ़ना आदि मानके हमने वैसा ही लिखा है। केवल वेदोंमे तो कोई पुण्य होता नही, जबतक उन्हे पढा न जाय। नही तो कोई उन्हे पढेगा क्यों ? वेद तो हई और सभी लोगोको महान् पुण्य यों ही मिल जायगा !

इस अध्यायका श्रीगणेश ही हुआ है सातवे अध्यायके अन्तकी बातको लेकर। वह बात ब्रह्मसे ही शुरू होकर कइयोंको शामिल कर लेती है। उसी ब्रह्मको अक्षर भी कहा है। समूचे अध्यायमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अक्षर ब्रह्मका ही निरूपण है। उसीके ज्ञानका अन्तमे उपसंहार भी है। अतएव ठीक ही अक्षर ब्रह्म ही इस अध्यायका विषय है। उसी अक्षर ब्रह्मको तारक ब्रह्म भी कहते है। तारनेसे ही तारक कहा जाता है।

इति श्री० अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय यही है।

नवाँ अध्याय

सातवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका निरूपण शुरू करके जिन पंचभूत आदिका उल्लेख कियाँ था उन्हींको अध्यात्म, अधिभूतादिके रूपमें कहके उस अध्यायका उपसंहार किया गया है। यों कहिये कि अध्यात्म आदिके रूपमे हजारों पदार्थोंमेंसे कुछ एकको ही नमूनेके तौर पर वहाँ दिया गया है। शेषका अन्वेषण विचार एवं मनन करनेवाले उसी तरह कर सकते है। इसी सिलसिलेमे अर्जुनने अध्यात्म आदिके बारेमे शंका उठा दी कि यह क्या चीजें है और शरीरमे इनका पता है या नही? उसीके उत्तरमे समूचा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इससे अर्जुनको सन्तोष भी हो गया कि दरअसल बात है क्या।

ऐसी दशामें आठवें अध्यायके बाद हम फिर सातवे अध्यायके ही मुख्य विषय ज्ञान-विज्ञान पर स्वभावत पहुँच जाते है। क्योंकि प्रासंगिक बात पूरी हो जाने पर मूल विषयका मौका खुदबखुद आ जाता है। यही कारण हैं कि नवाँ अध्याय इसी बातको लेके ही शुरू होता है। फलतः उसके पहले ही श्लोकमे ज्ञान-विज्ञान पुनरपि आ गया है। शायद उसका महत्त्व अर्जुनके दिमागमें अच्छी तरह न आया हो। अतएव इस सम्बन्धमे बहुत ज्यादा माथा-पच्ची करना भी वह पसन्द न करे। इसी वजहसे इसी ज्ञान-विज्ञानको राजविद्या और राजगुह्य नाम देके इसकी महत्ता दिखानी पडी। विद्याओंके राजाको राजविद्या और गुह्यों या गोपनीय (secret) पदार्थोंके राजाको राजगुह्य कहते है। राजाका अर्थ है सर्दार या शिरोमणि। इसका मतलब यह है कि जितनी भी गुप्तसे गुप्त बातें जानी जा सकती हैं उन सबोंकी अपेक्षा यह चीज कही महत्त्व रखती है इसीलिये इसकी जानकारी सबोंसे बढके जरूरी है। यदि इस अध्यायका विषय राजविद्या-राजगुह्य बताया गया है तो इसका यह आशय कदापि नही है कि यह कोई और ही चीज है। यह तो उसी ज्ञान-विज्ञानका ही दूसरा नाम है। यह नाम उसी चीजकी महत्ताके पहलूपर जोर देनेके ही लिये दिया गया है, यह तो अभी-अभी कहा है। नामान्तर और प्रकारान्तरसे एक ही बातका प्रतिपादन उसमें सरसता लानेके साथ ही आकर्षक भी होता है।

अगर हम इसमें प्रतिपादित विषयकी जानकारीके लिये खास तौरसे नजर डालें कि कौन-सी बात कब और कैसे कही जा रही है तो पता चलेगा कि शुरूके तीन श्लोक तो भूमिकाके ही रूपमें हैं। वे इसी बातको दिलमे बैठा देनेके लिये हैं कि इसका बारबार विमर्श और मनन अत्यंत आवश्यक है। उसके बादके तीन

(४-६) श्लोकोंको भी देखनेसे पता लग जाता है कि वे सातवें अध्यायके शुरूके दो (६,७) श्लोकोंके ही स्थानमें आये हैं। फलतः इनमें कुछ तो वही बातें ज्योंकी त्यों हैं और कुछ उन्हींका विवरण एवं स्पष्टीकरण है। उनके बादके आठ (७-१५) श्लोकोंपर ध्यान देनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वे भी एक प्रकारसे सातवें अध्यायके ही सात (१३-१९) श्लोकोंके रूपान्तर हैं। प्रायः वही बातें इनमें प्रकारान्तरसे कही गई है। इसी प्रकार २०वेंसे २५वें तकके छे श्लोक भी सातवें के २०से २६ तकके सात श्लोकोके ही रूपान्तर हैं और यह बात बहुत साफ है। इसी तरह और भी बची-बचाई बातें मिलती-जुलती हैं; हालाँकि कहने और प्रतिपादनकी रीति नई है, विलक्षण है और यही इसकी खूबी है। मननमें इसीकी जरूरत होती भी है।

अब आइये जरा विज्ञानके मुख्य विषयको भी देखें। सृष्टिके विभिन्न पदार्थों-को लेके उनका विश्लेषण करना और इस प्रकार उन्हें आत्मा-परमात्माका रूप सिद्ध करना यही तो मुख्य बात है। सातवें अध्यायके शुरूमें यही आई है भी। नवें अध्यायके चार (१६-१९) श्लोकोमें यह बात पाई जाती है। सातवें अध्यायके पाँच (८-१२) श्लोकोंमें भी इसी तरह की बात आई है। उस अध्यायके "अहं कृत्स्नस्य जगत." (७।६) तथा "ये चैव सात्त्विकाः" (७।१२) के ही स्थान पर "गतिर्भर्ता" (९।१८,१९) आदि दो श्लोक प्रतीत होते है। इनमें कुछ ज्यादा ब्योरा भी नहीं मिलता है, सिवाय इसके कि उन्नीसवेंके पूर्वार्द्धमें सूर्यकी बात 'तपामि'—तपता हूँ—कहनेसे प्रतीत होती है। शेष श्लोकोंमे अधिकांश वेदके ही क्रतु, यज्ञ, मंत्र आदि तथा ऋक्, साम, यजुः मंत्रोंको ही कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवे अध्यायके पृथ्वी आदि सभी पदार्थोंको तो अध्यात्म, अधिभूतादिके रूपमें उसी अध्यायमें और आठवेंमे भी ले लिया है। वहीं उस पर प्रकाश भी काफी डाला है। उसका केवल "प्रणवः सर्ववेदेषु" (७।८) बच गया है जरूर। इसीलिये उसीका विशेष विवरण और विश्लेषण इस अध्यायमें करके उस बातको अच्छी तरह समझाया है। ऐसा लगता है कि "प्रणवः सर्ववेदेषु" सूत्र है। वेद तो आखिर शब्द ही है न? और शब्दके बिना अर्थका पता नहीं लगता। फलतः शब्द अर्थमें व्याप्त है। यहाँ तीसरे श्लोकमें उसी व्यापक वस्तुका उल्लेख है, न कि दूसरेका। अतः उससे ही शुरू करनेका मतलब यही प्रतीत होता है। इसीके साथ यज्ञों पर भी कुछ विशेष प्रकाश दूसरे रूपमें इसी अध्यायमें पड़ गया है, जब कि "त्रैविद्या मां" में यज्ञोंके स्वर्गादि फलोंके साथ ही और बातें भी कही गई हैं। यह पहलू पहले उठाया नहीं गया था। फिर भी अधियज्ञ करनेसे बात तो दिमागमें थी ही। न्हीं सब बातोंका खयाल करके—

श्रीभगवानुवाच

इदं तु गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान कहने लगे—दोष दृष्टि तथा निन्दा बुद्धिसे रहित तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान-विज्ञान अभी और भी बताता हूँ । इसे जानके बुराईसे छुटकारा पा जाओगे ।१।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

यह सभी विद्याओं एवं गोपनीय वस्तुओंका राजा है, पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव योग्य है, धर्मके अनुकूल है, अविनाशी है (और) आसानीसे ही इसे प्राप्त किया जा सकता है ।२। हे परंतप, इस धर्मयुक्त बातमें श्रद्धा नही रखनेवाले मनुष्य मुझ तक पहुँच न सकनेके कारण जन्म-मरण रूपी संसारमे निरन्तर चक्कर काटत रहते हैं ।३।

यहाँ 'प्रत्यक्षावगमं' और 'कर्त्तुं सुसुखं' विशेषण बडे कामके हैं । पहला विशेषण तो विज्ञानके अत्यन्त अनुकूल है । विज्ञानकी बातें जबतक प्रत्यक्ष न हों उनकी कोई कीमत होती ही नही और यह उसी प्रत्यक्षकी तैयारी ठहरी । इसी तरह 'कर्त्तुं सुसुखं'के मानी हैं जो आसानीसे किया जा सके, समझा जा सके । उसमें दुविधेकी गुंजाइश नही है । वह तो हीरेकी तरह चमकनेवाली प्रत्यक्ष चीज है । इसीलिये उसकी पहचान स्वर्गादि पदार्थोंकी अपेक्षा कहीं आसान है । जबतक उसे जान पाते नहीं तभी तक दिक्कत है । जानते ही मारी परीशानी चली जाती है । तेज धारावाली नदीके पार दस साथी उतरे । फिर इस ख्यालसे कि कहीं तैरनेमे कोई बह तो नही गया, गिनती करने लगे । नतीजा यह हुआ कि पहली गिनतीमे एककी कमी प्रतीत हुई ! घबराके दूसरे, तीसरे आदि सभीने गिना और सबोंने नौ ही संख्या पाई ! अब तो आफत थी ! छाती पीटके लगे सभी रोने कि दसवाँ गायब है, अब क्या करें ! सुनते ही कुछ लोग दौड आये और पूछा तो पता लगा कि इनका दसवाँ साथी ही बह गया ! पूछनेवालोंमें जब एकने गिना तो दसके दस ठहरे ! इसपर उनने उनमे एकसे कहा कि गिनो तो, कहाँ दसवाँ गायब है ? उसने एक एक करके नौको गिना और अपनेको न गिनके चट कहा कि देखिये न, नौ ही तो हैं ? इसपर पूछनेवालेने कहा कि तू अपनेको तो गिनता

ही नहीं ! बस, सबोंको आँखे खुल गई ! दसवाँ तो हरेक खुद था और इतना नजदीक था कि कुछ पूछिये मत । मगर दूरसे भी दूर हो गया था ! किन्तु चतुर उपदेशकके बताते ही फिर ऐसा निकट, ऐसी पहुँचके भीतर हो गया कि वैसा कोई भी नहीं रहा ! यही बात यहाँ भी है । भूला हुआ अर्जुन कृष्णके उपदेशसे आसानीसे अपने आपको समझेगा । स्वर्ग-नरकको क्या इतना जल्द देख सकते हैं ? क्या खेती या रोजगारमें भी इतनी शीघ्र सफलता हो सकती है ?

जो लोग 'आचरण करनेमें सुखकारक' ऐसा अर्थ इस 'सुसुखं कर्तुं' का करते हैं वे या तो संस्कृत समझते ही नहीं, या नाहक खींचतान करते हैं । वैसे अर्थमें ऐसा प्रयोग संस्कृतके विद्वान कभी नहीं करते, उनसे मेरा यही नम्र निवेदन है ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।। ४ ।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। ५ ।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ६ ।।

मुझ अव्यक्त—अदृश्य—मूर्त्तिने ही इस समूचे जगत्को व्याप्त कर रखा है । सभी पदार्थ मुझीमें हैं; मैं उनमें (हर्गिज) नही हूँ । (लेकिन) मेरा ईश्वरी करिश्मा तो देखो कि ये पदार्थ मुझमे(वस्तुतः) है भी नहीं ! सभी पदार्थोंको कायम रखनेवाली मेरी आत्मा पदार्थोंका भरण-पोषण भी करती हैं (और) उनमें रहती भी नहीं ! जिस तरह सभी जगह फैली विस्तृत हवा हमेशा आकाशमें ही रहती है उसी प्रकार सभी पदार्थ मुझमे है यही समझो ।४।५।६।

इन तीन श्लोकोंमें जगत्के विस्तारके निरूपणकी भूमिकाका श्रीगणेश होता है, जैसा कि सातवे अध्यायके भी शुरूके सात श्लोकोंमे पाया जाता है । वहाँ भी आठवें श्लोकसे विस्तृत निरूपण शुरू होता है । इनमें आखिरी श्लोकमे जो दृष्टान्त दिया है उसका आशय यह है कि वायुकी उत्पत्ति आकाशसे ही मानते हैं । इस-लिये आकाशमे ही हवा रहती भी है । ऐसा हो कहते भी हैं कि आकाशमें हवा है या हुई नहीं, आदि आदि । वह हवा विस्तृत है और चारों ओर फैली है । उसे कोई रोक नही है और न उसके फैलने या चलनेसे आकाशका कुछ भी बिगड़ता बनता है । पदार्थोंकी भी ठीक यही दशा है । परमात्मासे ही बने और सर्वत्र फैले है । टूटते-फूटते भी रहते हैं और आते-जाते भी । मगर इससे परमात्माका कोई भी बनाव बिगाड़ नहीं है, वह निर्लेप है । असलमें सूतसे कपड़ा तैयार होने पर ऐसा होता है कि कपड़ेके फाड़ने, जलाने या हटाने पर सूत भी टूटता, जलता या

हटता है। कहीं यही बात परमात्मामें भी न हो, इसीलिये उसे निर्लेप बताना जरूरी हो गया। सूतने ही कपड़ेको धर रखा है। उसीसे वह कायम भी है। तब उसकी खराबीसे सूतमें भी खराबीकी बात देखके परमात्मामें भी वही खयाल होना जरूरी था।

चार और पाँच श्लोकोंमें जो कुछ कहा है वह परस्पर विरोधी जैसा प्रतीत होता है। मगर वह विरोध हट जायगा यदि जगत्‌को परमात्मामें कल्पित या मायामय मान लें। जब मरुभूमिमें सूर्यकी किरणें बालूपर चमकती हैं तो दूरसे मालूम पड़ता है कि कोई नदी या पानीकी धारा मरुभूमिमें बह रही है। फिर प्यासा आदमी उधर ही बढ़ता भी है। मगर वह ज्यों-ज्यों बढ़ता है धारा भी त्यों-त्यों आगे बढ़ती जाती है। वह धारा मरुभूमिमें है भी और नहीं भी है। यदि उस भूमिमें न होती तो वहाँ प्रतीत क्यों होती? दूसरी जगह तो नहीं दीखती है। किन्तु अगर सचमुच होती तो पहुँचनेपर चाहे वह दूर भले ही चली जाती; फिर भी वह भूमि भीगी तो जरूर रहती है। लेकिन सो तो होता नहीं। पथिक चाहे कितनी ही दूर चला जाय। फिर भी मरुभूमि वही सूखीकी सूखी ही मिलती है! बस, यही हालत इन पदार्थोंकी है। ये भी परमात्मामें मरुभूमिकी धाराकी ही तरह हैं, दीखते हैं। किन्तु वस्तुतः नहीं हैं।

यहाँपर एक प्रश्न उठता है कि यदि सभी पदार्थ परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं तो उसमें रहते हैं कैसे और कहाँ? और अगर रहते हैं तो इनके करते कितना उपद्रव और तूफान होता होगा! अनन्त प्रकारकी भली-बुरी चीजें हैं। फिर तो जहाँ ये रहें उसकी दुर्दशा किये बिना छोड़ेंगी थोड़े ही। यह तो दिमागमें आनेकी बात ही नही कि योंही निर्लेप और निर्विकार छोड़ दें। यह शंका कोई नई नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद्‌के समूचे छठें अध्यायमें आरुणि ऋषिका अपने पुत्र श्वेत-केतुके साथवाला संवाद आत्माके ही बारेमें पाया जाता है। उसके १२वें खंडमें श्वेतकेतुको भी ऐसी शंकाके उत्तरमें आरुणिने वटवृक्षका बीज मँगवाके फोड़नेको कहा था। फोड़नेपर पूछा कि देखो तो उसके भीतर है क्या? पुत्रने कहा कि कुछ भी नहीं। इसपर आरुणिने कहा कि उस बीजके भीतर जहाँ कुछ भी नही देखते हो वहीं बड़ेसे बड़ा वटवृक्ष मौजूद है। तभी तो उसीमेंसे बाहर निकलता है। बालूके कण, चने या गेहूँके भीतरसे तो कभी वह निकलता पाया गया नहीं। यदि वटबीजमें न रहनेपर भी वहाँसे वह वृक्ष निकलता, तो गेहूँ, चना या बालूमें भी तो नहीं ही है। फिर वहाँसे भी क्यों नहीं निकलता? अगर मानें कि उसी नन्हेसे बीजमें वह महान् वृक्ष मौजूद है, तो कैसे कहाँ समाया है? इतना बड़ा पेड़ उस बीजको बुरी तरह छिन्न क्यों नहीं कर छोड़ता? उसे लापता क्यों नहीं

कर देता ? जब इन प्रश्नोंका उत्तर श्वेतकेतु दे न सका और आश्चर्यचकित हक्काबक्कासा रह गया, तो आरुणिने कहा कि पुत्र, तर्क-दलीलोंसे ही सर्वत्र काम नहीं चलता। किन्तु श्रद्धा भी करनी होती है, विश्वास भी करना होता है। इसलिये श्रद्धा करो और कोरी दलीलके पीछे परीशान मत हो—"यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्वसोम्य" (६।१२।२-३)।

प्रकारान्तरसे गोतामे इसी बातका उत्तर "सर्वभूतानि" आदि आगेके श्लोक देते हैं। जिसे प्रकृति कहा है उसीको दैवो माया भी तो कही दिया है। वह दिव्य एवं अलौकिक शक्ति रखतो है, चमत्कार रखती है जो बुद्धिमें समा न सके। पहलेके श्लोकके "योगमैश्वरम्" शब्दोंमें जो ईश्वरी योग या चमत्कार—करिश्मा—कहा है वह भी इस मायाका ही चमत्कार है। प्रलयके समय वह अपने करिश्मेसे वटबीजमें वृक्षकी तरह सारे जगत्को अपने भीतर हजम कर लेती है। वहाँ तो पता भी नहीं लगता है कि किस कोनेमे है, या कि नही ही है। फिर सृष्टिके समय महान् वटवृक्षकी तरह सारे जगत्का प्रसार वही प्रकृति खुद करती है। यह बात बराबर चलती रहती है। यदि वह प्रकृति, वह ईश्वरी माया न रहती तो यह बात असंभव थी। वटके बीजमें भी उसीका करिश्मा है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

हे कौन्तेय, सृष्टिके नाश—प्रलय—के समय सभी पदार्थ मेरी प्रकृतिमें ही विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आरंभमें मैं उन्हे रचता हूँ। अपनी प्रकृतिका सहारा लेकर ही मैं बार-बार इस समूचे पदार्थ-समूह—जगत्—को बनाता रहता हूँ जो प्रकृतिके कब्जेमें आनेके कारण मजबूर है (कि पैदा हो और नष्ट हो)।७।८।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

हे धनंजय, सृष्टि-प्रलयके उन कामोंमें आसक्ति-शून्य और तटस्थकी तरह रहनेवाले मुझको वे कर्म बन्धनमें नहीं डालते हैं। मेरे अध्यक्ष होने (मात्र)से ही प्रकृति स्थावर-जंगम जगत्की रचना कर डालती है। इस जगत्का (इस तरह)

बार-बार बनना बिगड़ना—सृष्टि-प्रलयका यह चक्र—(भी) इसीलिये चालू रहता है ।९।१०।

यहाँ कल्प शब्द देखकर कुछ लोगोंको भ्रम हो गया है कि आठवें अध्यायके "अव्यक्ताद्व्यक्तयः" (८।१८) में जो सृष्टि एवं प्रलयकी बात आई है उसीसे यहाँ भी मतलब है; क्योंकि पौराणिक भाषामें ब्रह्माके दिनको ही कल्प कहते हैं। मगर बात दरअसल यह नहीं है। क्लृप धातुसे यह कल्प शब्द बनता है। उसका अर्थ है जो वस्तु पहलेसे न हो उसे तैयार करना या बनाना। यह दूसरी बात है कि यह बनाना केवल दिमागी हो, या ठोस हो या दोनों ही तरहका। इस तरह इसका वही अर्थ हो जाता है जो सृष्टि, विसृष्टि आदि शब्दोंका है। यह शब्द पौराणिक अर्थमें आया है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कल्पादिका अर्थ है सृष्टिकी आदि या आरम्भ। कल्पक्षयका अर्थ है उसीका प्रलय या संहार। हमने तो अभी-अभी कहा है कि सातवें अध्यायके इसी प्रसंगमें जो सृष्टिकी रचना आदि कही गई है और प्रकृतिका भी उल्लेख है वही बात यहाँ भी है। यही बात तेरहवें अध्यायके क्षेत्रनिरूपणके अवसरपर "महाभूतान्यहंकारः' (१३।५) में भी कही गई है। गीतामें जब-जब भगवानने स्वयं सृष्टि रचनाकी बात कही है, तब-तब यही बात ज्योंकी त्यों आती गई है। आठवें अध्यायमें तो ब्रह्माके द्वारा सृष्टिरचना और उसके मिटाने या प्रलयकी बात प्रसंगवश आई है। वह साक्षात् भगवानके द्वारा रचनाका प्रसंग तो है नहीं। फिर उसे यहाँ दुहरानेका क्या सवाल ?

सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ सृष्टि-रचनाके सिद्धान्तका दार्शनिक विश्लेषण एवं विवेचन तथा निरीश्वर सृष्टिवादका खंडन है, जैसा कि "मयाध्यक्षेण" और "हेतुनानेन" (९।१०) से स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रकृतिका सहारा लेके किस प्रकार क्यों यह विश्वका सारा पसारा किया जाता है, इस मामलेमें सृष्टिके समस्त पदार्थोंकी क्या मजबूरी है, वह प्रकृतिके वशमें किस प्रकार हैं, ईश्वरकी क्यों क्या जरूरत इसमें पड़ी, आदि सारी बातोंपर पूरा प्रकाश कर्मवादके प्रकरणमें डाला जा चुका है। अन्ततोगत्वा सबोंके कामोंको मिलाने और सभीका लेखा-जोखा ठीक रखने (for coordination and super regulation) के लिये ही ईश्वरका मानना जरूरी हो जाता है, यह बात वहीं हमने लिखी है। इतनेपर भी किस प्रकार इन सारे कामोंमें वह नहीं फँसता और निर्लेप रहता है यह भी वहीं तथा दूसरे स्थानोंमें कही चुके हैं। यदि इनमेंसे ईश्वर ही हटा दिया जाय या प्रकृतिको ही हटा दें तो यह जो बाकायदा संसारका चक्र चल रहा है, खत्म हो जायगा। कमसे कम अनियमित तो होई जायगा। प्रकृति और उसके गुण तो बहुत बड़े नियामक (regulator) हैं। इन्हींसे प्राणियोंके स्वभाव बनते हैं, जिनके

अनुसार कर्म—काम—किये जाते हैं और वही काम ईश्वरके व्यापक नियमन (Super regulation) में उसके सहायक बनते हैं। अनादि कालसे यह चक्र चालू है। इसीलिये किसीके ऊपर इसके शुरू करनेकी जवाबदेही हुई नहीं। ऐसा क्यों हुआ यह प्रश्न भी उठता ही नहीं।

यहाँ पुनः एक प्रश्न वैसा ही उठता है जैसा चौथे अध्यायके शुरूमें उठा था और जिसका उत्तर अवतारवादके रूपमें अर्जुनको दिया जा चुका है। इसीलिये अर्जुनको तो शंका करनेकी गुंजाइश रह नहीं गई। उसने यहाँ इसीसे शंका की भी नहीं। मगर कृष्णने जो कुछ आगे कहा है उसीसे पता लगता है कि उस समय काफी लोग ऐसे थे जो कृष्णको भगवान मानने को तैयार न थे। शिशुपाल उन्हींमें एक था। हालाँकि उसके ऐसा मानने-न माननेमे राजनीतिक या दूसरे भी कारण थे। इसीलिये केवल उसीके न माननेको लेकर वैसी बात कृष्ण जैसा महापुरुष कभी बोल नहीं सकता था जो उनने वहाँ कही है। या यों कहिये कि चौथे अध्यायमें ही कही बातको उनने पुनरपि सख्तीके साथ, और जैसे गुस्सेमें, दुहराया है। मालूम होता है तबतक सचमुच अवतारवादका सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो पाया था। इसलिये यह स्वाभाविक था कि जनसाधारण कृष्णको भी अपनेमें ही एक समझें, मनुष्य ही मानें। उनमें चमत्कार था, प्रतिभा थी, विलक्षण शक्ति थी यह तो सही है। मगर यह बातें तो मनुष्योंमें पाई जाती ही है। इतनेसे ही कोई भगवान तो नहीं हो जाता, नहीं माना जाता। फिर कृष्णको ही क्यों माना जाय? और जब वह बार-बार यह कहते रहते है कि मेरी अध्यक्षतासे ही प्रकृति यह करती है, वह करती है, यह सब मेरा ही करिश्मा है आदि-आदि, तब तो साफ ही वह ईश्वरताका दावा करते है। इसलिये यह भी संभव था कि लोगोंकी ही तरह अर्जुनके भी मनमे इस तरहके खयाल कुछ-कुछ उठें। इनकी रोक चौथे अध्यायके उस उत्तरसे पूरी-पूरी हो पाती नहीं, जो कृष्णने दिया था कि मैं सब कुछ जानता हूँ, किन्तु तुझे पता नहीं। आखिर योगी महात्मा भी तो भूत-भविष्यकी बातें जानते ही है, यह अर्जुनको भी मालूम था ही। व्यास और संजयकी ही बातें इसमें प्रमाण है। इसीलिये सृष्टि तथा प्रकृतिको अपनी ही चीज और अपना ही काम कहनेके बाद कृष्णने खुद यह महसूस किया कि उस धारणाका प्रतिवाद जरा सख्तीसे कर दिया जाय। सृष्टिके ही सम्बन्धमें भगवान का प्रश्न खामखा आनेसे उसके लिये यही मौका मौजूं भी था। ऐसा मौका फिर शायद ही आता। इसीलिये उनने कहना शुरू किया कि—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मेरे विलक्षण निराले, निर्विकार (तथा) सर्वोत्तम स्वरूपको नहीं जान सकनेके कारण ही मूर्ख लोग मानव शरीरधारी मेरा तिरस्कार करते हैं—मुझे भगवान नहीं मानते हैं। (ये लोग) फिजूल आशायें बाँधते, फिजूल कर्म करते, फिजूल पढ़ते-लिखते (एवं) उलटी समझ रखते हैं। (क्योंकि) भुलावेमें डालनेवाली राक्षसी एवं आसुरी—राजसी एवं तामसी—प्रकृति—स्वभाव—से मजबूर हैं।११।१२।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्त्तयन्तो मां यतंतश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

हे पार्थ, इनके विपरीत दैवी—सात्विक—प्रकृतिवाले महात्माजन मुझे संसारका मूल कारण मानके अनन्य मनसे मुझीको भजते हैं। (वे लोग) सदा भक्तिपूर्वक दृढ़ संकल्पके साथ मेरा कीर्त्तन करते हुए, प्रकारान्तर से (भी) यत्न करते हुए और मेरा नमस्कार करते हुए निरन्तर मुझीमें लगके मेरे ही निकट पड़े रहते हैं—मेरी ही उपासना करते हैं।१३।१४।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

दूसरे (महात्माजन) ज्ञानयज्ञसे ही मेरी पूजा करते हुए उपासना करते हैं। (यह ज्ञानयज्ञवाली उपासना तीन प्रकारकी होती है—) एक ही परमात्माके रूपमें, भिन्न-भिन्न पदार्थोंके रूपमें अनेक तरहकी और विराट्के रूपमें।१५।

ज्ञानयज्ञ तो बहुत ही व्यापक है। उसके भीतर मद्ग्रंथोंका पाठ भी आ जाता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं। मगर यहाँ ज्ञानरूपी यज्ञसे ही अभिप्राय है। वह तीन तरहका है। एक तो यही है कि समस्त जगत् अद्वितीय ब्रह्मसे जुदा नहीं है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार अपनी आत्मा ही सर्वत्र नजर आती है। दूसरी कोई भी चीज नहीं। दूसरा यह कि जब पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थोंको देखते हैं, तो ये पदार्थ नजर तो आते हैं। मगर इन सबोंमें भगवानकी और आत्माकी ही भावना की जाती है। इस प्रकार बहुत रूपमें भगवानका अलग-अलग खयाल करके अभ्यास किया जाता है। या यों कहिये कि इनके रूपमें ही अनेक देवताओंकी ही पूजा की जाती है। तीसरा यह कि समस्त जगत् भगवान

ही है। इसमें जगत्को देखते हैं जरूर। मगर अलग-अलग चन्द्र, सूर्यादिके रूपमें नहीं। किन्तु भगवानके रूपमे ही। हरा चश्मा लगानेपर पदार्थ नजर तो आते हैं। मगर सबका रंग एक ही हरा दीखता है। इसमें और विराट् दर्शनमें केवल इतना ही अन्तर है कि जहाँ चश्मेवालेको पृथक्-पृथक् पदार्थ नजर आते है तहाँ विराट्दर्शी सभी पदार्थोंको एक ही विस्तृत वस्तुके रूपमें देखके उनमें भगवानकी ही सूरत देखता है। वे उसके इस काममें आईनेका काम करते है। सब मिलके एक आईना है जिनमे वह आत्मा-परमात्माको देखता है। साथ ही, आईनेको भी देखता है। पहले प्रकारके ज्ञान-यज्ञवालोंकी नजरमे आईना-वाईना कुछ नहीं है। केवल आत्मा ही आत्मा है। यही दोनोंमें फर्क है।

अब इसी विश्वदर्शन, ज्ञानयज्ञ या विराट्दृष्टिके प्रसंगसे यह कहनेका मौका आ गया कि कौन-कौनसे मुख्य-मुख्य पदार्थ भगवानके रूप है। बेशक, यहाँ भी अधिक पदार्थोंको नहीं गिनाया है। फिर भी पहले—सातवें अध्याय—की अपेक्षा ज्यादा जरूर है। किन्तु सातवेसे यहा जो सबमे बडी विशेषता है वह यही है कि जब कि वहाँ पदार्थोंके रस आदिको ही सत—सार—के रूपमे खीचके भगवानका रूप बताया है, तब यहाँ वैसा न करके समूचे पदार्थोंको ही उसका रूप कह दिया है। इस प्रकार सातवेंकी अपेक्षा एक कदम आगे बढ़े हैं। एकाएक ऐसी भावना कठिन थी, असभव थी। इसलिये पहले पदार्थोंके निचोड़से ही शुरू करके यहाँ ठेठ पदार्थोंतक पहुँच गये। यह ठीक है कि यहा भी गिने-चुने पदार्थ ही हैं। फलत. कमी रह जाती है जो आगे पूरी होगी। यहाँ पदार्थोंको चुननेमे यह बुद्धिमत्ता की गई है कि मामूली पदार्थ न लेके यज्ञ, मत्र, वेद, ओंकार आदि ऐसे ही विलक्षण पदार्थोंको लिया है जिनके बारेमे ईश्वर-बुद्धि होनेमे कोई आनाकानी आमतोरसे हो न सके। यदि प्रतिदिनके प्रयोगके मामूली पदार्थ लिये जाते तो खामखा अर्जुनको और दूसरोको भी आश्चर्य होता कि ऐ, यह क्या कह रहे है!

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

मै ही क्रतु हूँ, मै ही यज्ञ हूं, मै ही स्वधा हूँ, औषधियाँ (यज्ञीय अन्नादि) मै ही हूँ, मंत्र मै ही हूँ, घी मै ही हूँ, अग्नि मै ही हूँ (और) आहुति (भी) मै ही हू।१६।

क्रतु कहते है वैदिक या श्रौत यज्ञयागोको। यज्ञ नाम है स्मार्त्त यज्ञों या कर्मोंका। श्राद्धादि पितृकर्मोको स्वधा कहते है। पितरोंके कर्मोका भेद न करके देवताओंके कर्मोंके ही दो भेद किये है—श्रौत और स्मार्त्त। श्रुतियों या वेदोमे लिखे कर्म श्रौत कहे गये। पीछे जब स्मृतियाँ और सूत्र-ग्रंथ बने तो उनने जिन नये कर्मोंका

प्रचार किया वही स्मार्त्त कहलाये। यही मोटी पहचान दोनोंकी है। असलमें यज्ञयागादि करनेवाले लोग पहले अग्निको निरन्तर जलाये रखते थे। वैदिक मंत्रोंसे ही शुरूमें उसकी स्थापना की जाती थी जिसे आधान कहते थे। यही अग्नियाँ दो प्रकारकी होतीं थी—श्रौत और स्मार्त्त। इन्हीमें या इन्हीसे किये जानेवाले कर्म क्रमश. श्रौत और स्मार्त्त कहे गये। यही निचोड़ है। यह जरूरी नहीं है कि श्रुतियोंमे कहे गये कर्म श्रौत अग्निमें ही हों, न कि स्मार्त्तमें। सूत्रग्रंथ भी दो प्रकार के है—श्रौतसूत्र और स्मार्त्तसूत्र। दर्शपूर्ण मासादि वैदिक यज्ञयाग श्रौतसूत्रोंमें और विवाह श्राद्धादि घर-गिरस्तोके कर्म स्मार्त्तसूत्रोंमें पाये जाते हैं। घर-गिरस्तीके सर्वसाधारण कर्म ही आमतौरसे स्मार्त्त कहे जाते हैं।

औषध या औषधिका अर्थ दवा नहीं है। "औषध्यः फलपाकान्ता·" कोषके अनुसार जिनके फल पकनेपर वह खुद भी पक और सूख जायें वही गेहूँ, जौ आदिके पौदे औषधि कहे जाते है। यहाँ औषधिका अर्थ है देवताओं तथा पितरोंके कर्मोंमे प्रयुक्त होनेवाले अन्नादि।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

मै ही इस जगतके लिये पिता, माता, धाय (पिलाने-खिलानेवाली, जिसे धाई भी कहते है) तथा पितामह—दादा—हूँ। जानने योग्य, पवित्र या शोधक पदार्थ, ॐकार, ऋक्, साम, एवं यजु भी मै ही हूँ।१७।

यहा ऋक् आदि तीनों शब्द उन नामोंवाले वैदिक मंत्रोंके ही है। जिन मंत्रोंको गाते है उन्हे साम कहते है। जिनके बारेमे पिगल और छन्दोंके नियम लागू है उन्हे ऋक् और जो इन दोनोके अलावे खिचडी जैसे है उन्हीको यजु कहते है। साममंत्र जिसमंत्र संग्रहमे ज्यादा या सभी थे उसीको सामवेद, ऋक्मंत्र जहाँ अधिकांश थे उसे ऋग्वेद और यजुर्मंत्र जिसमे ज्यादातर थे उसे यजुर्वेद कहा गया। अथर्ववेदका संग्रह सबसे पीछे हुआ। इसमे सभी तरहके छंटे-छुटाये मंत्र संगृहीत हुए। यह एक तरहसे वेदोंका परिशिष्ट है। त्रयी या तीन ही वेद कहनेका भी यही आशय है। आखिर मंत्र भी तो तीन ही है। इन तीनोंके अलावे तो मंत्र होते ही नही। मंत्र शब्द उन्हींका वाचक जो है।

वेद, पवित्र और ॐकार ये तीन पदार्थ जुदे-जुदे है; न कि ॐकारके ही शेष दोनों विशेषण है। यद्यपि ॐकारका उल्लेख सातवे अध्यायमें ही हो चुका है; तथापि वहाँ उसका स्वतंत्र रूप न होके वेदोंका निचोड़ ही उसे माना है। विपरीत उसके यहाँ स्वतंत्र रूपमें ही वह आया है और है यहाँ वह ब्रह्मका प्रतीक।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

जहाँ पहुँचा जाय वह, पोषक, स्वामी, साक्षी, सबका आधार, शरण, सुहृद, जिससे उत्पत्ति हो, जिसमें पदार्थ लीन हों या जा मिलें, जिसमें कायम रहें, सभी चीजों या कर्मोंका कोष और पदार्थोंका निरन्तर कायम रहनेवाला बीज (भी मैं ही हूँ) ।१८।

सातवें अध्यायका बीज मूल कारणके मानीमें आया है । मगर यह बीज साधारण बीजके ही अर्थमें है । बीज तो बराबर कायम रहता ही है । यदि वह न रहे तो कोई पदार्थ पैदा कैसे हो ? इसीलिए उसे अव्यय या निरन्तर कायम रहनेवाला कह दिया है । गतिका अर्थ है जहाँ तक जाया जाय या गन्तव्य स्थान और लक्ष्य ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन, मैं ही (सूर्यकी किरणके रूपमे) तपता हूँ, वृष्टि या जलको रोक रखता और जमा करता हूँ और वर्षाता भी हूँ । अमृत, मृत्यु, सत् और असत् भी मै ही हूँ ।१९।

यहाँ पूर्वार्द्धमे सूर्यका ही तीन रूपोंमे वर्णन है । सूर्यकी किरणे तीन प्रकारकी होती है । एक तो तपनेवाली जो जलको ऊपर उठाती या खीचती है । दूसरी उसे जमा करके मेघका रूप देनेवाली और तीसरी उसे बरसानेवाली । यही बात श्लोकमे लिखी है । संसारके कुछ पदार्थ अमर है और शेष मरनेवाले । ये दोनो ही जिन पदार्थों या विशेषताओंके करते ही ऐसे बने है उन्हीको अमृत और मृत्यु कहा है । सत्, असत्का अर्थ है स्थूल-सूक्ष्म या कार्य-कारण । सूक्ष्म पदार्थ दीखते नही । इसीसे खयाल होता है कि वे नही है, असत् है । इसी प्रकार कार्य बन जानेपर कारणकी स्वतंत्र सत्ता मालूम पड़ती ही नही । इसीलिए पुराने लोगोने कारणको ही असत् भी कहा है । वह लापतासी चीज होती है । उसे ही ढूँढते भी है । कार्य तो सामने ही होते है ।

इस प्रकार इन चार श्लोकोमे विभिन्न रूपसे मुख्य मुख्य पदार्थोंको परमात्माका रूप गिना दिया । इस प्रकार अनेक रूपसे उसके चिन्तन एवं ज्ञानयज्ञके साथ इसका मेल भी हो गया और ज्ञान-विज्ञानके सम्बन्धमे एक सीढी आगे बढ भी गये । मगर इस विभिन्नताके खयाल, इस तरहके ज्ञानयज्ञ या इस आगेकी सीढ़ीका असली प्रयोजन यह विभिन्नता तो है नही । इसके द्वारा तो दरअसल विश्वव्यापी एकता, एकरसता तथा अद्वैतकी ही ओर बढ़ना और अन्तमे वहाँ पहुँचके

टिक जाना ही लक्ष्य है। इसलिये जिनकी दृष्टि इस लक्ष्यसे, और इसीलिये एकत्वरूपी ज्ञानयज्ञसे भी, विचलित होके इस अनेकतामें फँसती है वह चूक जाते है, यह बात सदा याद रखनेकी है। चूकनेवाले भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विभिन्न पदार्थोंमे एक भगवानकी ही भावना करते है। उनकी चूक यही है कि अनेक पदार्थोंको भी देखते है। फिर भी उनने रास्ता पकड़ लिया है। फलतः कुछ विलम्बसे असली जगहपर ही जा पहुँचेगे। यह ठीक है कि उनसे भी पहले विराट्दर्शी पहुँचेंगे। क्योंकि वे इनसे कुछ आगे जो है। वे अलग-अलग पदार्थोंको देखते तो नहीं। हाँ आईनेकी तरह जगत्को एक देखते हैं। इसीलिये सचमुच उनके सामने दोई रह गये—आत्मा या परमात्मा और आईना। विपरीत इसके पहलेवालोंके सामने तो अनन्त पदार्थ चट्टानकी तरह पड़े हैं। इन सबोंको तोड़के इनकी ही तरह एक करना है, राजमार्ग बनाना है। इसमे परीशानी तो होगी ही। समय भी लगेगा। फिर भी ये दोनों ही आगे-पीछे लक्ष्यपर पहुँचेगे ही। फिर तो सर्वत्र उन्हे आत्मा ही दीखेगी। इसीलिए इनके बारेमें चिन्ता नहीं की गई है।

मगर जो चूकनेवाले दूसरे प्रकारके है, वह जगत्के विभिन्न पदार्थोंमें या तो विभिन्न देवताओंकी भावना करते हैं, या इन्हीं पदार्थोंसे किन्हीं इन्द्र, महेन्द्रादि देवताओंका ही यजन-पूजन करते है। ये दोनों ही लक्ष्यमे बहुत दूर चले जाते है। इसीलिए इन्हे कष्ट भी भोगने पड़ते है। इन्हीं दोनोंकी दुर्गतिकी बात आगेके क्रमशः २०, २१ तथा २३-२५ श्लोकोंमें कही गई है। इनमे भी इन्द्रादिकी पूजा करनेवाले तो और भी नीचे है; क्योकि वे काल्पनिक देवताओंको मानके निरे खयाली संसारमे ही विचरने और स्वर्गादिके सुख चाहते है। विपरीत इनके दूसरे ऐसे है जो दृश्य पदार्थोंको ही भगवान न मानके उसकी जगह देवताओंकी ही भावना करते है। वे भूले तो है जरूर। मगर उनका संसार निरा खयाली नही है। उपनिषदोमे ऐसोंका उल्लेख बहुत आया है। इसीलिए वे कुछ ऊंचे है। यही कारण है कि शुरूके दो श्लोकोंमें पहले लोगोंकी बाते कहके और प्रसंगसे बीचके २२वेमे असली लक्ष्यकी याद दिलाके पुनः तीन श्लोकोंमे दूसरे लोगोंकी गाथा सुनाते है।

त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

तीनों वेदोंमें बताये कर्मोंके जाननेवाले (लोग) यज्ञोंके द्वारा मेरा पूजन करके

सोमलताका रस पीते (और इस तरह) पापरहित होके स्वर्ग-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं। वे इन्द्रके सुन्दर लोक—स्वर्ग—में जाके वहाँ देवताओंके दिव्यभोगोंको भोगते है। (पीछे) वही लोग उस विशाल स्वर्गके भोगोंको भोग चुकनेके बाद (अपना) पुण्य पूरा हो जानेपर (पुनः) मर्त्यलोकमें ही आ धमकते है। तीनों वेदों में बताये धर्मोके करनेवाले भोगेच्छुक लोग इसी तरह आवा-जाही जारी रखते हैं।२०।२१।

यहाँ सोमपा शब्दका अर्थ है सोमरसके पीनेवाले। असलमें वैदिक यागोंमें से यहाँ एकका उल्लेख नमूनेके तौरपर ही हुआ है। ज्योतिष्टोम नामक वैदिक याग स्वर्गके ही उद्देश्यसे किया जाता था। इसमें प्रधान पदार्थ सोमलता ही मानी जाती थी। घी आदिकी जगह प्रधान आहुति इसी लताके रसकी दी जाती थी। ऐसा माना जाता है कि बर्फानी प्रदेशमें ही यह लता होती है। उसे मँगवाके पत्थरोंसे कूटते और रस निचोड़ते थे। उसी रससे देवताओंके लिए आहुतियाँ देके बचे-बचाये या यज्ञशिष्ट रसको यजमान वगैरह पीते थे। इसीलिये 'सोमपाः' शब्द आया है। इस प्रकार बड़ेसे भी बड़े वैदिक यज्ञयागादिका परिणाम यही आना जाना ही तो है।

विपरीत इसके जो अनन्य भावसे आत्मचिन्तनमें लग जाते हैं वह न सिर्फ इस आवाजाही और जन्ममरणके चक्रसे ही बचते हैं; बल्कि इस संसारमें भी उन्हें किसी पदार्थकी कमी नहीं रहती है। अतः उसके मुकाबिलेमें यह कितनी ऊँची चीज है—"यह जवाल और यह जलाल"! इसीलिए उसके साथ इसका कोई भी मुकाबिला नहीं हो सकता है। यही बात प्रसंगसे अगले श्लोकमें कहके फिर वही बात चालू करते है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो भक्तजन अनन्य भावसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते है, मुझमें ही निरन्तर लगे रहनेवाले उन लोगोंका योगक्षेम मैं (खुद) करता हूँ।२२।

जो आवश्यक पदार्थ अप्राप्त हों उन्हें जुटाना योग है। जुटनेपर उनकी हिफाजतको क्षेम कहते है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कौन्तेय, अन्य देवताओंके भी जो भक्तजन श्रद्धासे उनका यजन करते हैं वे भी यजन तो मेरा ही करते है। (फर्क यही है कि) विधिपूर्वक या उचित रीतिसे नहीं करते।२३।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि सभी यज्ञोंका भोगनेवाला—उनके द्वारा आराध्य देवता—और फल देनेवाला भी मैं ही हूँ । लेकिन वे मुझे यथार्थ रूपमें जानते ही नहीं । इसीसे चूक जाते है ।२४।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

(बात यों है कि) देवताओंके व्रत-पूजन करनेवाले उन्हीतक पहुँचते हैं, पितरोंके व्रतवाले उनतक, भूतोके पूजक भूतोंतक और मेरे पूजक मुझतक भी पहुँचते हैं ।२५।

यहाँ 'अपि माम्'मे 'अपि'को 'माम्'के बाद ही लगाके अर्थ करना ठीक है, जैसा कि "यान्ति मामपि" (७।२३)मे किया गया है । वहाँ तो वैसा हुई । मगर यहाँ भी अभिप्राय वही होनेके कारण अर्थ भी वही होना चाहिये । इसी प्रकार जो 'तत्त्वेन' शब्द २४वेमे आया है उसका तात्पर्य यही है कि अन्य देवताओंके रूपमे भगवानके पूजनेवालोंको भगवानका तत्त्वज्ञान—यथार्थ ज्ञान—नहीं होता । इसीसे वे चूकते है, उनका पतन होता है । कारण, तत्त्वज्ञान या आत्मरूपसे भगवानका साक्षात्कार ही असल चीज है । "त्रैविद्या" और 'येऽप्यन्य' श्लोकोंमें—दोनों ही जगह—'माम्' आया है । इससे स्पष्ट है कि दोनों ही प्रकारके लोग एक ही श्रेणीके है । इनमें जो फर्क है वह बताया जा चुका है । श्रद्धाका उल्लेख होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि उसके बिना जो कुछ किया जाता है वह बेकार है ।

इस प्रकार चूके तथा पथभ्रष्ट लोगोंकी दशाका वर्णन करनेका फल यह होता है कि जो लोग आत्मज्ञान और भगवानके मार्गपर चलने है और जिनका वर्णन 'अनन्याश्चिन्तयन्तः" तथा इससे पूर्वके "एकत्वेन पृथक्त्वेन" श्लोकमे आया है, उनकी ओर बलात् ध्यान आकृष्ट हो जाता ह । प्रयोजन भी इस निरूपणका यही है । बिना धूपमें जले छायाका महत्त्व या शीतल जलका पूरा स्वाद नही मिलता है । फलतः पुनरपि उसी मुख्य विषयपर आ गये । जैसा कि कहा गया है, उस उचित मार्गपर चलनेवाले भी कई तरहके लोग होते है । इसलिये यह बताना जरूरी हो गया कि उसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार या सर्वत्र आत्मा-परमात्माके ही दर्शनकी दशामें कैसे पहुँचा जाता है । उन विभिन्न दर्शियोंके दो विभाग करके पहलेका काम घृत, सोम आदिके द्वारा इन्द्रादि देवताओके रूपमें—न कि स्वतंत्र

रूपसे—भगवानका पूजन कहा गया है। दूसरेका सीधे भौतिक पदार्थोंको ही भगवानकी जगह देवताके रूपमे पूजनेकी बात बताई गई है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी विभिन्न-दर्शी लोगोंको दो दलोंमे बाँटके पहलेका काम पत्र, पुष्पादिके द्वारा स्वतंत्र रूपमे भगवानका पूजन बताया गया है। दूसरेके बारेमे सभी कामोको भगवानकी पूजा ही मान लेने और उसी भावमे उन्हे करनेकी बात कही गई है। असलमे भगवानकी ओर बढनेवाले लोगोमे पहला दल तो सभी पदार्थोंको अलग-अलग मानता ही है। इसीलिये वह पत्र, पुष्पादिमे ही पूजन करता है। हा, जब दूसरा दल सभी पदार्थोंको एक करके आत्मा-परमात्मका आईना मानता है तो यह उचित ही है कि वह जो कुछ भी करे उसे भगवानकी पूजा ही माने। २६वें श्लोकमे पहले दलकी और उसके बादके डेढ श्लोकोंमे दूसरेकी बात कहके २८वेके उत्तरार्द्धमे उसका फल संन्यास और उसके द्वारा आत्मसाक्षात्कारके फलस्वरूप मुक्ति ही बताई गई।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो (श्रद्धा) भक्तिमे मुझ परमात्माको पत्ते, फूल, फल (या) जल अर्पण करता है, मनपर काबू रखनेवाले उस मनुष्यकी भक्तिपूर्वक भेटको मै स्वीकार करता हूँ।२६।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौन्तेय, जो दान, यज्ञ, योग, तप या और भी कोई काम करते हो वह सब कुछ मुझीको अर्पण करो—सब कुछ मेरी ही पूजा मानो।२७।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार कर्मोंसे उत्पन्न और उन्हीमे पुनः मनुष्योको जोड़नेवाले बुरे-भले फलोंसे तुम्हारा पिंड छूट जायगा। (उसके बाद क्रमशः) संन्यास मूलक योग या समाधिमे अपने मनको लगाके तुम मुक्त होगे (और इस तरह) हमे प्राप्त कर लोगे।२८।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

(यद्यपि) मै सभी पदार्थोंमे एकरस हूँ (और इसीलिये) न मेरा कोई शत्रु है न मित्र, (तथापि) जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते है वे मुझमें और मैं उनमे हूँ।२९।

यहाँ २८वे श्लोकमें "कर्मबन्धनैः" पदके दो अर्थ है और दोनोंका परस्पर संबंध है। कर्मसे फलोंका बन्धन है, ताल्लुक है। अर्थात् कर्मोंसे फल पैदा होते है। इमीके साथ फलोंसे भी कर्मोका बन्धन या ताल्लुक है। क्योंकि फलोंके भोगने पर कर्मोमें चस्का पैदा हो जाता है और जी चाहता है कि ऐसे ही कर्म और भी करें। मगर भगवानके अर्पण करने पर तो यह कोई भी बात नहीं होती। फलतः मनकी शुद्धि हो जानेसे कर्मोका स्वरूपतः संन्यास होता है। अनंतर समाधिमें लग जाने पर आत्म-दर्शन होके मुक्ति मिल जाती है।

इसपर यह खयाल हो सकता है कि जब भगवान सर्वत्र एकरस है और उसके लिये न तो कोई अपना है, न पराया, तो फिर यह क्या कि ज्ञानीजन उसे प्राप्त कर लेते है और दूसरे नहीं? उसके सम्बन्धमें यह क्या बखेड़ा है? वह तो सभी को प्राप्त ही है। क्योंकि सभी जगह मौजूद है। इसीलिये प्राप्त करने या पहुँचनेकी भी कोई बात नही हो सकती है। ऐसी दशामें भक्तजनोंका उसतक पहुँचना भी कुछ उल्टी-सी बात लगती है।

इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर २९वाँ श्लोक देता है। कोई बढ़ई दिनभर बीसियों गृहस्थोंके घर जा-जाके उनका काम करता रहा। फिर कुछ दिन रहते ही फुर्सत पाके घर चला। जाड़ेके दिन थे। इसलिये कन्धे पर अपना बसूला रखके ऊपरसे उसने दोहर डाल ली थी। घरके नजदीक पहुँची रहा था कि एकाएक खयाल आया कि ऐ, बसूला क्या हो गया? मै उसे कहाँ छोड आया? बस, उल्टे पाव लौट पड़ा, सभी जगह दौडता फिरा और पूछ-ताछ करके हार गया। पर बसूला मिल न सका। लाचार मनहूस मनसे घर वापिस चला। पहुँचते ही दरवाजे पर जलती धुर्नाके पास गया। जाड़की शाम तो थी ही। इसीसे आगकी जरूरत भी थी। आगके पास उदास बैठा ही कि बच्चेने पूछा कि पिताजी, आज उदास क्यों है? उत्तर मिला कि क्या कहे? जाने कहाँ बसूला ही खो गया और कमानेका आधार वही एक था! बच्चा इसपर कहता ही क्या? थोड़ी देर बाद आगकी गर्मीसे देहमें गर्मी आने पर जो उसने दोहर उतारके रखनी चाही तो बसूला हाथ लग गया! अब तो उसकी खुशीका ठिकाना न था! उसने कहा, धत्तेरे की! बसूला तो पास ही था और मै दौडता फिरा! बस, यही बात परमात्मा और आत्माके मिलने-न-मिलनेकी भी समझिये।

नवे अध्यायमे जो कुछ कहना था, यहीं पूरा हो गया। फिर भी अभी पाँच श्लोक रह जाते है। उनमे कोई नई बात नही कही गई है। किन्तु जो लोग किसी भी हालतमें इस तरफ कदम बढ़ाते है उन्हीके लिये प्रोत्साहन उन श्लोकों-का विषय है। अभी-अभी २७वें श्लोकमें जो यह कहा गया है कि खाने-पीने,

भोगराग या दूसरे भी कामोंको भगवानको ही अर्पण कर दो, वह तो बहुत व्यापक चीज है। ऐसा होने पर तो बुरेसे भी बुरे कर्म इसी श्रेणीमें चले आ सकते हैं। तो क्या यह ठीक और मुनासिब होगा कि ऐसे कर्मोंको भी भगवानको अर्पण किया जाय? यदि हाँ, तो फल क्या होगा? यही न, कि ऐसे दुष्कर्मी लोग भगवानकी अन्य प्रकारकी पूजाका नाम न लेंगे—उसीका जिसे लोग सचमुच पूजा मानते हैं? फलतः यह तमाशा, नाटक और प्रवंचनाके अलावे दूसरा कुछ न माना जाना चाहिये। यह बहुत मोटी बात है और आमतौरसे सभी लोग इसे बखूबी समझते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि ऐसी बात न सिर्फ कही गई है, बल्कि उसका ऊँचेसे भी ऊँचा फल बताया गया है। इसीका उत्तर आगेके चार श्लोक इस तरह देते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

अगर पक्का दुराचारी भी हो, फिर भी मुझ परमात्माको अनन्य भावसे भजे, तो उसे साधु ही मानना होगा। क्योंकि (अब तो) उसका व्यवसाय उचित ही है। (इसलिये) शीघ्र ही वह धर्मात्मा हो जाता है (और धीरे-धीरे उक्त रीतिसे) अखंड शांति—मुक्ति—बखूबी प्राप्त कर लेता है। हे कौन्तेय, मनमें बिठा लो कि मेरे भक्तकी दुर्गति कभी होती ही नहीं। हे पार्थ, (यहाँ तक कि) जो नीच एवं दूषित योनिवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी हैं वे भी मेरा आश्रय लेके (क्रमशः) परम गति हासिल कर लेते हैं। तो फिर पुण्यजन्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय भक्तोंका क्या कहना? (इसलिये) इस सुखसे रहित और चन्दरोजा शरीरको पाके मुझीको भजो।३०।३१।३२।३३।

इन चार श्लोकोंमें पहलेमें जो अनन्य भावसे भजनेकी बात कही गई है वह ठीक वही है जो "यत्करोषि" में कही गई है। ३२वेंके "मां व्यपाश्रित्य" का भी कम-बेश वही आशय है। यह ठीक है कि ऐसे लोग एकाएक वैसा कर नहीं सकते। इसीलिये 'भजते' का अर्थ है भजनका यत्न करता है—उस ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता है। श्रद्धासे उस ओर बढ़नेसे ही रास्ता साफ होने लगता है।

क्योंकि यदि पूरा बढ़ जाय तो अत्यन्त दुराचारी—सुदुराचार: कहनेके कुछ मानी नही रह जाते। फलतः "सम्यग्व्यवसितः "में कह दिया है कि उसका यह व्यवसाय, यह उद्योग उचित ही है। वह उद्योग और यत्न करता है यही आशय है। जल्द ही धर्मात्मा होनेकी भी बात इसीलिये कही गई है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा करनेके कुछ समय बाद उसका दुराचार धीरे-धीरे बन्द होके वह धर्मात्मा बनता है, होता है। मगर शुरूसे ही अनन्य भक्त हो जानेपर तो इसकी जरूरत हुई नही। बिना धर्मात्मा हुए अनन्य भक्त कैसा? यदि अजामिल आदि-की जैसी बात कहे, तो भी ठीक नही। क्योकि अजामिल दुराचारी भले ही रहा हो। मगर सुदुराचार या अत्यन्त दुराचारी हर्गिज न था। हम तो उसे प्रायः धर्म-व्याध जैसा ही मानते हैं। "न मे भक्तः प्रणश्यति" का भी यही तात्पर्य है कि मेरी तरफ भावना करके जो भी थोडा बहुत किया जाता है वह कभी नष्ट नही होता। किन्तु धीरे-धीरे सूदके साथ बढता है।

बत्तीसवे और तेतीसवे श्लोकमे स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको पापयोनि या छोटा और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोको पुण्यजन्मा कहा है। क्योंकि 'पापयोनयः' के विपरीत "पुण्याः" शब्द ब्राह्मणो एवं राजर्षियो—क्षत्रियो—दोनों ही—का विशेषण है। देखनेसे यही उचित भी प्रतीत होता है। 'भक्ताः' भी दोनो हीके लिये आया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीता और महाभारतके समय हमारी वर्णव्यवस्था न तो आज जैसी थी और न जसी शुरूमे थी वैसी भी थी। आज तो ब्राह्मणोको ही ऊंचा स्थान प्राप्त है। क्षत्रिय उनसे नीचे है। इसी प्रकार वैश्यों-का स्थान शूद्रोसे ऊंचा है। आज इन्हे पाप-योनि तो हर्गिज नही मानते, यद्यपि स्त्रियोको दुर्भाग्यसे ऐसा ही मानते हैं। यहाँ गीतामे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय तथा वैश्य एवं शूद्रको समकक्ष कह दिया है। चौथे अध्यायमे जो "राजर्षयो विदु." कहा है उससे भी क्षत्रियोका दर्जा यदि ऊँचा नहीं तो ब्राह्मणोके समकक्ष तो सिद्ध होई जाता है। विपरीत इसके शुरूमे चारो वर्णोको शरीरके चार अंगोंकी जगह मानके यह दिखाया था कि यह वर्ण-विभाग और कुछ नही, केवल समाज-के संचालनार्थ कामोका बँटवारा है। इसम ऊँच-नीचका प्रश्न नही। प्रत्युत चारोकी अपने-अपने स्थानपर समान ही उपयोगिता है। हमने यही बात पहले लिखी भी है। लेकिन गीता पहले दोको श्रेष्ठ और शेष दोको कनिष्ठ—नीच—कहती है!

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोकी पंचाग्नि विद्यावाली बात लिखते हुए हमने पहले बताया है कि उस जमानेमे क्षत्रियोंका दर्जा ब्राह्मणोंके समकक्ष जैसा ही था, अगर ऊँचा न भी था। कमसे कम ब्राह्मणोंका यह दावा तबतक न

हो पाया था कि सब विद्यायें वही जानते हैं और उन्हींसे संसारको सीखनी होंगी, सीखनी चाहिये, जैसा कि मनुस्मृतिमें लिखा है कि 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रंशिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'' (२।२०)। इसलिये यह माननेकी काफी गुंजाइश है कि ब्राह्मण ग्रन्थों एवं प्रधान उपनिषदोंके समयसे मिलता-जुलता ही समय गीताका है। या यों कहिये कि वही समय महाभारतका है। उपनिषदोंकी जब खूब प्रधानता थी तभी गीता बनी। इसीलिये न सिर्फ उपनिषदोंकी बातें इसमें रूपान्तरसे बहुत ज्यादा आईं; बल्कि इसकी सर्वमान्यताके ही खयालसे इसे भी रूपान्तरमें उपनिषद ही कहना पड़ा। नहीं तो उपनिषदोंके सामने इसे कौन पूछता? यह तो नियम ही है कि जिसकी चलती बनती है उसके ही पीछे चलनेसे काम बनता है। पीछे तो उपनिषदोंको भी लोग भूलसे गये। मगर यह विषय स्वतन्त्र रूपसे विचारनेका है। यहाँ तो यों ही प्रसंगसे थोड़ासा इशारा कर दिया है।

आगेके अन्तिम श्लोकमें इस अध्यायका उपसंहार कुछ इस तरह करते हैं कि जो बातें प्रधान रूपसे, लक्ष्यके रूपमें, कही गई हैं वे इसमें आ जायें—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

हमींमें मन लगाओ, हमारे ही भक्त हो जाओ, हमारा ही यज्ञ करो (और) हमारा ही नमस्कार करो। इस प्रकार हमींको सब कुछ समझते हुए हमींमें मनको जोड़ देनेसे हमीको प्राप्त हो जाओगे।३४।

बेशक, इस श्लोकको जाहिरा तौर पर देखनेसे तो यही पता लगता है कि पूर्ण पहुँचे हुए ज्ञानीजनोंकी ही बात इसमें है। मगर इतने अधिक विशेषण भक्तजनके पीछे लगे हैं कि सन्देह पैदा करते हैं। भगवानका यजन करे, उसे नमस्कार करे और इसीके साथ मनको उसमें एक बारगी जोड़ दे, यह बात समझमें आती नहो। मनको उसीमें बाँध देनेका तो अर्थ ही है कि शेष क्रियायें बन्द हो जायँगी। और अगर दोनों ही तरहकी क्रियायें चलेंगी तो 'मन्मनाः', 'मद्भक्तः' और 'आत्मानं एवं युक्त्वा' इन तीन विशेषणोंकी सफलता कैसे होगी? तब तो एक ही से काम चलेगा। तीनोंके देनेका तो प्रयोजन ही है—खासकर जब उन्हींके साथ 'मत्परायणः' भी जुट जाता है—कि चोबीसों घण्टे आत्मा-परमात्मामें ही डूबा हुआ मस्त पड़ा है। इसीलिये हम इस श्लोकका यही आशय मानते हैं कि नमस्कार, यजन आदिके जरिये धीरे-धीरे उस अन्तिम दशामें पहुँचनेको लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है। फलतः नवें अध्यायमें जो कई प्रकारके विवेकी जन 'एकत्वेन' आदिके द्वारा कहे गये हैं वे सभी इसमें आ जाते हैं।

इस अध्यायमें केवल एक ही बार सम शब्द आया है। वह समदर्शनके ही ढंगकी बातका सूचक है, जैसा कि "निर्दोषंहि समं ब्रह्म" (५।१९) में है। ७, ८ अध्यायमे तो यह आया ही नहीं है।

इति श्री० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका राजविद्या राजगुह्य नामक नवाँ अध्याय यही है ॥९॥

दसवाँ अध्याय

सातवें अध्यायमे जिस ज्ञानविज्ञानका आरम्भ हुआ था वही नवेंके अन्ततक चलता आया है। मगर यह निरूपण केवल आंशिक और संकुचित रूपमे ही हुआ है, यह हमने पहले ही बता दिया है। इसका कारण भी समझा दिया है। ठीक ही है, इतने गहन और गूढ़ विषयका, जिसके बारेमें कृष्णने कह दिया है कि यह बात इस लम्बी मुद्दतमें लुप्त हो गई है, "योगो नष्टः परन्तपः" (४।२); एकाएक विस्तृत निरूपण करना अर्जुनको और दूसरोंको भी चकाचौंधमें डालना हो जाता। फलतः इसका बखूबी समझना और भी असंभव बन जाता। क्योंकि लोग चटपट कह बैठते कि यों ही जाने क्या-क्या अंटसंट बके जाते हैं, जो अक्लमें समाता ही नही। इतना ही नहीं, तब तो इससे लोगोंको एक प्रकारकी अश्रद्धा ही हो जाती। इसीलिये धीरे-धीरे प्रवेश कराते-कराते कृष्णने अर्जुनके मनमे चस्का और लगन पैदा करनेके साथ ही इस गहन विषयमे उसकी बुद्धिके प्रवेशका रास्ता भी साफ कर दिया। अर्जुनको अब इसमे वह कठिनाई नही प्रतीत होती थी जो पहले दीखती थी। उसका मन भी इधर झुकता नजर आया। यह बात दसवे अध्यायके पहले ही श्लोकके 'प्रीयमाणाय' शब्दसे प्रकट हो भी जाती है। इसीलिये उसी श्लोकमे कृष्णने साफ ही कह दिया कि अभी और भी मेरी मजेदार और महत्त्व-पूर्ण बाते सुनो "भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः"।

एक बात और भी है। कहा जा सकता है कि भगवानसे इस जगत्‌के बनने-की बात तो लुप्त हुई नही है। जिस योगके लोप होनेकी बात चौथे अध्यायमे कही गई है उसके भीतर तो इसके सिवाय दूसरी अनेक बाते भी है और उन्हीका विलोप हो जानेसे वहाँ मतलब हो सकता है। फिर भी यह तो ठीक ही है कि जिस चीजको भगवान खुद कहेंगे वह जितनी खूबी तथा आसानीसे जानी जा सकेगी वैसी दूसरोंकी जबानी हर्गिज नही। आखिर इस चीजके करनेवाले, इस लीलाके फैलानेवाले और मूल कारण तो वही हैं न? यह नाटक तो भगवानका ही फैलाया हुआ है न? इसीलिये इसका कच्चा चिट्ठा, इसकी हकीकत जितनी वह जानेंगे उतनी और कोई क्या जानेगा? क्योंकि वह तो उन्हीसे या दूसरोंसे ही सीख-सुनके जानेगा और कहेगा न? फिर उसके कहनेमें वह मजा कैसे आयेगा जो ठेठ भगवानके कहनेमे? दूसरे ऋषि-मुनि या उपदेशक तो उसके ही बनाये हुए है न? फिर यह कैसे आशा की जाय कि वे रत्ती-रत्ती बातें बखूबी जान सकेंगे? और जो भी जानें वे भी उस तरह कैसे समझा सकेंगे? ऐसे तो विरले

ही हो सकते हैं जिन्होंने आत्मज्ञानके द्वारा इन सभी चीजोंका साक्षात्कार कर लिया हो। क्योंकि "मनुष्याणां सहस्रेषु" (७।३) की भी बात तो आखिर इसी सिलसिलेमें कही गई है। और अगर किसी बिरले माईके लालने ऐसी योग्यता भी प्राप्त की तो भी उसका मिलना आसान तो नहीं है। इसलिये आवश्यक हो जाता है कि भगवान स्वयमेव सारी दास्तान सुनायें। जब उन्हींकी कृपासे विवेक आदि सद्‌गुण औरोंको मिलते हैं, जिससे वे ये बातें जानके दूसरोंको भी जनायें; मन, इन्द्रिय आदिको काबूमें करके पहले इस विषयको अच्छी तरह स्वयं देख लें; अनन्तर दयार्द्र होके अन्योंको भी बतायें, तो क्यों न भगवानसे ही यह चीज जानी जाय ? दसवें अध्यायके कुल ४२ श्लोकोंमें जो शुरूके पूरे अठारह श्लोक इन्हीं बातोंके कहनेमें खत्म हुए हैं उसका यही रहस्य है।

उनमें भी पहले पूरे ग्यारह श्लोकोंमें स्वयं कृष्णने इस विषयकी गहनताके खयालसे ही सब कुछ कहा है और बताया है कि इसे बिरले ही जानते हैं, सो भी मुझ भगवानकी ही अनुकम्पासे। तभी तो जो अर्जुन चुप बैठा था उसे एकाएक खयाल हो आया है कि ओहो, जब ऐसी बात है तब तो मुझे खुद कृष्णसे ही अनुरोध करना चाहिये कि वे स्वयमेव ये बातें बतायें और कहें कि किस प्रकार उनने यह विश्वका नाटक फैलाया है। कहीं ऐसा न हो कि मेरी इस चुप्पीका कुछ और ही अर्थ लगाके या तो इसे कतई छोड़ ही दें, या अगर सुनायें भी तो उस विस्तारके साथ नहीं जिसकी जरूरत है और उस मनोयोगसे भी नहीं जिसके करते विषयमें जीवन आ जाता है। इतना ही नहीं। आगे तो कृष्णको ही इस "कह सुनाऊँ"के बाद ही "कर दिखाऊँ" भी करना था। तभी तो दिलमें यह बात जाके बैठ सकती थी। इसलिये जब खुद ही वह कहेंगे तो दिखाने या प्रयोग करनेमें भी न तो हिचकेंगे और न आधे मनसे उसे करेंगे ही। इसीलिये उसने जोर दिया कि नहीं नहीं, महाराज, आप ही कृपा कीजिये और सुनाइये। उसके भीतर विषादके करते जो गड़बड़ पैदा हो गई थी उसीके चलते जानें कितनी ही बातें भूल हो गई थीं। उन्हींमें कुछ एकाएक अब याद भी हो आईं। इसीलिये तो जहाँ पहले उसने कृष्णके बारेमें कहा था कि आप तो अभी पैदा हुए हैं; फिर यह कैसे मानूँ कि सृष्टिके आदिमें आपने विवस्वानसे यह बातें कही थीं; तहाँ अब उसने यह भी कह दिया कि हाँ, हाँ, भगवन्, आपके बारेमें बड़े-बड़े महर्षियोंसे भी सुना था वही, जो आप खुद कह रहे हैं! क्षमा करें, मेरी बुद्धि ही जानें क्या हो गई थी कि कुछ याद ही नहीं पड़ता था! आपकी महिमा तो अपरम्पार है, इसमें कोई शक नहीं है। यह भी नहीं कि यह आपकी प्रशंसामात्र है। यह तो वस्तुस्थिति है। इसलिये अब तो आपको अपनी लीला सुनानी ही होगी, चाहे जो कुछ हो जाय।

इसके बाद तो भगवानके लिये कोई चारा ही न था। फलतः फौरन ही १९वें श्लोकसे ही उन्हें शुरू कर देना ही पड़ा। पूरे २४ श्लोकोंमें इसे पूरा करके भी अन्तमें उनने कह दिया कि इस पँवारेका कहीं अन्त थोड़े ही है; मैंने तो यह नमूनेकी तौरपर ही कुछ कह दिया है, "नांतोऽस्ति मम", "एषतूद्देशतः प्रोक्तः" आदि। इसीलिये जो लोग शुरूके १८ श्लोकोंको पढ़के या तो ऊब जाते, या खयाल करते हैं कि भगवानकी विभूति या प्रपंच-लीलाके निरूपणवाले इस अध्यायमें प्रायः आधे श्लोक बेकार ही क्यों दूसरी बातोंमें लगा दिये गये हैं, उन्हें अब पता लग गया होगा कि इस बातकी जरूरत थी। असलमें यों तो इस विषयकी अहमियतको जनसाधारण समझी नहीं सकते। इतनी भूमिकाके बाद भी उनके दिमागमें यह बाद शायद ही जमे। उनके लिये तो यह दूसरी दुनियाकी विदेशी जैसी चीज हो है। फिर मन लगे तो कैसे लगे? इसीलिये इतनी भूमिका भी कुछ विशेष काम उनके दिमागपर कर पाती नहीं। मगर अर्जुनके बारेमें यह बात न थी। वह तो बहुत कुछ ऊँचा उठ चुका था। इसीलिये इस भूमिकाने उसे न सिर्फ प्रोत्साहित किया; बल्कि उसमें चस्का भी पैदा कर दिया। फलतः वह इसमें लिपट ही तो पड़ा। नतीजा यह हुआ कि दसवेंके शेष और पूरे ग्यारहवें अध्यायमें उसने कृष्णसे "कह सुनाऊँ" तथा "कर दिखाऊँ" दोनों करवाके ही छोडा।

एक बात यहींपर और भी जानके आगे बढ़नेमें अच्छा होगा। "एतां विभूतिं योगं च" (१०।७) में तथा "विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च" (१०।१८) में एक ही साथ योग और विभूति शब्द आये हैं। इसके सिवाय सोलहवेंमें भी कई बार विभूति शब्द आया है। इन दोनोंमें विभूतिका अर्थ तो 'बहुत रूप हो जाना या बन जाना' साफ ही है। जो कुछ कहा गया है उससे भी साफ हो जाता है। मगर उसीके साथ जो योग है उसका स्पष्टीकरण इस अध्यायमें कहीं नहीं मिलता। अन्तके ४०-४१ श्लोकोंमें भी कई बार विभूति शब्द ही आया है, न कि योग। इससे यही मालूम होता है कि इस अध्यायमें विभूतियोंका ही वर्णन है, विस्तार है। इसीलिये तो इसे विभूतियोग नामक अध्याय कहते हैं; जैसा कि औरोंको ज्ञान-विज्ञानयोग आदि नाम दिये गये हैं।

तब प्रश्न होता है कि यहाँ योगका अर्थ आखिर है क्या? योग शब्द जिन अर्थोंमें गीतामें बार-बार आया है वह तो इसका अर्थ है नहीं। इसके तो ज्यादेसे ज्यादा चमत्कार, करिश्मा, ऐश्वर्य आदि ही अर्थ किये जा सकते हैं। मगर तब क्या विभूतिसे काम नहीं चल जाता कि इसकी भी जरूरत हुई? यह प्रश्न उठता है। आखिर विभूति भी तो चमत्कार या करिश्मा ही है। जादूगर जब नई-नई चीजें बताता है तो उसे करिश्मा ही तो कहते हैं।

असलमें दसवें और ग्यारहवें अध्यायोंमे यों ऊपरसे देखनेसे दो जुदी बातोंका वर्णन मालूम होनेपर भी इनके विषयको एक ही मानके उसे दो भागोंमें केवल बाँटा गया है। इनमें पहला है 'कह सुनाऊँ' वाला और दूसरा 'कर दिखाऊँ'का। दोनोंको एक ही समझनेके लिये ही यहीं।र एक ही साथ विभूति और योग शब्द शुरूमे ही कहे गये है। यही कारण है कि विभूतिके खत्म होते ही, 'कह सुनाऊँ'के पूरा होते ही अर्जुनने ग्यारहवेंमे चटपट 'कर दिखाऊँ'के बारेमें प्रश्न कर दिया है और जरा भी देर न की है। कृष्णके भी 'कर दिखाने'का उसके नवे श्लोकसे शुरू करनेके ठीक पहले आठवेंके अन्तमें "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" मे योग आ गया है। जो कुछ दिखाया गया है उसे ही वहाँ ईश्वरीय योग कहा है। इससे स्पष्ट है कि विश्व-रूपका दिखाना ही योग है। दिखानेके भीतर ही देखना भी आ जाता है। इसी-लिये विश्वरूप दर्शनमें दर्शनका अर्थ देखना-दिखाना दोनों ही है। अतएव दसवेंके "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं" (१०।२) में जो प्रभव शब्द है उसका अर्थ प्रभुता या ऐश्वर्य करके उसके भीतर विभूति और योग दोनोंको ही समझना होगा। कृष्णके कहनेका अभिप्राय यही है कि मैं किस प्रकार इस विश्वप्रपंचको बनाता और फैलाता हूँ इसे देवता, महर्षि आदि कोई भी ठीक-ठीक नही जानते, नहीं जान सकते। जानें भी कैसे ? यदि उस समय होते तब न ? इन्हे तो मैंने ही उसी सिलसिलेमें पीछेसे बताया है। इस प्रभव शब्द का अर्थ उत्पत्ति या उत्पत्तिस्थान आदि करना उचित नही है। उसमे वह मजा नही आता जो हमारे बताये अर्थमे है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान बोले—हे महाबाहो, मेरी और भी (एक) बड़ी बात सुनो, जिसे मै तुम्हारे हितके खयालसे तुम्हे (केवल) इसीलिये कहूँगा कि तुम्हे मजा आ रहा है।१।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मैं विश्वप्रपंच कैसे फैलाता हूँ इसे न तो देवगण जानते है और न महर्षि लोग ही। क्योंकि मै ही तो सभी देवताओं और महर्षियोंका बनानेवाला ठहरा।२।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

मनुष्योंमें जो (बिरला ही) पूर्ण जानकार होता है वही मुझ अजन्मा, अनादि और सभी प्रपंचके बनाने-चलानेवालेको अच्छी तरह जानता है (और इसीलिये) सभी पापोंसे छुटकारा (भी) पाता है ।३।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

विवेकशक्ति, विवेक, मोहका संसर्ग कतई न होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंपर काबू, मनपर काबू, सुख, दुःख, पदार्थोंका होना, न होना, भय, अभय, अहिंसा, सबमें समबुद्धि या सबके साथ समानताका व्यवहार, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश (आदि) ये सभी विभिन्न पदार्थ मैं हो पैदा करता हूँ ।४।५।

जिन बीस पदार्थोंको प्रधानतया इन दो श्लोकोंमें गिनाया है उनका इस प्रसंगमें इतना ही उपयोग है कि आत्मसाक्षात्कार या दिव्य-दृष्टि प्राप्त करने और तदनुकूल ही दूसरोंको उपदेश करनेके लिये ये जरूरी हैं । इनके बिना वह नजर और वह दृष्टि एक तो मिली नही सकती । मिलनेपर भी दूसरोंको इन्हींके अनुकूल पथदर्शनमें किसीकी प्रवृत्ति होई नहीं सकती, जबतक ये गुण उसमें पूर्ण-रूपसे आ न गये हों । जिसे सुख-दुःखका कटु अनुभव न हुआ हो, जो क्षमाशील न हो, जिसने भय-अभयकी खूबियाँ और कारनामे कभी देखे ही नहीं, वह क्या लोकसंग्रह करेगा ? यही चीजें और ऐसी ही दूसरी भी उसे उस ओर जबर्दस्ती लगाती है, उसके दिलको पिघला देती हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सबसे पूर्व या सृष्टिके आरंभके सात महर्षि और चार मनु—ये सभी—मुझीसे मेरे मनके संकल्पसे ही पैदा हुए थे, जिनने दुनियामें ये प्रजाएँ पैदा कीं—यह जनता पैदा की ।६।

इस श्लोकमें जो 'पूर्वे' शब्द है वह 'महर्षयः सप्त' और 'चत्वारो मनवः'के बीचमें आनेके कारण दोनों ओर जुटता है । "लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा" (१४।१२) में 'कर्मणां' का भी वही हाल है । वह 'आरंभः' और 'अशमः' दोनोंसे ही जुटता है । इसीको देहलीदीपकन्याय कहते हैं । बीच द्वारमें जो दीपक रहता है वह बाहर-भीतर दोनों ही तरफ उजाला करता है । वही बात यहाँ भी है । इस तरह इसका अर्थ यह हो जाता है कि पूर्वके, शुरूके या यों कहिये कि

सृष्टिके आरम्भके सप्त महर्षि या सप्तर्षि और शुरूके ही चार मनु, ये ग्यारह भगवानके मानसपुत्र हैं, मनके संकल्पसे ही उत्पन्न हुए लोग हैं। इसीलिए इन्हें भगवानके प्रतिनिधि मानके इनके द्वारा हुए सृष्टिविस्तारको भगवानका ही विस्तार, उसीकी विभूति मानते हैं। 'मद्भावाः' शब्दका यही अर्थ है कि ये लोग *मेरे ही स्वरूप हैं। अतः मेरी जगहपर ही काम करते हैं। आखिर समूची सृष्टिका विस्तार खुद भगवान अकेले तो कर सकते नहीं। इसीलिये उनने अपने* सहायक पैदा किये। पैदा करना भी क्या था? उनने मनमें खयाल किया और ये आ हाजिर हुए। मानसपुत्रका यही मतलब है।

असलमें प्रत्येक कल्प या सृष्टिमें चौदह मनु माने जाते है जिन्हें मन्वन्तर भी कहते हैं। हरेक मनुके शासनकाल और कामके समयको ही अन्तर या पहले और दूसरेके बीचका समय कहनेके कारण हरेकको मन्वन्तर कहा गया। यही है पौराणिक कल्पना। इसीके साथ यह भी बात है कि हरेक मनु या मन्वन्तरके लिए भिन्न-भिन्न सप्तर्षि लोग पुराणोंमें गिनाये गये हैं। मगर गीताने न तो चौदह मनुओंको ही माना है और न सब मिलाके पूरे ९८ महर्षियों या सप्तर्षियोंको ही। गीताकी रचनाके समयतक इस कल्पनाका यह विस्तार हो पाया न था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए इसका नाम उसने न लिया। मालूम होता है तबतक केवल चार ही मनुओं और सात ही महर्षियोंकी कल्पना हो पाई थी। इसीलिए उसने इन्हीं दोको लिखा। यदि पीछे और भी हों तो गीताको उनसे मतलब भी क्या हो सकता है? सृष्टिके शुरूमें उसका विस्तार कैसे हुआ यही बात बतानी है। क्योंकि कोई सुने वही समझदार पूछ सकता है कि अकेले भगवानने भला यह सब कुछ कैसे बना डाला? इसलिए बनी-बनाई सभी चीजों और सभी पदार्थोंके वर्णनके पहले ही कृष्णने ऐसा कह दिया जिससे किसीको शंकाके लिए जगह रही नहीं जाती। ऐसी दशामें पीछे बने मनुओं या ऋषियोंसे गीताको प्रयोजन ही क्या? उनने सृष्टिके प्रारम्भिक विस्तारमें मदद तो दी न थी।

अब प्रश्न होता है कि ये कौनसे चार मनु और सात महर्षि थे? क्योंकि गीतामें तो उनका नाम है नहीं। इसलिए खामखा जिज्ञासा होती ही है। खासकर चौदह मनुओं और ९८ महर्षियोंकी बात इधर चालू हो जानेके कारण यह उत्कंठा और भी बढ़ जाती है कि आखिर ये सात ही ऋषि और चार ही मनु कौनसे हैं।

इसके उत्तरमें हमें गीताकालीन या उससे पूर्व प्रचलित साहित्यसे ही सहायता मिल सकती है और वह साहित्य है ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रंथों, निरुक्त और

बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंका ही। शेष साहित्य तो पीछेका ही माना जाता है। अब यदि देखें तो बृहदारण्यकमें गोतम या गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि इन सातका उल्लेख यों मिलता है "इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः" (२।२।४)। इसीके पहले "तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे" यह मंत्रका प्रतीक लिखके उसीका व्याख्यान इस ब्राह्मणमें किया गया है। क्योंकि उपनिषद् तो ब्राह्मण-ग्रंथका ही एक भाग है। इससे स्पष्ट है कि उस मंत्रमें भी इन्हीं सात महर्षियोंका उल्लेख है। इसी प्रकार यदि वेदोंके सूक्तों या उन मंत्र-समूहोंको जिनमें एक-एक विषयका प्रतिपादन है, देखें तो पता चलता है कि उनके कर्त्ता या ऋषि प्रायः यही सात महर्षि पाये जाते हैं। क्योंकि हरेक मंत्रके ऋषियोंको पहलेसे ही लोगोंने लिख रखा है।

इसी तरह जब मनुओंके सम्बन्धमें जाँच-पड़ताल करते है तो पता चलता है कि ऋग्वेदके आठवें मंडलके ५१, ५२ तथा दसवेंके ६२ सूक्तोंमें कई बार वैवस्वत, सावर्णि एवं सावर्ण्य नामक तीन मनुओंका उल्लेख पाया जाता है। दृष्टान्तके लिए ५१, ५२ सूक्त के पहले मंत्रोको देखें। वे यों है "यथा मनौ सावरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम्। नीपातिथौ मघवन्मेधातिथौ पुष्टिगौ श्रुष्टिगौ तथा", "यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्। यथात्रितेच्छन् इन्द्र जुजोष स्यायौ मादयसे स च"। इसी तरह दसवें मंडलके ६२वें सूक्तमें सावर्णि तथा सावर्ण्यका उल्लेख है। इसका सावरणि और उसका सावर्णि ये दोनों एक ही हैं। इसी तरह निरुक्तके "मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्" (३।१।५)में स्वायम्भुव मनुका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वैवस्वत, सावर्णि, सावर्ण्य और स्वायम्भुव यही चार मनु गीतामें माने गये है। हमारे जानते यही प्रामाणिक और उचित बात भी है और गीताके इस श्लोकका यही अर्थ मुनासिब भी है।

मगर कुछ लोगोंने, जो इस बातका बहुत बड़ा दावा करते हैं कि उनके अर्थमें खींचातानी नहीं है, इस श्लोकका निराला ही अर्थ किया है। उनके दिमागमें यह बात बैठ चुकी थी कि गीतामें भागवत या नारायणीय धर्मका ही प्रतिपादन है और वह भी ऐसा ही जैसा उसे वह समझते हैं। वह कहते हैं कि वह भागवतधर्म है तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग। कर्मयोगका भी अर्थ वह यही करते हैं कि कर्मोंका स्वरूपतः त्याग कभी नहीं करके उन्हें करते-करते ही मर जाना। वह केवल फलासक्तिका त्याग ही मानते हैं। वह इस श्लोकके पूर्वार्द्धको तीन टुकड़ोंमें बाँटते हैं। वे हैं महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारः, तथा

मनवः। फिर इनके अर्थ यों करते हैं कि सात महर्षि, उनके पहलेके चार और मनु। उनके कथनसे मरीचि, अत्रि, अंगिरस् पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यही सात ऋषि हैं। इनका वर्णन महाभारतके शान्तिपर्वके ३३५ और ३४० अध्यायोंमें आया है। अब रहे इन महर्षियोंसे भी पहलेके चार! उन्हें भागवतधर्ममें चतु-र्व्यूहके नामसे पुकारते हैं और वे हैं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। इनकी उत्पत्तिका क्रम इन सप्तर्षियोंसे भी पहले माना गया है। इनका उल्लेख भी उसी प्रसंगमें ही महाभारतमें आया है। मनु शब्दसे भी उनने सात मनु लिए हैं, जिनमें छे तो गीतासे पहले गुजर चुके थे और सातवाँ उसी समय गुजर रहा था। उनके नाम क्रमशः ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम या औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत। उस समय वैवस्वत ही गुजर रहा था। बाकी मनु तो गुजरे न थे और न वर्त्तमान ही थे; फिर उनका उल्लेख गीता क्यों करती? संक्षेपमें उनका यही कथन है, उनकी यही दलील है। उनने यह भी लिख मारा है कि आनेवाले ही मनुओंमें सावर्णि है।

हमें कहना यही है कि केवल पौराणिक बातोंके आधार पर गीताके श्लोकका अर्थ करना कभी उचित नहीं है, खासकर जबकि वे खुद मानते हैं कि गीताका समय बहुत पुराना और ब्राह्मणग्रंथोंके समकालीन या उनके बादका ही है। परन्तु पौराणिक काल तो बहुत इधरका है। गीताके "मासानां मार्गशीर्षोऽहं" (१०।३५) श्लोकके, जो इसी अध्यायका है, अर्थमें ही उनने ये सारी बातें स्वीकार की हैं। हम तो कही चुके हैं कि ऋग्वेदमें ही सावर्णिका उल्लेख है और उसीको ये महाशय भावी मनु मानते हैं! वृहदारण्यकमें लिखे और वेदोंमें भी माने गये सात महर्षियोंको न मानके महाभारत या पुराणोंके सातको माननेमें भी हमें आश्चर्य ही होता है! क्या सचमुच ज्यादा माननीय ये पुराण आदि ही हैं? मगर वे भी तो ऐसा नहीं मानते। तब मनु और ऋषियोंके ही बारेमें ऐसा माननेमें कौनसा औचित्य है? इस तरह कहाँ-कहाँसे खींचखाँचके पदार्थोंको लाना, उन्हींके बलपर श्लोकका अर्थ करना और फिर भी यह मानना कि यह खींचातानी नहीं है, कुछ अजीबसी चीज है!

जरा और भी तो देखिये। अगर यही अर्थ करना है तो फिर केवल 'महर्षयः' कहनेसे भी यही सात लिये जाते, जैसे मनवः कहनेसे सात ही आपने माने हैं। और अगर 'मनवः' के साथ 'सप्त' विशेषणकी जरूरत नहीं हुई तो महर्षयःके साथ भी क्या जरूरत थी? आखिर जिन पौराणिक वचनोंके बलसे यह अर्थ किया गया है वे तो कहीं चले जाते नहीं। वे तो 'सप्त'के रहनेपर भी रहते और न रहनेपर भी। फिर व्यर्थ ही उसके लिखनेकी क्या आवश्यकता थी। यह भी बात है कि

जब सावर्णि, सावर्ण्य नामक दो मनुओंको भी हम पहले होनेवाले ही बता चुके हैं; इसीलिये ऋग्वेदमें उनका उल्लेख भी है, तो सातसे ज्यादा तो होई गये। फिर सात मनु कहनेकी हिम्मत उनने कैसे की ? केवल बहुवचनान्त 'मनवः' पदसे तो ज्यादा भी ले सकते है। कमसे कम नौ तो लेना ही होगा। इसी तरह यदि 'महर्षयः' कहनेसे उनके बताये सात लिये जायँ, तो वृहदारण्यकवाले सात तो जरूर ही लिये जाने चाहिये। फिर 'महर्षयः'का विशेषण यह 'सप्त' कैसे उचित होगा ? इसी प्रकार चत्वारःका अर्थ यदि वासुदेव आदि चार ही हों, तो आगे जो यह कहा है कि वह मेरे मानव संकल्पसे ही पैदा हुए "मानसा जातः", वह कैसे युक्ति-युक्त होगा ? वासुदेवके ही मानससंकल्पसे स्वयमेव वासुदेव ही पैदा हों, यह कैसी बात ? और इसकी जरूरत भी क्या थी ? वासुदेव तो मौजूद थे ही। फलतः संकल्पके द्वारा केवल तीनको ही पैदा करते तो ठीक होता और काम भी चलता। वासुदेव तो कृष्णको और भगवानको भी कहते ही हैं। गीताने भी "वासुदेवः सर्वमिति" (७।१९) में यही कहा भी है। फिर वासुदेवने ही अपनेको भी क्यों और किसलिये नाहक पैदा किया ? आखिर यह जादू या करिश्मेकी बात न होके सृष्टिका दार्शनिक विवेचन है न ? फिर ये बेसिर-पैरकी बातें कैसी ?

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

मेरी अभी कही जानेवाली इस विभूति और योगका जो ठीक साक्षात्कार कर लेता है उसे सुदृढ़ योग की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय (जरा भी) नहीं है।७।

यहाँ "एतां विभूतिं" का अर्थ है कि जिस विभूतिका वर्णन अभी होनेवाला है। 'तत्त्वतो वेत्ति'का अर्थ तत्त्वज्ञान या आत्मरूपेण साक्षात्कार ही है। इसीलिये उत्तरार्द्धके योगका अर्थ "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा" (२।४८) वाला ही योग है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कारके बाद वही योग प्राप्त होता और अचल रहता है। यहाँ इस कथनके दो अभिप्राय हैं। एक यह कि महर्षियों तथा मनुओंके अलावे भी जोई इसे जान जाय वही वैसा ही हो जाता है। दूसरा यह कि इसे जाने बिना काम चलनेका नहीं। जो जानेगा वही पक्का योगी होगा। इसलिये इसे जाननेका यत्न पूरा-पूरा होना चाहिये। इस तरह अर्जुनके दिमागको इसके लिये तैयार किया गया है।

जो लोग समझते है कि भगवान बड़ा दयालु है; अतएव उसकी प्रार्थना वगैरह करनेसे वह कृपा करता और निस्तार करता है, वह भूलते हैं। यहाँ कृपाका प्रश्न हुई नही। भगवान तो समस्त शक्तियोंका सर्वप्रधान स्रोत है। वहींसे सारी चीजें

चलती हैं, फैलती है, विराट् या विश्वरूपके निरूपण और विभूतियोंके विवेचनके भीतर यही आशय छिपा है। यह तो मालूम ही है कि जो सोतेमें जायँगे, डुबकी लगायेंगे वह शीतल होंगे, स्नान करेंगे, पवित्र होंगे। इसमें सोतेकी दया-मायाका कहाँ सवाल आता है? पके फलोंसे लदे पेड़के पास जाने पर फल भी मिलेंगे और वृक्षकी कृपाकी बात आयेगी भी नहीं। यही है वास्तविक दृष्टि। इसी दृष्टिसे हमे उधर जाना चाहिये, उधर बढ़ना होगा। आगेवाले चार श्लोक इसीका स्पष्टीकरण करते है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मैं ही सभी चीजोंका मूल स्रोत हूँ और मुझीसे सभी चीजें बाहर जाती हैं, विवेकी लोग यही समझके पूर्ण श्रद्धा-भक्तिके साथ मुझे भजते हैं। अपने चित्त और इन्द्रियोंको मुझीमें लगाके परस्पर एक दूसरेको समझाते-बुझाते और निरन्तर मेरी ही चर्चा करते हुए वे मुझमे ही रमते और संतुष्ट रहते है।८।९।

यहाँ प्राणका अर्थ इन्द्रियाँ ही है। उपनिषदोंमे उन्हें भी प्राण कहा है। वायुरूपी प्राणोंको कही भी रोके। मगर आत्मा या परमात्मामे उन्हे कभी लगा नहीं सकते, यह मानी हुई बात है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

निरन्तर मुझीमें लगे (और) मुझे ही प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन लोगोंको वह आत्मसाक्षात्कार रूपी बुद्धियोग प्राप्त करवा देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। (यह यों होता है कि) उन्ही पर अनुकम्पा करके (तथा) उनकी आत्माके रूपमें ही विदित होके उस प्रचंड ज्ञानदीपसे उनके अज्ञान-मूलक हृदयान्धकारको खत्म कर देता हूँ ॥१०।११।

बस, इतना कहना था कि अर्जुनका दिमाग साफ हो गया, उसमे चसक आ गई, जैसा कि पहले ही बता चुके है और उसने सोचा कि कही यह स्वर्ण सुअवसर मेरी चुप्पीके ही करते हाथमे यों ही चला न जाय; इसलिये फौरन ही अपनी सफ़ाई देता हुआ और यह कहता हुआ कि आप ही यह बात अपने मुँहसे ही कहें तभी इस विषयके साथ पूर्ण न्याय हो पायेगा—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१३।।

अर्जुन कहने लगा—आप ही परब्रह्म, ज्योतियोंकी ज्योति और पवित्रसे भी पवित्र हैं । आपको ही सभी ऋषि (तथा खासकर) देवर्षि नारद, असित, देवल (और) व्यास सनातन दिव्य पुरुष, आदि देव—देवताओंके भी देव—अजन्मा और सर्वव्यापी बताते हैं । आप स्वयं भी तो मुझसे यही कह रहे हैं ।१२।१३।

सामान्यतः ऋषियोंको कहके फिर नारद, असित, देवल और व्यासका खास-तौरसे नाम लेना यह सूचित करता है कि उन दिनों इनकी ही अधिक धाक थी और सभी लोग आमतौरसे इन्हींकी बातें मानते थे । ऋषिके मानी हैं ज्ञानी या द्रष्टा—सूक्ष्मदर्शी । ऋषियोंमें भी जो मनुष्य माँ-बापसे जन्म न लेकर ब्रह्मा वगैरहके मानसपुत्र थे वही देवर्षि कहे जाते थे । ऋषि लोग ही उस जमानेके नेता, उपदेशक, कानून बनानेवाले (Lawgiver) और रहनुमा थे ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।।१४।।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।।१५।।

हे केशव, आप जो कुछ मुझे बता रहे हैं मैं उसे सही मानता हूँ । भगवन्, आपकी व्यक्ति—आपकी हस्ती—को ठीक-ठीक न तो देवता ही जानते हैं और न दानव लोग ही । हे पुरुषोत्तम, हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पति आप खुद अपने आप ही अपनेको जानते हैं ।१४।१५।

यहाँ भूतभावनका अर्थ है पदार्थोंको पालने तथा कायम रखनेवाला । भूतेश-का अर्थ है पदार्थोंका शासक और नियामक । जैसे बोलचालमें कहते हैं कि आप-की हस्ती, आपकी शख्सियतको कोई नहीं जानता, आपकी व्यक्तिको भला कौन जाने, आदि आदि; ठीक वैसा ही यहाँ भी है ।

यहाँ यह कहना, कि मैं आपकी सभी बातें सही मानता हूँ, इस बातकी सफाई है कि पहले जैसा सन्देह अब मेरे मनमें रह नहीं गया, आप विश्वास रखें; फलतः आपका उपदेश जरा भी व्यर्थ न जायगा ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

(इसलिये) आप अपनी सभी दिव्य विभूतियोंको जरूर ही कह सुनाइये—उन्हीं विभूतियोंको जिनके द्वारा सभी जगहोंमे व्याप्त होके सर्वत्र मौजूद हैं ।१६।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगिन्, आपका किस प्रकार सदा चिन्तन करते हुए (आपको) जान सकूँगा ? और, भगवन्, (खासतौरसे) किन-किन पदार्थोंमे आपका चिन्तन किया जाना चाहिये ? ।१७।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन !
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन, अपनी विभूति और योग—दोनों ही—को और भी विस्तारसे कहिये । क्योंकि (आपके वचनरूपी) अमृत—मधुर वचनों—को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है ।१८।

अब श्रीकृष्णने समझ लिया कि जरा भी देर करना ठीक नहीं । क्योंकि सब परिस्थिति बनी बनाई मौजूद है । इसलिये चटपट—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवानने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ, जो अभी-अभी अपनी प्रधान दिव्य विभूतियोंको (संक्षेपमे) तुम्हें सुनाये देता हूँ । (क्योंकि) मेरी (इन विभूतियोंके) विस्तारका अन्त हई नहीं ।१९।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश, सब पदार्थोंके भीतर—हृदय, अन्तःकरण या मर्ममें—रहनेवाली आत्मा मैं ही हूँ । पदार्थोंका आदि, मध्य और अन्त भी—उनका सबकुछ—मैं ही हूँ ।२०।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

(बारह) सूर्योंमें विष्णु नामक सूर्य मैं हूँ, सभी प्रकाशवान् पदार्थोंमें किरण-

वाला सूर्य, (उनचास) पवनोंमें मरीचि नामक पवन और (रातमें जगमगानेवाले) तारोंमें चन्द्रमा मैं हूँ।२१।

पहले श्लोकमें सामान्य वर्णनके बाद २१वेंसे चुनचुनके विशेष वर्णन शुरू हुआ है।

वदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ (और जीवधारियोंमें) चेतनता हूँ।२२।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

(ग्यारह) रुद्रोंमें शंकर हूँ, यक्ष-राक्षणोंमें कुबेर (हूँ), (आठ) वसुओंमें अग्नि हूँ (और) चोटीवालोंमें सुमेरु (हूँ)।२३।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

हे पार्थ, पुरोहितोंमें (सबके) मुखिया बृहस्पति मुझीको समझो। सेनापतियोंमें कार्त्तिकेय और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ।२४।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

महर्षियोंमें भृगु (और) वाणीमें एक अक्षर—ॐकार—मैं हूँ। यज्ञोंमें जपयज्ञ और न हिलने-डोलनेवालोंमें हिमालय हूँ।२५।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

सभी वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामक गन्धर्व और सिद्धोंमें कपिलमुनि (मैं हूँ)।२६।

उच्चैश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

घोड़ोंमें (अमृतके साथ उत्पन्न) उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा मुझे समझो, बड़े हाथियोंमें ऐरावत—इन्द्रका हाथी—और मनुष्योंमें राजा (भी मुझे ही समझो)।२७।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥

हथियारोंमें वज्र (तथा) दुही जानेवालियोंमें कामधेनु हूँ। सन्तानोत्पादक काम मैं हूँ (और) सर्पों—रेंगनेवालों—में वासुकि नामक सर्प मैं हूँ।२८।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

नागों यानी दिव्य—विलक्षण—सर्पोंमें शेषनाग हूँ (और) जलजन्तुओंमें वरुण। पितरोंमें अर्यमा नामक पितर और (लोगोंको सुधारनेके लिए) दंड करनेवालोंमें यम हूँ।२९।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद और गिनने या हिसाब लगानेवालोंमें काल—समय—मैं हूँ। पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ हूँ।३०।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

पवित्र करने, सुखाने या चलनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम हूँ। जलजन्तुओंमे मगर और सोतोंमें भागीरथी गंगा मैं हूँ।३१।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

हे अर्जुन, सृष्टियोंका आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ। (सभी) विद्याओंमें अध्यात्म विद्या—आत्मज्ञानशास्त्र—(और) विवाद करनेवालोंमें वाद मैं हूँ।३२।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व मैं हूँ। मैं ही अविनाशी काल हूँ (और) जगत्को कायम रखनेवाला सर्वव्यापी भी मै हूँ।३३।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

सबको मारनेवाली मौत और आगे होने—पैदा होने या प्रगति करने—वालोंकी उत्पत्ति तथा प्रगति मैं हूँ। स्त्रियोंमें कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा (भी मैं हूँ)।३४।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

(अनेक प्रकारके) सामोंमें बृहत् नामक साम और छन्दोंमें गायत्री हूँ। महीनोंमें मार्गशीर्ष—अगहन—और ऋतुओंमें बसन्त हूँ।३५।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

छलनेवालोंमें जूआ (और) तेजस्वियोंमें तेज हूँ। (विजयियोंका) विजय, (उद्योगियोंका) उद्योग (और) सात्त्विक पदार्थोंका सत्त्वगुण मैं हूँ।३६।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना: कविः।।३७।।

वृष्णियोंमें कृष्ण (और) पांडवोंमें अर्जुन हूँ। मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें कवि शुक्राचार्य हूँ।३७।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दूसरोंको दबानेवालोंमें दण्ड हूँ (और) विजयेच्छुओंमें नीति हूँ। गोपनीयोंमें मौन (और) ज्ञानियोंमें ज्ञान मैं हूँ।३८।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

हे अर्जुन, सभी पदार्थोंका जो बीज है सो भी मैं ही हूँ। (क्योंकि) स्थावर और जंगम पदार्थोंमें ऐसा एक भी नहीं है जो मेरे बिना टिक सके।३९।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियोंका आरपार नहीं है। यह तो मैंने विभूतियोंका विस्तार (केवल) संक्षेपमें (नमूनेके तौरपर ही) कहा है।४०।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।४१।।

(सबका निचोड़ यही है कि) जो-जो पदार्थ चमत्कारवाले गुणवाले या शक्तिशाली हों उन-उनको मेरे ही तेजके अंशसे ही बने मानो।४१।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा, हे अर्जुन, इस तरह बहुत बातें जाननेसे तुम्हारा क्या होगा? (तुम यही समझ लो कि) इस समूचे जगत्‌को मैं अपने एक कोनेमें रखे हुए पड़ा हूँ।४२।

(इस अध्यायके इधरके प्राय: २२ श्लोकोंमें ऐसी बातें आई हैं जिनके बारेमें कुछ कह देना जरूरी है। २०वेंमें पदार्थोंका आदि, मध्य, अन्त कहा है और ३२वेमे सर्गोका। यहाँ सर्गका अर्थ है सृष्टि। जितनी बार सृष्टि हुई है सभीसे यहाँ मतलब है। इसीलिये अन्तका अर्थ है प्रलय। मगर २०वेंमें एक ही सृष्टिके पदार्थोंसे तात्पर्य है। इसी प्रकार २५वेंमे महर्षि, २६वेंमे देवर्षि तथा ३७वेंमें मुनि आये है। ऋषि कहते है द्रष्टा या ज्ञानी (seer) को। वैदिक मंत्रोंके द्रष्टा और कर्त्ता ऋषि माने जाते है। मुनि कहते हैं मनन करनेवालोंको। दार्शनिक वाद-विवाद मुनियोंका ही काम है। ऋषि लोग तो सत्य बातें कह देते है। वे न तो विवादमे ही पडते और न विशेष तर्क-दलील देते है। देवर्षिकी बात कही जा चुकी है। सनक, सनन्दन आदि देवर्षि ही माने जाते है। २९वेंमे संयमनका अर्थ है जीवोंको सुधारनेके लिये दंड करना। ३८वेंमें दमनका अर्थ सुधार न होके दबाना या मिटाना ही है। २५वेंमे जपयज्ञको सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ मान लिया है। तभी तो उसे भगवानका रूप बताया है। मगर "श्रेयान्द्रव्य" (४।३३) में ज्ञानयज्ञको ही उत्तम कहा है। असलमे ज्ञान वैसा यज्ञ नही है जैसे अन्य यज्ञ। आमतौरसे यज्ञ-व्यवहार होता है औरोंमे ही, न कि ज्ञानमें। बेशक सद्ग्रंथोंका पाठ वगैरह ज्ञान-यज्ञ है और है यह अन्य यज्ञों जैसा ही है। ऐसे ज्ञानयज्ञसे भी जपयज्ञ तो उत्तम हुई। जप तो मानसिक भी होता है। वह बिना मनकी एकाग्रताके हो सकता भी नही। इस प्रकार ध्यान या समाधि भी जपयज्ञमे आ जाती है। इसीलिये "ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्" (८।१३) वाली बात समाधिमे ही आई है। यह भी बात है कि "श्रेयान्द्रव्य" (४।३३) मे सिर्फ द्रव्ययज्ञोंसे ही ज्ञानयज्ञको श्रेष्ठ बताया है। मगर यहाँ तो सभी यज्ञोंसे जपयज्ञको उत्तम कहा है।

पवनका उल्लेख ३१वेंमें है और रामका भी। क्रियासे शुद्धि होती है। अग्नि, वायु, जल या मिट्टीसे ही शुद्धि होती है और ये सभी क्रियाशील है। इसीलिये शोधको या क्रियाशीलोंमे वायुको प्रधानता मानी गई है। इसी तरह रामका अर्थ दशरथपुत्र ही है, न कि परशुराम। यह ठीक है कि प्रसिद्ध शस्त्रधारी परशुराम ही माने जाते है। मगर उन्हे भीष्मने पछाडा था। दशरथपुत्र रामसे भी वह हारे थे। शस्त्रधारण क्षत्रियोंका ही काम है भी। इसीलिये दशरथपुत्र रामको ही यहाँ लेना ठीक है। उस समय यह काम ब्राह्मणोंके लिये उचित नही माना जाता था, यह भी इससे सिद्ध हो जाता है।

वेदोंमे सामवेदकी प्रधानताकी बात २२वेमे और ३५वेमे बृहत्सामकी बात है। यह ठीक है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। मगर साम तो गान है। मालूम होता है यह गान उस समय ज्यादा प्रचलित था। इसीलिये सामगानके यज्ञायज्ञी,

बृहत्, रथन्तर आदि अनेक प्रकारोंका भी उल्लेख इशारेसे करके उन सबोंमें बृहत्सामको ही श्रेष्ठ माना है। सामकी ही प्रसिद्धि उस समय थी, यही इससे सिद्ध होता है।

हाँ यहाँ जो "तेजस्तेजस्विनामहम्" (१०।३६) कहा है वही सातवें अध्याय (७।१०)में भी ज्योंका त्यों आया है। वहाँ का प्रसंग देखनेसे पता चलता है कि वह लड़ने-भिड़नेवाला तेज नहीं है। क्योंकि लड़ाईमें काम तथा राग होते ही हैं और वहाँ इसीकी रोक है। फलतः ब्रह्मतेज या ब्रह्मवर्चस आदिसे ही वहाँ मतलब है। क्षत्रियादिमें भी यह तेज होता ही है। हाँ, यहाँ लड़ने-भिड़नेवाले ही तेजसे तात्पर्य है, पूर्वापरसे यही पता लगता है।

३४वेंमें जो कीर्त्ति आदिको स्त्री कहा है उससे पता चलता है कि कभी ये आदर्श स्त्रियाँ ही थी जिन्हे आज निर्गुणके रूपमें ही माना जाता है। पुराणोंमें ये दक्ष प्रजापतिकी पुत्रियाँ मानी गई हैं। चाहे जो हो, पहले ये आदर्श स्त्रियाँ अवश्य थीं। इससे यह भी इशारा है कि साधारण स्त्री-समाज उस समय ऊँचा न था। यही कारण है कि "स्त्रियो वैश्या" (९।३२) में आमतौरसे स्त्रियोंको नीच कहा है।

३३वेंमे द्वन्द्वसमासको ही औरोंसे अच्छा कह दिया है। इसमे जितने पद मिले होते हैं सभीके अर्थ प्रधान होते हैं। अन्य समासोंकी तरह कोई किसीका विशेषण या अप्रधान नहीं होता है। शायद इसीसे उसे पसन्द किया हो। या इसका नया-नया अन्वेषण होनेसे उस समय यही ज्यादा प्रसिद्ध रहा हो, कौन कहे? यह ठीक है कि द्वन्द्व तो दुनियाका नियम है और इसे सहर्ष स्वीकार करनेवाले ही प्रगति करते है। संभवतः यहाँ यही आशय हो भी।

३०वेंमें गिनवेवालोंमें काल या समयको बड़ा माना है। वैसी गिनती और हिसाब सचमुच कोई नहीं कर पाता। आप सोये रहें या जगे। उसका हिसाब ठीक चलता रहता है। वह हिसाब पूरा होते ही पदार्थोंका पकना, तैयार होना, सूखना, खत्म होना वगैरह होता रहता है। यह काम क्षणभर भी नहीं रुकता। मगर ३३वेंमें जो अक्षय कालकी बात कही गई है वह पहलेकी तरह किसीकी अपेक्षावाला काल नहीं है। यहाँ तो स्वतन्त्र रूपसे कालको भगवानका रूप ही माना है।

३६वेंमें जो व्यवसाय और सत्त्वकी बात है उसमें व्यवसायका अर्थ है दृढ़ निश्चय तथा तन्मूलक उद्योग। इसी प्रकार सत्त्वका अर्थ सत्त्व गुण भी है और तन्मूलक बल भी। यह बल लड़नेवालोंका ही है, न कि सातवेंकी तरह काम-राग-शून्य।

यहाँ उपसंहारमें "यच्चापि सर्वं" (१०।३९) में जो कुछ कहा है सातवेंमें "बीजं मां" (७।१०) में भी वही है। ठीक ही है। उपसंहार तो सर्वत्र एक ही होगा न ?

"मासानां मार्गशीर्षः" (१०।३५) में जो मार्गशीर्षको और महीनोंसे श्रेष्ठ कहा है उसकी बड़ी महत्ता है। इससे अन्वेषण करनेवालोंने यह अर्थ निकाला है कि उस समय या उसके पूर्व सालका आरम्भ मार्गशीर्षसे ही होता था। जैसे आज वर्षके आरम्भके बारेमें चैत्रकी स्मृति बनी है और रंग, होली आदिके द्वारा उसे याद करते हैं। बंगाली लोग वैशाखकी ही स्मृति महीने भर गा-बजाके जगाते हैं। मेषकी संक्रातिकी स्मृति तो सभी हिन्दू मानते हैं। वही बंगलाका वैशाख है। असलमें यह विषय गहन है। हरेक महीनोंके नाम नक्षत्रोंके नामोंसे ही बने है। पाणिनीय व्याकरणका "सास्मिन्पौर्णमासीति" (४।२।२१) सूत्र भी यही कहता है। इसके सिवाय सालके ही नाम समा वर्ष, शरद आदि भी हैं। जब दिन रात सम या बराबर होते होंगे तभी किसी समय वर्षका आरम्भ होता होगा। इसी प्रकार वर्षाके श्रीगणेशके समय या शरद ऋतुमें भी कभी शुरू होता होगा। मगर यह स्वतन्त्र विषय भविष्यके लिये रहे।

४१वें श्लोकमे 'विभूतिमत्' शब्द आनेसे विभूतिके मानी केवल पदार्थ न होके चमत्कार-युक्त पदार्थ है। इसलिये विभूतिमें भी योग आ जाता है। मगर वास्तविक योग आगे है। आगे ग्यारहवें अध्यायके ४७वें श्लोकमें विराट् रूप दिखाके कहेंगे भी कि मैंने अपने योगसे, "आत्मयोगात्", इसे दिखाया है।

इति० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय यही है।



ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुनने दशवें अध्यायमें जो विराट् रूपका विस्तृत विवरण सुना उससे उन्हें ऐसी आतुरता हुई कि उसे जल्दसे जल्द आँखोंसे देखनेको लालायित हो उठे। चुनचुनके प्रायः सभी पदार्थोंको भगवानका रूप बताना तो केवल कहनेकी एक रीति है। चमत्कार-युक्त पदार्थो पर ही तो पहले दृष्टि जाती है और एक बार जब उन्हें परमात्माका रूप मान लिया, जब एक बार उनमें वह भावना हो गई, तब तो आसानीसे सभीमें वही भावना हो सकती है। कहनेका कौशल यही है कि इस बुद्धिमत्तासे बातें बतायें कि कुछी बातें कहनेसे काम चल जाय और सुननेवाला बाकियोंको खुदबखुद समझ जाये। कहते हैं कि किसीने दूसरेसे पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है? उत्तर मिला कि तिनकौड़ी। फिर प्रश्न हुआ कि बापका? जवाब मिला छकौड़ी। इसके बाद तो पूछनेवालेने स्वयमेव कह दिया कि बस, ज्यादा कहनेका काम नहीं। अब तो मैं खुद तुम्हारे सभी पुरुषों तकके नाम जान गया। क्योंकि इसी प्रकार दूना करता चला जाऊँगा। ठीक वही बात यहाँ भी हुई है। जब सिंहको भगवान मान लिया, तो शेष पशुओंको भगवानसे अलग माननेके लिये कोई दार्शनिक युक्ति रही नहीं जाती। सभी तो एकसे हाड़-मास-वाले हैं। यही बात अन्य पदार्थोंमे भी लागू है। इस प्रकार चुनेचुनाये पदार्थोंके नाम लेनेसे ही सबोंका काम हो गया। यह भी बात है कि आखिर जब आँखोंसे प्रत्यक्ष देखनेका मौका आये तो सबोंको जुदाजुदा देखना असम्भव भी है। थोड़ेसे चुने पदार्थोंको ही देखते-देखते तो परीशानी हो जायगी। लाखों तरहके पदार्थ जो ठहरे। इसलिये नमूनेके रूपमें जिन्हें दसवेंमे गिनाया है ग्यारहवेंमें उन्हींको देखनेमे आसानी होगी, मजा भी आयेगा और बात दिलमें बैठ भी जायगी कि ठीक ही तो कहते हैं। जैसा कहा वैसा ही देखते भी तो हैं। जरा भी तो फर्क है नहीं। नहीं तो सबोंका देखना असम्भव होनेसे नाहककी परीशानी (Confusion) हो जाता और काम भी वैसा नहीं बनता।

इसीलिये आगे अर्जुनने स्वयमेव कह दिया है कि भगवन्, आप जो कहते हैं वह अक्षरशः सही है। इसमे शकशुभेकी गुंजाइश है नहीं। हाँ, कमी यही रह गई है कि जरा इन्हें आँखों देख नहीं लिया है। तो क्या देख सकता हूँ? यदि हाँ, तो बड़ी कृपा हो, अगर आप दिखा दें। इस कथनसे और चटपट प्रश्न कर देनेसे भी उनकी आतुरताका पता चल जाता है। जो देखा नहीं, सुना है, उसको देख लेना ही काफी है, यही उनका आशय है। इससे अब तकके मनकी पुष्टि होके

निदिध्यासनमें प्रत्यक्ष सहायता भी हो जायगी। फिर तो स्वतंत्र रूपसे युद्धके बाद अर्जुन यही काम कर सकेंगे। ग्यारहवें अध्यायके पढ़नेसे पता चलता है कि कोई विशेषज्ञ अपनी प्रयोगशाला (Laboratory) में बैठके उन्ही बताई बातोंका प्रयोग (experiment) शिष्योंके सामने कर रहा है। ताकि उन्हे वे बखूबी हृदयंगम कर लें, जिन्हें अबतक समझाता रहा है। अर्जुनको शक था कि भला ये चीजें देख सकेंगे कैसे? इसीलिए उसने कहा भी। जनसाधारण भी तो यही मानते हैं कि भला कहीं दो हवाओं---ओक्सीजन तथा हाईड्रोजन---के संमिश्रणसे ही पानी बन सकता है। मगर प्रयोगशालेमे जब उनकी आंखोके सामने विलक्षण आला और यन्त्र लगाके प्रत्यक्ष दिखाया जाता है तब मान जाते और आश्चर्यमे डूब जाते हैं। अर्जुनकी भी वही दशा हुई। आश्चर्यचकित होनेके साथ ही वह घबराया भी। क्योंकि यहाँ भयङ्कर और बीभत्स दृश्य भी सामने आ गये जो दिल दहलानेवाले थे। "दिव्यं ददामि ते चक्षुः", "न तु मां शक्यसे" (११।८) के द्वारा कृष्णने दिखानेके पहले अर्जुनको दिव्य दृष्टि क्या दी, मानों कोई विलक्षण आला या यन्त्र आँखों पर लगा दिया।

हाँ, तो देखनेकी ही आतुरतासे चटपट---

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

अर्जुन बोल उठा---मेरे ऊपर दया करके आपने अध्यात्म नामक जो परम गोपनीय बात कही है उससे मेरा यह मोह तो खत्म हो गया। हे कमलनयन, मैंने आपके मुखसे पदार्थोंके उत्पत्ति-प्रलय विस्तारके साथ सुने और आपका विकार-शून्य माहात्म्य भी (सुन लिया)।१।२।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे परमेश्वर, हे पुरुषोत्तम, जैसा आप कहते है वह तो ठीक ही है। (अब केवल) मै आपका वह ईश्वरीय रूप देख लेना चाहता हूँ। प्रभो, यदि आप ऐसा मानते हों कि मै उसे देख सकता हूँ तो, हे योगेश्वर, अपना अविनाशी रूप मुझे दिखाइये।३।४।

यहाँ प्रसंगसे एक बात कह देनी है। अब तो अर्जुनने मान लिया कि कृष्णका जो कुछ भी अपने बारेमें कहना है वह अक्षरशः सही है, उसमें जरा भी शक नहीं है। और कृष्णने अपने अवतारकी बातके साथ ही यह भी तो कही दिया है मुझे मनुष्य शरीरधारी समझ जो लोग मेरा तिरस्कार करते हैं वह बिगड़े दिमागवाले बदबख्त लोग ही हैं। इतना ही नहीं। "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" (३२१-२६) आदि श्लोकोंमें उनने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मैं स्वयमेव सभी कर्म इसीलिये करता हूँ कि मेरी देखादेखी जनसाधारण भी ऐसा ही करें। नहीं तो यदि मैं उलटा करूँ तो वह भी वैसा ही करेंगे। क्योंकि उनके पास समझ तो होती नहीं कि तर्क-दलील करके अपने फ़ायदेकी बातें करें। वे तो आँख मूँदके यही सोचते हैं कि जब खुद कृष्ण ही ऐसा करते हैं तो हम क्यों न करें? यह जरूर ही अच्छा काम होगा। नतीजा यह होगा कि मेरे चलते सारी दुनिया चौपट हो जायगी।

इससे गोपियोंके साथ रासलीलावाली बात बिल्कुल ही बेबुनियाद और निराधार सिद्ध हो जाती है। भला, जो महापुरुष औरोंके बारेमे और अपने बारेमें भी इतनी सख्तीसे बातें करे कि लोगोंको जरा भी विपथगामी होनेका मौका हमें अपने आचरणोंके द्वारा नहीं देना चाहिये, वही ऐसा जघन्य और कुत्सित कार्य कभी करेगा, यह दिमागमें भी आनेकी बात है क्या? जो लोग ऐसी वाहियात बातोंके समर्थनमें लचर दलीलें पेश किया करते हैं उन्हें गीताके इन वचनोंको जरा गौरसे पढ़ना और इनके अर्थको समझना चाहिये। तब कहीं बोलनेकी हिम्मत करनी चाहिये। हमने जो इन श्लोकोंके स्पष्टीकरणमें बहुत कुछ लिखा है उससे उनकी भी आँखें खुल जायँगी, यह आशा कर सकते हैं। गोपियाँ वेदकी ऋचायें थीं, अनन्य भक्त थीं आदि आदि जो कल्पनायें की जाती हैं और इस तरह बालकी खाल खींची जाती है उसमे पहले यह क्यों नहीं सोचा जाता है कि इतनी गहरी और बारीक बातें क्या जनसाधारण समझ सकते हैं? और अगर यही बात होती तो फिर यह कहनेकी क्या जरूरत थी कि वे तो हमारी देखादेखी ही करेंगे और चौपट हो जायँगे? तब तो कृष्ण चाहे जो भी करते। फिर भी लोग कभी पथ-भ्रष्ट होते ही नहीं।

बस अर्जुनका यह कहना था और कृष्णने अपना नाटक फौरन ही फैला ही तो दिया। वे तो पहलेसे ही इसके लिये तैयार बैठे थे कि आखिरी काम यही करना होगा। उनके जैसा विज्ञ सूक्ष्मदर्शी भला ऐसा समझे क्यों नहीं? इसीलिये—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान कहने लगे—हे पार्थ, मेरे सैकड़ों (और) हजारों तरहके बहुरंगी, अनेक आकारवाले दिव्य रूपोंको देख लो ।५।

अर्जुन पीछे कहीं घबरा न जाये, इसीलिये उसे पहले ही सजग कर देते हैं कि अजीब चीजें देखनेको मिलेंगी, जो कभी दिमागमें भी नहीं आई होंगी ।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६।।
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।७।।
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।८।।

हे भारत, (द्वादश) आदित्यों, (आठ) वसुओं, (एकादश) रुद्रों, दोनों अश्विनी-कुमारों, (तथा उनचास) मरुतोंको देख लो (और) पहले कभी न देखे बहुतेरे आश्चर्यजनक पदार्थ भी देख लो । हे गुडाकेश आज यहीं पर मेरे शरीरमें ही चराचर जगतको एक ही जगह देख लो और जो कुछ और भी देखना चाहते हो (सो भी देख लो) । लेकिन अपनी इन्हीं आँखोंसे तो मुझे (उस तरह) देख सकते नहीं । (अतः) तुम्हे दिव्य दृष्टि दिये देता हूँ । (फिर बेखटके) मेरा ईश्वरी योग या करिश्मा देख लो ।६।७।८।

यहाँ सातवे श्लोकमे जो यह कहा है कि और भी जो कुछ देखना चाहते हो देख लो, "यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि", उसका मतलब यही मालूम पडता है कि अर्जुनने जो शुरूमे ही कहा था कि यह भी तो निश्चय नही कि हमी जीतेंगे या वही लोग, उसको कृष्ण भूले नही है और इशारेसे ही कह देते है कि यह भी अपनी आँखो देख लो कि कौन जीतेगा । सचमुच आगे जो यह दिखाई पडा कि भीष्मादि सभी भगवानके मुँहमे घुसे जा रहे है वह तो नई बात ही थी न ? उसकी तो अब तक चर्चा भी नही हुई थी । वह बात अर्जुनके मनमे थी जरूर । इसीलिए तो उसने शक जाहिर किया था । ताहम उसकी खुली चर्चा हुई न थी । फिर भी देखनेको वह भी मिली । पूछनेपर कृष्णने आगे कहा भी कि सबोंका संहार करने चला हूँ ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।९।।

संजयने (धृतराष्ट्रसे) कहा—हे राजन्, महायोगेश्वर कृष्णने ऐसा कहके

चटपट अर्जुनको (अपना इस तरहका) विलक्षण ईश्वरीय रूप दिखा ही तो दिया ।९।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

उस रूपमें बहुत ज्यादा मुँह और आँखें है, बहुतेरी निराली दर्शनीय बातें हैं, बहुतसे दिव्य अलंकार हैं, अनेक प्रकारके दिव्य (एवं) सजे सजाये हथियार हैं, दिव्य मालायें (तथा) वस्त्र सजे हैं, दिव्य सुगन्धित पदार्थोंका लेप लगा है । वह सब तरहसे आश्चर्यमय, दिव्य, अनन्त और विश्व-व्यापक है ।१०।११।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

अगर एक ही साथ आकाशमें हजार सूर्य निकल पड़ें तो उनका जो प्रकाश हो वही (शायद) उस महात्माकी प्रभाके जैसा हो सकता है ।१२।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥१३॥

वहाँ उस समय देवताओंके भी देवता कृष्णके शरीरमें अर्जुनको एक ही जगह समूचा संसार अनेक रूपमें विभक्त दिखाई पड़ा ।१३।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥१४॥

अब तो धनंजय—अर्जुन—के रोंगटे खडे हो गये (और) वह आश्चर्यमें डूब गया । (फिर) सर झुका भगवानको प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए कहने लगा ।१४।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन कहने लगा—हे देव, आपके देहके भीतर सभी देवताओंको, विभिन्न पदार्थोंके संघोंको, कमलके आसनपर बैठे सबोंके शासक ब्रह्माको, सभी ऋषियोंको और अलौकिक सर्पोंको देख रहा हूँ ।१५।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपके अनेक बाहु, पेट, मुँह (एवं) आँखोंसे युक्त अनन्तरूपको ही चारों ओर देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, न तो आपका अन्त, न आदि और न मध्य ही देख पाता हूँ।१६।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुट, गदा और चक्र धारण किये, तेजकी राशि, चारों ओर प्रकाश फैलाये, जिसपर नजर टिक न सके ऐसा, सब तरफ दहकते सूर्य एवं अग्निके समान देदीप्यमान और अपरम्पार आपहीको देखता हूँ।१७।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

तुम्हीं जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् ब्रह्म (हो), तुम्ही इस विश्वके आखिरी आधार (हो), तुम्ही विकारशून्य हो, सनातनधर्मके रक्षक हो (और) मेरे जानते तुम्ही सनातन पुरुष हो।१८।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आदि, मध्य, अन्त—तीनों—से रहित, अनन्त शक्तिशाली, अनन्त बाहुवाले, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हों, दहकती आग जैसे जिसके मुख हों और जो अपने तेजसे इस विश्वको तपा रहा हो, मैं आपको ऐसा ही देख रहा हूँ।१९।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और जमीनके बीचकी इस जगहको और सभी दिशाओंको भी अकेले आप हीने घेर रखा है। इसीलिये, हे महात्मन्, आपके इस उग्र रूपको देखके सारी दुनिया काँप रही है।२०।

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।२१।

देखिये न, (कुछ) देवताओंके झुंड आपके भीतर घुसे जा रहे हैं, (और) कुछ मारे डरके हाथ जोडे प्रार्थना कर रहे हैं। महर्षियों एवं सिद्धोंके दल (भी) 'स्वस्ति हो'की पुकारके साथ बहुत ज्यादा स्तुतियोंके द्वारा आपका गुणगान कर रहे हैं।२१।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

जो भी रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत, पितर तथा गन्धर्वों, यक्षों एवं असुरोंके गिरोहके गिरोह हैं सभी विस्मित होके आप हीको देख रहे हैं ।२२।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहु, बहुत मुँहों तथा नेत्रोंवाला, अनेक बाहुओं, जंघों एवं पाँवोंसे युक्त, बहुतेरे पेटवाला और बहुतसी डाढ़ोंके करते भयंकर यह तुम्हारा विशाल रूप देखके लोग घबराये हुए हैं और मैं भी व्यथित हूँ ।२३।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४।

हे विष्णो, आकाश चूमते हुए, चकमक, रंगबिरंगे, मुँह फैलाये तथा जलते हुए लम्बे नेत्रोंसे युक्त आपको देखके मेरी आत्मा दहल उठी है और मुझमें न तो धैर्य है और न चैन ।२४।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

डाढ़ोंके करते विकराल (तथा) प्रलयकालकी अग्निके समान (दहकते) हुए आपके मुँहोंको देखके ही मुझे न तो दिशायें सूझती हैं और न चैन ही मिल रहा है। (इसलिये) हे देवेश, हे जगदाधार, प्रसन्न हो जाइये—कृपा कीजिये ।२५।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥

राजाओंके गिरोहके साथ ही ये सभी धृतराष्ट्रके बेटे आपके भीतर—पेटमें—तेजीसे घुसे जा रहे हैं। भीष्म, द्रोण और यह कर्ण भी हमारे दलके प्रमुख योद्धाओंके साथ, डाढ़ोंसे विकराल दीखनेवाले आपके भयंकर मुँहोंमें, तेजीसे दौड़े जा रहे हैं। किसी-किसीकी तो यह हालत है कि दाँतोंके बीचमें ही सट गये हैं और उनके सर चूर्ण-विचूर्ण नजर आ रहे हैं ।२६।२७।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस तरह नदियोंकी बहुतसी तेज धारायें समुद्रकी ही ओर दौड़ी चली जाती हैं, उसी तरह आपके धक्धक् जलते मुखोंमें नरलोकके ये वीर बाँकुड़े घुसे जा रहे है ।२५।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जिस प्रकार खूब तेज आगमें फतिंगे बड़ी तेजीसे घुस मरते है, वैसे ही आपके मुखोंमें ये लोग भी बड़ी तेजीसे घुस रहे हैं ।२९।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

(और) आप अपने जलते मुँहोंमें चारों ओरसे सभी लोगोंको निगलके जीभ चाट रहे है ! हे विष्णो, आपकी उग्र प्रभाएँ अपने तेजसे समस्त जगत्को घेरके खूब तप रही है ।३०।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे देवताओंमें श्रेष्ठ, मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप प्रसन्न हों (और भला) बतायें तो (सही कि) यह उग्र रूपवाले आप हैं कौन ? मैं आदि (पुरुष) आपको जानना चाहता हूँ । क्योंकि आपको क्या करना मंजूर है यह मैं जान नहीं पाता हूँ । ।३१।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान कहने लगे—मैं लोगोंका संहार करनेवाला मोटा-ताजा काल हूँ (और) यहाँ लोगोंका संहार करनेमें लगा हूँ । (इसीलिए) तुम्हारे बिना भी—तुम कुछ न करो तो भी—परस्पर विरोधी फौजोंमें जितने योद्धा मौजूद हैं (सभी) खत्म होंगे ही ।३२।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिये, हे सव्यसाची (अर्जुन), तुम तैयार हो जाओ, यश लूट लो (और) शत्रुको जीतके समृद्धियुक्त राज्य (का सुख) भोगो । मैंने तो इन्हे पहले ही मार डाला है । (अतएव) केवल एक बहाना बन जाओ ।३३।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

मेरे हाथों (पहले ही) मरेमराये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य

वीरबाँकुड़ोंको तुम मार डालो, घबराओ मत (और) लड़ो। युद्धमें शत्रुओंको (जरूर) जीतोगे।३४।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

(तब) संजय (धृतराष्ट्रसे) बोला—किरीटी (अर्जुन) कृष्णकी यह बात सुनके हाथ जोड़े काँपता हुआ कृष्णको नमस्कार करके अत्यन्त भयके साथ रुँधे गलेसे पुनरपि कहने लगा।३५।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश, (यदि) आपके गुणगानसे संसार हर्ष-प्रफुल्लित होता और अनुरागी बनता है (तो) ठीक ही है (और अगर) राक्षस लोग (आपके) डरसे इधर-उधर भागते फिरते हैं तथा सिद्ध लोगोंके सभी संघ (आपका) अभिवादन करते हैं (तो यह भी उचित ही है)।३६।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन्, गुरुओंके भी गुरु (और) ब्रह्माके (भी) आदि कारण तुम्हें वे प्रणाम क्यों न करें? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, स्थूल (एवं) सूक्ष्म (तथा) उससे भी परे जो अक्षर ब्रह्म है वह तुम्हीं हो।३७।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

तुम आदि देव (और) सनातन पुरुष (हो), तुम्हीं इस विश्वके परम आधार (हो), तुम्हीं ज्ञाता, ज्ञेय और परम ज्योतिस्वरूप (हो)। हे अनन्तरूप, तुमने विश्वको व्याप लिया है।३८।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति—ब्रह्मा, कश्यप, दक्ष आदि—और उनको भी दादा हो। आपको हजार बार नमस्कार है और पुनरपि आप हीको बार-बार नमस्कार है।३९।

यहाँ प्रजापतिका अर्थ ब्रह्मा, दक्ष, मरीचि, कश्यप आदि सभी हैं। एकवचन कहनेमे कोई हर्ज नही है। तभी तो सभी लिये जायँगे, न कि खास तरहसे एकाध ही। यह कहना कि ये ब्रह्माके बेटे है गलत बात है। मनु, सप्तर्षि आदिकी ही तरह ये सभी मानस है। मनु आदि भी प्रजापति ही है। सबको भगवानने संकल्पसे ही पैदा किया। ब्रह्माको पितामह भी कहते है और वह प्रजापतियोंमे ही आ गये। इसीलिये भगवानको ही प्रपितामह या उनका दादा कहा है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे समस्त जगत्स्वरूप, आपको आगेसे नमस्कार, पीछेसे नमस्कार, और सब ओरसे नमस्कार है। आप अनन्तवीर्य तथा अमित पराक्रमवाले हैं। आप ही सभी पदार्थोंके रगरगमें व्याप्त है। इसीलिये सभीके स्वरूप ही हैं।४०।

वीर्य कहते हैं वीरता या शक्तिको, सामर्थ्यको। उसके अनुसार आगे बढ़ने या कामको पराक्रम कहते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

साथी समझके (और) आपकी महिमाको इस तरह न जानके (कभी) जो आपको अपमानके रूपमे हे कृष्ण, हे यादव, हे साथी इस तरह मैंने प्रमादसे या प्रेमके चलते ही कह दिया हो, और हे अच्युत, हँसी-मजाकमे जो घूमने-फिरने, सोने, बैठने या भोजनके समय अकेलेमे या लोगोंके सामने आपका अपमान कर दिया हो, उसके लिये अपरम्पार महिमावाले आपसे क्षमा चाहता हूँ।४१।४२।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

हे संसारभरमे अतुल प्रभाववाले, तुम इस चराचर संसारके पिता हो, पूज्य (हो), (और) गुरुके भी गुरु (हो)। तुम्हारी बराबरीका तो कोई हुई नहीं, बड़ा कोई कैसे होगा? ।४३।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसीलिये साष्टांग प्रणाम करके ईश्वर और स्तुति-योग्य आपको खुश करना चाहता हूँ। हे देव, जैसे पुत्रका अपराध पिता, साथीका साथी और स्त्रीका पति क्षमा कर देता है वैसे ही—आप मेरी भूलें भी क्षमा कर दें।४४।

यहाँ उत्तरार्द्धमें 'प्रियायाः'का 'अर्हसि'के साथ सम्बन्ध होनेपर व्याकरणके अनुसार 'प्रियाया अर्हसि' यही होना चाहिये, न कि सन्धिके करते अकार विलुप्त हो जायगा, या 'प्रियाया'के 'या'के आकारमें मिल जायगा। किन्तु गीतामें तो ऐसा बहुत बार हुआ है। और तो और, इसीसे तीन ही श्लोक पहले हे सखे इतिका हे सख इतिकी जगह हे सखेति कर दिया है। वहाँ भी ठीक इसी तरहका नियम लागू है। मगर इसकी पर्वा गीता उतनी नहीं करती। स्मरण रखना चाहिये कि गीताका समय मान्य उपनिषदोंके ही आसपास है और उनमें ऐसा पाया ही जाता है। लेकिन कुछ लोग इसीको प्राचीन भाष्यकारोंकी भारी भूल मानते और 'प्रियायार्हसि' में षष्ठीकी जगह चतुर्थी मानके 'प्रियाय-अर्हसि' ऐसी सन्धि करते हैं। काफी लेक्चर भी उनने दे डाला है। किन्तु वे इतना भी न सोच सके कि पिता-पुत्र और साथी-साथीके दो विशेष दृष्टान्त देनेके बाद प्रियको प्रिय माफी दे यह कहना कैसे उचित होगा। हाँ, यदि 'प्रियः'-की जगह 'प्रिय' ऐसा सम्बोधन होता, तब शायद 'हे प्रिय'के लिये 'प्रिय' कह देनेसे काम चल सकता। लेकिन यहाँ तो सो है नहीं। अर्जुन अपनेको पुत्र न कहके प्रिय कहे यह भी ठीक नहीं। सखा आदिकी बातके लिये वो माफी माँगी चुका है।

यहाँ दो या तीन 'इव'की भी बात नहीं उठ सकती है। ऐसा तो बार-बार मिलेगा कि ऐसे मौकोंपर तीनकी जगह एक ही या दोई शब्द आते हैं। स्त्रियोंका दृष्टान्त आलंकारिक नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति है। जो माफी पुत्र या साथीको भी नहीं दी जाती वह स्त्रीको दी जाती है, बशर्त्ते कि वह प्रिया हो और उसमें दिल लगा हो। इसीलिये उसका दृष्टान्त दिया है। ऐसा भी होता है कि पुत्रको भी जो माफी नहीं मिलती वह साथीको मिलती है। इसीलिये क्रमशः ऊँचे दर्जेके दृष्टान्त आये हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

जो कभी न देखा था उसे देखके मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं और भयसे मेरा मन व्याकुल है। (इसलिये) हे देव, हे देवेश, हे जगन्निवास, कृपा कीजिये (और) वही (पुराना) रूप मुझे फिर दिखाइये।४५।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

(अभी) जो आप मुकुट (एवं) गदा लिये (तथा) चक्रधारी बने हैं (उसकी जगह) मैं आपको पहले हीकी तरह देखना चाहता हूँ। हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्त्ति, (आप) वही (पुराना) रूप बन जाइये।४६।

इन दो श्लोकोंके पदविन्यासको देखके और उसपर पूरा गौर न करके बहुतेरे टीकाकार धोकेमें पड़ गये हैं। फलतः उनने यह अर्थ कर लिया है कि आप किरीट, गदा और चक्र लिये चतुर्भुज रूप बन जाइये, यही अर्जुन चाहता है। परन्तु आगे जब कृष्णने अपना विराट् रूप हटाके अर्जुन की इच्छा पूर्ण कर दी है, तो ५१वें श्लोकमें अर्जुन जो यह कहता है कि आपका सीधा-सादा मनुष्य रूप देखके अब कहीं मुझे होश हुआ है और मेरा मिजाज ठीक हुआ है, वह कैसे संगत होगा ? चतुर्भुज रूप तो मनुष्यका था नहीं और न चक्रधारी ही। किसने कहाँ कहा कि किरीट और गदाधारी रूप आदमीका होता है और कृष्णका भी वही रूप था ? कहा जाता है कि जन्मके समय ही उनने ऐसा रूप देवकी वसुदेव-को दिखाया था। मगर उसे फौरन हटाना पड़ा। यही नहीं, "किरीटिनं गदिनं" (११।१७) आदिसे तो स्पष्ट ही है कि विराट् रूप ही ऐसा था। फिर अर्जुन उसे ही कायम रखनेको कैसे कहता ? उसे ही देखके तो उसके देवता कूच कर गये थे न ? और जो रूप सामने ही था उसे 'वह' या 'उसी तरह'का कहना कैसे उचित था ? उसे तो ४७वेंमें ठीक ही यह—इदम्—कहा है। 'यह'के मानी ही है मौजूद या हाजिर। 'वह'—तेनैव, तदेव—और 'उसी तरह'—तथैव—तो सामनेकी चीजको न कहके परोक्ष या दूरकी चीजको ही कहते हैं। और सच कहिये तो कृष्णका सीधासादा आदमीवाला रूप ही उस वक्त सामने न था। अर्जुन उसे ही देखनेको परीशान भी था।

इसीलिये हमने अर्थ किया है कि जो अभी किरीट, गदा चक्रको धारण करनेवाला आपका रूप है उसे ही पुराने और आदमीके रूपमें देखना चाहता हूँ। क्योंकि यह आदमीका न होके भगवान्का ही रूप है। इसमें 'तथा' और 'तेनैव' भी ठीक बैठते हैं। यही वजह है कि हमने 'चतुर्भुजेन' शब्दको एक न मानकर दो—चतुर्भुज + इन—माना है और 'सहस्रबाहो' तथा विश्वमूर्त्ते' की ही तरह इन दोनोंको भी सम्बोधन ही माना है। 'इन' शब्दका अर्थ है स्वामी और श्रेष्ठ। इस तरह हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, ऐसा अर्थ हो जाता है। एक यही शब्द कठिनाई पैदा करता था और वही अब दूर हो गई।

इसपर—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

श्रीभगवान कहने लगे—हे अर्जुन, (तेरे ऊपर) प्रसन्न होके ही मैंने तुझे

अपनी सामर्थ्यसे यह (वही) तेजमय, अनन्त, मूलभूत, विलक्षण विश्वरूप दिखाया है जिसे तुझसे अन्य (किसी) ने भी पहले देखा न था।४७।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुवीर शिरोमणि, न वेद (पढने) से, न यज्ञ (करने) से, न (सद्ग्रंथोंके) अध्ययनमे, न दानमे, न अन्य क्रियाओसे (और) न कठिन तपस्याओंसे ही (इस) मनुष्य लोकमे तुम्हारे अलावे दूसरा कोई मुझे इस रूपमे देख सकता है।४८।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरा यह ऐसा घोर रूप देखके तुम्हें (अब) व्यथा मत हो और घबराहट या किंकर्त्तव्यविमूढता भी मत हो। (किन्तु) निर्भय होके खुशी-खुशी तुम पुनरपि मेरे उसी रूपको यह अच्छी तरह देख लो।४९।

इस श्लोकसे और भी साफ हो जाता है कि कृष्णने असली पुराने नररूपको ही फिरसे बना लिया था। क्योंकि पुनरपि—फिर भी—उसी रूपको देख लो, ऐसा कहते हैं। इसका तो आशय यही है न, कि जिसे पहले देखा था उसीको फिर देखो? दुबारा देखनेका और मतलब होगा भी क्या? जो चतुर्भुज रूप सामने ही है उसीको पुनः देखना क्या? इसीलिये जब फिर मानव रूप बनाया है तो कहते हैं यह अच्छी तरह देख लो—'इदं प्रपश्य'। इतना कहना था कि फौरन वही रूप नजर आ गया।

ठीक यही बात—

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय कहने लगा (कि), कृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहके (फौरन ही) अपना रूप फिर दिखा दिया और (इस तरह) सीधासादा स्वरूपवान बनके महात्मा कृष्णने उस डरे हुए अर्जुनको पुनरपि आश्वासन दिया।५०।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेतः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

(इसपर फौरन ही) अर्जुनने कहा (कि) हे जनार्दन, आपका यह सौम्य—सीधासादा मानव रूप देखके मुझे अभी होश हुआ है और मिजाज भी ठीक हुआ है।५१।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।।५२।।

(तब), श्रीभगवान कहने लगे (कि आज) तुमने जो मेरा रूप देखा है इसका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। देवता लोग भी बराबर ही इस रूपके दर्शनकी आकांक्षा रखते हैं।५२।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

तुमने अभी-अभी मुझे जिस तरह देख लिया है इस रूपमें मैं वेद, तप, दान और यज्ञ (किसी भी उपाय) से देखा नहीं जा सकता।५३।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।५४।।

हे अर्जुन, हे परन्तप, किन्तु अनन्य भक्तिसे ही मुझे इस प्रकार जाना, आँखों देखा और उसी रूपमें—वैसा ही स्वयं भी होके—उसमें प्रवेश किया (भी) जा सकता है।५४।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ।।५५।।

(इसीलिये) हे पाडव, जो मेरे ही लिये—पदार्थ—कर्म करे, मुझीको अन्तिम (लक्ष्य वस्तु) माने, मेरा ही भक्त हो, आसक्तिशून्य हो और किसी भी पदार्थसे वैर न रखे, वही मुझे प्राप्त करता है।५५।

यहाँ संक्षेपमें ही दो-तीन बातें जान लेनी है।

पहली बात यह है कि यद्यपि ४८वें तथा ५३वें श्लोकमे वेद आदिकी बातें एक ही हैं, जिसमे व्यर्थकी पुनरुक्ति प्रतीत होती है; फिर भी पहले श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देनेके ही लिये वह बातें कही गई है कि कहाँ तो वेदादिके बलसे भी जो दर्शन नही हो सकता है वही तुझे मिला है और कहाँ तू उलटे घबराता और बेहोश होता है! यह क्या? राम, राम! लेकिन वही बात दूसरे श्लोकमे अनन्य भक्तिके साथ वेदादिके मुकाबिलेके लिये ही आई है; ताकि इस भक्तिका पूर्ण महत्त्व समझा जा सके।

दूसरी बात यह है कि यहाँ जो कई बार कहा है कि कभी किसी और ने यह रूप नहीं देखा, उसका मतलब यह है कि यह तो आत्मदर्शनका प्रयोग था जो अर्जुनके ही लिये किया गया था। इससे पहले यह प्रयोग किसीने किया ही नहीं। अगर कभी किसीने देखा भी हो तो कौतूहलवश ही। क्योंकि उसे यह दृष्टि कहाँ मिली और न मिलनेपर वह इस दृष्टिसे कैसे देखता ? प्रयोग तो करता न था।

तीसरी बात है अन्तिम श्लोक की। इसमें जो कुछ कहा गया है वह आत्मदर्शीकी बात न होके उधर अग्रसर होनेवालेकी ही है, जो अन्तमें सब कामोके फलस्वरूप आत्मदर्शन करके ब्रह्मरूप बनता है। प्रसंग और शब्दोंसे यही सिद्ध होता है।

इति श्री० विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका विश्वरूप दर्शन नामक ग्यारहवाँ अध्याय यही है।



बारहवाँ अध्याय

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि दसवें अध्यायमें जिस योगका उल्लेख विभूति-के साथ हुआ है वह विराट्दर्शन या विश्वरूपदर्शनका ही दूसरा नाम है। इसे प्रमाणित भी किया जा चुका है। यदि यह बात न होती तो जहाँ अन्य सभी अध्यायोंकी समाप्तिवाले वाक्यमें 'सांख्ययोगः', 'कर्मयोगः' आदि लिखके सांख्य, कर्म-प्रभृतिके साथ योगका उल्लेख बराबर ही किया गया है, तहाँ केवल इसी ग्यारहवें अध्यायमें सिर्फ 'विश्वदर्शनं' इतना ही क्यों लिखा जाता? सभी प्रामाणिक भाष्यों एवं टीकाओंमें यही पाया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब यह विश्वरूपदर्शन निर्विवाद रूपसे स्वयमेव योग है तो पुनरपि योग शब्दके नाहक पुनरुक्ति क्यों करना? जहाँ विवादकी गुंजाइश हो वहीं उसका लिखा जाना ठीक था।

इस प्रकार विश्वरूपदर्शनकी बात खत्म करके आगे बढनेकी बात आती है। वही तेरहवें अध्यायमें पाई भी जाती है। वहाँ उन्हीं पदार्थोंका दार्शनिक ढंगसे विश्लेषण तथा विवेचन किया है जिन्हें ग्यारहवेंमें दिखाया गया है। यह बात वहीं विशेष रूपसे बतायेंगे और दिखायेंगे कि मननका सिलसिला क्यों नहीं टूटना चाहिये। बल्कि यह बात तो पहले भी कही चुके हैं कि निदिध्यासन, समाधि या प्रयोगके बाद भी मननकी जरूरत होती ही है। नहीं तो सारी बातें भूल ही जायँ और किया-कराया सब कुछ चौपट हो जाय। इसीलिये उससे पूर्वका यह बारहवाँ अध्याय भी मननके ही रूपमें प्रसंगसे आ गया है। यह प्रसंग भी ग्यारहवेंके अन्तके चार और खासकर आखिरी दो श्लोकोंके ही चलते आया है। इस प्रासं-गिक बातको बीचमें पूरा कर लेना भी जरूरी था। तभी असली बातका सिल-सिला ठीक-ठीक चल सकता था।

बात यों हुई कि कृष्णने अपना साकार विराट् रूप दिखाके अर्जुनसे साफ कह दिया कि इसके जानने और देखनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है, सिवाय इसके कि अनन्य-भक्ति की जाय। उनने यह भी कह दिया कि जो कुछ भी किया जाय वह भगवदर्पण बुद्धिसे ही। जबतक यह न होगा यह दर्शन असंभव है। यह ठीक है कि सिर्फ दर्शन होके ही खत्म हो न जायगा। किन्तु दर्शकको मुक्ति भी मिलेगी। फिर भी इस दर्शनके रास्ते मुक्तितक पहुँचना दुर्लभ चीज है। इससे अर्जुनके दिलमें फौरन ही यह खयाल होना जरूरी था कि एँ, कृष्ण तो इसी साकारकी उपासना और भक्तिको यज्ञादिसे भी बडी चीज मानते तथा इस साकार दर्शनको

दुर्लभ कहते है। मगर यहाँ तो बराबर ही देखा सुना जाता है कि निराकार ब्रह्ममें ही विवेकी लोग दिन-रात लगे रहते है। आखिर ऐसा क्यों होता है ? यदि यही उत्तम मार्ग है तो लोग उसमें क्यों पड़ते है ? यह भी नहीं कि मामूली लोग ही उधर जाते हैं। नहीं, नहीं। वह तो बड़े-बड़े अगड़धत्तों और विवेकियोंका ही मार्ग है। बल्कि जनसाधारणके लिये तो वह दुर्लभ ही है। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि वह मार्ग भी उत्तम ही है। खुद कृष्णने भी तो पहले उसपर बहुत ही जोर दिया है। फिर उत्तम क्यों न हो ? मगर अभी-अभी इनने जो कुछ कह दिया उससे तो साकारकी उपासना ही अच्छी साबित होती है ! यह तो अजीब घपला है ! यह पहेली तो निराली है !

इसीलिये उसने चटपट कृष्णसे पूछ ही तो दिया कि बात क्या है ? रास्ते तो दोनों आपके ही बताये है। इसीलिये अब साफ-साफ कहिये न, कि इन दोनोंमें कौन अच्छा है ? इन दोनोंपर चलनेवालोंमे जोई अच्छे और कुशल होंगे मैं उन्हींको पसन्द करूँगा। 'योगवित्तमाः' शब्द देनेका भी मतलब है। योग तो उपाय ही ठहरा, जिसे मार्ग कहिये या रास्ता। इन दोनों मार्गोंके जानकार और इनपर अमल करनेवाले लोग योगविन् हुए, यह भी ठीक ही है। मगर दोनोंमे ज्यादा कुशल कौन है, अच्छे कौन है, योगवित्तम कौन है यही बता दीजिये तो काम चले, यही आशय अर्जुनका है। दरअसल ग्यारहवे अध्यायके समूचे प्रसंगमें अन्तके वचनोंको सुनके ही अर्जुनको एकाएक यह खयाल हो आया और उसने फौरन उसे जाहिर कर दिया। उसने बहुत ज्यादा इस बारेमे सोचा-विचारा नहीं। नही तो शायद उसे ऐसा पूछनेकी जरूरत होती ही नही। उसे खुदबखुद सन्तोष और समाधान हो जाता।

क्योंकि छठे अध्यायके बाद भी कृष्णने निराकार आत्मामे लगने तथा उसके अनन्य चिन्तनकी बात कही ही है। छठे अध्यायमें या उसमें पहले तो यह बात खूब ही आई है। साख्ययोग तो दरअसल यही है भी और उसीसे गीताका श्री-गणेश हुआ है। ज्ञानका जो रूप पहले भी और खासकर चौथे तथा छठे अध्यायमें आया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है ! उसकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेपर भी कितना जोर दिया है ! यही नहीं। यदि ग्यारहवे अध्यायके अन्तवाले इन श्लोकों को ही देखे तो उनमे क्या लिखा है ? उनमे यह कहाँ कहा गया है कि ज्ञानमार्ग या निराकार ब्रह्मकी समाधिसे भी यह साकार चिन्तन या सगुणकी भक्ति श्रेष्ठ है ? वहाँ तो इतना ही कहा है कि वेद, तप, दान और यज्ञसे भी यह दर्शन होनेको नही। इसलिये अनन्य भक्ति करो। यह तो नहीं कहा कि ज्ञान और समाधिसे भी यह होनेको नही। यदि वेद, तप, दान और यज्ञसे इस उपासनाको

श्रेष्ठ बताया, तो बुरा क्या किया ? यह तो ठीक ही है। ये चारों तो बेकार हैं यदि इनके करने भगवानमे भक्ति न हो। यह भी नहीं कि यज्ञ शब्दसे ज्ञान भी लिया जाय। ऐसा करना तो दूरकी कौडी लाना हो जायगा। हम तो यह भी कह चुके हैं कि ग्यारहवे अध्यायका यज्ञ शब्द ज्ञानको छोड़के और यज्ञोंको ही, और आमतौरसे प्रसिद्ध यज्ञोंको ही, बताता है। जिस ज्ञानसे इस भक्तिको तर्जीह देनी हो, जिससे इसे श्रेष्ठ कहना हो उसीका नाम सीधे न लिया जाकर यज्ञके रूपमे ही उसे लाके इसकी विशेषता बताई जाय, यह निराली समझका काम है। जब आगे बारहवेमे स्पष्ट ही वही बात अर्जुन कहता है, तो कृष्णको उससे पहले कहनेमे क्या हिचक हो सकती थी, यदि उनका वही आशय होता ?

इसीलिये अगत्या मानना ही होगा कि कृष्णका ऐसा कोई आशय न था। नही तो साफ ही बोल देते। सो भी तीसरे अध्यायमे अर्जुनके यह कहनेके बाद, कि गोलमोल बातें कहके, ऐसा लगता है कि, आप मुझे धपलेमे डाल रहे हैं, कृष्णके लिये यह जरूरी हो गया था कि स्पष्ट कहे। उनने बराबर ऐसा ही किया भी है। इसीलिये पुनरपि अर्जुनको यह इल्जाम लगानेका मौका नहीं मिल सका है। मगर अगर ऐसा हो माने, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, तब तो यहीपर उस इल्जामका सुन्दर मौका था और अर्जुनको वही कहना भी चाहता था। लेकिन यह तो अर्जुन भी नही कहता है कि साकार उपासनाको कृष्णने श्रेष्ठ कहा है। वह तो इतना ही मानता है कि दोनो ही पर कृष्णका जोर काफी है। मगर ग्यारहवेमे प्रसंग साकारका ही है। इसीलिये उसने खुद पूछा कि आया दोनो रास्ते बराबर ही हैं या इनमे कोई श्रेष्ठ भी है। दोनोपर बराबर ही जोर देना उसे मालूम हुआ था जरूर। फिर भी हरेक तो दोनोंको कर नही सकता। इसलिये दोनोमे एकको उसे चुनना ही होगा। इसीसे वह पूछता भी है कि कौनसा एक अच्छा है।

अच्छा, मान ले कि अर्जुन दोनोंमे किसी एककी विशेषता ठीक ही समझ न सका था। इसीलिये तो उसने पूछा। फिर भी कृष्णने उत्तरमे साकारोपासनाको उत्तम करार दे दिया। लेकिन यह भी अजीब बात है। ग्यारहवेके अन्तमे साकारकी बात संभव थी। उसीका तो वहाँ प्रसग ही था। इसलिये स्वभावतः अर्जुनका झुकाव उसी ओर होना था। ताहम निश्चय न कर सकनेके कारण ही उसने पूछ दिया। इतना तो मानना ही होगा। किन्तु जरा यह भी तो सोचे कि आखिर वह पूछता ही क्या है। यही न, कि दोनोमे योगवित्तम कौन है ? और योगका अर्थ "समत्वं योग उच्यते" तो हो नही सकता। क्योंकि उसमें छोटेबड़ेका क्या प्रश्न, उत्तम मध्यमकी क्या बात ? वह तो एक ही तरहका होता ही है।

और दोनों ही योगी हों यह तो गैरमुमकिन भी है। योगके मूलमें तो आत्मदर्शन है न ? वह साकारोपासकको होगा ही कैसे ? तब तो यह उपासना ही बेकार होगी। इसलिये यहाँ योगका अर्थ उपाय, रास्ता या मार्ग ही मानना होगा। हम तो कही चुके हैं कि योगका उपाय अर्थ भी होता ही है। अर्जुनके पूछनेका तो केवल इतना ही आशय है कि कल्याणका मार्ग जानते हैं तो दोनों ही। मगर उन जाननेवालोंमे कुशल कौन है ?

असलमें मार्ग तो सबके लिये एक होता नहीं। वह तो योग्यता या अधिकार-के हिसाबसे ही जुदा-जुदा होता है। मार्ग जाननेवालेकी कुशलताका भी यही मतलब होता है कि जिसे जिसके योग्य समझे उसे वही बताये; न कि सब धान पूरे बाईस पंसेरी ही तौलने लगे। तब तो अनर्थ ही होगा। किसीके लिये उसकी योग्यताके अनुसार जो मार्ग सर्वोत्तम हो सकता है वही दूसरेके लिये बेकार या हानिकारक भी हो सकता है। इसीलिये चतुर उपदेशक और जानकारकी जरूरत होती है। अर्जुनके पूछनेका यही आशय है। कृष्णने उत्तर भी इसी दृष्टिसे दिया है। जनसाधारणके लिये तो साकारोपासना ही श्रेष्ठ है। कारण, निराकारकी बात उनकी पहुँचके बाहरकी ठहरी। जंगलमे फल पके भी तो गाँववालोंके किस कामके ?

कृष्णके उत्तरका यही आशय है कि जनसाधारणको वहीसे शुरू करना होगा। उनके लिये वही श्रेष्ठ है, सर्वोपरि है। निराकारवाले तो बिरले ही होते हैं। उस दशामे तो लोग अपने आप पहुँच भी जाते है। इसलिये उसपर जोर देनेकी अपेक्षा इसीपर जोर देना उचित भी है। जनसाधारणकी, आम लोगोंकी ही बात जो ठहरी। इसीलिये यदि ज्ञान-मार्गसे इसे उत्तम कहा है तो उसका ऊपर लिखा आशय समझ लेनेसे भ्रम न होगा। इसी बातको अर्थवादकी रीति, प्ररोचना या प्रशंसा भी कहते हैं। क्योंकि ऐसा करनेसे ही जनसाधारण इस तरफ झुकेंगे।

यही आशय मनमे रखके—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनने पूछा (कि) इस तरह निरन्तर भगवानमें लगे हुए जो लोग तुम्हारी—भगवानकी—साकार—उपासना करते है और—जो अविनाशी, निराकार या अक्षरब्रह्ममें लगे रहते हैं, इन उपाय जानने और करनेवालोंमें सबसे चतुर कौन है ? ।१।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवानने उत्तर दिया (कि) मुझ (साकार भगवान)में मनको जुटाके निरन्तर उसीमें पूर्ण श्रद्धाके साथ लगे हुए जो लोग उपासना करते हैं, मेरे जानते वही अत्यन्त कुशल जानकार है।२।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

विपरीत इनके जो सर्वत्र समदर्शी लोग सभी इन्द्रियोंको काबूमें करके अक्षर, न बताये जा सकनेवाले, अदृश्य, सर्वव्यापी, चिन्तनके अयोग्य, निर्विकार एकरस, क्रियाशून्य और स्थिर (ब्रह्म)की पूर्ण उपासना या समाधि करते है, समस्त संसारके हितमें लगे हुए वे लोग (भी) मुझ भगवानको ही प्राप्त करते हैं (सही)। (मगर) निराकारमे जिनके चित्त चिपक चुके है ऐसे लोगोंको (पहले) दिक्कतें बहुत ज्यादा (होती है)। क्योंकि शरीरधारियोके लिये अव्यक्तमें जा लगना असंभवसा ही होता है।३।४।५।

यहाँ एकाध बाते विचारणीय है। इन श्लोकोंमें उन्हीं समदर्शियोंका वर्णन है जिनका "विद्याविनयसम्पन्ने" (५।१८-२१)मे पाया जाता है। इसीलिये उनके बारेमे, 'उपासते'के पहले 'परि' लगाके पूर्ण उपासना या समाधिके ही रूपमे उनकी स्थितिका वर्णन किया है। पाँचवे श्लोकके "अव्यक्तासक्तचेतसाम्" में जो 'आसक्त' पद आया है उससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि वे समाधिकी पूर्णावस्थावाले ही है। ऐसी दशामे जो अन्तमे कहा है कि अव्यक्तमें लगनका होना शरीरधारियोके लिये असंभवसा ही है उसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि ऐसे लोगोंको कोई कष्ट होना है। वे तो पहुँचे हुए हइँ। उन्हे क्या दिक्कत होगी? वे तो दिक्कतें पार कर गए है। शायद 'दुःखं' पदको देखके लोग ऐसा आशय निकालना चाहते है। वे इसमें इससे पहलेके "क्लेशोऽधिकतरः"से भी सहायता लेते है। मगर यह क्लेश तो उस दशामे पहुचनेसे पहलेका ही है। वहाँ पहुँचके कैसा क्लेश? कहने का आशय यही है कि बहुत ही ज्यादा

दिक्कतसे बिरला कोई उस दशामें पहुँच पाता है। इसीलिये वह असंभव या अप्राप्यसी ही वस्तु है। 'दु:खं' विशेषण जब क्रियामें लगता है तो उसका कष्ट अर्थ नही होता, किन्तु सब मिलाके 'प्राय: असंभव' यही अर्थ हो जाता है। यह बहुत ही मार्केकी बात है। किन्तु इधर ध्यान न देके लोग ऊल-जलूल अर्थ कर बैठते है। हाँ, इस अर्थसे यह सिद्ध होता है जरूर कि वह मार्ग बहुत ही कष्ट-साध्य है। कृष्णका यही आशय है। ऊँचे दर्जेकी बात ठ री और वह जनसाधारणके लिये असंभवसी हो तो ठीक ही है।

दूसरी बात "सर्वभूतहितेरता:"की है। इसके पहले भी एक बार (५।२५मे) आत्मज्ञानियोंके ही सम्बन्धमे यह शब्द आया है। इसका अर्थ है "सभी पदार्थोंके हितमे लगे हुए"। "सर्वभूतात्मभूतात्मा" (५।७) भी उन्हीको कहा गया है, जिसका अर्थ है कि सभी पदार्थोंकी आत्मा ही उनकी आत्मा बन गई है। इन दोनोंके मिला देनेपर इसका आशय यही हो जाता है कि सर्वत्र वे अपनी ही आत्मा देखते है। इसीलिये सभीके हितसाधन, भलाई या कल्याण ही मे संलग्न रहते है। नीतिका इससे उत्तम और व्यापक सिद्धान्त होई नही सकता। इसपर अधिक विवाद करनेकी गुंजाइश यहाँ नही है। इसीलिये इसका विशद विवेचन आगेके लिये छोड़ देते है। मगर इतना तो कहना ही पडता है कि जो लोग "अधिकाश लोगोके अधिकसे अधिक हित" (The greatest good of the greatest numb·r) वाला सिद्धान्त ही कर्त्तव्याकर्तव्यका निर्णायक तथा पथदर्शक मानते हैं उनसे गीता सहमत नही है। यह तो सभी पदार्थोके हितको ही अपना पथदर्शक मानती हे। केवल स्वार्थ, दूरदर्शी स्वार्थ और उच्च स्वार्थकी गोलमाल बातोंकी तो यहाँ पूछ भी नही है। गीता तो मनुष्योके हितसे भी आगे जाके सभी प्राणियोतक पहुँचती हे और उन्हे भी अपनाके आगे बढनेपर सभी पदार्थोंके हितको ही देखती है। क्योकि करनेवालेकी आत्मा तो कही सीमित न होके अपरिमित है। फलत: सभी पदार्थोंको अपने गोदमे रख लेती है।

गीताके इस महान् मन्तव्यके निकट केवल मार्क्सका ही सिद्धान्त पहुँच पाता है। क्योकि मार्क्स तो समूचे समाजका ही आमूल परिवर्त्तन करके उसका पुनर्निर्माण चाहता है जिससे किसी एकको भी किसी प्रकारकी असुविधा जरा भी न रह जाय। प्रकृति, रोगव्याधि तथा मृत्यु आदिपर भी विजय प्राप्त की जा सके। सभी तरहकी बीमारियों, प्राकृतिक उपद्रवो, युद्धो और संघर्षोपर मानव-समाजका ऐसा आधिपत्य हो जाय कि ये जड़मूलसे मिट जायँ और अखंड शान्ति सर्वत्र विराजने लगे। यदि मानव-समाजको आराम दे सकें भी तो प्राकृतिक उपद्रवों, रोगो और युद्धोसे मनुष्यो, पशु-पक्षियों और जमीन, पहाड़, घरबार वगैरहका

संहार होता ही रहेगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी भूतोंका हित हो गया? सभी भूतोंके हितोंका साधन किया जा रहा है? इन उपद्रवोंको निर्मूल करनेमें जबतक सफलता न मिले तबतक यह बात कही जा सकती नहीं। इसलिये उस सफलताके लिये जो लोग दत्तचित्त हैं और समाजको नये साँचेमें ढालना चाहते हैं सचमुच वही 'सर्वभूतहितेरताः' कहे जा सकते हैं। या नही, तो ऐसोंके निकटवर्ती तो वे अवश्य ही माने जा सकते हैं। उनमें तथा सर्वभूतहितेरतोंमें बहुत ही कम अन्तर रह जायगा।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

हे पार्थ, (इनके विपरीत) जो लोग सभी कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ (साकार भगवान) को ही सबसे बढ़के मानते हुए तथा अनन्यभावसे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझीमें अपने चित्तको चिपका देनेवाले ऐसे लोगोंका (इस जन्म) मरण रूपी संसार-सागरसे जल्द ही उद्धार कर देता हूँ।६।७।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

(इसलिये) मुझीमें मन जोड दे (और) बुद्धिको भी मुझीमें लगा दे। (परिणाम यह होगा कि) इसके—मरनेके—बाद या इतना कर लेनेपर बेशक तुम मुझमें ही निवास करेगा—मेरा ही स्वरूप हो जायगा।८।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

लेकिन यदि, हे धनजय, मुझमें चित्तको निश्चल रूपसे लगा नहीं सकता, तो (इस बातके) अभ्यासरूपी उपायसे ही मुझे (क्रमशः) प्राप्त करनेका संकल्प कर ले।९।

यहाँ "आप्तुं इच्छ"—"पानेकी इच्छा कर ले" का ही अभिप्राय हमने "संकल्प कर ले", लिखा है और यही उचित भी है। इच्छा मात्रसे तो कुछ होता जाता नहीं, जबतक संकल्प न कर लें।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(और अगर) अभ्यास भी न कर सके तो मदर्थ कर्म करनेमें ही लग जा। (क्योंकि) मदर्थ कर्मोंको करते हुए भी (धीरे-धीरे) इष्टसिद्धि प्राप्त कर ही लेगा।१०।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

लेकिन यदि मुझे ही अर्पण करते हुए यह करनेमें भी असमर्थ हो तो मनपर अंकुश रखके सभी कर्मोंके फलोंकी पर्वा छोड़ दे।११।

आगे बढ़नेके पूर्व यहाँ कुछ विचार कर लेना जरूरी है। ६,७ श्लोकोंमें जो बातें कही गई है उन्हींका उपसंहार आठवेंमें है। न कि कोई नई बात। यही है साकार भगवानकी अनन्य भक्ति, जिसका उल्लेख ग्यारहवें अध्यायके अन्तमे आया है और बारहवेके शुरूमें जिसके बारेमें ही प्रश्न हुआ है। मगर यह पूर्ण भक्ति है, उसकी आखिरी निष्ठा या स्थिति है। यह भी तो कही चुके हैं कि ग्यारहवेंके अन्तिम श्लोकमे जो कुछ कहा गया है वह पूर्ण भक्ति ही न होके पहलेकी सीढ़ियाँ भी उसीमें आ गई है हालाँकि उनका इतना स्पष्ट वर्णन होना वहाँ असंभव था। अतएव प्रश्नके बाद उनकी स्पष्टता अपने आप यहाँ हो जाती है और बादके तीन (९-११) श्लोक यही काम करते है। इनमे ९वाँ पहली बात कहता है कि यदि पूर्ण भक्तिकी दशावाला मन न हो पाया हो और इधर-उधर दौड़ता हो तो अभ्यास ही उसे काबूमे करनेका उपाय है। इस अभ्यासकी बात पहले खूब ही आ चुकी है। लेकिन यदि वह बहुत ही गन्दा हो और इतना चंचल हो कि अभ्यास भी न हो सके, तो दसवे श्लोकमें बादकी सीढ़ीके रूपमे कहा गया है कि "यत्करोषि" (९।२७)के अनुसार भगवदर्पण बुद्धिमे कर्म हो करते जाओ। फिर तो समय पाके अभ्यासको योग्यता आ जायगी। किंतु यदि दुर्भाग्यसे यह भी न हो सकनेवाला हो और मन अत्यंत पतित हो, तो आखिरी बात यह है कि सभी भले-बुरे कर्मोंके फलोंको ही भगवानके अर्पण करके बेफिक्र बन जाओ। यही बात ग्यारहवे श्लोकमे है। यदि ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकके "मत्कर्मकृन्मत्परमः"का यहाँके दसवेंके "मत्कर्मपरमः"मे मिलान करें तो पता चल जायगा कि उस श्लोकमे इन सीढ़ियोंका समावेश जरूर है। इस प्रकार मनको निरन्तर साकार भगवानमे जोड़ देनेकी पूर्ण भक्तिके नीचे क्रमशः तीन सीढ़ियाँ हैं—अभ्यास, भगवदर्पण कर्म और कर्मफलोंको ही भगवदर्पण करना। यही कारण है कि इन श्लोकोंमे क्रमसूचक पद न रहनेपर भी हमने वैसा ही अर्थ किया है।

ये तीनों क्रमशः नीचेकी सीढ़ियाँ कैसे है यह जान लेना भी जरूरी है। यह तो मोटी बात है कि उधरसे हटनेपर बारबार मनको खींचके लगाना ही होगा। दूसरा

रास्ता हई नहीं। इसे सभी लोग यों ही समझ भी सकते हैं। मगर जब मन इतना गन्दा हो कि भगवानकी ओर बिल्कुल जाये ही नहीं, तो अभ्यास क्या करेंगे खाक? वज्रकी धरतीको मामूली कुदालसे खोदके उधर ही पानी बहानेका यत्न जिस तरह बेकार होता है वैसा ही यह भी है। कुदालसे तो वज्र कटे-टूटेगा ही नहीं। उलटे कुदाल ही टूटेगी और परिश्रम बेकार होगा। फिर भी वैसी दशा में क्रियाओंमे तो मन जायेगा ही। फिर चाहे भलीमें जाये या बुरीमें। अतएव अब यह कर सकते है कि उन सभी क्रियाओंको, कर्मोंको ही भगवदर्पण करें और इस प्रकार कर्मोंके द्वारा ही मनको वहाँ तक पहुँचानेका यत्न करें; यदि सीधे नहीं जाता है। और अगर यहाँ भी वह चारों पाँव चित्त होके वैसा करनेसे इनकार करे तो? ठीक भी है। कर्मोंके करनेमें पहलेसे ही ऐसा खयाल हो जाना कि यह भगवानकी पूजा है, आसान नहीं है। सो भी जब मन बहुत ही पापी और पतित है। कर्मोंके कर लेनेपर तो यह बात होई नही सकती। क्योंकि तब तो उनपर हमारा कोई अधिकार रही नहीं जाता। वे तो हाथसे छूटे हुए तीर हो गये। फलतः कर्मोंके पहले या उनकी दौरानमें भी यह खयाल होना प्रायः असंभव है। इसलिये अन्तमें यही बताया है कि फलोंको ही भगवानके समर्पण करो। असलमें कर्म करनेके पहले तो जोश रहता है। इसीलिये कुछ भी सूझता ही नहीं। मगर कर चुकने पर ठंडक होती है और पश्चात्ताप होने लगता है कि उफ, ठीक नहीं किया। यह भी आम बात है कि पतित मनवाले ज्यादातर बुरे ही कर्म करते हैं। इसलिये पीछे दिमाग दुरुस्त होनेपर सोच लिया कि चलो इनके फलोंको ही भगवान को समर्पित करें इस तरह भले फल तो शायद ही थे जो गये। मगर बुरे तो प्रायः सभी थे और सभी गये—खत्म हो गये। इसी आशयसे "सर्वकर्म फलत्यागं" कहा है। सर्व कहनेसे बुरे-भले सभी आ जाते है। इस प्रकार चक्कर काटके फल और कर्मके द्वारा मनको वहाँ तक पहुँचाते हैं। यही अन्तिम सीढ़ी है।

कहते हैं कि किसी वेश्याका कोई नौकर था। वह प्रतिदिन सुन्दर सुन्दर फूल उसके लिये चुन लाता था। एक दिन रास्तेमें फूल लिये आ रहा था। अकस्मात् उनमें दो एक फूल नीचे गिर पड़े। उसने जो उन्हें उठानेकी कोशिशकी तो देखा कि विष्ठा पर ही जा पड़े है। अब तो विवश था और कलेजा मसोसके रह गया। फिर कुछ सोचके बोला, 'विष्णवे स्वाहा'। कभी सुना था कि विष्णुको अर्पण करनेसे पुण्य होता है। उसने जब कोई उपाय न देखा तो हारके पुण्य ही लूटना चाहा। कहानी तो बताती है कि उसीके करते उस पतितको भी बैकुंठका दर्शन मिला। मगर हमे उससे मतलब नहीं है। हमें

तो यहाँ इतना ही कहना है कि वेश्याके नौकरकी ही तरह पीछे हारके कर्मोंके फलोंको भगवानके अर्पण किया जा सकता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। हाँ, है यह सबसे नीचेकी, छोटी और आखिरी बात।

अब हमे प्रसंगवश उन लोगोंसे एक प्रश्न करना है जो, साकार भगवानकी भक्तिको ही दरअमल सबसे बड़ी चीज गीताके मतसे बनानेपर तुले बैठे हैं। हमने गीताके ही श्लोकोंके आधारपर, जो इसी अध्यायके इसी मौकेके ही हैं, कमसे कम चार प्रकारकी भक्तियोंको दिखाया है। इन्हें तो वह भी मानेंगे ही। क्योंकि यह तो हमारी अपनी मनगढ़न्त चीजे है नहीं। तो अब वही बताएँ कि इनमें कौनसी भक्ति सबसे ऊँची है जिसका ढिंढोरा गीताने पीटा है? ज्ञान और समाधिकी अपेक्षा जो ऊँची चीज उन्हें जँचती है वह इनमे कौनसी है? चारों तो हो नहीं सकती हैं। और अगर चारों ही हों, तो गजब होगा। क्योंकि साम्य, ज्ञान या समाधिकी अपेक्षा उस आखिरी भक्तिको भी श्रेष्ठ ठहरानेकी हिम्मत जिसे हो वह सचमुच बहादुर है, दिलेर है! अगर यह कहा जाय कि सबसे उपर वाली श्रेष्ठ है तो क्यों? गीताने तो सबोंको ही एक ही सिलसिलेमें गिनाया है। यह भी तो नही कहा है कि इनमे फलांसे ही हमारा आशय है।

लेकिन अगर हमारी कही बात मानी जाय तब तो वस्तुस्थितिका सवाल होता ही नही। तब तो मार्गका सवाल ही रहना है और अधिकारियोके हिसाबसे ये चारों ही अच्छी है—जो जिसके योग्य हो, जिसका अधिकारी हो वह उसे ही करे। क्योकि जनसाधारणके अनुकूल चारों ही है। इनमे भी जो सबसे नीचेकी है वही सबसे ज्यादा लोगोंके लिये संभव होनेसे उस दृष्टिसे वही सबसे श्रेष्ठ है, इस कहनेमे कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि वह ज्ञानकी जगह लेने या सचमुच उससे भी ऊँचा दर्जा लेने तो जाती नही। यहाँ तो काम चलानेकी ही बात है।

इसी अभिप्रायसे आगेका—१२वाँ—श्लोक भी इस मौके पर ठीक ठीक आ बैठता है। यों तो इस श्लोककी बड़ी फजीतो की गई है। हरेक टीकाकारने अपने ही खयालके अनुसार इसे बुरी तरह घसीटा है। किन्तु हमारे जानते जो इसका सीधा-सादा अर्थ है वह यों है। फलत्यागके द्वारा मनको थोड़ीसी शान्ति और थोड़ासा चैन मिलना शुरू हो जाता है जो धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। असलमें जोशमें आके नासमझ लोग जितनी मुस्तैदीसे भले-बुरे काम कर बैठते हैं, पीछे जोश ठंडा होनेपर उतनी ही ज्यादा उन्हें बेचैनी और घबराहट होती है, अशान्ति होती है। क्योंकि उन कर्मोंके भयङ्कर परिणाम आँखोंके सामने नाचने जो लगते हैं। मगर ज्योंही उनने यह समझा कि फल तो भगवदर्पण हो गये, कि उन्हें खामखा चैन और शान्तिकी प्राप्ति फौरन ही हुई। यह स्वाभाविक बात है। चाहे

पीछे कुछ हो, मगर तत्काल मनकी घबराहट और उसका उद्वेग तो जाता रहा। और एक बार ऐसा होते ही उनने जो इसका तत्काल मजा चख लिया तो फिर यही बात रह-रहके करने लगे। इस तरह उलटे धक्केसे मनको शान्ति होते होते ध्यानकी योग्यता होती है। फिर यह ध्यान चाहे सीधे भगवानमें मन लगाके हो, या भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म करके हो। यह तो आदमीकी दशा और योग्यतापर ही निर्भर करता है। इसीलिये ध्यानके भीतर भगवदर्थक कर्म भी आ गया। क्योंकि उसके द्वारा भी मनकी एकाग्रता ही तो होती है। हाँ, सीधे हो तो और अच्छी बात हो। इस तरह जब एकाग्रता हुई और ध्यानका रास्ता खुला, तो जो बात पहले दिलमें बैठती ही न थी वह भी बैठने लगी। अनन्य भावनासे भगवानकी भक्ति करें, चाहे निराकारकी हो, या साकारकी—निराकारवालीको ही आत्मदर्शन या समदर्शन भी कहते हैं—यह बात पहले तो दिलमें बैठती ही न थी। मगर अब मनपर काबू होनेसे बैठी। यही है ज्ञान। इसके बाद ही फौरन अभ्यासकी सीढ़ी आ जाती है। क्योंकि यह ज्ञान होते ही एकाएक मन पूर्ण स्थिर तो हो जायगा नहीं। अतएव अभ्यास तो करना ही होगा। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अनन्य भक्ति आप ही हो जायगी। यदि साकारमे मन टिकानेका अभ्यास होगा तो उसकी। नहीं तो निराकारकी ही।

इस प्रकार देखनेसे पता चल गया कि अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे भी कर्मोके फलोंके त्यागको जो बड़ा 'या अच्छा बनाया है वह केवल इसीलिये कि वह क्रमशः नीचेकी ही सीढ़ियाँ हैं। फलतः आम लोगोंके कामकी चीजें वही हैं। न कि सचमुच ही उनका दर्जा ऊँचा है। ऐसा मानना तो निरा पागलपन ही न होके इसमे पूर्वके श्लोकोंके उलटा जाना भी हो जायगा। हाँ, हमने जो कुछ कहा है उसे माननेमें ही यह बात न होगी। इसीके साथ १२वें श्लोकमें 'क्योंकि'के अर्थमें जो 'हि' आया है वह भी दुरुस्त सिद्ध होगा। क्योंकि हमारे रास्तेसे तो १२वाँ पहलेके तीन श्लोकोंकी ही बातोंकी पुष्टि करता है न? "त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"—"त्यागके अनन्तर ही शान्ति" यह भी हमारे अर्थमें ठीक-ठीक लग जाता है। इतना ही नहीं। अभ्यासके बाद निराकार और साकार दोनोंकी ही अनन्य भक्ति हो सकती है, हमारे इस कथनका १२वेंके बादवाले श्लोकोंसे भी पूरा सम्बन्ध जुट जाता है। क्योंकि उनमे जिस दशाका और जिस समदर्शनका विवरण १३से १९ तकके श्लोकोंमें है उसमें और "विद्याविनयसम्पन्ने" (५।१८—२१) वाले समदर्शनमें जरा भी अन्तर नहीं है। "विद्याविनय" वाला आत्मज्ञानीका ही है यह तो सभी मानते हैं। इसलिये यहाँ भी उसीको माननेमे कोई उज्र नहीं हो सकता है। साकार भक्तिका भी पर्यवसान उसीमें है; क्योंकि उस समदर्शनके बिना तो मोक्ष होई नहीं सकता। यही कारण है कि

स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत—तीनों ही—के वर्णन एकसे ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

क्योंकि अभ्याससे अच्छा—कामका—तो ज्ञान है, ज्ञानसे भी अच्छा ध्यान है (और) ध्यानसे भी अच्छा—कारगर—है कर्मोंके फलोंका त्याग। (क्योंकि इस) त्यागसे फौरन ही शान्ति मिलती है ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

हमारा जो योगी भक्त किसी पदार्थसे द्वेष न करे, सबके साथ मैत्री और करुणाका भाव रखे, ममता और अहन्ता—माया-ममता—से रहित हो, सुख और दुःखमें एक रस रहे, क्षमाशील हो, बराबर संतुष्ट रहे, मनको काबूमें रखे, दृढ़ निश्चयवाला हो और मन एवं बुद्धिको हममें ही जिसने अर्पित कर—बाँध—दिया हो वही हमारा प्रिय है ।१३।१४।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे न तो लोग (किसी भी तरह) उद्विग्न हों, जो लोगोंसे भी उद्विग्न न हो सके और जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग—घबराहट या परीशानी—(इन सबों)से रहित हो वही मेरा प्रिय है ।१५।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो मेरा भक्त बेफिक्र या बेपर्वाह, पवित्र, चतुर (और) पक्षपात रहित (हो), जिसमें भय या परीशानी न हो (और) जो सभी प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा रहित हो वही मेरा प्रिय है ।१६।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिस भक्तको न तो किसी चीजसे खुशी हो और न रंजिश, जिसे न तो कोई चिन्ता हो न आकांक्षा और जो बुरे-भले सभीसे नाता तोड़ चुका हो वही मेरा प्रिय है ।१७।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिमौंनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१९।।

जो शत्रु और मित्रमें सम है—जिसके शत्रु मित्र हई नहीं, मान-अपमानमें भी जो सम है—विचलित नहीं होता, शीत-उष्ण, सुख-दुःखादिमें भी जो एक ही तरह रहे, जिसे कहीं भी आसक्ति न हो, निन्दा और स्तुति जिसके लिये एक सी हों, जिसकी जबान काबूमें हो, (आवश्यकता होनेपर काम चलाऊ) जोई मिल जाय उसीसे जो संतुष्ट हो जाये, जिसका कोई घरबार न हो और जो अचल बुद्धिवाला हो, वही मनुष्य मेरा प्रिय है।१८।१९।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।२०।।

जो भक्तजन मेरी ऊपर बताई इन धर्म युक्त (एवं) अमृततुल्य बातोंके अनुसार श्रद्धापूर्वक चलते और मेरे सिवाय अन्य किसीकी पर्वा नहीं करते वह मेरे अत्यन्त प्रिय हैं।२०।

यहाँ १३वें श्लोकमें जो मैत्र और करुण शब्द हैं वह "मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्त प्रसादनम्" (योग० १।३३) के अनुसार मैत्री तथा करुणा गुणवालोंके ही वाचक हैं। जैसे साबुनसे कपड़ेकी मैल हटाते हैं वैसे ही चित्तकी मैल हटाने और उसे न आने देनेके ही लिये ये दोनो गुण माने गये हैं। यदि सुखियाके साथ मैत्री न हो तो ईर्ष्या हो सकती है। इसी तरह दुखियापर करुणा न हो तो दुःखसे द्वेष हो सकता है। यही दोनों भारी मैल हैं।

इसी प्रकार उद्वेगका अर्थ है घबराहट। जिसके आचरण या रहन-सहनसे औरोंको तथा औरोंके कामोंसे जिसे परीशानी जरा भी न हो वही सच्चा भक्त है।

सर्वारंभपरित्यागीका अर्थ है किसी भी भले-बुरे कामका संकल्प न करे। क्योंकि संकल्पके बाद जो कामना होती है वही फँसाती है।

उदासीनके मानी हैं "कोई मरे कोई जिये, फक्कड़ घोल बताशा पिये"। यानी दुनियाके झमेलोंका जिसपर कोई असर न हो—जो किसी ओर न झुके।

यद्यपि इन श्लोकोंमें सम शब्द दो बार आया है और उसीके अर्थमें तुल्य एक बार आया है; तथापि अन्तके सात श्लोक समदर्शनका ही चित्रण करते हैं और यही है आत्मज्ञान। इस अध्यायमें प्रतिपादित भक्तिका रहस्य तो बताई चुके हैं और वही इसका विषय है।

इति श्री० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

श्री० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय यही है।

तेरहवाँ अध्याय

यह बात बारहवें अध्यायके शुरूमें ही कह चुके हैं कि वह समूचा अध्याय ग्यारहवेंके बाद प्रसंगवश आ गया है। इसीलिये उसे पूरा करनेके बाद पुनरपि मुख्य विषय ज्ञानविज्ञान एवं उसके पदार्थोंपर आ जाना जरूरी है—उन्हीं पदार्थों-पर जिनका सविस्तर निरूपण दसवें तथा प्रदर्शन ग्यारहवें अध्यायमें हुआ है। वहाँ आत्मासे ही शुरू करके प्राण, चेतना, मन आदि सभी पदार्थोंके साथ ही नदी, पहाड़ आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंका वर्णन आया है। उन्हींमेंसे कुछ प्रमुख पदार्थोंके साथ ही कितनी ही रहस्यमय वस्तुओंको ग्यारहवेंमे दिखाया भी गया है इस तरह दसवें और ग्यारहवेंका पूरा मेल है। बल्कि यों कह सकते हैं कि दोनों मिलके वस्तुतः एक ही अध्याय हैं। इसीसे विभूति और योग दोनोंका ही उल्लेख दसवेंमें एक ही साथ किया भी है। इसे दो भागोंमें बाँटा तो गया है सिर्फ आसानीके लिये। जिससे दसवेंमे मौखिक विवरण और ग्यारहवेंमें उसीका प्रत्यक्ष प्रयोग होनेसे समझनेमें आसानी हो। यही वजह है कि तेरहवें अध्यायका श्रीगणेश दरअसल विभूतियोंसे ही शुरू होता है। यही उचित भी है। ग्यारहवेंमें जब उन्हीं विभूतियोंका प्रदर्शन है तब तो मौखिक विचार या विवेचन-विश्लेषणके लिये विभूतियोंको ही लिया जाना चाहिये। यह तो पहले ही कई बार कह चुके हैं कि मननका काम चालू रहना ही चाहिये। यही कारण है कि ग्यारहवेंके प्रयोगके बाद भी शेष अध्यायोंमें वह चालू है। तेरहवेंमे भी वही शुरू होके आगे बढ़ता है।

यहीं यह भी जान लेनेकी चीज है कि तेरहवें तथा चौदहवें अध्यायमें भी इस सृष्टिका ही विश्लेषण-विवेचन है। सोलहवें एवं सत्रहवेंमें इस विवेचन-विश्लेषणसे होनेवाले ज्ञानके सम्बन्धकी ही कुछ बातोंका प्रकारान्तरसे निरूपण है। ज्ञानकी असली बुनियाद क्या है, उसके लिये कौन-सी चीज जरूरी है, उसमें क्या क्या बाधायें कैसे आती हैं, यही बातें सोलह तथा सत्रह अध्यायोंमें मुख्यतः आई है। रह गया बीचका पन्द्रहवाँ अध्याय। सो इसमें दोनोंका मिश्रण है। कुछ दूर तक शुरूमें मुख्यतः सृष्टिकी बात है और अन्तमें प्रधानतया ज्ञानकी ही बात आई है। इस प्रकार पाँच अध्यायोंका बँटवारा प्रायः दो समान भागोंमें करके ज्ञानविज्ञानका निरूपण एक प्रकारसे पूरा कर दिया गया है। अठारहवेंमें समस्त गीताका उपसंहार है। इसीलिये स्वभावतः ज्ञानविज्ञानकी भी बातें आई ही हैं, जैसा कि त्रिगुणात्मक पदार्थोंके निरूपणसे स्पष्ट है।

हाँ, विभूति संबंधी पदार्थोंको देखने और जाननेके बाद जो पहला सवाल

किसी भी समझदारके मनमें हो सकता है वह यही कि आखिर इन सभी भौतिक या प्राकृतिक पदार्थोका निर्लेप आत्मासे ताल्लुक क्या है और क्यों है ? यदि कुछेकका सम्बन्ध रहे भी, तो भी सभी महाभूतो और पर्वतादि भीषण पदार्थोंसे क्या ताल्लुक ? अगर यह भी मान ले कि क्लिष्टमे क्लिष्ट और भीषणसे भीषण हिम-प्रदेशो तकमे भी जीवोकी सृष्टि तो मिलती ही है, उस जीवसे सूना तो कोई-पदार्थ हई नही, तो सवाल होता है कि काजीको शहरकी फिक्रसे दुबले होने तथा मरनेकी क्या जरूरत ? अर्जुन चला था अपनी शंकाये मिटाने। उसे थी अपनी आत्माके कल्याणकी चिन्ता। फिर सारे संसारके इस पँवारेकी क्या जरूरत ? और अगर यही मान ले कि आत्मा तो एक ही है और उसीके ये अनन्त रूप है; इसीलिये सभीकी फिक्र करनी ही पडती है, तो प्रश्न होता है कि ये अनन्त रूप हुए क्यो और कैसे ? यह आत्मा इस भारी बलामे आ फँसी क्योकर ? इन वाहियात पदार्थोंसे इसका मेल भी क्या है कि इनमे आ फँसी ? यदि ये पूर्व जानेवाले है तो वह पच्छिम। फिर यह क्या हो गया कि दोनोंकी जुटान आ जुटी और सारी विडम्बना खडी हो गई ? इस तरहके प्रश्नोका उठना निहायत अनिवार्य है। कृष्ण इसे बखूबी समझते थे। यही कारण है कि बिना पूछे ही इनका उत्तर देना तेरहवे अध्यायके पहले श्लोकसे ही शुरू कर दिया।

सचमुच गीताका यह अध्याय बहुत ही सुन्दर है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता होनेके साथ ही निरूपणकी शैली कितनी सरस और चित्ताकर्षक है ! देखिये तो सही, आखिर खेतोका और खेतिहर किसानका भी क्या ताल्लुक रहता है। किसान जब चाहे छोडके भाग जा सकता है। उसीने तो खेतोको अपनाया है और उनके हानि-लाभकी जवाबदेही माथे पर अपने मनसे ही ली है। परिणाम यह होता है कि वह खेतोके साथ बँध जाता है, उसका उनके साथ अपनापन हो जाता है, उन्हे वह अपना—निजी—मान बैठता है। हालाँ कि जमीदार और सरकार पद-पदपर उसे उनसे बेदखल करनेको तैयार रहती है। बेदखल कर भी देती है। फिर भी उसका अपमान पिंड नही छोडता और वह छाती पीटके मरता है। बेदखलीके पहले भी न सिर्फ उनकी उपजके ही लिये जवाबदेह होता है, किन्तु उनसे होनेवाले हानि-लाभका भी उत्तरदायित्व उसी पर होता है। वह उसीके पीछे मरता रहता है। इतना ही नही। यों तो उसने अपने मनसे उन्हे हथियाया था। मगर अगर यो ही उन्हे छोड भागना चाहे तो जाने कितनी ही कानूनी-गैरकानूनी अडचने खडी हो जाती है, जिनके करते छोडके भाग भी नही सकता। इस बुरी गतिके लिये बेशक उसकी नादानी, बेअक्ली और पस्तहिम्मती ही जवाबदेह हैं। यह बात हमारी नजरोंके सामने रोज ही गुजरती है।

बस, ठीक यही हालत आत्माकी है। वह खेतिहर है, खेती करनेवाला है, खेतोंकी सारी बातें जानता है कि खेत कैसे हैं, किनमें क्या पैदा होता है, हो सकता है, वगैरह वगैरह। वह क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्री है। और ये इन्द्रियादि भौतिक पदार्थ? यही तो खेत हैं, क्षेत्र हैं। यही तो लम्बे-चौड़े चारों ओर फैले हैं और जानें हजारों तरहकी बुरी-भली फसलें पैदा करते रहते हैं। इन्हींके मालिक आत्माराम हैं। वह इन्हींको लेके परीशान हैं, पामाल हो रहे हैं, जल-मर रहे हैं। इन खेतोंके भी दो विभाग हैं, व्यष्टि और समष्टि। व्यष्टि या टुकड़े-टुकड़ेके भीतर सभीके जुदे-जुदे शरीर वगैरह आ जाते हैं। समष्टि, जो एक जगह मिली-मिलाई चीज है, के भीतर, प्रधान या मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि आ जाते हैं। यह बात हम पहले ही बखूबी बता चुके हैं। वहीं कह चुके हैं कि महत्, महत्तत्त्व या महान् नाम समष्टि बुद्धिका ही है। इसी बातको इस तेरहवेंके शुरूमें ही अच्छी तरह लिख दिया है। आत्माके शरीरके ही भीतर इस स्थूल शरीर और प्रकृतिको लिखा है। उसके बाद इससे सम्बन्ध रखनेवाली सभी चीजोंका ब्योरा भी दिया है। इस तरह समूचे संसारको शरीर और शरीरवाले या शरीरी—देही—के रूपमें दो हिस्सोंमें बाँट दिया है और कह दिया है कि यह सब ब्रह्म, आत्मा या परमात्माका ही—मेरा ही—पसारा है। जब शरीरकी सारी बातोंकी जवाबदेही शरीरी पर ही है यह रोज ही देखते हैं; इसीलिये शरीरके सुख-दुःखोंको भी उसे ही भोगना पड़ता है, तो फिर समूचे संसारकी बला भी उसीके माथे क्यों न आये? जैसे रस्सीका काम है किसी पदार्थको कहीं बाँध देना, फाँस देना; रस्सीको गुण या गोन भी कहते हैं; ठीक उसी तरह तीनों गुणोंने इस खेतिहर आत्मारामको शरीरमें बाँध और फाँस दिया है। यही बात "कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (१३।२१) में कही गई है। जिस तरह वेश्या किसी भोले-भालेको फँसाके उसे खराब कर डालती है, वैसे ही प्रकृति अपनी अनेक वेषभूषा बनाके आत्माको फँसा लेती और तबाह कर डालती है। यही बात "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्" (१३।२१) में कही गई है।

प्रश्न होता है कि क्षेत्रज्ञ इन क्षेत्रोंमें खुद ही बँध तो गया है। अब इनसे पिंड छूटनेमें दिक्कत भी है। वेश्याने इस भोले-भालेको अनजानमें फँसा लिया है सही। काफी बर्बाद भी कर डाला है। मगर क्या इस आफतसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है? और अगर है तो कौन सा?

उत्तर है कि उपाय जरूर है। जब हम सारी बातें ठिकानेसे समझ जायँ, अपनी हालत बखूबी जान जायें, हमारा क्या अधिकार है, हम क्या कर सकते

हैं, फँसनेकी वजह क्या है, आदि चोजें जान लें, तो हिम्मत कर इन्हें उठा फेंकेंगे। दूसरा रास्ता है नहीं। इसके लिये खेतोंका पूरा ब्योरा और शुरूसे उनका इतिहास भी जान लेना जरूरी है कि ये कब कैसे तैयार हुए और हम इनमें कैसे-कैसे फँसें। क्योंकि इसी जानकारीसे हमें काफी वजहें मिल जायँगी, जिनके बलपर बाजीदावा देके हट जायँ। और माकूल वजह होनेपर इसमें अड़चन भी क्यों होगी? यही बात शुरूके "महाभूतान्यहंकार" प्रभृति श्लोकोंमें है। इनमें खेतोंका कच्चा चिट्ठा है। "अमानित्वमदंभित्व" आदिमें जानकारीके उपाय बताये गये हैं जिससे हम पूरे आगाह हो जायँ और हिम्मत ला सकें। वेश्याका कच्चा चिट्ठा जान लेनेपर ही, उसके सभी गुणों—सभी कारनामों—को बखूबी समझ लेनेपर ही, उसके जालसे छूट सकते हैं। इसीलिये प्रकृतिका ब्योरा दिया गया है; ताकि जानकर सजग हो सकें। इन्हीं सब बातोंको दिमागमें रखके—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीभगवान कहने लगे (कि) हे कौंतेय, इस शरीरको (ही) क्षेत्र—खेत—कहा जाता है (और) जो इसे बखूबी जानता है उस (आत्मा) को ही उसके जानकार लोग क्षेत्रज्ञ या खेतिहर कहते हैं।१।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे भारत, सभी क्षेत्रोंमें (रहनेवाला) क्षेत्रज्ञ भी मुझीको जानो। (इस तरह) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही ज्ञान मैं ठीक मानता हूँ।२।

यहाँ 'भी'के मानीमें जो 'च' आया है, और इसीकी ओर इशारा करते हुए उत्तरार्द्धमें जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनोंका उल्लेख है उससे भी, यही मानना पड़ता है कि 'भी' कहनेसे क्षेत्र ही लिया जाना चाहिये। इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही परमात्मा या ब्रह्मसे जुदा सिद्ध नहीं होते। फलतः अद्वैतवाद स्थापित होता है। इसी अद्वैत ज्ञानको कृष्ण अपना मत, निजी मन्तव्य कहते हुए सही बताते हैं। यहाँ सभी क्षेत्रोंमेंके अर्थमें "सर्वक्षेत्रेषु" कहके 'क्षेत्रज्ञ' जो एक वचन दिया है उसका आशय यही है कि एक ही आत्मा सबमें व्याप्त है। उसीके ये अनन्तरूप हैं, शरीर हैं और सब कुछ है। इसीलिये अर्जुनके वास्ते सभीकी जानकारी और चिन्ता जरूरी थी।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।३।।

वह क्षेत्र जो कुछ है, जितने प्रकारका है और उसके जितने विकार या कार्य हैं, (साथ ही) वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो कुछ है और उसका जो प्रभाव है, सभी कुछ संक्षेपमें मुझसे सुन लो ।३।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।

ऋषियोंने (यही बात) बहुत ढंगसे वर्णन की है, वेदके अनेक मन्त्रोंने जुदा-जुदा (कही है) और ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद् वाक्योंने भी तर्कयुक्तिके साथ निश्चित रूपसे बताई है ।४।

इस श्लोकमें इस विषयके प्रमाणोंको कह चुकनेके बाद अगले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पूर्वोक्त सारी बातें कहना शुरू करेंगे और इस प्रकार तीसरे श्लोकमें छिड़ी बातोंको बतायेंगे । यही बात १८वें श्लोक तक जायगी । उसके बाद इन्हीं-का विशेष विश्लेषण चलेगा । यहाँ ऐसा कहनेका प्रयोजन यही है कि यह एक-दम कोई नई बात नहीं है जिसे पहले पहल कृष्ण ही कह रहे हों । क्योंकि सृष्टि और उससे आत्माका सम्बन्ध यह चीज बहुत ही पुरानी है । इसीलिये इसपर ऋषि-मुनियों, वैदिक मंत्रों और उपनिषदोंका ध्यान जाना जरूरी था । और अगर फिर भी न गया हो, तो हो न हो कुछ बात है, ऐसा खयाल हो सकता था । फलतः आगेके उपदेशोंमें अश्रद्धाकी गुंजाइश भी हो सकती थी । इसलिये पहले ही कह दिया कि ये बातें अपने-अपने ढंगसे पहले भी सबने खूब ही लिखी हैं । कर्म-अकर्म या कर्मयोगकी बात तो जुदी है । इसलिये उसमें मतभेद या नवीनता-की गुंजाइश हो सकती है । वह मानी भी जा सकती है । मगर जिस आत्म-ज्ञानके आधारपर वह बात कही गई है उसमें ही यदि गड़बड़ हो तो समूचा आधार ही खत्म समझिये । यह भी नहीं कि इसमें भी मतभेद रहेगा ही । यह तो कर्तव्यकी बात न होके वस्तुस्थिति या ठोस चीज (hard fact) की बात है न ? और अगर इसमें हो मतभेद या नवीनता चले तो सर्वत्र अविश्वास ही अविश्वास हो जायगा । इसीलिये यह कह देना जरूरी था कि इसमें सभीकी एक ही राय है । हाँ, कहनेका तरीका जुदा-जुदा जरूर है ।

इस श्लोकमें ऋषियों, वैदिक मंत्रों और ब्राह्मणों या उपनिषदोंके वचनों-का निर्देश है । वैदिक मंत्रोंके द्रष्टा या बनानेवाले बहुतेरे ऋषियोंको तो मानते ही हैं । उन्हींकी ओर इशारा करते हुए उपनिषदों तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें प्रायः जगह-जगह लिखा पाया जाता है कि 'ऐसा तो ऋषिने भी कहा है'' "तदुक्त-

मृषिगा"। वेदमंत्रोंके रूपमे हो, मही या ओर रूपमे भो मही। हर हालतमें ऋषियोंने पहले बहुत कुछ कहा है जरूर। वह लोग स्वतन्त्र रूपमे आत्मा और सृष्टिका विवेचन न करते, भला यह कैसे संभव था? उनका तो यही काम ही था। इस तरह एक तो उनका स्वतन्त्र कथन है। दूसरे वैदिक मन्त्रोमे भी "नासदीय सूक्तमे", जो ऋग्वेदके दसवे मण्डलका १२९वाँ सूक्त माना जाता है, तथा अन्यान्य बीसियो मन्त्रोमे ब्रह्मसे इस सृष्टिके विस्तारका उल्लेख है। वैदिक मन्त्रोंको ही यहाँ छन्द पदसे लिया है। "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋग्वेद १०।११४।५), "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ० १।१६४।४६), "देवाना पूर्व्येयुगेऽसतः सदजायत" (ऋ० १०।७२।२), तथा "द्वासुपर्णा सयुजा" (१।१६४।२०) आदिमे कितना सुन्दर और वाद-विवादात्मक वर्णन है! पुरुषसूक्तमे, जो यजुर्वेदमे भो पाया जाता है, यही बात कितनी विशद रूपमे है! वैदिक मन्त्रोंके सिवाय वेदके ही ब्राह्मण भागमे जो उपनिषद् माने जाते है उनमे तो इस सृष्टिका वर्णन तर्क और युक्तियोंके साथ आया ही है। यदि केवल छान्दोग्यके छठे अध्यायको ही देखें तो तबीअत खुश हो जाय। यों तो प्रश्न, श्वेताश्वतर आदिमे भी यही बाते आती हैं। वहा भी पूरा वाद-विवाद एवं गभीर विवेचन पाया जाता है। मुण्डकोपनिषद् (३।१।१) मे तो ऋग्वेदका "द्वासुपर्णा सयुजा" मन्त्र ही ज्योंका त्यों आया है।

छान्दोग्यके छठे अध्यायके दूसरे ही खंडमे पहले कहा है कि सृष्टिके पहले केवल सत या ब्रह्म था और उसीसे सृष्टि हुई "सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"। उसके बाद ही कुछ मतवादोंका उल्लेख करके और यह कहके कि वह तो पहले असत् या शून्य ही मानते और उसीसे सृष्टिका पसारा स्वीकार करते है, यह सुन्दर तर्क दिया है कि भला यह कैसे होगा? भला, असत्से यह विरोधी सत् पदार्थ कभी पैदा हो सकते हे? "कुतस्तु खलु सोम्यैव स्यादिति होवाचकथमसतः सज्जायत"? भला, इससे बढके निश्चित और तर्कयुक्त बात और क्या हो सकती है? इसी अध्यायने पूर्वोक्त वटबीजका दृष्टान्त देके समझाया गया है। यह भी कहा गया है कि जल अग्नि आदिसे ही उसके मूल कारण ब्रह्मका पता लगता है। ऐसी ही हजारों युक्तियाँ देके और विश्लेषण-विवेचन करके ब्रह्मका तर्क-दलीलके साथ अत्यन्त निश्चित प्रतिपादन किया गया है। इन्ही वचनोंको इस श्लोकमे ब्रह्मसूत्रपद या ब्रह्मके सूचक एवं प्रतिपादक वाक्य कहा है। इसपर विशेष विचार पहले ही हो चुका है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।६।।

पाँच महाभूत, जिन्हें पंचतन्मात्रा या सूक्ष्म भूत कहते हैं, अहंकार समष्टि-बुद्धि या महत्तत्त्व, प्रकृति, ग्यारह इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, जो इन्द्रियोंके सम्बन्धसे सुख-दुःखका अनुभव करता है, चेतनता या बुद्धि और धैर्य—संक्षेपमें यही क्षेत्र और उसके विकार—कार्य—कहे गये हैं ।५।६।

इस पर यहाँ ज्यादा लिखनेकी जरूरत नहीं । पहले ही पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं । सांख्य दर्शनमें प्रकृति, महान्, अहंकार और पंचतन्मात्रा ये आठ, दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये ग्यारह और इन्द्रियोंके रूप, रस आदि पाँच विषयों-को मिलाके सोलह, इस प्रकार कुल चौबीस पदार्थ मानके प्रकृति या प्रधानको मूल माना है । वही यहाँ तीसरे श्लोकका क्षेत्र है । जिन सातको उसके बाद गिनाया है ये प्रकृति-विकृति कहाते हैं । प्रकृतिसे पैदा होनेसे विकृति या विकार और कार्य कहे जाते हैं । खुद इन्द्रियादिको पैदा करनेके कारण ही प्रकृति या कारण भी कहे जाते हैं । तीसरे श्लोकमें जो क्षेत्रके प्रकारका उल्लेख है वह यही सात है । प्रकृति-विकृतिकी जगह यादृक् या जितने प्रकारका कह दिया है । शेष सोलह और इच्छादि सात कुल तेईसको यहाँ विकार, विकृति या कार्य कहा है । सांख्यके सोलहकी संख्याको कुछ और भी बढ़ा दिया है । दूसरा फर्क नहीं है, इसका और भी विस्तार हो सकता है । इसीलिये कह दिया है कि संक्षेपमें ही इतने गिनाये हैं ।

तीसरे श्लोकमें "जिससे जो बनता या होता है"—"यतश्चयत्"—भी एक बात कही गई है । उसका उत्तर या विवरण आगेके पाँच श्लोकोंमें है । तीसरे श्लोकमें इसके बाद ही क्षेत्रज्ञकी बात आ गई है, जिसका विवरण इन पाँच श्लोकोंके बाद ही १२वेंसे १७वें तकमें आया है । फिर १८वेंमें सभीका उपसंहार कर लिया है । यहाँतक तो तीसरे श्लोककी बातें संक्षेपमें ही कह दी गई हैं । इसीलिये १९वेंसे फिर विशेष विवरण और निरूपण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ही बारेमें चला है, न कि अन्य ब्योरेके बारेमें । अठारहवेंमें लिखा है कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—क्षेत्रज्ञ—को कह चुके । उससे पता चलता है कि पाँच श्लोकोंमें जो ज्ञानकी बात आई है वही "यतश्चयत्" का उत्तर या विवरण है । इन शब्दोंका मोटा अर्थ यह है कि "जिससे जो हो सके" । साढ़े चार श्लोकोंमें जो कुछ गिनाया है वह ज्ञानोत्पत्तिके साधन हैं । उनके बिना ज्ञान होई नहीं सकता । उनमें हरेक ज्ञानके लिये अनिवार्य रूपसे अपेक्षित है, जैसा कि उनके नामोंसे ही

स्पष्ट है। कुल २१ बातें गिनाई गई है और सभी ऐसी ही हैं। यों तो "जन्म-मृत्युजराव्याधि" (१३।८) में चारोंके अलग-अलग दुःख एवं दोष देखनेसे आठ हो जा सकते है। फलतः २१ की जगह २७ हो जायँगे। शेष आधे या ग्यारहवेंके उत्तरार्द्धमें कह दिया है कि ये ज्ञान हैं और इनसे उलटी बातें है अज्ञान हैं। ज्ञानके साधन होनेसे ही इन्हे ज्ञान कह दिया है। इसी तरह अज्ञानके साधन या पैदा करनेवाले अभिमान, दंभ, हिंसा आदिको अज्ञान भी इसीलिये कह दिया है। इससे साफ हो गया है कि किनसे ज्ञान पैदा होता है और किनसे अज्ञान। इस तरह जिससे जो पैदा होता है यह जो तीसरे श्लोकमें कहा गया है उसका विवरण इन पाँचोंमें पूरा हो गया। पाँचोंने कह दिया कि अभिमान-शून्यता आदिसे ज्ञान होता है और अभिमान आदिसे अज्ञान।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अभिमान-शून्यता, दंभ या दिखावटी कामकी शून्यता, अहिंसा, क्षमा, नम्रता, आचार्य या उपदेशकी सेवा-शुश्रूषा, पवित्रता, स्थिरता, मनपर काबू, इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म-मृत्यु-बुढापा-रोग इन चारोंके दुःखों और बुराइयोंका निरन्तर खयाल, पुत्र-स्त्री-घरबार आदिमें आसक्तिका त्याग तथा इनमे तन्मयताका न होना बुरी-भली बाते हो जानेपर भी हमेशा चित्तमें उनका असर होने न देना, भगवान या आत्मामे ऐसी अनन्य भक्ति जो कभी डिग न सके, एकान्त स्थानका सेवन, लोगोके भीड-भडक्केमे रुचिका न होना, अध्यात्मशास्त्रमे निरन्तर लगे रहना और तत्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कारके प्रयोजनपर नजर रखे रहना, यही ज्ञानके साधन है। इनके विरुद्ध अभिमान, दंभ आदि अज्ञानको पैदा करते और बढ़ाते है।७।८।९।१०।११।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

जो जानने योग्य—क्षेत्रज्ञ—है और जिसके ज्ञानसे मोक्ष मिलता है वही वस्तु अभी-अभी कहे देता हूँ। (वह वस्तु) आदि शून्य परब्रह्म ही है। वह न तो स्थूल और कार्य कहा जाता है और न सूक्ष्म और कारण ही। उसके हाथ, पाँव, आँख, सर और मुँह सभी जगह है—अर्थात् वह सर्वत्र मौजूद है। उसके कान (भी) सर्वत्र है। वह सभी पदार्थोंको घेरे पड़ा है। सभी इन्द्रियोंके कामोंमे वह लिपटासा रहता है (जरूर)। (मगर वस्तुतः) सभी इन्द्रियोसे रहित है। कहीं भी चिपका नही है। (फिर भी) सबोंका कायम रखना है। निर्गुण है। (साथ ही) गुणों (के कामों और फलो)को भोगता (भी) है। सभी पदार्थोंके बाहर भी है और भीतर भी। (स्वयमेव) चर, अचर (पदार्थ रूपी भी) है। सूक्ष्म होनेसे ही बखूबी जाना नही जा सकता। दूर भी है (और) नजदीक भी। पदार्थोंमें बँटा न होके सबमे एकरस है। (मगर) अलग-अलग जैसा लगता है। पदार्थोंका भरण-पोषण करनेवाला उसीको जानना चाहिये। वही सबको ग्रस लेनेवाला और बनानेवाला भी है। वह ज्योतियोंको भी ज्योति देनेवाला (तथा) अँधेरेसे परे माना जाता है। (वही) पूर्वोक्त ज्ञान है और ज्ञेय भी। ज्ञानके द्वारा प्राप्त करने योग्य भी वही है। वही सबोंके हृदयोंमे मौजूद है।१२।१३।१४।१५।१६।१७।

इन श्लोकोंमे जो कुछ भी वर्णन है वह आलंकारिक होनेके साथ ही वास्तविक स्थितिसे पूरा ताल्लुक रखता है। यही इसकी खूबी है। आत्माके बारेमे जो कुछ हमने पहले लिखा है यदि उसे अच्छी तरहसे हृदयंगम कर लिया जाय तो ये सारी बाते बखूबी समझमे आये। इन्हे पढ़के मजा भी आये। हाँ, एक बात कह देना जरूरी है। आत्मा तो ऐसी ठसाठस भरी हुई जैसी है कि उसमे विभाग करने या उसे अलग-अलग देखनेकी गुंजाइश हुई नही, बशर्ते कि हमारी दृष्टि ठीक हो। आखिर इंचभर भी, अणु या बालभर भी कोई जगह है नही जो खाली हो। जहाँ

कुछ नहीं वहाँ अनन्त परमाणु तो मौजूद हैं, या अगर और नहीं तो दिशा और काल (Space and time) तो हुई, और वह है इन सबोंकी आत्मा। इसीलिये बीच-बीचमें फाँक पड़नेकी संभावना ही कहा है ? फलतः चाहे हम कुछ बोलें, कहीं जायँ, कहीं हाथ बढायें, किधर भी मुँह, सर या आँखें करके इशारा करें सर्वत्र सब कुछ जानने-सुननेके लिये वह मौजूद ही है। उसके बिना टिके कौन और न टिकनेमें भी तो निषेध रूपसे (negatively) उसे रहना ही पड़ता है।

यहाँ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य ये तीन बातें कही गई हैं। इनमें दो तो पहले ही आ चुकी हैं—ज्ञान और ज्ञेय। इसीलिये उचित समझते हैं कि उन्हींका उल्लेख इन श्लोकोंमें माना जाय, न कि सर्वसाधारण ज्ञान और ज्ञेयका। १८वें श्लोकमें भी, जो आगे आ रहा है, उसी ज्ञान और ज्ञेयका नाम लिया है। अतएव बीचमें दूसरे ज्ञान और ज्ञेयको लेना हमने उचित नहीं समझा। तब तो जबर्दस्तीसी हो जाती—अकांड तांडव बन जाता। एक बात और भी इस ज्ञान और ज्ञेयके ही सम्बन्धमें जान लेनेकी है। पहले भी "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं" (१३।२) में ज्ञानकी बात आई है। वहाँ ज्ञेयकी जगह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ आये हैं। बेशक "अमानित्व" आदिमें जो ज्ञान शब्द है वह ज्ञानके साधनोंके ही लिये आया है। मगर इसके यह मानी हर्गिज नहीं कि उससे उन साधनोंका ही बोध होना है, न कि ज्ञानका भी। उसका तो असली मतलब यही है कि इन्हीं साधनोंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, उसीसे हम इन दोनोंकी हकीकत जान सकते हैं। फिर भी "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः" इस षष्ठीके रहनेके कारण, उन दोनोंके ज्ञेय या ज्ञानके विषय होनेपर भी उस ज्ञेय और इस ज्ञेयमें फर्क है। वहाँ ज्ञान ही प्रधान और वही दोनों अप्रधान हैं। क्योंकि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके जो रूप हैं और जिनका ज्ञान होता है वह तो मायामय है, कल्पित है। उसकी भी हकीकत तो ब्रह्मात्मा ही है। इसीलिये षष्ठी लिखके उन्हें अप्रधान या अमुख्य बना दिया है। मगर यहाँ तो मात्र ही 'ज्ञेयम्' लिखा है। इसलिये यह मुख्य है। अतएव 'ज्ञानगम्यं' विशेषण यहाँ लगा दिया है। इसका आशय यह है कि ज्ञानके द्वारा अन्तमें हमें वहीं पहुँचना है। फिर वह असल और हकीकत क्यों न हो ? ऊपरके श्लोकोंमें जिन अनेक रूपोंमें इस ब्रह्मात्माको दिखाया है कहीं लोग उन रूपोंको ही ठीक न मान बैठें इसलिये भी 'ज्ञानगम्यं' कह दिया, जिससे स्पष्ट हो गया कि ये सब रूप या ढंग केवल उसे जानने, देखने या नजरमें लानेके लिये ही है, न कि वही वस्तुगत्या इन रूपोंवाला है। इस तरह उसके प्रभावकी भी जानकारी हो जाती है। यह बात 'यत्प्रभावश्च'में पहले ही आई थी भी।

अब आगेके श्लोकमें यहाँतक कही गई सभी बातोंका उपसंहार करते हुए

इसकी आवश्यकता भी बता देते हैं। किन्तु उसके बाद पुनरपि क्षेत्र या प्रकृतिका विशेष ब्योरा जानना जरूरी है। क्योंकि उसके गुणों और चालोंको जाने बिना उससे पार पा नही सकते। साथ ही, क्षेत्रज्ञ उसमें किस तरह फँसता है यह भी जान लेना जरूरी होनेके कारण उसका भी कुछ ब्योरा आगे दिया गया है। इस तरह "यो यत्प्रभावश्च" इन दोनोंका विशेष विवरण भी हो जाता है। खासकर 'यः' या 'जो' का विवरण बहुत जरूरी है। क्योंकि वह अभी अच्छी तरह बताया जा सका है नहीं।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

संक्षेपमे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय यही कहे गये हैं। मेरा भक्त इसे ठीक-ठीक जानके मेरा ही रूप हो जाता है। ८।

उत्तरार्द्धसे तो यह भी स्पष्ट है कि जिस भक्तिकी बात बारहवे अध्यायमे आई है वह साधन ही है। उसका भी नतीजा अन्तमें यह ज्ञान ही है, जिसे विज्ञान या आत्मसाक्षात्कार कहते है। आखिर भक्त कहनेके बाद और मेरा स्वरूप बननेके पहले पूर्वकालिक क्रियाके रूपमें जो 'विज्ञाय' बीचमे आ गया है उसका स्वारसिक अभिप्राय और होई क्या सकता है? यदि हठ या पक्षपात छोड़के देखें तो मानना होगा कि पहले भक्ति होनेसे भक्त बने, फिर विज्ञान हुआ और उसके बाद अन्तमे मुक्ति हुई। हाँ, यह विज्ञानी भी भक्त होता है। मगर वह तो "चतुर्विधा." (७।१६-१९) के "तेषा ज्ञानी नित्ययुक्तः" शब्दोंमे ही कहा जा चुका है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष यह क्षेत्र एवं आत्मा इन दोनोंको ही अनादि समझो। (इनमे भी) (सभी पूर्वोक्त) विकारों और गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जानो।१९।

यहाँ अनादि कह देनेसे यह प्रश्न जाता रहा कि आत्माके फँसने या प्रकृतिके संसर्गमें आनेकी क्या जरूरत थी। क्योंकि यह चीज तो कभी शुरू हुई नहीं कि इसकी वजह बताई जाय। यह तो सदासे ऐसी ही बनी है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और करणको बनानेमें कारण प्रकृति ही है। पुरुष (तो सिर्फ) सुख-दुःखोंके भोगनेमें ही कारण है।२०।

पूर्वके श्लोकके उत्तरार्द्धमें जो कहा गया है कि सभी विकारों या कार्यों और गुणोंको प्रकृति ही पैदा करती है, उसीका स्पष्टीकरण इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें है। इसीलिये कार्य शब्दका अर्थ है व्यष्टि तथा समष्टि शरीर। इसी प्रकार करणके मानी है व्यष्टि-समष्टि सभी इन्द्रियाँ, जिनमें बुद्धि आदि आ जाती है। इन्हींसे सब संसार चलता है। कहीं-कहीं कार्यकारण पाठ है। उस दशामें पूर्वोक्त महत्त्वादि सातको कारण और शेष इन्द्रियादिको कार्य कहनेमे ही तात्पर्य है। गुण शब्दके मानी है गौण या पीछे बनी इन्द्रियादि और तीनों गुण भी। हर हालतमें समस्त संसार ही आ जाता है। केवल एक ही बातकी कमी रह जाती है, जिसे सुख-दुःखादिका भोग कहते है। क्योकि उसके बिना संसार पूरा कैसे होगा? यदि सुख-दुःखादि किसीको भोगना न हो तो संसार कैसा? तब तो सारा मामला ही फीका हो जाय। इसलिये उसकी पूर्ति उत्तरार्द्ध कर देता है कि पुरुष या आत्माके ही चलते भोग होते है। यदि वह न हो तो इन्द्रियादि जड़ पदार्थ कुछ करी न सके। इसीलिये तो पुरुषकी सत्ता भी मानना जरूरी हो जाती है। प्रकृति एवं उससे बने पदार्थ तो जड़ है, अन्धे है। वह भोगका काम करी नही सकते, सभी बातोको नियंत्रणके द्वारा मिलाजुलाके (Coordinate) रख नही सकते और बिना इसके भोग हो नही सकता। भोगके मानी ही है सभी चोजोंको जोड-जाड़के सामने लाना। जैसे समष्टिके नियमन आदि (Coordination) के लिये अगत्या ईश्वरकी सत्ता माननी पड़ती है, वैसे ही व्यष्टिके लिये आत्माकी। आगे यही तर्क दिया भी है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

क्योकि पुरुष ही प्रकृतिके सम्बन्धसे ही उससे उत्पन्न त्रिगुण पदार्थोको भोगता है। (इस तरह जो) इन गुणोंमे उसकी आसक्ति है वही उसके भले-बुरे जन्मोंका कारण है।२१।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

(असल बात यह है कि) इस देहमे (यह जो) परमपुरुष है वह तो अलग होके सभी बातोंको सिर्फ देखता (और इसी रूपमे) अनुमोदन करता है, कायम रखता है और (अन्तमे उन्हे) भोगता भी है। (वही) महेश्वर और परमात्मा भी कहा गया है।२२।

साक्षी होनेसे ही उपद्रष्टा कहा गया है। चेतनके बिना जड़ पदार्थोंका काम

हो नहीं सकता। कहीं न कहीं मूलमें चेतन चाहिये हो। यही अनुमोदन है जिसे हमने सम्मेलन और नियंत्रण (Coordination) कहा है। यदि ऐसी शक्ति न हो तो सभी चीजे तखड़-पखड हो जायें। भर्त्ता कहनेका भी यही आशय है। इस तरहके दूरके संसर्गमे ही वह भोगनेवाला बन जाता है। क्योंकि शीशेमे दूरस्थ रक्तपुष्पका प्रतिबिम्ब पड़के वह भी लाल नजर आता ही है उसी तरह इन्द्रियादिके मारे अनर्थ उसमे प्रतिबिम्बित होते हैं। यही भोग है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब जैसा ही है। इसीलिये वस्तुत. यह आत्मा महेश्वर ही है, परमात्मा ही है।

य एवं वेत्ति पुरुष प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

(इसीलिये) जो पुरुषको और प्रकृतिको भी गुणोंके साथ इस तरह ठीक-ठीक जान जाता है वह चाहे किसी भी दशामें रहे, (फिर भी) पुनर्जन्म नहीं पाता।२३।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

कुछ लोग ध्यानमे ही अपने ही भीतर अपने आप आत्माको (इस प्रकार) देखते है—साक्षात् करते है। दूसरे लोग सांख्ययोगसे ही (ऐसा करते है) तथा तीसरे (दलवाले) कर्मयोगमे ही। लेकिन इस प्रकार नहीं जान सकनेवाले कुछ लोग तो दूसरोंसे सुनके ही उपासना करते है। सुननेके अनुसार ही पूरा अमल करनेवाले वे भी जन्ममरणसे छुट्टी पाई जाते है।२४।२५।

ये दोनो श्लोक कुछ अजीबसे है। विशेष विचार न कर सकनेवाले इनसे धोकेमे पडके आत्मज्ञानके चार स्वतंत्र मार्गोका प्रतिपादन इन श्लोकोंमे मान बैठते है; हालाँकि "लोकेऽस्मिन् द्विविधा" (३।३) के अनुसार पहले वही लोग दोई स्वतंत्र मार्ग मानते है। इस तरह इन श्लोकोंके करते उन्हे भी घपलेमें पड़ना पड़ा है। लेकिन सच पूछा जाय तो इनमें ऐसी कोई बात है नहीं।

२४वेके पूर्वार्द्धमे उसी समाधिका वर्णन है जिसका सविस्तर निरूपण छठें अध्यायमे और उससे पहले भी आया है। यही तो ज्ञानप्राप्तिकी अन्तिम सीढ़ी है। मगर जो वहाँतक न पहुँच सके हों उनके ही लिये उसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें नीचेकी दो सीढ़ियाँ कही हैं। ऐसे लोग दो तरहके होते हैं, जैसा कि "तत्स्वयं योगसंसिद्धः" (४।३८) और "संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११) में कहा गया है, उसीके

अनुसार कर्मोंके करते-करते जिनका मन शुद्ध हो चुका है ऐसे लोग एक दलमें हैं। अभीतक जिनके मनकी शुद्धि शेष ही है वही दूसरे हैं दलमें। फलतः पहले ऊपर और दूसरे नीचे हैं। तदनुसार ही पहले दलवाले सांख्यकी रीतिके अनुसार गुणोंका विवेचन आत्मासे करके उसे निश्चय करते हैं। क्योंकि जबतक ऐसा निश्चय न हो जाय समाधि होगी किसकी ?. बस यही है सांख्ययोग या सांख्यकी रीति। परन्तु जो दूसरे दलवाले ऐसे नहीं है वह कर्म करते रहते है जिसे कर्मयोग कहा है। वह कर्मकी ही रीति या मार्ग है जिससे धीरे-धीरे मन शुद्ध होता है। यह भी बात है कि यह सभी बातें पूरी जानकारीसे ही हो सकती हैं। यहाँतक कि कर्मोंका मार्ग भी बीहड़ होनेके नाते बहुत जानकारी चाहता है। लेकिन जिन्हें यह जानकारी होई नहीं, वह क्या करें ? ऐसे लोग ही तो दुर्भाग्यवश ज्यादा होते है। इसीलिये उन्हींके खयालसे २५वें श्लोकमें सबसे नीचेकी सीढ़ी कही है। ऐसे लोग, दूसरे जानकारोंसे सुन-सुनाके ही धीरे-धीरे इस काममें लगते हैं और आगे बढते हैं। कहनेका आशय यही है कि कर्म करनेवालोंमें भी वे लोग नीचे दर्जेके ही होते हैं। बेशक वे ऐसे नहीं जो गीताकी गिनतीमें आयें ही न। वैसोंकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं है। तीसरे अध्यायके शुरूमे ही गीताकी गिनतीमें जिन्हें लिया है उन्हींमें ये भी आ जाते हैं। अतएव ये चारों स्वतंत्र मार्ग न होके एक ही मार्गकी नीचे-ऊपरको सिर्फ सीढ़ियाँ हैं।

इस तरह ध्यान या समाधिके फलस्वरूप जो समदर्शन होगा वही ज्ञानका असली रूप है। उसीका वर्णन इस अध्यायके शेष श्लोकोंमें है। इसी वर्णनमें उसकी महत्ता भी आ गई है और वह कब पूरा होता है यह भी कह दिया है। कुछ तर्क-दलीलें भी दी गई हैं। इसका श्रीगणेश कहाँसे होता है। यह भी बताया गया है। क्योंकि जबतक यह न जान लें कि क्या मर्ज है तबतक औषधि क्या करेंगे ? इसीलिये क्षेत्रक्षेत्रज्ञ या प्रकृति और पुरुषके पूर्वोक्त आलंकारिक सम्बन्धसे ही इसका निरूपण यों शुरू करते है जिसका उल्लेख शुरूमें हो है, ताकि अन्तमें भी वह चीज याद आ जाये—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ, जो कुछ भी स्थावर और जंगम पदार्थ हैं या बनते हैं वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे ही होते हैं यह जान रखो।२६।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

(इसीलिये) सभी पदार्थोंमें एक रस रहनेवाले तथा उनके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होनेवाले परमेश्वर (रूपी आत्मा) को जो देखता है—साक्षात् करता है—(दरअसल) वही देखता है—यथार्थदृष्टिवाला है ।२७।

यहाँ निषेध दृष्टिसे (negatively) ही आत्माकी सत्ता मानी गई है, जिसे उपनिषदोंमें नेति-नेतिकी दृष्टि या मार्ग बताया है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

क्योंकि सर्वत्र एकरस रहनेवाले ईश्वरको ही जो देखता रहता है वह स्वयं आत्माको नष्ट नहीं करता—उसका असली रूप जान जाता है । इसीलिये वह परमगति—मुक्ति—पा जाता है ।२८।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।।२९।।

(इसीलिये) जो यह देखता है कि सभी कर्म तो प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते जाते हैं; आत्माको (इसीसे) जो अकर्त्ता—कुछ भी न करनेवाला—देखता है, वही (तो) देखनेवाला है—जानकार है ।२९।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।।३०।।

जब (मनुष्य) जुदे-जुदे दीखनेवाले पदार्थोंको एक ही रूप—आत्मरूप—में देखता है और उसीसे इनका पसारा देखता है तभी ब्रह्मरूप हो जाता है ।३०।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।३१।।

हे कौन्तेय, अनादि एवं निर्गुण होनेके कारण ही यह विकारशून्य परमात्मा (रूपी पुरुष या जीव) शरीरमें रहनेपर भी न तो कुछ करता है और न किसीमें सटता है ।३१।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।३२।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।३३।।

जिस तरह सर्वत्र रहनेपर भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण ही आकाश किसी-से भी नहीं चिपकता, उसी तरह सभी शरीरोंमे रहनेवाली आत्मा भी किसी-

से ि ग्प्न नहीं होती। जिस तरह एक ही सूर्य सारे संसारको प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक ही) क्षेत्रपति—खेतिहर या क्षेत्रज्ञ—सभी क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।३२।३३।

यहाँ दो-एक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। एक तो आत्माको एक ही माना है। सूर्यका दृष्टान्त भी साफ-साफ इसी मानीमें दिया है। क्योंकि 'एक ही सूर्य' ऐसा कह दिया है। यों तो आकाशके दृष्टान्तसे भी आत्माकी एकता ही—अद्वैतवाद ही—सिद्ध है। दूसरी बात है निर्लेपताकी। आकाश इतना बारीक है, सूक्ष्म है कि उसे कोई भी गन्दगी या मैल पकड़ सकती ही नहीं। मगर जो आत्मा आकाशमें भी है वह कितनी सूक्ष्म होगी यह तो आसानीसे जाना जा सकता है। फिर वह क्यों न निर्लेप हो ? इसपर प्रश्न होता है कि सभी शरीरोंका पथदर्शन या हिलना-डोलना एक ही आत्मासे कैसे होगा ? उत्तर है कि एक ही सूर्य तो संसारको चलाता है, रास्ता बताता है। फिर जो सूर्यका भी सूर्य हो—उसकी भी आत्मा हो—वह सारी अंधी प्रकृतिको क्यों न चलाये ?

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३४।।

इस तरह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञमें क्या विलक्षणताएँ हैं, फर्क हैं यह बात और जड़ प्रकृतिका अन्त या नाश भी ज्ञानदृष्टिसे जो लोग जानते हैं वही परब्रह्म तक पहुँचते हैं।३४।

पहले सातवें अध्यायमें प्रकृति दो प्रकारकी कही गई है, परा और अपरा। यहाँ अपरा प्रकृतिसे ही मतलब है। उसीकी पहचानके लिये उसे भूतप्रकृति यानी पंचभूतोंकी जननी कह दिया है। आत्मा तो ऐसी है नहीं। जो सांख्यवादी प्रकृतिका नाश नहीं मानते वे गलत हैं यही जनानेके लिये कह दिया है कि प्रकृतिका मोक्ष या नाश होता ही है। मिथ्या जो ठहरी। नाशके बाद ही तो मुक्ति होती है।

इस अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके रूपमें ही संसारका विवेचन होनेसे वही इस अध्यायका विषय है।

इति श्री० क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।।१३।।

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय यही है।



चौदहवाँ अध्याय

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, चौदहवाँ अध्याय भी सृष्टिका विवेचन-विश्लेषण ही करता है। लेकिन यह करता है इस कामको एक प्रकारसे स्वतन्त्र रूपमे। इसकी वजह भी है जिससे यह अध्याय ही स्वतन्त्र हो गया है। तेरहवें अध्यायने बहुत फैली-फैलाई सृष्टिकी, जो काबूके बाहरसी प्रतीत होती थी, काबूमें कर दिया। क्योंकि खेतिहर या किसान और क्षेत्र या खेतके रूपमें सारी बातें रखके इन्हे और इनको ही लेके बनी सृष्टिको भी जैसे छोटीसी बनाके काबूमें कर दिया गया है। क्षेत्रसे बाहर जब कुछ हुई नहीं और उसके बिना सारी घर-गिरस्ती ही चौपट है, तो काबू और कहते है किसे? इस तरह जो चीज समझमें समा भी नहीं सकती थी वह अब दूसरी ही जान पडने लगी। अब उसका रूप इतना छोटा हो गया कि उसके नामसे होनेवाली घबराहट दूर होके उस समूची चीजके समझने-विचारनेमें सरसता आ गई। इसने ही उसमें चस्का भी पैदा कर दिया।

लेकिन इतनेपर भी शरीर इन्द्रियाँ, प्राण प्रभृति और विषयों एवं विकारोंके रूपमे यह सृष्टि विस्तृतकी विस्तृत ही है। सबोंका खयाल-विचार करते-करते मनमें थकान या ऊबसी भी हो जाती है। शरीर, इन्द्रियाँ वगैरह कह देना जितना आसान है इनका विचार उतना आसान नहीं है। विचारिये और देखिये कि लम्बी-चौड़ी दुनिया सामने खड़ी हो जाती है या नही। फिर तो उधेड़-बुन करते-करते नाकों दम हो जाती है, घबराहट पैदा हो जाती है। इसलिये जरूरत थी इस बातकी कि और भी संक्षिप्त रूपमे इसे रख दिया जाय। साथ ही, वह संक्षिप्त रूप ऐसा हो कि साफ-साफ मालूम पड़े, समझमें आये। सभी पदार्थोंको उसने अपने उदरस्थ कर लिया हो यह भी स्पष्ट नजर आता रहे। यदि ऐसा उपाय निकल आये तो कितना सुन्दर हो, कितनी आसानी हो! भला, सभी विषयोंका पूरा-पूरा विवेचन कर सकना और उनके गुणदोषको समझ पाना किसकी ताकतकी बात है? यह भी कहना कि सभी चीजे बन्धनमे ही डालती हैं या बुरी हैं कितना खोखला लगता है! आखिर संसारके भीतर ही तो उपदेशक, विवेक और समाधि प्रभृति भी हैं! तो क्या ये भी बुरे है? यदि नहीं, तो समस्त संसारको बुरा क्यों कहा? क्या ये संसारमें आ जाते नहीं? ऐसी हजार पेचीदा बातें पड़ी है जिनका समाधान तेरहवें अध्याय से नहीं हो पाता। इसलिये भी जरूरत थी कि कोई सरल मार्ग निकलता, कोई निराला आईना आविष्कृत होता, जिसमे सारी चीजें झलक पड़तीं और उनकी बुराइयाँ साफ मालूम हो जातीं। इन्हीं सब खयालोंसे चौदहवें अध्यायकी स्वतंत्र आवश्यकता पड़ी।

इसमें सारी सृष्टिको तीनों गुणोंके भीतर 'गागरमें सागर' की ही तरह रखके कमाल कर दिया है ! फिर भी खूबी यह है कि इनमे सारी दुनिया आईने-की तरह चमकती है और यह पता फौरन चल जाता है कि क्यों और कैसे हरेक चीज बन्धनका कारण होनेसे बुरी है। इतना आसान और सुन्दर रास्ता शायद ही कहीं कभी मिल सकनेवाला था। एक बात यह भी है कि तेरहवेंमें जो यह कह दिया है कि 'गुणोंके साथ लिपटने और फँसनेसे ही आत्माका नीच-ऊँच योनियोंमे जन्म होता रहता है"—"कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (१३।२१), उसका स्पष्टीकरण भी हो जाना जरूरी था कि यह बात कैसे होती है। इस अध्यायमे हरेक पदार्थका विश्लेषण करके बुरे-भले सभीको तीन गुणोंका ही रूप बता दिया है। यह बात भी है कि ये तीनो ही गुण बन्धनमें डालनेवाले है। फलत सभी पदार्थ आसानीसे बन्धनकारी सिद्ध हो गये। आखिर गुण तो रस्सीको ही कहते हैं न ? और रस्सीसे लिपटना ही तो बन्धन है। इस अध्यायका व्यावहारिक ससारमे सबसे ज्यादा महत्त्व इस बातमें है कि इसने बता दिया है कि स्वभावसे ही परस्पर विरोधी और एक दूसरेको मिटा डालनेवाले पदार्थ भी किस प्रकार आपसमे अच्छी तरह मिलके साथ चल सकते, एक दूसरेकी मदद कर सकते और सारा काम अंजाम दे सकते हैं। यह अपूर्व उपदेश तो शायद ही कही मिला हो या मिलेगा।

यही कारण है कि चौदहवेंके शुरूमें हो इसे सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, सर्वोत्तम कहा गया है। भला, इससे बढ़के ज्ञानका सुन्दर, सर्व-सुलभ और विशद मार्ग होई क्या सकता है ? दूसरी तरहसे ज्ञान या जानकारी प्राप्त करनेपर तो कभी धोका भी हो सकता है। मगर इसकी जो सबसे बडी खूबी है वह यही कि कही भी किसी भी पदार्थमे धोकेकी गुन्जाइश रहने पाती नहो। यह तो सबोंका छिपा रूप नंगा कर देता है। यही वजह है कि इस अध्यायमें प्रकृतिसे सीधे ही गुणोका विस्तार और पसारा शुरू कर दिया है। गीताकी पौराणिक शैलीकी सबसे सुन्दर खूबी इस अध्यायमें यह पाई जाती है कि शुरूमे हो आलंकारिक भाषामे सन्तानोत्पत्तिकी जगह सृष्टिकी उत्पत्तिका कल्पना करके ब्रह्मके द्वारा प्रकृतिमे गर्भाधान लिखा गया है और उससे पहले-पहल एक हो साथ तीन बच्चोंका जन्म बताया गया है। एक तो यही विलक्षणता है कि एक ही साथ तीन बच्चे ! इससे खामखा लोगोंका ध्यान आकृष्ट हो जाता है कि बात क्या है। फिर वे खोद-विनोद करने लग जाते है, मननमें पड़ जाते है। दूसरे अब वे बच्चे पर-स्पर विरोधी और एक दूसरेको खानेपर ही तुले जैसे हों तब तो और भी आश्चर्य-जनक चीज हो जाती है कि ये माता-पिता भी खूब हैं जिनने ऐसे बच्चे जने !

इस तरह ब्रह्मको पिता और प्रकृतिको माताके रूपमें चित्रित करनेका प्रयोजन भी पूरा हो जाता है।

सृष्टिके सम्बन्धमें शुरू-शुरूका जो गोलमोल और सामान्य ज्ञान या खयाल है वही गर्भाधान है। उसीके बाद प्रकृतिसे गुण-विस्तारके द्वारा सृष्टि फैलती है। यह बात गुणवादमे बखूबी समझाई जा चुकी है। इस अध्यायका आशय समझनेके पहले उसे पढ़ लेना आवश्यक है।

चौथे श्लोकतक तो भूमिकाके रूपमें यही बात कही गई है। उसके बादके पाँच (५-९) श्लोकोंमें गुणोंके निजी स्वभाव और काम बताके अनन्तर ९ (१०-१८) श्लोकोंमें यह बताया गया है कि इन तीनों गुणोंकी आपसी शर्त्तबन्दी है, जिससे एके बाद दीगरे क्रमशः तीनों मुखिया होते हैं। मगर हर समय एक ही मुखिया और शेष दो उसीके अनुयायी होते हैं। किसकी नायकताकी क्या पहचान है यह भी बताया गया है। उसीके साथ किस गुणकी प्रगतिके समय शरीरान्त होनेसे मनुष्यकी क्या गति होती है यह भी कहा है। अनन्तर दो (१९-२०) श्लोकोंमे इन गुणोंसे छुटकारा पानेपर ही मुक्ति होती है यह बताके शेष सात श्लोकोंमें इनसे छुटकारा पानेका उपाय और छुटकारा पाये हुएकी पहचान बताई गई है। छुटकारा पाये हुएको ही गुणातीत कहा है। इन्ही सातमे पहला —२१वाँ— श्लोक अर्जुनके प्रश्नका है। क्योंकि जब ऐसी बात है तो घबराके या उत्सुकतावश इनसे पिंड छुड़ानेकी बात फौरन ही पूछ लेना उसके लिये अनिवार्य हो गया था। यह विषय ऐसा जरूरी और कामका है कि बिना पूछे ही कृष्णने इसका कहना आरंभ कर दिया था। वे खुदबखुद इसकी महत्ता और जरूरत महसूस कर रहे थे। इसका कारण हम बताई चुके है। इसोलिये अर्जुनके बिना कुछ कहे ही स्वयमेव—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

श्रीभगवान कहने लगे (कि) सभी ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान, जिसे हासिल करके सभी मुनिगण यहाँसे (देह छोड़नेके बाद) परम कल्याण पा गये, मैं अभी-अभी कहता हूँ, (सुनो)। इस ज्ञानका आश्रय लेनेपर मेरा स्वरूप हो जानेवाले न तो सृष्टि (के शुरू होने) पर जन्म लेते और न प्रलयमें व्यथित होते या मरते हैं।१।२।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे भारत, महत्तत्त्व गर्भित प्रकृति ही मेरी स्त्री है और मैं उसीमें गर्भाधान करता हूँ । उसीसे सभी पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । हे कौन्तेय, सभी (पशु आदि) योनियोंमें जितनी तरहकी आकृतियाँ हैं उन सबोंकी माता (वही) प्रकृति और गर्भाधान करनेवाला पिता मैं हूँ ।३।४।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहु, सत्त्व, रज, तम यही (तीन) गुण प्रकृतिसे पैदा होते है (और) विकार रहित आत्माको देहमें फाँसते है ।५।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

हे निष्पाप, उनमें भी निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निर्दोषी सत्त्व गुण सुख और ज्ञानमें आसक्ति पैदा करके आत्माको फँसाता है ।६।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥

हे कौन्तेय, रजोगुण तृष्णा एवं आसक्तिको पैदा करनेवाला (और) राग रूपी ही है, ऐसा समझो । वह कर्ममें आसक्ति पैदा करके जीवात्माको फँसाता है ।७।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत, तमोगुण तो अज्ञानको पैदा करने और सभी जीवात्माओंको मोहमें फँसानेवाला है । वह असावधानी, आलस्य और निद्राके द्वारा ही फँसाता है ।८।

प्रमाद कहते हैं बातोंका खयाल न होना, न रखना । खयाल रहते हुए भी कर्ममें प्रवृत्त न होनेको ही आलस्य कहते हैं ।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत, सत्त्व सुखमें लिपटा देता है और रज कर्ममें । (परन्तु) तम तो ज्ञानको छेंकके असावधानीमें ही लिपटाता है ।९।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।

हे भारत, रज और तमको दबाके—अपने अधीन करके—ही सत्व आगे आता है। (इसी तरह) सत्त्व एवं तमको दबाके रज और सत्त्व तथा रजको दबाके तम (आगे आता—बढता है) ।१०।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

जब इस शरीरके सभी द्वारों—इन्द्रिय-छिद्रो—से अँधेरा हटके ज्ञान पैदा होता है तभी सत्त्वकी वृद्धि जाने ।११।

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशम स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्ध भरतर्षभ ।।१२।।

हे भरतश्रेष्ठ, रजके बढनेपर लोभ, काममे झुकाव, क्रियाओका आरंभ, उनका लगातार जारी रहना और हायहाय ये बातें होती है ।१२।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।

हे कुरुनन्दन, तमकी वद्धि होनेपर (दिमागके सामने) अँधेरा, कामोंमे झुकाव न होना, असावधानी और मोह या उलटी समझ, यही बाते होती हे ।१३।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं यानि देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ।।१४।।

जब देहधारी सत्त्वकी वृद्धिके समय मरता है तो उत्तम बाते जाननेवालोके निर्मल लोक या समाजमे ही जनमता है ।१४।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

(इसी तरह) रजकी वृद्धिमे मरनेपर कर्ममे लिप्टे लोगोमे तथा तमकी वृद्धिमे मरनेपर विवेकशून्य योनियोमे जनमता है ।१५।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विक निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।

सात्त्विक कर्मोंका सुन्दर, निर्मल, सात्त्विक फल बताते है, राजसी कर्मोंका दुःख और तामसी कर्मोंका अज्ञान—अज्ञानकी वृद्धि—फल (कहते है) ।१६।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।

सत्त्वसे ज्ञानकी एवं रजसे लोभकी ही वृद्धि होती है और तमसे प्रमाद, मोह और अज्ञान (फैलते हैं) ।१७।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।१८।।

सत्त्वगुण (की विशेषता) वाले ऊपर जाते या प्रगति करते है, रजोगुणवाले बीचमें ही रह जाते—न प्रगति करते और न अधोगति, (और) निचले तमोगुण-वाले अवनतिशील होते हैं ।१८।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।।

जानकार—पूर्ण आत्मज्ञानी—ज्योंही गुणोंके सिवाय दूसरेको कर्मोका करने-वाला नहीं मानता है और गुणोंसे निराली (आत्मा) को जान लेता है, (त्योंही) वह मेरा स्वरूप—मुक्त—हो जाता है ।१९।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

देह (धारण) के कारण इन तीन गुणोंसे पार जानेपर ही मनुष्य जन्म, मरण (और) बुढ़ापे के दुःखोंसे छुटकारा पाके मुक्ति हासिल करता है ।२०।

अर्जुन उवाच

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ।।२१।।

अर्जुनने पूछा (कि) हे प्रभो, इन तीन गुणोसे पार पाये (मनुष्य) के चिह्न क्या है ? उसके आचरण कैसे होते हैं ? और इन तीन गुणोंसे पार पाते है कैसे ? ।२१।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।२२।।

श्रीभगवानने कहा—हे पांडव, (तीनों गुणोंके क्रमशः कार्य) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके होनेपर न तो (उनसे) द्वेष रखता है और न यही चाहता है कि वे हट जायें ।२२।

यही है पहले प्रश्नका उत्तर। गुणातीतकी पहचान पूछी थी। वही इसमें कही गई है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

(अतएव) जो उदासीनकी तरह रहता है, जिसे गुण हिला-डुला नहीं सकते, 'ये तो गुण ही अपना काम कर रहे हैं, (मुझे इससे क्या ?)' इस प्रकार (ख्याल किये) जो निश्चिन्त पड़ा रहता है (और) जरा भी हिलता-डोलता नहीं, जिसके लिये दुःख-सुख समान हैं, जो कभी बेचैन नहीं होता, जिसकी नजरोंमें मिट्टीका ढेला, पत्थर एवं सोना बराबर ही हैं, जिसके लिये प्रिय-अप्रिय एकसे हैं, जो हिम्मतवाला है, जिसके लिये अपनी निन्दा या स्तुति एकसी ही है, जो मान-अपमानमें ज्योंका त्यों रहता है, जिसके लिये शत्रु या मित्रके पक्ष हई नहीं (और) जो सभी संकल्पोंसे बिल्कुल ही बरी है, वही गुणातीत कहा जाता है।२३।२४।२५।

यही है दूसरे प्रश्न, 'गुणातीतका आचरण कैसा होता है' का उत्तर । आगेका २६वाँ श्लोक तीसरेका उत्तर है । तीसरेमें इसका उपाय पूछा था ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो कभी भी न डिगनेवाली भक्तिके ही रास्ते मेरा सेवन करता है वही इन गुणोंसे बखूबी पार पाके ब्रह्मरूप हो जाता है ।२६।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि अहम्—आत्मा—ही अविनाशी, निर्विकार, नित्य धर्मस्वरूप और बराबर बने रहनेवाले सुख रूपी ब्रह्मका आधार है ।२७।

तैत्तिरीय उपनिषदकी ब्रह्मानन्दवल्लीके शुरूमें ही लिखा है कि सत्य एवं ज्ञानरूप ही ब्रह्म है और है वह अनन्त । जो उसे गुफाके भीतर विस्तृत आकाशमें रहनेवाला जान लेता है उसके सभी मनोरथ एक ही साथ ज्ञानरूपी ब्रह्मके रूपमें पूरे हो जाते हैं,—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विपश्चितेति ।" इसके बाद उस गुफाका, जिसमें विस्तृत आकाश है, निरूपण शुरू हुआ है । संक्षेप यही है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामक कोषोंका ही वर्णन वहाँ विस्तारके

साथ गुफाके रूपमें पाया जाता है। तलवारके म्यानको कोष कहते हैं। जिसके भीतर कोई चीज छिपी हो, छिपाई जा सके असलमें कोष वही कहा जाता है। रेशमका कीड़ा अपने बनाये ही रेशमके कोयेके भीतर छिप जाता है। वह निकाला न जाय तो मर भी जाता है। कोयेको खुद भी काटके निकल आता है। उस कोयेको कोशा कहते हैं और यह कोशा इसी कोष शब्दका बिगड़ा रूप है। आत्मा भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरोंके भीतर छिपी है। एके बाद दीगरें उसपर पाँच म्यान चढ़े है। स्थूल शरीरको ही अन्नमय कोष कहते हैं। सूक्ष्म या लिंग शरीरके भीतर पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि मिलाके कुल सत्रह पदार्थ माने जाते हैं। इनमें पाँच प्राणोंका प्राणमय, मन और कर्मेन्द्रियोंका मनोमय और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियोंका विज्ञानमय, ये तीन कोष हैं। अविद्या या अज्ञानको ही कारण शरीर और आनन्दमय कोष कहते है। यह संसार अज्ञानमूलक ही तो माना जाता है। इस तरह इन्हीं पाँच कोषोंके भीतर जो आत्मा है उसीका वहाँ उल्लेख है। उसे सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप कहा है। अन्तमें ब्रह्मको आनन्दमय कोषका अन्तिम भाग या पुच्छ स्थानीय मानके "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा लिखा है। असलमें इन कोषोंको पक्षीका आकार देके पूँछकी जगह ब्रह्मको माना है। पूँछके द्वारा ही पक्षीको पकड़नेसे यहाँ मतलब है। ब्रह्मको पकड़नेसे ही ये पाँचों कोष पकड़े जा सकते है, यही कहना है। इसीलिये शुरूमें उसी ब्रह्मात्मासे आकाश आदिके द्वारा इन सबोंकी उत्पत्ति लिखी गई है, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" आदि।

इस श्लोकमें हमारे जानते यही बात लिखी है। कृष्णका कहना है कि 'अहम्' ही अर्थात् आत्मा ही तो ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा है, मूलाधार है। यदि ब्रह्मका पता लेना है, उसे पकड़ना है तो आत्माको ही पकड़नेसे वह मिल सकता है, पकड़ा जा सकता है। इससे पहलेके श्लोकमें यह कहा है कि कभी न डिगनेवाली भक्तिके द्वारा ही जो मेरा यानी आत्माका सेवन करता है वही इन तीनों गुणों से—त्रिगुणात्मक संसारसे—पार जा सकता है। उसपर शायद किसीको खयाल हो कि कृष्ण अपनी या आत्माको भक्ति क्यों कहते है और ब्रह्मकी क्यों नहीं बताते ? क्योंकि वही तो सबका मूलाधार है और उसीके जाननेसे यह भव-जाल छटता है। उसीका जवाब इस अन्तिम श्लोकमें है। कहते है कि असल चीज तो 'अहम्' है, आत्मा है। उसीके जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है। योंही ब्रह्मको कहाँ ढूँढ़ा जाय ? और इस बातमें उनने तैत्तिरीयकी उस आनन्दवल्लीको ही लिया है जिसमें आत्माको ब्रह्मरूप कहते हुए और यों ब्रह्मको लापता या परोक्ष—"तस्मात्"—बताते हुए आत्मासे ही सृष्टिका पसारा माना है। अन्तमें

सबकी प्रतिष्ठा या नींव ब्रह्मको कहके उसे आत्मस्वरूप ही कहा है। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" के द्वारा आनन्दरूप भी कह दिया है। इसीसे कृष्णने कह दिया कि सबकी प्रतिष्ठा या नींव तो "अहम्" है, आत्मा है। यहाँ 'अहम्' कितना महत्त्वपूर्ण है! इसमें कितनी खूबी और सुन्दरता है!

यदि आनन्दबल्लीको देखा जाय तो वहाँ धर्मके रूपमें जानें कितनी ही चीजें कही गई हैं। मगर ब्रह्मात्माका जो असली स्वरूप सत्य, ज्ञान और आनन्द है, कृष्णने इन्हीं तीन धर्मोंको पकड़ा है, यही जगत्के धारण करनेवाले हैं। इसीलिये धर्म हैं। पंचदशीमें विद्यारण्यने इनकी यह खूबी समझाई है। इनमें सत्यको "अमृतस्याव्ययस्य" पदोंसे, ज्ञानको "शाश्वतस्य धर्मस्य" पदोंसे और आनन्दको "सुखस्यैकान्तिकस्य" पदोंसे कह दिया है। धर्म हैं यों तो सभी। फलतः सभीके साथ 'धर्मस्य' को लगा भी सकते हैं। मगर नमूनेके रूपमें एकको ही कहा है।

इस अध्यायके गुणातीत प्रकरणमें ही दो बार सम और चार बार उसी अर्थमें तुल्य शब्द आये हैं। यहाँ भी आत्मज्ञानीकी ही समदृष्टि बताई गई है। इस अध्यायका विषय तो स्पष्ट है।

इति श्री० गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

श्रीम० जी श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका गुणत्रय-विभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय यही है।



पन्द्रहवाँ अध्याय

यह तो हमने पहले ही कहा है कि पन्द्रहवाँ अध्यय मिलाजुला है। इसमें कुछ तो संसारका ही, इस सृष्टिका ही विवेचन-विश्लेषण है। कुछ ज्ञानकी बातें भी हैं। आत्माकी जानकारीके लिये यत्नोंकी चर्चा तथा दूसरे उपाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपमें कहे गये हैं। इसलिये पिछले और अगले अध्यायोंकी सन्धिके रूपमें इसका यहाँ आ जाना उचित ही है। सचमुच यदि देखा जाय तो शुरूके दस श्लोकोंमें किसी न किसी रूपमें सृष्टिके निरूपणकी प्रधानता है। फिर "यतन्तो योगिनः" आदि ग्यारहवें श्लोकसे ज्ञानके साधनोंकी ही बात प्रधानतया पाई जाती है। "द्वाविमौ" आदि अन्तके पाँच श्लोकोंमें तो यह बात आई ही है। यदि उनसे पहलेके श्लोकोंमें विराट्की कुछ बातें आ गई है, तो एक तो वे चिन्तन और यत्नके साधनके रूपमें ही आई है। दूसरे, यही तो आखिरी बार उनका उल्लेख है। या यों कहिये कि प्रकारान्तरसे उनके उपसंहार द्वारा उनसे बिदाई है।

चौदहवें अध्यायके अन्तमें जो आत्माको सबका आधार या प्रतिष्ठा कह दिया है उससे आनन्दवल्लीवाली बात सामने आ जाती है, जिसमें इस भौतिक सृष्टिके शरीर आदिके निर्माणका उल्लेख है। उसीके साथ-साथ यह सृष्टि भी दिमागमें खामखा आ जाती है। उसीका जिक्र पन्द्रहवेंके शुरूमें ही है। एक बात और भी है। यदि गुणोंसे या त्रिगुणात्मक संसारसे पार जाना है, पार पाना है, तो क्या किया जाय यह जो प्रश्न उठा था, उसका उत्तर यही दिया गया है कि आत्मामें ही लग जाओ। वही ब्रह्मका भी आधार है, नींव है, प्रतिष्ठा है। इससे साफ हो जाता है कि शरीरके भीतर ही उसे ढूँढ़ना होगा। एतदर्थ क्रमशः भीतर या नीचे जाना होगा। क्योंकि एकके बाद दीगरे बहुतसे पर्दे उसपर पड़े हैं। मगर इसमें कुछ खतरे भी हैं। हमारा खयाल इससे संकुचित हो जा सकता है और हम बाहरी दुनियाकी पर्वा, उसके सुख-दुःखकी फिक्र छोड़ दे सकते हैं, जो बात गीताको आमतौरसे पसन्द नहीं है। इसीके साथ यह भी हो सकता है कि हम दुनियासे ऊँचे उठें ही न। हम तो अपनी आत्माके अन्वेषणमें नीचे ही जायँगे न? भीतर ही घुसेंगे न? गुफामें ढूँढ़ना जो है। मगर दुनियाका मजा लेने और जीवनको आनन्दमय बनानेके लिये इस बातकी जरूरत है कि हम उससे ऊँचे उठें, ऊपर जायें। समूचे संसारको फाँदके जब ऊपर जा पहुँचें तभी मस्ती आ सकती है। डर था, शायद यह बात न हो सके। इसीलिये चौदहवेंके अन्तमें

आत्माके उल्लेखके साथ ब्रह्मका भी उल्लेख किया गया है। उसका सीधा मतलब यही है कि हम ढूँढ़ते-ढूँढ़ते नीचे भी जायें और ऊपर भी। आत्माकी तलाशमें नीचे और ब्रह्मकी खोजमें ऊपर बढ़ें। नतीजा यह होगा कि सबसे नीचे और सबसे ऊपर जाना ही होगा। इस तरह अन्तिम छोरोंके मिल जाने (Extremes meet) के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक हो जायेंगे और हमारा काम हर तरहसे पूरा हो जायगा। बिना सबके नीचे और ऊपर गये तो इन दोनोंका ठीक-ठीक पता लग नहीं सकता है। "अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्"के द्वारा वैदिक ऋषियोंने तो ऐसा ही बताया है। और ऐसा होनेपर दोनोंका अन्तिम मिलन अनिवार्य है। इसी बातका स्पष्टीकरण पन्द्रहवाँ अध्याय करता है।

कुछ और भी बातें है। "वासुदेवः सर्वमिति" (७।१९) में समस्त संसारको वासुदेव कहके इसी रूपमें इसे देखनेवाले ही पक्के और पहुँचे महात्मा बताये गये हैं। ज्ञानका आखिरी रूप यही कहा गया है। इधर हमारे यहाँ पुरातीसे भी पुरानी परिपाटी है कि पीपलके वृक्षको वासुदेव कहते और मानते हुए इसकी जड़को सींचते रहते है। यह एक धार्मिक प्रथा है। पीपलको ही अश्वत्थ भी कहते हैं। उधर उपनिषदोंमें इस संसारको ही अश्वत्थवृक्षके रूपमें लिखा है। इसकी जड, पत्ते आदि भी बताये गये हैं। कठोपनिषद्के द्वितीय अध्यायकी छठीं वल्लीका पहला ही मंत्र यों है, "ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते"। गीताके पन्द्रहवें अध्यायका पहला श्लोक इसके पूर्वार्द्धसे बिल्कुल ही मिलतासा है। उपनिषद्ने कहा है कि इस अश्वत्थकी जड़ ऊपर और शाखायें नीचे है और यह सनातन है, अनादि है। यह कब बना कोई कह नही सकता। मगर जिसे अविनाशी ब्रह्म कहते है और मोक्षावस्थामें जिसकी प्राप्ति होती है वह इससे जुदा नहीं है। इसके मूलमें वही है। गीताने सनातनकी जगह 'अव्यय' कह दिया है। मगर आशय वही है। इस प्रकार वासुदेव या ब्रह्मरूपमें इस जगत्को मानने तथा देखनेकी जो पुरानी प्रणाली है वह गीताके मतके अनुकूल ही है। इसीलिये उसीका श्रीगणेश इस अध्यायमें किया है।

हम इस संसारको सचमुच ही मजबूत और सनातन न मान बैठें, इसीलिये अश्वत्थ नाम दिया गया है। अश्वत्थका तो अर्थ ही है कि जो कल न रहे। यह तो सदा परिवर्त्तनशील है, कमजोर है और आत्मज्ञानसे इसका खात्मा पलक मारते हो जाता है। आज ज्ञान हो और कल ही यह लापता! यह है भी तो भयानक ही। इसमें तो कष्ट ही कष्ट है। इसीलिये तो योगदर्शनमें पतंजलिने कहा है कि अथसे इतितक यह केवल दुःखमय ही है ऐसा विवेकी मानते हैं।

साफ ही देखते हैं कि यहाँ तीनों गुणोंकी ऐसी आपसी कुश्ती और खींचतान है कि कुछ पूछिये मत, "परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)। नैयायिकोंने भी संसारको दुःखात्मक ही माना है। यहाँ-तक कि सुखको भी दुःख ही कहा है। उनके मतसे छे इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—उनके छे विषय-ज्ञान और छे विषय, शरीर, सुख और दुःख यही इक्कीस दुःख उनने माने हैं। उनके मतसे यह संसार दुःखात्मक है और इन्हींका ध्वंस मुक्ति है। मगर यहाँ तो उलटी ही गंगा बहती नजर आती है। सभी लोग फूले मस्त हैं, राजपाट, बालबच्चों और स्वर्ग-वैकुंठके ही पीछे मस्त हैं। उन्हें तो संसारकी दुःखरूपता दीखती ही नहीं। फिर इससे पार जानेका यत्न वे क्यों करने लगे? प्रश्न है कि ऐसा हुआ क्यों? बात तो उलटी है न? कष्टात्मक ही तो यह संसार है। तब यह ऐसा हुआ कैसे? इसके ऐबोंको किसने छिपाया?

इसका उत्तर गीता पहले ही श्लोकके उत्तरार्द्धमें देती है कि वैदिक कर्मकांडने ही तो आँखोंमें धूल झोंक दी है। दिनरात उसीके पीछे पड़े रहते हैं और फुर्सत मिलती ही नहीं! जहीं-तहीं वैदिक साहित्यमें, वेदमंत्रोंमें स्त्री-पुत्रादिकी प्रशंसा, स्वर्गकी बड़ाई, राजपाटकी महिमा लिखी मिलती है। फलतः जनसाधारण यदि कभी ऊबें भी तो पुनरपि इसी वजहसे उसीमें पड़े रहते हैं। जैसे वृक्षके हरे-भरे पत्ते उसे छेंके और घेरे रहते हैं। इसीलिये उसके तने और शाखा-प्रशाखाओंकी नग्नता दूरसे मालूम नहीं होती। किन्तु ज्योंही पत्ते हटे कि समूचा पेड़ नंग-धड़ंग, बेढंगा और भयावना नजर आता है। ठीक वैसे ही वैदिक मंत्रों और तन्मूलक साहित्यने इस अश्वत्थके लिये भी पत्तेका काम कर दिया है, जिससे हम इसकी भयावनी सूरत देख नहीं पाते। इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञानकी ओर बढ़नेमें गीताका यह वर्णन कितना आलंकारिक एवं महत्त्वपूर्ण सहायक है, खासकर ऐसा कहके कि जो इसके नग्नरूपको जानता है दरअसल वही वेदका ज्ञाता है। वह पर्देके भीतर घुस जो जाता है।

पीपलमें यह भी देखा जाता है कि ऊपरसे बरोहें निकलती हैं। ये हैं दर-असल जड़ें ही। पकड़ी, बरगद और पीपलमें ही ऊपरकी डालोंसे निकलके नीचे लटकती हैं। बरोहके मानी हैं ऊपरसे निकलनेवाली। बर + आरोहसे ही बरारोह बनके बरोह हो गया। बर कहते हैं ऊपरको। यह बात कितनी खूबीके साथ जगत्से मिलती है। ऊपर ठहरा ब्रह्म। वहींसे जगत्की सारी जड़ें निकली तथा फैली हैं। यदि इन जड़ोंका पता लगाना है तो ऊपर जायें। तभी इन्हें पायेंगे और काट देंगे। ऊपर जाने या संसार के पदार्थोंसे अलग होनेमें अगर हजार ढंगके ताल्लुक बाधक है, तो वैराग्यकी शरण लें और मनको इनसे हटायें। इनमें आसक्तिका त्याग करें। यही त्याग तलवारका काम करता है इन्हें काट डालनेमें;

ताकि ऊपर जा सकें। बिना इसके वह मूलाधार ब्रह्म मिलनेका नहीं। इस तरह इसके काटनेका उपाय है सही। फिर भी यह है दरअसल लोहेका चना। सांसारिक वासनायें इतनी मजबूतीसे जकड़ी और चारों ओर फैली हैं कि इनसे पिंड छुड़ाना मुश्किल है। इस तरह संसारके पार जाना वैराग्य और विवेकके सहारे आसान भी है और मुश्किल भी। क्योंकि जहीं जाइये एक फन्दा लगा है और हम उसीमें फँस जाते हैं।

कहते हैं कि किसी अच्छे पंडितने मौतसे पहले ही किसी प्रकार यह जान लिया कि मरनेपर सूअरका शरीर पाऊँगा। उनने अपने बच्चोंको यह बात कह दी। यह भी बता दिया कि कहाँ कब सूअरका शरीर मिलेगा। उनने पहचान भी बता दी कि फलाँ-फलाँ चिह्न होंगे; ताकि लड़के बेखटके पहचान सकें। फिर उनने कहा कि वह योनि तो बड़े कष्टकी है, यह जानते ही हो। इसलिये पता लगाके फौरन मार देना; ताकि कष्टमय जीवनसे चटपट छुटकारा हो जाय। पीछे जब वह मर गये तो ठीक समयपर खोजते-पूछते उनके लड़के उस मुकामपर पहुँची तो गये जहाँ वह सूअर बने विचरते थे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उनने पता भी पा लिया कि हो न हो, यही वह सूअर है। उसके बाद उसके मालिकसे बातें करके सूअरके मारनेका हर्जाना भी तय कर लिया। बादमें तलवार लेके उसके पास पहुँचे ही थे कि खत्म कर दें कि वह गिड़गिड़ाके बोल उठा कि "नहीं-नहीं, मुझे मत मारो, तुम्हें शपथ है, मैं खूब मौजमें हूँ"। देखा न? यही है भारी बन्धन। आत्मा जहीं हो, मौज ही मालूम पड़ती है।

इसीसे नीचे-ऊपर, इधर-उधर सर्वत्र ही जहाँ भी इस संसारकी शाखायें हैं बन्धनका ही काम करती हैं। क्योंकि आखिर त्रिगुणात्मक तो हुईं और तिहरी रस्सी बड़ी मजबूत भी होती है। सभी जगह इन्द्रियोंके विषय सुन्दर कोंपलों जैसे लुभावने दीखते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बुरे-भले कर्मोंके संस्कारके रूपमें वासनायें पैदा होती हैं। फिर उनके फलोंको भोगनेके बाद दूसरे ढंगकी वासनायें पैदा होती हैं, जिन्हें चसक कह सकते हैं। उन्हींके करते हम पुनरपि कर्मोंमें लगते हैं, इस तरह यह चक्र चालू रहता है। यों तो वास्तविक मूल ब्रह्म हुई। मगर जिस मूलको काटना है, ताकि यह वृक्ष सूख जाये, वह तो यह वासनायें ही है। ये इतनी गहरी और नीचे पड़ी रहती हैं कि इन्हें पकड़ना कठिन है। यही है इस अश्वत्थकी अपनी निजी जड़ें। अश्वत्थकी जड़ें यों भी सचमुच बहुत गहराईमें जाती हैं। वे बहुत ज्यादा होती भी हैं। वासनाओंकी भी यही हालत है। ये भी अनन्त हैं, बहुत फैली हैं। आशाकी बात यही है कि पूर्ण-विवेक-दृष्टिके सामने न तो ये वासनायें और न संसारका यह लुभावना रूप ही

टिक सकता है । केलेकी मूसलीके छिलकेकी तरह उधेड़-बुन करते जाइये और अन्तमें कुछ भी सार हाथ नहीं लगता । पता ही नहीं चलता कि कहाँ शुरू, कहाँ बीच और कहाँ अन्त है । समूचेका समूचा निस्सार ही सिद्ध हो जाता है ।

इस पन्द्रहवें अध्यायमे जो खूबी है वह यही कि इसने हमारी पुरानी भावनाओंसे फायदा उठाके वासुदेवके रूपमें ही संसारवृक्षको सामने ला दिया है । इस रूपकके द्वारा इसे काट बहानेकी भावना भी जागृत कर दी है । नही तो कहाँ क्या करें और इसे कैसे खत्म करें यह अथाह समुद्रकीसी बात हो रही थी । इसमें उपनिषदोंकी भी सहायता इसे मिली है । उनका अनुसरण भी अच्छी तरह हो गया है । पहलेकी सारी बाते सुनने और गुणातीत अवस्थाको जाननेके बाद जो एक प्रकारकी किंकर्त्तव्य-विमूढतासी अर्जुनको और दूसरोंको भी हो सकती थी कि कहाँसे कैसे इन गुणोंको काटना शुरू करें, वह भी इस प्रकार दूर हो गई । उसे खयाल करके ही तो कृष्णने बिना पूछे ही यह कहना शुरू भी कर दिया । चौदहवे अध्यायके अन्तमें यह कहा है जरूर कि आत्माकी भक्ति करें । मगर वह तो आसान नहीं । मनको बाहरसे रोकना जो पडेगा । यह रोक किस चीजसे कैसे शुरू करें, यही तो सबसे बड़ा सवाल था । ऐसी बातका मालूम हो जाना जरूरी था जहाँसे श्रीगणेश करते । कृष्णने इस वृक्षको, इसकी जड़ोंको और काटनेके हथियारको भी बताके सारी समस्या ही हल कर दी । इस तरह गुणोंके निरूपणसे भी आसानीसे फायदा उठाया जा सकता था । क्योंकि जब सभी चीजे बन्धक हैं, खतरनाक है, तो उनसे मनको हटानेमे दिक्कत वैसी न होगी जैसी पहले होती । इन्ही सब विचारोंको मनमें रखके—

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित ॥१॥

श्रीभगवानने कहा (कि) ऊपर जिसकी जड़ें और नीचे शाखायें हों तथा वेदमन्त्र जिसके पत्ते हों ऐसे (संसाररूपी) पीपलवृक्षको सदा रहनेवाला कहा गया गया है । (मगर) उसे जो यथार्थ रूपमें जान जाता है वही वेदज्ञाता है ।१।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

(दरअसल) उसकी शाखायें नीचे-ऊपर (सर्वत्र) फैली हैं (जो) गुणोंके चलते खूब बढ़ी हैं और विषय हो जिनकी कोंपलें हैं । (उसको) जड़ें भी बहुत गहराई-

में जाके खूब फैली हुई हैं (और) इस दुनियामें कर्म करनेमें (चस्का पैदा करके लोगोंको उसमें) लगाती हैं ।२।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

(लेकिन इसका जैसा सनातन और दृढ़) रूप (कहा जाता) है वैसा (तो विचारनेपर) दीखता नहीं और न इसके आदि, अन्त (और) मध्य (का ही पता चलता है) । (फिर भी) जिसकी जड़ें बहुत ही मजबूत है उस इस अश्वत्थ वृक्षके बन्धनोंको (वैसे ही) मजबूत वैराग्य—आसक्तित्याग—रूपी शस्त्रसे काटके—संसारसे वैराग्य प्राप्त करके—अनन्तर उस पदका अन्वेषण करना चाहिये जहाँ जानेपर फिर वापिस आना—जन्म-मरण—नहीं होगा । 'हम उसी आदि पुरुष—परमात्मा—की शरण आये है, जिससे यह पुरानी सृष्टि पैदा हुई', (इसी प्रकार वह अन्वेषण करना चाहिये ।३।४।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अभिमान और मोहसे रहित, आसक्तिके दोषसे बरी, आत्मामें निरन्तर लगे हुए, सभी कामनाओंसे शून्य, सुखदुःख संज्ञक द्वन्द्वोंसे छुटकारा पाये पूर्णज्ञानी ही उस अविनाशी पदको पाते हैं ।५।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

न तो वहाँ सूर्यका प्रकाश जाता है, न चन्द्रमाका और न अग्निका ही (और) जहाँ जानेपर फिर वापिस नहीं आते वही मेरा परम धाम है ।६।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसन घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

मर्त्यलोकमें मेरा ही सनातन अंश जीव बनके प्रकृतिमें रहनेवाली मनसंयुक्त छे इन्द्रियोंको साथ खींच ले जाता है । जब (नया) शरीर धारण करता है और

जब मरता है, इन इन्द्रियोंको वैसे ही साथ ले जाता है जैसे हवा गन्धके आश्रय (पुष्पादि) से गन्ध ले जाती है। श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, घ्राण और मन (इन्हीं छे इन्द्रियों) का अधिष्ठाता बनके विषयोंका सेवन करता है।७।८।९।

पाँचवें श्लोकमें ज्ञानके कुछ साधनोंका वर्णन कर दिया है। अगर कोई यह प्रश्न करे कि यह कब संभव है कि संसारमे लिपटा हुआ जीव ब्रह्मरूप हो जाय, तो उसीका उत्तर सातवेंमें यह दिया है कि वह तो ब्रह्मका ही रूप है। अंश कहनेका तात्पर्य हिस्सा या भागसे नहीं है। क्योंकि निरवयव और निर्विकार ब्रह्मका भाग या चीड़-फाड़ कैसे हो सकती है? जैसे एक लोटा पानी घडेभर पानीका अंश होनेसे उसीका रूप है वैसे ही जीव भी ब्रह्मका रूप है, इतना ही तात्पर्य है। सौ आईने रखके एक ही चन्द्रमाके सौ प्रतिबिम्ब या सौ चन्द्रमा देख लीजिये। यही दशा जीवकी है। अन्तःकरण आईनेकी तरह है जिसमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब जीव बना है। बिम्बरूप चन्द्रमा, जो आकाशमें है, प्रतिबिम्बसे न तो भिन्न है और न जरा भी दोनोंके बीच फर्क है। ठीक इसी तरह प्रतिबिम्ब रूप जीव ब्रह्मसे जरा भी भिन्न नहीं। इस तरह जितने शरीर हों उतने जीव बन भी गये और वे ब्रह्मरूप भी रहे।

प्रश्न होता है कि यदि जीव ब्रह्मका स्वरूप ही है तो फिर उसका आवागमन या जीवन-मरण कैसा? ब्रह्म तो सभी जगह है। इसीलिये उसमें क्रिया असंभव है। साथ ही, वह सांसारिक विषयोंसे नाता कैसे रखता है? वह तो सर्वत्र एकरस है। फिर विषयोंको भोगने और सुख-दुःखमें पड़नेके मानी क्या है? इन्हीं बातोंके उत्तर सातवेंके उत्तरार्द्ध और शेष दो श्लोकोंमें दिये गये हैं। आईनेके चलानेसे उसमें रहनेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब इधर-उधर डोलता है। यहाँ मन, इन्द्रियादिको मिलाके जो सूक्ष्म शरीर होता है वही आईना है। उसमें रहनेवाले प्राण खूब चलते हैं। इन्द्रियाँ और मन भी क्रियाशील हैं। बस इन्हींके चलनेसे जीवका आवागमन माना जाता है। जब मनुष्य मरने लगता है तो जीव इसी सूक्ष्म शरीरके साथ स्थूल शरीरसे निकल जाता है। वही घूमता-घामता पति-पत्नीके वीर्य और रजमें प्रवेश करके नवीन शरीरके गर्भाशयमें और पीछे नवीन शरीरमें भी इसी सूक्ष्म शरीरके साथ प्रविष्ट होता है। इस पर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही कर्मवाद प्रकरणमें डाला जा चुका है। इसी प्रकार इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा ही विषयोंका भोग भी करता है। विषयोंमें तो जाती हैं इन्द्रियाँ ही। मगर यही उनका अधिष्ठाता है। इसीलिये इस पर ही जवाबदेही आती है। मालिक या अधिष्ठाता ही नौकरोंकी हार-जीत या कामोंका जवाबदेह होता है। उनके करते

सुख-दुःख और हानि-लाभका भी अनुभव करता है। यदि नाता तोड़ ले तो कुछ न हो। मगर शरीरसे जीवका नाता तो ज्ञानसे ही टूटता है न ?

मरणोत्तर प्रयाण करने और फिर नये शरीरमें आनेके दर्म्यान इन्द्रियाँ तो रहती हैं वही पुरानी। मगर उनमें वह शक्ति नहीं होती जो शरीरमें रहनेके समय पाई जाती है। उस समय इनसे विषयोंका भोग तो करना है नहीं। फलतः उनकी सूक्ष्म या बीज रूपी अवस्था ही उस समय रहती है, न कि ऐसी प्रकट और चलबलवाली। यही बात जाननेके लिये उन्हें "प्रकृतिस्थ"—"प्रकृतिमें रहनेवाली" कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय वे अपने सूक्ष्म या बीज रूपमें ही रहती हैं। यही कारण है कि आत्माका अधिष्ठातृत्व उस समय नहीं हो पाता है। जैसे इमलीमें नमक डालनेसे उसमें रहनेवाली खटाईका पता जबानसे नहीं चल पाता, वही बात उस समय इन्द्रियोंकी भी होती है। आत्माका सम्बन्ध रहते हुए भी वह उन्हें विषयोंमें प्रेरित कर नहीं सकती। इसीलिये उसकी अधिष्ठातृता मुर्दा या बेकारसी हो जाती है। मगर स्थूल शरीरमें आने पर वह बात चालू हो जाती है और स्थितिमें परिवर्त्तन हो जाता है। इसी परिवर्त्तनकी सूचना नवें श्लोकका 'अधिष्ठाय' पद देता है।

इस पर यदि कोई कह बैठे कि ऐसा मालूम तो किसीको होता नहीं; फिर यह बात मानी कैसे जाय ? तो इसीके उत्तरमें अगले दो श्लोक आये हैं और आगे उन्हींका विस्तार किया गया है। मोटी बात यह है कि यदि अन्धे सूर्यको नहीं देखते तो क्या वह गायब हो जायगा ? देखना तो आखिर आँखवालोंका ही काम है न ? यहाँ भी ज्ञान-दृष्टि और विवेक-शक्ति जिनके पास है वह जरूर देखते हैं। हाँ, जिनके पास यह चीज नहीं है वह नहीं देखते। मगर इसमें दोष उनका है, न कि वस्तु का। यदि ऐसे देखनेवाले कम हैं तो इससे क्या ? एक आँखवाला हजार और लाख अन्धोंके मुकाबिलेमें किसी चीजको ठीक बता सकता है। उसकी ही बात मानी भी जाती है। आखिर बीमारीका अस्तित्व केवल डाक्टरकी ही बातोंसे माना जाता है; न कि लाखों दूसरोंके न बतानेसे उसका इनकार हो जाता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

मरणोपरान्त प्रयाण करते हुए, नया शरीर धारण करके उसमें स्थित या इन्द्रियादिके साथ विषयोंको भोगते हुए भी इस आत्मतत्त्वको अज्ञानी नहीं देख

पाते; (किन्तु) ज्ञान दृष्टिवाले ही देखते हैं। (जिन्हें यह दृष्टि न भी प्राप्त हुई है ऐसे) योगी भी (समाधि आदिके रूपमें) यत्न करते हुए इस आत्माकी झाँकी अपने भीतर ही पा जाते हैं। (मगर) जिनके मन मलिन हैं ऐसे मूढ़ लोग हजार यत्न करके भी नहीं देख पाते है।१०।११।

अन्तिम श्लोकमें यह बता दिया है कि आत्मदर्शनके लिये कोई भी यत्न करनेके पूर्व मनपर काबू होना चाहिये और इन्द्रियों पर नियंत्रण। नहीं तो "मन न रंगायो तू रंगायो योगी कपड़ा" वाली बात होती है। इसीका जिक्र इसमें है।

यत्नके बारेमें अब प्रश्न होता है कि वह किस तरह किया जाय? समाधि-वाला यत्न तो सबके लिये सुलभ है नहीं और उसके लिये भी तो पहले तैयारी चाहिये। तो आखिर वह है कौनसी? और जो लोग ऐसे नहीं हैं वह भी कैसे इस आत्माको देख पायेंगे? आत्माको भी तो आखिरमें परमात्माके रूपमें ही देखना है न? सो कैसे होगा? परमात्माको आत्माका रूप कैसे जानेंगे?

इन्हीं बातोंको समझानेके लिये आगेके चार (१२-१५) श्लोक है। इनमें ऊपरसे ही शुरू करके धीरे-धीरे शरीर और अन्तःकरणके भीतर घुसने तथा आत्म-वस्तुके देखनेकी रीति कही गई है। परमात्मा तो अत्यन्त देदीप्यमान एवं सूर्य, चन्द्र आदिको भी प्रकाश देनेवाला पहले ही कहा गया है[१] इसलिये वहीं से शुरू करके पृथ्वीमें आते है। वहाँसे जठरानलमें जाके शरीरमें घुसते है और अन्तमें हृदयमें प्रवेश करके उस आत्माको देखते है। योगी लोग भी यही रीति अपनाते है। योगसूत्रोंमें धारणाके प्रसंगसे ये बातें आई हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सूर्यमें रहनेवाला जो तेज समस्त संसारको आलोकित करता है, जो (तेज) चन्द्रमामें और जो अग्निमें है, वह (सभी) तेज मेरा ही जानो। पृथ्वीमें प्रवेश करके अपने बलसे मैं ही पदार्थोंको धारण कर रखता हूँ। (नहीं तो पृथ्वी धँस जाती, टूट जाती और पहाड़ वगैरहका भारी बोझ बर्दाश्त कर न पाती।) रस-

मय चन्द्रमा बनके सभी अन्नादि औषधियोंको पुष्ट करता हूँ। मैं ही जठरानल होके प्राणधारियोंके शरीरमें रहता और प्राण तथा अपान (की धौंकनी) से प्रदीप्त होके चार प्रकारके खाद्य पदार्थोंको पचाता हूँ। मैं ही सबोंके हृदयोंमें प्रविष्ट हूँ। मुझीसे (लोगोंको पदार्थोंके) स्मरण और ज्ञान होते हैं, विस्मृति और भूल होती हैं। मैं ही सभी वेदोंके द्वारा जाना जाता हूँ। वेदान्तका बनानेवाला एवं वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ।१२।१३।१४।१५।

यहाँ जो चार प्रकारके अन्न कहे गये हैं उन्हें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य कहते है। जिनके खानेमें दाँतोंसे काम लिया जाय ऐसी पूड़ी, पूआ, रोटी, चबेनी वगैरह भक्ष्य हैं। जिनमें दाँतोंसे काम लेनेकी जरूरत न हो ऐसे दूध, दही, हलवा आदि भोज्य हैं। जबानसे ही जो चाटे जायँ वही कढ़ी, चटनी आदि लेह्य हैं। जिन्हें चूसा जाय ऐसे आम, ऊख आदि चोष्य हैं। "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते"। (बृहदा० ५।९।१) आदि वचनोंमें जठरानलको वैश्वानर कहा है। इसी प्रकार, 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६) "स दाधार पृथिवीम्" (यजु० २५।१०) में पृथ्वीका धारण करनेवाला परमात्मा ही कहा गया है। उसीसे यहाँ तात्पर्य है। इस अध्यायमें शशांक और सोमको दो कामोंके लिये उल्लिखित देखके एकाएक खयाल हो जाता है कि सोम और शशांक (चन्द्रमा) दो पदार्थ तो नहीं हैं? दोनोंमें कुछ अन्तर तो नही हैं?

आगेके तीन (१६-१८) श्लोक जीवात्मा और परमात्मामें कितना फर्क है यही बात बताके उसी अन्तरको दूर करनेके लिये अर्थतः ज्ञानकी आवश्यकता सुझाते है। क्योंकि यदि आत्माको ब्रह्मका रूप ही मान लें तो फिर सारे यत्न ही बेकार हो जायँगे। कोई भी क्यों आत्मज्ञानार्थ ध्यान, समाधि या श्रवण, मनन आदि करेगा? ऐसी दशामें गीतोपदेशकी भी व्यर्थता हो जायगी।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

दुनियामें दो पुरुष हैं, क्षर या विनाशी तथा अक्षर या अविनाशी। सभी जड़ पदार्थ यानी प्रकृति क्षर है और निर्विकार आत्मा अक्षर। (इन दोनोंसे ही) उत्तम पुरुष तो तीसरा है जो परमात्मा कहा जाता है और जो अविनाशी,

शासनकर्त्ता (एवं) सारी दुनियाके भीतर प्रवेश करके उसे कायम रखता है। क्योंकि मैं तो क्षरसे निराला हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। इसीलिये वेदमें और लोकमे भी पुरुषोत्तम विख्यात हूँ।१६।१७।१८।

यहाँ संसारमें रहनेवाले पदार्थोंसे ही शुरू करके देखा कि प्रकृति तो पूर्ण या सर्वत्र मौजूद है, व्यापक है, इसीलिये उसे पुरुष कहा। पुरुषका अर्थ ही है पूर्ण या व्यापक। इंच भर भी जगह प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थोंसे शून्य नहीं है। यह ठीक है कि ये पदार्थ विनाशी है। फिर आगे बढ़े और सोचा कि जब ये पदार्थ विनाशी है तो इनके मूलमें कोई होना ही चाहिये। इस प्रकार आत्माका पता लगाया। अब यदि उसे भी विनाशी मानें तो उसका मानना ही बेकार होगा। क्योंकि उसका भी मूल कारण ढूँढना होगा और उसे ही आत्मा मानेंगे। इस पर ज्यादा तर्क पहले ही लिख चुके है। इस प्रकार किसी न किसीको अविनाशी तो मानना ही होगा जिससे सभी पदार्थ बने। इसीलिये उसे कूटस्थ या निर्विकार कहा। क्योंकि कोई पदार्थ बिना विकार या खराबीके नाश हो नहीं सकता। साथ ही, वह भी पुरुष होगा, पूर्ण या व्यापक होगा। नहीं तो फिर विनाशी पदार्थ रूप पुरुषको वह बनायेगा कैसे? फलतः उसे पुरुषका भी पुरुष होना चाहिये। मगर ऐसा तो कुछ होता नहीं। इसलिये उसे भी पुरुष ही कह दिया।

किन्तु उसका संसर्ग तो विनाशी से ही है, क्षरसे ही है न? इन्हींके बीच वह रहता जो है, सुखी-दुःखी होता जो है। कलालीके पास खड़ा रहनेवालेकी ही तरह कमसे कम वह बदनाम होता ही है। परमात्मामें यही बात नहीं है। इसीलिये वह अक्षर पुरुषसे उत्तम जरूर है। है तो वह इसीकी जाति-बिरादरीका। मगर उत्तम है। क्षरके साथ तो उसका कोई मुकाबिला हुई नहीं है। वह तो इससे विपरीत है—लाख कोस दूर है। इसलिये कह दिया कि यह क्षरसे तो निराला हुई, अलग हुई, जुदा हुई, भिन्न हुई—"यस्मात्क्षरमतीतः"। किन्तु अक्षरसे भी उत्तम है। इसीलिये पुरुषोत्तम कहा जाता है। जीवको, अक्षर पुरुषको भी यही बनना है। एतदर्थ उसकी मैल धोना जरूरी है, उसमें साबुन लगाना जरूरी है। मैल है क्षर या प्रकृतिका संसर्ग और साबुन लगाना है आत्म-ज्ञान। यही है हमारे सभी प्रयत्नोंका और मानवजीवनका चरम लक्ष्य। पुरुषोत्तम हो जाना ही सब कुछ है। यही बात नीचेके दो श्लोकोंमें कहके अध्याय पूरा कर दिया है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे भारत, पूर्ण विवेकी मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार जान जाता है वही सब पदार्थोंका जानकार है और मुझे सम्पूर्ण जगत्के रूपमें ही भजता है। हे अनघ, मैंने यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र बताया है। हे भारत, इसे ही जानने पर बुद्धिमान हो सकते हैं और कृतकृत्य भी ।१९।२०।

इन श्लोकोंमें और इनसे पहले भी जो आत्माके ही लिये 'अहम्', 'माम्' आदि बारबार आये हैं वे सचमुच ही अमूल्य है। ये शब्द आत्माको किस सुन्दर रूपमें खड़ा करते और उसे सम्पूर्ण संसारका रूप बना देते है, ब्रह्म रूप बना देते हैं, वासुदेव बना देते हैं! इन्हें बलात् तोड़-मरोड़के साकार ईश्वर या कृष्णके मानीमें घसीटना कितनी बड़ी निर्दयता है! इसीकी पुष्टिमें कह दिया है कि इस आत्माको जाननेवाला सब कुछ जान जाता है। उसकी दृष्टिसे कोई भी क्षर अक्षर बच पाता नहीं। इसीलिये अपनेको आपको सभो पदार्थोंका रूप देखता है, मानता है, बना डालता है, खुद सबोंकी आत्मा बन जाता है। यही है उसका सर्वभावेन भजन। उफ, कितना ऊँचा खयाल है, कितना ऊँचा आदेश है! एक पत्थर भी तोड़िये तो वह ज्ञानी अपनेको ही टूटता देखता है! और चिहुँक उठता है! सहसा आह भर लेता है! उससे बढ़के जन-सेवक, संसार-सेवक और कौन है? सचमुच ही उससे बढ़के "सर्वभूतात्मभूतात्मा" तथा "सर्वभूतहितेरत" कौन हो सकता है? इसीलिये उसे पुरुषोत्तम कहा है। व्यष्टि और समष्टिकी या पिंड और ब्रह्माडकी एकता जो हो गई! उससे उत्तम और ऊँचा कोई भी, कुछ भी हुई नहीं! यही कारण है कि उसे अब कुछ भी करना-धरना रह नही जाता! उसने सबकुछ कर धर लिया! वह कृतकृत्य हो गया! अब अगर कुछ भी करता है तो इसीलिये कि उसका स्वभाव ही वैसा हो गया, न कि उस करने-धरनेमें कुछ प्रयोजन देखता है। इस अध्यायका विषय यदि यही पुरुषोत्तम है तो उचित ही है। सारे अध्यायका पर्यवसान हो उसीमें है।

इति० पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय यही है।

सोलहवाँ अध्याय

जिस ज्ञानके बाद कृतकृत्यता हो जाती है और मस्ती आ जाती है, जिस दृष्टिके चलते जर्रे-जर्रे और परमाणु-परमाणुमे 'अहम्' नजर आता है, आत्मा ही दीखती है, वह कैसे प्राप्त हो यह बात अन्तिम बार अच्छी तरह बता दी जाय तो बेड़ापार हो। यद्यपि पहले भी इसके उपाय बताये गये हैं; अभी-अभी पन्द्रवें अध्यायमें ही यही यत्न सुझाया गया है; तथापि उतना ही कहना काफी नहीं है। उसमें अभी कसर है, कुछ और भी कहना रह जाता है जिसे पूरा करना जरूरी है। वह कमी खाँसी है, महत्त्वपूर्ण है, न कि ऐसी ह्रीं तैसी। उसे पूरा न कर देनेमें खतरा है, भारी खतरा है, यह बात कृष्ण स्वयमेव समझते थे। यही कारण है कि उनने बिना कहे-सुने, बिना पूछे ही उसे पूरा कर दिया और इसमे पूरे दो—१६-१७—अध्याय लगा दिये! यह कोई मामूली बात नहीं है, यह मानना ही होगा।

बात असल यह है कि ज्ञानकी प्राप्तिके साधनोंको बता देनेपर भी दो चीजें रह गई हैं। एक तो यह कि इन साधनों पर चलनेमें खतरे क्या है, उन्हें अच्छी तरहसे बता देना! दूसरे यह कि जो भी साधन कहे गये हैं उनमें बुनियादी और मौलिक चीज क्या है जिसके बिना बाकी बेकार हो जाते हैं। साधनोंके इन दोनों पहलुओंको, या यों कहिये कि इन दो स्पष्ट पहलुओंके साथ-साथ उन साधनोंको अन्तमें याद कर करा लेना जरूरी था। पहली बात निषेधात्मक (negative) है और दूसरी विधानात्मक (positive)। इस दृष्टिसे भी इन्हें जान लेना जरूरी था। निषेधात्मक पहलूमें सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह न सिर्फ ज्ञानप्राप्तिके ही लिये जरूरी है, किन्तु उसके बाद भी आत्मज्ञानी पुरुषके व्यवहारमें वह कसौटीका काम करता है और इस प्रकार समाज-हित-साधनमें काम आता है। उसी प्रकार विधानात्मक पहलू भी ऐसा पारस है कि हजारों लोहेको सोना बना देता है। उसके हासिल हो जानेसे मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी हजारों विधिनिषेधवाली दिक्कतें हट जाती हैं और क्या करें, क्या न करें, इस तरहके उठनेवाले रोजके पचड़ोंसे पिंड छूट जाता है। इस उधेड़बुनकी जरूरत रही नहीं जाती है। इस दृष्टिसे यह भी व्यावहारिक जीवनकी कसौटी ही है। मगर दोनोंकी उपयोगिता-का रूप दो होनेसे दोनोंकी महत्ता भी दो है। जिस प्रकार ये खुद निषेधात्मक और विधानात्मक हैं, उसी प्रकार इनकी उपयोगिता भी है। इस प्रकार इन दो

अध्यायोंका गीताधर्मकी दृष्टिसे बहुत अधिक महत्व है। यह बात हम पहले ही बखूबी समझा चुके हैं।

इन दो बातोंमें भी निषेधात्मक पहलू अपेक्षाकृत सरल है। किसी चीजसे बचना उतना कठिन नहीं है जितना किसी बातका सम्पादन करना। यह बात भी है कि निषेधात्मक पहलू कूड़ा करकट हटाके सफ़ाई कर देता है। उसके बाद विधानात्मक वस्तुके लाने या कायम रखनेमें गन्दगियोंका खतरा नहीं रहनेसे आसानी हो जाती है। जब तक प्यालेको धोधाके निर्मल न बनायें उसमें दूध रखा कैसे जायगा? और उस रखनेके मानी क्या होंगे? वह गन्दा और ज़हरीला न बन जायगा? यही कारण है कि सोलहवें अध्यायमें निषेधात्मक पहलूका ही विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इसके पूरा हो जानेपर ही सत्रहवेंमें विधानात्मक पहलूकी बातें विस्तारके साथ लिखी गई हैं। इस तरह गीतोपदेशकी प्रगति स्वाभाविक ढंगसे हो सकी है। इसकी इस अपूर्व लोकप्रियताका यह भी एक कारण है।

इस दृष्टिसे यदि हम सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें कही गई दैवी सम्पत्तियों पर गौर करें, तो देखेंगे कि जो बातें यहाँ कही गई है वह अधिकांश या रूपान्तरमें सबकी सब वही है जिनका उल्लेख "अमानित्वमदंभित्व" (१३।७-११) आदि श्लोकोंमें हुआ है। संख्या बढ़ जाने पर खामखा कुछ नई चीजें भी नजर आयेंगी ही। जहाँ पहले कुल इक्कीस ही बातें कही थीं तहाँ अब पूरी सत्ताईस आ गई! एक तो इसीसे अन्तर हो गया। दूसरे, गीताका काम हूबहू दुहराना या 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' तो करना है नहीं। इसका तो काम है प्रकारान्तरसे उन्हीं बातों-को इस तरह कहना कि सुननेवालेको ऊब न हो सके और बातें दिलमें बखूबी बैठ भी जायें। आखिर कठिन तो हई। इसीलिये दिलमें उनका जमना आसान नहीं है। जरूरत भी उन पर प्रकारान्तरसे जोर देनेकी इसीलिये पड़ती है।

इसे यों समझें। पतंजलिने योगसूत्रोंमें जिन यमों और नियमोंको गिनाया है वह योगके लिये नींव है दीवार हैं। उनके बिना योगका महल खड़ा होई नहीं सकता। इसीलिये योगके आठ अंगोंमें पहले दो यही यम-नियम ही हैं। हम पहले ही उस सूत्रको लिख भी चुके है। यह योग है भी क्या यदि गीताकी वह समाधि या ध्यान नहीं है जो ज्ञानकी पूर्णताके लिये अनिवार्य माना गया है और जिसका ब्योरेके साथ गीताने वर्णन किया है? इसीलिये यम-नियम ही ज्ञान-प्राप्तिके मूल साधन हैं। दोनों ही पाँच-पाँच प्रकारके माने जाते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय—चोरी न करना—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह या पदार्थों और लवाजिमका न जमा करना यही पाँच यम हैं, "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (२।३०)।

इसी प्रकार शौच—शुचिता या पवित्रता—सन्तोष, तप, स्वाध्याय—सद्ग्रंथोंका अभ्यास और ईश्वर-भक्ति यहीं नियम हैं, "शौच सन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (२।३२)। इनका जो कुछ विवरण भाष्य, टीकाओंमें तथा स्मृतियोंमें दिया गया है उसे पढ़के इन्हींके आईनेमें अगर पहलेवाले २१ और यहाँके २७को देखें तो साफ पता चलेगा कि वे यही दस हैं, वे नामान्तरसे इन्हींका स्पष्टीकरण मात्र हैं।

इस सिलसिलेमें एक बात और भी ध्यान देनेकी है। पुराने लोगोंने प्रायः कहा है कि इन यम-नियमोंमें भी यमोंको तो कभी छोड़ नहीं सकते। उन्हें तो सदा करना ही होगा। हाँ, नियमोंको ज्ञानके बाद छोड़ सकते हैं, छोड़ दें, "यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परस्त्यजेत्" (भागवत ११।१०।५)। पतंजलिने भी यमोंके बारेमें लिखा है कि इनके पालनके लिये किसी खास देश, विशेष जाति, वंश, कुल, निश्चित समय या कारण जरूरी नहीं है कि उन सबोंके पूरा न होने या न रहनेपर ये यम छोड़ दिये जायँ। ये तो महाव्रत हैं और इन्हें हर हालतमें सब देश-कालमें सभी आदमियोंको करते ही रहना होगा, "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" (२।३१)। असलमें इन यमोंका दूसरोंसे, समाजसे सम्बन्ध होता है। यह बात नहीं है कि इन्हें जो पालन करे, जो इनपर अमल करे उसीका ताल्लुक और हिताहित इनसे होता है। यही कारण है कि इन्हें समाज-हित-साधनके खयालसे ही, या यों कहिये कि समाजकी बुनियाद समझके ही निरन्तर करना जरूरी हो जाता है। इसी दृष्टिसे इनका महत्त्व ज्यादा है। महाव्रत भी इन्हें कहनेका यही अभिप्राय है।

विपरीत इसके नियमोंको व्रत ही माना है। उनके देखनेसे ही साफ मालूम हो जाता है कि उनका ताल्लुक केवल उसी व्यक्तिसे है जो उनपर अमल करे। इसीलिये अपनी जरूरत न रहनेपर उन्हें वह छोड भी दे सकता है, छोड़ भी देता है। सोलहवें अध्यायमें जो कुछ कहा गया है वह इन्हीं यमोंके इसी पहलूपर पूर्ण प्रकाश डाल देता है।

बेशक, शुरूके श्लोकोंमें विधानात्मक बातें गिनाई गई हैं। इस तरह पूरे तीन श्लोकोंको उनने ही ले लिया है। विपरीत इसके एक ही—चौथे—श्लोकमें निषेधात्मक बात कही गई है। मगर जब हम गौर करें तो पता लगेगा कि दैवी सम्पत्तिके रूपमें जो बातें कही गई हैं वह आसुरी संपत्तिके मुकाबिलेके ही लिये; ताकि इनका महत्त्व झलक जाये और लोग मुस्तैदीसे इन्हें सम्पादन करें। यही वजह है कि जहाँ तेरहवें अध्यायमें एक भी आसुरी बातको न कहके साफ ही कह दिया था कि दैवी संपत्तियों एवं ज्ञानके साधनोंसे उल्टी जितनी हैं वह

सभी आसुरी संपत्ति तथा अज्ञानके साधन हैं और इस तरह कमसे कम इक्कीस तो आ गई हैं, वहाँ यहाँ चौथे श्लोकमें सिर्फ छेका ही नाम लेके काम खत्म किया है। इससे यह मतलब तो हर्गिज नहीं निकलता कि बाकियोंको छोड़ ही दिया है। यह भला कैसे होगा? फलतः इसका यही अभिप्राय है कि नमूनेके रूपमें छेको गिनाके इसीलिये छोड़ दिया है कि आगेके कुल पूरे १६ (७-२२) श्लोकोंमें इन्हींका विवरण मौजूद है, इसका नंगा चित्र खींच दिया गया है। बल्कि छठे श्लोकको भी उन्हींमें गिन सकते हैं। क्योंजि भूमिकाके ही रूपमें वह आया है। उसमें कहा गया है कि जरा गौरसे सुनिये कि बात क्या है। इसीलिये छेके मानी है कमसे कम सत्ताईस दैवी सम्पत्तियोंके विपरीत सत्ताईस आसुरी तो जरूर ही। अगर कुछ और भी आ जायें तो ठीक ही है। बीचमें जो पाँचवाँ श्लोक है वही इस अध्यायके मुख्य विषयकी ओर ध्यान दिलाता है। वह बताता है कि यही इसकी असल बात है। उसमें अर्जुनको आश्वासन देनेकी बात तो यों ही प्रासंगिक है; ताकि उसकी घबराहट जाती रहे।

तीन गुणोंका पहले वर्णन आता रहा है। उनमे सत्त्वगुणके सम्पादन पर "नित्यसत्त्वस्थः" (२।४५)में जोर दिया गया है। उसी गुणके फलस्वरूप कुछ विशेषताएँ शरीरमें नजर आती हैं। शरीर और इन्द्रियाँ हलकी होती हैं, भारी नहीं रहती है, आलस्य नहीं रहता है और प्रकाश प्रतीत होता है। यह बात चौदहवें (१४।११) में कही गई है। ऐसी ही दशामे जितनी भी सात्त्विक बातें मनुष्यमें पाई जाती है उन्हींको दैवी सम्पत्ति कहा है। विपरीत इसके रजोगुण एवं तमोगुणकी वृद्धिकी दशामें जो बाते चौदहवें (१४।१२-१३) मे पाई जाती है तथा उन्हींके फलस्वरूप उनका जितना भी परिवार हो वही आसुरी सम्पत्ति है। इसमे भी तामसी बातोंपर ही ज्यादा जोर है। इस दलमे उन्हींकी प्रधानता है। लेकिन जब राजसी बातें दैवी संपत्तिमे आ सकती है नही, तो उन्हे आसुरीमे ही जाना होगा।

अभिजात शब्दमें जो 'अभि' आया है उसके चलते ऐसा अर्थ हो जाता है कि जो दैवी या आसुरी सम्पत्तियोंमे लिपटा और सना हुआ हो, जिसके चारों तरफ वही पाई जायें।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।३।।

श्रीभगवान बोले—हे भारत, निर्भयता, अन्तःकरणकी निर्मलता, ज्ञान एव योगमें जम जाना, दान, इन्द्रियोंपर नियंत्रण, यज्ञ, सद्ग्रंथ-पाठ, तप, नम्रता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका त्याग, पदार्थोंका त्याग, शांति, दूसरेका ऐब न देखना, पदार्थों पर दया, विषयोंकी ओर ज्यादा झुकाव न होना, कोमलता, लज्जा, चपलताका न होना, हिम्मत, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरोंको सतानेका खयाल न होना, मगरूरीका न होना—(यही चीजें) दैवी सम्पत्तिवालोंमें पाई जाती हैं ।१।२।३।

सत्त्वकी शुद्धिका अर्थ है मन और बुद्धिकी निर्मलता । वह तभी होती है जब सत्त्वगुण खूब वृद्धि पर होता है और रज, तमको अच्छी तरह दबाये रहता है । इसीलिये सत्त्व शब्दका प्रायः प्रयोग अन्तःकरणके मानीमें होता है । क्योंकि वह तो सत्त्व-प्रधान होता ही है । संशुद्धिमें सत्त्वकी वह प्रधानता और भी काफी बढ़ जाती और जम जाती है ।

ज्ञान एवं योग दो चीजें हैं । ज्ञानका अर्थ है पढ़-लिख या सुनके जानकारी । योगका अर्थ है उसी पर अमल ।

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

हे पार्थ, दिखावटी बात, फूलके कुप्पा हो जाना, घमंड, क्रोध, कटुवचन और अज्ञान—(यही) आसुरी संपत्तिवालोंमें पाये जाते हैं ।४।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ।।५।।

दैवी संपत्ति जन्म-मरणसे छुटकारा दिलाती है और आसुरी बन्धनमें डालती है ऐसा माना जाता है । हे पांडव, चिन्ता मत करो, तुम दैवी संपत्तिवाले ही हो ।५।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

हे पार्थ, पदार्थोंकी (और इसीलिये प्राणियोंकी भी) सृष्टि दोई प्रकारकी

है—देव और असुर । इनमें दैवी प्रकृतिवालोंको तो विस्तारसे कही चुके हैं । (अब) असुरोको भी मुझसे सुन लो ।६।

"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" (बृहदा० १।३।१) के अनुसार सृष्टिके दोई विभाग माने गये है । इनमें दैव या दैवी प्रकृतिवालोंका तो स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत तथा अन्य अनेक रूपोंमे पहले वर्णन आया ही है । सो भी बार-बार । इनके विस्तृत वर्णनके कहनेका आशय यही है कि असुरों या आसुरी स्वभाववालोंका यदि वर्णन कही पहले आया भी है तो संक्षेपमे ही । दृष्टान्तके लिये "अवजानन्ति मा मूढा" (९।११-१२)मे । इसी प्रकार "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य" (३।६) तथा "भुंजते ते त्वघं पापा" (३।१३)मे भी जरासा वर्णन है । तेरहवे अध्यायमे असुरोंका तो नही, मगर उनकी प्रकृतिका जरासा "अज्ञानं वदनोऽन्यथा" (१३।११)मे उल्लेख है । इसी तरहके उल्लेख जरामरा आते गये है सही । मगर विस्तृत वर्णन कही न हो सका है । इसीलिये यहाँ एक ही बार पूरेका पूरा दे दिया गया है । हमने इसपर सभी पहलुओसे विचार करके पहले ही काफी प्रकाश डाला है ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।८।

असुर लोग कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य जानते ही नही ! उनमें पवित्रता, आचरण—जैसा कहना वैसा करना और सत्यका तो पता ही नही होता । सत्पदार्थ या ब्रह्मसे ही यह जगत बना है, उसीमे कायम है और अन्तमे उसीमे जा मिलता है, ऐसा न मानके वह जगत्को बिना ईश्वरके ही मानते है (और कहते है कि) कामवासनाके वशीभूत स्त्री-पुरुष या नर-मादाके सम्बन्धसे पैदा होनेके अलावे इसमे और हुई क्या ? ।७-८।

बहुत लोगोने इस आठवे श्लोकके अर्थमे अपने संस्कृतके व्याकरणज्ञानका अजीर्ण मिटाया है । उनने कहा है कि अपर तथा पर शब्दोंका समास होनेपर अपरपर होगा न कि अपरस्पर, हालाँकि "अपरस्पराः क्रियासातत्ये" (पा० ६। १।१४४)के अनुसार ही अपरस्पर बनता है । यहाँ क्रियासातत्य या कामका जारी रहना तो हुई । सारा संसार ही निरन्तर पदार्थोंके संमिश्रणसे ही बनता है । इसमे जरा भी विराम नही है । असुर लोग यदि यह भी कहने लगें कि दो पदार्थोंके सयोगसे कुछ भी नही बना है, जब कि हमेशा संयोगसे ही असंख्य पदार्थ

और जीव-जन्तु पैदा हो रहे हैं, तो यह कितनी नादानी होगी ? "कामहैतुकम्" का भी मेल यहाँ बिना परस्पर संयोगके होई नहीं सकता। कामका अर्थ है प्रेरणा या इच्छा, चेतन प्राणधारियोंकी ही तरह जड़ोंमें भी प्रेरणा होती ही है और पदार्थोंका परस्पर संमिश्रण होके नया पदार्थ तैयार हो जाता है। यहाँतक कि परमाणुवादी दार्शनिकोंने सृष्टिके आरंभमें परमाणुओंमें ही परस्पर प्रेरणा मानके उनमें संयोग माना है। यह कहना भी कि 'असत्यम्' आदि पूर्वके तीन शब्दोंकी ही तरह नहींके ही अर्थमें अपरस्पर शब्दमें पहलेका अकार है, ठीक नहीं है। उत्तरार्द्धमें यह बात नहीं है, किन्तु पूर्वार्द्धमें ही। उत्तरार्द्धमें तो 'कामहैतुकम्' आदि कई शब्द है। मगर किसीके साथ ऐसा अकार जुटा नहीं है। तब उन्हींके साथी अपरस्परमें ही क्यों माना जाय ? और निकटके साथियोंको छोड़ दूरवर्त्तियोंसे उसकी मिलान भी क्यों की जाय ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

जिनकी आत्मा पतित हो चुकी है ऐसे नासमझ लोग इसी विचारको लेके जगत्के अहित बन जाते और उसके सत्यानाशके लिये (घोरसे) घोर कर्मतक कर डालते हैं।९।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कभी पूरी न हो सकनेवाली आकांक्षायें लिये, दिखावटी बात, घमंड तथा नशेमें चूर और नापाक कामोंमें ही लगे (ये लोग) भूलसे गलत बातोंके हठमें आके कार्म करते रहते हैं।१०।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

मरणतक कायम रहनेवाली बेहिसाब फिक्रमें डूबे हुए, 'खाओ-पीओ, मौज करो' यही जिनका सब कुछ निश्चय है, सैकड़ों आशाओंके फन्देमें फँसे हुए तथा विषयोंके भोगमें ही लिपटे हुए (ऐसे लोग) अन्यायसे ही धन-संचयका यत्न करते रहते हैं।११।१२।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

यह चीज तो आज मैंने हासिल कर ली, यह (दूसरी) भी पा लूँगा ही, इतना धन तो मेरे पास हई (और) यह और भी मिली जायगा, अमुक शत्रु तो मैंने खत्म करी दिया, दूसरोंको भी मार डालूँगा, मैं सबका मालिक हूँ, मैं ही भोग करनेवाला हूँ। सब तरहसे संपन्न, बलवान और सुखी भी मै ही हूँ। धनी हूँ, कुलीन हूँ। मेरे समान और कौन है ? यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा। इसी तरहकी भूल-भुलैयांमे (वे लोग) पडे रहते है। (इस तरह) अनेक (वाहियात) खयालोंमे ही भूले, मोहके जालसे अच्छी तरह घिरे और विषयभोगमे डूबे (ऐसे लोग) गन्दे नरकोंमे जा डूबते है ।१३।१४।१५।१६।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

खुद अपनी तारीफके पुल बांधनेवाले, उजड्ड तथा धनके अभिमानके नशेमें चूर वे लोग दिखानेके लिये नाममात्रके यज्ञ भी कर डालते है ।१७।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च सश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अहंकार, बल, मनमानी घरजानी, काम तथा क्रोधके वशीभूत, अपने एवं दूसरे शरीरोमें आत्माके रूपमें रहनेवाले मुझसे बुरी तरह जलनेवाले और हर चीजके निन्दक (ही ये होते हैं)। इस तरह जलने या द्वेष करनेवाले, उन निर्दय एवं नापाक नराधमोंको मैं इस संसारकी आसुरी योनियोंमें ही निरन्तर डाला करता हूँ ।१८।१९।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय, (ये) मूढ़ लोग लगातार (अनेक) जन्मोंमें आसुरी या गन्दी और

पतित योनियोंमें ही जन्म लेनेके कारण मुझ (आत्मा-परमात्मा)को तो जान पाते ही नहीं। फलतः उनकी और भी अधम गति होती है।२०।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

आत्माको चौपट करनेवाले नर्कके यही तीन द्वार हैं—काम, क्रोध, लोभ। इसलिये इन तीनोंसे पिंड (जरूर) छुड़ा लें। हे कौन्तेय, नर्क रूपी अन्धकारके इन तीन द्वारोंसे जिसका पल्ला छूटा है वही अपने कल्याणका काम कर सकता है और फलस्वरूप परमगति प्राप्त करता है।२१।२२।

पहले भी "कामात्क्रोधोऽभिजायते" (२।६२) "कामएष" (३।३७-४३)में काम और क्रोधका इसी सिलसिलेमें पूरा वर्णन आ चुका है। वहाँ दोनोंको एक ही कहा है। यहाँ भी वही बात है। केवल दोनोंके साथ तीसरा—लोभ—जुट गया है। मगर यह भी दोनोंसे जुदा नहीं है। सच पूछिये तो कामके क्रोध रूपमें परिणत हो जानेके लिये बीचमें ही यह लोभ आता है और दोनोंको जोड़नेवाली सीढ़ीका काम करता है। काम या इच्छाकी तीव्रता ही तो लोभ है, जिसके चलते पदार्थको अपने पाससे जुदा न होने देने और न मिले हुएको चाहे जैसे हो प्राप्त कर लेनेका खयाल भी आ जटता है। फिर तो जरा भी बाधा या देर होनेसे वही काम जलन क्रोधका रूप खामखा बन जाता है। हमने इन बातोंका बहुत कुछ विवेचन पहले किया है।

अबतक जो कुछ निरूपण किया गया है उससे पूरा पता चल गया है कि ज्ञानमार्गमें और समाजके संचालनमें असली खतरे कौन-कौनसे हैं। उनका नग्न रूप पिछले सोलह श्लोकोंमें आ गया है, जिससे किसी भी सहृदय पुरुषका हृदय एकाएक सिहर जा सकता है। फलतः वह इनसे पूरी तौरसे सजग हो सकता है। मगर यह निरूपण एक प्रकारका जंगलसा हो गया है। इसलिये जनसाधारण उसमें आसानीसे भटक जा सकते हैं। इसीलिये और आसानी तथा सरलताके भी लिहाजसे, जैसे सृष्टिके पँवारे और विस्तारको अन्तमें तीन गुणोंके रूपमें ही बता दिया गया है वैसे ही, इन सारी जंगल जैसी विस्तृत बातोंका भी काम, क्रोध, लोभ इन तीनके ही रूपमें यहाँ निचोड़ दे दिया है। अब इन्हें आसानीसे समझा और पकड़ा जा सकता है। ये सबोंकी समझमें आते भी हैं। इसीलिये सबोंसे बचनेकी अपेक्षा इन्हीं तीनसे बचनेकी बात आसानीसे कहके काम भी पूरा कर

दिया है। इससे साफ है कि जब सबोंकी जड़में यही हैं, जैसा कि "ध्यायतो विषयान्" (२।६२)मे साफ बता दिया है, तो फिर सबोंसे ही क्यों न बचेंगे ?

अब प्रश्न होता है कि इनसे बचें कैसे ? पिंड कैसे छुड़ायें ? आखिर कोई प्रणाली या तरीका तो चाहिये ही। योंही तो कुछ होगा नहीं। इसीका उत्तर यों है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

जो शास्त्रीय प्रणालीको छोड़के अपने मनसे चलेगा उसका न तो कार्य ही सिद्ध होगा, न उसे आराम ही मिलेगा और न परमगति ही। इसीलिये तुम्हें उचित है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी पक्की व्यवस्था करनेमें शास्त्रको ही प्रमाण मानो। शास्त्रविधानको जानकर ही तुम्हें इस दुनियामें सब कुछ करना होगा।२३।२४।

इसपर पूरा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

इति० देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका दैवासुर-संपत्ति-विभाग-योग नामक सोलहवां अध्याय यही है।



सत्रहवाँ अध्याय

गीतामें श्रद्धाकी बात पहले बहुत बार आ चुकी है। किसी भी कामकी सफलताके लिये उसे बुनियादी तौरपर जरूरी माना गया है। "श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः" (३।३१), "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं" (४।३९), "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च" (४।४०), "अयतिः श्रद्धयोपेतः" (६।३७), "श्रद्धा वान्भजते" (६।४७), "श्रद्धयार्चितुमिच्छति", "श्रद्धां तामेव", "स तया श्रद्धया युक्तः" (७।२१-२२), "अश्रद्दधानाः पुरुषाः" (९।३) तथा "येप्यन्यदेवताभक्ता" (९।२३) आदिमें सभी प्रकारकी सफलताके लिये यह श्रद्धा आवश्यक मानी गई है। हमने जगह-जगह यह बात स्पष्ट भी कर दी है। फिर भी दार्शनिक ढंगसे उसका विवेचन और विश्लेषण अभीतक नहीं हो पाया है और है यह निहायत जरूरी बात। ऐसी मौलिक बात योंही एक श्रद्धा शब्दसे या इसीके सूचक किसी और शब्दसे ही कह दी जाय, यह तो अत्यन्त नाकाफी है। इस बातका तो पूरा विवरण होना चाहिये। इसकी सारी भीतरी बातें खुल जानी चाहिये। जैसे सोलहवें अध्यायमें यम-नियमोंका हीर निकालके रख दिया गया है और उस सम्बन्धकी सारी बातोंका नग्न चित्र खींचा गया है, उससे कम जरूरत इस बातकी नहीं है। प्रत्युत सोलहवेंमें तो अन्ततोगत्वा निषेधात्मक बात ही कही गई है न? परन्तु यह है विधानात्मक। इसीलिये इसकी कठिनता तथा उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। ऐसी दशामें इसका विश्लेषण और भी ज्यादा होना चाहिये और यही बात सत्रहवें अध्यायमें की गई है। गीताधर्मसे इसका कितना गहरा एवं बुनियादी ताल्लुक है और इस निरूपणका असली आशय क्या है यह बात हमने खूब विस्तारके साथ पहले ही बता दी है। उसे पढ़े बिना इसके पढ़नेमें न तो मजा आयेगा और न यह बात ठीक-ठीक समझी ही जा सकेगी।

यह श्रद्धा तीन प्रकारकी मानी गई है। क्योंकि श्रद्धा तो मनुष्यमें ही होती है और उसके हरेक गुण होते हैं तीनों गुणोंके आधारपर बनी उसकी प्रकृतिके ही अनुसार। यह बात भी अच्छी तरह प्रतिपादित हो चुकी है। यही वजह है कि श्रद्धा भी तीन प्रकारकी होती ही है। इसीलिये उसी श्रद्धाके अनुसार किये गये सभी कर्मोंका भी तीन प्रकारका हो जाना जरूरी है। इसी दृष्टिसे नमूनेके रूपमें ही भोजन, यज्ञ, तप, दानका वर्णन भी आ गया है। असलमें भोजनका ताल्लुक तो सीधे श्रद्धासे है नहीं। हाँ, गुणोंसे तो हुई। यह बात भी है कि जैसा भोजन होता है वैसा ही स्वभाव भी होता है। इस तरह भोजनका सम्बन्ध सभी चीजोंसे मूल रूपमें हो जाता है। श्रद्धा भी इसीलिये भोजनके

साथ घनिष्ठताके साथ जुट जाती है। इसीलिये पहले भोजनका ही विवरण देके उसके बाद तीन प्रमुख कर्मोंका विवरण दिया है। श्रद्धाके बिना जो कुछ भी क्रिया जाता है वह गीताके दायरेके बाहर की चीज है। इसीलिये गीता उसे पूछतीतक नहीं। वह गीताकी गिनतीमें हई नहीं। वह तो न यहाँका है, न वहाँका। वह तो "धोबीका कुत्ता न घरका है, न घाटका"। इसीलिये गीताने इस अध्यायके अन्तमें उसे असत्, व्यर्थ, रद्दी कहके एक प्रकारसे धिक्कारा है।

तपमें एक बात और भी आ गई है। वह कायिक, वाचिक, मानसिक रूपमें तीन प्रकारका होता है। फिर हरेकके तीन-तीन प्रकार, श्रद्धाके भेदसे कहिये, गुणके भेदसे कहिये, होनेसे तपके नौ प्रकार हो गये हैं।

इसका प्रसंग भी सोलहवें अध्यायके अन्तवाले दो श्लोकोंने ला दिया है। वहाँ तो सीधा प्रसंग था काम, क्रोध एवं लोभके ही मिटानेका। मगर वह तो निचोड़ ठहरे उन समूचो सम्पत्तियोंके ही जो समाजके लिये घातक हैं। फिर आत्मदर्शन जैसी नाजुक चीजका क्या कहना? इसे तो वे पलक मारते ही मटियामेट कर दें। इसीलिये जो मार्ग उनके मिटानेका वहाँ बताया गया है वह केवल काम, क्रोधादि तक ही सीमित न रहके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य क्षेत्रके विस्तृत दायरेके भीतर आ जानेवाली सभी बातोंको ही उसने साथमें ले लिया है। फलतः कर्म या कर्त्तव्य मात्रके ही बारेमें तय पाया गया कि शास्त्रीय विधानको जानके ही तदनुसार ही अमल करना चाहिये। ठीक भी है। हरेक बातोंके जुदे-जुदे शास्त्र होते हैं। यहाँतक कि खेल-कूदके लिये भी लम्बे-चौड़े शास्त्र बन चुके हैं। इसलिये यह तो उचित ही है कि जो कुछ करना हो उससे पहले तत्सम्बन्धी शास्त्रका अनुशीलन किया जाय, उसके जानकारोंसे ही पूछ-ताछ की जाय। दूसरा चारा हई नहीं, यदि सफलता चाहते हैं।

इसपर एकाएक अर्जुनके भीतर खलबलीका मच जाना और उसका चटपट प्रश्न कर बैठना स्वाभाविक था और इसीसे इस अध्यायका श्रीगणेश भी हो गया। शास्त्र और उसका विधान ये शब्द कुछ ऐसे हैं कि जनसाधारणको खटक जाते हैं, इस मानीमें कि वे बहुत बड़ी चीजें हैं जो उनको पहुँचके बाहरकी हैं। तिसपर भी तुर्रा यह कि "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (४।१६) के द्वारा खुद कृष्णने ही पहले ही कह दिया है कि कर्म-अकर्मकी पहेली ऐसी पेचीदा है कि बड़े-बड़े दिमागदार भी चकरा उठते हैं। तो फिर जनसाधारण उन दिमागदारोंके बनाये शास्त्रको कैसे जान पायेंगे? यह तो निरी असंभवसी बात है। और अगर न जानें तो सारा कारबार ही बन्द हो जाये। क्योंकि ऐसा ही हुक्म हो गया। अर्जुनने स्पष्ट देखा कि जिसपर हमारा कोई वश न हो उसीके पहियेमें

हमें और हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्यको बाँध देना कहाँतक उचित है। उसे तो यह बात जँच न सकी। हाँ, जो चीज अपने वशकी है और जिसे ईमानदारी तथा दृढ़ संकल्प कहते हैं, अपने लक्ष्य और उसकी सिद्धिके उपायमें अटल विश्वास कहते हैं, उसके ऊपर यदि कर्म-अकर्मकी निर्भरता हो तो यह बात समझमें आती है। यही उचित भी है। इसीका दूसरा नाम श्रद्धा है। लेकिन अगर किसीने श्रद्धाके साथ कर्म तो किया, फिर भी शास्त्रीय विधिविधान नहीं जानता है, तो उसकी क्या गति होगी, यह प्रश्न स्वाभाविक था। उसने समझा कि वह तो कहींका न रहेगा, जैसा कि अभी कहा है। मगर यह तो ठीक नहीं जँचता।

निष्ठा, गति या हालत एक ही बात है और घबराके यही जाननेके लिये—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुनने पूछा (कि) हे कृष्ण, जो लोग शास्त्रीय विधिकी पाबन्दी न करके श्रद्धाके साथ यज्ञादि क्रिया करते हैं उनकी क्या हालत है? (उनकी गिनती किस श्रेणीमें है?) सत्त्व, रज या तममें? ।१।

असलमें तीन गुणोंके बाहर तो कोई जा सकता नहीं। इसीलिये स्वभावतः अर्जुनने पूछा कि वे लोग सात्त्विक होंगे या राजस या तामस? कृष्णने उत्तर भी वैसा ही दे दिया कि जैसी श्रद्धा होगी वैसे ही वे लोग होंगे, चाहे शास्त्रीय विधिकी पाबन्दी करें या न करें। असलमें उनके कहनेका आशय यही है कि शास्त्रीय पाबन्दी न रखनेसे नीचेसे ऊपरतक अराजकता हो जायगी और सब गड़बड़-घोटालेमें पड़ जायगा। इसलिये कोई व्यवस्था तो चाहिये ही और वह हो सकती है केवल शास्त्रीय विधि ही। दूसरेकी तो सम्भावना हई नहीं। यदि योंही श्रद्धाके नामपर छोड़ दिया जाय तो लाखोंमें शायद ही एकाध ठीक-ठीक उसके अनुसार करें। शेष तो अन्धाधुन्धी ही मचा देंगे। यदि दुनियामें ईमानदारी और सचाई ही सबोंमें होती और दृढ़ संकल्प ही पाया जाता, तो फिर उपदेशकी जरूरत ही क्यों होती? यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। इसीलिये नियन्त्रण रखना जरूरी है। मगर जो लोग सच्चे, ईमानदार और धुनवाले हैं उनके लिये तो छुट्टी ही है। उनके तो चरण चूमते हैं शास्त्रीय विधिविधान। कारण, इनका भी तात्पर्य है धीरे-धीरे वैसे ही लोगोंको पैदा करना। यही बात—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

श्रीभगवान बोले (कि) देहधारियोंकी वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन तरह की होती है—सात्विक, राजस और तामस । उसके बारेमें और भी सुन लो । हे भारत, सबकी श्रद्धा सत्त्वगुण (की कमी-बेशी, प्रधानता-अप्रधानता)के ही अनुसार होती है । (क्योंकि) मनुष्य तो श्रद्धामय है । (इसीलिये) जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है ।२।३।

प्रश्न हो सकता है कि इसकी पहचान क्या है ? आखिर कैसे जानें कि कौन आदमी कैसा है ? उत्तर सुनिये—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

सात्त्विक जन देवताओंका यजन-पूजन करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसोंका और शेष तामस लोग प्रेतों तथा भूतगणोंकी यज्ञपूजा करते हैं । शास्त्रोंमें विहित न हो ऐसे तपको दंभ, अहंकारसे युक्त और काम, राग, बलवाले जो लोग करते हैं (और इस तरह) शरीरके भीतर रहनेवाले पदार्थ समूहको और अन्तःकरणमें रहनेवाले मुझ आत्माको भी कमजोर करते रहते हैं, उन्हे आसुरी निश्चयवाले ही समझो ।४।५।६।

यहाँ पहले तो ऐसे लोगोंके तीन भेद बताये गये हैं और उनकी पहचान दी गई है । देवसे अभिप्राय है सात्त्विक दिव्यशक्तियोंसे ही; न कि साधारण देवताओं से । क्योंकि वे तो राजस और तामस ही हुआ करते हैं । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" (श्वेता० ६।११), "ये पूर्व देवा ऋषयश्च तद्विदुः" (श्वेता० ५।६) तथा "एष देवो विश्वकर्मा" (श्वेता० ४।१७) आदिमें भगवान, विष्णु, विद्वान आदि-को ही देव कहा है । यही उचित भी है । साधारण देवताओंके पूजक तो स्वर्गादि

चाहते हैं और सत्त्वका काम है ज्ञान। इसीलिये यक्ष, राक्षसका अर्थ वैसे ही देवताओंसे है। जो तामसी देवता हैं उन्हींको प्रेत-भूतके नामसे गिनाया है। वे हजारों हैं और उन्हें जनसाधारण खूब मानते-जानते हैं। इसीलिये उनके गणका उल्लेख किया है। बाकियोंके गण या समूह होनेपर भी वे उतने परिचित नहीं हैं। मगर भूत-प्रेत तो घर-घर जुदे-जुदे हैं। जोई मर गये या गुजर गये उन्हींको भूत-प्रेत कहते हैं। शब्दार्थ भी यही है।

यहाँ पाँचवें और छठें श्लोकोंमे जो कुछ कहा है वह यद्यपि शास्त्रीय विधिसे बाहरवालोंके ही कर्म है, तथापि उनसे मतलब श्रद्धाशून्य कर्मोंसे ही है। दिखावटी या अहंकारपूर्वक किये गये कर्म तो सदा श्रद्धाशून्य हुआ ही करते हैं। इसी तरह काम, राग या बलपूर्वक भी जो कुछ किया जाता है वह भी श्रद्धाशून्य ही होता है। श्रद्धाकी वहाँ गुजर कहाँ ? पहुँच कहाँ ? इसीलिये तो आत्मा, इन्द्रियों तथा रक्तमांसादिके कृश करनेकी बात कही गई है। इन्द्रियों या रक्तमांसादिकी कृशता उनकी कमजोरी और दुर्बलता कही है। मगर आत्माकी कृशता है उसका पतन, उसकी विवेकशून्यता। यदि कर्शयन्तःकी जगह कर्षयन्तः पाठ हो तो भी नीचे खींचना या ले जाना—घसीटना—ही उसका अर्थ है और कोई फर्क नहीं है। इसीलिये श्रद्धाका पता वहाँ नहीं रहता। ऐसे कर्मोंकी गिनती गीता करती ही नही। अन्तवाले (२८वें) श्लोकमें आमतौरसे इन्हें दूषित ही ठहराया है। यहाँ भी उसीका नमूना बताया गया है। परन्तु यह बात योंही प्रसंगसे आ गई है। प्रसंग तो त्रिविध गुणमूलक पदार्थोंका ही है। इसीलिये आगेके श्लोकोंमें वही तीन प्रकारका वर्णन यों लिखा है—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

सभीका प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है (और) यज्ञ, तप तथा दान भी। इनके ये प्रकार सुन लो।७।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

आयु, सत्त्वगुण, बल, नीरोगता, सुख एवं प्रसन्नताको बढ़ानेवाले, रसीले,

चिकने या स्नेहयुक्त, कुछ देरमें पचनेवाले और चित्तको पसन्द आनेवाले आहार सात्त्विक जनोंके प्रिय होते हैं। कड़वे, खट्टे, नमकीन, ज्यादा गर्म, चरपरे, रूखे तथा जलन पैदा करनेवाले आहार राजस लोगोंके प्रिय होते तथा दुःख, शोक, बीमारी पैदा करते हैं। जिसे बने एक पहर गुजर गया हो ऐसा, नीरस, दुर्गन्ध-युक्त, बासी, जूठा और नापाक भोजन तामस लोगोंको पसन्द आता है।८।९।१०।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

फलकी आकांक्षा न रखनेवाले लोग शास्त्रीय विधिके अनुकूल जो यज्ञ 'हमारा यह कर्त्तव्य है' इसी विचारसे मनको निश्चल और एकाग्र करके करते हैं वही सात्त्विक यज्ञ है। हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फलेच्छा रखके और दिखानेके लिये भी किया जाता है उस यज्ञको राजस जानो। शास्त्रीय विधिसे रहित, अन्नदानशून्य, बिना मंत्र (और) बिना दक्षिणाके ही तथा श्रद्धाके बिना ही किये गये यज्ञको तामस कहते है।११।१२।१३।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् इन सबोंकी सत्कार-पूजा, पवित्रता, नम्रता, ब्रह्म-चर्य और अहिंसा (यही) शरीरका तप कहा जाता है। किसीको न चुभनेवाला, सत्य, प्रिय और हितसाधक वचन (बोलना) और सद्ग्रंथोंका अभ्यास (यही) जबानकी तपस्या है। मनकी निर्मलता, हँसमुखपन, जबानपर काबू, मनपर नियंत्रण (और) निष्कपट व्यवहार यही मनकी तपस्या कही जाती है।१४।१५।१६।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥'

पहले दर्जेकी श्रद्धासे फलाकांक्षारहित, मनको एकाग्र किये हुए मनुष्योंके द्वारा किये गये उन तीनों ही प्रकारके तपोंको सात्त्विक कहते हैं। मौखिक बड़ाई, इज्जत और पूजाके लिये और दंभसे भी जो तप किया जाता है, उस क्षणभंगुर और अनिश्चित फलवाले तपको यहाँ राजस कहा है। जो तप नासमझीसे ऊँटकी पकड़की तरह हठात् अपनेको (केवल) पीड़ा देके ही या औरोंके विनाशके लिये किया जाता है उसे तामस कहा है।१७।१८।१९।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

देना चाहिये ऐसा समझके ही जो दान, उपकारके बदलेमें न होके (जरूरतकी) जगह (जरूरतके) समय दानके योग्यको ही दिया जाता है उसी दानको सात्त्विक माना है। जो दान उपकारके बदलेमें या किसी प्रयोजनसे बहुत रो-गाके दिया जाता है उस दानको राजस कहा है। (जो दान बिना जरूरतके और इसीलिये अनुचित) देश, काल और पात्रमें बिना सत्कारके ही तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है उसे तामस कहा है।२०।२१।२२।

आगे बढ़नेके पूर्व यज्ञ, तप और दानके सम्बन्धमें दो-एक बातें कह देनी हैं। यह तो मोटी बात है कि दानके लिये देश, काल, पात्रका होना जरूरी है। देशसे मतलब खामखा काशी, अयोध्या आदि तीर्थोंसे, कालसे मतलब ग्रहण आदिसे ही और पात्रसे अभिप्राय ब्राह्मण, साधु आदिमें ही नहीं है। जहाँ पानी, औषधालय, स्कूल आदिके बिना बहुत हर्ज हो वहींपर कूआँ, तालाब, अस्पताल, स्कूल आदि बना देना देशमें दान हुआ। इसी तरह जाड़ेके दिनोंमें या अकाल वगैरहके समय भूखे-नंगोंको वस्त्र, अन्नादि देना कालका दान हो गया। अगर हमारे पास एक ही सेर अन्न है जिसे लेनेको एक ओर दो-चार भूखे और दूसरी ओर साधु-फकीर या पुजारीके नामपर मुश्चंड लोग खड़े हैं, तो दानके पात्र वहाँ भूखे ही होंगे, न कि चंड-मुचंड लोग। सारांश, जहाँ जिस समय जिन लोगोंको कुछ

भी देनेसे अधिकसे अधिक लाभ समाजका या व्यक्तियोंका हो वही दान देश, काल, पात्रका दान है।

लेकिन इन यज्ञादिके बारेमें जो असल बात विचारनेकी है वह तो दूसरी ही है। पहले श्रद्धाको सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारका कहा है। मगर जब नमूनेके लिये यहाँ यज्ञादिको दिखाने लगे तो कहीं तो श्रद्धाका नाम केवल सात्त्विकमें ही लिया है, जैसा कि बीचमें तपमें स्पष्ट ही देखा जाता है और कहीं—यज्ञ तथा दानमें—वह भी नहीं किया है। बल्कि उसकी जगह यज्ञमें शास्त्रीय विधिका ही नाम लिया गया है। इसीके साथ यह भी देखा जाता है कि सात्त्विक तथा राजस यज्ञोंको छोड़ केवल तामसमें ही यह कह दिया कि वह श्रद्धासे रहित होता है और शास्त्रीय विधिसे हीन भी। इससे दो बातें झलक जाती हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय विधि और श्रद्धा साथ चलती हैं; हालांकि अर्जुनका प्रश्न इससे विपरीत है। वह तो यही मानके है कि शास्त्रीय विधि न होके भी श्रद्धा हो सकती है। दूसरी यह कि तामस कर्मोंसे श्रद्धा होती ही नहीं। इसीको दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि तामसी श्रद्धा होती ही नहीं। मगर यह भी पूर्वके उस कथनके विपरीत है कि श्रद्धा तीन तरहकी होती है।

दानकी भी यह हालत है कि न तो उसमें श्रद्धाका ही उल्लेख है और न विधिका ही! इस तरह तपमें भी जब सात्त्विकको श्रद्धापूर्वक कहके शेष दोमें चुप्पी मारते हैं तो यह खामखा हो आता है कि राजस और तामस तपमें श्रद्धा होती ही नहीं। विपरीत इसके जब तामस यज्ञको ही श्रद्धाके बिना किया गया कहते हैं तो एकाएक विचार हो आता है कि हो न हो सात्त्विक तथा राजस यज्ञोंमें श्रद्धा जरूर होती है। मगर अगर वहाँ होती है तो तपमें भी क्यों नहीं, यह प्रश्न अनायास उठा खड़ा होता है। इस प्रकार सबोंका विचार करनेसे अजीब घपला दीखता है, गड़बड़ मालूम पड़ती है। जब इसीके साथ 'ॐ तत्सदिति' (२३-२७) आदि पाँच श्लोकोंको इसके बाद ही पढ़ते हैं तो यह खयाल होता है कि श्रद्धाके साथ ही 'ॐ तत्सत्' इस छोटे मंत्रका उच्चारण भी हर कर्ममें जरूरी हो जाता है। इस तरह श्रद्धाकी छातीपर शास्त्रीय विधि खामखा बैठी-बैठाईसी दीखती है। लेकिन तब तो अर्जुनके प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक मिलता नहीं। विपरीत इसके जब आखिरी या २८वाँ श्लोक देखते हैं तो कुछ उलटी ही समां नजर आती है। वह तो बेलाग कहता है कि चाहे शास्त्रीय विधि हो या न हो। मगर यदि श्रद्धा न हो तो सब किया-कराया चौपट! इस प्रकार एक विचित्र गोलमालसा हो गया है और किसी बातकी सफाई मालूम पड़ती ही नहीं।

इसी सिलसिलेमें एक बात और भी पाई जाती है। जो यज्ञ और तप दंभपूर्वक या महज दिखावटी होते हैं उन्हें राजस कहा है। दोनों हीमें दंभ शब्द

पाया जाता है। मगर यदि पाँचवें तथा छठें श्लोकोंको देखें तो दंभपूर्वक किया गया तप आसुरी माना गया है। उसीको शास्त्रविधि-शून्य भी कहा है। सात्त्विक, राजस, तामस कर्मोंसे उसे जुदा भी माना है, जैसा कि प्रसंग देखनेसे ही स्पष्ट हो जाता है। उसके विपरीत यहाँ ये दोनों एक तो राजस हो गये। दूसरे शास्त्रीय विधिके बाहर हैं यह तो लिखा गया ही है। बल्कि तामस यज्ञको विधिहीन कहनेसे हो यह राजस विधि-युक्त अर्थतः सिद्ध हो जाता है। उसीका साथी तप भी वैसा ही माना जाना चाहिये। सोलहवें अध्यायमें यह भी देखी चुके हैं कि दंभवाले यज्ञोंको आसुरी कहा है। इस तरह पूर्वापर-विरोधक आ जानेसे और भी दिक्कतें पैदा हो गई है।

लेकिन दरअसल बात ऐसी है नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जब उपसंहार या अन्तमें श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दानोंका—क्योंकि हुत या हवन तो यज्ञमें ही आ जाता है—नाम लेके स्पष्ट ही उन्हें चौपट बताया है, तो इससे निर्विवाद हो जाता है कि उससे पहले सर्वथा श्रद्धाशून्य कर्मोका जिक्र हुई नहीं। क्योंकि यह तो सामान्य रूपसे सभी प्रकारके ही यज्ञों, दानों, तपोंके बारेमें कहना है। फिर बीचमें किसी एकाधका नाम लेनेका क्या मौका? वह तो व्यर्थ ही ठहरा न? उसकी जरूरत तो वहाँ है नहीं। उससे काम भी तो नहीं निकलता और अन्ततोगत्वा सभी कर्मोंके बारेमें "अश्रद्धयाहुतं दत्तं" का कहना जरूरी होई जाता है। ऐसी दशामें यदि कहीं-कहीं अश्रद्धा आ गई है तो उसका आशय कदापि यह नहीं है कि उनमें श्रद्धाका सर्वथा या बिल्कुल ही अभाव है। किन्तु केवल यही कि श्रद्धा अधूरी है, कच्ची है। जब भोजनमें नमक कम हो तो कभी-कभी कह बैठते हैं कि इसमें तो नमक हुई नहीं। इसी तरह कहा जाता है कि आज तो हवा कतई हुई नहीं। मगर हवा न रहे, यह तो सम्भव नहीं। इसलिये उसके मानी यही होते है कि कम है, बहुत थोड़ी है। यही बात यहाँ भी समझिये। पूरी श्रद्धा होनेपर सात्त्विक, उसमें कमी होनेपर राजस और नाममात्र-की श्रद्धा या बहुत कम होनेपर तामस यही मतलब होता है। मगर जहाँ श्रद्धा कतई हुई नहीं वही आसुरी है। यही बात अन्तमें और ५, ६ श्लोकमें भी कही गई है।

असलमें दैवी और आसुरीके अलावे तीसरा दल तो हुई नहीं। इसीलिये राजस यज्ञ और तपमे जो दंभ आया है उससे इस अध्यायके और सोलहवेंके भी आसुरी स्वभावका मेल हो जाना उचित ही है। हमने यह बात पहले कह भी दी है। मगर यह बात हमेशा याद रखनेकी है कि आसुरी कहने और राजस, तामस श्रद्धाका नाम लेनेसे यह कभी नहीं मानना होगा कि राजस, और तामस यज्ञादि

करनेवाले श्रद्धाशून्य हैं। इसीलिये "अश्रद्धया हुतं दत्तं" वालेमें ही उसकी गिनती है। इसीलिये, ५, ६ श्लोकोंमें जो दंभ आया है वही यज्ञ तथा तपमें भी आ गया है, जिससे ये तीनों एक ही हो जाते हैं—इनमें जरा भी फर्क नहीं है, यह समझना भी भूल है। ५, ६ श्लोकोंकी बात दूसरी है, निराली है और वही मिल जाती है 'अश्रद्धया हुतं दत्तं'के साथ। न कि यज्ञ और तपके राजस तामस आदि भेद मिलते हैं। दंभ शब्दके बारेमें तो कही चुके हैं कि क्यों आया है। ५, ६ श्लोकोंमे जो कुछ कहा गया है वह केवल अश्रद्धाकी निन्दाके ही लिये। न कि यहाँ उसका कोई खास प्रयोजन है। क्योंकि उसमें केवल तपकी बात आती है। किन्तु अन्तवाले श्लोकमें यज्ञ, तप, दान तीनोंको ही चौपट बताया है। ऐसी दशामें यदि सिर्फ निन्दा ही प्रयोजन न होके किसी खास बातका प्रतिपादन मतलब होता तो उसकी जरूरत ही क्या थी? वह तो बेकार हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण श्रद्धा होनेपर सभी कर्म सात्त्विक हो जाते हैं, फिर चाहे वह यक्ष-राक्षसोंकी पूजा हो या भूत-प्रेतों की। यह बात हम पहले "येप्यन्यदेवता-भक्ता." (९।२३-२५) आदिमें अच्छी तरह बता भी चुके हैं। अगर फिर भी वैसे कर्मोंमे कसर रह जाती है या उन्हें तामस और राजस कहते हैं तो केवल इसीलिये कि वह रास्ता, वह समझ, उन कर्मोके करनेको सारी बुनियाद ही गलत है। यही बात "न तु मामभिजानन्ति" (९।२४) में कही जा चुकी है।

जो यह कहा गया है कि सात्त्विक यज्ञ और दानमें श्रद्धा नहीं पाई जाती है, उसका उत्तर साफ है। जब वह सात्त्विक तपमें लिखी है तो शेष दोमें भी उसे समझ लेना ही होगा। इसमे कोई विशेष युक्तिकी जरूरत है नहीं। सभी सात्त्विकोंकी एकसी बात है न? यह भी तो देखते ही हैं कि तीनोंके बारेमें फलाकांक्षा या बदलेके उपकारका ख्याल करके ही करनेको लिखा है। बल्कि यज्ञ और तपमे तो "अफलाकाङ्क्षिभिः" यही शब्द दोनों जगह है और जब एक जगह 'श्रद्धया' से उसका सम्बन्ध है तो दूसरी जगह भी उसे मान लेना आसान है, अर्थ-सिद्ध है। असलमें तो प्रयोजन या फलकी इच्छाका न होना ही पूर्ण श्रद्धाकी पक्की निशानी है। ये दोनों साथ ही चलनेवाली है। इसीलिये जहाँ श्रद्धामे कमी हुई कि फलाकांक्षा, उपकारका खयाल, दंभ आदि धीरे-धीरे घुसने लगे। इसलिये यदि तपमें श्रद्धा कही भी गई है तो उसकी खास जरूरत नहीं है। फिर भी कहीं लोग ऐसा न समझ बैठें कि श्रद्धाके बिना भी सात्त्विक कर्म होते हैं, इसीलिये बीचमें 'श्रद्धया' लिख दिया, जो पहलेवाले यज्ञमें और बादवाले दानमें भी माना जायगा। श्रद्धा न कहके जो शास्त्रविधि कही गई है वह भी श्रद्धाका सूचक ही है। पूरी शास्त्रविधिमें तो पूर्ण श्रद्धा रहेगी ही। उसके बिना तो शास्त्रविधि

कभी पूरी होई नहीं सकती, यह पक्की बात है। प्राचीन विद्वानों और ऋषि-मुनियोंने यही माना भी है।

अब केवल एक ही बात रह जाती है और वह यह कि इसके बादके पाँच श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है वह भी तो शास्त्रकी विधि ही है न? किन्तु उसकी जरूरत यहाँ क्या थी जब कि श्रद्धाकी बात आई गई है? ऐसा प्रश्न किया जाता है सही। फिर भी शास्त्रविधिके उल्लेखका जो प्रयोजन अभी कहा है उसके बाद तो इसकी भी गुंजाइश नहीं रह जाती है। परन्तु यहाँ कुछ खास बात है। बात यों है कि जो लोग शास्त्रीय विधिको जनसाधारणकी पहुँचके बाहर-की चीज मानते हैं और इसीलिये उसे हौवा समझते हैं उनका भी तो खयाल गीताको करना ही है। गीताधर्म तो सर्वसाधारणके ही लिये है, खासकर यह श्रद्धावाली बात। इसलिये इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गीताका ध्यान जाना अनिवार्य था। और उसी ध्यानके परिणामस्वरूप ये पाँच श्लोक हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि शास्त्रीय विधि बहुत बड़ा जाल और पँवारा है और इसलिये उससे और उसके नामसे ही बुरी तरह घबराते हैं उन्हें गीताका कहना है कि तुम नाहक ही ऐसा समझके घबराते हो। देखो न, ब्रह्मवादी और मोक्षकांक्षी लोग भी इस शास्त्रीय विधिको कितनी आसान मानते हैं? जो कर्म यज्ञार्थ या भगवदर्पण होते हैं उन्हें भी किस आसानीसे शास्त्रीय विधिसे किया जा सकता है! फिर घबरानेका क्या सवाल? एक ॐकार, तत् या सत् शब्द—तीनोंमें हरेक—ही ऐसा है कि इसके उच्चारण मात्रसे शास्त्रविधि पूर्ण हो जाती है और अगर तीनोंको मिलाके ॐतत्सत् कह दिया तब तो कहना ही क्या? इन पाँच श्लोकोंका यही आशय है और जब ब्रह्मवेत्ता, मोक्षके इच्छुक या उत्तमोत्तम कर्मोंके करनेवाले ही ऐसा करते हैं तो इसे शास्त्रीय विधि न कहें तो और कहें क्या? आगे "विधानोक्ताः" शब्द आया भी है। इस तरह गीताने सर्वसाधारण-के लिये—उनके भी लिये जो वेद-वेदांग जान पाते नहीं और ऐसे ही लोग ज्यादा हैं—भी शास्त्रीय विधि सुलभ कर दी। हाँ, जो वेद-शास्त्रके ज्ञाता हैं वह तो खामखा लम्बी चौड़ी विधि करेंगे ही। किन्तु गीताको उनकी कुछ ज्यादा पर्वा है भी नहीं। जब ब्राह्मणों, वेदों तथा यज्ञोंकी उत्पत्ति इन्हीं तीन शब्दोंका उच्चा-रण करके ही हुई तो फिर इनकी महत्ताका क्या कहना? यज्ञादि कर्मोंके आधार तो वेद और ब्राह्मण ही हैं और जब वही और खुद यज्ञ भी इन्हीं शब्दोंके उच्चा-रण-पूर्वक ही प्रकट हुए तब और बचता ही है क्या?

श्रद्धाके बाद और 'अश्रद्धयाहुतं'के पहले इन पाँच श्लोकोंकी बातोंका दूसरा

मतलब होई नहीं सकता । शुरूसे ही शास्त्रविधिका प्रश्न उठा भी है । फिर भी इस अध्यायमें श्रद्धाकी ही प्रधानता है और वही इसका विषय भी है । इसीलिये श्रद्धाके बाद ही शास्त्रीय विधान पर अपनी दृष्टिसे प्रकाश डाल देना आवश्यक भी था । इसमे एक बात और भी है । ॐतत्सत्‌का उच्चारण और प्रयोग तो श्रद्धाके बिना होई नही सकता । जिन्हें इसमें या ऐसे कर्मोमें पूरा विश्वास नहीं, निश्चय नही है वह भला ॐतत्सत्‌का नाम भी क्यों लेने जायँगे ? इस तरह गीताने इस बहाने ही श्रद्धाकी भी जाँच कर ली । नहीं तो इसके नाम पर प्रवंचना और ठगीका होना आसान था । इससे यह भी होगा कि श्रद्धामें अगर जरा भी कोर-कसर होगी या वह पूरी न होगी, तो इस उच्चारणसे पूर्ण हो जायगी । क्योंकि यह तो उसका राजमार्ग ही है । शुरूमें ही हमने जो कहा था कि श्रद्धा आसान नही है वह सबमे पाई जाती है नही और उसका सम्पादन जरूरी है, वह जरूरत भी इसमे पूरी होती है । इस तरह एक हो तीरसे कई शिकार हो जाते है ।

आगे जो यह लिखा है कि ॐ,तत् और सत् ये तीनों ब्रह्मके नाम तथा ब्रह्म-वाचक शब्द माने जाते है उसमे तो खुद गीता ही साक्षी है । "ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (८।१३) तथा "प्रणवः सर्व" (७।८)मे ॐको ब्रह्म कहीं दिया है । इसी प्रकार "तद्‌बुद्धयस्तदात्मान." (५।१७) आदिमे जिस ज्ञानको तत् कहा है वह आत्मा-ब्रह्म स्वरूप ही है और इस श्लोकमे उसीकी संभावना है । ऐसा और भी आया है । यो तो बारबार ब्रह्मको सत् कहा ही है । लेकिन "न तदस्ति विना यत्स्यात्" (१०।३९)मे स्पष्ट ही ब्रह्मकी सत्ता सर्वत्र मानी गई है । उपनिषदोंमे भी "ॐमितिब्रह्म" (तैत्ति० १।७), 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छान्दो० ६।८-१६) तथा 'सदेव साम्येदमग्र" (६।२।१) आदिमे यही बात पाई जाती है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐ, तत् सत् यही तीन नाम ब्रह्मके माने गये है और सृष्टिके आरंभमें इन्हीं तीनों (के उच्चारण)से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बने (भी) ।२३।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

इसीलिये ॐका उच्चारण करके ही ब्रह्मवादियोंकी शास्त्रीय-विधिविहित यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें हमेशा हुआ करती हैं। (इसी तरह) मोक्षकी इच्छावाले फलका खयाल न करके अनेक प्रकारकी यज्ञ, दान, तप रूपी क्रियायें तद्का उच्चारण करके ही करते हैं। हे पार्थ, किसी चीजके अस्तित्वके लिये तथा अच्छा हो जानेके लिये भी सत् शब्द बोला जाता है। श्रेष्ठ कर्मोंमें भी सत् शब्दका प्रयोग होता ही है। यज्ञ, तप और दानमें जो निष्ठा एवं दत्तचित्तता होती है उसे भी सत् कहते है। यज्ञार्थ या ब्रह्मके लिये जो भी कर्म हो सत् ही कहा जाता है। २४।२५।२६।२७।

यहाँ यज्ञ, दान, तपका उल्लेख उदाहरण-स्वरूप ही है, जैसा कि पहले भी तीनका ही नाम आया है। यही प्रधान कर्म है भी। मगर तात्पर्य सभी कर्मोंसे है। यह तो सभी जानते है कि दान आदि क्रियाओं और उत्तम कर्मोको सत्कर्म कहते हैं। यज्ञादि करनेवालोंको भी कहते हैं कि आप तो अच्छा कर्म, सत्कर्म, समीचीन कर्म करते है, ठीक करते हैं। उसीसे यहाँ मतलब है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

(विपरीत इसके) जो हवन, दान, तप आदि श्रद्धासे नहीं किया जाता है वह असत् कहा जाता है। (इसीलिये) न तो वह मरनेपर ही किसी कामका होता है और न यही पर ॥२८॥

यहाँ यज्ञकी ही जगह हुत या हवन आया है। श्रद्धाशून्य कर्मोको असत् कह देनेसे बिल्कुल ही साफ हो जाता है कि ॐ तत्सत्का श्रद्धासे ही सम्बन्ध है। फलतः श्रद्धाके बिना ये किसी भी कर्ममें बोले जा सकते नहीं। श्रद्धाके हटते ही वह कर्म असत् जो हो जायगा। फिर उसमे सत् शब्दके प्रयोगका अर्थ क्या होगा? यह तो उलटी बात हो जायगी न? इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अथसे इति तक इस अध्याय पर श्रद्धाकी छाप लगी हुई है। फिर चाहे वह सात्विक हो, राजस हो या तामस। इसीलिये समाप्ति-सूचक संकल्प वाक्यमे भी "श्रद्धात्रय-विभागयोगः" लिखा है। यहाँ जो विभाग शब्द है वह भी महत्त्वपूर्ण है और बताता है कि तीन गुणोंके बीचमे संसारके विभागकी ही तरह उन सभी कर्मोका, जिनकी गणना गीता करती है, तीन श्रद्धाओंके बीच बँटवारा हो गया है। वहाँ भी "गुणत्रयविभागयोग." ऐसा ही लिखा गया है। हमने जो कुछ

अब तक कहा है वह भी यहाँ है। बेशक, इस अध्यायमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी एक निराली, और गीताकी अपनी, कसौटी कही गई है जिसपर काफी प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। यहाँ इससे ज्यादा लिखनेका मौका है नहीं। लेकिन अभी इस सम्बन्धमें बहुत कुछ कहना जरूरी है, जो आगेके लिये ही छोड़ दिया जाना ठीक है।

इति श्री० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका गुणत्रय-
विभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय यही है।



अठारहवाँ अध्याय

पीछेके सत्रह अध्यायोंमें ही गीताके सभी विषयोंका आद्योपान्त निरूपण हो गया। अब कुछ भी कहना बाकी न रहा। इसीलिये कृष्णको भी स्वयं आगे कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें ही बची-खुची बातें कहते हुए, या यों कहिये कि कही हुई बातोंको ही दुहराते एवं शब्दान्तरसे उनका स्पष्टीकरण करते हुए, उनने सबोंका उपसंहार इस अध्यायमें किया। यदि गौरसे देखा जाय तो इस अध्यायमें न तो कोई नई बात ही कही गई है और न किसी बातको कोई ऐसा रूप ही दिया गया है जो पहले दिया गया न रहा हो, या जो बिलकुल ही नया हो। त्यागका ब्योरा, कर्त्ता, बुद्धि आदि की त्रिविधता, वर्णोंके स्वाभाविक कर्म आदिमें एक भी बात नई नहीं है और न यहाँ किसीको नया रूप ही मिला है। या तो गीताके बाहर ही ये बातें प्रचलित रही हैं या, ऐसा न होने पर भी, गीतामें ही पहले आ गई हैं। जो लोग इससे पहलेके अध्यायोंको ध्यानसे पढ़ गये हैं उन्हें यह बात साफ मालूम होती है। त्यागके बारेमें कई मत कह देना यह गीताकी बात न भी हो तो कोई नई तो है नहीं। इसकी बुनियादी चीजें, जिन्हें फलेच्छा और आसक्ति का त्याग कहते हैं, पहले जानें बीसियों बार कही जा चुकी हैं। सात्त्विकादि तीन विभाग तो चौदहवेंमें और सत्रहवेंमें भी आया ही है। कुछ चुने-चुनाये और भी दृष्टान्त देनेसे ही नवीनता आ जाती नहीं। आत्माका अकर्त्तृत्व और गुणोंका कर्त्तृत्व भी पहले आई चुका है। सो भी अच्छी तरह। इस तरह प्रारंभके चौवालीस श्लोकों तक पहुँच जाते हैं।

उसके बादके पूरे २२ श्लोकोंमें कुछमें जो स्वधर्मानुष्ठानकी महत्ता बताई गई है और उसीके द्वारा कल्याणकी बात कही गई है वह भी पहले खूब ही आई है। फिर संन्यास यानी स्वरूपतः कर्मोंके त्यागकी बात जरूरी बताके जिसके लिये वह जरूरी है उस समाधि या ध्यानका भी वर्णन कुछ श्लोकोंमें किया है। अनन्तर उसी समदर्शनका वर्णन किया है जिसका बारबार वर्णन आता रहा है। उसीमें ज्ञानीभक्त नामक चौथे भक्तका भी जिक्र है। जो लोग ज्ञानके बाद भगवानमें ही कर्मोंको छोड़के लोकसंग्रहके काम करते हैं उनका वर्णन करके हठके साथ उलट-पलट करने या बातें न माननेसे अर्जुनको रोका समझाया है। यह भी कहा है कि यकीन रखो, तुम्हें प्रिय समझके ही यह उपदेश दे रहा हूँ; न कि इसमें मेरा कुछ दूसरा भी मतलब है। फिर भी आँखें मूँदके कुछ भी करनेको नहीं

कहता। करो, मगर खूब सोच समझके! अन्धपरम्परा अच्छी नहीं है। अन्तमें ६६वें श्लोकमें संन्यास यानी कर्मोंके स्वरूपतः त्यागनेका, जिसके बारेमें अर्जुनका प्रश्न था, वर्णन कर दिया हैं। इस तरह गीतोपदेश पूरा किया है। अन्तमें ऐसा कहनेका मौका भी इसीलिये आ गया है कि आत्मामें मनको हर तरहसे बाँध देनेका जो अन्तिम उपदेश अर्जुनको दिया है वह तबतक संभव नहीं जबतक नित्य-नैमित्तिक या नियत धर्मकर्मोंसे छुट्टी न ली जाय? इसके बादसे अन्ततक गीतोपदेशके नियम, शिष्टाचार और परम्परा आदिका ही वर्णन है। अन्तमें कृष्णने पूछा है कि बातें समझमें आईं या नहीं? इसपर अर्जुनने उत्तर दिया है कि हाँ, सब समझ गया और आपकी बातें मानूँगा। इसके बादके पाँच श्लोक तो संजयकी उस समयकी मनोवृत्तिकी विचित्रता बतानेके साथ ही कौन जीतेगा, कौन हारेगा यही बातें कहते हैं। एक श्लोक कृष्णके उस निराले तथा अलौकिक स्वरूपकी याद दिलाता है जो अर्जुनको उपदेश देनेके समय था और जिसका वर्णन हमने पहले ही अच्छी तरह कर दिया है। अब इनमें नई बात कौनसी आ गई है जिसके पीछे माथापच्ची की जाय?

यही वजह है कि अर्जुनने आरम्भमें प्रश्न भी नहीं किया। उसने तो केवल इच्छा जाहिर की। सो भी संन्यास या त्यागका न तो अर्थ ही जाननेके लिये है और न उनके लक्षण ही। दोनों शब्दोंके अर्थ तो एक ही हैं यह पहले ही बता चुके हैं। यह भी दिखा चुके हैं प्रश्नके बाद दोनों शब्द यहाँ भी एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। लक्षणकी भी बात नहीं है। क्योंकि यहाँ लक्षण न कहके त्यागके बारेमें नाना मत ही बताये गये हैं। इसे लक्षण तो कहते नहीं। चार मतोंके सिवाय कृष्णने जो अपना मत कहा है वह भी न तो नया है और न लक्षण ही है। किन्तु केवल कर्त्तव्यताकी बात ही उसमें है। असलमें ज्ञानके अलावे गीताकी तो दोई खास बातें हैं। उनमें एकको कर्मोंका संन्यास या स्वरूपतः त्याग कहते हैं तथा दूसरेको साधारणतः केवल 'त्याग' कहते हैं। मगर है ये दोनों कठिन तथा विवादग्रस्त। इसीलिये पहले बारबार इनका जिक्र आया है। संन्यासका तो आया ही है। त्यागका भी "संगं त्यक्त्वा धनंजय" (२।४८), "त्यक्त्वा कर्मफलासंगं" (४।२०) "संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११), "युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा" (५।१२) तथा अन्तमें "सर्वकर्मफलत्यागं" (१२।११) आदिमें जिक्र आया है। इसलिये अन्तमें अर्जुन यही जानना चाहता है कि जब ये दोनों इतने विलक्षण हैं, गहन हैं, और "कवयोऽप्यत्रमोहिताः" (४।१६) में यह भी कहा गया है कि बड़ेसे बड़े चोटीके विद्वान भी इनके बारेमें घपलेमें पड़ जाते है, तो इन दोनोंकी अलग-अलग हकीकत, असलियत या तत्त्व क्या है। उसके कहनेका यही मतलब है

कि इनके बारेमें जो भी विभिन्न विचार हों उन्हें जरा सफाई और विस्तारके साथ कह दीजिये, ताकि सभी बातें जान लूं। इसीलिये त्यागके ही बारेमें पहले पाँच तरहके विचार कृष्णने दिखाये हैं—चार दूसरोंके और एक अपना। संन्यास-के बारेमें तो ऐसे अनेक विचार हैं नहीं। इसीलिये अर्जुनके शब्दोंमें पहले आने-पर भी कृष्णके शब्दोंमे वह पीछे आया है। उसके बारेमे केवल यही बात विस्तार-से कहनेकी थी कि उसका मौका कब और कैसे आता है। यही उनने बताई भी है। वह अन्तिम चीज भी तो है। इसलिये अन्तमे ही उसे कहना उचित भी था। कुछ लोग नादानीसे कर्मोंको हर हालतमे छोड देना ही संन्यास समझते हैं। उससे निराली ही चीज सन्यास है, यह भी बात संन्यासका तत्त्व बतानेसे मालूम हो गई है। नही तो मालूम हो न पाती। इसीलिये जो लोग संन्यासके सम्बन्धकी जिज्ञासाका उत्तर पहले ही मान लेते हैं वह मेरे जानते भूलते हैं। क्योंकि उनके मनसे तो पीछे संन्यासका जिक्र निरर्थक हो जाता है।'

इसी अभिप्रायसे ही—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुनने कहा (कि) हे महाबाहो, हे हृषीकेश, हे केशिनाशक, संन्यास और त्याग दोनों हीकी अलग-अलग हकीकत जानना चाहता हूँ।१।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

श्रीभगवानने कहा (कि) (कुछ) विद्वान सकाम कर्मोके त्यागको ही त्याग मानते हैं, (दूसरे) विवेकी जन सभी कर्मोके फलोके त्यागको ही त्याग कहते हैं, कोई-कोई मनीषी—मननशील पुरुष—कहते हैं कि कर्ममात्रका ही त्याग करना चाहिये जैसे बुराईका त्याग किया जाता है। और चौथे दलवाले कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मोको छोड़ना चाहिये ही नही।२।३।

यहाँ चार स्वतंत्र मत बताये गये हैं और चारोंका ताल्लुक त्यागसे ही है। अपना पाँचवाँ मत कृष्ण आगे बताते हैं। इनमें तीसरा ही मत ऐसा है जो कर्मोंका त्याग हर हालतमें हमेशा मानता है और कहता है कि जैसे दोषका त्याग हमेशा

हर हालतमें करते हैं वैसे ही कर्मका भी होना चाहिये। यहाँ 'दोषवत्' का अर्थ है दोषकी तरह ही। दोषवत्का अर्थ दोषवाला भी होता है। इस तरह यह अर्थ होगा कि कर्म तो दोषवाला हुई। इसीसे उसे छोड़ ही देना ठीक है। मगर कर्मका यह स्वरूपतः त्याग संन्यास नहीं है यही गीताका मत है। वह मानती है कि ऐसा न करके केवल समाधिके पहले ही उसे त्यागनेको संन्यास कहते है। यही बात 'सर्वधर्मान् परित्यज्य''मे आगे लिखी गई है। पूर्ण ज्ञानके परिपाकके हो जानेपर मस्तीकी दशामें भी कर्मोंका त्याग स्वरूपतः हो जाता है ऐसा गीताका मान्य है, जैसा कि ''यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'' (३।१७) में स्पष्ट है। मगर हर हालतमें कर्मोंका त्याग न तो उसे मान्य है और न संभव, जैसा कि ''नहि कश्चित्'' (३।५)मे स्पष्ट है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥४॥

हे भरतश्रेष्ठ, हे पुरुषसिंह, उस त्यागके बारेमे मेरा निश्चय भी सुन लो। क्योंकि त्याग तीन तरहके होते है।४।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धका यह भी आशय हो सकता है कि 'क्योंकि त्यागके बारेमें तीन बातें कही जा सकनेके कारण वह तीन ढंगसे जानने योग्य है।' इनमें पहली बात वह है जो पाँचवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें आई है कि यज्ञ, दान, तपको न छोड़के करना ही चाहिये। दूसरी उत्तरार्द्धमें पहले कथनके हेतुके रूपमें ही आई है कि ये यज्ञादि मनीषियोको भी पवित्र करनेवाले है। इसीलिये इन्हें करना ही चाहिये। तीसरी बात छठे श्लोकमे है कि आसक्ति और फल दोनोंको ही छोड़के इन्हें करना चाहिये। इस प्रकार तीन बाते हो गई। सारांश रूपमे पहली यह कि यज्ञ, दान तपको कभी न छोड़े। दूसरी यह कि उन्हे जरूर करें; क्योंकि यह पवित्र करनेवाले है। तीसरी यह कि इनके करनेमें भी कर्मको आसक्ति और फलकी इच्छाको छोड़ ही देना होगा। यही तीन तरहकी बाते त्यागको लेकर हो गईं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव च।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

यज्ञ, दान, तप इन कर्मोंको (कभी) नहीं छोड़ना, (किन्तु) अवश्य ही करना चाहिये। (क्योंकि) यज्ञ, दान तप ये मनीषियोंको भी पवित्र करते हैं।

(फिर औरोंका क्या कहना ?) (लेकिन) इन कर्मोंको भी, इनमें आसक्ति और फलेच्छाको छोड़के ही, करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है ।५।६।

चौथे श्लोकमे जो सीधा-सादा अर्थ करके त्यागके तीन प्रकार कहे हैं वह ये हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

जो कर्म जिसके लिये तय कर दिया गया है उसका त्याग तो उचित नहीं (और अगर) मोहसे उसका त्याग (कर दिया गया) तो वह तामस (त्याग) कहा जाता है । शरीरके कष्टके भयसे दुःखदायी समझके ही कर्मका त्याग जो करता है वह (इस तरह) राजस त्याग करके त्यागका फल हर्गिज नहीं पाता । हे अर्जुन, कर्त्तव्य समझके ही आसक्ति एवं फलके त्यागपूर्वक जो निश्चित कर्म किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना जाता है ।७।८।९।

आगेके तीन श्लोक इस सात्त्विक त्यागकी रीति और आकार बतानेके साथ ही उसके कारण और परिणाम भी कहते हैं । ये तीनों बातें क्रमशः तीन श्लोकोंमें पाई जाती हैं ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

संशयरहित विवेकी सात्त्विक त्यागी न तो बुरे कर्मसे द्वेष करता है (और) न अच्छेमें आसक्त हो जाता है । जब कि देहधारीके लिये सभी कर्मोंका त्याग करना संभव ही नहीं है, तो जो केवल कर्मके फलका त्याग करता है वही (सात्त्विक) त्यागी कहा जाता है । बुरा, भला और मिश्रित यह तीन तरहका कर्मफल मरनेके बाद सात्त्विक त्याग न करनेवालोंको ही मिलता है; न कि त्यागियोंको भी कहीं (मिलता है) ।१०।११।१२।

पतंजलिने योगदर्शनमें लिखा है कि साधारण मनुष्योंके कर्म तीन प्रकारके

होते है, जिन्हें शुक्ल, कृष्ण और शुक्ल-कृष्ण या मिश्रित कहते है । इन्हींको भले, बुरे और मिले हुए भी कहते हैं । इनके फल भी क्रमशः भले, बुरे और मिश्रित ही होते हैं । इन्हींको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र इस आखिरी श्लोकमे कहा है । इसके विपरीत योगियोका कर्म चौथे प्रकारका होता है, जिसे अशुक्ल-कृष्ण कहते हैं । इसका अर्थ है—न भला, न बुरा । "कर्माशुक्ल कृष्णं योगिनस्त्रिविधमि-तरेषाम्" (४।७) योगसूत्र और उसके भाष्यको ध्यानपूर्वक पढनेसे इसका पूरा ब्योरा मालूम होगा । बारहवे श्लोकके सात्त्विक त्यागीको उसी योगीके स्थानमें माना गया है । बेशक, राजस और तामस त्यागी साधारण लोगोमें ही आते हैं ।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब कर्मोंका कर्त्ता आत्मा ही है, तो आसक्ति या फलोंके त्याग मात्रसे ही कर्मोके फलोंसे उसका पिंड कैसे छूट जायगा ? अगर कोई चोरी करे तो क्या आसक्ति और फलेच्छाके ही छोड़ देनेसे उसे चोरीका दंड भोगना न होगा ? इसका उत्तर आगेके पाँच श्लोक देते हैं । उनका आशय यही है कि आत्मा कर्मोंकी करनेवाली हुई नहीं । करने-करानेवाले तो और ही हैं और हैं भी वे पूरे पाँच । ऐसी दशामें जो आत्माको कर्त्ता मानता है वह नादान है, मूर्ख है । चोरीकी बात और है । वहाँ जिस शरीरसे वह काम करते हैं वही जेल-यंत्रणा भी भोगता है ।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।१४।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ।।१५।।
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१६।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।

हे महाबाहो, सभी कर्मोंके पूरे होनेके लिये सांख्य सिद्धान्तमें बताये इन (आगे लिखे) पाँच कारणोंको मुझसे जान लो । (वे हैं) आश्रय या शरीर, आत्माकी संसर्गवाली बुद्धि, जुदी-जुदी इन्द्रियाँ, प्राणोंकी अनेक क्रियाएँ और पाँचवाँ प्रारब्ध कर्म । शरीर, वचन या मनसे मनुष्य जो भी कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—शुरू करता है चाहे वह उचित हो या अनुचित, उसके यही पाँच कारण होते हैं । ऐसी दशामे अपरिपक्व समझ होनेके कारण निर्लेप आत्मा-

को जो कोई कर्त्ता मानता है वह दुर्बुद्धि कुछ जानता ही नहीं। (इसलिये) जिसके भीतर 'हम करते हैं' ऐसा खयाल नहीं और जिसकी बुद्धि (कर्म या फलमें) लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोगोंको मारके भी न तो मारता है और न (कर्मके फलस्वरूप) बन्धनमें फँसता है।१३।१४।१५।१६।१७।

कर्त्ताका अर्थ है कर्तृत्व का अभिमान जिसमें वस्तुगत्या रहे। दरअसल बुद्धिको ही कर्त्ता कहते हैं। मगर बिना आत्माके संसर्गके वह खुद जड़ होनेके कारण कुछ कर नहीं सकती। इसीलिये आत्माके संसर्ग या प्रतिबिम्बसे युक्त बुद्धिको ही कर्त्ता कहते हैं। इसी प्रकार दैवका अर्थ प्रारब्ध पहले ही कह चुके हैं। यह भी बता चुके हैं कि इसे दिव्य या दैव क्यों कहते हैं और यह क्यों कारण माना जाता है। यह भी जान लेना चाहिये कि कारण दो प्रकारके होते हैं— साधारण और असाधारण। साधारण उसे कहते हैं जो सबोंको या अनेक कार्योंको पैदा करे। प्रारब्ध ऐसा ही है। वह समस्त संसारका कारण है। किन्तु शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राणकी क्रियायें या पाँच प्राण अलग-अलग कार्योंके कारण हैं। इसीलिये ये असाधारण या विशेष कारण कहे जाते हैं। अपने-अपने शरीर आदिसे ही अपने-अपने कर्म होते हैं। प्राणोंके निकल जानेपर या इन्द्रियोंके खत्म हो जानेपर भी क्रिया नहीं होती। बुद्धिकी भी जरूरत हर काममें होती ही है। बिना जाने कुछ कर नहीं सकते।

आखिरी श्लोकमें जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जैसे दूसरेकी चोरीका माल अपने घरमें रखनेवाला नाहक अपराधी बनता है और परेशानीमें पड़ता है, ठीक वही हालत आत्माकी है। कर्मोंके करनेवाले तो ठहरे शरीर आदि। मगर उनकी क्रियाको धोकेमें, भूलसे अपने भीतर माननेके कारण ही इस निर्लेप और निर्विकार आत्माको फँसना पड़ता है। पुत्रके साथ ज्यादा ममता होनेसे कभी-कभी ऐसा होता है कि पुत्रकी मौतका निश्चय होते ही पिता उससे भी पहले एकाएक चल बसता है। शरीर दुबला और मोटा होनेसे आत्माको खयाल होता है कि हमी दुबले या मोटे हैं। यही है गैरके साथ एकता या तादात्म्य-तदात्मा—का अभिमान। इसे तादात्म्याध्यास भी कहते हैं। आत्माका शरीर, इन्द्रियादिके साथ तादात्म्याध्यास हो गया है। फलतः उनके कामों एवं गुणोंको अपना माननेका स्वभाव इसका हो गया है। इसे ही मिटानेका अर्थ है अहंकारका त्याग, 'हमीं करते हैं' इस भावना और खयालका त्याग।

लेकिन इसके होनेपर भी कर्ममें आसक्ति होनेपर, आग्रह हो जानेपर और फलकी भावना होनेपर भी फँस जाता है। यह है दूसरा खतरा और भारी खतरा। इसपर पूरा प्रकाश पहले डाला जा चुका है। आत्माका साक्षात्कार

होनेके बाद अहंकारवाला भाव मिट जानेपर भी यह खतरा बना रहता है। इसीलिये बुद्धिके लिप्त न होनेकी बात कहके इसी खतरेसे बचनेकी हिकमत सुझाई गई है। फिर तो पौ बारह समझिये। इस तरह एक प्रकारसे आत्माको कर्मसे निर्लिप्त और अलग बनाके काम निकाल लिया है।

अब आगे दूसरे ढङ्गसे भी आत्माका कर्मोंसे असंसर्ग सिद्ध करते हैं। ऐसा भी होता है कि स्वयं कर्म न भी करे तो भी दूसरोंसे करवा सकते हैं। इसे ही प्रेरणा कहते हैं। इसीको शास्त्रोंमें चोदना कहा है। ऐसोंको करनेवाले तो नहीं, लेकिन करानेवाले मानके ही अपराधी बताते हैं और दंड देते हैं। हिंसा, चोरी आदिमें ऐसा होता है कि ललकारने या राय देनेवाले भी फँसते हैं और दंड भोगते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमने न तो चोरी की, न उसमें राय-सलाह ही दी और न ललकारा ही। यह भी नहीं जानते कि कहीं चोरी हुई या नहीं। मगर यदि किसीसे शत्रुता हुई तो चुपकेसे चोरीका माल हमारे यहाँ रखके फँसा देता है। अकसर गैरकानूनी रिवाल्वर वगैरह चुपकेसे किसीके घरमें रखके फँसा देते हैं। यदि कर्मका प्रेरक ही आत्मा हो जाय, या वस्तुतः कर्म उसीमें रहते हों, हर हालतमें उसे उनके फलोंमें खामखा फँसना होगा। इसीलिये आगेके पूरे ग्यारह श्लोकोंमें यह बताया है कि कर्मके प्रेरक भी दूसरे ही हैं और कर्म रहता भी अन्य ही जगह है। यहाँ कर्मचोदनाका अर्थ है कर्मके प्रेरक और कर्मसंग्रहका अर्थ है जिनमें कर्म देखा जा सके—जिनके देखनेसे ही कर्मका पता लग सके।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता यही तीन कर्मोंके प्रेरक हैं (और) करण (इन्द्रियादि साधन), कर्म (जो बने, जहाँ कुछ हो), कर्त्ता इन्हीं तीनमें कर्मका संग्रह होता है।१८।

इस श्लोकमें ज्ञाता और कर्त्ताका एक ही अर्थ है। इन दोनोंमें केवल उपाधि या काम करनेके तरीकेका फर्क है। जब किसी बातकी जानकारी होती है तब वह ज्ञाता या जानकार कहा जाता है। जब जानकारीके बाद काम करने लगता है तो वही कर्त्ता कहा जाता है। अकेली बुद्धि एक चीज है और उसे बुद्धि ही कहते हैं भी। उसका विवेचन आगे आयेगा। मगर जब वही आत्माके संसर्गके फलस्वरूप उसके आभास, उसके प्रकाशसे युक्त हो जाती है, जैसी कि आईनेको चमक पड़नेपर दीवार उतनी दूर तक चमक उठती तथा ज्यादा प्रकाशवाली बन

जाती है जितनी दूर तक आईनेकी रोशनीका असर उसपर होता है, तो वही बुद्धि ज्ञाता और कर्त्ता दोनों ही कही जाती है। इसीलिये ज्ञाता और कर्त्ताको एक ही कहा है। अतएव आगे सात्त्विक आदि रूपोंका विचार करनेके समय कर्त्ताका ही विचार करके सन्तोष करेंगे। क्योंकि कर्मकी दृष्टिसे ज्ञाता तथा कर्त्ता दोनोंका एक ही असर कर्मपर माना जाता है। चाहे ज्ञाता सात्त्विक हो या कर्त्ता—और जब एक होगा तो दूसरा भी होईगा, क्योंकि है तो दोनों एक ही—कर्म सात्त्विक ही होगा और उसकी सात्त्विकतामें कमी-बेशी न होगी, चाहे दोनोंका नाम लें, या एकका। यहाँ कर्मका विचार और ही दृष्टिसे हो रहा है। इसीलिये दोनोंका कहना जरूरी हो गया। जो जानता है वही करता भी है। जबतक हम यह न जान लें कि हल कैसे चलाया जाता है तबतक उसे चलायेंगे कैसे ? जबतक जान जायें नहीं कि कपड़ा कैसे बनता है, उसे बनायेंगे तबतक क्योंकर ?

इसी तरह ज्ञेय और कर्मकी भी बात है। पूर्वार्द्धके तीनमें जो ज्ञेय और उत्तरार्द्धके तीनमें जो कर्म आया है ये दोनों भी एक ही है। ज्ञेयका अर्थ ही है जिसका ज्ञान हो, जिसके बारेमें ज्ञान हो। कर्मका अर्थ है जो किया या बनाया जाय, जिसपर या जहाँ हाथ-पाँव चलें। पूर्वके ही दृष्टान्तमें हल या कपड़ेको लीजिये। पहले उनकी जानकारी होती है, ज्ञान होता है। पीछे उन्हींपर हाथ-पाँव आदि चलते हैं। फर्क इतना ही है कि हल पहलेसे ही मौजूद है और उसी-पर क्रिया होती है। मगर कपड़ा मौजूद नहीं है। किन्तु सूत वगैरहपर ही क्रिया शुरू करके उसे तैयार करते हैं। वह क्रियाके ही सिलसिलेमें तैयार होता है। इसीलिये क्रियाका विषय, उसका आधार वह भी बन जाता है। मगर कपड़ा बुनना शुरू करनेके पहले उसकी जानकारी जरूरी है। इसलिये इस श्लोकमें जो दो त्रिपुटियाँ या त्रिक—तीन-तीन (trinity) हैं उन दोनोंके ज्ञेय और कर्म एक ही हैं। यह कर्म वही है जिसे पाणिनीय सूत्रने "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० १।४।४९) के रूपमें बताया है। इन दोनोंके सात्त्विक या राजस, तामस होने, न होनेपर कर्म या क्रियामें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसीलिये इन दोनोंका आगे विचार नहीं किया गया है। हाँ आगे जिस कर्मको तीन प्रकारका बताया है वह इस श्लोकके अन्तके "कर्म-संग्रहः" वाला कर्म ही है, जिसका विचार पहलेसे ही हो रहा है और जिसे काम, क्रिया (action) कहते हैं। वह जरूर सात्त्विक, राजस, तामस होता है। इन तीनों गुणोंका उसपर असर जरूर होता है। इसीलिये उसका विचार आगे भी जरूरी हो गया है।

अब इन दोनों त्रिपुटियोंमें केवल ज्ञान और करण बच रहे। इनमें ज्ञानका

आगे और भी विचार किया गया है। ज्ञान कहिये, जानकारी कहिये, इहसास (knowledge) कहिये सब एक ही चीज है। इसके बिना कुछ होई नहीं सकता है। इसपर सत्त्वादि गुणोंका असर भी होता है। साथ ही, ज्ञान जैसा सात्त्विक, राजस या तामस होगा कर्म भी वैसा ही होगा। वह कर्म दरअसल किसमें है, किसमें नहीं इस निश्चयपर भी उसका असर खामखा होगा। इसीलिये ज्ञानकी तीन किस्मोंका विवेचन इस कर्म-विवेचनके ही सिलसिलेमें आगे जरूरी हो गया है।

इसी तरह करण कहते है कर्म या क्रियाके साधनको। जैसे कुल्हाड़ीसे लकड़ी चीरते है और बसूलेसे भी। इसीलिये लकड़ी चीरनेकी क्रियामें, कर्ममें कुल्हाड़ी और बसूला करण हो गये। इन्द्रियोंकी ही मददसे हम कोई भी क्रिया कर सकते है। इसीलिये हाथ-पाँव आदि कर्म-इन्द्रियाँ भी कर्ममे करण बन गई। मगर इस करणके सात्त्विक, राजस, तामस होनेपर भी कर्मके बारेमें, कि वह दरअसल किसमें है, किसमे नहीं, कोई असर नहीं होगा। इसलिये आगे इस करणका और भी विचार जरूरी नहीं माना गया।

बुद्धि और धृति या धैर्यका भी असर कर्मपर पड़ता है। ये जिस तरहकी हो कर्म भी वैसे ही सात्त्विकादि बन जाते है। कमसे कम उनके ऐसा होनेमें इन दोनोंका असर पडता ही है। इन्द्रियोकीसी बात इनकी नही है कि इन्द्रियाँ चाहे कैसी भी हो और उनके करते काम पूरा या अधूरा भले ही रहे, फिर भी सात्त्विक राजस या तामस नही हो सकता है। ये दोनो तो कर्मपर उसके सात्त्विकादि बननेमे ही बहुत बडा असर डालती हैं। पीछे इस निश्चयमे भी कि वह वाकई आत्मामें है या नही, इनका काफी असर पडता है। बुद्धिका तो यह सब काम हुई, यह सभी जानते है। धृतिका भी यही काम है। जिसमे धैर्य या हिम्मत न हो वही दब्बू और डरपोक होनेके कारण दबाव पडनेपर अंट-संट कर डालता है। कमजोर ही तो दबाव पडनेपर झूठा बयान देता है। हिम्मतवाला तो कभी ऐसा करता नहीं। इसलिये इस प्रसंगमें इन दोनोंका विचार भी उचित ही है।

अब रह गया अकेला सुख, जिसका त्रिविध विवेचन आगे आया है। वह उचित ही है। सुखके ही लिये तो सब कुछ करते है। स्वर्ग, धन, पुत्रादिके ही लिये सारी क्रियाये की जाती है। लोगोंकी जो धारणा है कि स्वयं ही—हमीं—भला-बुरा कर्म करते है वह है भी तो इसीलिये न, कि दूसरेके करनेसे दूसरेको सुख होगा कैसे ? यदि इस सुखकी फिक्रचिन्ता छूट जाये तो मनुष्यकी सारी विपदा और परीशानी ही कट जाये। तब तो वह रास्ता पकड़के पार ही हो जाये। बुरे कर्म तथा दुःख तो सुखकी फिक्रके ही करते आ जाते है। सुखकी लालसाके मारे

हम इतने परीशान और बेहाल रहते हैं कि बुरे-भलेकी तमीज उस हाय-हाय में रही नहीं जाती। फलतः बुरेसे भी बुरे सुखके ही लिये कर बैठते हैं।

सुखके विवेचनमें भी जो सबसे पहले सात्त्विक सुख ही बताया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि असली सुख केवल बुद्धिकी सात्त्विकता और निर्मलतासे ही मिलता है, न कि कर्मोंसे। कर्मोंसे मानना भारी भूल है। वह सुख तो भीतर ही है, आत्मामें ही है, मौजूद ही है। केवल निर्मल बुद्धि चाहिये जो उसे देख सके, जान सके। उसे कहीं बाहरसे लाना थोड़े ही है। इस तरह कर्मोंको आत्मामें माननेकी जरूरत रही नहीं जाती है। जिस तरह इन्हीं कर्मोंके सिलसिलेमें पहले त्रिविध त्यागोंका वर्णन आया है वैसे ही यह भी वर्णन है, न कि नये सिरे त्रिगुणात्मक सृष्टिका कोई खास वर्णन है। पहले ही कही गई बातोंका कर्मके सम्बन्धमें यहाँ केवल उपयोग कर लिया गया है। इसीलिये ये "न तदस्ति पृथिव्यां वा" (१८।४०) में एक ही बार कह दिया है कि सभी भौतिक पदार्थ तो त्रिगुणात्मक ही हैं। इसलिये यह कोई नई बात नहीं है।

इस तरह कई प्रकारसे कर्मोंका असम्बन्ध आत्माके साथ सिद्ध कर चुकनेपर आगेके श्लोक प्रकारान्तरसे यही बात बताते हैं। इनका आशय केवल इतना ही है कि यदि ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि और धृति सात्त्विक हों और सात्त्विक सुखकी असलियत भी हम जान जायें, तो फिर वह नौबत आये ही नहीं जिससे इन कर्मोंको जबर्दस्ती आत्मापर थोपें। आत्मामें इनके दरअसल न रहने और उससे हजार कोस दूर रहनेपर भी जो इनकी कल्पना और थोपा-थोपी आत्मामें हो जाती है उसकी असली वजह यही है कि हमारे ज्ञान, कर्म आदि सात्त्विक न होके राजस या तामस ही होते हैं। यदि यह बात न रहे, यदि सबके सब ठीक हो जायें, सात्त्विक ही हो जायें और हम सात्त्विक सुखको बखूबी समझके उसीकी प्राप्तिमें लग जायें, तो सारी आफतें मिट जायें। यह सही है कि सबोंके ठीक होनेपर भी यदि हमारी लगन सात्त्विक सुखमें न रहे, तो सब किया-कराया चौपट ही समझिये। इसीलिये वह सबसे जरूरी है। अन्तमें वह आया भी है इसीलिये। आगेके २० श्लोकोंका सारांश यही है।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

(तीनों) गुणोंके भिन्न-भिन्न होनेसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी सांख्यशास्त्रमें तीन प्रकारके कहे गये हैं। उन्हें भी ठीक-ठीक सुन लो।१९।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिस ज्ञानके फलस्वरूप सभी जुदे-जुदे पदार्थोंमें सर्वत्र एकरस, व्याप्त और अविनाशी वस्तु ही देखते हैं वही ज्ञान सात्त्विक समझो। सभी पदार्थोंमें भिन्न-भिन्न अनेक वस्तुओंकी जो जुदी-जुदी जानकारी है वही ज्ञान राजस जानो। जो ज्ञान कुछ भौतिक पदार्थोंतक ही सीमित, उन्हींको सब कुछ माननेवाला, बेबुनियाद मिथ्या और तुच्छ है वही तामस कहा जाता है।२०।२१।२२।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

फलेच्छा न रखनेवालेके द्वारा जो कर्म निश्चित रूपसे आसक्तिसे शून्य होके बिना रागद्वेषके ही किया जाय वही सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्म फलेच्छा-पूर्वक अहंकार या आग्रहके साथ किया जाय और जिसमें बहुत परीशानी हो वही राजस कहा जाता है। जो कर्म परिणाम, बीचके नफा-नुकसान, हिंसा और अपनी शक्तिका खयाल न करके भूलसे ही किया जाय वही तामस कहा जाता है।२३।२४।२५।

यहाँ साहंकारेण शब्दका अर्थ है कर्ममें हठ या आसक्ति। क्योंकि फलकी इच्छा और कर्मकी आसक्ति ये दो चीजें हैं जिन्हें पहले बखूबी समझाया जा चुका है। पहले श्लोकमें दोनोंका त्याग कहा गया है। इसीलिये इसमें दोनोंका आना जरूरी है। मगर 'कामेप्सुना' शब्द तो फलेच्छाको ही कहता है। इसीलिये 'साहंकारेण'का ऐसा अर्थ हमने किया है। ठीक भी है यही। जब जिद होती है तभी तो 'मैं जरूर ही कर डालूँगा' यह खयाल होता है। इसी प्रकार क्षय शब्दका भी अर्थ हमने चलती भाषामें 'नफा-नुकसान' किया है, जिसे घाटा या टोटा भी कहते हैं। मगर यह अन्तिम घाटा नहीं है। क्योंकि उसके लिये तो अनुबन्ध शब्द आया ही है। इसीलिये दर्म्यानी टोटा ही अर्थ ठीक है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो आसक्तिसे शून्य हो, जो बहुत बहके न, जो धैर्य और उत्साहवाला हो (तथा) कर्मके पूर्ण होने, न होनेमें जो बेफिक्र हो वही कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। रागयुक्त, फलेच्छुक, लोभी, हिंसामें लगा हुआ, नापाक और (कर्मके पूरे होने, न होनेमें) हर्ष और शोकाकुल कर्त्ता राजस है। बुद्धिको ठिकाने न रखनेवाला, गँवार, अँकड़ा हुआ, ठग, दूसरेकी हानि करनेवाला, आलसी, रोने-धोनेवाला और असावधान कर्त्ता तामस कहा जाता है।२६।२७।२८।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय, गुणोंके भेदसे बुद्धि और धृतिके भी जो तीन प्रकार हैं उन्हें भी पूरा-पूरा अलग-अलग कहे देता हूँ, सुन लो।२९।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ, जो बुद्धि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हो सकने, न हो सकनेवाली चीज, डर-निडरता, बन्धन और मोक्ष (इन सबों) को (बखूबी) जानती है वही सात्त्विक है। जिस बुद्धिसे धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्यको ठीक-ठीक न जान सकें वही राजस है। हे पार्थ, तमसे घिरी जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सभी बातोंको उलटे ही जाने वही तामसी है।३०।३१।३२।

यहां पहले श्लोकमें जो प्रवृत्ति और निवृत्ति है उसीके अर्थमें शेष दो श्लोकोंमें धर्म-अधर्म शब्द आये हैं। इसीलिये हमने प्रवृत्ति-निवृत्तिका अर्थ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य किया है। धर्म-अधर्मका भी वही अर्थ है। कार्य-अकार्यके मानी यह हैं कि पहलेसे ही अच्छी तरह देख लेना कि यह काम हमसे हो सकता है, साध्य है या नहीं। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके निश्चयके बाद भी साध्य-असाध्यका निश्चय जरूरी हो जाता है। क्योंकि जो कर्त्तव्य हो वह जरूर ही साध्य हो यह बात

नहीं है। इसीलिये असाध्य काममें भी कर्तव्यताके निश्चयके बाद बिना सोचे-बूझे पड़ जाना ठीक नहीं है, नादानी है। बन्ध और मोक्ष तो प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कसौटीके रूपमें ही लिखे गये हैं। जिसका चरम परिणाम बन्धन और जन्ममरण हो वही अकर्त्तव्य और जिसका मोक्ष हो वही कर्त्तव्य माना जाना चाहिये। अतएव ३१वें श्लोकमें न लिखे जानेपर भी इसे समझ लेना ही होगा। यही वजह है कि ३२वेंमे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको कहके एक ही साथ बाकियोंके बारेमें कह दिया है कि जो सभी बातें उलटे ही समझे। सभी बातोंमें बन्ध-मोक्ष, कार्य-अकार्य भी आ गये।

इन तीनों श्लोकोंका सारांश यही है कि सात्त्विक बुद्धि सभी बातें ठीक-ठीक समझती है। वह मनुष्यका ठीक पथदर्शन करती है। मगर राजस बुद्धिमें किसी भी बातका ठीक-ठीक निश्चय हो पाता नहीं। न तो यथार्थ निश्चय और न उलटा। हर बातमें पशोपेश, दुविधा और चपला पाया जाता है, जिससे कर्त्ता किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐसे मौकेपर उसका उचित पथप्रदर्शन नही हो पाता। दोनोंके विपरीत तामस बुद्धि हर बातमे उलटा ही निश्चय करती-कराती है और गलत रास्तेपर ही बराबर ले जाती है। इसमें न तो दुविधा होती है और न कभी यथार्थ निश्चय हो पाता है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।३५।।

हे पार्थ, योगसे जिसका सम्बन्ध कभी टूटनेवाला न हो ऐसी जिस धृति—विशेष प्रकारके यत्न—के बलसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको काबूमें रखते हैं वही सात्त्विकी धृति है। हे अर्जुन, हे पार्थ, जिस धृतिके बलसे कर्ममें आसक्त (एवं) फलेच्छुक (पुरुष) (केवल) धर्म, काम और अर्थकी ही बातें करता है वही राजसी है। जिस धृतिके बलसे आलस्य, डर, शोक, घबराहट, मद (इन सबों) को भ्रष्ट बुद्धिवाला (मनुष्य) छोड नहीं सकता वही तामसी मानी जाती है।३३।३४।३५।

कहीं-कहीं 'पार्थ तामसी'की जगह 'तामसी मता' पाठ है। शंकरने यही पाठ माना है। हमने सम्मिलित अर्थ कर दिया है। क्योंकि 'मता' शब्द न देनेपर भी उसका अर्थ तो यहाँ हई। उसके बिना तो काम चलता नहीं। यहाँ पहले श्लोकमें

जो योग है उसका अर्थ कर्मोंमें आसक्ति एवं फलेच्छाका न होना यह पहले ही कह चुके हैं। इसका मूलाधार आत्मदर्शन बता चुके हैं। सात्त्विक धृतिका आधार यही बातें हैं। इन्हींके बलसे मन, प्राण और इन्द्रियोंको डँटा देते और जरा भी डिगने नहीं देते, चाहे हजार बलायें आयें। ऐसी ही धृतिवाले मोक्षतकको ध्यानमें रखके ही कोई काम हिम्मतके साथ करते हैं। मगर राजसी धृतिवाले मोक्षको छोड़के भटक जाते है। वे कर्मोंमे आसक्त एवं फलेच्छाके गुलाम बन जाते हैं। जहाँ सात्त्विक धृतिवाले धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारोंकी पर्वा रखके ही कुछ भी करते हैं, तहाँ राजस धृतिवाले मोक्षको भूल जाते और पूरे चतुर सांसारिक बनके धर्म, अर्थ, काम तीनकी ही पर्वा रखते हैं। यही बात दूसरे श्लोकमें कही गई है। कामका अर्थ है वही आसक्ति और इच्छा। छोटीसी बातोंसे लेकर स्वर्गतककी कामनाको ही काम कहते हैं। अर्थ कहते हैं धनको, सम्पत्तिको। सम्पत्तिके भीतर सभी पदार्थ आ गये। उनके धर्म, अर्थ और कामका परस्पर सम्बन्ध है—तीनों एक-दूसरेसे मिले रहते हैं। फलतः यदि एक भी हट जाये तो तीनों गड़बड़ीमें पड़ जायें। यह भी खास बात है कि उनके धर्म और अर्थको एक साथ जोड़नेकी बात यह काम ही करता है। किन्तु सात्त्विक धृतिमें यह बात नही है। उसमें तो काम आसक्तिके रूपमें प्रबल न होके मामूली इच्छाके ही रूपमें नजर आता है, जिससे हरेक क्रियामें प्रगति मिलती है।

अब रही तामसी धृतिकी बात। ऐसी धृतिको धृति कहना उसका निरादर ही माना जाना चाहिये। फिर भी हरेक पदार्थ त्रिगुणात्मक ही हैं। इसलिये लाचारी है। असलमें तामसी धृतिवालोंके मन, प्राण और इन्द्रियोंपर अपना काबू नहीं रहनेसे उनकी क्रियायें मनमानी चलती-बिगड़ती रहती हैं। ऐसे लोगोंमें हिम्मत तो होती ही नहीं। इसीलिये डर, अफसोस, मनहूसीमें पड़े रहते हैं। एक तरहका नशा भी उनपर हर घड़ी चढ़ा रहता है। आलस्यका तो पूछिये मत। इसीलिये नीदका अर्थ हमने आलस्य किया है। स्वप्नका अर्थ गाढ़ी नींद तो संभव नहीं। जगके उठ बैठनेको उनका जी नहीं चाहता। इसीलिये ऐसे लोग कुछ भी कर पाते नहीं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, अब तीन प्रकारके सुखोंको भी मुझसे सुन लो, (उन्हीं सुखोंको), जिनके बार-बारके मिलनेसे उनमे मन रम जाता है और दुःख भूल जाते हैं।३६।

जिस ढंगसे इस श्लोकमें शब्द दिये गये हैं उनसे भी यही स्पष्ट हो जाता है

कि सभी कामोंका आखिरी ध्येय यह सुख ही है। इसीलिये कहते हैं कि अब आखिरमें उसे भी जरा सुन लो। नहीं तो बात अधूरी ही रह जायगी। इसके बाद उत्तरार्द्धमें उसी सुखका सर्वसामान्य या साधारण रूप कह दिया है। इसमें दो बातें कही गई हैं। एक यह कि सुख वही है कि जिसके अभ्यास या देरतकके या बार-बारके अनुभवसे ही उसमें मन रमता है। वह बिजलीकी चमक, नीलकंठका दर्शन या तीर्थके जलका स्पर्श नहीं है कि जरासे अनुभव या संसर्गसे ही काम चल जाता है। ऐसा होनेसे तो सुखके बजाय दुःख ही होता है। जबानपर हलवा रखके फौरन उठा लें तो सुख तो कुछ होगा नहीं, झल्लाहट और तकलीफ भले ही होगी। ऐसा भी होता है कि बहुतसी चीजोंके प्रथम संसर्गसे कुछ मजा या सुख नही मिलता। किन्तु निरन्तरके अनुभव और संसर्गसे ही, प्रयोग और इस्तेमालसे ही उनमें मजा आने लगता है। जो लोग असभ्य हैं, जंगली हैं उन्हें सभ्यताकी चीजोंका चस्का लगाना होता है। पहले तो वे उलटे झल्लाते हैं। मगर धीरे-धीरे उनकी आवृत्ति और अभ्यास होते-होते मन उनमें रम जाता है। क्योंकि मनके बिना रमे तो मजा आता ही नही। यही वजह है कि सुख निरन्तर बना रहे, वह कमसे कम बार-बार मिलता रहे, सो भी अल्पसे अल्प विलम्बके बाद ही, इसी खयालसे लोग उसीकी हाय-धुनमें लगे रहते और बुरा-भला सब-कुछ कर डालते हैं। कर्मको आत्मामें घुसेड़नेका यह एक बहुत बड़ा कारण है।

दूसरी बात है दुःखके खात्मेको पा जाना, जिसे हमने दुःखका भूल जाना लिखा है। सुखकी इच्छा अधिकांशमें कष्टोंसे ऊबके ही तो होती है। लोग आराम चाहते ही है इसीलिये कि वेदना और पीडासे पिंड छूटे। इसीलिये तकलीफ कम होते ही कहने लगते हैं कि आराम हो रहा है। बीमार लोगोंके बारेमें प्रायः ऐसा कहा जाता है। इसीलिये हितोपदेशमें इसी रोगकी कमीके दृष्टान्तको ही लेके यहाँतक कह दिया है कि दुनियामें सुख तो हई नही, केवल दुःख ही है। इसीसे बीमारकी तकलीफ कम होनेपर उसे ही सुख कह देते है. "दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते। दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते"। मगर हमें इतने गहरे पानीमें यहाँ उतरना है नहीं और न इसकी जरूरत ही है। गीताका यह सिद्धान्त है भी नहीं। वह तो स्वतंत्र आत्मानन्दको मानती है। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि सुख मिलते ही या तो दुःख खत्म हो जाता है, वह रही नही जाता, या कमसे कम वह भूल तो जरूर जाता है, जबतक सुखका अनुभव रहे। इसलिये भी सुखकर अभ्यास चाहते हैं। क्योंकि जबतक ऐसा रहेगा दुःख भूला रहेगा। दुःखके भूल जानेमें दोनों बातें आ जाती है, दुःखका खत्म हो जाना भी और खत्म न होनेपर भी उसका अनुभव तत्काल न होना भी। इसीलिये हमने यही अर्थ किया है। यह दुःखके भूलनेकी भी चाट

ऐसी है कि हमें सभी तरहके कर्मोंको करनेको विवश करती है। साथ ही, आतुरतावश आत्माको ही हम कर्मोंका करनेवाला तथा आधार मान लेते हैं। अतएव सुखके बारेमे कही गई ये दोनों बाते बडे कामकी होनेके साथ ही प्रसंगके अनुकूल भी हैं।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो सुख अपने आरंभके समय विषकी तरह कडवा और अन्तमें अमृतकी तरह लगे, अपनी ही बुद्धिकी निर्मलता मात्रसे ही पैदा होनेवाला वही सुख सात्त्विक कहा गया है। विषयोंके साथ इन्द्रियोके सम्बन्धसे होनेवाला जो सुख शुरूमें अमृत जैसा, (लेकिन) अन्तमे विषकी तरह काम करे, वही राजस माना गया है। ज्यादा नींद, आलस्य और असावधानीमे मालूम होनेवाला जो मजा शुरूसे लेकर अन्ततक आत्माको मोहमें डालने—भटकाने—वाला ही होता है वही तामस कहा जाता है।३७।३८।३९।

यहाँ पहले श्लोकमें आत्मानन्दका ही वर्णन है। इसीलिये उसके वास्ते किसी और बातकी जरूरत नही बताई गई है। केवल अपनी बुद्धिको ही निर्मल और स्वच्छ करनेकी आवश्यकता कही गई है। वह तो मौजूद ही है, पास ही है। सिर्फ बुद्धिको एकाग्र और समाधिस्थ करनेकी जरूरत है। बुद्धिका अर्थ मन, चित्त या अन्तःकरण है। ऐसा होते ही वह आनन्द आप ही आप मिलने लगता है। कहा भी है कि "दिलके आईनेमे है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली"। गर्दन झुकानेका मतलब मनकी एकाग्रतामे ही है। 'आत्मबुद्धि प्रसादजम्'में जो आत्म शब्द है वह इन्हीं बातोंका सूचक है। यह मनकी एकाग्रता और समाधि बहुत ही कष्टसाध्य है। इसीलिये उस सुखको शुरूमें जहर जैसा कहा है। वह जहर जैसा हैके मानो है कि उसके लिये जो कुछ करना होता है वह बहुत ही कठिन है।

विषय सुखको राजस कहा है। वह पहले तो बहुत ही अच्छा लगता है और मनको रमाता है। मगर परिणाम उसका बुरा होता है। क्योंकि बाल-बच्चों और सांसारिक पदार्थोंमें ही जिसे चस्का हो गया वह परलोक और कल्याणकी बात कुछ भी करी नहीं सकता। उससे समाजहितका भी कोई काम नहीं हो

सकता है। मनोरथोंकी 'न कभी पूर्त्ति होती है और न इनसे और इनके करते होनेवाले झंझटोंसे छुटकारा ही मिलता है। फिर और बात हो तो कैसे ? इसीलिये सौभरि ऋषिके बारेमें कहा जाता है कि उनने समाधिको त्यागकर पूरे पचास विवाह किये ! फिर महल बनाके सांसारिक सुखका भोग शुरू किया ! बच्चे, पोते, परपोते आदि हो गये, भारी परिवार बढ़ गया और "गीता फैल गई" ! अन्तमें ऊबके उनने सबको लात मारी और कहा कि लाखों वर्षों में भी मनोरथों की पूर्त्ति हो नहीं सकती, आदि-आदि—"मनोरथानां न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनापि तथाब्दलक्षैः। पूर्णेषु पूर्वेषु पुनर्नवानामुत्पत्तयः संति मनोरथानाम्। पद्भ्यां गता यौवनिनश्च याता दारैश्च संयोगमिताः प्रसूताः। दृष्ट्वा सुतं तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा। आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाऽद्य। मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमात्मसंगः" । यही आशय इस श्लोकका है; न कि वेश्यागामियों या दूसरे कुकर्मियोंसे यहाँ मतलब है। उनका वर्णन तो तामस सुखमें ही आया है। क्योंकि उस सुखका काम ही है आत्माको भटकाना। प्रमादसे ही वह पैदा भी होता है। कुकर्म तो प्रमाद और भटकना ही है न ? दिनरात पड़े-पड़े ऊँघते रहें और आलसमे दिन गुजारें यही तो तामसी वृत्ति है। ऐसे लोगोंको इसीमें मजा भी मिलता है। यहाँ निद्राका अर्थ है ज्यादा निद्रा। क्योंकि साधारण नींदमें तो सभीको मजा मिलता है। गाढी नीदके बाद हरेक आदमी कहता भी है कि "खूब आरामसे सोये, ऐसा सोये कि कुछ मालूम ही न पड़ा—"सुखमहमस्वाप्सन्न किंचिदवेदिषम्" ।

इस प्रकार त्रिगुण रूपमें सुख आदिका वर्णन कर दिया। इसका प्रयोजन हम पहले ही कह चुके हैं। शायद कोई कहे कि केवल सात्त्विक कर्म, ज्ञान, कर्ता आदिके ही वर्णनसे काम चल सकता था और लोग सहज होके आत्माको कर्मसे अलग मान सकते थे। फिर राजस, तामसोंके वर्णनकी क्या जरूरत थी ? बात तो सही है। मगर जब सात्त्विकका नाम लेंगे तो खामखा फौरन आकांक्षा होगी कि राजस, तामस क्या है। जरा उन्हें भी तो जानें। और अगर यह इच्छा पूरी न हो तो निरूपण बेकार जायगा। बातें भी अच्छी तरह समझमें आ न सकेंगी। मन दुबिधेमें जो पड़ गया और समझना ठहरा उसे ही। एक बात और भी है। यदि राजस, तामसका पूरा ब्योरा और वर्णन न हो तो लोग चूक सकते हैं। वे दरअसल राजस या तामसको ही भूलसे सात्त्विक मान बैठ सकते हैं। इसीलिये साफ-साफ तीनोंको एक ही साथ रख दिया है; ताकि आईनेकी तरह देख लें और धोकेसे बचें।

इस प्रकार सब कुछ कह चुकनेके बाद इसका उपसंहार करते हुए, जैसा

कि कहा है, अगला श्लोक बताये देता है कि यह तो आश्चर्यकी कोई बात है नहीं। जमीन आसमान कहीं भी जो चीज होगी उसमें तीनों गुण होंगे ही। इसीलिये केवल सजग होनेकी जरूरत है। नहीं तो इनके सिवाय औरोंसे भी धोका हो सकता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

भूमंडलमें या आकाश और स्वर्गके निवासी देवताओंतकमें भी ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।४०।

पृथ्वीके किसी पदार्थका नाम न लेकर स्वर्गके देवताओंका नाम लेनेका प्रयोजन इतना ही है कि पार्थिव पदार्थोंको तो सभी लोग त्रिगुणात्मक मानते-जानते हैं। अन्य स्वर्गीय पदार्थोंको भी ऐसा शायद समझ सकते हैं। स्वर्गमें देवताओंके अलावे और भी पदार्थ यक्षादि होते ही हैं। साथ ही, दिव तो आकाशको भी कहते हैं और उसमें प्रेतादि भी रहते ही हैं। वे भी त्रिगुणात्मक हो सकते हैं। किन्तु देवताओंको दिव्य या अलौकि खयाल करके कोई शायद त्रिगुण न माने, इसीलिये उनको खासतौरसे कह दिया। वजह भी दे दिया कि सभी तो प्रकृतिसे ही बने हैं। इसीलिये किसीपर भी भरोसा न करके अपनी बुद्धिकी निर्मलताका ही सहारा लेना होगा।

इसी तरह सत्त्वका अर्थ पदार्थ है, न कि सत्त्व गुणमात्र। यह ठीक है कि सत्त्वगुण कहीं भी विशुद्ध नहीं है। उसमें भी रज और तमका मेल कभी कम, कभी ज्यादा रहता ही है। इसीसे सत्त्वका अर्थ पदार्थ हो भी गया। क्योंकि किसीमें कम और किसीमें अधिक सत्त्व तो रहता यही है। आशय यही है कि खबरदार, विशुद्ध सत्त्व कहीं नहीं है। इसलिये सतर्क रहना ही होगा। नहीं तो बुद्धिकी पूरी सफाईके बाद भी उसपर रज, तमका धावा हो सकता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इसका उपाय क्या है कि सात्त्विक कर्म, ज्ञान, बुद्धि, सुख आदि ही रहें और राजस, तामस, रहने न पायें—लोग इन दोनोंके फेरमें न पड़के सात्त्विकके ही पीछे लगे रहें? बिना उपाय जाने काम चलेगा भी कैसे? साथ ही, जो उपाय हो भी वह किस तरह काममें लाया जाय, जिसमें कभी गड़बड़की गुंजाइश न रहे, यह भी प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसीलिये आगेके श्लोकोंमें इन्हीं दोनोंका उत्तर देते हुए समूचा अध्याय पूरा करके गीताका भी उपसंहार कर दिया गया है। इसमें भी पहलेके चार (४१-४४) श्लोकोंमें उपायों-को बताके शेष श्लोकोंमें उन्हींका प्रयोग बताया गया है। यह ठीक ही है कि

दवाका प्रयोग निरन्तर तो होता है नहीं। बीच-बीचमें विराम तो करते ही हैं। कभी-कभी तो लम्बी मुद्दत तक दवा छोड़के देखते हैं कि मर्ज गया या नहीं। उस समय दवाका छोड़ देना ही दवाका काम करता है। नहीं तो आवश्यकतासे अधिक दवाका प्रयोग कर देनेका खतरा आ सकता है। ठीक यही बात कर्मोंकी है। वर्णोंके कर्म तो उपायके रूपमें ही कहे गये हैं। मगर उन्हें छोड़ देनेकी भी जरूरत दवाकी ही तरह हो जाती है। नहीं तो इनका जरूरतसे ज्यादा प्रयोग हो जानेसे ही हानि हो सकती और काम बिगड़ सकता है। इस प्रकार कर्मोंके स्वरूपतः त्यागकी भी बात इसी सिलसिलेमें आ जाती है, आ गई है और वह उचित ही है। जलचिकित्साशास्त्रका तो यह एक नियम ही है कि बीच-बीचमें जरूर ही जलचिकित्सा बन्द कर दी जानी चाहिये। नही तो वह मनुष्यका एक तरहका स्वभाव बन जाती है। फिर तो उसका कुछ भी असर नहीं होता है।

हाँ, तो आगेके चार श्लोकोंमें जो वर्णोंके धर्म कहे गये हैं वह त्रिगुणोंसे बने विभिन्न स्वभावोंके अनुसार ही माने गये हैं। बार-बार उन श्लोकोंमें यह बात कही गई है। यहाँतक कि हरेक वर्णके बारेमें अलग-अलग उसका जिक्र किया है। पहले श्लोकमें चारोंके बारेमें एक साथ भी कह दिया है कि ये कर्म स्वाभाविक होते हैं, प्रकृतिके अनुसार ही होते हैं। हमने इस बातपर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाल दिया है। इस प्रसंगमे इनके कहे जानेका आशय यही है कि यदि गुण-तारतम्यके अनुसार बनी हुई मानव प्रकृतिको जाँच करके उसीके अनुसार उसके कर्म निर्धारित किये जायें, तो राजस-तामसका झमेला खड़ा होगा ही नही। क्योंकि सात्त्विक प्रकृतिवाले तो उनसे योंही बच जायँगे। उन्हे दूसरे कर्म मिलेंगे ही नहीं। इसीलिये राजस-तामस सुखोंका भी मौका ही उन्हे न लगेगा। उनकी बुद्धि और धृति भी वैसी ही होगी। यदि कुछ कसर भी रहेगी तो ये कर्म ही उसे ठीक कर देंगे।

रह गये राजस तथा तामस प्रकृतिवाले। जब इन्हें भी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करनेकी विवशता होगी तो वे उसमें विशेषज्ञ और पारंगत हो जायँगे। नतीजा यह होगा कि उनकी हकीकत और असलियत समझने लगेंगे। फिर तो धीरे-धीरे अपने भीतर ऐसी भावना और ऐसे संस्कार पैदा करेंगे कि स्वयमेव उनकी प्रकृति बदलेगी। फलतः इस जन्ममे नहीं, तो आगे सात्त्विक मार्गपर आई जायँगे। विशेषज्ञताका तो मतलब ही है उसका रस-रेशा पहचान लेना। उसका सिर्फ यही मतलब नहीं होता कि उसपर अमल अच्छी तरह किया जाय। किन्तु उसकी कमजोरियाँ, बुराइयाँ और हानियाँ भी मालूम हो जाया करती हैं, आँखोंके सामने नाचने लगती हैं और यही चीज आगेका रास्ता साफ करती है। वर्णाश्रमोंके

धर्मोंकी इस तरह सख्तीके साथ पाबन्दीकी जो बात पहले जमानेमें थी उसका यही मतलब था। हम यह पहले ही अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। आज जो श्रम-विभाजन (division of labour) का सिद्धान्त बहुत व्यापक रूपमें काम-में लाया जाकर पराकाष्ठाको पहुँचा दिया गया है, वह कोई नई बात नहीं है। वर्णाश्रमधर्मोके विभागके मूलमें यही सिद्धान्त काम करता है। इससे ही समाजकी प्रगति पहलेके ऋषि-मुनि मानते थे। आश्चर्य है कि आधुनिक विज्ञान भी यही बात रूपान्तरमे मानता है। डॉक्टर ऐडम स्मिथने अठारहवीं सदीके उत्तरार्द्धमें जो एक महत्वपूर्ण पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्रके बारेमें लिखी है और जिसका नाम है ' राष्ट्रोंकी सम्पत्ति" (The Wealth of Nations by Dr. Adam Smith), उसके शुरूमें, पहले ही परिच्छेदमें, वह यही बात यों लिखते हैं—

"In the progress of society philosophy or speculation becomes, like every other employment, the principal or sole trade and occupation of a particular class of citizens. Like every other employment, too, it is subdivided into a great number of different branches each of which affords occupation to a peculiar tribe or class of philosophers; and this subdivision or employment in philosophy as well as in every other business, improves dexterity, and saves time. Each individual becomes more expert in his own peculiar branch, more work is done upon the whole, and the quantity of science is considerably increased by it."

इसका आशय यह है, "समाजकी प्रगतिके सिलसिलेमें हरेक दूसरे कामोंकी ही तरह दर्शन या मनन-चिन्तन भी नागरिकोंके एक खास वर्गका मुख्य या सोलहों आना काम और पेशा बन जाता है। फिर दूसरे कामोंकी ही तरह यह भी अनेक विलक्षण विभागोंमे बँट जाता है और हरेक विभाग एक विलक्षण वर्ग या जातिके दार्शनिकों और दिमागदारोंके लिये काम दे देता है। दर्शन और चिन्तनका यह विभाग हरेक दूसरे पेशोंके विभागकी ही तरह कुशलता एवं विशेषज्ञताकी प्रगति करता है और समय भी बचाता है। इस तरह हरेक व्यक्ति अपने खास विभाग या उसकी शाखामें अधिक कुशल हो जाता है, सब मिलाके इस तरह काम भी ज्यादा होता है और विज्ञानके प्रसारमें प्रगति ज्यादा हो जाती है"।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप, स्वभावको बनानेवाले तीनों गुणोंके (तारतम्यके) फलस्वरूप ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रोंके कर्म बिल्कुल ही बँटे हुए है ।४१।

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, नम्रता या सिधाई, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, (ये) ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म है ।४२।

आस्तिकताका अर्थ श्रद्धा है ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।

शूरता, दब्बूपनका न होना, धैर्य (युद्ध शासनादिमे) कुशलता, युद्धसे न भागना, दान और शासनकी योग्यता, (ये) क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म है ।४३।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

खेती, पशुपालन (और) व्यापार (ये) वैश्योंके स्वाभाविक कर्म है । शूद्रोंका भी स्वाभाविक कर्म सेवा-रूप ही है ।४४।

यहाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियोंके स्वतंत्र रूपमे विस्तृत कर्मोका जुदाजुदा वर्णन और शूद्रों तथा वैश्योके कर्मोका एक ही श्लोकमे संक्षेपमे ही वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय वैश्य और शूद्रका दर्जा प्राय समकक्ष, परतंत्र और छोटा माने जाने लगा था। मगर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रायः ममकक्ष होनेके साथ ही ऊँचे एवं स्वतंत्र माने जाते थे। शूद्रके कामका तो खास नाम भी नहीं दिया है। किन्तु "सेवा-रूप" कह दिया है। इससे खयाल होता है कि जरूरत होने पर उससे हर तरहका काम करवाके उस कामको सेवाका रूप दे दिया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि समाजके लिये वह फिर भी बहुत ही उपयोगी और जरूरी था। आखिर सेवाके बिना समाज टिकेगा भी कैसे ? हमने इसपर पूरा प्रकाश पहले ही डाला है। इस श्लोकमे "शूद्रस्यापि" मे शूद्रके साथ 'भी'के अर्थमे 'अपि' आया है। उसमे यह भी साफ झलकता है कि उस समय सेवा धर्म शेष तीन वर्णोका भी था और आज उसे जितना बुरा मानते है, पहले यह बात न थी। इसीके साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि शूद्रोंका कोई अपना खास पेशा या काम न था। जरूरत होने पर वह तीनों वर्णोका काम करते रहते थे। हमने इस पहलू पर भी पहले ही ज्यादा प्रकाश डाला है। शेष तीनके साथ 'अपि' न देके केवल शूद्रके साथ ही देनेका दूसरा आशय हो नही सकता। ऐसी

दशामें शूद्रोंको छोटे या नीच माननेका एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि उनकी स्वतंत्र हस्ती न थी, जैसी कि शेष तीनकी थी। क्योंकि उनका कोई निजी पेशा न था। और जान पड़ता है, उस समय निजी पेशेका होना जरूरी एवं प्रतिष्ठाका चिह्न माना जाता था। इसीलिये शूद्र छोटे समझे गये। वैश्योंके भी छोटे माने जानेकी प्रवृत्ति शायद इसीलिये हुई कि खेती, व्यापार या पशुपालनकी उस समय कोई खास जरूरत न थी। या तो इनके द्वारा होनेवाला समाज का काम आसानीसे चला जा रहा था और खेती, पशुओं या व्यापारकी प्रचुरता थी; या यह कि अभी उस ओर समाजका विशेष ध्यान न गया था। फलतः ये बीज रूपमे ही थे। भरसक यह दूसरी ही बात थी। मगर इसपर अधिक विचार यहाँ हो नहीं सकता।

फिर भी इतना तो जान ही लेना होगा कि जब तीन ही गुणोके अनुसार वर्णोंके कर्म बँटे है और यह बँटवारा स्वाभाविक है, न कि जबर्दस्ती बना या बनावटी, तब तो दरअसल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्ही तीन वर्णोंकी संभावना रहती है, न कि चौथेकी। यों तो हमने भी पहले इसी तरहके प्रसंगमें चारों वर्णोंका बँटवारा कर दिया है। मगर वह बात हमारी अपनी न होके परम्परासिद्ध ही है। वहाँ हमने अपनी ओरसे इस तीन या चारके बारेमे कुछ न कहके उसीका उल्लेख कर दिया है। अपनी बात तो हमने अलग ही कही है। शूद्र नामका कोई स्वतंत्र वर्ण न था, हमने यही लिखा है। लेकिन जब यहाँ इन श्लोकोंके शब्दों और प्रसंगोंको देखते हैं तो हमे साफ कहना ही पड़ता है कि शब्दोंके अर्थसे भी तीन ही वर्ण सिद्ध होते हैं। अगर सत्त्व, रज, तमकी मिलावटमें कमी-बेशी करके चौथेका भी रास्ता निकाल लें, जैसा कि किया जाता है और हमने भी लिखा है तो इस तरह चारसे ज्यादा जानें कितने ही वर्ण बन सकते हैं। क्योंकि मिलावटमें जो कमी-बेशी होगी वह तो हजारों तरहकी हो सकती है न? आधा, चौथाई, दशमांश, शतांश, सहस्रांश आदिके हिसाबसे वह सम्मेलन, वह मिश्रण हजारों तरहका हो जायगा। इसलिये हमारे जानते यह बात दार्शनिक युक्तिसे शून्य है।

देखिये न, ४१वें श्लोकमें ही तो 'प्रविभक्तानि' लिखा है, जिसका अर्थ है कि सबोंके कर्म बिलकुल ही जुदे-जुदे हैं। मगर जब सेवा सबोंका धर्म बन गई और शूद्रके लिये दूसरा कुछ बताया ही नहीं, तो उसके कर्मको प्रविभक्त कहना कैसे उचित होगा? और अगर यह बात न हो तो उसे स्वतंत्र वर्ण कैसे माना जाय?

इसी ४१वें श्लोकमें ही एक मजेदार बात और है। आगे तो ब्राह्मण और

क्षत्रियको अलग-अलग श्लोकोंमें कहके शूद्र और वैश्यको एक हीमे कह दिया और जैसे-तैसे काम चला लिया है। पहले भी "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" (९।३२)में इसी तरहकी बात आई है। हमने वहीं इसका इशारा भी कर दिया है। मगर ४१वें श्लोकमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंका एक ही समस्त पद बनाके 'ब्राह्मण-क्षत्रियविशां' कह दिया है। केवल शूद्रको अलग 'शूद्राणां' कहा है। समास करने पर श्लोकमे अक्षर न बढ जाय और छन्दमे गडबड न हो जाय इसके लिये वैश्यकी जगह उसी अर्थमे विश्शब्द रखना पड़ा है। फिर भी चाहते तो "विप्राणां क्षत्रियाणां च विट्शूद्राणां च भारत" ऐसा श्लोक बना दे सकते थे। किन्तु ऐसा न करके तीनोंको एक जगह जोडनेमे यही आशय प्रतीत होता है कि दरअसल विभक्त कर्म तीनके ही है और स्वतंत्र वर्ण भी यही है। हाँ, शूद्र भी माना जाता है। मगर उसके कर्म ऐसे नही है।

और जब सब चीजे तीन ही तीन गिनाई गई भी है तो वर्णोंको एकाएक चार कह देना भी प्रसंगसे अलग सा हो जाता है। वैश्यके व्यापारको सत्यानृत या झूठ-सचकी चीज कहते भी है और खेती भी हिंसामय ही है, और ये दोनों तामसी ही है। इसलिये उसे तामस, क्षत्रियको राजस और ब्राह्मणको सात्त्विक मानना ही उचित है। यही बात खूब जॅचती भी है। क्षत्रिय तो राजा भी कहा जाता है और उसको राजसी ही बात मानी भी जाती है। ज्ञान तो सात्त्विक हुई। बस, अधिक आगेके लिये।

अब आगे ४५वे श्लोकसे जो बात शुरू होती है वह यही कि जो उपाय कर्मके रूपमे बताया गया है वह इष्टसिद्धिके लिये काममे लाया कैसे जाय।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अपने-अपने कर्मोमे लगे रहनेवाला मनुष्य ही मनकी शुद्धि—बुद्धिकी निर्मलता—प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मोमे ही लगा हुआ (वह यह) शुद्धि जैसे प्राप्त करता है वह भी सुन लो। जिस भगवानसे ही पदार्थोकी सृष्टि हुई और जो सम्पूर्ण जगत्मे व्याप्त है, मनुष्य अपने कर्मोसे ही—कर्मोंके रूपमे ही—उसीकी पूजा करके (यह) सिद्धि—मनःशुद्धि—पा जाता है।४५।४६।

पहले जो "यत्करोषि" (९।२७) आदिके द्वारा अपने-अपने कर्मोंके करनेको ही भगवानकी पूजा कहा है उसीसे यहाँ मतलब है, न कि किसी और बातसे,

अक्षत, घंटीवाली पूजासे। स्वकर्मणा शब्दसे यह बात साफ है। ऐसा करनेसे कैसे मनकी शुद्धि होगी अब यही बात कहना जरूरी था और ४६वें श्लोकमें यही कही भी गई है। लेकिन शायद लोग अपने-अपने कर्मोंसे डिग जायें और पूजाका दूसरा ही आरती, घंटीवाला रूप खड़ा कर दें; इसीलिये उधरसे रोकने और स्वकर्म पर ही जोर देनेकी जरूरत आगे बढ़नेके पहले ही समझी गई। दो श्लोकमें यही बात कह भी दी गई है। ठीक भी है न? पूजा तो और ही चीज मानी जाती है। यह निराली पूजा कैसी? लोगोंको सहसा ताज्जुब हो सकता है। इसलिये उसकी सफाई कर देना जरूरी हो गया। ऐसा भी हो सकता है कि शासन और युद्धादिके कामोंको निर्दयता और हिंसाकी चीज समझ लोग उससे हिचकें। इस तरह सारे गुड़के गोबर हो जानेकी शंका बनी रहेगी ऐसे कामोंको तो खामखा कोई भी पूजा माननेको जल्दी तैयार होगा ही नहीं। इसलिये फौरन ही ये बातें साफ कर दी गई हैं। निर्दयता और हिंसाकी दलीलका भी यही उत्तर दे दिया है कि सृष्टिके त्रिगुणात्मक होनेके कारण सर्वत्र ही बुराइयाँ रहती ही हैं। भले-बुरे सभी मिले-जुले हैं। क्या साँस लेने और आरती-चन्दनमें हिंसा नहीं है? फिर इस वाहियात बातमें क्या पड़ना?

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

दूसरेके धर्म या स्वाभाविक कर्मको अच्छी तरह या आसानीसे कर लेनेपर भी उसकी अपेक्षा अपना अधूरा या दीखनेमें बुरा भी धर्म कहीं अच्छा है। (क्योंकि) स्वभावके ही अनुसार निश्चित कर्मोंके करनेमें (दरअसल) कोई पाप या बुराई नहीं होती। (इसीलिये) हे कौंतेय, (देखनेमें) दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म कभी न छोड़े। क्योंकि जैसे आग धुएँसे घिरी होती ही है वैसे ही सभी काम दोषसे घिरे ही (नजर आते) हैं।४७।४८।

इन श्लोकोंमें एक तो "विगुण:", "स्वनुष्ठितात्" तथा "सदोषम्" पदोंके अर्थ जरा लम्बे चौड़े हैं। दोषमें सभी तरहकी छोटी-बड़ी बुराइयाँ, हानियाँ और त्रुटियाँ आ जाती हैं, न कि सिर्फ हत्या वगैरह पापोंसे यहाँ मतलब है। दूसरी बात यह भी है कि ऊपरसे देखनेमें ही ऐसा मालूम होनेसे यहाँ तात्पर्य है। क्योंकि वाकई तो बुराई किसीमें भी नहीं है। सबके सब तो पूजा ही हैं। और अगर बुराई है तो सबोंमें है। यह ठीक है कि किसीमें साफ दीखती है और किसीमें नहीं। बस, यही आशय है। इसी तरह विगुणका अर्थ है अधूरा किया

हुआ और देखनेमें दोषयुक्त। हमने ये दोनों ही अर्थ मिलाके लिख दिये हैं। स्वनुष्ठितात् (सु + अनुष्ठितात)के भी दो मानी है, अच्छी तरह किया गया और आसानीसे किया गया। सहजं शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यके जन्मके साथ ही जो कर्म पैदा हुए वही स्वाभाविक कर्म है, जैसे बतकका तैरना, न कि पीछेसे सिखाये या बलात् लादे गये। वर्णधर्मकी यही बड़ी खूबी थी, न कि आज जैसी धक्कममुक्की।

यों तो हमने कही दिया है कि वर्णव्यवस्था विशेषज्ञता सम्पादनके द्वारा आत्माको कर्मसे अलग करने या सात्त्विक कर्ममें धीरे-धीरे लग जानेका रास्ता साफ करती है। मगर उतनी दूर न जाके भी यदि स्वाभाविक कर्मोंको अनासक्तिके साथ करें तो भी काम बन जाये। यह अनासक्ति भी स्वाभाविक कर्मोंमें ही पूरी-पूरी हो सकती है, जैसे माँस लेने या मलादिके त्यागमे। इनमें कौनसी आसक्ति किसीको होती है? बनावटी कर्मोमे यह बात या तो असंभव है या अत्यन्त दुःसाध्य। ऐसे कर्मवाले पथभ्रष्ट जो ठहरे। और पथभ्रष्टको रास्ते पर लाना तो कठिन हई। इस तरह अनासक्तिपूर्वक स्वधर्म करते हुए ही मनकी पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर तो फौरन समाधिकी दशा आ जानेपर कर्मोका स्वरूपतः त्याग करके पूरी निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है। क्योंकि आसक्तिके त्यागसे एक तरहका कर्मत्याग तो पहलेसे ही रहता है। मगर स्वरूपतः कर्मोके करते रहनेसे वह पूर्ण या परम कर्म-त्याग नही होता; किन्तु अधूरा। वही परमत्याग हो गया, जब समाधिके लिये स्वरूपतः भी कर्म छोड़ दिये गये। यदि "न कर्मणामनारंभात्" (३।४) श्लोककी मिलान हम इस ४९वेंसे करें तो पता लग जाय कि वही नैष्कर्म्य और सिद्धि शब्द यहा भी है। मगर जो कमी वहाँ बताई गई है उसकी पूर्त्ति करके यहाँ परम नैष्कर्म्यका सच्चा रूप खड़ा कर दिया है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

सभी चीजोमें जिसकी बुद्धि आसक्तिशून्य है, काबूमे है और जो सभी इच्छासे रहित है, (वही मनुष्य कर्मोके स्वरूपतः) संन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्यकी प्राप्ति कर लेता है।४९।

इसीलिये हमने पहले भी कह दिया है कि इसी श्लोकमे संन्यास शब्दका अर्थ है स्वरूपतः कर्मोका त्याग। नैष्कर्म्यका परम विशेषण भी इसीसे संगत हो सकता है। इसके बाद तो 'संन्यस्य' शब्द एक ही बार ५७वें श्लोकमे आया है। मगर वहाँ कर्मोका स्वरूपतः त्याग अर्थ है नही। वह शब्द क्रियावाचक है और अर्पण, रखने या समर्पणके ही मानीमे आया है। हाँ, तो इस तरह पूर्ण कर्म-त्याग हो

जाने पर किस तरह ब्रह्मात्माका साक्षात्कार होता है और उसमें कर्मकी निर्लेपता प्रतीत होने लगती है, झलक जाती है, यही बात आगेके चार श्लोक (५०-५३) बताते हैं। इसीको समाधि कहते हैं, ध्यान योग कहते है तथा ज्ञाननिष्ठा, समाधिनिष्ठा और ध्याननिष्ठा भी कहते हैं। इसीके चलते पूर्ण ज्ञान और आत्मदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये ज्ञाननिष्ठा इसे कहा गया है। बिना ऐसा किये ज्ञान परिपक्व नहीं होता और न सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है। फिर कर्म छूटे कैसे और आत्मा निर्लेप दिखे कैसे ?

इसके बाद ५४वें श्लोकमें उस ज्ञान या आत्म-दर्शनका स्वरूप कहके ५५वेंमें कारण बताया है कि क्यों उसे पूर्ण ज्ञान, ज्ञाननिष्ठा या आत्मदर्शन कहते हैं। उसका परिणाम भी कह दिया है कि आत्मा ब्रह्मरूप हो हो जाती है, उसीमें मिल जाती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

(इस प्रकार पूर्ण नैष्कर्म्यकी) सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर (मनुष्य) जिस तरह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है और जिसे परले दर्जेकी ज्ञाननिष्ठा कहते हैं वह मुझसे जान लो। निर्मल सात्त्विक बुद्धिवाला (मनुष्य) (सात्त्विक) धैर्यके बलसे मनको रोकके, शब्द आदि (इन्द्रियोंके) विषयोंको छोड़के और रागद्वेषको हटाके एकान्त देशका सेवन करते, हलका भोजन करते तथा जबान, मन और शरीरको काबूमें रखे हुए निरन्तर ध्यानयोग में ही दत्तचित्त होता एवं वैराग्यको पक्का कर लेता है। (फलतः) अहंकार, बलप्रयोग, ऐंठ, काम, क्रोध और सभी लवाजिमसे नाता तोड़े हुए, ममतारहित (तथा पूर्ण) शांतियुक्त होके ब्रह्मका रूप हो जाता है।५०।५१।५२।५३।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

ब्रह्मस्वरूप निर्मल मनवाला (मनुष्य) न तो कोई चिन्ता रखता है, न इच्छा। वह सभी पदार्थोंमें समदृष्टि-रूप मेरी परमभक्ति पा जाता है। मुझ आत्मा-ब्रह्मका जो भी और जैसा भी स्वरूप है उसे इस समदर्शन रूप भक्तिके बलसे अच्छी तरह जान जाता है (और) (इस तरह) मेरे तत्त्वज्ञानके बाद ही फौरन मुझमें प्रवेश कर जाता है।५४।५५।

यहाँ भक्तिको परा कहा है। इसका अर्थ है सबसे ऊँचे दर्जेकी भक्ति, जिसे "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" (७।१८) में पूर्ण ज्ञान कहा है और जिसका स्वरूप वासुदेवः सर्वमिति" (७।१९) बताया है। यदि परा भक्ति न हो तो वहाँ निचले दर्जेके तीन भक्त गिनाये हैं उन्हींवाली भक्ति हो जायगी। यहाँ भी उसका रूप "समः सर्वेषु भूतेषु" कह दिया है। इसीलिये उसका पूरा विवरण भी "भक्त्या मामभिजानाति"में कर दिया है, जिसमें कोई शकशुभा रही न जाय। मुझमें प्रवेश करने का अर्थ कहीं जाना-आना नहीं है। इसीलिये 'मयि विशते' न कहके 'मां विशते' कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ "समुद्रमापः प्रविशंति" (२।७०) जैसा ही है। वहाँ भी वही द्वितीयान्त है जैसा यहाँ।

इस प्रकार जब आत्मदर्शी और ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है तो उसकी क्या दशा होती है यह प्रश्न स्वभावतः उठता है और उसका उत्तर जरूरी हो जाता है। उसकी दोई हालतें हो सकती है। वह वामदेव, शुकदेव आदिकी तरह बिलकुल ही मस्तराम हो सकता है। फिर तो कोई सुधबुध उसे रही न जायगी। उसीकी बात "यस्त्वात्मरतिरेव" (३।१६) में कही जा चुकी है। असलमें ऐसे लोग एक तो कम होते ही है। क्योंकि जीतेजी मुर्दा बनना आसान नहीं। यह बड़ी ही दुर्लभ बात है। दूसरे व्यावहारिक दुनियामे आमतोरसे न तो उन्हें लोग पहचानी सकते और न उनसे कोई फायदा ही उठा सकते। गीताको व्यावहारिक संसारकी ही ज्यादा पर्वा भी है। अर्जुनके लिये यही उपयुक्त भी था। प्रथमतः तो उसी-को यह उपदेश दिया भी गया है। इसीलिये मस्तरामोंकी बात फिर कहनेकी कोई खास जरूरत रही नही गई थी, हालाँकि अगले श्लोकमें उनकी भी बात है, यह आगे स्पष्ट हो जायगा। उनके बारेंमे किसीको कोई शकशुभा भी तो नहीं हो सकता कि वह निर्वाण मोक्ष प्राप्त करेंगे या नहीं। मगर जिनकी दूसरी हालत होती है और जो लोकसंग्रह करते हैं उनका व्यवहारमे पूरा उपयोग होनेके साथ ही उनके बारेमें यह खयाल हो सकना स्वाभाविक है कि जब वे जनसाधारणकी ही तरह सब कुछ करते-धरते नजर आते हैं, तो उन्हें निर्वाण मुक्ति कैसे होगी? फलतः इन्हींके बारेंमें अन्तमें स्पष्टतया कह देना जरूरी हो गया कि चाहे वह कहीं किसी भी दशामें रहें और कुछ भी करते रहें, फिर भी परम धाम, शाश्वत

पद या निर्वाण मुक्ति उनके लिये धरी-धराई ही है। यही बात आगेके पाँच श्लोकोंमें कही गई है। अर्जुनको यह भी कह दिया गया है कि तुम्हारे जैसोंके लिये तो यही रास्ता है। दूसरा हई नहीं। इसीलिये यदि तुमने नादानी की और दूसरा मार्ग लिया तो चौपट हो जाओगे। यह भी बात है कि तुम ऐसा कर भी नहीं सकते। क्योंकि तुम्हारा तो क्षत्रियवाली प्रकृति है। इसलिये वह तुम्हें युद्धसे अलग जाने न देगी। प्रत्युत इसीमें तुम्हे जरूर जोत देगी।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सदा सभी तरहके कर्मोको करता हुआ भी मेरा स्वरूप बना हुआ (ऐसा मनुष्य) मेरी कृपासे—आत्मसाक्षात्कारके फलस्वरूप—निर्विकार शाश्वत पद—मोक्ष—पा जाता है।५६।

इसीलिये अर्जुनको आगे स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि तुम मोक्ष या परलोकको चिन्ता छोडके जैसा कहा जाता है करो और आत्मदर्शन, जिसे बुद्धियोग, ज्ञानयोग और सांख्ययोग भी कहते है, के बदले सभी कर्मोको भगवानको सौंपके उनकी जवाबदेहीसे अलग हो जाओ। अबतक जो तुम समझते थे कि आत्मामें ही कर्म है उसे गलत समझ कर्मको भगवानमे फेंकके भस्म कर दो और आत्माके सिवाय और कुछ देखो ही मत। इस तरह यहाँ कर्मोको आत्मामें न रहने देने या न माननेकी बातका उपसंहार भी साफ-साफ हो जाता है। इस ५७वें श्लोकका आशय पहले ही बताया जा चुका है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

(इसी ज्ञानयोगकी शरण जाके) मन और हृदयसे सभी कर्मोको परमात्मामें समर्पित करो, उसीमें चित्त लगाओ और उससे बढ़के और कुछ न जानो। परमात्मामे चित्त लगानेसे उसीकी कृपासे—आत्मज्ञानके ही प्रतापसे—सभी संकटोंसे पार हो जाओगे। लेकिन यदि घमंड में आके (मेरी यह बात) न सुनोगे

तो चौपट हो जाओगे। (इतना ही नहीं।) अगर अहंकारमें आके तुमने नहीं ही लड़नेका निश्चय किया भी तो तुम्हारा यह उद्योग—यह निश्चय—झूठा होगा—व्यर्थ होगा (और) तुम्हारा स्वभाव तुम्हें (लड़ाईमें) डालके ही रहेगा। (क्योंकि) हे कौन्तेय, अपने स्वाभाविक कर्मके साथ जकड़े होनेके कारण यदि यह काम—युद्ध—भूलमें नहीं भी करना चाहो तो भी मजबूरन तुम्हें इसे करना ही होगा। ५७।५८।५९।६०।

कर्मोका भगवानमें संन्यास या अर्पण क्या चीज है और इस तरह आत्मासे उनका कैसे सम्बन्ध छूट जाता है इसपर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

यहाँ जो बार-बार 'मयि', 'मत' आदि शब्दोंके द्वारा परमात्माका उल्लेख किया गया है उससे शायद लोगोंको यह भ्रम हो सकता है कि ईश्वर या परमात्मा कोई दूसरा पदार्थ है जो कहीं अन्यत्र रहता है। उसीमें मन लगाने और उसे ही कर्मोको अर्पण करनेकी बात कही गई है। क्योंकि यदि वह आत्माका स्वरूप ही हो तो कर्मोको आत्मामें ही रखना हो जायगा न? संन्यस्य शब्द जो पहले ५७वें श्लोकमें आया है उसका तो अर्थ ही है धरोहर या थाती रखना। ऐसी दशामें अबतकका यह कहना व्यर्थ हो जायगा कि आत्मामें कर्म रहता ही नहीं, उसका कर्मसे ताल्लुक हई नहीं। इसीलिये ईश्वरको अलग ही मानना ठीक है।

मगर ऐसा समझनेवालोंके सामने भी तो यह दिक्कत रही जाती है कि आत्मा या जीवका कर्म, या यों कहिये कि मनुष्योंका कर्म वहाँ कैसे रखा जायगा? और जब पहले ही कह दिया है कि "न च मां तानि कर्माणि" (९।९)—"इन कर्मोमें मेरा कोई ताल्लुक हई नही", तो फिर कर्म उसमें रहने पायेंगे कैसे? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर तो कर्मोके लिये अग्नि जैसा ही है, और भस्म हो जानेके लिये ही उसमें कर्म डाल दिये जाते हैं, तो यह बात तो "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" (४।३७) के द्वारा पहले ही कह दी गई है कि आत्मज्ञानके द्वारा ही सभी कर्म दग्ध हो जाते हैं। इसलिये एक तो ईश्वरमें डालनेका भी अर्थ समदर्शन ही होगा। दूसरे ईश्वर आत्मासे जुदा फिर भी सिद्ध न होगा। फिर तो वह शंका बेबुनियाद ही सिद्ध होगी।

असल बात यह है कि आत्मज्ञानी कर्मोकी पर्वा करता ही नहीं कि वे क्या चीज है और कब कैसे हो रहे हैं। उनका परिणाम क्या होगा यह भी खयाल उसके दिलमें भूलकर भी नहीं आता है। वह तो यही जानता है कि सृष्टिका अर्थ ही है क्रिया, कर्म (action)। इसलिये जो कुछ होता है वह तो सृष्टिके

इसी नियमके अनुसार ही हो रहा है। इसमे मुझे क्या लेना-देना है ? मै क्यों नाहक इस बलामे फँसने जाऊँ ? जिसने यह सब कुछ बनाया है वह जाने, उसका काम जाने। इस प्रकार आत्माको निर्लेप समझके लोकसंग्रहके कर्मोको करते रहना ही उन कर्मोका भगवान या ब्रह्मात्मामे सन्यास है, अर्पण है, डाल देना है।

इसलिये अगले श्लोक यही बात बताते है कि भगवान कही बाहर नही है। न तो वह बैकुंठ या ब्रह्मलोकमे है और न तीर्थो या मन्दिरोमे। वह तो अपनी आत्मा ही है। फलत. हृदयमे ही बसता है। हृदयमे बसनेका भी यह अर्थ नही है कि हृदय उसका घर है। उसका पहला आशय तो यही है कि वह आत्मासे अलग नही है। दूसरा आशय यह है कि वह तर्क-दलीलो और युक्तियोसे न जाना जाकर हृदय-ग्राह्य ही है। "ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्" (१३।१७) तथा "सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्ट" (१५।१५) मे भी यही बात कही गई है। केवल तर्क-दलीलोका आश्रय लेना नास्तिकता और निरीश्वरवादमे पहुँचा देता है और केवल हृदय अन्धपरम्पराका भक्त बना देता है। इमीलिये यहाँ हृदयग्राह्य करनेका तात्पर्य यही है कि तर्क युक्तिकी सहायतासे रास्ता साफ करनेके बाद हृदयसे ही आत्मा-परमात्माका ग्रहण होता है। मनुने भी कहा है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर" (मनु० १२।१०६)—"जो तर्कसे विचार करता है वही धर्म जानता है, दूसरा नहीं।" यहाँ उच्छृंखल तर्क रोकके हृदयका साथी तर्क हो माना गया है। मनुने जो तर्कको 'वेदशास्त्रका अविरोधी' कहा है उसका यही तात्पर्य है। जिस हृदयने ईश्वरको देख लिया उसमे अलौकिक शक्ति होती है, ऐसी कि दुनियाको हिला दे, डुला दे, चला दे। यह बात हम पहले बहुत विस्तारके साथ लिख चुके है। ६१वे श्लोकका यही आशय है, न कि सचमुच हृदयमे बैठके ईश्वर मशीनकी तरह चलाता है। इसलिये उसी हृदयको सम्पादित करना, हृदयको वैसा ही बनाना यही हमारा काम है।

इस श्लोकका यह भी आशय है कि हृदयमे जिस परमात्माका स्वरूप व्यक्त होता है वह मनुष्यको चलाता है उस हृदयके ही बलसे। जहाँ हृदय जा लगा वहाँ पहुँचना टल नही सकता। हृदयमे वह ताकत है जो और कहीं नही है। हिरण बाँसुरीका शब्द सुनके अपने आपको भूल जाता है। साँप भी सँपेरेकी बीनकी आवाजसे मुग्ध हो जाता है। इसीसे शिकारी और सँपेरा उन दोनोंको आसानीसे पकड लेते है। उनके हृदयके ही चलते यह बात हो जाती है। उसका स्वभाव ही है। और जब क्षत्रियका हृदय स्वभावत युद्धमे ही रहता है, वही फँसा होता है, तो फिर अर्जुन हजार कोशिश करे, मगर वह रुकेगा कैसे ? वह

तो युद्धमें जायगा ही, लड़ेगा ही। भगवान ही हृदयमें बैठके ऐसा करता है इसे कहनेका आशय "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः" (९।१०) में बताई चुके हैं। उसके बिना जब प्रकृति कुछ करी नहीं सकती, तो हृदय तो उसीका रूप है न? फिर वह बिना भगवानके कैसे करेगा? इस प्रकार हृदयमें भगवानके रहनेका बहुत विस्तृत आशय इस श्लोकमें व्यक्त हो जाता है।

जो लोग 'अहं' 'मम' आदि शब्दोंको आत्माके अर्थमें न लगाके एक निराले ही ईश्वरमें लगाते, उसे सर्वशक्तिमान मानते और जीवको उसका स्वरूप न मानके सेवक मानते हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे वृहदारण्यक उपनिषद्के चौथे अध्यायका तीसरा ब्राह्मण पूरेका पूरा पढ़ जायें और देखें कि उसमें आत्माका ही निवास हृदयमें स्वयं-ज्योतिरूपमें लिखा गया है या नहीं, सृष्टिका बनाने-बिगाड़नेवाला उसे कहा गया है या नहीं और उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु हुई नहीं है, यह बार-बार दिखाया गया है या नहीं। वहीं यह भी लिखा गया है कि वह स्वयं-ज्योति है, उसका प्रकाशक कोई नहीं और जैसे ही सपनेमें वैसे ही जगनेमें सारी चीजें अपनी ही शक्तिसे बनाता और देखता है, लीला करता है, सभी जगह विहरता-विचरता है, मौज करता है। यह भी वे लोग देखें। "ध्यायतीव लेलायतीव" लिखा गया है जिसका अर्थ है, कि सभी लीलायें करता है।

जब उस ब्राह्मणके शुरूमें ही जनकने याज्ञवल्क्यसे पूछा है कि इस आत्माके मददगार प्रकाश कौन कौनसे हैं—"किंज्योतिरयं पुरुषः" ?(३।१), तो याज्ञवल्क्यने, जितने भी उजाला करनेवाले या पथदर्शक संभव हैं उन्हीं सबोंको पहले गिनाके कहा है कि एके बाद दीगरे इन्हींसे उसका पथदर्शन होता है। सबसे पहले सूर्य-की ही प्रचंड ज्योतिसे उनने शुरू किया है। मगर रातमें तो वह ज्योति मिलती नहीं, ऐसा कहने पर चन्द्रमाका नाम लिया है। लेकिन कृष्णपक्षकी अँधियाली और अमावस्यामें? तब तो चन्द्र होता नहीं। तब अग्निके प्रकाश, दीपक आदिसे ही काम चलता बताया है। तो निरे अन्धेरेमें, जहाँ दीपक भी न हों, क्या काम बिल-कुल ही बन्द हो जाता है? अन्धेरेमें भी तो लोग दूरसे बातें सुनके ही जान जाते हैं कि कौनसा आदमी है। जबानसे रास्ते की बात सुनके वैसे ही चलते भी हैं। इसीलिये बात या शब्दको ही उस समय प्रकाशक और पथदर्शक मानना पड़ा है। मगर जब नींदके समय आत्मानन्दका अनुभव करता है और उठने पर याद करता है कि बड़े आनन्दसे सोये थे, तब वहाँ कौनसा प्रकाश रहता है, जो आनन्दको दिखाता है? और अगर अनुभव न करता तो उठने पर फौरन ही उसे याद क्यों

करता ? जिसका अनुभव न हो उसका तो स्मरण होता नहीं । इसलिये शरीरके भीतर सुषुप्ति या गाढे नींदमें आनन्दका अनुभव मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार सपनेमें जानें क्या-क्या देखता-सुनता है । हजारों चीजें देखी जाती हैं, यह तो सभी मानते जानते है । मगर वहाँ भी न तो शब्द ही है और न सूर्य आदि ही हैं । फिर वहाँ कौनसा प्रकाश है, सो भी भीतर शरीरमें ? इसीका उत्तर दिया है कि "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति" (४।३।६)

इसका आशय यही है कि "उस समय मनुष्यकी आत्मा ही ज्योतिका काम करती है और वह उसीके बलसे बैठने, जाने, आने-लौटने और अन्य सभी कामोंमें लग जाता है" । इसपर प्रश्न हुआ है कि वह आत्मा है कौनसा ? "कतमोऽयमात्मा ?" '(४।३।७) । क्योंकि शरीरके भीतर मन, बुद्धि, हड्डियाँ मांस आदि हजारों चीजें है न ? इसीके उत्तरमें कहना पड़ा है कि वह विज्ञानमय है, सभी इन्द्रियादिको चलाता है और हृदयके भीतर रहता है, "विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुषः" (४।३।७) । उसीके बारेमे यह भी लिखा है कि जागरण और सपना इन्ही दोनों हालतोंमे वह काम-धाम करता है, लीला करता है ऐसा जान पड़ता है । वह सर्वत्र एक ही है, एकसा ही है, "स समानः सन्नुभौलोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव" (४।३।७) । उसके तीन लोक या क्रीड़ास्थल माने गये हैं । इनमें सुषुप्तिमें तो संसार रहता नहीं । वहींसे कभी सपनेमें जाता और चीजें बनाके मौज करता है, तो कभी जाग्रत दशामें आके,—"तस्यवाएतस्यपुरुषस्यद्वे एवस्थानेभवतः इदं च परलोक स्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्न स्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति" (४।३।८) । यहाँ सन्धि-स्थानको स्वप्न-स्थान कहा है । स्वप्नका अर्थ है गाढ़ नींद या सुषुप्ति । यहींसे दोनोंमें पहुँचता है । जाग्रत्को यह लोक और सपनेको परलोक कहा है ।

इसके बादसे लेकर १८वें ब्राह्मणके अन्ततक सपनेकी सृष्टिके बनाने और बिगाड़नेकी बात सविस्तार कही गई और लीला बताई गई है । आत्मा ही सब कुछ करती है यह भी बताया गया है । अनन्तर गाढ नीद या सुषुप्तिका प्रसंग लाके उसका चित्र खींचा गया है । वहाँ यह प्रश्न उठा है कि सुषुप्तिमें कोई पदार्थ आत्माको मालूम क्यों नही होता है ? पदार्थ तो हजारों हैं । शरीरके भीतर ही जानें कितने हैं । फिर उनका अनुभव वहाँ आत्माको होता क्यों नहीं ? इसीका उत्तर बहुत ही विस्तारके साथ ३१वें ब्राह्मणके अन्ततक दिया गया है और कहा गया है कि अगर सचमुच कोई दूसरा भी पदार्थ उसके अलावे हो तब न उसे देखे, सुने, सूँघे, छूए, खाये, पीये ? दरअसल तो आत्माके सिवाय और कुछ

हुई नहीं—"न नु तद्द्वितीयमस्ति"। यही बात बीसियों बार कही गई है। सचमुच ही आश्चर्य है कि यदि इन्द्रियोसे देखे-सुने न भी तो मनसे तो सोचे-विचारे। मगर वहाँ तो कुछ भी नही होता। मनको तो बाहर जाना भी नहीं है कि इन्द्रियोंकी मदद चाहिये। वह भीतर ही सोचता क्यों नहीं? आखिर सपनेमें तो मन ही सब कुछ करता है न? फिर सुषुप्तिमे भी क्यो नहीं करता? इसीलिये मानना ही पडता है कि उस समय आत्माके सिवाय और कुछ हुई नही। ठीक ही है, जिसका ज्ञान नही उसके अस्तित्वमे प्रमाण ही क्या? यदि कहा जाय कि जिसे नीद न हो उसे तो उस समय ज्ञान होता ही है; अतएव वही ज्ञान उन वस्तुओंके लिये प्रमाण होगा, तो प्रश्न होता है कि सुषुप्तिवालेको क्या मालूम कि किसीको ज्ञान होता है? और अस्तित्वका प्रश्न तो उसीके लिये है न? और अगर सभीको सुषुप्ति हो जाय तो? यह असंभव भी नही है। प्रलय की ही तरह वह भी हो सकती है। फलतः अद्वैत-तत्त्वको मानना ही पड़ता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे अर्जुन, सभी प्राणियोंके हृदयस्थानमे ईश्वर मौजूद रहता है, (और अपनी) मायाशक्तिसे उन्हे कठपुतलीको तरह घुमाता रहता है। हे भारत, समस्त संसार को उसीका स्वरूप जानो और इसी रूपमे उसकी शरण जाओ। उसीकी कृपासे परम शान्ति और शाश्वत स्थान पा जाओगे।६१।६२।

६१वे श्लोककी पूरी व्याख्या पहले ही हो चुकी है। ६२वेमे जो 'सर्वभावेन' पद है ऐसा ही पद पहले भी "स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत" (१५।१९) मे आया है। अन्तर यहा है कि वहाँ 'भजति' है और यहाँ 'शरणं गच्छ' है। मगर मानी दोनोंके एक ही है। भजने या शरण जानेका ही रूप "सर्वभावेन" कहा है। "वासुदेवः सर्वमिति"की ही तरह सभीको आत्मा-परमात्मामय ही देखना यही शरण जाना है।

इस प्रकार उपदेश करके उसका उपसंहार करते हुए अर्जुनको मौका देते है कि वह खूब सोच-विचार ले, तभी कुछ करे। कही ऐसा न हो कि आवेशमे आके या बातोमे पड़के कुछ कर डाले। क्योकि ऐसे कामोंका नतीजा कभी अच्छा नही होता। लेकिन इसीके साथ उसे यह भी याद रखना होगा कि जो उपदेश दिये गये है वह ऐसे-वैसे नही है; किन्तु दुर्लभ और गोपनीयसे भी गोपनीय है।

ऐसी बातें शायद ही सुननेको कभी मिलती हैं, कभी मिलें। इसलिये इनपर पूरा गौर करना होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मैंने तुम्हें यह गोपनीयसे भी गोपनीय अक्ल और सोचने-विचारनेकी बात कही है। इसपर खूब अच्छी तरह सोच-विचारके जो चाहो सो करो।६३।

श्लोकसे स्पष्ट है कि जो कुछ उपदेश है वह ज्ञान ही है, न कि और कुछ। चाहे जितनी बातें भी शुरूसे अन्ततक आई हों सब ज्ञानके ही सिलसिलेमें आई हैं। गीतोपदेशका असली विषय ज्ञान ही है। उसीके भीतर विज्ञान भी आ जाता है। फिर भी जो यह कह दिया है कि समझ-बूझके करो और जो चाहो सोई करो, उससे साफ हो जाता है कि आज्ञा या हुक्मकी गुंजाइश गीतामें है नहीं। यहाँ तो अपने दिलसे ही चलनेकी बात है। यह ठीक है कि जो कुछ करना हो उसे बखूबी समझ-बूझके करना चाहिए। मगर करना है अपनी ही मर्जीसे, अपनी रायसे ही, जिसे इच्छा कहते हैं। क्योंकि जवाबदेही तो अपने ही ऊपर आनेको है न? फिर दूसरेके दबाव या हुक्मका क्या सवाल? वह क्यों माना जाय? और अगर माना गया तो जवाबदेही करनेवालेपर न होके आज्ञा देनेवालेपर ही जो हो जायगी। इसपर तो हमने पहले श्रद्धाके प्रसंगमें बहुत लिखा है।

'अशेषेण विमृश्य' कहनेका एक और भी अभिप्राय है। एक तो विमर्श ही व्यापक चीज है। इसके मानी ही हैं कि सभी पहलुओंपर अच्छी तरह गौर कर लिया जाय। लेकिन जब उसके साथ 'अशेषेण' भी जुटा है, तब तो कहनेका मतलब साफ हो जाता है कि खबरदार, एक बात भी छूटने न पाये। शुरूसे यहाँतक जितनी बातें कही गई हैं सभीको सामने रखके अच्छी तरह उनपर सोचो-विचारो और गौर करो। उसके बाद जिस निश्चयपर पहुँचो उसीके अनुसार काम करो। असलमें गीतोपदेशकी पूर्वापर बातोंको भूल जानेसे ही ज्यादा गड़बड़ होती है और लोग कुछका कुछ निश्चय कर बैठते हैं। दृष्टान्तके लिये "ईश्वरः सर्वभूतानां"को ही ले सकते हैं। जानें कितनोंने इसका सचमुच ही आत्मासे भिन्न ईश्वर अर्थ करके इस आत्माको उसके चरणोंमें झुका दिया है, उसका सेवक और गुलाम बना दिया है। हम तो इसे आत्माका पतन मानते हैं, न कि और कुछ भी। फिर भी ऐसा ही किया गया है; हालाँकि यदि गीताकी ही पहलेकी बातें याद रहें तो यह बात कभी न हो। "न कर्त्तृत्वं न कर्माणि (५।१४-१५) श्लोकोंमें आत्माके ही लिये प्रभु और विभु शब्द आये हैं, जो आमतौर से ईश्वरके ही लिये

प्रयुक्त होते हैं। बल्कि इसीसे बहुतेरे यहाँ भी धोका खा गये हैं और ईश्वर ही अर्थ कर डाला है; हालाँकि हमने यह भूल वहीं सुझा दी है।

मगर इसे भी जाने दीजिये। क्योंकि यहाँ विवादकी गुंजाइश है। "भर्त्ता भोक्ता महेश्वर. परमात्मेति चाप्युक्त:" (१३।२२)मे तो साफ ही जीवात्माको ही ईश्वर क्या महेश्वर और परमात्मातक कहा है, परम-पुरुषतक कहा है। कहा ही नही है, बल्कि ऐसा ही पहलेसे कहा जाता है यह बताया है। यहाँ विवादकी जगह हई नही। इसके बादवाले "तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" (१३।२७)को हम छोड ही देते हैं; हालाँकि वहाँ भी परमेश्वर शब्द जीवात्माके ही लिये आया है। मगर "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:" (१५।८)मे तो साफ ही मरने-जीनेके प्रसंगमे ईश्वर शब्द जीवात्माके ही लिये आया है। यहाँ तो सन्देहके लिये जरा भी स्थान नही है। फिर भी "ईश्वर: सर्वभूताना"मे अगर ईश्वरका अर्थ आत्मा न करके और कुछ किया जाय तो मानना ही होगा कि पूर्वापर विचारके बिना ही ऐसा होता है। फलत: "विमृश्यैतदशेषेण" कहना जरूरी था। यही वजह है कि इतना कहनेके बाद भी एक बार और यही बातें शब्दान्तरमें चलते-चलाते याद दिला देते है ताकि धोकेकी भी गुंजाइश रहने न पाये और अर्जुन का निश्चय सही और दुरुस्त होके ही रहे।

इतना कहनेपर भी स्वयं कृष्णको सन्तोष न हुआ। क्योंकि परिस्थिति नाजुक थी। उनने उपदेशके शुरूमे अर्जुनकी आश्चर्यजनक मनोवृत्तिको भी खुद अनुभव किया था। वह देख रहे थे कि उसमे कितनी कमजोरी आ गई है। जिस बातके लिये वह सपनेमे भी तैयार न थे वही देखके वह एक तरहसे दहल उठे थे। उन्हे अर्जुनका अनुभव बचपनसे ही था। पाँचो भाइयोंमे उसे सबसे ज्यादा वह मानते भी थे। यही वजह थी कि सबोंके बुरा मानने और लाख नाक-भौं सिकोडनेपर भी अपनी बहन सुभद्रासे अर्जुनकी शादीतक उनने करा दी थी। जिसे लँगोटियायारी कहते हैं वही ताल्लुक अर्जुनके साथ उनका था। फलत: उसका रगरेशा वह पहचानते थे, उसे रत्ती-रत्ती जानते थे। जाने कितने ही भीषणसे भीषण संकटके समय पांडवों के सामने आये थे। बचपनमे ही पिताके मर जानेसे वे एक प्रकारसे अनाथ जैसे हो गये थे। क्योकि धृतराष्ट्रका रुख उनके प्रति आरम्भसे ही खराब था और यह बात छिपी न थी। ऐसी दशामें विपदाओंके वज्रोंके एके बाद दीगरे गिरनेकी बात जितनी न थी उतनी उनकी परीशानी, पामाली तथा असीम कष्टकी बात थी। कोई भी उनका पुर्साँ हाल था जो नही। द्रौपदीकी नग्नताके कांडसे यह बात और भी साफ हो चुकी थी। भीष्म आदिकी जबानतकपर ताला लग चुका था। ऐसे मौकोपर बड़े भाई युधिष्ठिरतक अधीर हो जाया करते थे। मगर अर्जुनने

न तो कभी हिम्मत हारी थी, न बुजदिली दिखाई थी और न आँसू बहाये थे ! ऐसा था वह इस्पात और वज्रका बना ! कृष्णको यह बात बखूबी विदित थी। क्योंकि सबोंके साथ छोड़ देनेपर भी वही तो पांडवोंके सदाके सच्चे साथी, पुर्साँ हाल थे। फिर जानते क्यों नहीं ?

लेकिन वही अर्जुन गीतोपदेशके पहले बच्चों जैसा रो रहा था। उसके हाथ-पाँवोंमें ही क्या, सारे अंगमें जैसे लकवा मार गया था। वह खड़ा रह सका नहीं और, जैसे कोई कटा पेड़ हो, धड़ामसे रथके बीचमें पड़ गया था ! गिर गया था ! इसमें अनुमानकी भी जरूरत न थी। उसने तो खुद ही कहा था कि मेरा मन जैसे चक्कर काट रहा है और मैं खड़ा रह सकता नहीं, "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" (१।३०)। जिसका धनुष सदा साथ रहा, बगलमें ही बाणोंके साथ पड़ा रहा, वही कह चुका था कि हाथसे मेरा यह गांडीव—सदाका प्यारा गांडीव—खसका जा रहा है, "गाडीवं स्रंसते हस्तात्" (१।३०)। ऐसी ही जानें कितनी बातें थी जो अनहोनी थीं। अर्जुनके मनमें जो ग्लानि थी, जो बेचैनी और घबराहट थी, सभी कामोंमें जो अनास्था हो गई थी, जो भीषण वैराग्य था और इन सबोंके चलते जिस दीनताने उसपर काबू कर लिया था वह तो सचमुच ही "न भूतो न भविष्यति"का दृश्य था।

गीताकी चार बातें अलौकिक थीं—ऐसी बातें जिनका उल्लेख गीतामें पाया जाता है। वास्तवमें ये बातें न कभी हुई थीं और न आगे हो सकती थीं। इनमें पहली थी अर्जुनकी यह दशा जिसका उल्लेख हमने अभी-अभी किया है और जिसका सजीव और नग्न चित्र गीताके पहले अध्यायके बीस (२८-४७) तथा दूसरेके शुरूके नौ (१-९) श्लोकोंमें पाया जाता है। जो लोग उसे योंही पढ़ जाते हैं वह क्या समझ पायेंगे, जबतक अर्जुनकी समूची जीवनी अपनी आँखोंके सामने वैसे ही न रख लें जैसे कृष्णके सामने थी ? यही कारण था कि कृष्ण परिस्थितिकी भीषणताको समझ सके थे।

गीताकी ऐसी ही दूसरी चीज थी इतना देखने-सुननेके बाद कृष्णकी भावभंगी, उनकी उस समयकी दशा, उनका रुख और चेहरा-मोहरा, जिसकी तरफ "तमुवाच हृषीकेशः" (२।१०) श्लोकका "प्रहसन्निव" इशारा करता है। जो लोग इस समूचे श्लोकको इस पूर्व परिस्थितिको मद्देनजर रखके गौरसे पढ़ें और उसपर दिमाग लगायें उन्हें उसके शब्दोंमें कृष्णकी इस अनोखी भावभंगीकी झाँकी मिल सकती है। इस पूरे श्लोकमें बहुत खूबी है और इसके हरेक पद कुछ न कुछ अर्थ व्यक्त करते हैं, जो निरे शब्दार्थसे निराली चीज है और जिसे ही

काव्यकी जान कहते हैं। इसे पूर्णरूपेण समझनेमें जो दिक्कत है उसे हल करनेके लिये गीताके अन्तिम श्लोकसे पहलेका "तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः" (१८।७७) श्लोक इसीके साथ पढ़ लेना चाहिये। गीतोपदेशके आरंभ करनेके ठीक पहलेका वह और अन्तका यह—इन दोनोंको—मिलाके देखें कि सचमुच वह रूप अलौकिक था या नहीं, नायाब था या नहीं। संजयने उसे 'अत्यद्भुतम्' कह दिया है। एक तो अद्भुत चीज ही निराली है। मगर उसे इतनेसे ही सन्तोष न हुआ और उसके साथ 'अति' भी जोड़ दिया। हम उस श्लोकके अर्थके ही समय विशेष बातें लिखेंगे। यहाँ तो केवल दोनोंको एक साथ पढ़के कृष्णकी अलौकिक भावभंगीका चित्र दिमागमें बैठानेकी ही बात कहनी है। वह ऐसी थी कि संजयका मन मानता न था। फलतः बार-बार उसे भीतरी आँखोंके सामने ला खड़ा करता था। यह भी "संस्मृत्य संस्मृत्य" शब्दोंने साफ ही कह दिया है। केवल साधारण स्मृति न थी। किन्तु अलौकिक वस्तुकी अलौकिक स्मृति थी, अनोखी याद थी। इसीलिये तो 'सम्' लगाके 'संस्मृत्य' कहना पड़ा। उसके साक्षात् देखनेपर क्या दशा हुई होगी, जब कि याद करने मात्रसे ही बार-बार रोएँ खड़े हो जाते थे, हर्षातिरेक बह चलता था, "हृष्यामि च पुनः पुनः"। इसीलिये संजयको भी मामूली नहीं, किन्तु महान् विस्मय पीछेतक बना हुआ था—"विस्मयो मे महान्"! जैसी अलौकिक वस्तु देखी थी और बार-बार याद की थी उसी हिसाबसे ही तो आश्चर्यचकित होना भी था।

गीताकी तीसरी चीज थी भगवानकी विराट मूर्त्ति या विश्वरूप। वह भी वाकईमें "न भूतो न भविष्यति" ही था। इसमें भी स्वयं गीताके ही वचन प्रमाण है। वह रूप दिखा चुकनेके बाद खुद कृष्णने दो बार कहा है कि "तुमसे पहले यह रूप किसीने देखा ही नहीं, किसीने देख पाया ही नहीं"—"यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्" (११।४७), और "तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी, सभी प्रकारके यज्ञ दानादिके द्वारा यत्न करके भी, इसे आगे देख न सकेगा—"एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु प्रवीर" (११।४८)। इससे बढ़के "न भूतो न भविष्यति"की सफाई और क्या हो सकती है?

गीताकी चौथी अलौकिक चीज है गीताधर्म या गीताके उपदेश। इसके बारेमें हम काफी लिख चुके हैं। हमें विश्वास है कि यह बात निर्विवाद सिद्ध की जा चुकी है। इसीलिये अब यहाँ कुछ भी लिखनेका प्रश्न हई नहीं।

हाँ, तो ऐसी नाजुक हालतमें कृष्णको भारी अन्देशा था कि कहीं इतनेपर भी अर्जुनकी वही हालत न हो और वह विचलितका विचलित ही न रह जाय।

यही कारण है कि आगेकी अन्तिम बातके कहनेपर भी उन्हें विश्वास नहीं हो पाया था। फलतः उनने अर्जुनसे पूछ ही तो दिया कि "अर्जुन, तुमने हमारी बाते ध्यानसे सुनी तो है ? और अगर हाँ, तो इससे तुम्हारी वह अज्ञानमूलक भूलभुलैयाँ मिटी क्या"? "कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय" (१८।७२)। जब अर्जुनने इसका स्पष्ट उत्तर दे दिया कि, "भगवन्, आपकी कृपामे अब मेरा वह मोह भाग गया, सभी बातकी ठीक-ठीक स्मृति हो आई, मेरे सभी शक काफूर हो गये और आपकी बातें मानूँगा; "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव" (१८।७३), तब कही जाके उन्हे सन्तोष हुआ।

यही वजह है कि कृष्ण एक बार और भी उमे उपदेशोका निचोड कह देनेको तैयार हो गये। ऐसी परिस्थिति न रहनेपर भी प्रिय जनोंके सम्बन्धमे ऐसा होती ही है कि एक ही बात बार-बार कहते जाते हैं, खासकर ऐसे मौकेपर जब उन्हे कुछ महत्त्वपूर्ण काम करना या कही दूर देश जाना हो। यह अधिक प्रेमकी पहचान है। यह बात "इष्टोसि मे दृढमिति" शब्दोंसे साफ हो भी गई है। इसलिये लोग पुनरावृत्ति देखके ऊब न उठें।

एक बात और भी है। संन्यासके सम्बन्धके अर्जुनके प्रश्नका पूरा उत्तर अभीतक दिया गया भी नही है। बेशक, यह कहा गया है जरूर कि कर्मोंके स्वरूपतः त्यागसे पूर्ण नैष्कर्म्य हो जाता है, जिसकी अनिवार्य आवश्कता समाधि या पूर्ण ज्ञाननिष्ठाके लिये जरूरी है। उसके बाद उस पूर्ण ज्ञाननिष्ठाका निरूपण भी किया है। मगर यह तो कही नही कहा है कि कर्मोंके स्वरूपतः त्यागके बिना काम चली नही सकता। अर्थात यह बात सिद्ध जरूर हो गई है, हो जाती है। फिर भी साफ शब्दोंमे कहे बिना काम चलता नही। लोग खीचतान शुरू जो करेंगे और जोई मानी चाहेंगे शब्दोंको पिन्हा जो देगे। इसीलिये साफ-साफ कह देना जरूरी था कि बिना स्वरूपतः कर्मोंका संन्यास या त्याग किये आत्मनिष्ठा होई नही सकती। अन्तमे ही इस बातका आ जाना भी सबसे अच्छा था। इसीलिये आगेके तीन श्लोकोमेसे पहलेमे तो पुनरपि यह बात कहनेका कारण लिखा गया है, दूसरेमे आत्मनिष्ठाका पूरा स्वरूप खडा कर दिया है और तीसरेमे साफ कह दिया है कि बेफिक्र होके सभी कर्मोंके फन्दोको तोड डालो। तभी एकमेवाद्वितीय आत्मतत्त्वमे पूर्णतया लग सकते हो और तभी सारे झमेले खत्म हो सकते है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥६६॥

सबोसे अधिक गोपनीय मेरी यह आखिरी बात फिर सुन लो। तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो, इसीसे तुम्हारे हितकी बात कहे देता हूँ। मुझ आत्मामें ही मन लगाओ, मेरा ही भजन करो, मेरा ही यजन करो (और) मुझीको नमस्कार करो। (परिणामस्वरूप) मुझीको पा जाओगे। यकीन रखो, मेरे प्रिय हो, तुमसे सच कहता हूँ। सभी धर्मोको छोडके एक मेरी ही शरण जाओ। मै (आत्मा) तुम्हे सभी पापोंसे छुटकारा दिला दूँगा, अफसोस मत करो।६४।६५।६६।

यहाँ भी 'वक्ष्यामि'का कहूँगा यह अर्थ न होके अभी-अभी कहे देता हूँ यही अर्थ है। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। दूसरे श्लोकमे 'माम्' 'मत्' आदि शब्द 'अह'के ही रूप है और 'अहं'का अर्थ आत्मा ही है यह सभी जानते है। इसपर बहुत कुछ कहा जा भी चुका है। 'सत्यं प्रतिजाने'का अर्थ है विश्वास करो, सच कहता हूं। यहाँ 'प्रतिजाने'का सीधे 'प्रतिज्ञा करता हू' यह अर्थ कुछ बैठतासा नही है। 'सर्वधर्मान्' श्लोककी तो लम्बी-चौडी व्याख्या पहले ही की गई है। वहाँ जाने कितनी ही शकाओ का उत्तर दिया जा चुका है। इसलिये वे बाते यहाँ फिर लिखना बेकार है। मगर दो-एक अन्य बात लिख देना जरूरी है।

जो लोग 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का यह अर्थ करते है कि धर्मोके फलोका त्याग करके शरणमे आओ उन्हे यह खयाल करना भी तो चाहिये कि जब धर्मोको करते ही रहेंगे तो फिर पापका प्रश्न उठेगा ही कैसे? पापकी बात तो तभी आती है जब नित्य, नैमित्तिक कर्मोको ही छोड दिया जाय। यही धर्मशास्त्रोका निश्चित मत है। लेकिन यदि पापकी बात न होती तो उत्तरार्द्धमे यह क्यो कहते कि तुम्हे सभी पापोसे छुटकारा दिला दूँगा? जिस तरह 'धर्मान्' यह बहुवचन लिखा है, ठीक वैसे ही 'पापेभ्य:' यह भी बहुवचन ही आया है, यह भी बात है। इससे दोनोंका सम्बन्ध बखूबी जुट जाता है और आशय सिद्ध होता है कि धर्मोंके छोडनेसे ही जो पापोका खतरा पैदा हो गया था उसीसे छुटकारा दिलाने की बात यहाँ कही गई है।

इसपर ऐसा कहनेका यत्न हो सकता है कि 'पापेभ्य:'का अर्थ है जन्ममरणके सभी बन्धनोंसे छुटकारा दिलाना ही। इसीलिये तो 'मोक्षयिष्यामि' क्रियामें

मोक्षकी बात लिखी गई है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'मोक्षयिष्यामि' कह देनेसे ही उसका अर्थ हो यह होता है कि सभी बन्धनोसे छुट्टी हो जायगी। मोक्ष शब्दका अन्य अर्थ हुई नहो। फिर 'पापेभ्य' शब्दसे बन्धन अर्थ लेना महज बेकार और निरर्थक है। इसके पहले इसी मोक्षकी बात "परा शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्" (१८।६२) तथा "मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्" (१८।५६) आदिके द्वारा कहके भी वहाँ पाप या बन्धनसे छुटकारेकी बात नहीं लिखी है, हालाँकि मोक्ष शब्द न रहनेसे वहाँ ऐसा लिखनेका मौका था भी। मगर यहाँ तो वह भी नही है। फिर 'पापेभ्यः' की क्या जरूरत थी? इससे तो मानना ही पड़ेगा कि अर्जुनको जो डर था कि कही नित्य-नैमित्तिक कर्मोके छोड देनेसे पाप न चढ़ बैठे, उसीके लिये उसे आश्वासन दिया गया है कि बेफिक्र रहो, ऐसा कुछ न होगा। 'मोचयिष्यामि' की जगह 'मोक्षयिष्यामि' कहनेका साफ आशय यही है कि जैसे प्रायश्चित्तादिके द्वारा पापोसे छुटकारा होता है वैसी बात यहाँ न होके मुक्ति ही मिल जायगी और सदाके लिये पापसे पिंड ही छूट जायगा।

इस श्लोकमे जो 'परित्यज्य' शब्द है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत आत्माकी शरण जानेके पहले सभी धर्मोको सोलहों आना छोडना ही होगा। उसके बिना काम चलनेका नही। इसका अभिप्राय यही है कि इससे पूर्वके श्लोकमे जो आत्मतत्त्वमे ही मनको रमाना लिखा है और जिसे ही उसकी शरण जाना भी कहते है, उसके पहले ही सभी धर्मोंको छोड़ना ही होगा। पहले उन्हे छोड लो, पीछे शरण जानेकी बात सोचो यही उसका निचोड है। पूर्वकालिक क्रियाका दूसरा मतलब नही है। जैसे कहा जाय कि सुनते ही विषादमे पड़ गया 'श्रुत्वैव विषण्णो जात.", तो यहाँ जो पूर्वकालिक क्रिया "श्रुत्वा" है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विषादका कारण अप्रिय समाचार सुनना ही है। वैसे ही यहाँ भी शरण जानेका कारण सभी धर्मोका परित्याग है। त्याग न कहके परित्याग कहनेका भी यही अभिप्राय है कि बखूबी त्याग करना होगा, न कि आधा-साझा करके "आधा तीतर आधा बटेर" करना होगा। इसमे गुजर है नहीं। हाँ, एक बात और। कर्मोके स्वरूपत त्यागके बाद जब ज्ञान निष्ठापूर्ण हो जाय तो उसके बाद क्या हो इस बारेमे यहाँ कुछ नही कहा है। फलत पूर्ववत् दोनों बाते हो सकती है। जब वृत्ति ऊपर चढ जाये तो सब छूट जाये, न चढे तो लोकसंग्रह चालू हो। यही बात "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्व्वाण." (१८।५६) मे कही गई है। क्योकि वहाँ जो 'अपि' शब्द है उससे यही अर्थ निकलता है कि सभी कर्म करते हुए भी शाश्वत पद पा जाता है। यह 'भी' साफ ही बताता है कि कर्मके न करनेवाले भी होते है और उन्हे बेखटके शाश्वत पद प्राप्त होता ही

है। मगर कर्म करनेवाले भी उसे प्राप्त करते ही हैं। यह बात बहुत साफ है।

बस, गीतोपदेश पूरा हो गया और जहाँतक गीताधर्मके बतानेका ताल्लुक है कुछ भी कहना शेष रहा नहीं। हाँ, एक बात रह गई जरूर। अर्जुनने ही यह सुना है और स्वभावतः लोग कौतूहलसे समय पाके उससे पूछेंगे ही कि कृष्णने आपसे क्या-क्या कहा, क्या-क्या उपदेश आपको दिया? और हो सकता है कि वह सबोंसे "कुल धान साढ़े बाईस पंसेरी" के हिसाबसे ये गोपनीय बातें कहने लग जाय। तब तो अनर्थ ही होगा। एक तो इनकी कीमत सब लोग कर सकते नहीं। हीरा-जवाहरातके जानकार और ग्राहक तो सभी होते नहीं। कहते हैं कि किसी नादानको कहीं हीरेके बड़े पत्थरकी ठोकर लगी तो उसने उसे उठाके दूर गलीजमें फेंक दिया, ताकि फिर ऐसी ठोकरें किसीको न लगें! यही बात गीताधर्मकी भी हो जायगी। दूसरे, जानकार लोग भी हिचक जायेंगे कि हो न हो यह कोई ऐसी हो वैसी चीज है। तभी तो अर्जुन सबोंसे कहता फिरता है। फलतः यह गीताधर्म पनप सकेगा ही नहीं। इसीलिये आगेके पाँच (६७-७१) श्लोकोंमें इसी बातकी चेतावनी देते हैं कि कैसे लोगोंसे ये बातें कही जायँ और कही जायँ या नहीं। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि खुद जाननेके बाद इसकी चर्चा ही न की जाय और न इसकी जरूरत ही महसूस की जाय। मगर कृष्णको तो फिक्र थी कि समाजहितके लिये इसका प्रचार निहायत जरूरी है। उन्हें केवल अर्जुनकी ही फिक्र न थी। इसीलिये उपदेश करनेवालेकी भरपूर प्रशंसा भी कर दी है और उसका सुन्दर फल सुना दिया है। निरन्तर पढ़ते-पढ़ाने और सुनते-सुनाने ही इसे हृदयंगम किया जा सकता है, इसका प्रसार हो सकता है, इसीलिये उसपर भी जोर दिया गया है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

यह (उपदेश) तुझे तपशून्य लोगोंसे कभी नहीं कहना होगा, जो न तो भक्त हों, न श्रद्धापूर्वक सुननेके लिये लालायित हों, (प्रत्युत) हमारी निन्दा करते हों।

(विपरीत इसके) जो कोई ये बातें मेरे भक्तोंको सुनायेगा वह मुझमें ([illegible]) परभक्ति करके निस्सन्देह मुझे ही पायेगा। (इतना ही नहीं।) मनुष्योंमें उससे बढ़के मेरा प्रिय करनेवाला और भूमंडलमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय कोई होगा भी नहीं। साथ ही, जो कोई हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादको पढ़ेगा वह ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा ही करेगा, ऐसा मैं मानता हूँ। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त हो तथा निन्दाकी भावना छोड़के इसे (केवल) सुनेगा भी वह भी मरनेपर पुण्यकर्मा लोगों-के शुभ लोकों या समाजोंमें जा पहुँचेगा।६७।६८।६९।७०।७१।

यहाँ 'अतपस्क'से मतलब है जिसमे पूर्वोक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तपों-में कुछ भी पाये न जायें। वे तीनों प्रकारके तप ऐसे है कि उनसे ज्ञानकी योग्यता होती है और मनुष्य गीताधर्म समझनेके योग्य बन जाता है। इसीलिये उनकी आवश्यकता है। यही कारण है कि जिनमे वे या कमसे कम उनमेंके मुख्य तप न पाये जायें उसे गीताधर्म सुनाना "भैंसके आगे बीन बजाये, सो बैठी पगुराये" को ही चरितार्थ करना होगा। इन श्लोकोंमे 'मा' या 'मद्' शब्द भगवानके वाचक न होके आत्मा-परमात्माके ही वाचक है, यह भूलनेकी बात नही है। भक्तिका अर्थ पहले श्लोकमे अपराभक्ति या पूर्वोक्त चार भक्तियोमेंसे जिज्ञासुवाली भक्ति ही है। इसीलिये चौथी या ज्ञानरूपा भक्ति आगे कही गई है। दूसरे श्लोकमे भी 'भक्तेषु'का अर्थ जिज्ञासु ही है। जिज्ञासुको ये बाते सुनाना ही ज्ञानका अभ्यास और मनन हो जाता है। फलतः ज्ञानकी पूर्णतामे जो कमी रहती है वह पूरी हो जाती है। किन्तु जिसका ज्ञान पूर्ण हो उसके सम्बन्धमे जब यह श्लोक लागू होगा तो "भक्तिं मयि परां कृत्वा" पहले ही आयेगा और अर्थ यह होगा कि जो मुझमें पराभक्ति करके मेरे भक्तोको यह सुनायेगा उसे भी मुक्ति होगी ही। यह सुनाना उसमे बाधक न होगा। यह कथन गीताधर्मके सम्प्रदायके प्रचलित करनेके ही खयालसे है।

इसके बादके दो श्लोक गीताकी प्रशंसाके लिये है। लोग इसमे प्रवृत्ति करें इसीलिये कह दिया है कि पठन-पाठन भी ज्ञानयज्ञ है, जिससे भगवान या आत्मा-की पूजा ही होती है। फलतः धीरे धीरे मनुष्य प्रगतिकी ओर चलते हुए पूर्ण ज्ञानी बनता है। जो पढ़ भी न सके उसे दूसरे पढनेवालोंके मुखसे सुनना ही चाहिये। अगर श्रद्धापूर्वक भक्तिसे कोई सुने, तो आगे चलके उसका भी कल्याण होके ही रहेगा। यहाँ अन्तिम श्लोकमें 'मुक्तः' शब्दका मुक्ति या मोक्ष अर्थ न होके प्रयाण, मरण या शरीरका त्याग ही अर्थ है। क्योंकि मुक्ति होनेपर पुण्य-कर्मियोंके शुभ लोकमें जानेका सवाल उठता ही नहीं। वह तो निर्वाणमुक्त हो जाता है। उसका आना-जाना कहीं होता नहीं। यह भी तो प्रश्न है कि केवल

सुननेवाला मुक्त होगा भी कैसे ? यह तो सबसे नीचे दर्जेका है न ? लोकका अर्थ वह प्रगतिशील समाज ही है जहाँ ज्ञानचर्चाकी अनुकूलता हो। स्वर्गादि लोकोंकी बात यहाँ उठाना गीताधर्मके अनुकूल नहीं है। गीता तो ज्ञानमार्गकी चीज है न ? फिर भी यदि कोई लोक शब्दसे स्वर्गादि भी समझ ले तो हमें उससे इनकार नहीं है। मगर केवल उसे ही न समझ प्रगतिशील समाजको भी लोकके अर्थमें लेना ही होगा।

इस तरह कृष्णको जो कुछ कहना था कह दिया। गीताधर्मके उपदेशके बाद भविष्यमें उसके प्रचारकी व्यवस्था भी कर दी। इसे ही सम्प्रदाय कहते हैं और परम्परा भी, जैसी कि चौथे अध्यायके शुरूमें ही विवस्वान्, मनु आदिकी परम्परा कही गई है। फिर भी वह परम्परा या सम्प्रदाय आजकी तरह पेशा और दूकानदारी न बन जाये, इसीलिये पहले ही श्लोकमें कह दिया है कि किन लोगोंसे ये बातें कही जायँ। बादके श्लोकोंमें तो कौन कहे, कौन न कहे आदि बन्धन भी लगा दिये गये हैं।

अन्तमें, जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, कृष्णने यह मुनासिब समझा कि जरा पूछ तो देवे कि इन बातोंका अर्जुनपर क्या असर हुआ है। क्योंकि इससे भविष्यके बारेमें भी उन्हें निश्चिन्त हो जानेकी बात थी। कमसे कम यह तो समझ जाते जरूर ही कि हम एवं अर्जुन भी कितने गहरे पानीमें हैं। इसीलिये उनने पूछा, और यह जानके उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा कि अर्जुनने न सिर्फ गौरसे उनके उपदेशोंको सुना, बल्कि समझा भी पूरी तरहसे और तयार भी वह हो गया तदनुकूल ही। यही प्रश्न और उत्तर आगेके दो श्लोकोंमें क्रमशः आये हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

हे पार्थ, भला कहो तो कि आया तुमने यह उपदेश एकाग्र चित्तसे सुना है (और अगर हाँ, तो) आया तुम्हारा (वह) अज्ञानसे उत्पन्न हृदयका अन्धकार मिटा है ? ।७२।

कच्चित् शब्द वहीं बोला जाता है जहाँ उत्तरके बारेमें सन्देह हो और पूछनेवालेका मन खुद आगा-पीछा करता हो कि देखें क्या होता है। यहाँ "अज्ञान-संमोह" में संमोह वही है जिसका वर्णन "क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः" (२।६३)में आया है। वहाँ संमोहका परिणाम लिखा है स्मृति-विभ्रम या स्मृतिका गायब हो जाना। अर्जुनने इसी स्मृति-विभ्रमके फेरमें ही तो न

लड़नेका निश्चय कर लिया था। हम इसका अर्थ यहीं अच्छी तरह बता चुके हैं। कृष्णका खयाल था कि यदि अर्जुनने ठीक-ठीक सुना और समझा होगा तो फौरन वह यही उत्तर देगा कि हमें स्मृति मिल गई। संमोह कहनेमें कृष्णका दूसरा मतलब था। साधारणत: दिल-दिमागकी सफाईकी बात तो थी ही। मगर ऐसा भी तो हो सकता था कि अर्जुन उन्हें खुश करनेके ही लिये कह देता कि हाँ, हमने सब कुछ समझ लिया। तब क्या होता? तब तो सब कुछ बेकार हो जाता। किन्तु इसकी पहचान कैसे हो कि उसने आया सचमुच ही समझा है और मान लिया है, या केवल शिष्टाचारकी बातें करता है? इसीलिये संमोह पद दिया। क्योंकि इसका सम्बन्ध स्मृति-विभ्रमसे है। फलत: अगर अर्जुनने ध्यान देके सुना और समझा है तो जरूर हो कह देगा कि स्मृति प्राप्त हो गई। लेकिन यदि ऐसा न होगा तो कुछ और हो बोलेगा। और कृष्णकी प्रसन्नताका क्या ठिकाना रहा होगा जब उनने सुना कि अर्जुन ठीक वही "स्मृतिर्लब्धा" ही बोल उठा? बस, उनने जान लिया कि अर्जुनने यह उत्तर शिष्टाचारसे न देके सचमुच ही हृदयसे दिया है और उसे हमने जो भी उपदेश दिया है उसका उसपर पूरा असर हुआ है। "ध्यायतो विषयान्पुंस:" तो आखिर उसी उपदेशका असली और व्यावहारिक रूप हो था न?

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह: करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

(इसपर चट) अर्जुनने उत्तर दिया कि हे अच्युत, आपकी कृपासे (मेरा) मोह भाग गया, (वह) स्मृति (पुनरपि) जग उठी और मैं सन्देह-रहित—स्थित-प्रज्ञ हो गया हूँ। (इसलिये) आपकी बात मानूँगा।७३।

इसमें 'स्मृतिर्लब्धा'की ही तरह 'स्थित:' शब्द भी मार्केका है। क्योंकि द्वितीय अध्यायमें स्मृति और संमोहकी बातें स्थितप्रज्ञके ही प्रसंगमें आई हैं। इसलिये स्वाभाविक ही है कि संमोह हटनेपर स्मृति फिर जग उठे और मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाय। फलत: अर्जुनने जो उत्तर दिया उसमें स्थितप्रज्ञका निर्देश भी जरूरी था और उसीके मानीमें हो 'स्थितोऽस्मि' आया है। इसमें और स्थितप्रज्ञ कहनेमें जरा भी अर्थभेद या अन्तर नहीं है। हमने यही अर्थ लिखा भी है। स्थितप्रज्ञकी पहचान पहले ही बताई गई है। उसकी सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि अपने लिये उसे कुछ करना रही नहीं जाता। फलत: जो कुछ भी वह करता है लोकसंग्रहकी ही दृष्टिसे। इसीलिये अर्जुनने यह कहनेकी अपेक्षा कि "करिष्ये धर्ममात्मन:—"अपना धर्म करूँगा", यही कहना उचित समझा कि

'आपकी बातें मानूँगा"—"आप जैसा कहते हैं, वही करूँगा"—"करिष्ये वचनं तव"। इससे कृष्णको और भी पूरा यकीन हो गया कि अर्जुनने अच्छी तरह हमारा उपदेश सुना है, समझा है और काम भी तदनुसार ही करेगा।

इस तरह कृष्ण और अर्जुनके संवादको संजयने धृतराष्ट्रसे ज्योंका त्यों सुना दिया। यहाँ लोगोंको यह खयाल हो सकता है कि उसने मनगढ़न्त बातें ही कही होंगी। क्योंकि भीषण संग्रामकी स्थलीसे बहुत ज्यादा दूर बैठे-बैठे सारी बातें आखिर उसे मालूम कैसे हुईं? वहाँ तो कोई टेलिफोन या तार भी न था और न बेतारका तार ही। और अगर होता भी तो इससे क्या? संजयके साथ उसके जरिये कृष्ण और अर्जुन तो बाते करते जाते न थे और न माइक्रोफोन पर बैठके ही बाते करते थे कि संजय भी सुन लेता। और अगर संजय सुनता तो धृतराष्ट्र भी जरूर सुनता। फिर इस प्रश्नोत्तरकी जरूरत दोनोके बीच क्यों होती कि कुरुक्षेत्रमे क्या हुआ, क्या नही? लोगोके अलावे खुद धृतराष्ट्रको ही शक हो सकता था कि सजय बातें तो नही बना रहा है? यह ठीक है कि व्यासजीने उससे कह दिया था कि संजय सारी बातें बैठे-बिठाये जान जायगा। क्योंकि इसे मैं दिव्य दृष्टि (television) दिये देता हूँ। इसीलिये दिनरातमे जब कभी धीरे या जोरसे बाते होगी या और भी जो काम होगे, यहाँ तक कि लोगोंके मनमे भी जो कुछ बाते आयगी सभी इसकी आँखोंके सामने नाचने लगेगी। फलतः अथसे इति तक युद्धका सारा वृत्तान्त तुम्हे ज्योका त्यों सुना देगा,—"एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद्वदिष्यति। एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति॥ चक्षुषा संजयो राजन्दिव्येनैव समन्वितः। कथयिष्यति युद्ध च सर्वज्ञश्च भविष्यति॥ प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा दिवा वा यदिवा निशि। मनसाचिंतित मपि सर्वं वेत्स्यति सजयः" (महा० भीष्म० ६।९-११)। लेकिन धृतराष्ट्रकी बुद्धि तो उस समय मारी गई थो। वह ठिकाने न थी। वह बुरी तरह परेशान भी था। व्यासजीसे भी उसने साफ ही यह बात स्वीकार की थो। इसलिये उसके मनमे ऐसा खयाल होना असम्भव न था। कुटिल तो था ही। और उसे चाहे भले ही शक हो, या न हो, किन्तु लोगोंको तो हो सकता था ही। क्योकि व्यासका यह प्रबन्ध सब लोग तो जानते न थे। गीतामे कही पहले यह बात आई भी नही है। महाभारतमे लिखी होने पर भी गीता तो स्वतन्त्रसी चीज है न? फलतः केवल गीतापाठीको भी ऐसा खयाल न हो इसीलिये आगेके चार श्लोकोमेसे पहले दोमे संजयने खुद यही बात कही है कि व्यासजीकी कृपासे ही मैने यह सब कुछ सुना है। शेष दोमे इस गीतोपदेशकी अलौकिकता तथा कृष्णकी उस समयकी अलौकिक भावभंगीका निरूपण किया है।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

संजयने कहा (कि) इस तरह वासुदेव कृष्ण और महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत (एवं) रोमांचकारी संवाद मैंने (खुदबखुद) सुना था। व्यासकी कृपासे यह अत्यन्त गोपनीय योग मैंने स्वयं योगेश्वर कृष्णसे साक्षात् कहते हुए ही सुना था।।७४-७५।

पार्थका जो विशेषण महात्मा दिया गया है उससे भी सिद्ध हो जाता है कि अर्जुनने आत्मतत्त्व और तन्मूलक कर्म-अकर्मका पूर्ण रहस्य अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था।

संजयने यह बात धृतराष्ट्रसे तब कही थी जब भीष्म आहत हो चुके थे, न कि कृष्णके उपदेशके ही समय। इसीलिये भूतकालके सूचक "अश्रौषम्" तथा "श्रुतवान्" पद आये हैं।

यह सम्वाद निराला है यह भी कह दिया है। ठीक ही निराला था।

रोमहर्षणका मतलब है आनन्दके मारे ही रोंगटे खड़े कर देनेवाला, न कि भयसे। क्योंकि भयका कोई अवसर था नहीं।

गीताधर्मको भी योग कहा है। यों तो गीताके सारे विषय ही योग कहे गये हैं। इसीलिये कृष्ण योगेश्वर हैं। उनसे बढ़के इस योगको और कौन जानता था?

सचमुच ऐसे योगेश्वरके मुखसे ही सुननेमें कितना आनन्द आया होगा, जब कि पीछे पढ़नेमें इतना ज्यादा मन आकर्षित होता और मजा मिलता है। इसीलिये तो संजयकी उस समय भी अजीब हालत थी। सुनना तो पहले ही हो चुका था। उस समय तो उसीकी स्मृति मात्र थी। फिर भी रह-रहके वह गद्गद हो जाता है, यह खुद स्वीकार करता हुआ कहता है कि—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य सम्वादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्, केशव तथा अर्जुनके इस महान् सम्वादको (इस समय भी) बार-बार याद करके रह-रहके गद्गद हो जाता हूँ ॥७६॥

यह सम्वाद ऐसा निराला है कि हमेशा ताजा ही मालूम पड़ता है । इसीलिये कुछ समय बीतने पर भी जब संजय उसे केवल याद कर पाता है, तो भी वह जैसे आँखोंके सामने नाचता रहता है और ओझल नहीं होता । यही कारण है कि उसे 'तम्' न कहके 'इयम्' कहता है । 'तं' कहनेसे परोक्ष या ओझल जान पडता न ? मगर सो तो है नही । यह ठीक है कि उसका वर्णन तो अभी-अभी हुआ है । इसीलिये पहले भी 'तत्' की जगह 'एतत्' ही आया है । मगर यह बात इनकार नहीं की जा सकती कि वह दिमागमे नाचता जरूर था । नही तो साधारण चीज होने पर कभी 'तम्' भी जरूर कह देते । सारा वर्णन ही यही सूचित करता है । इतने पर भी वह सम्वाद अलौकिक होता ही नहीं यदि अर्जुनकी उस समयकी अलौकिक मनोवृत्तिके साथ ही गीताधर्मके उपदेशक एवं प्रथमाचार्य कृष्णकी भाव-भंगी भी दिव्य और अलौकिक न होती । दरअसल सारी खूबी और सारा मजा तो उपदेशककी भावभंगी और प्रतिपादन शैलीमे ही होता है । इसीलिये संजय स्वयमेव कृष्णकी उस निराली भावभंगीकी ओर इशारा करता हुआ कहता है कि—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

हे राजन्, हरिका—कृष्णका—वह अत्यन्त अद्भुत रूप याद कर करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है और बार-बार गद्गद हो जाता हूँ ।।७७।।

इस श्लोकके सम्बन्धमे बहुत सी बातें थोडी देर पहले कही जा चुकी है । फिर भी कितनी ही कहनेको शेष है । बहुतोंको यह धारणा है कि संजय यहाँ भगवानके उस विश्वरूपके ही बारेमे कह रहा है जिसका वर्णन ग्यारहवे अध्यायमे आया है । प्राय: सभी भाष्यकारों और टीकाकारोंने यही अर्थ किया है । दर हकीकत मेरी नजरके सामने एक भी टीका अबतक ऐसी नही गुजरी है, जिसमे वैसा अर्थ न किया गया हो । हरिके रूपके अति, अद्भुत आदि विशेषणोसे ही और भी आसानीसे इस अर्थकी ओर लोग झुक पडे है । मगर हमने तो पहले लिखा है कि यह बात नहीं है । इसका कारण भी काफी दिया है । इतना ही नही । हमने तो यह भी चित्रित करनेका यत्न किया है कि जिस रूपका यहाँ उल्लेख है वह वस्तुतः किस तरहका था । रथपर अर्जुन और कृष्ण दोनों ही खडे थे । युद्धमे ऐसा ही होता था । कृष्ण घोडोंकी बाग पकडे खडे थे । मगर जब अर्जुनने अपना रोना गाना एकाएक शुरू कर दिया तो जो कृष्ण घोड़ोंकी ओर मुँह किये खड़े थे वह अचानक यह सुनते ही पीछे मुड़ पड़े और अर्जुनकी बाते गौरसे सुनने लगे । जैसे जैसे बातें सुनते जाते थे उनका चेहरा-मुहरा बदलता

जाता था। ऐसा होते होते "अशोच्यानन्वशोचस्त्व" (२।११) शुरू करनेके पहले तक उनकी जो अलौकिक भावभंगी हो चुकी थी हमने उसीका चित्र खींचनेका यत्न किया है और उसीसे यहाँ आशय है। भला विश्वरूप दर्शनसे और गीतोपदेशसे क्या ताल्लुक ? वह तो गीतोपदेशके बीचकी हजार बातोंमें केवल एक है। मगर यहाँ तो स्पष्ट ही गीताके समूचे सम्वादका और योगका उल्लेख है। योग भी वह जिसे कृष्णने कहा था, जिसे वह कह रहे थे। क्योंकि साफ ही "कथयतः" लिखा है। न कि जिसे दिखाया था। यह मार्केकी बात है।

एक बात और भी है। विश्वरूपके बारेमें ग्यारहवें अध्यायमें स्पष्ट ही कहा है कि अर्जुनके अलावे पहले किसीने भी उसे नहीं देखा था और न आगे कोई देख ही सकता है। यह बात हमने ग्यारहवें अध्यायके उन श्लोकोंको उद्धृत करके थोडी ही देर पहले सिद्ध की है। किन्तु यह बात झूठी हो जाती है यदि संजय उस विश्वरूपको याद करता है। क्योंकि स्मृतिके पहले तो देखना जरूरी है न ? बिना देखे स्मृति कैसी ? अर्जुन या कृष्णके मुखसे जो कुछ वर्णन ग्यारहवें अध्याय में आया था केवल उसे वहाँ कह देना और बात है। वह जैसेका तैसा सुनके ही हो सकता था। मगर उसमें वह मजा स्वयं संजयको नहीं मिल सकता था जो देखनेमें मिलता। देखे हुए हीका को प्रबलतम संस्कार होता है वही जगके उसे ला खडा करता है आँखोंके सामने। सुने हुएके बारेमें यह बात नहीं होती, नहीं हो सकती। संजयको दिव्य दृष्टि मिलनेपर भी ग्यारहवें अध्यायवाले कृष्णके वचनोंसे ही सिद्ध है कि वह विश्वरूप न तो पहले किसीने देखा था और न आगे कोई देख सकेगा। तब संजय उसे देख सकता था कैसे ? यह बात मानी कैसे जा सकती है ? लेकिन इस श्लोकके पदोंको पढके कोई भी कह सकता है कि आँखों देखे स्वरूपका ही उल्लेख संजय करता है। फलतः उपदेशके आरम्भवाले रूपसे ही यहाँ तात्पर्य है।

इसके सम्बन्धमें इसी श्लोकमें एक और भी प्रमाण मिल जाता है। हमने तो पहले ही कहा है कि विलक्षण और अलौकिक होनेके नाते ही उस सम्वादको आँखोंके सामने बराबर नाचनेवाला मानके उसे बार-बार 'एतत्', 'इमम्' कहा है। लेकिन कृष्णका विश्वरूप तो और भी ज्यादा आँखोंके सामने नाचनेवाला था। फिर भी उसे इसी श्लोकमें 'तच्च' कह दिया है। 'तत् च'में उसे 'तत्' या दूरका कहनेके क्या मानी हो सकते हैं। यह तो उलटीसी बात मालूम होती है। दरअसल 'एतत्' तो उसीको कहना उचित था। हाँ, उसमें एक खतरा जरूर था। कृष्णके उपदेशके समयके रूपके बाद विश्वदर्शनके समय विश्वरूप आया था। फलतः उससे निकटका यही पड़ता था। इसलिये एतत् कहनेसे स्वभावतः

लोग इसे ही समझ सकते थे। क्योंकि पहला रूप अपेक्षाकृत इससे दूर पड़ जाता था। इसीलिये संजयने 'तत्' कह दिया और सारा झमेला ही खत्म हो गया। क्योंकि अब तो मौका ही न रहा कि विश्वरूपका खयाल भी किया जाए। मगर जो लोग फिर भी विश्वरूपको ही मानते हैं उनके लिये तत्‌का औचित्य बताना कठिन है।

गीतोपदेशकी बातोंका उपसंहार करते हुए अन्तमें संजयने धृतराष्ट्रको धोकेमें रखना उचित न समझ विजय तथा पराजयके सम्बन्धमें भी अपनी स्पष्ट राय दे दी कि कौन जीतेगा, कौन हारेगा। इसका कारण भी धीरेसे बता दिया। जिस पक्षमें योगेश्वर कृष्ण हों जो सभी युक्तियोंके आचार्य हैं और जहाँ पार्थ जैसा धनुर्धर हो उस पक्षकी जीत न होगी तो होगी किसकी? यह तो मोटीसी बात है। शायद धृतराष्ट्रके मनमें कुछ आशा बँधी थी। क्योंकि एक तो वह अपने लड़कोंके मोहमें बुरी तरह फँसा था। दूसरे लोभ और मोहके करते उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। ऐसी दशामें गीतोपदेशका युद्धपर क्या असर होगा यह बात वह शायद ही समझ सकता था।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

—योगेश्वर कृष्ण हैं (और) पार्थ (जैसा) धनुर्धर है वहीं लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और पक्की—अटल—नीति है, यही मेरा निश्चय है।७८।

अटल और पक्की नीति जहाँ रहेगी वहीं विजय भी होगी और उसके बाद उसमें स्थिरता भी आयेगी। इसीलिये तो भारविने किरातार्जुनीयमें कहा है कि जिस चीजको दुर्योधनने जैसे-तैसे जीत लिया था वह उसीको नीतिके बलसे सदाके लिये जीत लेना—उस विजयको स्थायी कर लेना—चाहता है, "दुरोदरछद्म-जितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः" (१।७)। कहनेका आशय यही है कि पाण्डवोंकी जीत भी होगी और वह स्थायी भी हो जायगी।

लक्ष्मी या सम्पत्ति और ऐश्वर्यमें अन्तर है। ऐश्वर्य व्यापक चीज है। शासनादि भी इसमें आ जाते हैं। भूतिका अर्थ विस्तार है, फैलाव है और हमने ऐश्वर्य इसीको कहा है ध्रुवा नीति कहनेसे कच्ची और बराबर बदलनेवाली दुर्योधनकी नीति घातक सिद्ध हो जाती है। चाहे जो हो। फिर भी नीति तो पक्की और स्थायी होनी चाहिये और गीताने उसीपर जोर दिया है।

इस अध्यायका विषय मोक्षसंन्यासयोग लिखा है। इससे स्पष्ट है कि संन्यास-से ही शुरू करके अन्तमें भी संन्यास ही आया है और उसीके साथ मोक्ष भी। यों

तो शुरूमें गीतामें दूसरे ढंगके भी संन्यासका वर्णन आया है और अठारहवें अध्यायके शुरूमें भी उसीको सभी कर्मोंके सदा त्यागके रूपमें लिखा है। मगर उससे मोक्ष तो होता नहीं। इसीलिये वह इस अध्यायका और गीताका भी विषय कभी हो नहीं सकता। हाँ, अन्तके ६६वें श्लोकमें मोक्षके साधनके [illegible] जिस संन्यासका वर्णन किया है वही गीताको मान्य है और [illegible] अध्यायका विषय है। चौथे अध्यायमें भी संन्यास आया है। मगर एक तो [illegible] ज्ञानके साथ आया है। दूसरे उस अध्यायका वही अकेला विषय नहीं है। हाँ, पाँचवेंका विषय सिर्फ संन्यास ही है। फिर भी यहाँ उसीको स्पष्ट कर दिया है कि उससे केवल ज्ञान ही नहीं होता, किन्तु मोक्ष भी मिलता है। इस प्रकार तीन अध्याय इस संन्यासके प्रतिपादनमें लगे हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक योगशास्त्रमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय यही है।

कुछ लोगोंने 'इति'का अर्थ 'समाप्त हुआ' ऐसा किया है। [illegible] तो उसका अर्थ है 'यह'। यह पहले कही गई बातकी ही ओर [illegible] को याद कराता है। "इत्यहं वासुदेवस्य" (१८।७४) तथा "इति ते ज्ञानमाख्यातम्" (१८।६३) आदिमें सर्वत्र यही अर्थ इति शब्दका माना गया है। हमने यही लिखा भी है। समाप्ति तो अर्थसिद्ध चीज है, न कि शब्दार्थ और वह भी कुछ जँचती नहीं है। इसीसे हमने उसे छोड़ दिया है।



गीताहृदय के मूल श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका

श्लोक के बाद पहिले पृष्ठ संख्या दी गई है

फिर डेश के बाद श्लोक संख्या